हिन्दी
विश्व-भारती

प्रधान संपादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी, एम० ए० (लंदन)
शिक्षा-प्रसार अफसर, संयुक्त प्रांत

संयुक्त संपादक

कृष्णवल्लभ द्विवेदी, बी० ए०

सहयोगी लेखक आदि

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), रीडर, गणित, प्रयाग विश्वविद्यालय ।

श्री० श्रीभगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान, किशोरी रमण इंटरमीडिएट कालेज, मथुरा ।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, लेक्चरर, रसायन-विज्ञान, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ ।

श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम०ए०,एल-एल० बी०, क्यूरेटर, प्राविंशियल म्यूज़ियम, लखनऊ ।

श्री० रामनारायण कपूर, बी० एस-सी०, मेटलर्जिस्ट, नेशनल आयर्न एण्ड स्टील कंपनी लि०, बेलूर ।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय, डी० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय ।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० काम०, लेक्चरर, अर्थशास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम०ए०,डी०एस-सी०(लंदन), रीडर, इतिहास, प्रयाग-विश्वविद्यालय ।

डा० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफ़ेसर, समाज-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम०ए०, हेडमास्टर, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ आर्टस् एण्ड क्राफ़्टस्, लखनऊ ।

श्री० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए० ।

डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० कैंटब, लेक्चरर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

श्री० श्यामसुन्दर द्विवेदी, बी० ए०, साहित्यरत्न ।

डा० इबादुर रहमान ख़ाँ, पी-एच० डी० (लंदन), प्रिंसिपल, बेसिक ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद ।

श्री० कुँवर सेन, एम० ए० (कैंटब), बार-एट-लॉ; जूडीशियल मिनिस्टर, जोधपुर स्टेट ।

डा० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय ।

श्री० भैरवनाथ झा, बी०एस-सी०, बी० एड० (एडिन०), इंस्पैक्टर ऑफ़ स्कूल्स, यू० पी० ।

प्रकाशक

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड,

चारबाग़, लखनऊ.

विषय-सूची

विश्व की कहानी

पृथ्वी की कहानी

पृथ्वी की रचना

धरातल की रूपरेखा

पेड़-पौधों की दुनिया

जानवरों की दुनिया

मनुष्य की कहानी

मनुष्य की कहानी (क्रमशः)

साहित्य-सृष्टि

देश और जातियाँ

भारतभूमि

मानव विभूतियाँ

अमर कथाएँ
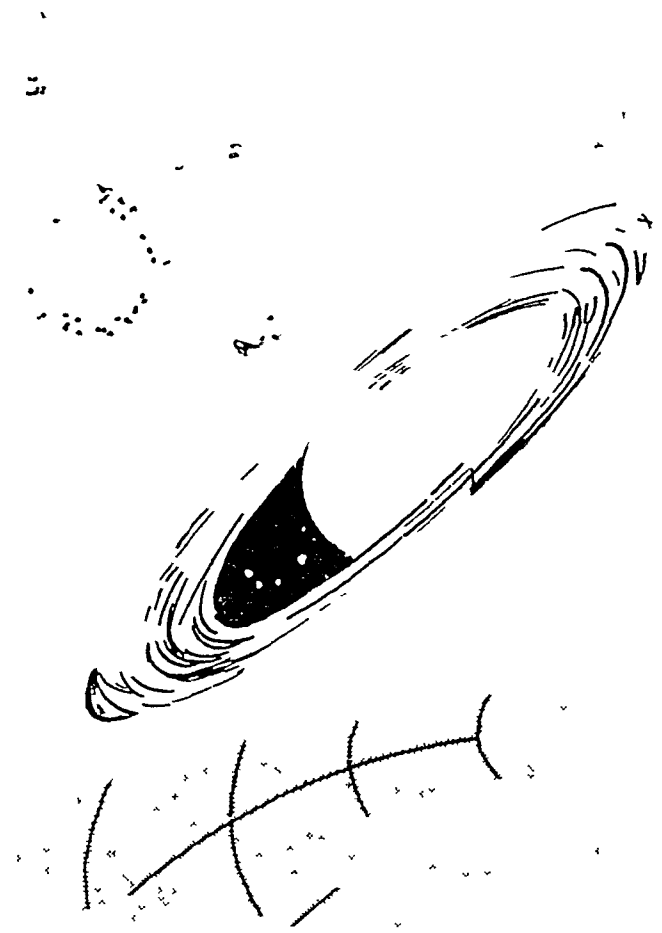
कहानी
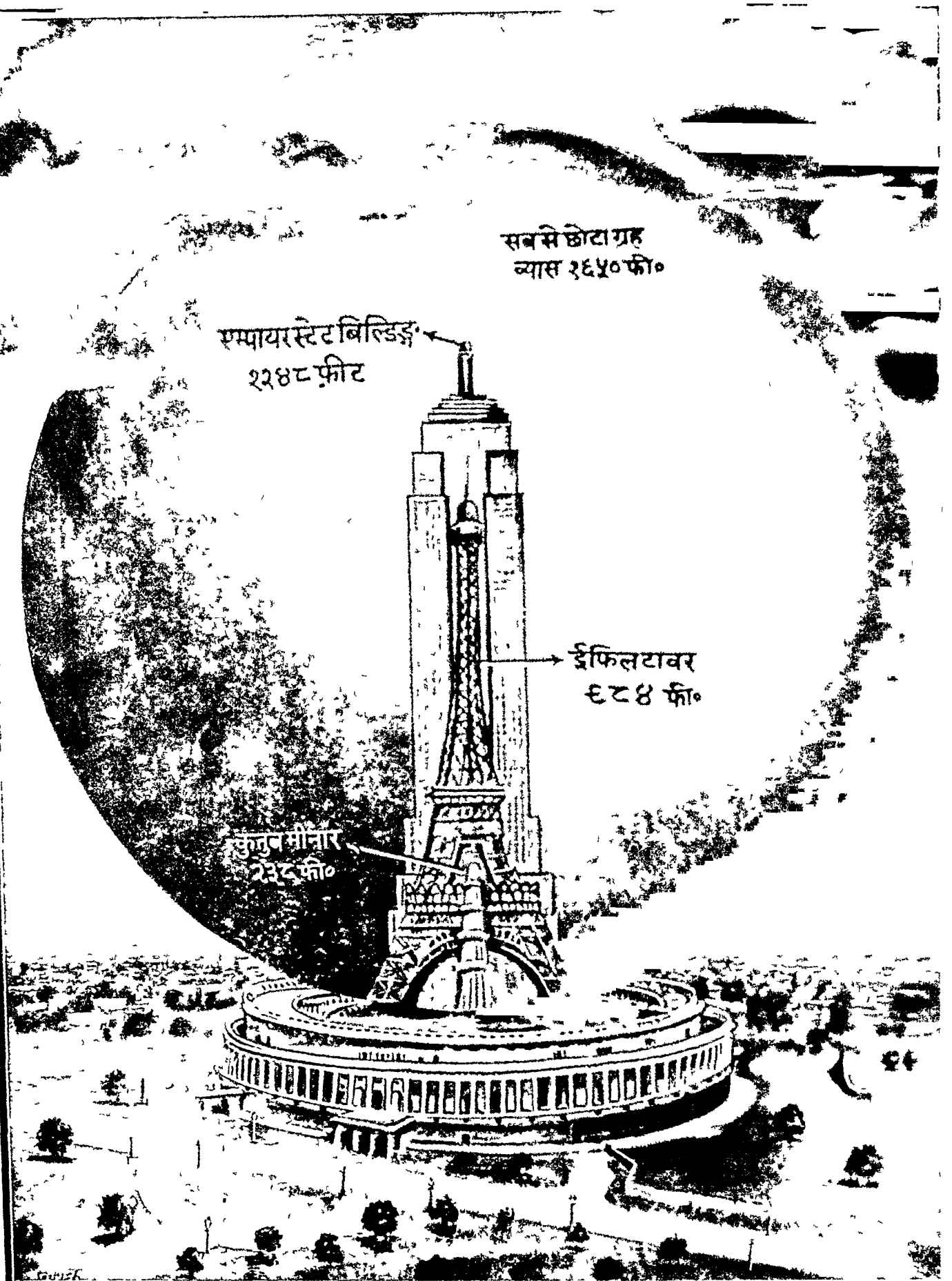
सौर परिवार का सबसे छोटा सदस्य—अब तक ज्ञात लघुतम अवांतर ग्रह

यह इतना अधिक छोटा है कि आसानी से नई दिल्ली के एसेंबली-भवन की छत पर रक्खा जा सकता है—केवल चारो ओर उसका गोलाकार भाग निकला रहेगा। दुनिया की सबसे ऊँची इमारत—न्यूयार्क की एम्पायर स्टेट बिल्डिंग—से यह थोड़ा ही अधिक ऊँचा होगा। पेरिस की ईफिल टावर और दिल्ली की कुतुब मीनार भी इसके अनुपात में दिखाई गई हैं।

अवांतर ग्रह

मंगल और बृहस्पति नामक ग्रहों के बीच सैकड़ों नन्हे-नन्हे ग्रह हैं जो या तो सौर-परिवार-उत्पत्ति के समय बँधकर एक नहीं हो पाए: या, यदि वे उस समय बँधकर एक बड़े ग्रह के रूप मे थे भी, तो पीछे उसके टूट जाने पर अलग-अलग हो गए। ये 'अवांतर ग्रह' कहलाते हैं। इनमे से लगभग पौने दो हज़ार ग्रहों की कक्षाओं की गणना हो चुकी है। प्रत्येक ग्रह के लिए कोई नंबर स्थिर कर दिया गया है और नाम भी रख दिया गया है, परंतु निश्चय है कि ऐसे ग्रहो की संख्या वस्तुतः पौने दो हज़ार से कहीं अधिक होगी, क्योंकि प्रायः प्रतिवर्ष ही ऐसे दो-चार नवीन ग्रहों का पता चलता है। इनमे से सबसे बड़ा कुल ४८० मील व्यास का है। केवल तीन मील व्यास के भी ग्रह देखे गए हैं।

इनकी पहचान में अत्यंत कठिनाई होने तथा इनकी संख्या इतनी अधिक होने के कारण निश्चय ही अवांतर ग्रहों का अध्ययन कभी ही बंद हो गया होता, परंतु इनमे से एक अवांतर ग्रह, जिसका नाम एरॉस (Eros) रक्खा गया है, ज्योतिष के कुछ अन्य कामों के लिए अत्यत उपयोगी सिद्ध हुआ। इसीलिए नवीन अवांतर ग्रहों की खोज आज तक जारी है। आशा की जाती है कि एरॉस से भी उपयोगी ग्रह एक दिन हमको कदाचित् मिल जायँ। एरॉस के वेधो से सूर्य की दूरी का सूक्ष्म ज्ञान हो सकता है और हम इन्हीं वेधों से चंद्रमा का द्रव्यमान (तौल) भी अच्छी तरह जान सकते हैं।

सूर्य की दूरी

यह देखना रोचक होगा कि एरॉस के वेधों से सूर्य की दूरी कैसे जानी जा सकती है। बात यह है कि हमें सूर्य और सब ग्रहों की सापेक्षिक दूरियाँ भली भाँति ज्ञात हैं। इनमें से एक की भी असली दूरी ज्ञात हो जाय तो अन्य सब दूरियाँ ठीक-ठीक जानी जा सकती हैं। सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध ज्योतिषी केपलर ने बतलाया था कि सब ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं और उनकी दूरी और परिभ्रमण-काल मे सरल संबंध है। जो ग्रह जितना ही दूर होगा वह उतने ही अधिक समय में एक चक्कर लगाएगा। वस्तुतः परिभ्रमण-कालों के वर्ग दूरियों के घनों के अनुपात में रहते हैं। हम ग्रहों के परिभ्रमण-कालों को ठीक-ठीक जानते हैं। इसलिए हम ग्रहों की दूरियो का अनुपात भी ठीक-ठीक जानते हैं। प्रत्यक्ष है कि यदि हम इनमे से किसी भी दूरी को मीलो मे नाप सकें तो प्रत्येक ग्रह की दूरी मीलो मे नप जायगी। परंतु पृथ्वी से सूर्य की दूरी सीधे नहीं नापी जा सकती, क्योंकि एक तो सूर्य हमसे बहुत दूर है और फिर वह इतना चमकीला है कि सब कुछ करने पर भी आकाश मे उसकी स्थिति इच्छानुसार सूक्ष्मता से नहीं जानी जा सकती। इसलिए हम किसी ऐसे ग्रह की दूरी नापते हैं जो हमसे बहुत समीप हो और जो तारो से अधिक चमकीला न हो। पहले मंगल की दूरी नापी गई, क्योंकि पुराने ग्रहो में से यही हमारे सबसे निकट था, परंतु एरॉस का पता चलने के बाद देखा गया कि समय-समय पर यह मंगल से भी अधिक हमारे समीप आ जाता है। फिर, कम चमकीला होने के कारण यह दूरदर्शक मे तारों के ही सदृश दिखलाई पड़ता है, जिससे इसकी स्थिति का अत्यंत सच्चा वेध किया जा सकता है। एरॉस की दूरी नापने के लिए तारों के हिसाब से इसकी दिशा का वेध दो विभिन्न और दूरस्थ वेधशालाओं से किया जाता है। इन दो जगहों से देखने पर एरॉस की दिशा मे कुछ अंतर पड़ जाता है। उस अंतर को नाप लेने पर गणना करने से जान लिया जाता है कि एरॉस हमसे वेध के दिन कितनी दूरी पर था। तब केपलर के नियम के अनुसार तुरंत पता चल जाता है कि सूर्य हमसे कितनी दूरी पर है।

एरॉस की खोज के बाद १९०१ मे यह अवांतर ग्रह हमारे सबसे निकट आया। उस वर्ष इसका हज़ारों बार वेध किया गया और गणना से जो दूरी सूर्य की निकली वह पहले के मानों से कहीं अधिक शुद्ध थी। तो भी ज्योतिषियों को पूरा संतोष नहीं हुआ। वे एक बार

फिर एरॉस के निकटतम दूरी पर आने की प्रतीक्षा में थे। यह अवसर जनवरी, १९३१, में प्राप्त हुआ। उस समय लाखों वेध किये गए। इसमें कई एक वेधशालाओं ने हाथ बँटाया। वेधशालाओं के कार्यों का बँटवारा 'इंटरनेशनल ऐस्ट्रॉनॉमिकल यूनियन' (अंतर्राष्ट्रीय ज्योतिष संघ) के 'सोलर पैरालैक्स कमिशन' (सौर लंबन परिषद्) ने पहले से ही कर रक्खा था। इन वेधों के आधार पर सूर्य की दूरी की गणना आज (जनवरी १९४१) तक समाप्त नहीं हुई, यद्यपि अब दस वर्ष हो गए! गणना का काम ग्रिनिच की 'रॉयल ऑब्ज़र्वेटरी' (राजवेधशाला) में लगातार हो रहा है। वहाँ कई एक वेतनभोगी ज्योतिषी इसी काम में, १९३१ के कुछ वर्ष पहले से ही, लगे हुए हैं। इस गणना के संबंध में नवीनतम प्रकाशन इंग्लैंड के राज-ज्योतिषी स्पेंसर जोन्स का है, जिसमें उन्होंने एक शंका-समाधान किया है। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि जर्मनी की 'बर्गेडोर्फ वेधशाला' के वेधों के आधार पर डाक्टर विक ने यह परिणाम निकाला कि एरॉस कोई एक पिंड नहीं है (नवंबर, १९३९)। कम-से-कम यह तीन ग्रहों का समूह है और इन तीनों का केंद्र वरन् सरल कक्षा में नहीं चलता, जिसमें एक पिंड होने पर एरोस चलता। फलस्वरूप, डाक्टर विक का मत है कि एरोस से सूर्य की दूरी की शुद्ध नाप जानने की आशा व्यर्थ है और गत दस वर्षों का परिश्रम सब निष्फल जायगा। इस भयावनी शंका देनेवाले परिणाम की गणना की जाँच इंग्लैंड के राज-ज्योतिषी ने अन्य वेधशालाओं के वेधों के आधार पर की है और नवंबर, १९४०, के 'मंथली नोटिसेज़' नामक मासिक पत्रिका में बताया है कि डाक्टर विक की शंकाएँ निर्मूल हैं। हाँ, एरोस की चमक घटा-बढ़ा करती है, जिससे एक चक्र का काल ५ घंटा १६ मिनट है, परंतु इससे सूर्य की दूरी की गणना में कोई त्रुटि नहीं उत्पन्न हो सकती। इसलिए, अब भी आशा की जा सकती है कि जब गणना समाप्त होगी तो सूर्य की दूरी हमें यथेष्ट रूप में ज्ञात हो सकेगी।

अवांतर ग्रहों का आविष्कार

अवांतर ग्रहों के आविष्कार की कथा बड़ी ही रोचक है। ये सब ढूँढ़कर निकाले गए हैं। बात यह है कि जब ग्रहों का नक्शा दूरियों के अनुसार खींचा जाता है तो तुरंत दिखलाई पड़ता है कि मंगल और बृहस्पति के बीच में अस्वाभाविक जगह खाली पड़ी है। तुरंत ऐसा भास होता है कि इन दोनों के बीच में एक ग्रह होना

(बाईं ओर) अवांतर ग्रहों की स्थिति। (दाहिनी ओर) एरॉस की कक्षा।
अवांतर ग्रह मंगल और बृहस्पति की कक्षाओं के बीच में बिखरे हुए हैं। धारणा की जाती है कि किसी समय यहाँ एक बड़ा ग्रह रहा होगा और उसके टूटने से ही ये हज़ारों अवांतर ग्रह बन गए। इनमें एरॉस की कक्षा इस प्रकार की है कि वह कभी-कभी पृथ्वी के बहुत समीप आ जाता है। इससे सूर्य की दूरी जानने में मदद मिली है।

चाहिए । केपलर ने कहा भी था कि अवश्य इन दोनो के बीच कोई ग्रह होगा, जो छोटा होने के कारण हमको दिखलाई नही पडता । एक ज्योतिषी ने दिल्लगी की कि यहाँ ग्रह रहा अवश्य होगा, परतु कोई दीर्घकाय पुच्छल तारा उसे अपनी पूँछ मे समेट ले गया होगा । १७७२ मे विटनबर्ग (जर्मनी) के टिटियस नामक प्रोफेसर ने, ग्रहो की दूरियो के बारे मे एक नियम का पता लगाया । उन्होने बतलाया कि यदि हम ०, ३, ६, १२, २४ इत्यादि संख्याएँ ले और इनमे से प्रत्येक में ४ जोड दे तो हमें ग्रहो की सापेक्षिक दूरी प्राप्त हो जायगी । यह ध्यान देने योग्य बात है कि ०,३,६, इत्यादि संख्याओ मे पहली संख्या शून्य है, दूसरी तीन, और अन्य सख्याएँ तीन को दुगुना करते चले जाने से प्राप्त होती हैं । टिटियस के नियम से प्राप्त दूरी वास्तविक दूरी के लगभग बराबर ही निकलती है, जैसा निम्न सारिणी से स्पष्ट है—

ग्रह का नाम	टिटियस के नियम से प्राप्त दूरी	वास्तविक दूरी
बुध	४	३·९
शुक्र	७	७·२
पृथ्वी	१०	१०·०
मंगल	१६	१५·२
अवांतर ग्रह	२८	२६·५
बृहस्पति	५२	५२·०
शनि	१००	९५·४
यूरेनस	१९६	१९१·९
नेपच्यून	३८८	३००·७
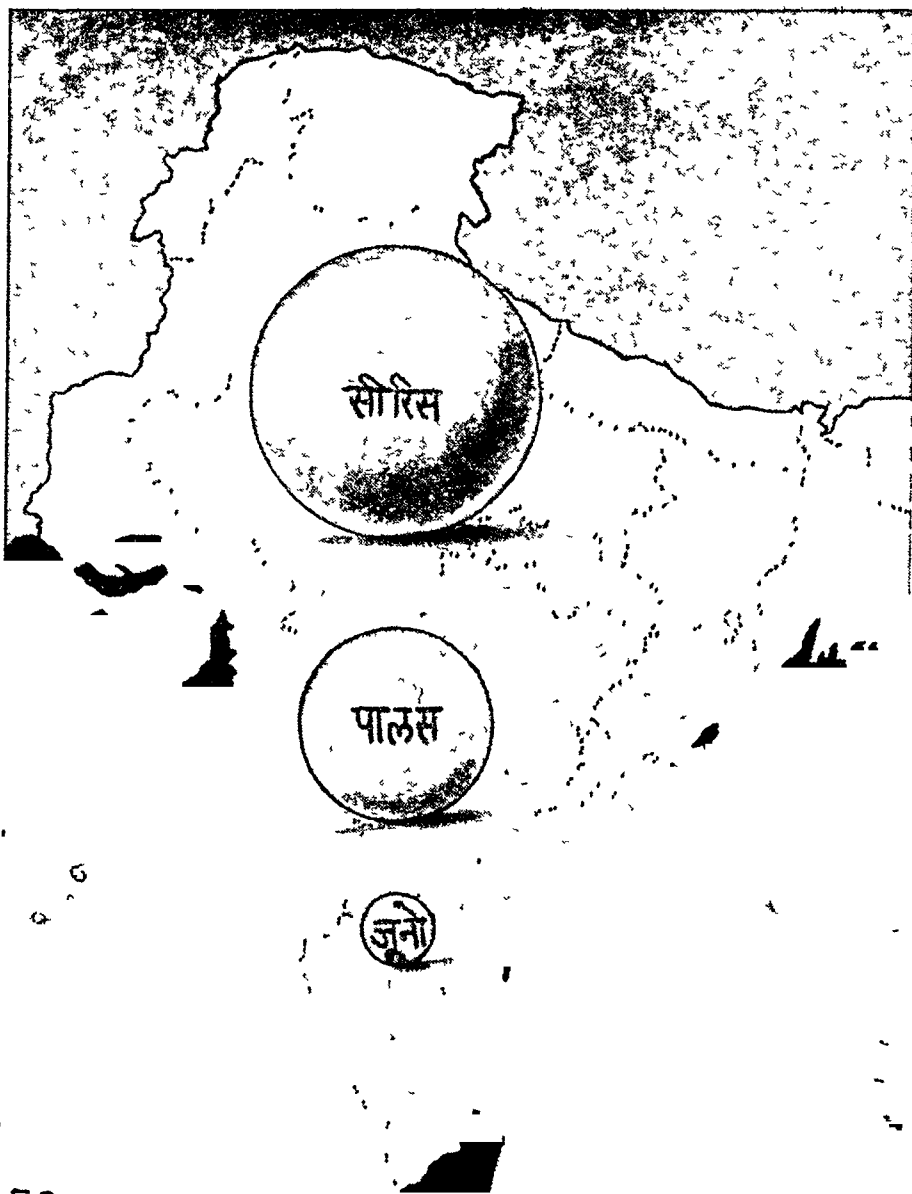
G.C.

भारतवर्ष की लंबाई-चौडाई की तुलना में कुछ बड़े अवांतर ग्रहों का आकार । इनमें सीरिस सबसे बड़ा अवांतर ग्रह है ।

जिस समय टिटियस ने इस नियम का आविष्कार किया था उस समय न तो अवांतर ग्रहो का ही पता था और न यूरेनस और नेपच्यून का । यूरेनस और नेपच्यून तो सूची के अंत मे आते हैं; इसलिए इनके कारण कोई कठिनाई नहीं पडी; परंतु अवांतर ग्रहो का स्थान अवश्य रिक्त रखना पडा । बोडे (Bode) टिटियस से अधिक प्रसिद्ध ज्योतिषी था । उसने टिटियस का नियम मान लिया और बहुत ज़ोर लगाया कि रिक्त स्थान मे ग्रहों की खोज होनी चाहिए । बहुत-से ज्योतिषियो ने टिटियस के नियम का पता बोडे द्वारा पाया; इसलिए आज भी यह नियम साधारणत: 'बोडे का नियम' कहलाता है । रिक्त स्थान में ग्रहो की खोज की बात हो ही रही थी, इतने में यूरेनस का आविष्कार हुआ । जब उसकी दूरी की गणना हुई तो पता चला कि वह भी बोडे के नियम के अनुसार ही है । तब बोडे के नियम मे लोगो का विश्वास इतना दृढ़ हो गया कि मंगल और बृहस्पति के बीचवाले अज्ञात ग्रह को ढूँढ निकालने के लिए जर्मन ज्योतिषियो ने मिलकर २४ सभ्यो की एक परिषद् स्थापित की । इस परिषद् का उद्देश्य यही था कि अज्ञात ग्रह को ढूँढ निकाला जाय । प्रत्येक सभ्य के ज़िम्मे राशिमंडल का चौबीसवाँ भाग कर दिया गया । लोग विनोद मे इस परिषद् को 'आकाशीय पुलिस' कहा करते थे और प्रत्येक सभ्य को चाह थी कि अभियुक्त को वही गिरफ्तार करे और संसार मे यश प्राप्त करे ।

इधर अज्ञात ग्रह के पता पाने की ये सब तैयारियाँ हो रही थी, उधर सिसिली (इटली) के ज्योतिषी पियाज़ी (Piazzi) ने उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम दिवस की

शाम को एक नवीन ग्रह देख ही लिया। 'आकाशीय पुलिस' में पियाज़ी के लिए भी एक स्थान रक्खा गया था, परन्तु उस समय तक पियाज़ी को इसकी खबर न थी। वह एक नक्षत्र-सूची बनाने में लगा था और उसने ग्रह को इसलिए पहचान लिया कि इसका स्थान एक पुरानी सूची में कुछ और ही लिखा था। इसलिए या तो पुरानी सूची में अशुद्धि थी, या यह तारा नहीं बल्कि ग्रह या केतु था, क्योंकि तारों के हिसाब से केवल ग्रह या केतु चला करते हैं। दो-तीन दिन तक इसे देखने से तुरत पता चल गया कि यह स्थिर नहीं है बल्कि चल रहा है। इससे स्पष्ट हो गया कि पुरानी सूची में भूल नहीं थी। पियाज़ी ने पहले समझा कि यह कोई केतु (पुच्छल तारा) होगा। पियाज़ी सवा महीने तक सावधानी से वेध करता रहा। फिर वह बीमार पड़ गया। परन्तु उसने अपने आविष्कार की सूचना बोडे को भेज दी थी। बोडे को पत्र मिलने में दो महीने की देर हो गई, क्योंकि उन दिनों योरप में बड़ी अशान्ति फैली थी। बोडे ने पत्र पाते ही समझ लिया कि नवीन पिंड केतु नहीं, वही अज्ञात ग्रह होगा, जिसकी खोज में लोग इतने समय से पड़े थे। यह समाचार शीघ्र सब जगह फैल गया। परंतु अब यह पिंड सूर्य के बहुत निकट पहुँच गया था और दिखलाई नहीं पड़ रहा था। पियाज़ी ने जब इसे देखा था तब भी यह कोरी आँख से नहीं दिखलाई पड़ता था, केवल दूरबीन से दिखलाई पड़ता था, और सो भी मंद प्रकाशवाले तारे की तरह। इसलिए अब सबको इस बात की शंका होने लगी कि शायद यह ग्रह फिर खो जायगा, क्योंकि इस ग्रह की स्थितियों का वेध केवल सवा महीने तक किया गया था, और इतने समय में यह ग्रह इतना कम चल पाया था कि कोई भी न बतला सकता था कि भविष्य में वह किधर और किस गति से जायगा। कई एक गणितज्ञों ने चेष्टा अवश्य की कि इसके मार्ग का पता लगायें, परन्तु उनके परिणाम इतने ऊटपटाँग निकले कि निराशा और भी बढ़ गई। प्रसिद्ध जर्मन ज्योतिषी गाउस, जिसकी गणना अब संसार के बड़े विद्वानों की प्रथम श्रेणी में की जाती है, उस समय केवल चौबीस वर्ष का था। परंतु उस अल्प आयु में भी उसकी प्रखर बुद्धि ने वह सफलता पाई जो उस समय के अनुभवी ज्योतिषी न पा सके। गाउस ने ग्रह की कक्षा की गणना करने की एक सरल सच्ची नवीन रीति निकाली और वह ठीक-ठीक बतला सका कि ग्रह किस मार्ग में चल रहा है। इन सब में कई महीने बीत गए और नवंबर का महीना आ गया। अब एक नयी विपत्ति ज्योतिषियों के सम्मुख यह उपस्थित हुई कि बादलों के कारण आकाश कभी स्वच्छ ही न होता था। अंत में, वर्ष के अंतिम दिवस की रात्रि में आकाश स्वच्छ हो गया और वह ग्रह, जिसकी खोज वर्ष के प्रथम दिवस में हुई थी, फिर उसी स्थान में दिखलाई दिया, जहाँ गाउस की गणना के अनुसार इसे होना चाहिए था। कक्षा के प्रायः गोल होने के कारण यह प्रत्यक्ष था कि यह वस्तुतः ग्रह ही है। पियाज़ी की इच्छा के अनुसार इस ग्रह का नाम सिसिली की ग्रामदेवी के नाम पर 'सीरिस' (Seres) रक्खा गया।

सबसे बड़े ग्रह सीरिस के आकार की चन्द्रमा से तुलना

सीरिस के आविष्कार के बाद तीन अन्य अवांतर ग्रहों का पता शीघ्र ही लगा। चौथे अवांतर ग्रह के आविष्कार के बाद वर्षों तक खोज होती रही, परन्तु अन्य कोई ग्रह नहीं मिला। तब लगभग ४० वर्ष बाद, एक उपपोस्टमास्टर का पंद्रह वर्ष का कठिन परिश्रम सफल हुआ और पाँचवें अवांतर ग्रह का पता चला। फिर तो नवीन अवांतर ग्रह

लगातार मिलते रहे। आज लगभग पौने दो हज़ार अवांतर ग्रहो का पता हमें है और दो-चार नवीन अवांतर ग्रह हमें प्रति वर्ष ही मिल जाते हैं। इधर अधिक ग्रहो के मिलने का एक कारण यह है कि फोटोग्राफी से हम सहायता ले सकते हैं। यदि कोई अवांतर ग्रह इतने मंद प्रकाश का हो कि वह हमको बडे दूरदर्शक मे भी न दिखलाई पडे तो घंटो घूरते रहने पर भी वह हमको नहीं दिखलाई पडेगा, परंतु यदि हम उसी ग्रह का फोटो तेज़ फोटोग्राफिक प्लेट पर ले और दो-चार घंटे का प्रकाश-दर्शन (एक्सपोज़हर) दे तो उस मद प्रकाश के दो-चार घंटे का सम्मिलित प्रभाव अवश्य प्लेट मे इतना परिवर्त्तन कर देगा कि ग्रह का चित्र खिच जाय। जर्मन-ज्योतिषी मैक्स वोल्फ ने पहले-पहल इस बात से पूरा लाभ उठाया। वह पहले से अनुमान कर लेता था कि अवांतर ग्रह किधर और किस वेग से चलता होगा; और वह अपने दूर-दर्शक को ठीक ऐसी गति से चलाता था कि अज्ञात ग्रह का चित्र विंदु-सरीखा उतरे। तारो के हिसाब से ग्रह चलता रहता है, इसलिए उपरोक्त रीति से दूरबीन चलाकर घंटो का प्रकाश-दर्शन देने पर तारो के चित्र तो विंदु-सरीखे न उतरते थे—वे खिचकर कुछ लम्बे होते जाते थे—परतु ग्रह का कुल प्रकाश घंटो तक प्लेट के केवल एक ही विदु पर पडता था। इसलिए इस उपाय से मद-से-मंद ग्रह का फोटो भी खिच आता था। इसीलिए हमें अनेक ऐसे अवांतर ग्रहो का पता है जो इतने मंद प्रकाश के हैं कि वे बडे दूरदर्शको मे भी नहीं दिखलाई पडते हैं।

अवांतर ग्रह हमे तारे के समान ही दिखलाई पडते हैं, इसलिए उनकी पहचान केवल उनकी कक्षाओं से ही होती है। इनका नामकरण-संस्कार भी बडा विचित्र है। जब किसी नये ग्रह का पता चलता है और कक्षा की गणना करने पर पक्का हो जाता है कि ग्रह वस्तुतः कोई नवीन ग्रह है तब बर्लिन (जर्मनी) के रेख़ेन-इंस्टीट्यूट (Rechen-Institute) का अध्यक्ष इस ग्रह के लिए एक स्थायी नंबर डाल देता है। वहाँ से नंबर पड जाने के बाद आविष्कारक को इसका नाम रख देने का अवसर दिया जाता है। पहले इनके नाम देवी-देवता के नामों पर रक्खे जाते थे, परन्तु देवी-देवताओ की सूची समाप्त हो जाने के बाद शहर, मित्र, जहाज़, यहाँ तक कि पालतू कुत्ते-बिल्ली और दिलपसंद मिठाइयो के नाम तक के अनुसार अवांतर ग्रहो के नाम रक्खे गए हैं।
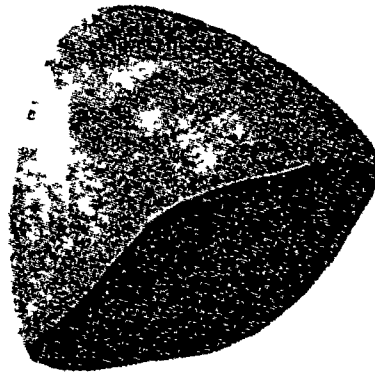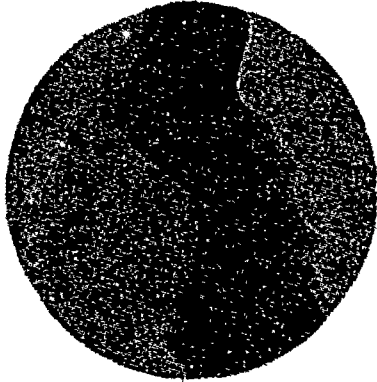
व्यास आदि

केवल दो-चार बडे अवांतर ग्रहो के ही व्यास नापे जा सके है। अन्य अवांतर ग्रहो के व्यासो का अनुमान उनके प्रकाश की मात्रा से किया गया है। सबसे बडा अवांतर ग्रह सीरिस है, जिसका आविष्कार सर्वप्रथम हुआ था। इसका व्यास लगभग ४८० मील है। कुल पंद्रह-सोलह ही अवांतर ग्रह १०० मील से अधिक व्यास के होगे। अधिकांश २० मील व्यास के

एरॉस नामक प्रसिद्ध अवांतर ग्रह बड़ा ही विचित्र आकाशीय पिण्ड है। उसकी चमक घटती-बढती रहती है। इसके कारण के संबंध में चार धारणाएँ हैं। कुछ कहते हैं, इस पर कुछ धब्बे हैं, जिससे प्रकाश बदलता रहता है। दूसरे इसे अंडाकार या अनियमित आकार का मानते हैं। अन्य की धारणा है कि ये दो पिण्ड हैं, जो कभी साथ-साथ और कभी-कभी एक-दूसरे की आड़ में आ जाते हैं, जिससे प्रकाश घट-बढ़ जाता है।

ताप का परिचालन

यदि लोहे के चिमटे के एक सिरे को हम आग में डाल दें तो वह सिरा थोड़ी देर में ही गर्म होकर तप्त हो जाता है। इसमे आश्चर्य की भी कोई बात नहीं; क्योकि आग में जो चीज़ डाली जायगी, उसमें आग की गर्मी प्रवेश करेगी ही। किन्तु हम देखते हैं कि चिमटे का दूसरा सिरा भी थोडी देर में काफी गर्म हो जाता है, यद्यपि यह सिरा आग से बाहर और दूर है (दे० बग़ल के चित्र मे १)।

फिर देगची मे पानी रखकर जब हम उसे आँच पर चढ़ाते हैं तो देगची का पेंदा तप्त हो उठता है। इस तप्त पेंदे के स्पर्श से नीचे का पानी गर्म हो जाता है। किन्तु थोडी देर पश्चात् देगची के पेंदे से दूर ऊपर का पानी भी गर्म होकर खौलने लगता है। तो यहाँ पर नीचे से ऊपर गर्मी कैसे आ पहुँची? (दे० चित्र में नं० २) और अँगीठी के पास जब हम जाडे मे बैठते हैं तो हमे अँगीठी से काफी गर्मी प्राप्त होती है। यहाँ तक कि कुछ देर बाद तो तेज़ आँच के कारण अँगीठी के पास बैठना भी मुश्किल हो जाता है। फिर भी अँगीठी और हमारे बीच की हवा कुछ अधिक गर्म नही हो पाती (दे० चित्र मे नं० ३)।

उपरोक्त उदाहरणो मे हमने देखा है कि ताप एक स्थान से दूसरे स्थान तक विभिन्न रीतियों द्वारा पहुँच सकता है। ठोस वस्तुओं मे एक सिरे के कण पहले गर्म हो उठते हैं, फिर वे अपनी गर्मी अपने बग़लवाले कणो को दे देते हैं, और ये कण स्वयं अपना ताप आगेवाले कणो को दे देते हैं। इस प्रकार पूरे ठोस मे ताप का संचार हो जाता है। ताप के संचार की इस विधि को 'संचालन' कहते है। ऊपर के उदाहरण मे चिमटे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ताप का संचार इसी विधि से हुआ था।

ताप के परिचालन की तीन विधियों के उदाहरण

१. 'संचालन' विधि; २. 'संवाहन' विधि (इसमें देगची आग से संचालन विधि द्वारा गर्म हुई है और इसमें का पानी संवाहन द्वारा); ३. 'विकिरण' विधि।

द्रव वस्तुओं मे ताप के संचार की विधि भिन्न होती है। देगची के पेंदे के स्पर्श मे आने पर नीचे का द्रव पहले गर्म होता है। तापक्रम बढ़ने के कारण इसमे प्रसार होता है, अतः इसका घनत्व भी कम हो जाता है। फलस्वरूप हलका हो जाने के कारण यह ऊपर उठ जाता है और ऊपर का ठण्डा द्रव जो अपेक्षाकृत भारी है, उसका स्थान लेने के लिए नीचे चला आता है। इस प्रकार द्रव के अन्दर ही एक धारा-सी बन जाती है, और कुछ ही देर में समूचा द्रव तप्त होकर खौलने लगता है। ताप के संचार की इस विधि को 'संवाहन' कहते हैं, क्योकि यहाँ पर द्रव-कणो के बहने के साथ-साथ ताप भी एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान को पहुँच जाता है। ताप के संचार की यह विधि केवल द्रवो और गैसो मे ही पाई जाती है, क्योकि द्रव और गैस के ही कण स्वच्छन्दता-पूर्वक इधर-से-उधर को आ-जा सकते हैं। ठोस के कण अपना स्थान छोड नहीं सकते। इसी कारण ठोस के अन्दर ताप का संचार केवल संचालन द्वारा होता है।

इन तीनों ही स्थितियों में ताप का प्रसार भौतिक पदार्थ के कणों की मदद से होता है। किन्तु ताप के प्रसार की एक तीसरी स्थिति भी है। इस स्थिति में ताप बिना किसी पदार्थ की सहायता के ही एक स्थान से दूसरे स्थान को चला जाता है। अंगीठी का ताप हमारे शरीर तक पहुँचता है तो वह मध्यवर्ती हवा को गर्म नहीं करता। [illegible] हमारी पृथ्वी के [illegible] है—पूर्ण [illegible]। [illegible] ताप प्राप्त होता है। ताप के प्रसार की इस स्थिति को [illegible] कहते हैं। [illegible] में भौतिक पदार्थ के कण [illegible] के बदले उसमें बाधा पहुँचाते हैं। अंगीठी के सामने [illegible] का टुकड़ा रख दीजिए तो सारा ताप रुक जाएगा। [illegible] आसमान में [illegible] सूर्य का ताप [illegible] जाता है, और हम [illegible] का अनुभव करते हैं।

अब इस ताप के परिचालन की इन तीनों स्थितियों पर [illegible] विचार करेंगे। संचालन में ठोस के कण अपने [illegible] तो ताप कैसे ले जाते हैं?

ताप पदार्थों के अणुओं की गति या कंपन का सूचक है। गरम होने की दशा में ठोस, द्रव, गैस सभी पदार्थों में प्रसार होता है। द्रव और गैस के अणु ढीले रहते हैं इसलिए वे ऊपर-नीचे, जहाँ जगह मिली, पसरने और दौड़ने लगते हैं। इसीलिए पतीली का पानी गर्म होने की दशा में उफन कर बर्तन के ऊपर तक आ जाता है (दे० चित्र में नं० २) और हवा से भरा गुब्बारा धूप में रखने पर फूलकर बढ़ जाता है (दे० नं० ३)। कभी-कभी हवा के कणों के पसार के लिए काफ़ी जगह भीतर न रहने पर वे गुब्बारे को फोड़कर बाहर भी निकल भागते हैं! ठोस में कणों के छूटकर निकल भागने की तो गुंजाइश नहीं होती, परंतु गर्मी की दशा में वे एक दूसरे से सटे हुए रहकर ही काँपने और पसरने लगते हैं, जिससे उस पदार्थ का समूचा आकार बढ़ जाता है। रेल की पटरी के सूर्य की गर्मी से तपने पर हमें यह पसार स्पष्ट दिखाई देने लगता है—दो पटरियों के बीच का जोड़ कभी-कभी फैलकर मिल जाता है (दे० नं० १)। बगल के चित्र में ठोस, द्रव और गैस तीनों के ठंडे और गर्म होने की दशा का भेद दिखाया गया है।

१. जाड़े में चिड़ियाँ पर फुला लेती हैं ताकि गर्मी बाहर न निकल जाय; २. शीशे के मर्तबान के चारों ओर बर्फ़ के टुकड़े रखकर उस पर गर्म पानी उडेलिए ; वह फ़ौरन टूट जायगा ; ३. मोटरकार के इंजिन को पानी के संवाहन की सहायता से ठंडा करने का प्रबंध ; ४. दिन को समुद्र किनारे जल-समीर चलती है ; ५. शाम को वहाँ स्थल-हवाएँ चलने लगती हैं ; ६. पानी अधम संचालक है ; ऊपर सिरे पर पानी उबल रहा है, नीचे बर्फ़ तक न पिघली ; ७. सिगरेट का धुँआ क पर नीचे जाता है, ख पर ऊपर की ओर ; ८. पारे के चारों ओर लिपटा हुआ काग़ज़ दूर तक झुलस जाता है जबकि पानीवाली नली का काग़ज़ सिरे पर ही झुलस पाया है ; ९. धूप में काले वस्त्र पहननेवाला परेशान है, श्वेत वस्त्रवाला प्रसन्न ; १०. लालटेन में नीचे से हवा घुसती और ऊपर के छेदों से बाहर निकलती है। (विशेष लेख में देखिए)

चिमटे का जो सिरा आग में है, उसके कणों में ताप आ जाने के कारण कम्पन होने लगता है। इस कम्पन का आघात जब पासवाले कणों पर पड़ता है तो वे कण भी आन्दोलित होकर कम्पन करने लगते हैं, और इस कम्पन की शक्ति के कारण उनका तापक्रम भी बढ़ जाता है। इस ढंग से एक कण से दूसरे कण में होता हुआ ताप ठोस के दूसरे छोर तक पहुँच जाता है। अवश्य ज्यों-ज्यों तप्त सिरे से हम आगे को बढ़ते हैं, उस ठोस के कणों की कम्पन-शक्ति धीमी पड़ती जाती है, अतः तापक्रम भी कम होता जाता है। मान लीजिए, समुद्र-तट पर कई कतार में किश्तियाँ खड़ी हैं। समुद्र की ओर से एक ऊँची लहर किनारे को आती है। यह लहर सामनेवाली कतार की किश्तियों से टकराती है और इस लहर का समस्त ज़ोर वहीं ख़त्म भी हो जाता है। किन्तु इस लहर के आघात के कारण पहली कतार की किश्तियाँ ऊपर-नीचे ज़ोरों के साथ हिलने लगती हैं। इनके हिलने से दूसरी कतार की किश्तियाँ भी नीचे-ऊपर हिलने लगती हैं, यद्यपि ये इतनी ऊँचाई तक नहीं जा पातीं, जितनी पहली कतार की किश्तियाँ। इसी प्रकार एक कतार के बाद दूसरी कतार करके एकदम किनारे पर लगी हुई किश्तियों तक यह ऊपर-नीचे का कम्पन पहुँच जाता है, और प्रत्येक कतार की किश्तियाँ ऊपर-नीचे कम्पन करने लगती हैं। एकदम सामनेवाली कतार की किश्तियाँ सबसे ज़्यादा हिलती हैं और पीछेवाली सबसे कम। ठीक यही क्रिया गर्म करते समय ठोस के कणों में भी होती है। जो कण अग्नि के स्पर्श में आते हैं, पहले उनमें कम्पन होता है—फिर इस कम्पन के आघात से पासवाले कणों में भी एक-एक करके कम्पन का सचार हो जाता है। अतः ठोस के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ताप पहुँच जाता है। 'सचालन' में ठीक किश्तियों की भाँति ठोस के कण भी अपनी जगह छोड़कर आगे नहीं बढ़ते। वे केवल अपने नियत स्थान पर ही बाँस की खपची की भाँति तीव्र वेग के साथ कम्पन करते रहते हैं।

सभी ठोस पदार्थों में ताप का सचालन एक-सी गति से नहीं होता। धातुओं में ताप का सचालन अच्छा होता है। इसी कारण भोजन बनाने के लिए बर्तन पीतल, काँसे या लोहे के बनते हैं, ताकि चूल्हे की आँच की गर्मी उनके अन्दर आसानी से प्रवेश कर जाय। कुछ धातुएँ ताप की उत्तम सचालक होती हैं, कुछ घटिया। गर्म चाय के प्याले में एक पीतल का चम्मच डाल दीजिए और दूसरा चाँदी का। आप देखेंगे कि पीतल का चम्मच कुछ अधिक गर्म नहीं होता, किन्तु चाँदी का चम्मच जल्दी ही इतना गर्म हो जाता है कि उसे हाथ से भी नहीं पकड़ सकते। कारण यह है कि चाँदी की [illegible] पीतल की सचालक शक्ति से कई गुनी अधिक है। लकड़ी, कागज, रुई, ऊन आदि पदार्थ, जो धातुओं की श्रेणी में नहीं आते, ताप के अधम सचालक हैं। इसी कारण [illegible] लकड़ी का बना होता है, क्योंकि [illegible] बना होता है। चाय के लिए पानी [illegible] एल्युमिनियम या पीतल की बनी होती है, किन्तु उसमें हम [illegible] न [illegible] दोनों ओर के [illegible] आसानी के साथ उठाकर एक जगह से दूसरी जगह ले जा सकें।

लकड़ी और पीतल की सचालन शक्ति की तुलना करने के लिए [illegible] लीजिए, जिसके एक ओर आधा [illegible] पीतल हो और दूसरी ओर लकड़ी। पहले कागज की [illegible] लपेट दीजिए, और [illegible] लौ पर [illegible] एक सिरे से दूसरे सिरे तक समान रूप से गर्म कीजिए। गर्म करते समय लौ पर तेज़ी के साथ [illegible] ताकि [illegible] के प्रत्येक भाग पर लौ की आँच समान रूप से लगे। थोड़ी देर में आप देखेंगे कि लकड़ी पर लिपटा हुआ कागज़ एकदम झुलस गया है, जबकि पीतल पर लिपटे हुए कागज़ का रंग भी नहीं बदला। चूँकि उत्तम सचालक होने के कारण पीतल ने फौरन ही अपने ऊपर लिपटे हुए कागज़ का ताप ग्रहण कर लिया, अतः कागज़ झुलस न सका। किन्तु अधम सचालक होने के कारण लकड़ी ने अपने ऊपर लिपटे हुए कागज़ की गर्मी ग्रहण नहीं की, फलस्वरूप लकड़ी पर लिपटा हुआ कागज़ जल गया। कागज़ हटाकर इस डण्डे को अब आप हाथ से स्पर्श कीजिए तो पीतल लकड़ी की अपेक्षा काफी गर्म मालूम पड़ेगा।

जाड़े के दिनों में कमरे के अन्दर लोहे की कुर्सी काठ की कुर्सी की अपेक्षा छूने पर ज़्यादा ठण्डी मालूम पड़ती है यद्यपि दोनों का तापक्रम बिल्कुल एक है। चूँकि लोहा उत्तम सचालक है और लकड़ी अधम, इसलिए लोहे की कुर्सी हमारे शरीर का ताप तेज़ी के साथ खींच लेती है

लालटेन की चिमनीपर एकाध बूँद ठण्डे पानीकी डाल दीजिए, चिमनी चटाख टूट जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि कॉच ताप का अधम सचालक है। कॉच की ठण्डी गिलास के अन्दर गर्म चाय हम जब उँडेलते हैं तो गिलास की भीतरी दीवाल गर्म हो जाती है—फलस्वरूप उसमें प्रसार होता है। चूँकि कॉच अधम सचालक है, इसलिए गिलास की बाहरी दीवाल तक गर्मी जल्दी पहुँच नही पाती, और न उसमें किसी तरह का प्रसार ही होता है। नतीजा यह होता है कि भीतर के प्रसार के जोर को सँभाल न सकने के कारण गिलास फौरन् चटख जाती है। पीतल ताप का उत्तम सचालक है, अतः चाय उँडलते ही समूची गिलास मे क्षण भर के अन्दर ताप फैल जाता है, और भीतर-बाहर सब ठौर एक-सा ही प्रसार होता है। अत. गिलास चटखने या टूटने की नौबत ही नहीं आती। अब कॉच की गिलासें पतली दीवालों की भी बनने लगी हैं। एकाएक गर्म चाय यदि इन गिलासों मे उँडेली जाय तो ये टूटती नहीं, क्योंकि ऐसी गिलास के भीतर और बाहर के तापक्रम मे अधिक अन्तर नहीं होने पाता, अतः उनके प्रसार मे भी कुछ अधिक फर्क़ नहीं पड़ता।

प्रयोगशाला में विभिन्न पदार्थों की ताप-सचालन शक्ति की परीक्षा की गई है। यदि पानी की सचालन-शक्ति को १ माने तो हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं:—

तॉबा	७४३	पारा	१०·७
लोहा	१४३	शीशा	१·२
सीसा	५७	फलालैन	·०२१

तॉबे की उत्तम सचालन-शक्ति के आधार पर सर हैम्फ्री डैवी ने एक 'सेफ्टी लैम्प' का निर्माण किया था।

संचालन, संवाहन और विकिरण तीनों के अध्ययन के बाद बनाई गई 'थर्मस बोतल' जो आज दिन घर-घर में प्रचलित हो गई है।

इस ढंग के लैम्प द्वारा खान की विस्फोटक गैसों में आग लगने का भय कुछ नहीं रहता। इस लैम्प में कांच की चिमनी के स्थान पर तॉबे के तार की बनी हुई बेलनाकार जाली लगी रहती है। यदि कोई ज्वलनशील गैस खान के अन्दर हुई तो जाली के अन्दर प्रवेश करते ही लैम्प की लौ को छूकर वह जलने लगेगी। किन्तु भीतर की गर्मी समूची जाली में फैल-कर इधर-उधर की हवा में विलीन हो जाती है, अतः जाली का तापक्रम इतना ऊँचा नहीं हो पाता कि उसके स्पर्श से बाहर-वाली गैस भी प्रज्वलित हो सके। जाली के अन्दर गैस का जलना देखकर खान के मजदूर सचेत हो जाते हैं और लैम्प भी फौरन ही बुझा दिया जाता है। अन्यथा थोड़ी देर में जाली इतनी गर्म हो जाती है कि उसके स्पर्श से बाहर की गैस जल उठे और समूची खान में आग लग जाय। ठंडे मुल्कों में मोटरखाने में रक्खी हुई मोटरकार के रेडियेटर के अन्दर भी अक्सर सेफ्टी लैम्प रख देते हैं ताकि बाहर की ठण्डक के कारण रेडियेटर का पानी जमकर बर्फ न बन जाय। पेट्रोल की भाप ज्वलनशील होती है, इसलिए विस्फोट के ख़तरे से बचने के लिए यहाँ पर सेफ्टी लैम्प ही इस्तेमाल किया जा सकता है। (दे० १३०१ पृष्ठ का चित्र)।

सेफ्टी लैम्प का सिद्धान्त समझने के लिए हम एक दिलचस्प प्रयोग कर सकते हैं। एक साधारण मोमबत्ती लीजिए, और उसे तॉबे की जाली की बनी हुई बेलनाकार चिमनी के बीच मे रख दीजिए। अब एक बन्सन गैस बर्नर नज़दीक ले आइए और बर्नर की गैस खोल दीजिए, ताकि जाली के भीतर जाकर वह मोमबत्ती की लौ को स्पर्श कर

सके। आप देखेंगे कि गैस जाली के अन्दर तो जलती है, किन्तु बाहर नही जलती, यद्यपि गैस बाहर भी पर्य्याप्त मात्रा मे मौजूद है। भीतर जलती हुई गैस का ताप शीघ्रता से जाली मे से होकर आसपास की हवा में विलीन हो जाता है, अतः जाली इतनी तप्त नही हो पाती कि उसके स्पर्श से बाहर की गैस भी प्रज्वलित हो सके (दे० १३०१ पृष्ठ का चित्र।)

अनेक पदार्थ ऐसे हैं जो ताप के नितान्त अधम संचालक हैं—ऊन, शीशा, फेल्ट आदि इसी श्रेणी मे आते हैं। किन्तु अधम-से-अधम संचालक के अन्दर भी कुछ-न-कुछ मात्रा मे ताप-संचार अवश्य होता है। पारे के अतिरिक्त अन्य सभी द्रव और गैसे नितान्त अधम सचालक हैं। किन्तु इस स्थान पर हमे यह न भूलना चाहिए कि पारा भी एक धातु है और सभी धातुएँ अनिवार्य रूप से ताप और विद्युत्धारा की उत्तम सचालक हुआ करती हैं।

कॉच की एक परख-नली मे पानी ले लीजिए और पेंदे मे बर्फ का एक टुकडा डाल दीजिए—पीतल के वाल्व के भार से बर्फ को पेंदे के पास दबा रहने दीजिए। स्पिरिट लैम्प की लौ से पानी को एकदम सिरे पर गर्म कीजिए। थोडी देर मे ऊपर का पानी खौलने लगेगा, फिर भी नीचे पेंदे तक इतना ताप संचालित न हो पायगा कि बर्फ पिघल सके (दे० १२६६ पृष्ठ के चित्र मे नं० ६)।

बिजली का तार डालकर यदि पानी गर्म करना है तो 'हीटर' को देगची के अन्दर बिल्कुल पेंदे से सटाकर रखना चाहिए, वरना ऊपर रखने पर केवल सतह का पानी गर्म हो पाएगा, नीचे का पानी ज्यो-का-त्यों ठण्डा बना रहेगा। पानी और पारे की संचालन-शक्ति की तुलना करने के लिए, कॉच की एक परखनली मे पानी और दूसरी मे पारा लीजिए। पानी और पारा दोनो ही का आयतन एक-सा रखिए। तॉबे का मोटा तार १२६६ पृष्ठ के नं० ८ चित्र के अनुसार मोडकर इस प्रकार आँच के ऊपर रखिए कि तार के दोनों सिरे क्रम से पानी और पारे में डूबते रहे। दोनों परख-नलियों के चारो ओर पतला कागज़ लपेट दीजिए। थोड़ी देर मे आप देखेंगे कि पारे पर लिपटा हुआ कागज़ दूर तक झुलस जाता है, जबकि पानीवाली नली पर केवल सिरे के नज़दीक का कागज़ झुलसता है। निस्सन्देह पारा पानी की अपेक्षा कही उत्तम संचालक है।

गर्म पानी की संवाहन-धारा द्वारा समूचे घर को रेडिएटरों (र) की मदद से गर्म करने का प्रबंध

गैसे भी नितान्त अधम संचालक होती हैं। हवा मे ताप का संचालन क़रीब-क़रीब नही के बराबर होता है। इसी कारण रुई और ऊन आदि फुलफुले कपड़े जाडे मे हमे गर्म रखते हैं। इनके अन्दर रोएँ के बीच ढेर-सी हवा फँसी रहती है। अतः हमारे शरीर की गर्मी इनमे से होकर बाहर नही जाने पाती।

जाडे के दिनो मे जिस दिन कडाके की सर्दी पडती है, अनेक पक्षी पंख फुलाकर बैठते हैं, ताकि परों के बीच ढेर-सी हवा रुक जाय। यह हवा शरीर की गर्मी को बाहर निकलने से रोकती है (१२६६ पृ० के चित्र मे नं० १)। ठंडे मुल्को मे कमरों की दीवाले दुहरी बनाई जाती हैं। दोनों दीवालो के बीच लकडी का बुरादा या घासफूस फुलफुले तौर पर भर देते हैं ताकि उनके बीच हवा फँसी रहे। फँसी होने के कारण हवा में संवाहन धारा प्रवाहित नही हो पाती है और न संचालन द्वारा ही भीतर की गर्मी बाहर निकल पाती है। बर्फ रखने के लिए इसी सिद्धान्त

पर काठ के सन्दूक भी दुहरी दीवाल के बनाये जाते हैं।

जाडे में एक मोटे कम्बल की जगह यदि आप दो पतले कम्बल ओढें तो आपको जाड़ा कम मालूम होगा, क्योंकि दो कम्बल ओढने पर उनके बीच बहुत-सी हवा फँसी रह जाती है और ऊन की अपेक्षा हवा ज्यादा अधम संचालक है। यही कारण है कि ऊनी कोट पहनने की अपेक्षा ऊनी शाल ओढ़ने पर हमें ठण्ड कम लगती है। शाल के साथ हम बहुत-सी हवा भी अपने चारों ओर लपेट लेते हैं। इसी वजह से कम्बल में लिपटी हुई बर्फ भी जल्दी नहीं पिघलती।

हद दर्जे की ठण्ड पहुँचाने पर हवा भी द्रव रूप धारण कर लेती है। द्रव हवा बहुत ठण्डी होती है। यदि द्रव हवा में आपकी उँगलियाँ डुबा दी जायँ तो वे ठिठुरकर एकदम सुन्न पड जायँगी—जरा-सा झटका लगने ही वे टूटकर हाथ से अलग जा गिरेंगी। किन्तु ऐसी खतरनाक द्रव हवा को जब हम अपनी हथेली पर उँडेलते हैं तो हमें बहुत ज्यादा ठण्ड नहीं मालूम होती। क्योंकि हथेली के स्पर्श में आते ही शरीर की गर्मी से नीचे की थोड़ी-सी द्रव हवा गैस रूप धारण कर लेती है। अब चूँकि ऊपर की ठण्डी द्रव हवा और हमारी हथेली के बीच में गैस रूप में हवा की एक पतली-सी तह मौजूद है और यह ताप की नितान्त अधम सचालक है, इस कारण हमारी हथेली का ताप निकल नहीं पाता और हमें कुछ बहुत ज्यादा ठण्ड मालूम नहीं होती।

हमने देखा है कि द्रव और गैस दोनों ही ताप के अधम सचालक हैं। इनके अन्दर ताप का प्रवेश केवल संवाहन द्वारा हो सकता है। गैसों में भी द्रव की भाँति ही संवाहन धाराएँ बन जाती हैं। पानी से भरी हुई तश्तरी में एक जलती हुई मोमबत्ती खडी कर दीजिए। अब तश्तरी में ही शीशे की एक लम्बी चिमनी इस तरह खड़ी कीजिए कि मोमबत्ती चिमनी के बीच में आ जाय। मोमबत्ती कुछ ही सैकण्ड के अन्दर बुझ जाती है। इसी प्रयोग को अब फिर दुहराइए। इस बार ऊपर चिमनी पर 'T' की शक्ल का एक दफ्ती का टुकडा इस तरह रखिये कि T' का निचला सिरा चिमनी में आधी दूर तक पहुँचे। आप देखेंगे कि अब मोमबत्ती बिना किसी रुकावट के जलती रहती है। क्योंकि इस बार आपने चिमनी के अन्दर सवाहन धारा जारी रखने के लिए सुविधा कर दी है। दफ्ती के एक ओर से ताज़ी और ठण्डी हवा चिमनी के अन्दर प्रवेश करती है और दूसरी ओर से गर्म और दूषित वायु हलकी होने के कारण निकल-कर बाहर भागती है (दे० पृ० १२९९ के चित्र में न० ७)।

किट्सन लालटेनों में नीचे तल्ले के पास अनेक छिद्र बने होते हैं, इन्हीं में से होकर लालटेन के अन्दर ताज़ी हवा प्रवेश करती है और चिमनी के ऊपर बने हुए सूराख़ों के रास्ते गर्म और दूषित वायु बाहर निकलती है (दे० उक्त चित्र में न० १०)। नीचेवाले सूराख़ों को काग़ज़-कीचड़ से बन्द कर दीजिए। लालटेन कुछ ही क्षणों में बुझ जाती है, क्योंकि चिमनी के अन्दर ताज़ी हवा के प्रवेश करने के लिए कोई रास्ता बाक़ी नहीं रहता। ऊपर का सूराख़ बन्द करने पर भी लालटेन बुझ जाती है, क्योंकि दूषित हवा के बाहर जाने का रास्ता अब बन्द हो गया है। इसी सिद्धान्त पर खानों के अन्दर ताज़ी हवा पहुँचाने का प्रबन्ध किया जाता है। प्रत्येक खान में कम-से-कम दो कुएँ (shafts) बनाए जाते हैं। इनमें से एक के नीचे निरन्तर आग जलती रहती है। अतः वहाँ की हवा गर्म होकर एक कुएँ के रास्ते ऊपर उठती है और दूसरे कुएँ से ताज़ी और अपेक्षाकृत ठण्डी हवा नीचे खान में प्रवेश करती है। इस प्रकार खान के अन्दर अबाध रूप से ताज़ी हवा की संवाहन-धारा चलती रहती है।

कमरों के अन्दर ताज़ी हवा पहुँचाने के लिए ऊपर छत के पास रोशनदान (वेन्टीलेटर) बनाये जाते हैं। कमरे से निकली हुई गर्म हवा इसी वेन्टीलेटर से होकर बाहर निकल जाती है और ताज़ी हवा खिड़कियों और दरवाज़ों के रास्ते कमरे के अन्दर प्रवेश करती है।

ठण्डे देशों में गर्म पानी की संवाहन-धारा से कमरों को गर्म रखते हैं। पानी को एक बड़े बर्तन में गर्म करते हैं—इस देगची से गर्म पानी एक नली द्वारा ऊपर चढ़ता है। घर के भिन्न-भिन्न कमरों में गर्मी पहुँचाने के उपरान्त ठण्डा होकर यही पानी एक दूसरे रास्ते से देगची के अन्दर वापस लौट आता है (दे० १३०३ पृ० का चित्र)।

मोटरकार के इंजिन को ठण्डा रखने के लिए भी ठण्डा पानी काम में लाते हैं। इंजिन के चारों ओर घूमकर गर्म पानी जब रेडिएटर में पहुँचता है तो हवा के झोंके से वह फिर ठण्डा हो जाता है और इंजिन का चक्कर लगाने के लिए फिर वापस जाता है (१२९९ पृ० के चित्र में न० ३)।

उष्ण कटिबन्ध में समुद्र का जल ध्रुव प्रान्तों के जल की अपेक्षा गर्म रहता है, अतः गर्म पानी विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर सतह के ऊपर-ऊपर जाता है, और ध्रुवों से ठण्डे पानी की धारा पानी की सतह के नीचे-नीचे विषुवत् रेखा की ओर आती है। 'गल्फ स्ट्रीम' विषुवत् रेखा की ओर से आती हुई इँगलैंड के समुद्रतट से गुज़रती

है, फलस्वरूप इंगलैंड का जलवायु अधिक ठण्डा नही होने पाता।

थाली मे परसे हुए गर्म भोजन की महक कमरे भर मे फैल जाती है, क्योकि भोजन-सामग्री से उठते हुए कण गर्म हवा के साथ ऊपर जाकर कमरे मे इधर-उधर फैल जाते है।

दिन को धूप के कारण समुद्रतट की ज़मीन का तापक्रम पानी के तापक्रम की अपेक्षा ऊँचा चढ जाता है, अतः ज़मीन की हवा गर्म होकर ऊपर उठती है और समुद्र से अपेक्षाकृत ठण्डी हवा तट की ओर चलती है। शाम को सूर्यास्त के समय ज़मीन और समुद्र दोनो ही अपना ताप खोते हैं, किन्तु इस क्रिया में ज़मीन पानी की अपेक्षा शीघ्र ठण्डी हो जाती है, अतः अब तट की ओर से समुद्र की ओर हवा चलने लगती है। मछुए समुद्री और स्थल की हवा के सहारे समुद्र मे मछली फँसाने के लिए चले जाते और सूर्योदय होते ही समुद्री हवा की मदद से फिर तट पर वापस आ जाते हैं (१२९६ पृ० के चित्र मे ४-५)।

अब ताप के परिचालन की तीसरी विधि पर हम आते हैं। इस विधि में बीच के पदार्थों को गर्म किये बग़ैर ही ताप एक स्थान से दूसरे स्थान को चला जाता है। एकदम शून्य (वैकुअम) मे से होकर ताप का परिचालन श्रेष्ठतम होता है। शून्य मे होकर गुज़रने मे ताप की शक्ति का कोई भी अंश क्षीण नही होने पाता। किन्तु ताप जब किसी भौतिक पदार्थ मे से होकर गुज़रता है तो इसका कुछ अश तो उस पदार्थ मे विलीन होकर उसका तापक्रम बढ़ाता, कुछ अश उस पदार्थ के धरातल से छलककर वापस लौट जाता है; और शेष उस पदार्थ को पार करके आगे बढ़ जाता है। शीशा, हवा, पानी आदि पारदर्शक पदार्थों मे से होकर विकीर्ण ताप आसानी से गुज़र जाता है, इस क्रिया मे ये पदार्थ तनिक भी गर्म नहीं हो पाते। आतशी शीशे से सूर्य-रश्मियो को जब काग़ज़ के टुकड़े पर केन्द्रीभूत करते हैं तो यह काग़ज़ तप्त होकर जल उठता है, किन्तु आतशी शीशे को छूकर देखिए तो वह ठण्डा ही मालूम पड़ता है। सूर्य की किरणे आतशी शीशे को पार तो कर गई, किन्तु उन्होने शीशे को गर्म नही किया। यदि बर्फ के बने हुए लेन्स (lens) से सूर्य-रश्मियाँ केन्द्रीभूत की जायँ तो भी काग़ज़ का टुकड़ा जल जायगा, यद्यपि बर्फ के पिघलने की भी नौबत नहीं आयगी। (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)

अँगीठी के सामने दफ़्ती का टुकड़ा खड़ा कर देने से विकीर्ण ताप एकदम रुक जाता है, इससे स्पष्ट है कि हमारे पास अँगीठी से ताप संवाहन-धारा द्वारा नही आता है, क्योकि दफ़्ती के नीचे-ऊपर से होकर भी संवाहन-धारा द्वारा हमारे पास ताप का पहुँचना सम्भव हो सकता था। साथ ही हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते हैं कि विकीर्ण ताप केवल सीधी रेखाओ के मार्ग से ही आगे बढ़ सकता है। संचालन या संवाहन मे यह शर्त लागू नहीं होती।

विकिरण द्वारा ताप के परिचालन संबंधी एक प्रयोग

आतशी शीशे से सूर्य-रश्मियों को जब काग़ज़ के टुकड़े पर केन्द्रीभूत करते हैं तो काग़ज़ तप्त होकर जल उठता है—उसमें से धुआँ निकलने लगता है! परन्तु आतशी शीशा स्वयं ठंडा ही रहता है!

साधारण हवा विकीर्ण ताप के लिए लगभग पूर्णतया पारदर्शक है। किन्तु पानी की भाप या बादल विकीर्ण ताप को काफी मात्रा मे रोककर अपने मे विलीन कर लेते हैं। इसी कारण जिस रात को आसमान में बादल छाये रहते हैं, बड़ी उमस रहती है, रात को पृथ्वी की गर्मी विकीर्ण होकर ऊपर आसमान में विलीन नहीं होने पाती। कुछ बादल मे विलीन हो जाती है और कुछ बादलो से प्रक्षालित होकर वापस पृथ्वी पर ही लौट आती है। चन्द्रमा के वायुमण्डल में पानी की भाप नही है, अतएव वहाँ धूप मे चन्द्रमा का धरातल बेहद जलने लगता है और रात को चन्द्रमा का अधिकांश ताप सूखी हवा मे से होकर आसानी से निकल जाता है, अतः उसका धरातल उस समय खूब ठण्डा हो जाता है।

शीशे मे से होकर सूर्य का विकीर्ण ताप आसानी से गुज़र सकता है, किन्तु कम गर्म विकीर्ण ताप शीशे को पार

नही कर सकता। इसी सिद्धान्त पर इगलैड-जैसे ठडे देशों मे शीशे की दीवालो से घेरकर वाटिकाएँ बनाई जाती हैं। ऐसी वाटिकाओं मे गर्म देशों के पौधे भी लगाये जाते हैं। सूर्य का विकीर्ण ताप शीशे को पार करके इस वाटिका मे प्रवेश कर सकता है, किन्तु वाटिका के अन्दर से ताप शीशे को पार करके बाहर नहीं जा पाता, अतः बाहर की अपेक्षा शीशे के कठघरे के अन्दर कम सर्दी रहती है और उपयुक्त तापक्रम पाकर इसके अन्दर गर्म देशवाले पेड़-पौधे भी अच्छी तरह पनपते हैं।

सचालन और सवाहन दोनों मे ही ताप को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने मे काफी समय लगता है, किन्तु विकीर्ण ताप का परिचालन अत्यन्त ही तीव्र वेग से होता है। दुपहरी को आसमान मे सूर्य के सामने बादल आए नहीं कि हमे एकदम ठण्ड लगी, और ज्यो ही बादल हटे, सूर्य का विकीर्ण ताप पुनः पृथ्वी पर पहुँच जाता है। वास्तव मे विकीर्ण ताप की गति १८६००० मील प्रति सैकण्ड है। सूर्य पृथ्वी से ९ करोड ३० लाख मील की दूरी पर है, किन्तु इस लम्बे फासले को तय करने मे विकीर्ण ताप को केवल साढे आठ मिनट लगते हैं।

विकीर्ण ताप को सभी पदार्थ समान मात्रा मे विलीन नहीं करते। धूप मे काले रग का खादी का कोट पहनकर चलिए तो पीठ गर्मी के मारे जलने-सी लगती है, किन्तु उसी समय यदि सफेद रग का रेशमी कोट पहनकर बाहर निकलिए तो उतनी गर्मी मालूम न होगी (दे० १२९९ पृ० के चित्र मे न० ९)। काले रग की खुरदरी वस्तुएँ विकीर्ण ताप को अच्छी तरह सोखती हैं, किन्तु सफेद रग की चमकदार पालिशवाली वस्तुओ के अन्दर विकीर्ण ताप कम विलीन हो पाता है। जाडे की ऋतु मे काले कपडे इसी कारण पहने जाते हैं कि विकीर्ण ताप कपडों मे खूब जज्ब हो जाय।

चूल्हे पर चढाये जानेवाले बर्तनो के पेंदे पर काली राख की एक पतली तह चढा दी जाती है ताकि चूल्हे की आँच की गर्मी बर्त्तन के अन्दर आसानी से समा जाय।

सभी वस्तुओ से चारों ओर ताप विकीर्ण भी होता है। रात के अँधेरे मे गर्म चिमटा मुँह के पास ले आइए तो उसकी आँच आप फौरन् महसूस करेगे। जो वस्तु जितने ऊँचे तापक्रम पर होगी उतना ही अधिक ताप उससे विकीर्ण होगा। किन्तु विकीर्ण ताप की मात्रा विकीरक के अकेले तापक्रम पर ही निर्भर नही है, बल्कि उसके धरातल की अवस्था पर भी। यदि एक से ही तापक्रम पर दो विभिन्न वस्तुएँ हैं, किन्तु एक का धरातल चिकना, सफेद और चमकदार है और दूसरे का काला और खुरदरा, तो चिकनी वस्तु मे कम ताप विलीन होगा और खुरदरी मे अधिक। अर्थात् जो पदार्थ विकीर्ण ताप कम सोखते हैं, वे स्वयं भी कम ताप अपने मे से विकीर्णित कर पाते हैं। चूल्हे पर चढानेवाले बर्तन का पेंदा काला रखना उचित होता है, किन्तु इसका ऊपरी भाग चिकना और चमकदार रक्खा जाता है ताकि बर्तन के अन्दर की गर्मी आसानी से बाहर न निकल जाय। [illegible] विलीन हो जाती है, इस गर्मी को [illegible] प्रतिदिन [illegible] चमकदार रखा जाता है, ताकि उनके अन्दर से ताप की गर्मी विलीन न हो पाए।

सचालन, सवाहन और विकिरण इन तीनों क्रियाओं का भली भाँति अध्ययन करके वैज्ञानिकों ने थर्मस बोतल का निर्माण किया है। थर्मस बोतल का प्रयोग आजकल लग-भग सभी देशों मे होने लगा है। इस बोतल के भीतर से न तो ताप बाहर निकल सकता है और न बाहर से ताप भीतर को प्रवेश कर सकता है। इसीलिए इस बोतल मे रक्खी हुई चाय बहुत देर तक गर्म बनी रहती है और इसके अन्दर रखी हुई बर्फ भी जल्दी नहीं पिघलती। इस बोतल के निर्माण मे इस बात की पूरी सावधानी रखी गई है कि ताप का प्रसार सचालन, सवाहन या विकिरण किसी भी तरीके से इस बोतल मे से होकर बाहर न जाने पाए।

थर्मस फ्लास्क मे दुहरी दीवाल की एक बोतल होती है। भीतर और बाहर की दीवालों के बीच की हवा पम्प के ज़रिये निकाल ली गई होती है—अतः इन दोनों दीवालों के बीच केवल शून्य रहता है। इनके बीच भौतिक पदार्थ न रहने के कारण सचालन या सवाहन मे से कोई भी क्रिया जारी नहीं हो सकती। अवश्य विकीर्ण ताप शून्य मे से होकर आ जा सकता है। इस क्रिया को रोकने के लिए इन दोनों दीवालो के भीतरी धरातल पर दर्पण की भाँति पालिश कर देते हैं। प्रकाश-रश्मियों की भाँति ताप-रश्मियाँ भी चमकदार धरातल पर पड़ते ही उलटी वापस हो जाती हैं, अतः भीतर का ताप इस दुहरी दीवाल को पार करके न बाहर जा सकता है, और न बाहर का ताप इसे पार कर भीतर ही आ सकता है। इस बोतल मे जब कोई गर्म या ठडा पदार्थ भर दिया जाता है और उसका मुँह कार्क से बद कर दिया जाता है तो वह ताप का बाहर की ओर परिचालन न होने के कारण लगभग उसी तापक्रम पर घटों तक बना रहता है (दे० पृ० १३०२ का चित्र)।
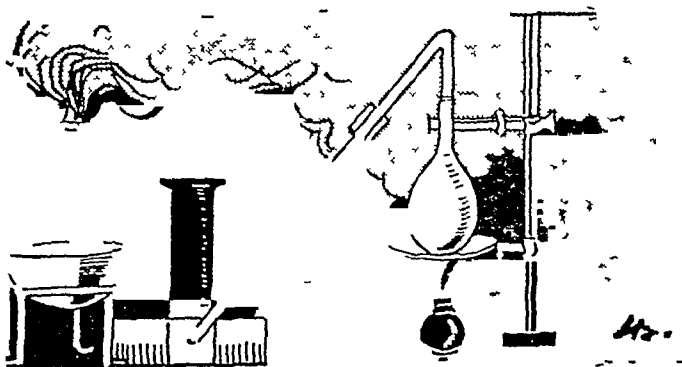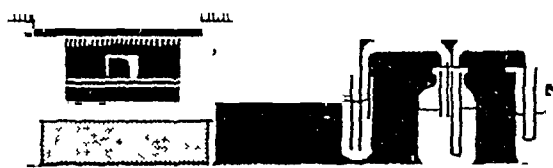
नाइट्रोजन के कुछ महत्वपूर्ण और मनोरंजक यौगिक

अमोनिया, हँसानेवाली गैस, नाइट्रिक ऐसिड, आदि

अमोनिया

एक चौडे मुँह की बोतल मे कुछ नौसादर लीजिए और उसमे अनबुझे चूने के कुछ टुकडे छोड दीजिए। बोतल को हिलाकर कुछ देर के लिए रख दीजिए और फिर उसे सूँघिए। यदि आप सावधानी से न सूँघेंगे तो सभव है कि गंध की तीक्ष्णता से व्याकुल होकर आपको नाक ढक लेनी पडे। अपने किसी योग्य मित्र से मज़ाक करने के लिए, कुसमय में ऊँघते हुए किन्ही महाशय की नींद भगा देने के लिए, अथवा अफ़ीमची की पिनक उचाट देने के लिए यह एक बडा ही अच्छा नुस्खा है। किसी कलियुगी कुंभकर्ण के कान के पास ढोल पीटने की कोई आवश्यकता नही, बस इसी बोतल को खोलकर इसका मुँह उसकी नाक के पास कर दीजिए। इसी तीक्ष्ण गधवाली गैस का नाम 'अमोनिया' है। अपने ज़ुकाम को दूर कर देने के प्रयत्न मे बहुधा लोग नौसादर और चूना मे इकुलिप्टस तैल मिलाकर सूँघते है।

वनस्पति और प्राणि कलेवरो अथवा पदार्थों के सडने मे जिन गैसो का उत्पादन होता है, उनमे अमोनिया भी एक है। गदे अस्तबलो और पेशाबख़ानो में इसकी गंध साफ़ मालूम पडती है। किसी भी नाइट्रोजन (प्रोटीन)-युक्त जीवपदार्थ को गर्म करने से जो गैसे निकलती हैं, उनमें भी अमोनिया होती है। इसीलिए पहले कभी इसका नाम 'हिरनो के सीगों का अर्क (spirit of hartshorn)' था। पिछले अध्यायों मे हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का वर्णन तो आप पढ ही चुके होगे। इन्हीं दोनो गंधहीन गैसो के रासायनिक संयोग से नाक में तीर-सी चुभती हुई चढ़ जानेवाली यह अमोनिया गैस बनती है। इसके एक अणु मे नाइट्रोजन का एक परमाणु और हाइड्रोजन के तीन परमाणु रहते है। हेबर ने पानी से हाइड्रोजन और हवा से नाइट्रोजन निकालकर इन गैसो के सयोग द्वारा यही अमोनिया बनाई थी और सजीव जगत् को सुलभ नाइट्रोजन का अपरिमित भांडार सौंप दिया था।

यदि आपको अमोनिया अपनी प्रयोगशाला मे बनाना हो, तो इसके लिए नौसादर और चूना से अधिक सस्ते और अच्छे पदार्थ आपको न मिल सकेंगे—वैसे तो किसी भी अमोनियम लवण तथा कास्टिक सोडा, कास्टिक पोटाश, आदि किसी भी क्षारीय पदार्थ की रासायनिक प्रक्रिया से अमोनिया का उत्पादन होता है। नौसादर का रासायनिक नाम अमोनियम क्लोराइड (NH_4Cl), और चूने का अनबुझे रूप में कैल्शियम ऑक्साइड (CaO) और बुझे रूप मे कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड [$Ca(OH)_2$] है। दोनो की पारस्परिक प्रतिक्रिया द्वारा कैल्शियम क्लोराइड बनकर रह जाता है और अमोनिया निकल पडती है—

$$2NH_4Cl + Ca(OH)_2 = 2NH_3 + CaCl_2 + 2H_2O$$

नौसादर — बुझा चूना — अमोनिया — कै॰क्लोराइड — पानी

प्रयोगशाला में अमोनिया गैस बनाने की विधि

एक भाग नौसादर को दो भाग सूखे तथा पिसे हुए बुझे अथवा अनबुझे चूने से मिलाकर एक कठोर शीशे

के गोल पेंदेवाले फ्लास्क में ले लीजिए। इस मिश्रण को अनबुझे चूने की तह से ढककर फ्लास्क को नली द्वारा अनबुझे चूने के टुकड़ों से भरी हुई एक मीनार से जोड़ दीजिए। पिछले पृष्ठ के अनुसार, इस मीनार की निकास-नली पर एक बोतल अथवा जार औंधा दीजिए। फ्लास्क को गर्म करने पर अमोनिया निकलकर बोतल या जार में इकट्ठा होने लगती है। जलशोषक होने के कारण फ्लास्क की ऊपरी तह तथा मीनार में रक्खा हुआ चूना अमोनिया को शुष्क बनाकर उसे गैस-रूप में निकल जाने में सहायता देता है। अमोनिया हवा से लगभग दुगुनी हलकी होती है, अतएव वह औंधाए हुए पात्र में हवा को नीचे हटाकर एकत्र हो जाती है। अमोनिया एक क्षारीय गैस है अर्थात् पानी में घुलकर वह अमोनियम हाइड्रोक्साइड क्षार का उत्पादन करती है ($NH_3+H_2O=NH_4OH$)। इसी क्षारीय गुण के कारण वह नीले लिटमस अथवा पीली हल्दी से रँगे कागज को लाल कर देती है। यह देखने के लिए कि पात्र अमोनिया से भर गया है कि नहीं, एक भीगा हुआ लिटमस अथवा हल्दी का कागज़ उसके मुँह के पास ले जाइए। यदि वह लाल हो जाय तो पात्र को भरा समझ लेना चाहिए। एक दूसरा उपाय यह है कि एक शीशे की छड़ के सिरे को सान्द्र (concentrated) नमक की तेज़ाब (हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड) में डुबाकर पात्र के मुँह तक ले जाइए। यदि पात्र अमोनिया से भरा होगा तो छड़ के तेज़ाब भरे सिरे से घना सफेद धुआँ निकलने लगेगा। अमोनिया हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस से सीधे संयुक्त होकर अमोनियम क्लोराइड (नौसादर) का उत्पादन कर देती है ($NH_3+HCl=NH_4Cl$)। यह सफेद धुआँ इसी नौसादर के कणों का होता है।

फ़व्वारे का प्रयोग

अमोनिया पानी में अत्यंत घुलनशील होती है। इस घुलनशीलता के कारण एक बड़ा ही मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है। इसे फ़व्वारे का प्रयोग कहते हैं। शीशे के एक बड़े बीकर अथवा तसले में पानी लेकर उसमें थोड़ा-सा फेनालफ्थलीन का घोल* छोड़ दीजिए। फिर एक सूखे फ्लास्क में अमोनिया गैस भर लीजिए और उसे औंधे ही रखकर एक ऐसी कार्क से बंद कर दीजिए, जिसमें से होकर अंदर की ओर एक टोंटीदार नली लगी है (इसी पृष्ठ का चित्र देखिए)। अब टोंटीदार नली का बाहरी सिरा फेनालफ्थलीन मिले पानी में अच्छी तरह डुबाकर फ्लास्क के ऊपर या तो थोड़ा ठंडा पानी अथवा थोड़ा-सा ईथर छोड़ दीजिए। ठंडक से फ्लास्क की हवा सिकुड़ेगी और पानी ऊपर चढ़ेगा। पानी के संपर्क में आते ही अमोनिया उसमें तेज़ी से घुलने लगेगी और उसके रिक्त स्थान में बाहर का रंगीन पानी लाल होकर तेज़ फ़व्वारे के रूप में भीतर आने लगेगा। न समझनेवालों को यह प्रयोग जादू-सा दिखाई देगा। केवल अमोनिया ही नहीं किसी भी क्षार की उपस्थिति में फेनालफ्थलीन का घोल लाल हो जाता है। यदि आप बाहर के पानी में थोड़ा लिटमस का घोल मिलाकर उसमें कुछ बूँद तेज़ाब डाल दें तो वह लाल हो जायगा, लेकिन भीतर फ़व्वारे के रूप में वह नीला होकर चढ़ेगा। इसी प्रकार हल्दी का पीला पानी चढ़कर लाल हो जायगा। होलीवाला उड़नशील रंग भी अमोनिया के घोल में फेनालफ्थलीन मिलाकर ही बनाया जाता है।

अमोनिया गैस जब संकुचित अथवा द्रवीभूत होती है, या जब वह घुलती है तो गर्मी का उत्पादन होता है। इसके विपरीत जब वह प्रसारित अथवा वाष्पीभूत होती है तो ताप के शोषण के कारण ठंडक पैदा होती है। यह अमोनिया के ही लिए नहीं वरन् एक व्यापक सिद्धांत है। पानी में भी यही बात होती है। भीगे कपड़े पहने अथवा भीगे शरीर हवा में खड़े होने से जाड़ा इसीलिए लगता है कि देह पर से वाष्पीकरण शीघ्रता से होने लगता है। तरल अमोनिया पानी से कहीं अधिक वाष्पशील पदार्थ है, अतएव वह थोड़े समय में ही जल्दी-जल्दी वाष्पीभूत होकर बहुत अधिक ठंडक पैदा कर सकती है। एक फ्लास्क में अमोनिया का कुछ प्रबल घोल ले लीजिए और उसे लकड़ी के एक गुटके पर थोड़ा-सा पानी छोड़कर रख दीजिए। अब धौंकनी द्वारा तेज़ी से उसमें हवा बुल-बुलाइए। कुछ ही मिनटों में लकड़ी और शीशे के बीच का पानी जम जायगा और फ्लास्क गुटके में चिपका हुआ पाया जायगा। रेफ्रीजरेटरों तथा शीत-भांडारों में अमोनिया

*इसे बनाने के लिए ६० c c स्पिरिट में एक ग्राम फ़ेनालफ्थलीन घोल लीजिए; फिर उसमें ४० c c पानी छोड़कर एक बोतल में चाहें तो छानकर रख लीजिए।

के ही वाष्पीकरण द्वारा ठंडक पैदा की जाती है। संकुचित अथवा ठंडा करने से अमोनिया सरलतापूर्वक रंगहीन तरल रूप में द्रवीभूत हो जाती है। इस अमोनिया द्रव के गैसीकरण तथा गैस के प्रसरण में ताप का शोषण अत्यधिक मात्रा में होता है। बर्फ के कारखानों में इसी प्रकार से उत्पादित शीत का उपयोग होता है। पहले संकोचक द्वारा अमोनिया द्रवीभूत कर दी जाती है। इस क्रिया में गर्मी का उत्पादन होता है, अतएव संकोचक से निकली हुई गर्म तरल अमोनिया ऐसी नलियों में प्रवाहित की जाती है जिन पर ठंडे पानी के झरने गिरा करते हैं। यहाँ से वह नमक के घोल के तालाब में प्रविष्ट होती है, किंतु इसके पहले ही वाल्व खोलकर उसका दबाव एकाएक कम कर दिया जाता है, जिससे उसका वाष्पीभवन व प्रसरण और साथ-ही-साथ नमक के घोल से गर्मी का शोषण होने लगता है। इस प्रकार नमक के घोल का तापक्रम बर्फ के तापक्रम (0°c) से भी काफी नीचा हो जाता है, किंतु नमक का घोल इस तापक्रम पर भी तरलावस्था में ही बना रहता है। इसी तालाब में बर्फ के पीपे डूबे रहते हैं। ये ऊपर की ओर निकले और खुले रहते हैं और उनमें भरा हुआ पानी ठंडा होकर बर्फ हो जाता है। इस तालाब से अमोनिया फिर संकोचक में पहुँचा दी जाती है (दे० नीचे का चित्र)।

क्षारीय होने के कारण अमोनिया अम्लों को मार देती है और अमोनियम लवण बन जाते हैं। इन लवणों का एक अणु भाग (NH_4) होता है, इसी को अमोनियम कहते हैं। अमोनिया का गैसीय हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से संयोग बड़ा ही मनोरंजक होता है। यह प्रक्रिया भी न समझने-वालों के सामने जादू के रूप में दिखाई जा सकती है। एक ग्लास में कुछ बूँद सांद्र हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड ले लीजिए, और हिलाकर उसे पेंदे पर फैला दीजिए। इस ग्लास को शीशे अथवा दफ्ती के एक टुकड़े से ढक दीजिए। इसी प्रकार एक दूसरे ग्लास में अमोनिया का कुछ प्रबल घोल फैला लीजिए। अब ढकनों सहित एक ग्लास को दूसरे ग्लास पर औंधाकर ऊपर से एक कपड़ा डाल दीजिए। फिर कपड़े के अंदर ही दोनों ढकनों को खींचकर अलग रख दीजिए। अब किसी वस्तु को जलाकर अथवा सिगरेट पीकर धुआँ उन ग्लासों की ओर फेंकिए। कपड़ा उठाने पर दोनों ग्लास घने सफेद धुएँ से भरे दिखाई देंगे! दर्शक बेचारों को क्या पता कि उन सांद्र घोलों से निकली हुई अदृश्य गैसों ने ही संयुक्त होकर नौसादर के इस धुएँ का उत्पादन किया है (दे० पृ० १३१० का चित्र 'धुएँ का जादू')।

बड़े परिमाण में अमोनिया के लवण ठंडे हलके अम्लों में अमोनिया को मिश्रित करके बनाए जाते हैं। इस प्रकार
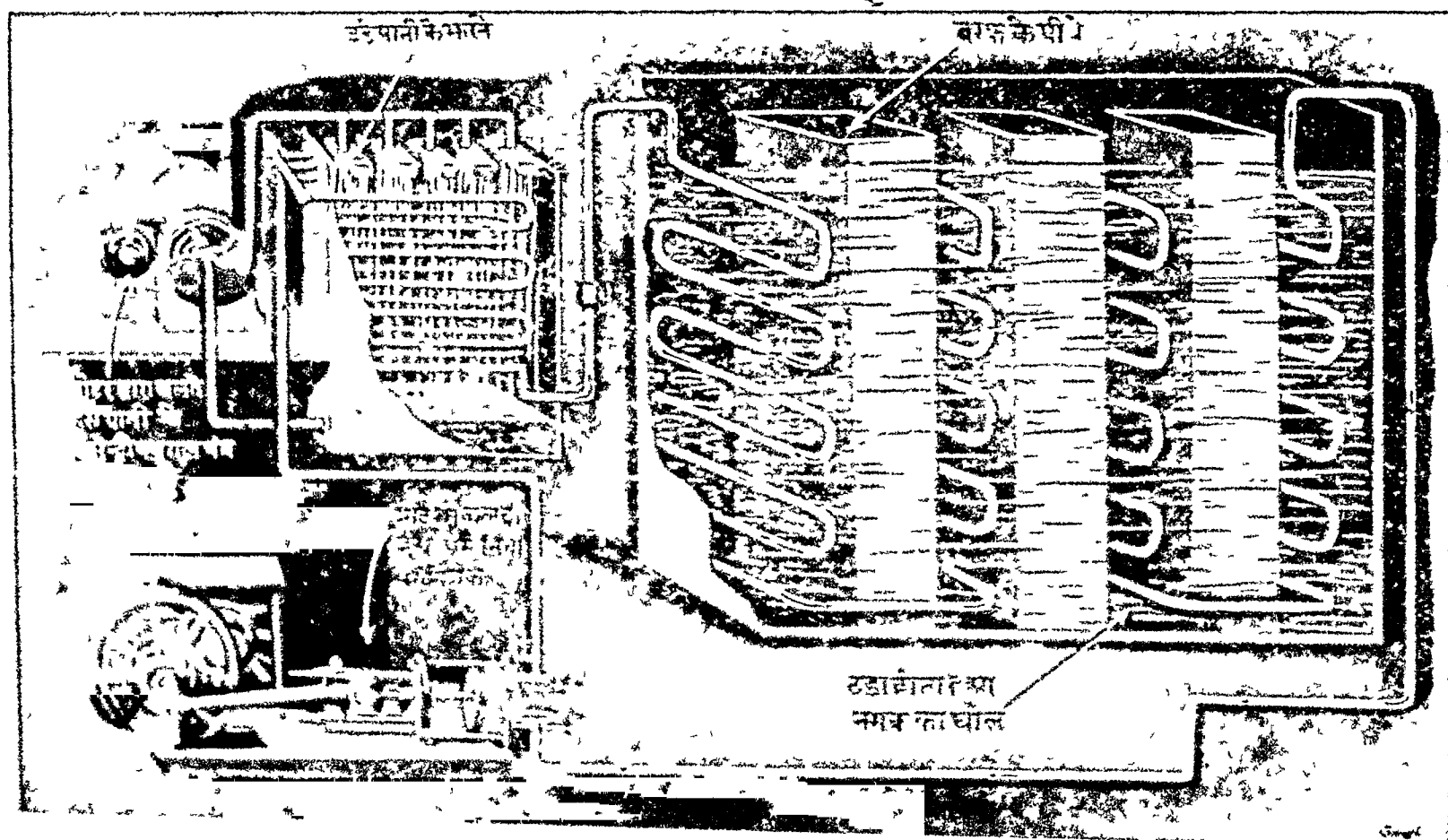
अमोनिया की सहायता से बर्फ कैसे जमाई जाती है ? (विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए)

उत्पादित घोल से, सुखाने पर, लवण के रवे पृथक् हो जाते हैं। बहुधा कुछ अन्य रासायनिक क्रियाएँ भी काम में लाई जाती हैं। नौसादर या तो अमोनिया और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल को मिलाकर, अथवा नमक (सोडियम क्लोराइड) और अमोनियम सल्फेट के घोल को उबालकर बनाया जाता है। दूसरी क्रिया में अणु भागों के विनिमय द्वारा अमोनियम क्लोराइड और सोडियम सल्फेट बन जाते हैं। लगभग सभी सोडियम सल्फेट कम घुलनशील होने के कारण पृथक् हो जाता है और घोल में नौसादर रह जाता है। शेष सोडियम सल्फेट तथा अन्य अशुद्धियों से नौसादर को ऊर्ध्वपातन द्वारा पृथक् कर लेते हैं।

अन्य अमोनियम लवणों की भाँति नौसादर एक श्वेत घुलनशील रवेदार पदार्थ होता है। घुलने पर वह ताप को शोषित करता है, अतएव घोल ठंडा हो जाता है। गर्म करने पर वह बिना पिघले ही अमोनिया और हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की अदृश्य वाष्पों में विघटित हो जाता है, और यह वाष्पें ठंडे स्थान में पहुँचते ही फिर नौसादर के रूप में जम जाती हैं। संक्षेप में, नौसादर ऊर्ध्वपतित होता है। यह लवण बर्तनों में कलई करने और टाँका लगाने में बहुत काम आता है। गर्म धातु-पृष्ठ पर नौसादर से निकली हुई हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड आक्रमण करके उस धातु की क्लोराइड का उत्पादन कर देती है, और क्लोराइड वाष्पशील होने के कारण उड़ जाती है। इस प्रकार धातुतल बिलकुल साफ हो जाता है, और टिन अथवा टाँका उस पर सरलता से चढ़ जाता है। बिजली की शुष्क अथवा लेकलाची सेलों में भी नौसादर का उपयोग होता है।

धुएँ का जादू

महत्वपूर्ण रासायनिक खाद अमोनियम सल्फेट $[(NH_4)_2SO_4]$, और महत्त्वपूर्ण विस्फोटक अमोनियम नाइट्रेट (NH_4NO_3) का उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। यह विस्फोटक अमोनिया को नाइट्रिक ऐसिड में शोषित करके बनाया जाता है ($NH_3 + HNO_3 = NH_4NO_3$)। २५०°c के ऊपर गर्म करने पर वह भाप, नाइट्रोजन और ऑक्सिजन में विच्छेदित होकर विस्फुटित हो जाता है—

$$2\,NH_4NO_3 = 4\,H_2O + 2\,N_2 + O_2$$

सन १९२१ में जर्मनी की 'बैडिश एनिलिन उण्ड सोडा फैब्रिक' नामक एक सुविख्यात फैक्टरी में अमोनियम नाइट्रेट का एक भयानक विस्फोट हुआ था। कारखाने के भवन उड़कर साफ हो गए और उनकी जगह पर ४०० फीट चौड़ा और ५० फीट गहरा एक गड्ढा हो गया। इसमें ५६० जानें गईं और लगभग [illegible] का नुकसान हुआ। इस धमाके की आवाज [illegible] मील तक पहुँची थी, और ५३ मील पर स्थित म्यूनिख शहर में इसके झटकों से बहुत-कुछ हानि हुई थी। किन्तु आज तक यह पता नहीं कि इस धमाके का कारण क्या था।

धीरे-धीरे गर्म करने पर अमोनियम नाइट्रेट 'हँसाने-वाली गैस' का उत्पादन करता है। इसका वर्णन यहीं आगे किया गया है।
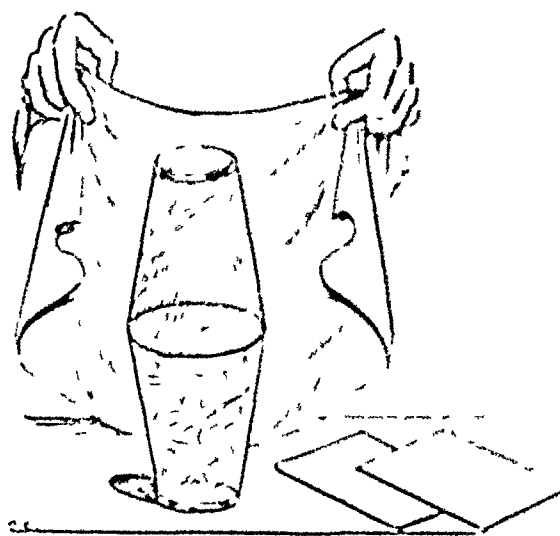
अमोनियम कार्बोनेट अमोनिया का एक यौगिक लवण है। वाष्पशील होने के कारण यह विच्छेदन द्वारा बराबर अमोनिया निकालता रहता है। इसीलिए इसमें तीखी अमोनिया की गंध आया करती है और लोग इसे जुकाम आदि में सूँघने के काम में लाते हैं।

अमोनियम डाइक्रोमेट $[(NH_4)_2Cr_2O_7]$ नामक लवण अपनी मनोरंजक विच्छेदन-क्रिया के कारण उल्लेखनीय है। इसके अणु में Cr क्रोमियम धातु का अंश है। यह लवण अन्य डाइक्रोमेटों की भाँति गहरे नारंगी रंग का होता है। इसके छोटे-छोटे स्फटिकों को परखनली में गर्म करने से वे अपने आप चिनगारी देते हुए विच्छिन्न होने लगते हैं। नाइट्रोजन और भाप तेजी से निकल जाती है, और हरी चाय से मिलता-जुलता क्रोमिक ऑक्साइड का बहुत-सा आयतनिक परिमाण कुछ परखनली के अन्दर रह जाता है और कुछ बाहर बिखर जाता है—

$$(NH_4)_2Cr_2O_7 = N_2 + 4\,H_2O + Cr_2O_3$$
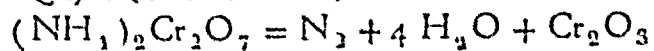
अमोनिया ऑक्सिजन और क्लोरीन के वातावरण में प्रज्ज्वलनशील होती है। उसकी हाइड्रोजन इनसे संयुक्त होकर क्रमशः जल और हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड में परिणत हो जाती है और नाइट्रोजन गैस मुक्त हो जाती है। यह हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड अधिक अमोनिया से

संयुक्त होकर नौसादर में बदल जाती है। अमोनिया के घोल मे अधिकाधिक क्लोरीन गैस प्रवाहित करने पर, अथवा क्लोरीन गैस को नौसादर के गुनगुने घोल के संपर्क मे लाने पर नाइट्रोजन ट्राइक्लोराइड (NCl_3) नाम के भयानक विस्फोटक का उत्पादन हो जाता है। नाइट्रोजन क्लोराइड पानी से ड्योढ़े से भी अधिक भारी एक पीला द्रव होता है। इसकी खोज ड्यूलाग ने की थी जिसमे उसे अपनी एक ऑख और तीन ॲगुलियॉ गॅवा देनी पडी थी। इसका बनाना सदैव महासंकटमय होता है, कारण वह ज़रा-सी ही छेडछाड से और बहुधा प्रत्यक्षतः अकारण ही विस्फुटित हो जाता है। इसका कोई ठीक नही कि वह किस समय फट पडे। इसी कारण ऐसे बहुत कम रसायनज्ञ हैं जिन्होंने नाइट्रोजन क्लोराइड देखा है। वास्तव मे यह पदार्थ भयानकतम और प्रचंडतम विस्फोटको मे से एक है, किंतु उसकी शक्ति का नियंत्रण करने मे अभी मनुष्य सफल नही हुआ! यदि वह किसी दिन सफल हो सका, तो नाइट्रोजन क्लोराइड दोहरा काम करेगी—प्रचडविस्फोटक का और विपाक्त गैस के उत्पादक का भी, क्योकि इससे निकली हुई क्लोरीन युद्धोपयोगी विपालु गैस होती है।

अमोनिया के सांद्र घोल मे आयडीन मिलाने से एक काला पदार्थ अवक्षिप्त होता है। इसे नाइट्रोजन आयडाइड कहते हैं। इसका अणुसूत्र NH_3 NI_3 लिखा जाता है, कारण वह अमोनिया और नाइट्रोजन ट्राइआयडाइड के एक-एक अणु के सयोग से बना होता है। यह भी एक विस्फोटक पदार्थ है, किंतु नाइट्रोजन क्लोराइड का सा प्रचंड नहीं। यदि सावधानी से काम लिया जाय, तो नाइट्रोजन आयडाइड के साथ तमाशा भी किया जा सकता है। अवक्षिप्त नाइट्रोजन आयडाइड को छन्ना कागज़ द्वारा छान लीजिए और जब वह भीगा ही रहे उसी समय मिसटी द्वारा छन्ना कागज़ के छोटे-छोटे टुकडे कर लीजिए। सूखने पर ये टुकडे छडी द्वारा छूने से विस्फुटित होंगे। यदि ये टुकडे पास-पास कतार मे रख दिए जायॅ और उनमे से एक विस्फुटित कर दिया जाय, तो उसके विस्फोटन के धक्के से दूसरे टुकडे अपने आप विस्फुटित होते चले जायॅगे। भीगा नाइट्रोजन आयडाइड अधिक स्थायी होता है, किंतु सूखने पर वह मक्खी के चलने, फूॅकने अथवा धूलिकण के गिरने तक से विस्फुटित हो जाता है! विस्फोटन होने पर अदृश्य नाइट्रोजन हवा मे मिल जाती है, किंतु आयडीन का बैंगनी धूम दिखाई देता है।

'हॅसानेवाली गैस'

नाइट्रोजन ऑक्सिजन से भिन्न दशाओ में संयुक्त होकर पॉच ऑक्साइडो का उत्पादन करती है। नाइट्रस ऑक्साइड (N_2O) व नाइट्रिक ऑक्साइड (NO) अदृश्य, और नाइट्रोजन ट्राइऑक्साइड (N_2O_3) व नाइट्रोजन परॉक्साइड (NO_2) भूरे लाल रग की गैसे होती हैं। नाइट्रोजन पेण्टाक्सॉइड (N_2O_5) सफेद मणिभीय पदार्थ होता है, किंतु तनिक भी गर्मी पाकर पिघलकर भूरी लाल वाष्प मे परिणत हो जाता है। इन्हीं रूपो में इन सबसे अधिक उपयोगी और मनोरंजक नाइट्रस ऑक्साइड गैस होती है। इसे न्यूनतर परिमाणो मे सूॅघने से चित्त उत्तेजित और उन्मत्त हो जाता है, और बहुधा सूॅघनेवाला उन्माद मे आकर अट्टहास करने लगता है। इसीलिए इस गैस का नाम 'हॅसानेवाली गैस' पडा। वास्तव में, विभिन्न व्यक्तियो पर उसका प्रभाव एक ही सा नही पडता। कोई हॅसने, तो कोई नाचने-कूदने, और कुछ लोग विचित्र प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। यदि थोडी-सी ही देर के लिए हवा की नाइट्रोजन और ऑक्सिजन इस गैस के रूप मे संयुक्त हो जायॅ, तो मनुष्य विचित्र आचरणो द्वारा अद्भुत दृश्य उपस्थित कर दे! अधिक गैस सूॅघने से सूॅघनेवाले मे पीड़ा की चेतना जाती रहती है; इसके बाद वह अचेत हो जाता है, यहॉ तक कि बहुत देर तक सूॅघते रहने से मृत्यु तक हो सकती है। इस चेतनानाशक

हॅसानेवाली गैस का विचित्र प्रभाव (दाहिने कॉलम का मैटर देखिए)

गुण के कारण नाइट्रस ऑक्साइड छोटे और विशेषतः दाँत सम्बन्धी चीर-फाड़ों में बहुत काम में लायी जाती है।

यह गैस ठोस अमोनियम नाइट्रेट को एक गोल पेंदे के फ्लास्क में धीरे-धीरे गर्म करके बनाई जाती है—

$$NH_4NO_3 = N_2O + 2H_2O$$
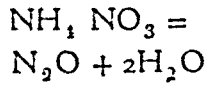
विस्फोटन के संकट से बचने के लिए तापक्रम २००°c से बढ़ने नहीं दिया जाता। बहुधा अमोनियम सल्फेट व सोडियम नाइट्रेट का मिश्रण गर्म किया जाता है। इसमें अणु-भागों के विनिमय द्वारा अमोनियम नाइट्रेट और सोडियम सल्फेट बनता रहता है, और यह अमोनियम नाइट्रेट विच्छिन्न होकर निरापद नाइट्रस ऑक्साइड का उत्पादन करता रहता है। इस नाइट्रस ऑक्साइड में नाइट्रोजन परॉक्साइड, क्लोरीन, नाइट्रिक ऑक्साइड और अमोनिया भी कुछ मात्रा में मिली रहती है। रोगी के लिए हानिकारक होने के कारण इन अशुद्धियों का निकाल डालना आवश्यक होता है। अतएव, गैस को व्यवहार करने के पहले क्रमशः कास्टिक पोटाश घोल, लौहस (फेरस) सल्फेट घोल, तथा सान्द्र सल्फ्यूरिक ऐसिड में बुलबुला लिया जाता है। नाइट्रोजन परॉक्साइड व क्लोरीन कास्टिक पोटाश में, नाइट्रिक ऑक्साइड लौहस सल्फेट में, और अमोनिया सल्फ्यूरिक ऐसिड में शोषित हो जाती हैं। नाइट्रस ऑक्साइड ठंडे पानी में बहुत घुलती है, अतएव वह गर्म पानी अथवा पारद को नीचे हटाकर जारों अथवा अन्य गैसपात्रों में इकट्ठी कर ली जाती है।
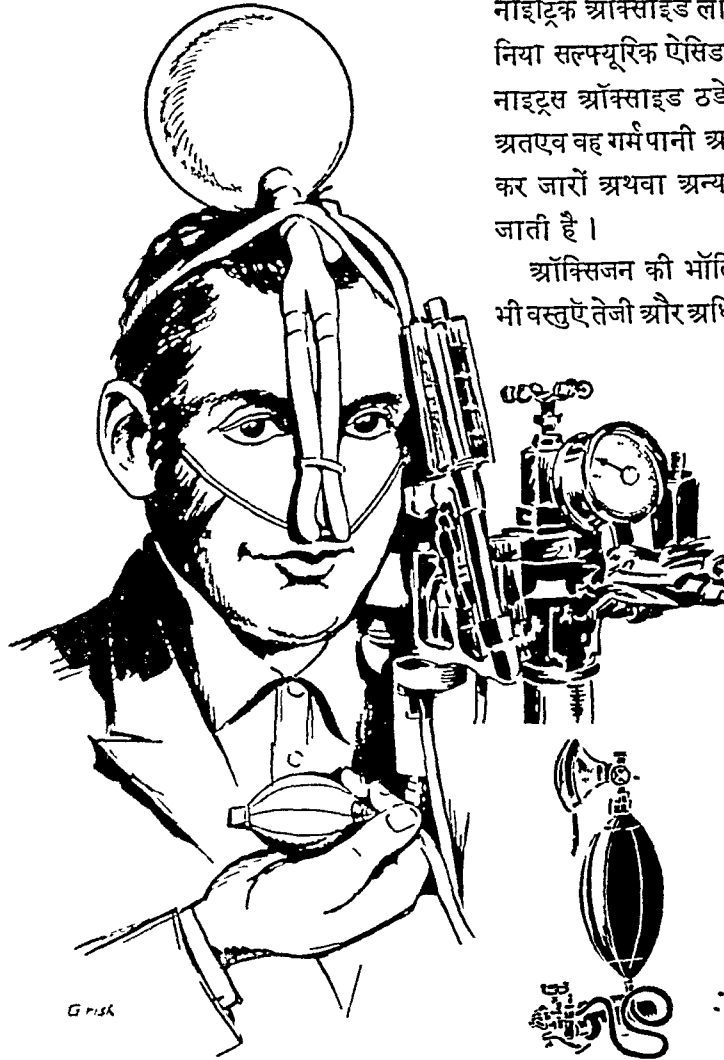
ऑक्सिजन की भाँति नाइट्रस ऑक्साइड में भी वस्तुएँ तेजी और अधिक उजाले के साथ जलती हैं, कारण, नाइट्रस ऑक्साइड सरलता से विच्छिन्न होकर अपनी ऑक्सिजन जलती हुई वस्तु को दे देती है और उसमें ऑक्सिजन का अंश हवा में ऑक्सिजन के अंश से अधिक होता है।

नाइट्रिक ऑक्साइड गैस आकाश में तड़ित् द्वारा बना करती है, और बर्कलैण्ड और आइड व आस्टवल्ड की विधियों में पहले इसी का उत्पादन होता है। प्रयोगशाला में वह ताँबे पर आधी नाइट्रिक ऐसिड और आधे पानी के मिश्रण की क्रिया से बनाई जाती है। एक फ्लास्क में ताँबे के कुछ छीलन ले लिये जाते हैं, और उसमें थिसल कीप द्वारा नाइट्रिक ऐसिड मिलाकर उस-

छोटे और विशेषतः दाँत संबंधी चीरफाड़ों में मनुष्य को पीड़ा के प्रति अचेत कर देने के लिए 'हँसनेवाली गैस' का व्यवहार होता है। कोने में दिखाया हुआ यंत्र इस गैस को सुँघाने में बहुधा काम में लाया जाता है। नीचे पड़े हुए सिलिण्डरों से गैस रबड़ के थैले में भर ली जाती है। फिर उससे वह मुँह पर ढक देनेवाली टोपी के भीतर पहुँचकर एक नली द्वारा बाहर निकलती रहती है। ऊपर एक नया सुँघानेवाला यंत्र प्रदर्शित है, जिसका आविष्कार हाल ही में अमेरिका में हुआ है। इस यंत्र द्वारा रोगी स्वयं हवा और नाइट्रस ऑक्साइड का एक मिश्रण सूँघता रहता है, और वह पूर्णतः अचेत नहीं होता। गैस के प्रभाव से उसे दर्द नहीं होता। दर्द मालूम होते ही वह हाथ में रक्खी रबड़ की गेंद को दबाने लगता है जिससे नाइट्रस ऑक्साइड अधिक मात्रा में पहुँचने लगती, और दर्द बंद हो जाता है।

का नीचे का सिरा ऐसिड मे डुबा दिया जाता है। पहले भूरे लाल रग की गैस दिखाई देती है, किंतु शीघ्र ही वह हट जाती है और रगहीन नाइट्रिक ऑक्साइड पानी को नीचे हटाकर इकट्ठी कर ली जाती है। इस गैस का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि हवा या ऑक्सिजन के सपर्क मे आते ही वह ऑक्सिजन से सयुक्त होकर भूरे लाल रग की नाइट्रोजन परॉक्साइड मे परिणत हो जाती है, और पानी मे घुलकर यही नाइट्रोजन परॉक्साइड नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन कर देती है। नाइट्रिक ऐसिड के उत्पादन की प्राकृतिक और कृत्रिम विधियॉ इसी क्रिया पर निर्भर हैं। रग-परिवर्त्तन के कारण यह क्रिया मनोरजक भी होती है। नाइट्रिक ऑक्साइड को अभी तक कोई सूँघ नही सका है, कारण, नाक मे चढने के पहले ही वह हवा के सपर्क से परिवर्तित हो चुकती है।

प्रयोगशाला मे शुद्ध नाइट्रोजन परॉक्साइड सरलता - पूर्वक बनाने के लिए एक मज़बूत परखनली मे सीस (लेड) नाइट्रेट गर्म किया जाता है—

$$2 Pb(NO_3)_2 = 2 PbO + 4NO_2 + O_2$$

लेड नाइट्रेट = लेड मोनाक्साइड (मुर्दासख) + नाइट्रोजन परॉक्साइड + ऑक्सिजन
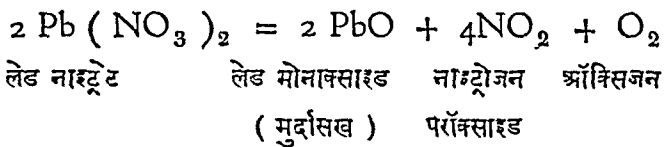
नाइट्रोजन परॉक्साइड बर्फ मे गडी हुई एक चूल्हाकार नली मे प्रवाहित करके द्रवीभूत कर ली जाती है, और उससे निकलती हुई ऑक्सिजन पानी को हटाकर इकट्ठी कर ली जा सकती है। केवल लेड नाइट्रेट ही नही, अन्य बहुतेरे नाइट्रेट व नाइट्रिक ऐसिड भी गर्म करने पर इस गैस का उत्पादन करते हैं।

नाइट्रोजन ट्राइऑक्साइड नाइट्रिक ऑक्साइड और नाइट्रोजन परॉक्साइड को मिश्रित कर देने से बनती है ($NO + NO_2 = N_2O_3$) नाइट्रोजन पेण्टॉक्साइड का महत्व केवल यही है कि वह नाइट्रिक ऐसिड की अम्लीय ऑक्साइड है, अर्थात् वह पानी से तीव्रता से सयुक्त होकर नाइट्रिक ऐसिड मे परिणत हो जाती है। यह फास्फोरस पेण्टाक्साइड नामक प्रबलतम जलशोषक और सांद्र नाइट्रिक ऐसिड के मिश्रण को गर्म करने से पैदा होती है।

नाइट्रिक ऐसिड

सोनारो के यहाँ आपने नाइट्रिक ऐसिड (शोरा की तेज़ाब) का उपयोग शायद देखा होगा। चॉदी, तॉबा, जस्ता आदि धातुओ को इस अम्ल मे घुलते देर नही लगती। केवल धातुओ को घोलने मे ही नाइट्रिक ऐसिड का उपयोग नही होता—मनुष्य प्रतिवर्ष लाखों टन नाइट्रिक ऐसिड विस्फोटको और नाइट्रेट-खादो के ही उत्पादन मे ख़र्च कर डालता है। इसके अलावा सेलुलायड (नाइट्रोसेलुलोज+कपूर)—जिससे फ़िल्म, सिलाइयॉ, कघी, डब्बी, तथा अनेकानेक अन्य शृङ्गार-सबधी वस्तुएँ, आदि बनती हैं—तथा कलोडियन (नाइट्रोसेलुलोज़ का अल्कॉहल और ईथर के मिश्रण मे घोल), जिससे पारदर्शक झिल्लियॉ, कृत्रिम रेशम, वार्निशे आदि अनेकानेक चीज़े बनाई जाती हैं, नाइट्रिक ऐसिड की ही देन हैं। बिजली की कुछ सेलों मे भी इसका उपयोग होता है। इसके उत्पादन की बर्कलैण्ड और आइड तथा आस्टवल्ड की विधियों का वर्णन हम कर चुके हैं। चिलियन शोरे पर साद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड की क्रिया द्वारा भी इसका उत्पादन होता है। ढलवॉ लोहे के भपके मे शोरा और गधकाम्ल का मिश्रण गर्म किया जाता है जिससे नाइट्रिक ऐसिड वाष्परूप मे निकल जाती है और सोडियम सल्फेट भपके मे रह जाता है। यह नाइट्रिक ऐसिड वाष्प, हवा अथवा पानी से ठडी होती हुई नलियो मे प्रवाहित होकर द्रवरूप मे इकट्ठी होने लगती है। उबलने पर नाइट्रिक ऐसिड का कुछ अश जलवाष्प, नाइट्रोजन परॉक्साइड, तथा ऑक्सिजन मे विच्छिन्न हो जाता है ($4HNO_3 = 2 H_2O + 4NO_2 + O_2$), अतः इस विधि मे निकली हुई गैसो को झरते हुए ठडे पानी की मीनार मे शोषित करके फिर नाइट्रिक ऐसिड मे बदल लिया जाता है। प्रयोगशाला मे नाइट्रिक ऐसिड तैयार करने के लिए थोड़ा-सा चिलियन शोरा (सोडियम नाइट्रेट) अथवा भारतीय

चिलियन शोरे से नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन (दे० दाहिने कालम का मैटर)

शोरा (पोटैशियम नाइट्रेट) शीशेके एक भभके मे ले लीजिए, और कुछ सान्द्र गधकाम्ल मिलाकर उसे वालुका-कुडी (Sand bath) अथवा अस्बेस्टस लगी हुई जाली पर रखकर गर्म कीजिए। थोडी देर मे नाइट्रिक ऐसिड के विच्छेदन से बनी हुई भूरी-लाल नाइट्रोजन पराक्साइड तथा स्वय नाइट्रिक ऐसिड की वाष्प से भभका भर जायगा, और फिर बूँद-बूँद करके नाइट्रिक ऐसिड फ्लास्क मे जमा होने लगेगी। इस प्रकार जो नाइट्रिक ऐसिड बनती है वह नाइट्रोजन परॉक्साइड के उसमे घुले होने के कारण पीली होती है। इसके भीतर धौकनी द्वारा हवा को बुलबुलाने से नाइट्रोजन पराक्साइड निकल जाती है और ऐसिड रगहीन हो जाती है।

केवल शोरा ही नही, किसी भी नाइट्रेट लवण को सान्द्र सल्फ्यूरिक ऐसिड के साथ गर्म करने से नाइट्रिक ऐसिड स्रवित होने लगती है। इसका कारण यह है कि नाइट्रिक ऐसिड गधकाम्ल से कही अधिक वाष्पशील है—नाइट्रिक ऐसिड ८६°C पर और सल्फ्यूरिक ऐसिड ३३८°C पर उबलती है। अत. नाइट्रेट लवण को गधकाम्ल के साथ गर्म करने पर अणुभागों के विनिमय द्वारा नाइट्रिक ऐसिड बनकर वाष्पीभूत हो जाती और सल्फेट व शेष सल्फ्यूरिक ऐसिड बच रहती है।

प्रयोगशाला में शोरा से नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन

शुद्ध नाइट्रिक ऐसिड एक रगहीन धूमोत्पादक द्रव होता है। किसी रगहीन बोतल मे नाइट्रिक ऐसिड कुछ खाली भरने पर कुछ दिनों मे पीली पड जाती है और बोतल का रिक्त भाग भूरे लाल धूम से भरा दिखाई देता है। बात यह है कि नाइट्रिक ऐसिड की वाष्प उजाले मे धीरे-धीरे विच्छिन्न होती रहती है। वह इसीलिए लाल रग की बोतलो मे रक्खी जाती है। सान्द्र नाइट्रिक ऐसिड बडी ही काटक वस्तु होती है। उसे त्वचा मे न लगनी देनी चाहिए, नहीं तो घाव हो सकता है। खाल पर पड आनेवाली गुत्थियाँ बहुधा सान्द्र नाइट्रिक ऐसिड के स्पर्श से काट दी जाती हैं। धोखे से छू भर जाने से खाल पीली पड कर कुछ दिनों मे निकल जाती है। यह पीला रग खाल पर पिक्रिक ऐसिड के बन जाने के कारण होता है। यदि नाइट्रिक ऐसिड कपडे पर पड जाय, तो उसे तुरत अमोनिया या यदि वह न मिले तो अन्य किसी क्षार के घोल से धो देना चाहिए। कुछ ही सेकडों की देर हो जाने से कपडा कट जाता है। नाइट्रिक ऐसिड, प्रबल अम्ल होने के कारण, नीले लिटमस को तुरत लाल कर देती है, और क्षारों, अनेक धातुओं तथा ग्लिसरीन, सेलुलोज आदि कार्बनिक यौगिको को नाइट्रेटों मे परिवर्तित कर देती है। धातुओं के नाइट्रेट नाइट्रिक ऐसिड के ही लवण कहे जाते हैं, कारण वे इसी अम्ल से हाइड्रोजन का स्थान धातुओं के ले लेने से बनते हैं।
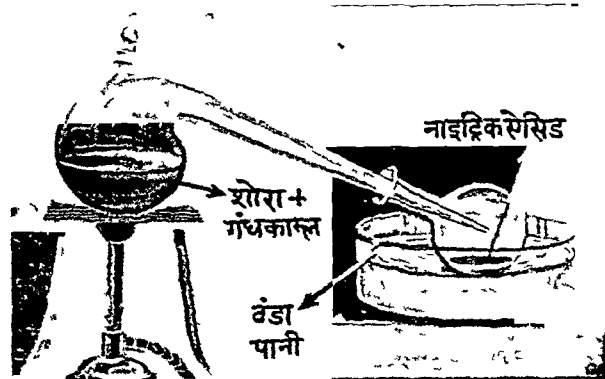
नाइट्रिक ऐसिड से विच्छेदन द्वारा ऑक्सिजन निकलती है, इसीलिए वह एक प्रबल ऑक्सीकारी पदार्थ है। सान्द्र नाइट्रिक ऐसिड मे रक्त-तप्त कोयला डाल देने से वह तेज उजाले के साथ जल उठता है, और खूब गर्म किए लकडी के बुरादे पर उसे छोडने से बुरादे मे आग लग जाती है। नाइट्रिक ऐसिड अनेक धातुओं को नाइट्रेटों मे परिणत करके घुला देती है। अन्य अम्लों मे धातु घुलने पर हाइड्रोजन निकलती है। नाइट्रिक ऐसिड हाइड्रोजन को निकलने का मौक़ा ही नहीं देती, क्योंकि निकलते ही वह उसे ऑक्सीकरण द्वारा पानी मे बदल देती है और वह स्वय अवकृत होकर प्राय' नाइट्रोजन के ऑक्साइडों के रूप मे निकल जाती है। किसी धातु के साथ नाइट्रोजन की कौन-सी ऑक्साइड उत्पन्न होगी, यह नाइट्रिक ऐसिड की सान्द्रता तथा तापक्रम पर निर्भर रहता है। सान्द्र नाइट्रिक ऐसिड का एक भाग और सान्द्र हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के चार भागो को मिलाने से जो मिश्रण बनता है, उसे 'अम्लराज' कहते हैं, क्योंकि अनेक अन्य अघुलनशील पदार्थों के अलावा उसमे धातुओं के राजा सुवर्ण और प्लैटिनम तक घुल जाते हैं। बात यह है कि नाइट्रिक ऐसिड हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की हाइड्रोजन को ऑक्सीकरण द्वारा पानी मे परिवर्तित कर देती है, और इस प्रकार हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से निकलती हुई 'नवजात' क्लोरीन अत्यधिक क्रियाशील होने के कारण सुवर्ण, प्लैटिनम आदि पर आक्रमण कर उन्हें घुलनशील क्लोराइडों मे बदल देती है। इसी रासायनिक क्रिया को न समझ सकने के कारण पुरातन लोगो ने शेर (अम्लराज) द्वारा हडपे जा रहे सूर्य (सुवर्ण) के प्रतीक द्वारा समझाया था।

सत्य

मनुष्य के चारों ओर सत्य की धारा वेग से बह रही है। एक छोटे अंकुर में वृद्धि और विकास के जो नियम हैं, वे सत्य के साक्षात् प्रतीक हैं। परंतु वस्तुतः सत्य का अंतिम स्रोत क्या है, इस प्रश्न की मीमांसा जितनी आवश्यक है उतनी ही जटिल भी है।

सत्य और जीवन का गहरा सम्बन्ध है। एक प्रकार से सत्य ही जीवन है। जो जीवन सत्यमय नही वह निस्तेज मालूम होता है। सत्य एक ज्योति या प्रकाश है। सत्य के बिना जीवन ऐसे ही सूना है जैसे बिना दीपक के आवास। सत्य को उत्पन्न करने के लिए ईश्वर ने भी तप किया, इस कल्पना मे अनुभव की सचाई छिपी हुई है। जिन लोगों ने सत्य को जीवन मे साक्षात् प्राप्त करने के लिए अपनी हड्डियो को गलाया था, उनका यह अनुभव था कि सत्य के लिए मनुष्य को स्वय सती होना पडता है। सत्य कहने-सुनने की बात नहीं है। यह ठीक है कि पूर्व-काल मे सत्य का अनुभव कितने ही मनुष्यो ने किया है और यह भी अवश्य है कि इस समय भी अनेक मनुष्यो के जीवन मे सत्य का दर्शन है, परन्तु इससे हमको क्या लाभ? दूसरों के तापने से हमारे शीत का निराकरण नही हो सकता। हमको जब तक स्वय अग्नि के ताप की प्राप्ति न हो तब तक हम अपने शीत-क्लेश को नही खो सकते। यह एक अटल नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों के द्वारा जाने और अनुभव मे लाये हुए जीवन-सत्य से लाभ उठाने के लिए स्वय उसका साक्षात्कार करना चाहिए। सत्य को जीवन मे अपनाने का जो आनद है वह तो स्वय प्राप्त करने की वस्तु है। एक व्यक्ति सत्य जैसी अमूल्य निधि की प्राप्ति के लिए जो तप या साधना करता है उससे समस्त मानव जाति या समाज को बल मिलता है। ब्रह्मचर्य या पवित्रता जीवन की एक सचाई है। जो व्यक्ति इस प्रयोग को जीवन मे सफल कर दिखाता है वह असख्य प्राणियो के मन मे उस सत्य के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न करता है। एक के अनुभूत सत्य से इस प्रकार अनेक लोग लाभान्वित हो सकते हैं, पर उसके सच्चे आनद तक पहुँचने के लिए हमको स्वय उतना मार्ग चलना पडेगा।

सत्य के विषय मे कहा जाता है कि वह त्रिकाल से अबाधित है। यह बात यद्यपि ठीक है, फिर भी हर युग मे मनुष्य-समाज सत्य के साथ एक नया सबंध स्थापित करता है। प्रत्येक युग अपने लिए अपनी रीति से ही सत्य को खोजने का प्रयत्न करता आया है। हमारे पूर्वजो ने जीवन और समाज के विषय मे जिस प्रकार सत्य मार्ग का आश्रय लिया था, हमारा दृष्टिकोण उससे परिवर्तित हो गया है। जिस प्रकार प्रत्येक पीढी मे पूर्वजों के ही रक्त की धारा प्रवाहित होती है, परन्तु फिर भी उस पीढी के जीवन का समस्त ओज उसके अपने रक्त के वीर्य पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार जीवन के सत्य की कथा है। ज्ञान की साधना मे तत्पर प्रत्येक जाति अपने सहस्रो हाथों को फैलाकर सत्य रूपी पर्वत को उठाने का प्रयत्न करती हुई देखी जाती है। इस प्रयत्न की रूपरेखा और प्रेरक शक्ति के विविध प्रकार हो सकते हैं। वाल्मीकि को जिस प्रेरणा से सत्य की प्रतीति हुई यह आवश्यक नही कि उसी का पारायण हमारे जीवन मे भी हो। परन्तु वाल्मीकि के सत्यात्मक अनुभव की जो रमणीयता है उसमे सभी सहृदयो को मुग्ध करने की क्षमता है।

सत्य की धारा

मनुष्य के चारो ओर सत्य की धारा वेग से बह रही है। एक छोटे अकुर मे वृद्धि और विकास के जो नियम है वे सत्य के साक्षात् प्रतीक हैं। सूर्य की अनन्त रश्मियाँ, स्वच्छन्द बहती वायु, चन्द्र का मनोहर प्रकाश और मेघ की वारिधाराएँ ये सब सत्य का अमृत सदेश हमारे पास

लाती हैं। इन्हें देखकर हमें विश्वास होता है कि विधाता ने जिस नियम की आधारशिला पर इस विराट् सृष्टि का ढाँचा खडा किया है उसकी छाया सदा हमारे पास है। प्रकृति की इन शक्तियों मे जो अन्तर्यामी सूत्र पिरोया हुआ है वह सृष्टि का सत्य है। इनके कार्य-सचालन के जो नियम हैं सत्य उनसे भिन्न कुछ नही है। हम कह सकते हैं कि सर्वत्र द्युलोक मे और अन्तरिक्ष मडल मे जो कुछ कार्य हो रहा है उसमे जगन्नियन्ता के सत्य सकल्प का स्पष्ट प्रभाव है। इन प्राकृतिक विधानों मे हस्तक्षेप करने की शक्ति अनृतधर्मा मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। जहाँ मनुष्य की गति नही वहाँ ईश्वर का हाथ ही है। पृथ्वी पर होनेवाले परिमित कार्यों मे ही मनुष्य का हस्तक्षेप सम्भव है। उन्ही मे हमे अनृत के दर्शन होते हैं, अन्यत्र सब जगह देवराज्य या सत्य का साम्राज्य अप्रतिहत बना हुआ है।

वैदिक परिभाषा के अनुसार देव सत्य और मनुष्य अनृत भाव से युक्त होते हैं—

सत्यमेव देवाः। अनृतं मनुष्या।

(श० १।१।१।४)

समस्त कर्मकाड के आरम्भ मे ही वैदिक ऋषियों ने इस नियम की घोषणा कर दी थी। देव सत्य हैं, मनुष्य अनृत हैं। जीवन के यज्ञ मे हम अनृत से सत्य की ओर बढते हैं—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।

'इस व्रत के द्वारा मैं झूठ को छोड़कर सच को अपनाता हूँ।' सत्य भाव की प्राप्ति ही समस्त यज्ञों का फल है।

सत्य का व्रत

सत्य भाव मे आरूढ होने के लिए व्रत आवश्यक है। देव सदा सत्यमय बने रहते हैं, क्योंकि उनके व्रत नित्य हैं। सूर्य के व्रत मे क्या कभी किसी प्रकार का स्खलन देखा या सुना गया है? दिन और रात के चक्र मे सृष्टि के आरम्भ से आज तक तिल भर भी अन्तर नहीं पड़ा। जल के प्रवाह और मेघों के आकाश मे सम्प्लवन के नियम भी अपनी-अपनी धुरी को पकडे हुए हैं। ऋतुओं के चक्र की गति मे भी अटल व्रत का अस्तित्व है। यह सब और इन्हीं के सदृश सैकडों सहस्रों ध्रुव विधान हमारे सामने नित्य घटित होते रहते हैं। इनके मूल मे ओत-प्रोत एकरसता को वैदिक ऋषियों ने दैवी व्रत कहा है। भौतिक जगत् में वरुण के इन दिव्य व्रतों का उल्लङ्घन करने की सामर्थ्य किसी मे भी नहीं है। वैज्ञानिकों की प्रयोगशालाएँ दैवी व्रतों की अपरिवर्त्तनशील नित्यता को आधार मान कर ही जीवित हैं। इसी बात मे मनुष्य का देवों से अन्तर है। दैवी विधान पर्वतों की तरह टिकाऊ और मानवीय विधान बुदबुदों की तरह अस्थिर देखे जाते हैं। यही मनुष्यों मे प्रविष्ट अनृत भाव है। जो मनुष्य जितना ही अधिक दैवी व्रत की दृढता अपना लेता है वह उतना ही देवत्व के अधिक समीप पहुँचता जाता है। जो जीवन मे सत्य के व्रत को अपनाता है उसी का जीवन दीक्षित है। दीक्षा से सत्य उत्पन्न होता है और सत्य मे दीक्षा छिपी रहती है—

यः सत्यं वदति स दीक्षितः।

कौ० ७।३

सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति।

श० १४।६।९।२४

व्रत से रहित जीवन उस जहाज की तरह है जिसके नाविक ने अपने गन्तव्य स्थान का निश्चय न किया हो। व्रत पर आरूढ होने से जीवन मे बल प्राप्त होता है। व्रतहीन जीवन को निरुद्दिष्ट दौड ही कहना चाहिए। जिसके सकल्पों मे मेरुदण्ड का अभाव है वह उत्तम से उत्तम सुविधा और सामग्री प्राप्त करके भी जीवन मे किसी प्रकार का निर्माण नहीं कर सकता। अथर्ववेद मे कहा है कि जो सत्यवादी है उसी को प्राण अर्थात् जीवन ऊँचा उठाता है—

प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आदधत्।

शतपथ ब्राह्मण मे सत्य की उपमा अग्नि से दी है। जिस प्रकार जलती हुई अग्नि मे घृत की आहुति डालने से अग्नि अधिक प्रदीप्त होती है उसी प्रकार जो उत्तरोत्तर सत्य का पालन करता जाता है वह अधिकाधिक तेज का सञ्चय करता हुआ नित्य प्रति कल्याण की ओर बढता है। इसी प्रकार अनृत की उपमा उस अग्नि से दी गई है जिसके ऊपर जल का सिञ्चन किया जाय। अनृत से भरे हुए जीवन का तेज नित्य घटने लगता है और मनुष्य प्रतिदिन अधिकाधिक पाप मे सनता जाता है*।

---

* स य सत्यं वदति यथाग्निं ᳫ समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चेदेव ᳫ हैन ᳫ स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति श्वः श्वः श्रेयान्भवत्यथ योऽनृतं वदति यथाग्निं ᳫ समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेदेव ᳫ हैन ᳫ स जासयति तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति श्वः श्वः पापीयान्भवति तस्मादु सत्यमेव वदेत्।

(शत० २।२।२।१९)

जिस प्रकार सत्य का उचित सेवन मनुष्य के जीवन को तारता है उसी प्रकार सत्य के साथ खिलवाड उसको नष्ट-भ्रष्ट भी कर सकता है। जो सत्य की शक्ति को पाकर उसके साथ हलका व्यवहार करता है उसके लिए फिर जीवन मे थाह पाना कठिन हो जाता है। सत्य से पैरो के नीचे की पृथ्वी के समान जीवन मे जो आधार मिलता है वह यदि हमारे हाथ से निकल जाय, तो फिर कहीं ठिकाना नही रहता। अनृत मे लिप्त मनुष्य के लिए आशा है कि सत्य के द्वारा उसके जीवन का उद्धार कभी हो जाय, परन्तु सत्य के साथ मोल-भाव करनेवाले के लिए कोई आशा नही।

ऋषि ने ठीक ही कहा है कि जो अविद्या मे फँसा है वह तो अँधेरे मे है, पर जिसने विद्या के साथ अपना व्यवहार कुटिल बना लिया है उसका बन्धन बहुत ही कठोर है। जो अन्धकार मे है उसे प्रकाश प्राप्त हो सकता है, पर जिसने प्रकाश रहते हुए आँखे बन्द कर ली हों उसे कभी नही सूझ सकता। एक व्यक्ति जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग मे एक-सा है, वह चाहे नास्तिक भी हो तो भी श्रेष्ठ है, परन्तु जिसके भीतरी और बाहरी जीवन मे मेल नहीं है, वह यदि बाहर से ईश्वर पर विश्वास भी प्रकट करे तो भी उसके भीतर उस विश्वास की लौ कभी प्रकट न होगी।

लघु उपाय

सत्य का व्रत जटिल मानवीय जीवन की सब समस्याओ को सुलझाने के लिए एक सीधा रास्ता है। हिन्दुओ मे सत्य को नारायण का रूप कहा गया है। सत्य के रूप मे ईश्वर के दर्शन की कल्पना कितनी हृदयग्राही है! जो सत्य है वही नारायण है। सत्य रूपी नारायण का व्रत ही जीवन का सच्चा व्रत है। कथा है कि एक बार मर्त्यलोक का परिभ्रमण करते हुए नारद ने सब प्राणियों को नाना प्रकार के क्लेशो से युक्त और नाना प्रकार के पापकर्मो से दुःख पाते हुए देखा—

मर्त्यलोके जनाः सर्वे नाना क्लेशसमन्विता.।
नाना योनिसमुत्पन्नाः पच्यन्ते पापकर्मभिः॥

यह सत्य है कि यहाँ सब मनुष्य किसी-न-किसी दुःख से दुःखी हैं। ससार मे दुःख है इसका अनुभव करके बुद्ध का चित्त भी द्रवीभूत हो गया था। करुणा से आर्द्रचित्त होकर नारद ने विष्णु से पूछा कि मनुष्यो के इस दुःख के शमन का कोई लघु उपाय या सीधा मार्ग बताइए। यदि यह कहा जाय कि योग की साधना से अथवा ध्यान और समाधि से अथवा बडे-बडे यज्ञों से मनुष्य दुःखो से छूट सकता है तो सम्भव है यह बात सच भी हो, परन्तु इस उपाय से कितने कम मनुष्यो को लाभ हो सकता है? इसलिए नारद का प्रश्न एकदम उस सीधे उपाय को जानने के लिए है जिसके द्वारा दुःख-शोक का शमन होकर मनुष्य सुखी बन सके। विष्णु ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया, उससे स्पष्ट है कि सत्य का व्रत ही वह व्रत है, जो स्वर्गलोक मे और मर्त्यलोक मे सर्वत्र फल देनेवाला है और जिसके पालन से मनुष्य इस लोक मे सुख भोगकर परलोक मे मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है—

सत्यनारायणस्यैवं व्रतं सम्यग्विधानतः।
कृत्वा सद्यः सुखं भुक्त्वा परत्र मोक्षमाप्नुयात्।

सत्य के व्रत का ठीक विधान सर्वत्र विजयप्रद कहा गया है। सत्य के आश्रय से दरिद्र धन प्राप्त कर सकता है। परतन्त्रता मे बँधा हुआ मनुष्य बन्धन से छूट सकता है और भय से ग्रसित मनुष्य अभय प्राप्त कर सकता है। सत्य की आधारशिला इतनी दृढ है। चातुर्वर्ण्यात्मक समाज के जीवन मे सत्य के पालन और प्रयोग की अनेक कथाएँ और इतिहास पहले बन चुके हैं और आगे भी बनते रहेंगे। परन्तु इन नाना रूपो के पीछे सत्य का सनातन भाव सदा एक-सा बना रहता है। मानवी जीवन मे जब कभी दुःख और रोग का आक्रमण होता है तभी जानना चाहिए कि हमसे जान में अथवा अनजाने किसी न किसी प्रकार सत्य का अतिक्रमण हुआ है। उस असत्य को पहचानकर पुनः सत्य का आश्रयण ही जीवन मे कल्याण के लिए आवश्यक है।

सत्य का स्रोत

दैवी जीवन सत्य के व्रत के साथ बँधा रहता है। मनुष्य के अन्तःकरण मे स्थित दैवी मन उसको इस सत्य व्रतके साथ सयुक्त रखने की निरन्तर प्रेरणा करता रहता है। जितना अधिक हम इस अन्तःमन के आदेशो का पालन करते हैं उसी मात्रा में हम सत्य के समीप या उससे सयुक्त रहते हैं। सत्य और असत्य के विवेक के लिए अन्तःमन या अन्तकरण की यह सनातनी प्रेरणा दार्शनिक मत से मनुष्य के लिए एक अमूल्य शक्ति है। वस्तुतः सत्य का अन्तिम स्रोत क्या है, यह प्रश्न बडा महत्त्वपूर्ण है। हमको सत्य का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है, अथवा किस प्रकार प्राप्त हुए ज्ञान को हम सत्य समझें, इस प्रश्न की यथार्थ मीमासा जितनी आवश्यक है उतनी ही जटिल है। तर्क के धनी नैयायिको ने सत्य के निर्णय के लिए अनेक प्रमाणो का ढाँचा खडा किया है। कितने ही हेत्वाभास और निग्रहस्थानो के जगड्व्याल से यह तर्क-प्रणाली अत्यन्त दुरूह बन गई है। भारतीय नव्य न्याय

मे किसी वस्तु के शुद्ध लक्षण की परिभाषा स्थिर करने के लिए अवच्छेदक और अवच्छिन्न की एक विचित्र परिपाटी का आविष्कार हुआ। प्रारम्भ मे यद्यपि निर्दोष सत्य की प्राप्ति के लिए यह प्रयत्न रहा होगा, परन्तु आगे चलकर इसने स्वतन्त्र प्रतिभा का कचूमर निकाल दिया। ज्ञान प्राप्ति के साधनों की निर्मल और शान्तिदायिनी धारा तार्किक पचड़ों के रेगिस्तान में बिल्कुल सूख गई। सस्कृत साहित्य के पिछले तीन सौ वर्षों का इतिहास इसका साक्षी है। प्रज्ञा के द्वारा सत्य की खोज करने का उदाहरण इस काल के साहित्य मे नहीं मिलता।

भगवान् शकराचार्य ने, जिनके समान प्रतिभाशाली सत्य के समीक्षक बहुत कम हुए हैं, सत्य तक पहुँचने के लिए प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों की इस असमर्थता को बहुत अच्छी तरह पहचान लिया था। यह बात कुछ विचित्र-सी है कि जिस दर्शनशास्त्र मे एकान्त सत्य की प्राप्ति के लिए ही सब कुछ आयोजन हो, वहीं उन प्रमाणो का अनादर किया जाय जिनको मानवी बुद्धि ने बहुत छानबीन के बाद सत्य की पहचान के लिए स्थिर किया है। वस्तुतः ज्ञेय वस्तु के स्वरूप-भेद से प्रमाणों मे भी आस्था-अनास्था हो जाती है। लौकिक व्यवहारों मे लौकिक प्रमाणो का ऊँचा स्थान शकर को भी मान्य था। न्यायालय मे जिस सत्य का निर्णय होता है उसके लिए तर्क और प्रमाण अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं। परन्तु लौकिक व्यवहारों का क्षेत्र परिमित है। जीवन के सत्य की जिज्ञासा जहाँ आरम्भ होती है वहाँ सासारिक पदार्थों का व्यवहार पीछे छूट जाता है—

सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मता—
विज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः। (शकर ब्रह्मसूत्र २।१।१४)

अर्थात् समस्त लौकिक व्यवहार तभी तक सच्चे हैं जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का विज्ञान नहीं होता। यहाँ स्पष्ट ही ज्ञेय-सत्य दो धरातलो से देखा जाता है—लौकिक और पारमार्थिक। इन्हीं को जड़ जगत् और चेतन आत्मा का पृथक् क्षेत्र कहेंगे। दोनों का विस्तार हमारे सामने है। प्रत्येक मनुष्य का अत्यन्त घनिष्ट सबध दोनों से है। कोई भी इनकी चुनौती से सदा के लिए नहीं भाग सकता। दोनों क्षेत्रों का सत्य अलग-अलग है। व्यवहार का सत्य परमार्थ मे सत्य नहीं। क्या हम नहीं देखते कि जब तक हम साधारण व्यवहारों मे सलग्न हैं हमारा दृष्टिकोण दूसरी तरह का होता है। स्त्री-पुत्र-पौत्र, परिवार, धन, मान, यश आदि को हम कितना टिकाऊ समझते हैं, और हम अपने जीवन के मूल्य को इन बटों से आँकते रहते हैं। इस क्षेत्र मे दौड़-धूप करनेवाले व्यक्ति को इसी मे रस आता है। जीवन के सत्य का यह एक पक्ष है और इसे अनृत या माया कहकर हम इससे छुटकारा नहीं पा सकते। इस पक्ष का यथार्थ निराकरण तो तभी होता है जब हमारे जीवन मे ज्ञान जीता-जागता सत्य बन जाता है। जिस प्रकार साधारण आदमी के लिए ससार रसमय है, उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक ज्ञानी के लिए आत्मतत्त्व रसप्रद होता है। व्यवहार का रस परमार्थ मे नीरस हो जाता है। परमार्थ मे जीवन के मूल्य को आँकने के मापदण्ड बदल जाते हैं। वहाँ जो मन और कर्म का सत्य है, वह इस जीवन के सत्य से भिन्न है। उस सत्य का निर्णय मनुष्य की प्रज्ञा से होता है। प्रज्ञा बुद्धि से भी उत्कृष्ट है। बुद्धि तर्क और प्रमाण के द्वारा सत्य का निर्णय करती है। प्रज्ञा* सत्य का मानसिक साक्षात्कार करती है। बुद्धि का साम्राज्य पृथ्वी पर है। प्रज्ञा पख लगाकर आकाश मे विहार करती है। मानवी जगत् में आज तक जो कुछ भी विशिष्ट मूल्य का विचार-कोष सगृहीत हुआ है, सब प्रज्ञा की देन है। सत्य के लिए प्रज्ञा कामधेनु है। मन, वचन और कर्म का जितना घनिष्ट समीकरण प्रज्ञा से होता है, केवल बुद्धि के तर्क वितर्क से नहीं। मानव-जगत् की सबसे बड़ी समस्या प्रज्ञावान् मनुष्यों की प्राप्ति है। उनका सत्य ससार को कल्याणप्रद नीतिमत्ता की ओर ले जा सकता है। इस समय प्राकृतिक नियमों के सत्य को पहचानने मे वैज्ञानिक मस्तिष्क को जो सफलता मिली है वह अभूतपूर्व है, उससे मानव जाति को बल मिल गया है। परन्तु जब तक मनुष्य को प्रज्ञा की प्राप्ति न होगी तब तक बल पर शासन करनेवाले उच्च मानव-वश का विकास न हो सकेगा। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू विचार और कर्म की एकता को सत्य का सर्वोत्तम स्वरूप मानता था। यही प्रज्ञात्मक सत्य का लक्षण है। इस युग मे मनुष्य विचार तो करता है, परन्तु तदनुसार कर्म करने का उत्तरदायित्व नहीं अनुभव करता। इसी से विचार और कर्म के बीच मे चौड़ा पाट बन गया है। जीवन की नदी विचार और कर्म के दो किनारो के बीच मे बही है। दोनों का सुन्दर समन्वय ही जीवन का सर्वोत्तम सत्य है। विश्व की रचना मे इस समन्वय का सबसे उत्तम उदाहरण देखने मे आता है। इसीलिए ऋषि ने कहा है—

एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्। (छान्दोग्य ८।१।५)

अर्थात्, 'यह ब्रह्म की पुरी सत्य है।'

* प्रज्ञा—Intuition, या Higher Intelligence.

पृथ्वी की कहानी

आल्प्स पर्वतमाला की प्रसिद्ध हिमानी या ग्लेशियर—'मैर-द-ग्लेस'
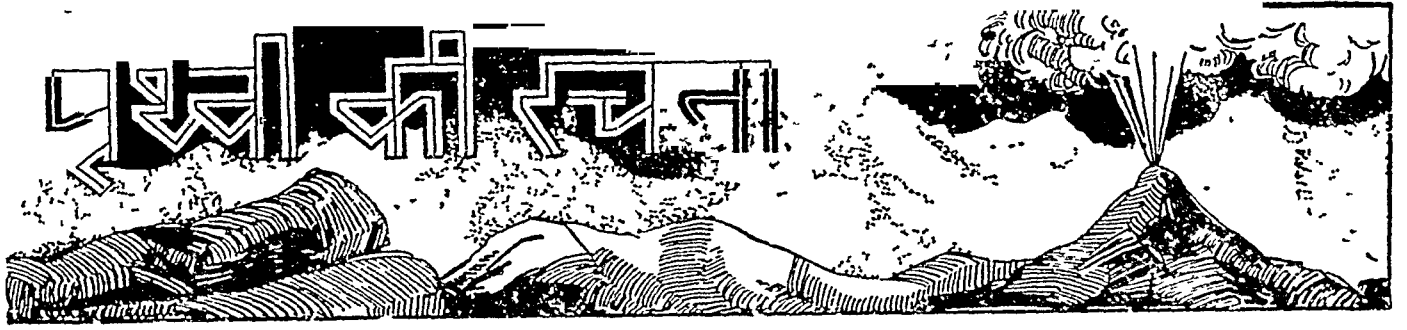
तुषार और हिम का कार्य

'हिमानी' और 'हिमावरण' की कहानी

पृथ्वी की रचना मे जल का सबसे प्रमुख हाथ है। जल के वायव्य, सलिल और स्थूल तीनो ही रूप पृथ्वी के महान् आकारो के जन्म मे सहायक होते हैं। वायुमण्डल के वायव्य जल की कहानी और उसके कार्य के विषय मे हम पहले ही बता चुके हैं। जल के विभिन्न सलिल रूपो (नदियों, झीलों, स्रोतों और पाताली धाराओं) के कार्यकलाप की कथा भी हम सुना चुके हैं। पृथ्वी के ऊपर जितना भी जल आता है, वह जिस प्रकार भी हो सकता है अपने मूल निवास-स्थान (सागर) की ओर पहुँचने की चेष्टा मे रत रहता है। इसके लिए जल को अनेको प्रयत्न करने पडते हैं। अपने एक-एक अश को सगठित करके वह धारा बन जाता है और छोटी-छोटी धाराओं के सम्मिलन से नदियो आदि का रूप धारण करके बडे वेग से सागर की ओर दौडता है। सागर तक पहुँचने मे उसे जिन-जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता है, वह उन सभी पर विजय प्राप्त करता है। बडे-बडे विशाल भूधरो को काट-काटकर वह कणो मे बिखेर देता है और उन कणों को भी स्थल पर छोडना नही चाहता ताकि कही वे एकत्रित होकर फिर उसका विरोध न करें। उनको बहा ले जाकर वह अपने घर मे जमा कर लेता है और वहाँ सदैव अपने बोझ से नीचे दबाता रहता है। भूमण्डल के विविध दृश्य, मैदान और घाटियाँ, झीलें और वन आदि सब इसी जल-देवता की क्रिया का परिणाम है। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने इसे 'वरुण' देवता की उपाधि दी थी और वे इसकी पूजा करते थे।

परन्तु जल के विरोधी भी शान्त होनेवाले नही हैं। सलिल और वायव्य रूप मे जल को बाँधने की व्यर्थ चेष्टा उनको हतोत्साहित नही करती। वे भी अपने प्रयत्न मे रत हैं, और जल को 'स्थूल रूप' (solid state) मे परिणत करके अपने सर्वोच्च स्थलों पर जमा कर देते हैं, जिससे वह न तो भाग सके और न उड ही सके। जल भला क्यो हार मानने लगा! वह तो बडा शक्तिशाली है। दासत्व भला उसको कहाँ पसन्द! वह तो रस्सी तुडाकर भागने की चेष्टा करता ही रहता है। अपने प्रयत्न मे वह किस प्रकार सफल होता है, साथ ही अपने शत्रुओ का मान मर्दन करके किस प्रकार उनको तोड-फोडकर तथा उनके खण्डो को घिस-घिसाकर अपने घर पहुँच जाता है, इसी की कहानी का पहला अध्याय 'हिमानी' (Glacier) और 'हिमावरण' (Ice-sheet) की कहानी है।

'हिमानी' का जन्म

हिमक्षेत्र—तुषारपात की क्रिया जलवायु के ऊपर निर्भर है। उष्ण कटिबन्धवाले प्रदेशों मे केवल ऊँचे पर्वतों और पठारों पर तुषारपात होता है। शीतोष्ण कटिबन्धस्थित प्रदेशो मे मैदानो और घाटियो की नीची भूमि पर भी तुषारपात होता है, परन्तु गर्मी के दिनो मे वह विलुप्त हो जाता है। ध्रुवप्रदेशो मे अधिकाश स्थलों पर विशाल क्षेत्रफलवाले भूमिखण्ड निरन्तर तुषारमण्डित रहते हैं। ऊँचे अक्षाश और अधिक ऊँचाईवाले प्रदेशो मे कुछ पर्वतो के शिखरों पर शीत ऋतु मे इतनी अधिक बर्फ पडती है कि वह सब गरमी मे पिघल नही पाती। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष बर्फ अधिकाधिक होती जाती है। बर्फ से निरन्तर ढके हुए ऐसे प्रदेश ही 'हिमक्षेत्र' (Snow-fields) कहलाते हैं।

हिमरेखा—किसी स्थल की सबसे कम ऊँचाई, जहाँ पर निरन्तर हिमक्षेत्र बना रहता हो, 'हिमरेखा' (Snow-line) कहलाता है। विभिन्न स्थानो पर हिमरेखा की ऊँचाई विभिन्न है। ध्रुवप्रदेशो मे हिमरेखा बहुत कम ऊँचाई पर ही पाई जाती है, परन्तु भूमध्यरेखा पर इसका पता बहुत ऊँचे पर्वतों की चोटियों पर मिलता है। ग्रीनलैण्ड मे हिम-रेखा की ऊँचाई २००० फीट है, दक्षिण अलास्का मे ५००० फीट, राकी पर्वतों मे ११००० फीट और भूमध्यरेखा

के ऊपर एण्डीज पर्वतों पर १८००० फीट है।

जिन स्थानों में तुषारपात बहुत अधिक मात्रा में और बहुत थोड़े काल के अन्तर से होता है, वहाँ के हिमक्षेत्रों में तुषार की बड़ी मोटी-मोटी पर्तें जम जाती हैं और तुषार के मोटे पिण्ड धीरे-धीरे हिम (बर्फ) में परिणत होने लगते हैं। तुषार रुई के गालों के समान फूला और हल्का होता है। परन्तु जब उसका विस्तार और उसकी मोटाई अधिक हो जाती है तब अपने ही बोझे के प्रभाव से वह घनीभूत हो जाता है और तुषार का प्रत्येक पर्त घना होकर हिम का छोटा-सा पिण्ड बन जाता है। जिन देशों में तुषारपात होता रहता है वहाँ के निवासी तुषार के हिम में परिवर्तन होने की क्रिया से भली भाँति परिचित होंगे, परन्तु जिन्हें कभी तुषारपात देखने का सुअवसर नहीं मिला है उन्हें इसकी कल्पना ही करनी पड़ेगी।

यदि तुषार बराबर गिरता ही जाता है तो उसके भार से हिम अधिक स्थूल होता जाता है और थोड़े ही काल में हिमशिलाओं की रचना हो जाती है। हिमशिलाओं को देखने से यह प्रतीत होता है कि पतले-पतले पर्तों को एक दूसरे पर जमा दिया गया है। प्रत्येक पर्त किसी एक समय में होनेवाले तुषारपात का द्योतक है। कहीं-कहीं पर्तों के बीच में मिट्टी, कंकड़ और धूल भी दिखाई देती है, जिससे मालूम होता है कि दो तुषारपात की क्रियाओं के बीच पर्याप्त अन्तर पड़ गया और धूल आदि को हिमशिला पर बैठ जाने का अवसर मिल गया है।

हिमानी (Glacier)—जब हिमशिलाओं की अधिकता हो जाती है और उस पर तुषारपात बारम्बार होता ही रहता है, तब हिमक्षेत्र की एक ऐसी अवस्था हो जाती है कि तनिक भी और बोझा बढ़ते ही वह नीचे ढाल की ओर खिसकने लगता है। हिमक्षेत्र का खिसकना हिम और तुषार के भार के अतिरिक्त पहाड़ों के ढाल और तापक्रम पर भी निर्भर है। हिमक्षेत्र नीचे की ओर खिसकता है और साथ ही चारों ओर, जहाँ स्थान मिलता है, फैलता जाता है। हिमशिलाओं का जो अंश इस प्रकार अपना स्थान छोड़कर आगे बढ़ने लगता है, और निश्चित मार्ग से जलधारा के समान बहने लगता है उसको हिमानी या ग्लेशियर (Glacier) कहते हैं। हिमक्षेत्र में जब तक तुषारपात होता रहता है और हिमानी की रचना होती रहती है तब तक यह हिमानी रूपी बर्फ की नदी बर्फ को नीचे की ओर बहाती रहती है। बहते हुए हिमपिण्ड का नाम ही ग्लेशियर है। इसलिए वास्तव में हिमक्षेत्र और हिमानी या ग्लेशियर में कोई विशेष अन्तर नहीं माना जा सकता। तुषारकण जैसे ही हिमक्षेत्र में एकत्रित होते हैं उनमें एक प्रकार से जीवन-सा आ जाता है और उनका स्थूल रूप अपने मोटापे के भार को वहन करने में अशक्त होने के कारण नीचे की ओर रपटना आरम्भ कर देता है। अन्त में तुषार, हिम, हिमक्षेत्र और हिमानी आदि जल के सभी स्थूल रूप ग्लेशियर के रूप में बह निकलते हैं। ग्लेशियर का तात्पर्य यह नहीं है कि हिम जल में परिणत होकर नदी के रूप में बह निकलता है। वरन् हिमानी या ग्लेशियर जल के स्थूल रूप बर्फ या हिम की धारा है, जो जलधारा के समान ही हहराती हुई पर्वतों की घाटियों में तथा ढालू पठारों पर बहती है।

हिमानी उत्पत्ति के स्थान पर बहुत चौड़ी होती है, क्योंकि उसका आरम्भ विस्तृत हिमक्षेत्र से होता है, जो बहुधा पर्वतों की ऊँची खुली चौड़ी चोटियों पर बहता है। चोटी से उतरकर जब हिमानी नीचे आती है तब उसको पर्वतों की संकीर्ण घाटियों में होकर आगे बढ़ना पड़ता है। इसीलिए हिमानी ऊपरी भाग में अधिक चौड़ी होती है, परन्तु ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों संकीर्ण होती जाती है। हिमानी के संकीर्ण होने के कारण ऊपर विस्तृत हिमक्षेत्र में उसकी अदृश्य चाल (गति) संकीर्ण घाटियों में साफ दिखाई देने लगती है। फिर भी इसकी दैनिक गति इतनी मन्द होती है कि साधारणतः लोग इसे स्थिर ही समझने की भूल कर बैठते हैं।

हिमानी की चाल—हिमानी के बहने की गति का सर्वप्रथम अनुसन्धान १८२७ ई० में स्विस प्रोफेसर ह्यूजी (Hugi) ने किया था। उसने उत्तरी आल्प्स पर्वत के आर (Aar Glacier) नामक हिमानी पर एक कुटिया बनाई और कुटिया की गति की जाँच आरम्भ की। १८४१ ई० में यह कुटिया बहकर ४७०० फीट आगे निकल गई। अर्थात् १४ वर्ष में इस हिमानी ने केवल ४७०० फीट का मार्ग तय किया। इससे यही प्रतीत होता है कि हिमानी एक फुट प्रतिदिन के हिसाब से आगे बढ़ी। हिमानी का वेग मध्य में अधिक तीव्र होता है। तली और किनारों पर रुकावट पड़ने के कारण वेग कुछ मन्द हो जाता है। फिर भी इसकी दैनिक गति एक या दो फुट से अधिक नहीं होती।

प्रोफेसर फोर्बस (Forbes) ने हिमानी की चाल की गणना करके १८५८ ई० में एक अभूतपूर्व भविष्यवाणी की थी। मॉन्ट ब्लैंक (Mont Blanc) नामक पर्वत के डिस बोसन्स (des Bossons) नामक ग्लेशियर के उद्गम-

स्थान के पास १८२० ई० मे तीन पथ-प्रदर्शक बर्फ की चट्टानो के नीचे दब गए थे। प्रो० फोर्बस ने अपनी राय दी थी कि इन तीनो की लाशे हिमानी के अन्तिम छोर पर सन् १८६० ई० के लगभग निकलेगी। उनकी बात एकदम सत्य प्रतीत हुई। १८६१ ई० मे उनके अवशेष प्रगट हुए। यह स्थान दुर्घटनास्थल से चार मील के लगभग आगे था। गणना से देखा जाय तो हिमानी की चाल एक या दो फुट प्रतिदिन से अधिक नही हो सकती।

आल्प्स प्रदेश की हिमानियाँ इससे भी धीरे चलने के लिए प्रसिद्ध हैं। परन्तु अलास्का प्रदेश की हिमानियो की चाल बहुत आश्चर्यजनक है। इनमे से कुछ की चाल चालीस फीट प्रति दिन तक पाई गई है। ग्रीनलैंड की कुछ हिमानियाँ इससे भी अधिक तीव्रता से बहती हैं। इनमे से कुछ की दैनिक प्रवाह-गति ६० फीट से भी अधिक समझी जाती है। हिमानी की प्रवाह-गति का धीमा और तीव्र होना कई बातो पर निर्भर होता है। यदि हिमानी का विस्तार और आकार विशाल होता है तो उसकी गति बहुधा तीव्र होती है। जो हिमानी अपने पोषक हिमक्षेत्र से विस्तार और आकार मे छोटी होती है वही तीव्रता से बहती है। मार्ग का ढालू होना भी हिमानी के प्रवाह को बढाता है। यदि हिमानी मे हिमशिलाओ के आकार मे ऊपर से नीचे की ओर ढाल होता है तो बर्फ शीघ्रता से फिसलती है। इसके साथ ही हिम के तापक्रम पर भी उसकी गति निर्भर है। यदि तापक्रम पिघलनेवाले बिन्दु के बहुत समीप होता है तो बर्फ तेज़ी से आगे बढती है। यही कारण है कि शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्मकाल मे कुछ हिमानियाँ तीन गुनी चाल से बहने लगती हैं।

जाडे मे शीतप्रधान देशों के वृक्ष और मैदान इसी तरह तुषारमंडित हो जाते हैं। ऊँचे पर्वतों पर इस तरह लगातार तुषार पडते रहने से हिम की पर्ते जम जाती हैं, जिनसे हिमशिलाएँ बन जाती हैं।

हम ऊपर बता चुके है कि हिमानी का वेग मध्य मे अधिक तीव्र होता है और तली तथा किनारो पर कुछ मन्द होता है। इस बात की जॉच के लिए हिमानी के ऊपर एक सीधी लकीर मे खूँटे गाडे गए। थोडे दिनो के पश्चात् देखा गया कि खूँटो की सीधी लकीर अर्द्ध-चन्द्राकार बन गई है। न केवल बीच का भाग आगे बढ गया है, वरन् बीच के खूँटे भी आगे झुक गए हैं। इससे ऊपर की बात का प्रमाण मिल गया। कहना न होगा कि हिमानी की गति और जलधारा की गति बीच मे, किनारों पर और तली मे समान रूप से अधिक और कम होती है। इसका कारण यही है कि किनारो और तली के पदार्थ जिस प्रकार जलधारा के प्रवाह मे रुकावट डालते हैं, उसी प्रकार हिमानी के प्रवाह मे भी बाधक होते हैं।

साधारणतः हिमानी के सम्बन्ध में यह सोचा जा सकता है कि हिमशिलाओं के कडेपन के कारण हिमानी का मार्ग बहुत ही सीधा होगा, क्योकि कडी वस्तु को इधर-उधर मुडने में असुविधा होती है। परन्तु वास्तविक बात इसके बिल्कुल विपरीत है। हिमानी के मार्ग जलधाराओ के समान ही घुमावदार और बल खाते हुए होते हैं। यद्यपि देखने मे हिम कडा और स्थूल होता है तथापि परिस्थितियो के अनुकूल दबने, मुडने और घूमने की उसकी विलक्षण प्रकृति प्रतीत होती है।

हिमानी का रुक जाना—कभी-कभी कोई-कोई हिमानी किसी स्थान पर एकदम स्थिर-सी हो जाती है और आगे बढती ही नही। अलास्का के तट पर मालास्पिना नामक विशाल विस्तारवाली हिमानी आजकल बिल्कुल अशक्त-सी हो गई है। इसका अधिकांश भाग चट्टानो की चूरचार

से ढक गया है और उसमे वृक्ष और वनस्पतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। इसी प्रकार की कई अन्य हिमानियाँ अलास्का, ग्रीनलैण्ड तथा अण्टार्क्टिका प्रदेशों मे और भी हैं, जो एक प्रकार से स्थिर-सी हो गई हैं और जिन पर वृक्षों, लताओं आदि ने अपना आधिपत्य जमा लिया है। धीरे-धीरे इनका हिम घुल-घुलकर जल बनकर बहता जाता है, परन्तु हिमानी अस्थिर होती प्रतीत नही होती। इसके कारण का अभी तक पता नही चला है, परन्तु यह विश्वास किया जाता है कि जलवायु मे परिवर्त्तन हो जाने के कारण इन हिमानियो के हिमक्षेत्रो में तुषारपात कम हो गया है और इसीलिए हिमानी का पोषक क्षेत्र निर्बल हो जाने से उसकी गति शून्य हो गई है।

हिमानी कैसे समाप्त होती है।

हिम एक-न-एक दिन जल या जल-वाष्प मे परिणत हो ही जाता है। हिमानी का नाश भी उसके हिम के जलरूप मे हो जाने, या जल-वाष्प मे परिणत हो जाने, अथवा खण्ड-खण्ड होकर हिमखण्डों (Icebergs) के रूप में बह जाने पर होता है। हिमानी का विखण्डन ऊँचे अक्षाशोवाले प्रदेशो मे उन नदियो मे अधिक होता है, जो सागर मे जाकर मिलती हैं। ध्रुव-प्रदेशो मे हिमानी बहुधा हिमखण्डो को जन्म देती रहती है। ये हिमखण्ड पिघलने के पूर्व बहुत दूर तक बह जाते हैं और अन्त मे पिघल जाने पर अदृश्य या नष्ट हो जाते हैं। हिमानी के हिम का वाष्पीकरण आरम्भ के हिमक्षेत्र से लेकर अन्तिम छोर तक बराबर होता रहता है। यहाँ तक कहा जाता है कि कुछ हिमानियों का अन्त वाष्पीकरण के कारण ही हुआ है। उनका हिम पिघलकर जल बनने के पूर्व ही वाष्प बनकर वायुमण्डल मे व्याप्त हो गया। अण्टार्क्टिक महाद्वीप के प्रदेशो मे हिमानियाँ बहुधा खण्डजनन (Calving) और वाष्पीकरण (Evaporation) मे ही नष्ट हो जाती हैं। परन्तु अन्य प्रदेशो की हिमानियों मे पिघलने से हिम नष्ट होता है। हिम के पिघलने के कारण जलधाराओ और झीलो की रचना होती है। हिमजल के बहकर जलधाराओ और झीलों मे पहुँचने से धरातल पर विचित्र प्रकार के चिह्न बन जाते हैं। जो कहीं भी सरलतापूर्वक पहचाने जा सकते हैं। जहाँ इस प्रकार के चिह्न नहीं मिलते, और सागर भी समीप नहीं होता, उस स्थान की हिमानी के नष्ट हो जाने का मुख्य कारण वाष्पीकरण ही माना जाता है।

हिमानी कितनी दूर तक पहुँचती है और उसका विस्तार कितना बढ़ता है, यह दो बातो पर निर्भर है। एक तो हिमक्षेत्र मे पडनेवाले तुषार पर और दूसरे हिमानी के विनष्ट होने पर। यदि हिमक्षेत्र मे तुषार बहुत अधिक पडने लगता है और हिमानी का हिम कम मात्रा मे नष्ट होता है तो वह बहुत दूर तक बढी चली जायगी। परन्तु यदि तुषार की मात्रा की अपेक्षा नष्ट होनेवाले हिम की मात्रा अधिक है तो हिमानी दिन प्रतिदिन छोटी और पतली होती जायगी। इस दशा मे हिमानी का छोर पीछे हटता है, परन्तु उसका हिम आगे बढता जाता है। यदि हिमक्षेत्र मे तुषारपात होना बद हो जाय तो हिमानी का आगे बढना भी बन्द हो जाता है। इस प्रकार की 'गतिहीन' हिमानियो के बारे मे हम ऊपर बता चुके हैं।

हिमानी पीछे हटती है—बहुत-सी हिमानियों की विशेषता यह रही है कि कुछ वर्षो तक उनका प्रवाह बढता है और फिर कुछ वर्ष तक वे पीछे हटती हैं, और फिर आगे बढती हैं। आल्प्स पर्वत तथा अलास्का प्रदेश मे इस प्रकार की अनेकों हिमानियाँ हैं। इस बात के जानने के प्रयत्न किये जा रहे हैं कि हिमानियों का ऐसा व्यवहार जलवायु के परिवर्त्तन के कारण होता है अथवा और किसी कारण से। इस सम्बन्ध मे खोज करनेवालो को कभी-कभी बडी मनोरजक घटनाएँ देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ हम आपको वाशिंगटन के रेनियर पर्वत के निस्कवैली ग्लेशियर की एक गति का हाल बताते हैं। १९१८ ई० तक यह ग्लेशियर धीरे-धीरे आगे बढता पाया गया। परन्तु १९१८ से १९२९ के बीच अर्थात् ११ वर्ष मे इसका मुख १९१८ के स्थान से ७४८ फीट पीछे हट गया। अर्थात् प्रति वर्ष ६८ फीट के लगभग यह ऊपर की ओर खिसकता रहा। इसकी आधुनिक लम्बाई ४-५ मील के लगभग है।

इसी प्रकार आल्प्स पर्वत की हिमानियों के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि १८५५ ई० तक वे सब बहुत आगे बढ आई थी और इसके पश्चात् वे फिर पीछे हट गई। पीछे हटते समय इनमे से ग्रिन्डैलवाल्ड नामक हिमानी के मार्ग मे सगमर्मर की एक खान दिखाई पडी जो अब तक नदी के नीचे छिपी पडी थी। कहा जाता है कि इसी खान से निकाला हुआ पत्थर बर्न नगर के मकानो मे सत्रहवीं शताब्दी मे लगाया गया था। जब तक हिमानी के पीछे हटने से इस खान का पता नहीं चला था तब तक लोग अपने घरो में लगे पत्थरो के उत्पत्तिस्थान के विषय मे सर्वथा अनभिज्ञ थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि जिन दिनो इस खान से पत्थर निकालकर उनसे बर्न नगर के मकान

उत्तरी अमेरिका मे अभी हाल मे खोजा गया एक महान् ग्लेशियर— 'हव्वर्ड ग्लेशियर'

यह ग्लेशियर लगभग ६० मील लंबा और कई जगह १० मील चौडा है। इस चित्र में ग्लेशियर में जो छोटे-छोटे काले-काले दाग दिखाई देते हैं, वे प्रत्येक ४०-५० फ़ीट चौडे हिम के खंड है। बहुत ऊॅचाई से फ़ोटो लिया गया है, इसी से ये इतने छोटे दिखाई पडते हैं। इसी से आप इसकी लंबाई-चौडाई का अनुमान कर सकते हैं।

हिमानी या ग्लेशियर का जन्म प्राय ऐसे ही हिमाच्छादित गिरिशिखरो के ढाल पर होता है पर्वत की चोटी और उसके आसपास निरतर जमा होते रहते हिम के दवाव से हिमशिलाएँ खिसकने लगती और धीरे-धीरे ग्लेशियर मे परिणत हो जाती है। यह चीन की दक्षिणी सीमा पर स्थित मिन्या कोन्का पर्वतशिखर का दृश्य है। सामने कई हिमानियाँ नीचे उतरती दिखाई दे रही हैं।
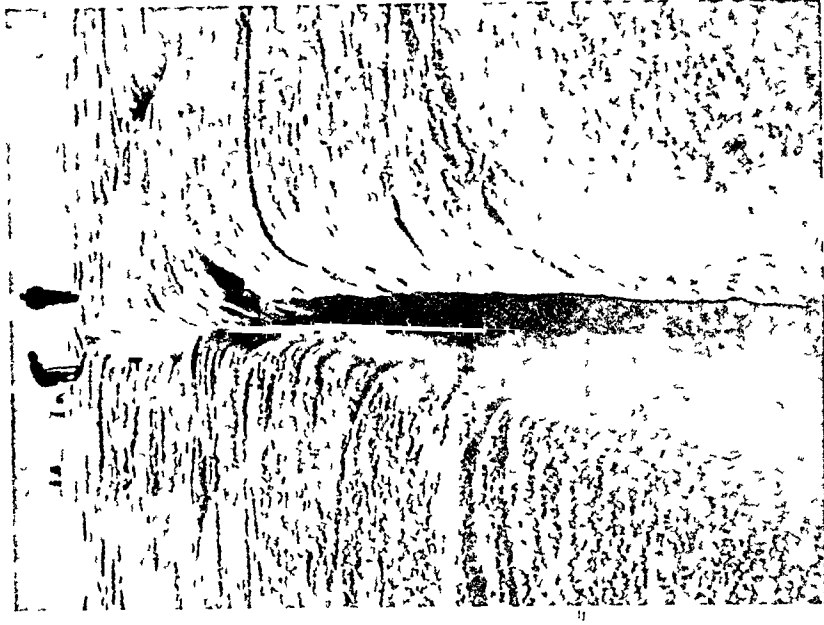
आल्प्स पर्वतमाला के ओबरग्लोक्नर नामक ग्लेशियर मे देखी गई एक दरार का फोटो

प्राय मुडते समय पडनेवाले दबाव के कारण हिमानी की बर्फीली चादर मे दरारे पड जाया करती हैं। ये दरारे कभी कभी बहुत लबी-चौडी और गहरी खाईनुमा हो जाती है। चित्र मे दिखाई दे रहे मनुष्य क आकार से इस दरार की तुलना कीजिए।
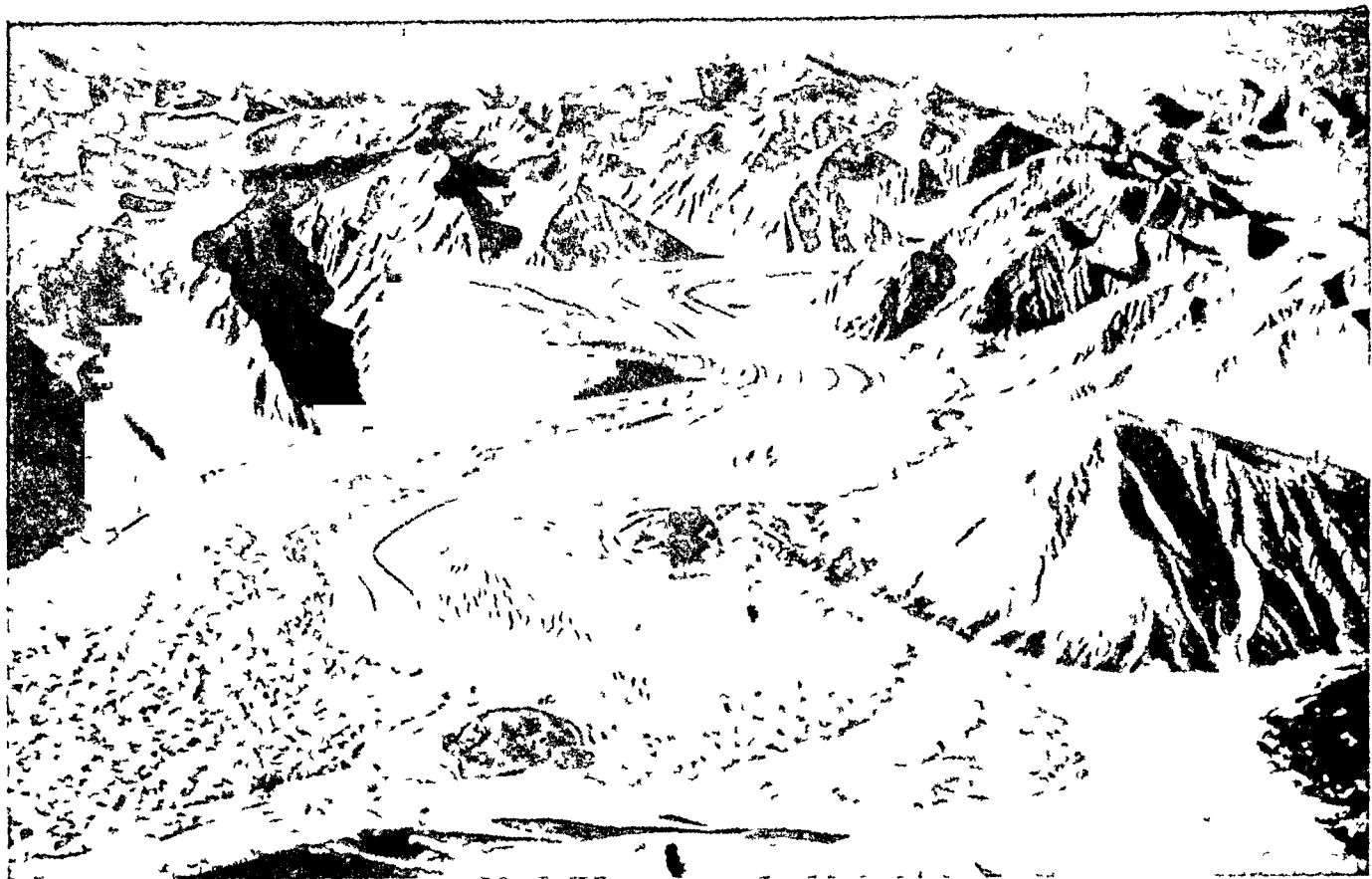
(ऊपर) अलास्का के कास्कावुल्श नामक एक ग्लेशियर का दृश्य, (नीचे) हिमालय में गंगोत्री के समीप केदारनाथ की हिमानी।

(1ऊपर) अमेरिका के अलास्का प्रदेश के सुप्रसिद्ध टाकू ग्लेशियर का प्रभावशाली दृश्य। यह ग्लेशियर ३० मील लंबा और २-३ मील चौड़ा है। प्रतिदिन यह १० फीट आगे खिसकता है और प्रशांत महासागर में आकर समाप्त हो जाता है, जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है। यह फोटो बहुत ऊंचाई से हवाई जहाज़ द्वारा लिया गया है। सामने पानी के निकट जो हिम की दीवार दिखाई पड रही है वह ३०० फीट से भी अधिक ऊंची है! (दाहिनी ओर) ग्लेशियरों में नीचे कभी-कभी ऐसी गुफाएं भी बन जाती हैं!

बनाये जाते थे उन दिनो हिमानी इस स्थान तक नही पहुँच पाई थी। १८५५ ई० मे उसके प्रवाह ने इस खान के प्रदेश को भी ढाँप लिया। परन्तु उसके पीछे हटते ही खान फिर दिखाई पडने लगी।

सितम्बर १८६६ ई० मे अलास्का की याकुतान की खाडी के प्रदेश मे कई भूचाल आए। इस प्रदेश मे अनेकों 'गतिहीन' हिमानियाँ पाई जाती हैं। इन भूचालो के परिणाम से इन हिमानियो मे गति उत्पन्न हो गई और वे फिर प्रवाहित हो गईं। १६०६ ई० तक वे बडी तीव्रता से प्रवाहित होती रही, परन्तु इसके आगे वे फिर गतिहीन अवस्था को प्राप्त होने लगी। भूचालो के कारण हिमक्षेत्रो से हिमशिलाएँ फिसल-फिसलकर हिमानियो मे बहुतायत से आने लगी और उसी से सम्भवतः ये हिमानियाँ बह चली।

संसार के ग्लेशियर

ससार भर मे हज़ारो ग्लेशियर हैं। आल्प्स पर्वत मे ही लगभग २००० ग्लेशियर हैं। इनमे से अधिकाश दो मील से कम लम्बे हैं। कुछ तीन से पाँच मील की लम्बाई तक मे फैले हैं। एलेश ग्लेशियर लगभग १० मील लम्बा है और यह योरप मे सबसे बडा है। योरप के अन्य ऊँचे पर्वतो पर भी इसी प्रकार की हिमानियाँ पाई जाती हैं। इन हिमानियो की यह विशेषता है कि वे घाटियो के भीतर बहती हैं। ये घाटियाँ हिमानियो के पूर्व की जलधाराओ की बनाई हुई होती हैं। पिरेनीज़, कारपैथियन और नारवे की ऊँची-ऊँची चोटियो पर इनकी अधिकता है। काकेशस, हिमालय, कराकोरम, पामीर तथा एशिया के अन्य पर्वत-शिखरो पर भी हिमानियाँ पाई जाती हैं। पामीर पठार मे ससार भर मे सबसे बडा फेडशैंको ग्लैशियर है, जिसकी लम्बाई ४४ मील से भी अधिक है।

हिमालय पर्वत भी हिमानियो के लिए प्रसिद्ध है। इनमे से कुछ ससार की प्रमुख हिमानियो मे से हैं। इनका अनुसन्धान अभी तक अधिक नही हुआ है, परन्तु इधर कुछ वर्षो से भारतीय भूतत्त्व-विभाग तथा ससार के अन्य वैज्ञानिक इस ओर विशेष रूप से आकर्षित हुए हैं। हिमालय पर्वत की हिमानियाँ कोई छोटी और कोई बडी हैं। अधिकाश दो या तीन मील लम्बी हैं। परन्तु बीस-पचीस मील लम्बी 'हिस्पार' और 'चोगोलुगमा' जैसी विशाल हिमानियो की भी कमी नही है। कराकोरम श्रेणियो की बलतोडो, बैफो आदि हिमानियाँ चालीस मील से भी अधिक लम्बी हैं।

एण्डीज़ पर्वत की ऊँची-ऊँची घाटियो मे तथा न्यूज़ीलैण्ड की पहाडियो की घाटियो मे भी अनेको हिमानियाँ बहती हैं। अलास्का के तट पर सहस्रों हिमानियाँ घाटियो मे से प्रवाहित होकर सागर-तट तक पहुँचने की चेष्टा करती हैं। ब्रिटिश कोलम्बिया, वाशिगटन और ओरगान प्रदेशो मे हिमानियो का अभाव होता जाता है। सयुक्त राष्ट्र मे केवल कैस्केड रेज नामक पर्वत-श्रेणियो की ऊँची चोटियो पर ही हिमानियाँ पाई जाती हैं।

हिमालय और आल्प्स पर्वतो मे, घाटियो मे बहनेवाली हिमानियो के अतिरिक्त, बहुत से हिमक्षेत्र और भी हैं जो विशाल विस्तार मे फैले हैं, परन्तु उनमे हिम की मात्रा इतनी नही है कि धारा के रूप मे प्रवाहित हो जाय।

घाटियों में बहनेवाली हिमानी

अधिकाश ग्लेशियर घाटियो मे बहते हैं। जैसे-जैसे घाटी घूमती जाती है, हिमानी भी घूमती जाती है। जैसे-जैसे घाटी का आकार बदलता है, हिमानी का भी आकार घाटी के अनुरूप होता जाता है। जहाँ घाटी चौडी होती है वहाँ हिमानी भी विस्तीर्ण हो जाती है। जहाँ घाटी सँकडी होती है वहाँ हिमानी भी सिकुड जाती है। केवल यही नही, यदि घाटी की तली ऊबड-खाबड है तो हिमानी की तली भी उसी प्रकार की होगी। यदि घाटी की तलहटी चिकनी और समतल है तो हिमानी भी वैसी ही तलीवाली होगी।

ससारव्यापी हिमानियो के वर्णन मे हम देख चुके हैं कि हिमानी की लम्बाई एक-आध मील से लेकर पचासो मील तक होती है। हिमानी की गहराई भी दस-बीस फीट से लेकर हज़ारो फीट तक होती है। अन्त के भाग मे बहुधा गहराई कम और उत्पत्ति तथा मध्य स्थान मे अधिक होती है। हिमानी का उत्पत्ति के स्थानवाला छोर सदैव ही हिमाच्छादित रहता है। परन्तु विसर्जन के निकटवाले छोर पर हिम जमा रहना स्वाभाविक नही है, यद्यपि अधिकाश ऋतुओ मे और विशेषकर शरद् ऋतु मे यह छोर भी हिमाच्छादित रहता है। नीचे का छोर बहुधा चट्टानो की चूर तथा बालू-मिट्टी आदि से ही अधिकतर ढका हुआ पाया जाता है, यहाँ तक कि नीचे का हिम भी दृष्टिगोचर नही होता।

अधिकाश हिमानी बीच मे ऊँची और किनारो की ओर नीची होती हैं। हिमानी के विषय मे एक विशेष बात ध्यान मे रखने की यह है कि हिमक्षेत्र में (जहाँ से हिमानी का जन्म होता है) जिस वर्ष अधिक तुषारपात होगा उसी वर्ष हिमानी भी आगे बढ़ेगी, यह सत्य नही है। इसका

कारण यह है कि हिमक्षेत्र को बाट के प्रभाव को हिमानी के अगले सिरे तक पहुँचते-पहुँचते वर्षों लग जाते हैं।

हिमानी घाटियों में बहती है और घाटियों के घूम-घुमैले रास्तों में भी उसको बहना पडता है। परन्तु हिम इतनी शीघ्रता से नई स्थिति को ग्रहण नहीं कर पाता। फलस्वरूप कहीं-कहीं हिमानी मे दरारें पड जाती हैं, अर्थात् मुडने के कारण जो दबाव और खिंचाव पडता है उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिमानी फट जाती है। ये दरारें कभी लम्बा-कार, कभी आडी और कभी चौडाई को पार करती हैं। जिस प्रकार आधा पिघला हुआ मोम धीरे-धीरे अपने आप ढाल की ओर बढता है, परन्तु खींचने से टूट जाता है, उसी प्रकार हिमानी भी खिंचाव पडते ही फट जाती है और उसके धरातल पर लम्बी, तिरछी या टेढी दरारें दिखाई देने लगती हैं (दे० पृष्ठ १३२६ का चित्र)।

ये दरारें दबाव पडते ही अदृश्य हो जाती हैं। परन्तु धरातल पर तो दरारो के चिह्न बने ही रहते हैं। दरारों पर जब सूर्य की किरणें पडती हैं तब उनकी धार घुल-घुलकर गोल और चिकनी हो जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि दरार अधिक चौडी हो गई है।

जैसे-जैसे हिमानी घाटी मे बहते हुए नीचे पहुँचती है उस पर आस-पास की चट्टानों के खण्ड इतने अधिक जमा हो जाते हैं कि कहीं-कहीं हिम का धरातल भी दिखाई नहीं देता। चट्टान-खण्ड हिमानी के दोनो किनारों पर अधिक गिरते हैं, क्योंकि ये भाग ही चट्टानों से रगडते चलते हैं। दोनों किनारे इस प्रकार असख्य चट्टान-खण्डो की रेखा लिये आगे बढते हैं। इनमें बडे और छोटे सभी आकार के पत्थर होते हैं। इस प्रकार के ग्लैशियरस्थित रोडे या ककड के ढेर को 'मोरेन' (Moraine) कहते हैं।

जो 'मोरेन' ग्लैशियर के दोनों पार्श्व मे पाये जाते हैं उन्हे 'पार्श्वस्थ' मोरेन (Lateral Moraine) कहते हैं। 'मध्यस्थ' मोरेन वे होते हैं, जो हिमानी के मध्य मे ककड-पत्थरों की रेखा-सी बनाते हैं। जब दो ग्लैशियर मिलते हैं तब उनके भीतरी पार्श्व के मोरेन मिलकर एक हो जाते हैं, परन्तु बाहरी पार्श्व अलग-अलग रेखाएँ बनाये चलते हैं। इस प्रकार दो ग्लैशियरो के सगम से उत्पन्न ग्लेशियर मे एक मध्यस्थ मोरेन बन जाता है। कभी-कभी पार्श्व की घाटियो मे एक से अधिक ग्लै-शियर आकर किसी एक ग्लेशियर मे मिलते हैं। उस दशा मे प्रत्येक नया ग्लेशियर एक मध्यस्थ मोरेन की सृष्टि करता जाता है। एक से अधिक मध्यस्थ मोरेन इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। यह आवश्यक नहीं हैं कि मध्यस्थ मोरेन हिमानी के ठीक मध्य मे ही हों।

अन्त मे ग्लैशियरस्थित रोडे, ककड और पत्थरों का ढेर अर्थात् मोरेन ग्लैशियर के अन्तिम छोर पर पहुँचता है। यहाँ पर हिम गलकर पानी बन जाता है और जल इतना अधिक भार वहन करने मे असमर्थ होने के कारण इस बोझे को धरती पर छोड देता है। प्रत्येक ग्लैशियर के अन्तिम छोर पर ककड-पत्थरो के इस प्रकार के ढेर पाये जाते हैं। इसे 'अन्तिम' मोरेन (Terrminal Moraine) कहते हैं।

ककड-पत्थर के इन ढेरो के अतिरिक्त हिमानी की यात्रा मे आसपास के पर्वतीय ढालो से चट्टानो के बडे-बडे ढोके लुढककर हिमानी पर चढ बैठते हैं और सवारी करते हुए हिमानी के अन्तिम छोर तक पहुँच जाते हैं। अन्त मे जल इनको धरती पर पटककर आगे बढ जाता है। बहुधा ऐसे 'ढोके' ऐसे स्थानों मे पाये जाते हैं जहाँ अधिक दूर तक उस प्रकार की चट्टानो का कोई चिह्न नही होता। ऐसे स्थानो मे इनको देखकर आश्चर्य होता है। यदि इन ढोकों के पास कोई हिमानी आकर समाप्त होती है तब तो इनकी स्थिति समझना कठिन नही है। कभी-कभी शताब्दियों पूर्व के ग्लैशियरों के लाये हुए ढोके ऐसे स्थानों मे मिलते हैं, जहाँ अब हिमानी का पता भी नहीं चलता। उनको देखकर यही बोध होता है कि किसी समय हिमानी उस स्थान तक बहती थी और अब जलवायु अथवा अन्य भौगर्भिक क्रियाओं के फलस्वरूप वहाँ से अदृश्य हो गई है। हिमालय पर्वत के ग्लैशियरो की एक मुख्य विशेषता यह है कि उनका धरातल मोरेन, धूल, मिट्टी, बालू आदि पदार्थों से इस प्रकार तोपा रहता है कि कहीं-कही दूर तक बर्फ का पता नही चलता। काश्मीर के चरवाहे (गडरिये) ग्रीष्म ऋतु मे बहुधा ग्लैशियरों के ऊपर जमे हुए पत्थरो और चट्टानों की चूरचार के धरातल पर अपनी भेडों के झुण्ड सहित पडे रहते हैं। कहीं-कहीं पर ग्लैशियर मे मोरेन का परिमाण इतना अधिक हो जाता है कि बर्फ के स्थान पर पत्थर-ही-पत्थर दिखाई देते हैं। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि पत्थरों के ढेर मे बर्फ मिला दी गई है।

ग्लैशियर पर दोनों पार्श्व के पर्वतो से जो चट्टाने खण्ड-खण्ड होकर गिरती हैं उनका प्रभाव विचित्र होता है। बडे-बडे ककड-पत्थर सूर्य की गर्मी से गरम हो जाते हैं, परन्तु उनके नीचे गरमी नहीं पहुँच पाती। फल यह होता है कि जहाँ

धरातल पर की बर्फ धूप के कारण पिघलती है वहाँ इन पत्थरो के नीचे दबा हुआ हिम पिघलने से बच जाता है। यहाँ तक कि इन पत्थरो के नीचे दबे हुए हिम-भाग को छोड़कर शेष भाग जल बन जाता है और 'हिम के खम्भे', जिनके ऊपर पत्थरो का छत्र रक्खा होता है, ऐसे दिखाई पड़ते हैं मानो प्रकृति ने ही उन्हे गढ़कर खड़े किये हो।

आल्प्स पर्वतमाला की सबसे बड़ी हिमानी—'ग्रेट एलेश ग्लेशियर'
बीच में मोरेन की रेखा दूर तक चली गई स्पष्ट दिखाई पड़ रही है।

ग्लैशियर की तली धीरे-धीरे घुलकर जल मे परिणत होती जाती है। घुलने का कारण ग्लैशियर की तली मे उत्पन्न होनेवाली गर्मी है। यह दो कारणो से उत्पन्न होती है। एक तो हिम और उसके ऊपर के पत्थरो के ढेर के बोझ के कारण और दूसरे घाटी की तली की रगड़ से। हिम के घुलने से जो पानी बनता है, वह कुछ तो हिमानी मे ही बनी जलधाराओ मे बहता हुआ उसके पार्श्व मे बह जाता है अथवा नीचे पहुँचकर हिमानी के अन्तिम छोर पर जलधारा के रूप मे प्रकट होता है।

हिमानी मे अनेको छोटी-बड़ी दरारे, गुफाएँ तथा नालियाँ भी बन जाती हैं। इनमे भी जल भर जाता है। कभी-कभी अधिक शीत होने से यह जल फिर हिम बनकर जम जाता है।
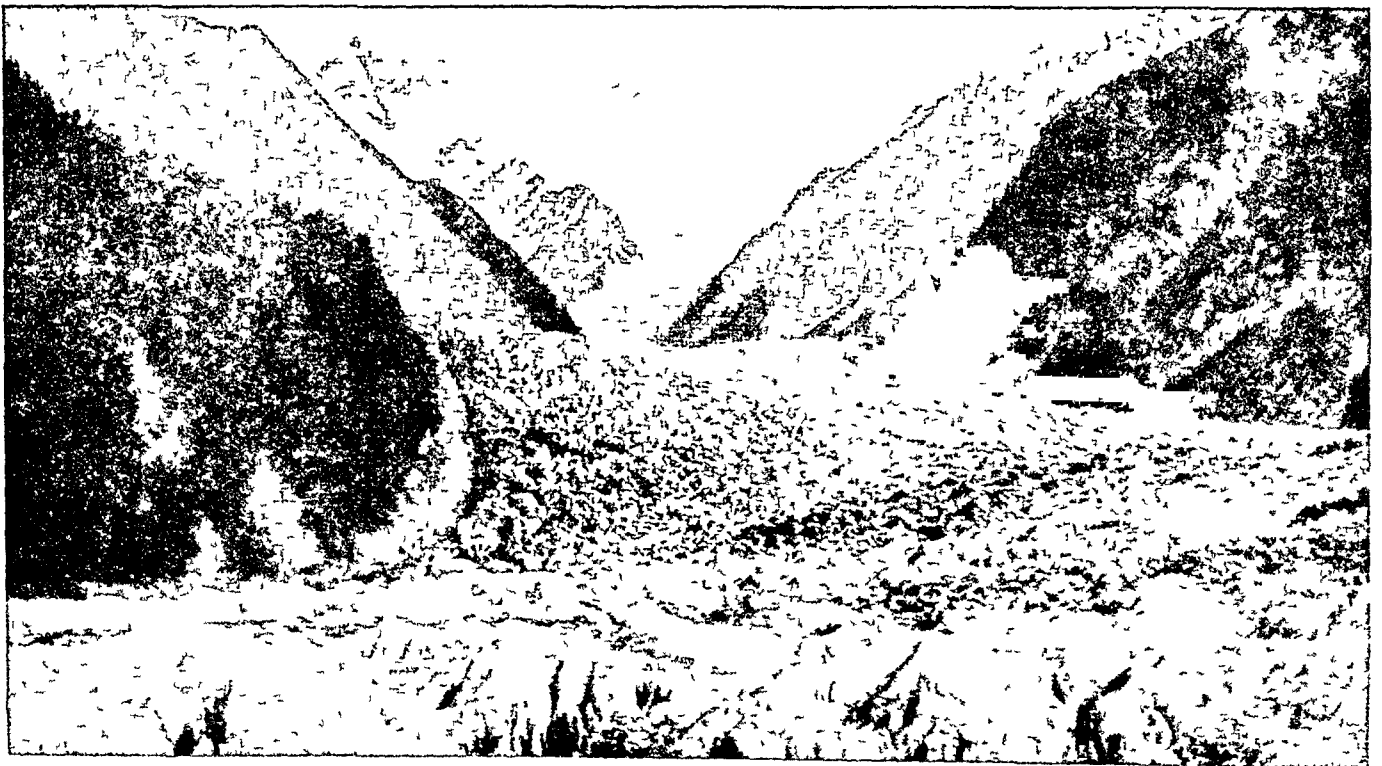
आल्प्स की एक और हिमानी या ग्लेशियर का रोमांचकारी दृश्य

पृथ्वी का नक्शा महाद्वीप और महासागर
आर्कटिक महासागर
ग्रीनलैण्ड
आर्कटिक महासागर
उत्तरी अमेरिका
उत्तरी प्रशान्त महासागर
उत्तरी अटलान्टिक महासागर
एशिया
भारत
अफ्रीका
भूमध्य रेखा
पनामा स्थलडमरूमध्य
दक्षिणी अमेरिका
दक्षिणी अटलान्टिक महासागर
दक्षिणी प्रशान्त महासागर
हिन्द महासागर
ऑस्ट्रेलिया
मेगिलन जलडमरूमध्य
अन्टार्क्टिका
(सफेद भाग ही स्थल भाग है और काला जल भाग)
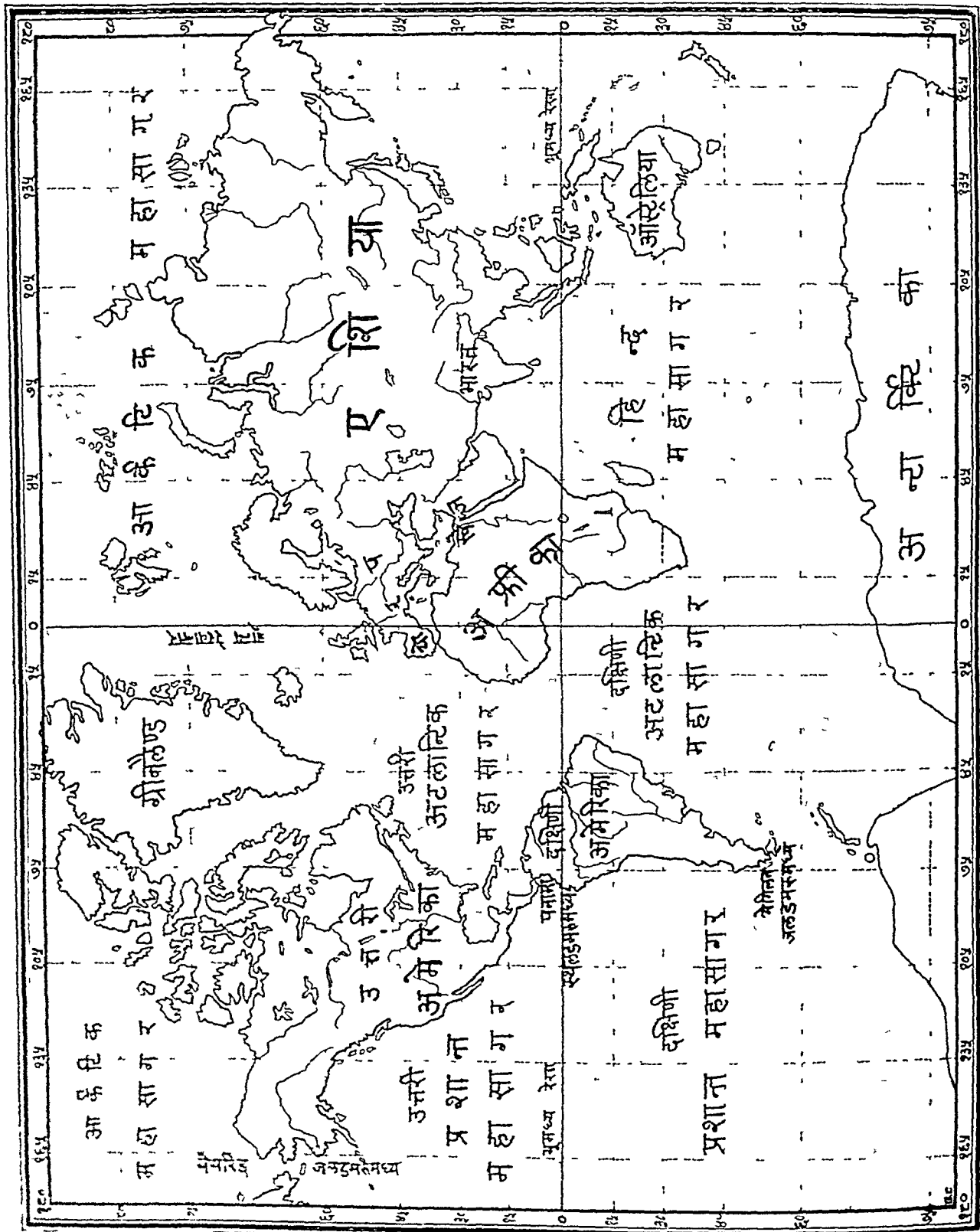
स्थलमण्डल—पुरानी और नई दुनिया

१—प्राकृतिक बनावट

मनुष्य जितना स्थलमण्डल के विषय मे जानता है उतना ज्ञान उसको न जलमण्डल के विषय मे है और न वायुमण्डल के विषय मे। इसका कारण यह है कि स्थलमण्डल ही मनुष्य का निवासस्थान है। जितनी सरलता से वह स्थलमण्डल पर विचरता है उस प्रकार न वह जलमण्डल मे तैर सकता है और न वायुमण्डल मे उड सकता है। इसलिए स्थलमण्डल की प्राकृतिक बनावट के विषय मे मनुष्य ने बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

समस्त पृथ्वी पर स्थलमण्डल का विस्तार लगभग ५५००००००० वर्ग मील के क्षेत्रफल मे है। शेष भाग अर्थात् १४३०००००० वर्ग मील मे जलमण्डल या महासागरों का विस्तार है। अर्थात् समस्त पृथ्वीमण्डल का केवल २६ प्रतिशत भाग जल के बाहर है और शेष ७१ प्रतिशत भाग जलमग्न है।

पृथ्वी के मानचित्र (नक़शा) या ग्लोब के अध्ययन से मालूम होगा कि लगभग सभी जल और स्थलखण्ड विषम त्रिभुजाकार हैं। परन्तु इसमे एक विशेषता यह है कि स्थलखण्डों के त्रिभुजो के आधार उत्तर की ओर हैं और नुकीले भाग दक्षिण की ओर। इसके विपरीत जलखण्डो के त्रिभुजों के आधार दक्षिण की ओर हैं और नुकीले भाग उत्तर की ओर। यही नहीं, और भी एक विशेषता है, और वह यह है कि यदि हम पृथ्वी के केन्द्र से होती हुई कोई सीधी रेखा खीचे और यदि उसका एक सिरा जल को छुए तो दूसरा सिरा अवश्य स्थल को छुएगा और स्थल को छूनेवाली रेखा का दूसरा सिरा जल को छुएगा। अर्थात् पृथ्वी पर जल और स्थल एक दूसरे के ठीक विपरीत ओर स्थित हैं। ऐसे स्थान 'कुदलान्तर' (Antipodes) कहलाते हैं। इस प्रकार आस्ट्रेलिया का महाद्वीप उत्तरी अटलाण्टिक का कुदलान्तर है। अफ्रीका और योरप मध्य प्रशान्त महासागर के कुदलान्तर हैं। इसी प्रकार उत्तरी अमेरिका हिन्द महासागर का कुदलान्तर है। अन्टार्क्टिका का स्थलसमूह आर्कटिक महासागर का कुदलान्तर है।

पृथ्वी के जल और स्थलखण्डो का विषम त्रिभुजाकार होना एक विशेष महत्त्व की बात है और वैज्ञानिकों ने इसका कारण खोज निकालने की चेष्टा की है। इसी खोज के परिणामस्वरूप उस सिद्धान्त की रचना की गई है जिसे 'चतुष्फलक का सिद्धान्त' (Tetrahedral Theory) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण पृथ्वी का ढॉचा चतुष्फलक के समान माना गया है और इसी के कारण पृथ्वी का प्रत्येक जल और स्थलखण्ड विषम त्रिभुजाकार है।

चतुष्फलक उस ठोस आकृति को कहते हैं, जो चार समत्रिबाहु त्रिभुजों के सयोग से बनता है। यदि एक त्रिभुज को आधार मान ले और उसकी तीनों भुजाओं पर तीन अन्य त्रिभुजो को खडा किया जाय और उनको आपस मे जोड दिया जाय तो जो आकृति बनेगी वह चतुष्फलक होगी। कहा जाता है कि हमारी पृथ्वी की आकृति भी ऐसी ही बनती जाती है।

इसका कारण यह है कि पृथ्वी का भीतरी भाग अभी तप्त है और धीरे-धीरे ठण्डा हो रहा है। जैसे-जैसे यह ठण्डा होता जाता है सिकुडता जाता है। परन्तु ऊपर का पृष्ठ तो ठोस और कडा हो गया है, स लिए वह सिकुड नही सकता। फल यह होता है कि भीतर के भाग के सिकुडने से पृथ्वी का घनफल तो कम हो रहा है, परन्तु धरातल का क्षेत्रफल स्थिर ही बना हुआ है। इसलिए पृथ्वी को ऐसी आकृति धारण करनी पड रही है जिसका धरातल बडा होते हुए भी घनफल कम हो। गणितज्ञो के विचार मे गोले की आकृति इसलिए सम्भव नही है कि धरातल के विस्तार के अनुसार गोले का घनफल बहुत अधिक होता है। परन्तु चतुष्फलक का घनफल धरातल के क्षेत्र

फल के अनुसार बहुत कम होता है। अर्थात् यदि एक ही क्षेत्रफल के धरातल के भीतर गोला और चतुष्फलक दोनों रक्खे जायँ तो चतुष्फलक का घनफल गोले के घनफल से बहुत कम होगा। इसलिए विद्वानो का विचार है कि ज्यो-ज्यो पृथ्वी का घनफल (सिकुडने के कारण) कम होता जाता है (और धरातल का क्षेत्रफल स्थिर ही रहता है) त्यो-त्यों वह चतुष्फलक का रूप धारण करती जाती है। परन्तु अभी तक पृथ्वी पूर्णतया चतुष्फलक के रूप को धारण नहीं कर पाई है, बल्कि आजकल यह न गोलाकार है और न पूर्ण चतुष्फलक ही।

समस्त स्थलमण्डल अनेको छोटे-बडे भूखण्डों से मिलकर बना है। इन भूखण्डो को द्वीप और महाद्वीप के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि उनके चारों ओर जल है। पृथ्वी के विशाल स्थलखण्डों के विस्तार का हाल हम पहले बता चुके हैं (देखिए अक १)। हम यह भी बता चुके हैं कि समस्त स्थलमण्डल को दो भागों मे बाँटा जाता है—एक को 'पुरानी दुनिया' कहते हैं, जिसमे एशिया, योरप, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया सम्मिलित हैं, दूसरे भाग को 'नई दुनिया' कहते हैं जिसके अन्तर्गत उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीप आते हैं।

नई दुनिया के विषय मे योरपवासी सन् १४६२ ई० तक पूर्णतया अनभिज्ञ थे। कोलम्बस ने उस वर्ष इन महाद्वीपों का पहले-पहल ज्ञान प्राप्त किया था। इसीलिए योरपवासियों ने इन स्थलखण्डों को 'नई दुनिया' का नाम दे दिया।

विशाल स्थलखण्ड और उनकी बनावट

पुरानी दुनिया कई विशाल स्थलखण्डों से मिलकर बनी है। योरप और एशिया से मिलकर जो महाद्वीप बनता है उसे 'यूरेशिया' कहते हैं। पृथ्वीमण्डल पर 'यूरेशिया' सबसे बडा स्थलखण्ड है। अकेला एशिया खण्ड भारतवर्ष से विस्तार मे दस गुना है और योरप लगभग दुगुना। पृथ्वी के मानचित्र को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यूरेशिया ही मुख्य भूखण्ड है और शेष सब महाद्वीप इसके चारो ओर फैले हुए इसी के छिन्न-भिन्न खण्ड प्रतीत होते हैं।

भूमध्यसागर योरप को अफ्रीका से जुदा करता है, परन्तु दोनों महाद्वीप इस सागर के पश्चिमी भाग मे जिब्राल्टर प्रणाली के निकट एक दूसरे से मिलने की चेष्टा करते हैं। लालसागर का सकीर्ण जलखण्ड एशिया और अफ्रीका को अलग करता है, परन्तु लालसागर के दक्षिणी भाग मे 'बाबुल मण्डब' या 'आँसुओं के द्वार' के स्थान पर ये दोनो भूखण्ड भी एक दूसरे को छूने के लिए उत्सुक दिखाई पडते हैं। उत्तर की ओर स्वेज के पास तो दोनों एक दूसरे से बलपूर्वक अलग किये गये हैं। पिछली शताब्दी मे जब स्वेज की नहर नही बनी थी तब ये दोनों महाद्वीप एक दूसरे से जुडे हुए थे।

पुरानी दुनिया और नई दुनिया भी एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध बनाने के लिए एशिया के उत्तर-पूर्व के कोने मे बेयरिंग जलडमरूमध्य के पास बहुत समीप आ जाते हैं और यदि बीच मे यह हिम और तुषारमण्डित जलखण्ड न होता तो इस स्थान पर एशिया और उत्तरी अमेरिका एक दूसरे से मिल जाते। इस स्थान को छोडकर एशिया और अमेरिका और कही समीप नही हैं। एशिया के पूर्वी तट से अमेरिका का पश्चिमी तट महाविशाल प्रशान्त महासागर के विस्तीर्ण जलमण्डल के कारण सहस्रो मील की दूरी पर है।

आस्ट्रेलिया का विशाल द्वीप एशिया के दक्षिण-पूर्व मे, भूमध्यरेखा के दक्षिण मे, एशिया महाद्वीप से छोटे-छोटे द्वीपो की शृंखला द्वारा बँधा हुआ-सा स्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी दैवी शक्ति ने आस्ट्रेलिया से एशिया तक पहुँचने के लिए विशाल पुल की रचना की थी, जो छिन्न-भिन्न होकर छोटे-बडे द्वीपो के रूप मे अब भी एशिया और आस्ट्रेलिया को एक मे मिलाने की चेष्टा करता है।

अमेरिका एशिया की अपेक्षा योरप और अफ्रीका के अधिक निकट है। प्रशान्त महासागर पार करने की अपेक्षा अटलाण्टिक को पार करने मे कम दूरी चलना होता है।

यदि पृथ्वी के स्थलमण्डल को पूरब से पश्चिम इकट्ठा करने की चेष्टा की जाय तो नई और पुरानी दुनिया एक दूसरे मे इस प्रकार सट जायँगी कि समस्त स्थलमण्डल एक ही भूभाग दिखाई देगा। उत्तरी अमेरिका, ग्रीनलैण्ड और स्केन्डिनेविया सब मिलकर योरप और अमेरिका तथा एशिया को सम्मिलित कर देंगे और दक्षिणी अमेरिका अफ्रीका के पश्चिमी तट से जुड जायगा।

स्थलमण्डल के खण्डो की बनावट देखने से पता चलता है कि इनके किनारे कही-कही तो सीधी रेखा के सदृश बने हैं और कहीं-कहीं बहुत अधिक वक्र और घुमावदार हैं। कहीं-कहीं तो उनमे जल का सकीर्ण भाग स्थल मे घुस गया है और कही स्थल का सकीर्ण भाग दूर तक जल मे चला गया है। कही स्थल दो विशाल जलखण्डो को अलग करता है तो कहीं जल की पतली प्रणाली दो स्थलखण्डों को अलग करती है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि समस्त स्थलमण्डल समतल या सपाट नहीं है। प्रत्येक देश में कहीं पर ऊँचे-ऊँचे पर्वत

हैं, कहीं पर नीचे मैदान। कहीं पर समतल पठार हैं तो कहीं पर रेगिस्तान। कहीं ऊँची-नीची ढालू चट्टानें हैं तो कहीं पर गहरी घाटियाँ। स्थलमण्डल के मानचित्रों में स्थल की ऊँचाई-नीचाई दिखाने के लिए विविध रंगों की सहायता ली जाती है और ऐसे प्रत्येक चित्र के नीचे तालिका में ऊँचाई और रंगों का सम्बन्ध बताया जाता है। स्थलखण्डों की ऊँचाई और नीचाई का अध्ययन करने के पूर्व हम स्थल के प्रधान खण्डों की भूगोल पर स्थिति और उनकी सीमा (तट) की बनावट का अध्ययन करेंगे।

पहले यूरेशिया के विशाल भूखण्ड को लीजिए। यह दो प्रधान महाद्वीप एशिया और योरप से मिलकर बना है। दोनों ही महाद्वीप पृथ्वी के उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित हैं, परन्तु एशिया का विस्तार उत्तर और दक्षिण दोनों ही दिशाओं में योरप से कहीं अधिक है। इसी कारण एशिया का सबसे उत्तरी भाग योरप के किसी भी प्रान्त की अपेक्षा अधिक शीतल है और उसीप्रकार दक्षिणी भाग योरप के किसी भी प्रान्त की अपेक्षा गरम है। एशिया का दक्षिणी भाग उष्ण कटिबन्ध में स्थित है परन्तु योरप का सारा प्रदेश उष्ण कटिबन्ध के बाहर उसके ऊपर स्थित है। एशिया का दक्षिणी भाग, अर्थात् बर्मा और भारतवर्ष, भूमध्य रेखा के जितने समीप है, योरप का कोई भी प्रान्त उतने निकट नहीं है।

योरप के स्थलखण्ड के अध्ययन से प्रतीत होगा कि योरप में एशिया की अपेक्षा जलखण्ड ने अधिक प्रवेश-स्थान प्राप्त कर लिये हैं। यहाँ तक कि योरप के बहुत कम स्थान ऐसे हैं जो सागर से बहुत दूर हों। उसका समुद्रतट बहुत लम्बा, घुमावदार और प्राकृतिक रूप से सुरक्षित बन्दरगाह बनानेवाला है। इसी कारण से योरप-निवासी आदि काल से ही अच्छे मल्लुए और समुद्रयात्री रहे हैं।

यूरेशिया के भूखण्ड को चार महासागर घेरे हुए हैं। इस भूखण्ड में अनेकों प्रायद्वीप हैं, पर स्थलखण्ड के भीतर जलमण्डल की शाखाएँ केवल योरपीय खण्ड में अधिक हैं। अटलांटिक महासागर का ही एक खण्ड
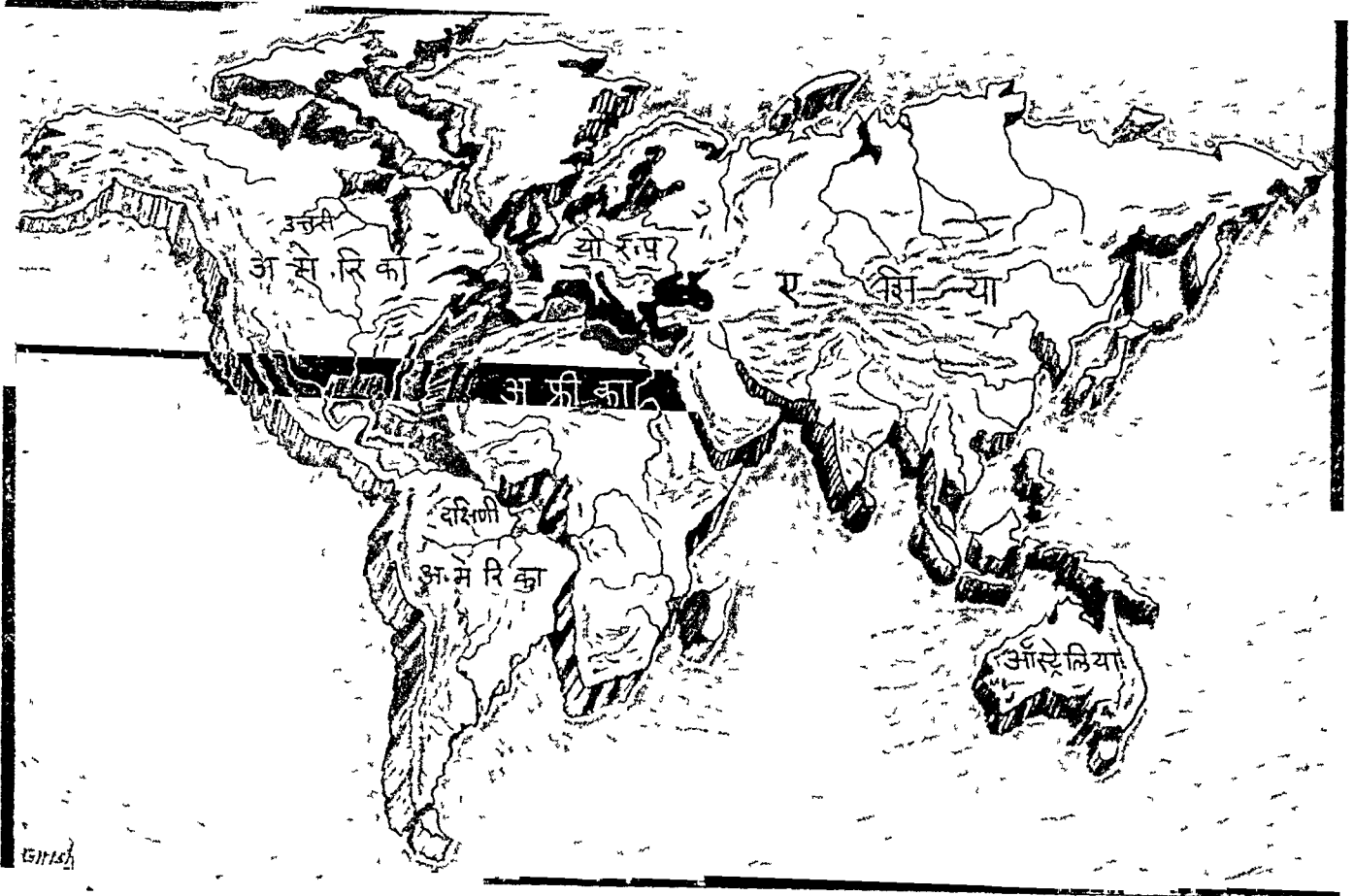
यदि नई और पुरानी दुनिया के भूभाग सटा दिये जायँ तो वे इसी प्रकार मिलकर एक भूभाग बना देंगे। अफ्रीका का उत्तर-पश्चिमी निकला हुआ कंधा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के बीच के खाँचे में ठीक घुस जायगा और इसी तरह दक्षिणी अमेरिका का पूर्वी कोण अफ्रीका के पश्चिमी खाँचे में प्रवेश कर जायगा। इससे कई लोग सोचते हैं कि क्या आरंभ में यह एक ही भूभाग था जो बाद में विलग होकर दो टुकड़े हो गया!

बाल्टिक सागर के रूप में योरप के मध्यस्थलखण्ड मे घुस गया है। इसी महासागर के एक भाग, उत्तरी सागर ने ब्रिटिश द्वीपसमूह को योरप के मुख्य स्थलखण्ड से एकदम अलग ही कर दिया है। योरप के दक्षिण मे भू-मध्य सागर के लम्बे जलखण्ड मे स्थलखण्ड की तीन प्रमुख शाखाएँ घुस गई हैं और अनेकों द्वीपखण्ड बन गए हैं। ये तीन प्रमुख प्रायद्वीप (१) आइबेरियन (जो स्पेन और पुर्तगाल के सयोग से बनता है), (२) इटैलियन (जिसमे सिसिली का द्वीप भी सम्मिलित है), और (३) बालकन (जिसमे ग्रीस के छोटे-छोटे द्वीपखण्ड भी सम्मिलित हैं), के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस जलखण्ड को पूर्वीय भाग मे दर्रे दानियाल या 'डार्डेनल्स' का जल-डमरूमध्य मारमारा सागर से सम्मिलित करता है, और इस छोटे से सागर और काले सागर का सम्बन्ध बासफोरस जलडमरूमध्य के द्वारा होता है। स्थलखण्ड से घिरा केस्पियन सागर (एक विशाल झील) योरप और एशिया की सीमा निर्धारित करता प्रतीत होता है। इस प्रकार योरप की दक्षिणी सीमा (अटलान्टिक से कैस्पियन सागर तक) बराबर टेढी-मेढी और घुमावदार बनी है और लगभग सारी समुद्रतट पर स्थित है। उत्तर मे आर्कटिक महासागर की एक भुजा श्वेतसागर के रूप मे स्थलखण्ड मे प्रवेश कर गई है।

योरप की अपेक्षा एशियाखण्ड बहुत अधिक विस्तीर्ण है। इसका भी बहुत-सा भाग प्रायद्वीपों के रूप मे जल-खण्डों मे घुस गया है, परन्तु इसके विस्तीर्ण क्षेत्रफल की तुलना मे उसका विस्तार बहुत ही कम है। एशिया की बनावट योरप की अपेक्षा अधिक ठोस और जलखण्डरहित है।

एशिया के दक्षिण मे हिन्द महासागर का विशाल जल-खण्ड फैला है जिसमे योरप के समान तीन प्रायद्वीप स्थित हैं। आइबेरियन प्रायद्वीप की समानता के लिए यहाँ पर अरब का प्रायद्वीप है, जिसको तीन सागर घेरे हैं। इन दोनो प्राय-द्वीपो की बनावट एक-सी प्रतीत होती है, क्योकि इनके तट अधिक टेढे-मेढे नही बने हैं। भारत का प्रायद्वीप इटली के प्रायद्वीप के समान है। इटली के सिसिली द्वीप की भाँति लका का टापू इसी का अश है और उत्तर मे आल्प्स पर्वत की तरह यहाँ हिमालय का मुकुट है। पूर्वीय प्राय-द्वीप इडोचीन कहलाता है। बालकन प्रायद्वीप और इडोचीन प्रायद्वीप की बनावट भी एक-सी ही प्रतीत होती है।

एशिया के पूर्वी तट की दो रेखायें बनी प्रतीत होती हैं। एक तो प्रधान भूखण्ड की तट-रेखा और दूसरी द्वीपशृंखला की रेखा, जो पहले तट के सामानान्तर उत्तर से दक्षिणी तट तक फैली हुई है। इन दोनो तटों के बीच मे कई सागर, खाडियाँ और जलडमरूमध्य हैं, जो सब पैसिफिक या प्रशान्त महासागर के ही अश हैं। मलाया प्रायद्वीप की नुक्कड पर रोमानिया अन्तरीप (Cape Romania) का चक्कर लगाकर जब हम उत्तर की ओर मुडते हैं तब हमे सबसे पहले दक्षिणी चीन सागर मिलता है। स्याम की खाडी और टागकिंग की खाडी इसी दक्षिणी चीन सागर के जलाश हैं। दक्षिणी चीन सागर पैसिफिक महा-सागर का ही अश है, परन्तु बोर्नियो और फिलिपाईन द्वीपसमूहो ने इसको मुख्य जलाश से पृथक् कर दिया है। दक्षिणी चीन सागर से उत्तर की ओर जाने पर हमे फारमूसा का जलडमरूमध्य मिलता है, जो फारमूसा द्वीप को चीन के स्थलखण्ड से पृथक् करता है। इस जलडमरूमध्य को पार करने पर हम पीले सागर मे घुस जाते हैं। पीला सागर स्थलखण्ड के भीतर घुसा प्रतीत होता है। कोरिया का प्रायद्वीप और जापान का सबसे दक्षिणी द्वीप इसको घेरे हुए हैं और मुख्य जलाश से मिलने मे इसके लिए बाधक हैं। पीले सागर और योरप के उत्तरी सागर की स्थिति एक-सी प्रतीत होती है। पेचिली की खाडी पीले सागर का अन्तरतम भाग है। इस जलाश को दो छोटे प्रायद्वीप जबडों की भाँति पकडे हुए हैं।

कोरिया जलडमरूमध्य के आगे हमे जापान सागर मिलता है, जो एक ओर मुख्य एशिया महाखण्ड और दूसरी ओर जापान द्वीपसमूह की दो दीवालों के बीच मे बन्द प्रतीत होता है। इस सागर के उत्तर मे तारतारी की खाडी और जलडमरूमध्य से होकर हम शीतल ओखटस्क सागर मे पहुँच जाते हैं, जो बेयरिंग सागर के ठडे जल से कमचटका के प्रायद्वीप द्वारा पृथक् हो गया है।

योरप और एशिया का उत्तरी तट आर्कटिक महा-सागर पर स्थित है और सबसे कम महत्त्व का है, क्योकि यहाँ का जल सदैव हिममडित रहता है। इस तट की बनावट भी अधिक घुमावदार या कटी-पिटी नही है, वरन् सरल रेखा के समान है। इस ओर के सागरतट के विषय मे लोगो का ज्ञान भी बहुत कम है, क्योंकि यहाँ पर न कोई बन्दरगाह है और न कोई जलयान ही बर्फ से ढके जल मे जाने की हिम्मत करता है।

आइए, यूरेशिया की बनावट के तट के अध्ययन के पश्चात् हम अफ्रीका महाद्वीप की सीमा का अध्ययन करे। यह विशाल ठोस स्थलखण्ड भूमध्यरेखा के उत्तर और

दक्षिण दोनों ही ओर फैला हुआ है। उसका सबसे उत्तरी भाग लगभग उसी अक्षांश पर स्थित है जिस पर काश्मीर का एकदम उत्तरी भाग। उत्तरी भाग का अन्तिम छोर भूमध्यरेखा से जितने अंश उत्तरी अक्षांश में है दक्षिणी भाग का अन्तिम छोर उतने ही अंश दक्षिण अक्षांश में है। इसका मोटे विशाल कंधे के समान एक स्थल अंश पश्चिम में अटलांटिक महासागर में घुसा हुआ है और एक नोकीला अंश हिन्द महासागर में घुसकर दक्षिण में एक लम्बा-चौड़ा गोल प्रायद्वीप बनाता है।

भूमध्यसागर का जलखण्ड इस स्थलखण्ड को योरप से पृथक् करता है। इसका आकार भारतवर्ष के आकार से मिलता-जुलता है। लंका के टापू के सदृश इसके साथ भी मेडागास्कर द्वीप जुड़ा हुआ है। इसका तट योरप और एशिया के समुद्रतटों की अपेक्षा बहुत सीधा बना है। दक्षिण अमेरिका और आस्ट्रेलिया के समुद्रतटों जैसा इसका समुद्रतट है। पश्चिमी किनारे पर गिनी की चौड़ी खुली खाड़ी है। उत्तर में ट्रिपोली की खाड़ी और पूर्वी तट पर अदन की खाड़ी है। यह हिन्द महासागर का ही अंश है। तट से दूरी पर स्थित द्वीपों में मेडागास्कर ही प्रसिद्ध बड़ा द्वीप है, और सब द्वीप छोटे तथा नगण्य हैं।

योरप और एशिया की भाँति इसके तट पर न अधिक जलडमरूमध्य हैं और न अनेक प्रायद्वीप।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थित है। आस्ट्रेलिया (Australia) शब्द का अर्थ दक्षिणी देश (Southern Land) है। इस देश का नाम योरपवालों ने आस्ट्रेलिया इसी कारण रक्खा है कि इसका विस्तार दक्षिणी गोलार्द्ध में है। विषुवत् रेखा के जिन उत्तरी अक्षांशों में भारतवर्ष फैला हुआ है लगभग उन्हीं अक्षांशों में दक्षिण में आस्ट्रेलिया स्थित है। फ्रीमैण्टिल नामक बन्दरगाह भारत के सबसे निकट है। यह कोलम्बो के दक्षिण-पूर्व में ३३०० मील दूर है। इस विशाल द्वीप की आकृति और तट-रेखा बहुत ही सरल है।

उत्तरी तट पर कारपेंटेरिया की खाड़ी है, जिसके पश्चिम और पूर्व दोनों ओर प्रायद्वीप हैं। पश्चिमी प्रायद्वीप बड़ा और चौड़ा है और पूर्वी छोटा और नुकीला। दक्षिण में समुद्र स्थल के भीतर घुसकर ग्रेट आस्ट्रेलियन बाईट (The Great Australian Bight) नामक चौड़ी खाड़ी बनाता है। इसी के दो अंश स्पेन्सर की खाड़ी और सेण्ट विंसेण्ट की खाड़ी के रूप में स्थल में दूर तक घुस गए हैं। दक्षिण में तस्मानिया का द्वीप है, जिसको बास (Bass) जलडमरूमध्य मुख्य स्थल से पृथक् करता है। यहाँ भी जल की एक शाखा स्थल में घुस गई है और पोर्ट फिलिप के पास अच्छी खाड़ी बनाती है, जिससे मेलबोर्न के प्रसिद्ध बन्दरगाह का महत्त्व है। आस्ट्रेलिया भी अफ्रीका की भाँति ठोस भूखण्ड प्रतीत होता है। इसका तट भी टूटा-फूटा नहीं है, जिसमें जल की शाखाएँ घुसकर जहाज़ों के लिए स्थल में दूर तक घुस आने का मार्ग बना सकें। समुद्रतटीय प्रदेश को छोड़कर शेष भाग समुद्र से दूर हैं।

आस्ट्रेलिया का पूर्वी तट अन्य भागों से थोड़ा अधिक टूटा-फूटा है। पूर्वी तट की एक और विशेषता है, जो संसार के किसी भी महाद्वीप के तट में नहीं पाई जाती। वह विशेषता यह है कि इस तट के निकट ही मूँगे की भीत (Coral Reef) बहुत दूर तक पाई जाती है। इस भीत की लम्बाई १२०० मील के लगभग है और यह उत्तरी-पूर्वी तट से २५-३० मील दूर है। कहीं-कहीं इस भीत के कुछ अंश इतने ऊँचे हो गए हैं कि जल के बाहर वे मूँगे के टापू के रूप में निकल आए हैं।

आस्ट्रेलिया संसार का सबसे छोटा महाद्वीप है। इसका क्षेत्रफल एशिया महाद्वीप के क्षेत्रफल का केवल छठवाँ भाग ही है। इस विशाल द्वीप के पूर्व में दो महत्त्वपूर्ण द्वीप और है, जो न्यूजीलैण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। न्यूजीलैण्ड आस्ट्रेलिया द्वीप खण्ड से बिलकुल पृथक् है। इसके दोनों द्वीप उत्तर-दक्षिण में कुक जलडमरूमध्य के द्वारा अलग होते हैं। दोनों द्वीप मिलाकर भी इनका क्षेत्रफल आस्ट्रेलिया के क्वीन्सलैण्ड से भी कम है। इन द्वीपों का तट आस्ट्रेलिया के समुद्रतट से सर्वथा भिन्न है। इसमें स्थान-स्थान पर सागर की शाखाएँ स्थल में घुस आई हैं।

इटली को यदि उल्टा लटकाया जाय तो उसकी आकृति न्यूजीलैण्ड से बहुत-कुछ मिलती-जुलती होगी। उत्तरी द्वीप में प्लैंटी की खाड़ी तथा पूर्व में हाक की खाड़ी महत्त्व की हैं।

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के दोनों महाद्वीपों का सम्मिलित नाम 'नई दुनिया' है। ग्लोब में भारतवर्ष के एकदम पीछे नई दुनिया का विस्तार है। भारत के मध्य में ८०° पूर्व अक्षांश की रेखा है और उत्तरी अमेरिका के मध्य में १००° पश्चिमी अक्षांश की। अर्थात् इन दोनों के बीच आधा भूगोल स्थित है।

नई दुनिया के दोनों महाद्वीपों की आकृति बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। दोनों के उत्तरी भाग चौड़े हैं और दक्षिणी भाग नुकीले हो गए हैं। उत्तरी अमेरिका का तट

अधिक टूटा-फूटा है और स्थल में अनेकों स्थान पर जल-शाखाएँ प्रवेश कर गई हैं। दक्षिणी अमेरिका के तट में सागर के बहुत कम अंश स्थल में पहुँच पाये हैं।

उत्तरी अमेरिका के उत्तरी तट पर हडसन की विशाल खाड़ी है, जो ठण्डे आर्कटिक महासागर से उत्तर में और अटलांटिक महासागर से दक्षिण में सम्बन्धित है। पूर्वीय तट पर सेण्ट लारेंस की खाड़ी है, जिसका कुछ अंश न्यूफाउण्डलेंड तथा नोवास्कोशिया के टापुओं से बन्द हो गया है। लेब्राडर के विशाल प्रायद्वीप के कारण हडसन की खाड़ी और सेण्ट लारेंस की खाड़ी पृथक् हो गई हैं। दक्षिण में स्थल का एक अंश फ्लोरिडा प्रायद्वीप के रूप में अटलांटिक महासागर में दूर तक चला गया है और महासागर के जल को मेक्सिको की खाड़ी के रूप में प्रधान जलखण्ड से अलग करता है। मेक्सिको की खाड़ी को दक्षिण में यूकातान (Yucatan) प्रायद्वीप ने बन्द कर रक्खा है। इन दोनों प्रायद्वीपों के बीच में क्यूबा का मुख्य द्वीपखण्ड है। मेक्सिको की खाड़ी किसी भयानक पशु के मुख के समान प्रतीत होती है। फ्लोरिडा और यूकातान प्रायद्वीप दो जबड़ों की भाँति खुले हुए हैं और क्यूबा तथा उसके पूर्व की द्वीपशृंखला लम्बी जीभ के समान है जिसकी नोक दक्षिणी अमेरिका के तट को छूती प्रतीत होती है।

आर्कटिक महासागरवाला तट बहुत अधिक टूटा-फूटा है। हडसन की खाड़ी के उत्तर में असंख्य प्रायद्वीप, जलडमरूमध्य और द्वीपखण्ड हैं।

बेफिन की खाड़ी, बैफिन लैण्ड, हडसन का जलडमरूमध्य आदि ध्यान देने योग्य हैं। बैफिन की खाड़ी ग्रीनलैण्ड के विशाल टापू को अमेरिका के स्थलभाग से पृथक् करती है। ग्रीनलैण्ड का विशाल द्वीप एकदम शीत कटिबन्ध में है और अधिकांश हिमाच्छादित है। उत्तरी तट के अन्य छोटे-छोटे टापू भी अधिकतर हिमाच्छादित हैं और मनुष्य के उपयोग के नहीं हैं। इनमें से बहुत-से तो ऐसे हैं जिनके विषय में अभी तक मनुष्य सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

पश्चिमी तट का उत्तरी भाग भी बहुत टूटा-फूटा है और द्वीपों की शृंखला के कारण जल की पतली लम्बी शाखाएँ दूर तक स्थल में चली गई प्रतीत होती हैं। द्वीपों की भीत के कारण मुख्य स्थलखण्ड और द्वीपखण्ड के बीच जलयानों के लिए बहुत सुरक्षित मार्ग है। वैंकोवर इन सब द्वीपों में प्रधान है। पश्चिमी तट के दक्षिणी भाग में कैलिफोर्निया का प्रायद्वीप लम्बे-पतले स्थलखण्ड के रूप में कैलिफोर्निया की खाड़ी द्वारा प्रधान स्थलखण्ड से पृथक्-सा हो गया है।

उत्तरी अमेरिका की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस स्थलखण्ड के भीतर अनेकों छोटे-छोटे जलखण्ड झीलों के रूप में फैले हैं। इनमें से अधिकतर सभी झीलों का जल मीठा है। इन झीलों में सबसे बड़ी झीलें सुपीरियर मिचिगन, हूरन, ऐरी और ओन्टेरियो हैं, जिनमें संसार भर की झीलों का आधे से अधिक जल भरा है। सुपीरियर मीठे पानी की संसार भर में सबसे बड़ी झील है। इसी प्रकार की नौ अन्य झीलें हैं, जिनमें से प्रत्येक १०० मील से भी अधिक लम्बी है। ये झीलें महाद्वीप के उत्तरी भाग ही में पाई जाती हैं, दक्षिण में नहीं।

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीपों का सम्बन्ध मेक्सिको के नुकीले भाग के अन्त में पनामा के स्थलडमरूमध्य द्वारा होता है। पनामा और मेक्सिको के बीच की सँकड़ी स्थल की पट्टी मध्य अमेरिका कहलाती है। पनामा के स्थलडमरूमध्य को काटकर आजकल पनामा की नहर बनाई गई है। यह नहर पूर्व के कैरिबियन सागर के द्वारा अटलांटिक महासागर और पैसिफिक महासागर को सम्बन्धित करती है। कैरिबियन सागर दक्षिणी अमेरिका महाद्वीप द्वारा दक्षिण में, पश्चिमी द्वीपसमूह के द्वारा उत्तर में तथा मध्य अमेरिका द्वारा पश्चिम में घिरा हुआ है। पश्चिमी द्वीपसमूह धनुषाकार रूप में फैला है।

दक्षिणी अमेरिका का आकार समकोण त्रिभुज के समान है। इस त्रिभुज का आधार पैसिफिक महासागर है और उत्तरी और दक्षिणी अटलांटिक दो अन्य भुजाएँ। संकीर्ण पनामा स्थलडमरूमध्य द्वारा यह मध्य अमेरिका से जुड़ा है। इस महाद्वीप के तट में भी बहुत कम स्थानों पर सागर स्थल के भीतर दूर तक घुस पाया है। दक्षिण में पैसिफिक महासागर के तट पर अनेकों छोटे-छोटे द्वीप हैं, जो सम्भवत. स्थल के जलमग्न हो जाने के अवशेष चिह्न हैं। इन द्वीपों में सबसे बड़े का नाम टेरा डेल फ्यूगो है। इस द्वीप और प्रधान स्थलखण्ड के बीच में सँकड़ा लम्बा मैगिलन नामक जलडमरूमध्य है, जो बहुत ही टेढ़ा-मेढ़ा है और जिसका पार करना अब तक बड़े ही दुस्साहस का कार्य समझा जाता था। पुर्तगाल के मैगिलन नामक नाविक यात्री ने इसमें होकर सर्वप्रथम यात्रा की थी। इसीलिए उसके नाम पर इस जलडमरूमध्य का नाम रख दिया गया। आस्ट्रेलिया या अफ्रीका महाद्वीपों की अपेक्षा दक्षिणी अमेरिका की स्थिति भूमध्यरेखा के अधिक दक्षिण में है और इसका पश्चिमी तट उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट से भी अधिक पूर्व में है।

अन्नपूर्णा-भंडार पत्ती की कहानी—(२)

वाष्प-त्याग

पौधों मे सारी क्रियाएँ नियमानुकूल और प्रबन्ध से होती हैं। इनका कोई अग निरतर जल पम्प करता रहता है (चि० १), कोई उसे ऊपर ले जाता है, कोई अनावश्यक वस्तुओ का त्याग करता है, कोई भोजन की रचना करता है, कोई उपार्जित वस्तुओ को इनके प्रत्येक अग मे पहुँचाता है, कोई कोठार का काम देता है और कोई सन्तान उत्पन्न कर उसे प्रयोजनीय साज-सामग्री सहित ससार के रणक्षेत्र मे प्रस्तुत करता है। साराश यह कि इनके अग-अग की लीला रहस्यमय और आश्चर्यजनक है।

अन्य जीवो की भाँति पौधो मे भी आहार और जनन प्रधान कार्य्य हैं। आहार से प्रत्येक प्राणी सजीव रहता है और उसके अग बढते हैं। इसी से उसे काम-काज के लिए शक्ति मिलती है। जनन से जीवों का वश चलता है। इस समय हम आपका ध्यान पौधो के आहार की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

पौधो में कौन-कौन तत्त्व होते हैं ?

सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि पौधों की ख़ूराक क्या है? यह प्रश्न हमारा ध्यान जीवनमूल की ओर ले जाता है, क्योकि, जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, प्रत्येक पौधा कोशो का समूह है, जो जीवनमूल और उसके द्वारा उपार्जित वस्तुओ से बने हैं। इससे स्पष्ट है कि पौधों की ख़ूराक मे अधिक भाग उन्ही वस्तुओ का होगा जिनसे जीवनमूल बना है।

चित्र १—मूल दबाव
इस चित्र में पौधे को काटकर ठूँठ को मूल दबाव-मापक यंत्र (मैनोमीटर) से रबड की नली द्वारा जोड दिया गया है। मूल दबाव के कारण ठूँठ से रस रसकर जल मैनोमीटर में आता है और दबाव पारे पर पडता है (चित्र—मि० शमसुद्दीन अहमद)।

विश्लेषण से पता लगता है कि जीवनमूल मे कार्बन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, गधक और फास्फोरस होते हैं। अतः प्रत्येक पौधे मे इनका पहुँचना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त पौधो के तन्तुओ की जाँच से पता लगता है कि इनमे कुछ अश लोहा, कैल्शियम, सिलिकन, जस्ता, बोरन और क्लोरीन का भी रहता है। इन सारी वस्तुओ मे कार्बन प्रधान है। पौधो के अग इसी वस्तु के अधिकाश सयोग से बने हैं।

कार्बन की पौधो को बहुत बडी मात्रा मे आवश्यकता रहती है। इसे वे अपनी पत्तियो द्वारा वायुमडल से कार्बोनिक ऐसिड गैस के रूप मे ग्रहण करते हैं। यदि हम पौधो को ऐसी वायु मे रक्खे जिसमे कार्बोनिक ऐसिड गैस न हो तो वे जीवित नही रह सकते। इस प्रकार वायु के उस अश को जो हमारे लिए हानिकारक है पौधे ग्रहण करते हैं।

वायुमडल के दस हज़ार भाग मे लगभग तीन भाग कार्बोनिक ऐसिड गैस के रहते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि इतनी सूक्ष्म मात्रा मे होने पर भी इसी गैस का कार्बन वनस्पति-जगत् का मुख्य आहार है। परन्तु पृथ्वी के चारो ओर का वायुमडल इतना वृहत् है कि यद्यपि उसमे इतना कम कार्बन है फिर भी यदि ससार की सारी वनस्पतियो का कार्बन तौला जाय तो भी वह वायु के कार्बन से बहुत कम निकलेगा।

कार्बोनिक ऐसिड गैस मे दो भाग ऑक्सीजन और एक भाग कार्बन होता है। इसलिए पत्तियो द्वारा पौधो मे न केवल कार्बन बल्कि ऑक्सीजन भी पहुँचता है। फिर भी इनमें ऑक्सीजन का अधिकाश भाग जल से ही, जिसे पौधे मूलरोमो द्वारा शोषण करते हैं, आता है।

जैसा आप पहले ही देख चुके हैं, पौधे की जड़े पृथ्वी के अन्दर, जहाँ उनके चारो ओर जल और नमको के घोल होते हैं, पसरी रहती हैं। यहाँ से वे मूलरोमो द्वारा जल और आवश्यक घोलो का शोषण करती हैं(अ० ६ पृ० ६६८-६६६)। क्रमश. ये घोल निस्सरण द्वारा मूलरोमों से वल्क के कोशो मे और फिर अन्त मे काष्ठ में प्रवेश करते हैं। अब हमे यह विचार करना है कि यहाँ से जल और उसमे घुले नमक पत्तियो तक किस प्रकार पहुँचते हैं?

चित्र २—दाहिनी ओर बेलजार के अदर एक गमले में लगा पौधा रक्खा है और बाईं ओर बेलजार के अदर खाली गमला रक्खा है। बेलजार इस प्रकार रक्खे है कि उनमे वायु इधर-उधर नहीं आ-जा सकती। वाष्प-त्याग द्वारा पौधे से निकला जल बेलजार की ठंढी सतह पर जमा हो जाता है, इसलिए दाहिनी ओर के बेलजार पर जल की बूँदे दिखाई दे रही हैं, परन्तु बाईं ओर का बेलजार साफ है। (फो०—मि० श० अहमद)।

वाष्प-त्याग

आपने अक्सर देखा होगा कि यदि पौधों को आवश्यकतानुसार जल न मिले तो वे मुर्झाने लगते हैं। इसका कारण यह है कि जो जल पौधो मे जडो द्वारा आता है, उसके अधिकाश भाग का पत्तियो द्वारा वायु मे त्याग होता रहता है। वैसे तो हमे इस क्रिया का पता नही चलता परन्तु विधिवत् जाँच करने से हम इसे भली भाँति देख सकते हैं।

एक छोटा गमला, जिसमे गुलमेहदी, अजूबा या कोई दूसरा ऐसा ही बूटा लगा हो, लेकर भली भाँति मोमजामे से लपेट दीजिए, ताकि पौधे को छोड़ गमले का कोई भाग खुला न रहे। गमले को एक शीशे पर रखकर साफ बेलजार से ढक दीजिए। बेलजार और शीशे के बीच की दरार को भली भाँति वेसलीन या पिघले मोम से बद कर दीजिए, ताकि उससे छनकर वायु न आ-जा सके। साथ में इसी प्रकार एक खाली गमले को दूसरे बेलजार से ढक कर रख दीजिए। आठ-दस घटे बाद आप देखेंगे कि जिस गमले में पौधा लगा है उसके ऊपर ढके बेलजार मे अन्दर की ओर पानी की बूँदे जमा हो गई हैं, परन्तु दूसरा बेलजार बिल्कुल साफ है (चि० २)। इससे यह परिणाम निकलता है कि बेलजार पर जमा

जल की बूँदे पौधे से ही आई। मगर फिर बात क्या है कि साधारण अवस्था मे पौधो से जल निकलता दिखाई नही देता? यथार्थ मे पौधों से जल बराबर निकलता रहता है, परन्तु वायु मे तरी की कमी होने के कारण यह जल वाष्प रूप मे ही रहता है। पौधे को बेलजार से ढक देने से उसके अन्दर का वायुमण्डल धीरे-धीरे सप्तृक्त हो जाता है और इसलिए जब वह अधिक जल ग्रहण नही कर सकता तब पौधे से वाष्प-रूप मे निकला जल बेलजार की ठढी सतह पर जमा हो जाता है। जल-त्याग की सुविधा के लिए पौधों मे करोड़ो रध्र होते हैं। किसी-किसी पौधे मे साधारण रध्र के अतिरिक्त विशेष प्रकार के रध्र या हाइडैथोड्स (Hydathodes) होते हैं, जिनसे जल-त्याग मे सुगमता रहती है। यदि ऐसे पौधो को उपरोक्त
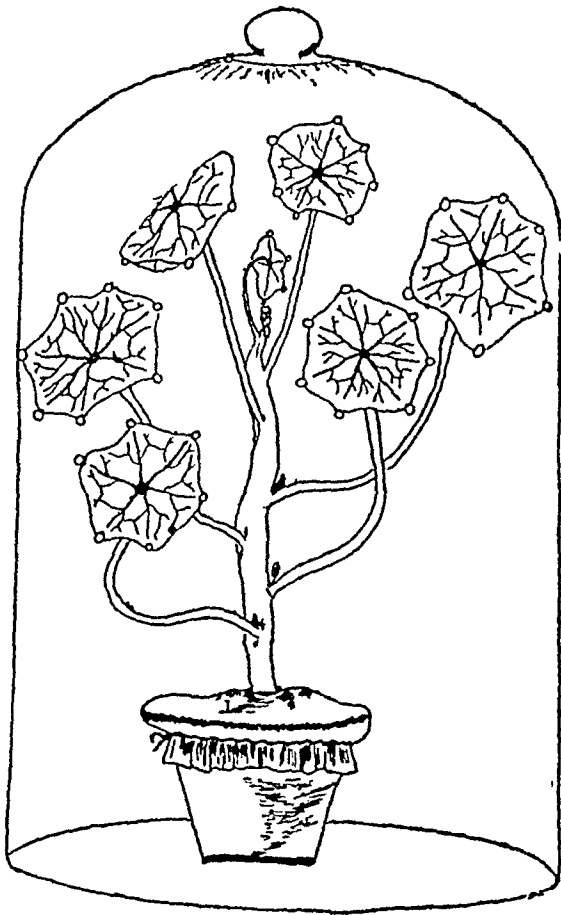
चि० ३—नागकेसर के पौधे को बेलजार से ढककर इस प्रकार रक्खा गया है कि वायु इधर-उधर नही आ सकती। पौधे की पत्तियों से वाष्प-त्याग द्वारा जल निकलता है और धीरे-धीरे बेलजार के अंदर का वायुमंडल संपृक्त हो जाता है। हाइडैथोड्स पर अब नन्हीं-नन्ही बूँदें जमा हो गई हैं। यह जल पत्ती से ही निकलकर आया है (चि०—मि० श० अहमद)।
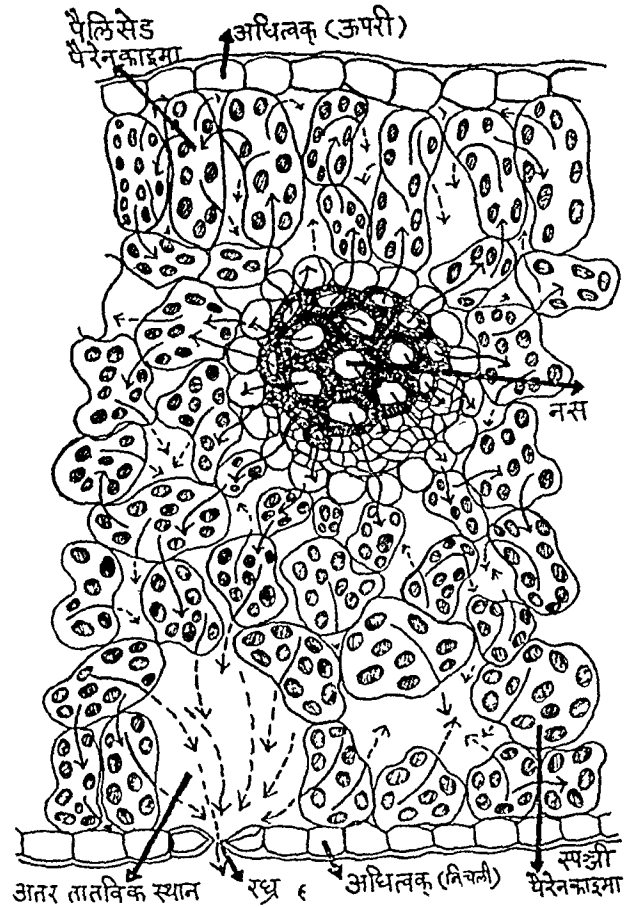
चि० ४—यह पत्ती के आडे कत्तल का मानचित्र है। इस चित्र में जिस प्रकार नसों से जल अन्य तंतुओं में होता हुआ अन्तर-तान्तविक स्थानों में और फिर इनसे रंध्र द्वारा बाहर वायु में निस्सरित होता है, हलके तीरों से दिखाया गया है।

विधि से बेलजार के अन्दर रक्खा जाय तो इन छिद्रों पर जल की नन्ही-नन्ही बूँदे दिखाई देगी (चि० ३)।

वाष्प-त्याग द्वारा पौधो में होकर करोडो मन पानी वायु मे जाता है। अनुमान से पता लगता है कि एक एकड़ गेहूँ के पौधो से प्रतिदिन लगभग ७४२० मन जल वायु मे आता है। एक विशेष जाति की घास से इतने ही समय मे लगभग उसके वज़न बराबर जल वाष्प-त्याग द्वारा निकलता है। हिसाब लगाकर देखा गया है कि ऐसी घास से प्रति एकड प्रति दिन प्रायः २६६८ मन जल वायु मे आता है। इसी प्रकार एक सूर्यमुखी के पौधे से, जिसकी पत्तियो का पृष्ठतल प्रायः ३२ वर्ग फीट था, दिन भर मे लगभग आध सेर जल निकलता पाया गया है। एक ज़ोरदार करमकल्ला के खेत से इस क्रिया द्वारा प्रति एकड सौ-सवा सौ मन पानी हवा मे आता मिला है। इन उदाहरणों से आप अनुमान कर सकते हैं कि पेड-पौधे

वाष्प-त्याग द्वारा न-जाने कितना जल वायु में त्यागते रहते हैं।

अब सवाल यह होता है कि पत्तियों से यह जल किस प्रकार बाहर आता है ?

जैसा अभी कह चुके हैं, जडों से सञ्चित जल पत्तियो मे पहुँचता है और वहाँ से वह बाहर निकलता है। जब कभी जल जितनी शीघ्रता से प्रवेश करता है उतनी शीघ्रता से बाहर नहीं हो पाता तब पत्ती के कोश फूले रहते हैं और पानी का कुछ अश कोश-भित्तिकाओं से निस्सरित होकर उनसे बाहर अन्तर-तान्तविक स्थानों मे पहुँचता है। परिणाम यह होता है कि वहाँ का वायु वाष्प से सपृक्त हो जाता है। जब कभी वायुमडल की तरी अन्तर-तान्तविक स्थानो की तरी से कम होती है, जैसी अवस्था प्राय. सदैव ही बनी रहती है, तो वहाँ का जल वाष्प-रूप मे रध्रों से होकर बाहर निस्सरित होता है (चि० ४)। इस प्रकार पत्तियो से जल या तो बराबर वाष्प-रूप मे निकलता रहता है या कभी-कभी, वायुमडल के ताप और दबाव के अनुकूल होने से, पत्ती पर जमा हो जाता है। पौधो की पत्तियो से वाष्प-रूप मे बाहर जल निकलने की क्रिया को वाष्प-त्याग (Transpiration) कहते हैं।

कभी-कभी रध्रों से न होकर अधित्वक् से सीधे वाष्प-रूप मे जल बाहर आता है। चूँकि यह जल चर्मोज से बाहर आता है इसलिए इसे चर्मोज-जनित वाष्प-त्याग कहते हैं।

वाष्प-त्याग पर बाहरी प्रभाव

यदि और सब बाते समान हो तो ज्यों-ज्यों ताप अधिक होगा वाष्प-त्याग बढता जायगा, परन्तु यह अवस्था एक विशेष ताप तक ही होगी, क्योंकि बहुत अधिक ताप होने से पौधे की जीवन क्रियाओं मे बाधा पडने लगती है। ताप कम होने पर, वाष्प-त्याग धीमा पड़ जाता है। प्रकाश मे साये से अधिक वाष्प-त्याग होता है और दिन में रात से अधिक। जब वायु प्रचड चलती रहती है तब भी अधिक वाष्प-त्याग होता है।

जल-शोषण और जल-त्याग की तुलना

जितना जल शोषण-क्रिया से पौधों में आता है प्राय. उतना ही वाष्प-त्याग द्वारा पत्तियो से बाहर भी निकलता रहता है। इस कथन को हम प्रयोगो द्वारा प्रमाणित कर सकते हैं।

एक चौडे मुँह की बोतल मे पानी भरकर काग लगा दीजिए। काग मे दो छेद करके उनमे से एक मे उसके अनुकूल जामुन, टिकोमा या किसी अन्य साधारण पौधे की टहनी घुसेड दीजिए और दूसरे मे एक ब्यूरेट (चि० ५)। ब्यूरेट और टहनी के निचले सिरे पानी मे डूबे होने चाहिए। काग के छेद ऐसे होने चाहिए कि जिसमे टहनी और ब्यूरेट ढीले न रहे। फिर भी वाष्प-त्याग के प्रयोगों मे इनके इर्द-गिर्द पिघला मोम या कोई अन्य वस्तु लगाकर छेद बद कर देना चाहिए, ताकि वायु का मार्ग न रहे।

चि० ५—इस चित्र में पत्तियो द्वारा वाष्प-त्याग से जो जल वायु मे जाता तथा जिस जल का टहनी में होकर शोषण होता है उन दोनों की तुलना की गई है। (चि०-मि० श० अहमद)

डाली को पौधे से काटते समय उसे नवाकर पानी के अन्दर काटना चाहिए ताकि शाख से अलग होने पर उसका कटा सिरा पानी में डूबा रहे। बोतल को तराज़ू पर रखकर, ब्यूरेट मे जल भरकर, ऊपर से दो-चार बूँद तेल डालकर बोतल का वजन और ब्यूरेट मे जल की सतह नोट कर लीजिए (चि० ५)। पानी के ऊपर तेल डालने का मतलब यही है कि जिसमें ब्यूरेट से पानी भाप बनकर वायु मे न जा सके।

कुछ समय बाद आप देखेंगे कि बोतल का वज़न कम पड गया है और साथ मे ब्यूरेट मे पानी की सतह भी नीची हो गई है। दोनों का मुक़ाबला करने पर पता लग जायगा कि जितनी कमी बोतल के वज़न मे पड़ी है उतनी ही कमी प्राय. ब्यूरेट मे जल की मात्रा मे भी पड़ी है। इससे यह स्पष्ट है कि जितना जल पौधे की टहनी मे शोषण से गया, लगभग उतना ही उससे वाष्प-त्याग द्वारा बाहर भी निकला। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचे कि जितना जल जडों द्वारा पौधों मे प्रवेश करता है प्राय. उतना ही उनकी पत्तियों से होकर बाहर भी निकल जाता है।

रंध्र और वाष्प-त्याग

पत्ती से जल-त्याग रध्रों द्वारा होता है। यथार्थ मे यह क्रिया रध्रो के खुलने-मुँदने पर बहुत-कुछ निर्भर है। एक प्रकार से ये रध्र मुख के समान हैं। रध्रों का खुलना-मुँदना दो रक्षक कोशों के अधीन है। जिस प्रकार आप अपने

मुँह को ओठों द्वारा खोल और बद कर सकते हैं, इन रध्रो के छिद्र भी रक्षक कोशो से खुलते-मुँदते रहते हैं। रक्षक कोशो की बनावट अर्धचन्द्राकार होती है। इनके बीच मे छिद्र या रध्र होता है। जब पत्ती मे पर्याप्त जल आता रहता है, ये कोश फूले रहते हैं, जिससे इनके बीच का छिद्र खुला रहता है, परन्तु जब जल कम पडने लगता है तो रक्षक कोश पिचकने लगते हैं और इसलिए रध्र सकुचित हो जाते हैं (चि० ६)। इस प्रकार रध्र का खुलना-मुँदना रक्षक कोशो के अधीन है और पौधों से वाष्प-त्याग रध्रों पर बहुत कुछ निर्भर है।

रध्र ही पत्ती से जल-त्याग का मार्ग हैं, इस बात को हम बडी सरलता से प्रमाणित कर सकते हैं।

यदि हम साधारण सफेद कागज़ या फिल्टर-पेपर को कोबल्ट क्लोराइड या कोबल्ट नाइट्रेट के घोल मे रॅग ले तो जब तक कागज नम रहेगा रग गुलाबी होगा, परन्तु यदि हम ऐसे रॅगे कागज़ को सुखा ले तो वह नीले रग का हो जायगा। नम होने पर रग फिर गुलाबी हो जायगा। अब यदि हम आम, जामुन या किसी दूसरे साधारण पेड की पत्ती, जिसमें रध्र निचली सतह पर बडी अधिकता से होते हैं, लेकर उसके दोनो ओर ऐसे घोल मे रॅगा सूखा कागज़ रखकर दो शीशे के टुकडो से दबाकर बॉध दे तो थोडी देर मे हम देखेगे कि पत्ती की निचली सतह से मिला कागज़ गुलाबी रग का हो गया है, परन्तु ऊपरी सतह पर लगे कागज़ के रग मे बहुत कम अन्तर पडा है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिधर रध्र अधिक होते हैं, उधर से वाष्प-त्याग अधिक होता है। अतः रध्र ही वाष्प-त्याग का प्रधान मार्ग हैं।

इस बात को हम दूसरे प्रकार से भी प्रमाणित कर सकते हैं। टिकोमा-सरीखे किसी साधारण महीन पत्तीवाले पौधे की दो पत्तियॉ लेकर उनमे से एक मे ऊपर की ओर और दूसरी मे नीचे की ओर भली भॉति वेसलीन चुपडकर हवा मे लटका दीजिए। थोड़ी देर बाद आप देखेंगे कि वह पत्ती, जिसमे निचली सतह खुली थी और ऊपर की ओर वेसलीन लगाई गई थी, दूसरी पत्ती की अपेक्षा, जिसमे कि निचली सतह पर वेसलीन लगाई गई थी और ऊपरी खुली थी, पहले मुर्झाने लगती है। पत्ती की जॉच करने पर पता लग जायगा कि इसमे ऊपरी सतह की अपेक्षा निचली पर रध्र अधिक हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि पत्ती से जल-त्याग विशेष मात्रा मे उसी ओर से होता है, जिधर रध्र अधिक होते हैं, अर्थात् रध्र ही वाष्प-त्याग का मुख्य मार्ग हैं।

चि० ६

(बाईं ओर) रंध्र खुली दशा में। (दाहिनी ओर) रंध्र बंद दशा में। (चि०—मि० श० अहमद)

वाष्प-त्याग साधारण वाष्पीभवन क्रिया से भिन्न है। जिस समय पौधों से अलग पडी पत्तियॉ वायु में सूखने लगती हैं, उनसे वाष्पीभवन द्वारा जल निकलने लगता है और क्रमशः उनका सारा-का-सारा जल इस क्रिया द्वारा निकलकर वायुमण्डल मे चला जाता है और पत्तियॉ सूख जाती हैं। वाष्प-त्याग द्वारा सजीव पत्ती से सारे जल का नहीं त्याग होता। यह क्रिया पत्ती के अधीन रहती है। जिस समय अधिक वाष्प-त्याग होने लगता है, रध्र स्वय सकुचित हो जाते हैं और क्रिया आप ही धीमी पड जाती है।

पत्तियो के अतिरिक्त तने और टहनियो से भी वाष्प-त्याग से जल बाहर जाता रहता है। तनो मे रध्र के स्थान पर लेटीसेल्स (Lenticels) होते हैं (चि० ७, ८)। विशेषकर यह क्रिया ऐसे तनो और टहनियो से ही होती है, जिनमे काग की उत्पत्ति न हुई हो।

वाष्प-त्याग के संयोग से पौधों को लाभ

कदाचित् आपका अनुमान होगा कि वाष्प-त्याग के कारण जो जल पौधों से वायुमडल मे चला जाता है, इससे पौधो को बडी हानि पहुँचती होगी। आपका यह अनुमान ठीक ही होता यदि जिस रफ़्तार से पत्तियो से
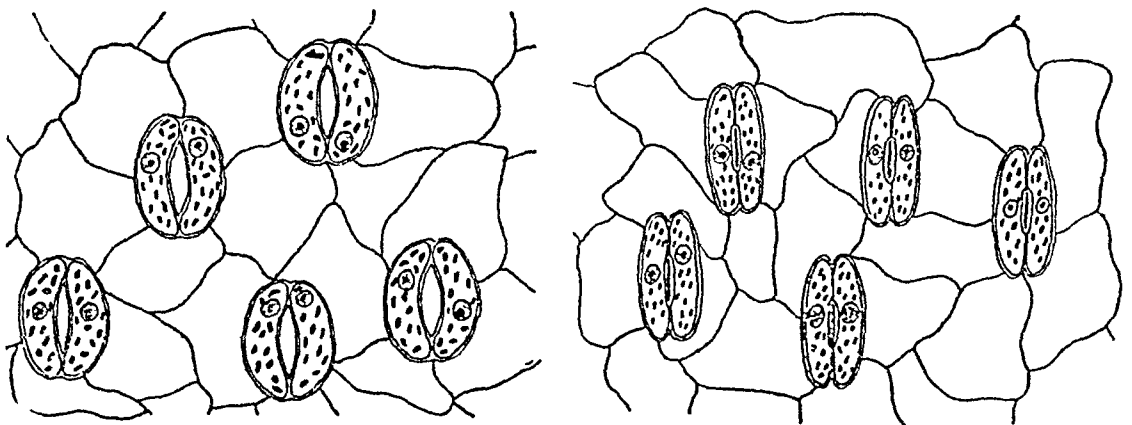
जल बाहर जाता है उसी रफ्तार से वह उनमे पहुँचता न रहता। यथार्थ मे जब कभी ऐसा नहीं हो पाता तब पौधों को बडी हानि होने की सम्भावना रहती है। जेठ-बैशाख की दुपहरी मे मुर्झाते हुए पौधों तथा पानी न मिलने पर सूखती हुई खेती को देखकर हम इसका अनुमान कर सकते हैं। यथार्थ मे वाष्प-त्याग के सयोग से पौधो को बडा लाभ होता है। यह उन क्रियाओं मे है, जिनके सहारे जड से सचित जल और घोल पेड की पत्तियों मे पहुँचते हैं।

चि० ७—भोजपत्र की शाख। काले निशान लेंटीसेलस हैं। (चि० —मि० श० अहमद)

पेड़-पौधो में जल का मार्ग

उपरोक्त विवरण से आपको पता लग गया होगा कि पौधों मे जल एक ओर जड मे होकर प्रवेश करता है और दूसरी ओर पत्तियों से होकर बाहर जाता है। निस्सन्देह ही यह जल तने मे होकर पत्तियो मे चढता है। अब हमे यह विचार करना है कि क्या इस जल का कोई निश्चित मार्ग है अथवा यह जिधर पाता है उधर ही वेरोक प्रत्येक तन्तु मे होकर बहता रहता है।

जैसा पूर्व ही देख चुके हैं, यदि हम किसी साधारण पौधे के तने की जॉच करें तो उसमे हमे मोटे-मोटे तीन भाग मिलेंगे—सबसे बाहर छाल, फिर नसे और अन्त मे हीर। जड़ द्वारा सचित रस इन्हीं मे से किसी मे होकर ऊपर चढ़ता होगा।

हीर मे होकर रस ऊपर नहीं जाता, इसके समझने मे कदाचित आपको कठिनाई नहीं होगी। कितने ही बूढ़ो और पुराने वृक्षों के तने खोखले होते हैं अर्थात् इनमे हीर नहीं होता, फिर भी इनकी पत्तियो को बराबर रस मिलता रहता है और वे हरी-भरी बनी रहती हैं। इसलिए हीर जल का मार्ग नहीं हो सकता।

वल्क मे होकर भी यह रस ऊपर नहीं जाते। इसकी परीक्षा हम किसी पौधे से काष्ठ के बाहर के तन्तुओं को छीलकर अलग कर देने पर कर सकते हैं। ऐसी अवस्था मे हम देखेंगे कि पौधे की पत्तियाँ हरी-भरी बनी रहती हैं और यदि पौधे को पर्याप्त जल मिलता रहे, तो उसमे सारी क्रियाएँ पूर्ववत् चालू रहेगी। अब हम इस नतीजे पर पहुँचे कि पौधो मे जल का मार्ग हीर या वल्क मे होकर नही है।

अब केवल नसों की जॉच करना शेष रह गया। जडों द्वारा सचित रस इन्ही मे होकर ऊपर जाते हैं। इस बात को हम प्रयोगो से प्रमाणित कर सकते हैं।

आम, जामुन, टिकोमा या किसी दूसरे ऐसे ही पौधे की टहनी, जैसा पहले ही वाष्प-त्याग के प्रयोगो के लिए बताया जा चुका है, पानी के अन्दर झुकाकर काट लीजिए। टहनी के कटे सिरे को एक शीशी मे लाल स्याही, सैफ्रैनिन (यह एक प्रकार का लाल रग है) या इयोसिन के घोल मे डुबोकर रख दीजिए। दस-बारह घटे बाद आप देखेंगे कि पत्ती की नसे रगीन हो गई हैं (चि० ९)। अब यदि ऐसी टहनी को घोल से निकालकर उसका निचला भाग, जो रग मे डूबा था, काटकर अलग कर दिया जाय और ऊपरी भाग से कत्तल काटकर जॉच की जाय, तो काष्ठ-नलिकाओं मे रग मिलेगा। यदि ऐसी टहनी को दो-तीन दिन तक रगीन घोल मे पडा रहने देने के बाद उसकी बीच से दो फॉक करके जॉच की जाय, तो काष्ठ का भाग ही रगीन मिलेगा। इसी प्रकार यदि गुलफिरग (*Vinca*), सुदर्शन, सफेद फूलवाले गुलाब या किसी दूसरे महीन और सफेद पखुडीवाले फूल को डठल समेत रगीन घोल मे रख दिया जाय, तो कुछ समय बाद पखुडियो की नसे रगीन हो जायँगी (चि० १०, ११)। इन प्रयोगो से यह प्रमाणित

लेंटीसेल
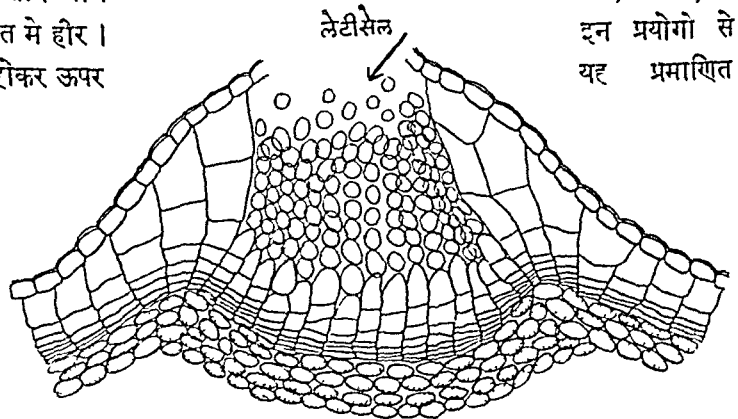
चि० ८—कत्तल काटकर खुर्दबीन से देखने पर लेन्टीसेलस (चि०—मि० श० अहमद)

होता है कि पेड़-पौधों मे जल नसों मे ही होकर ऊपर चढता है ।

पेड़-पौधो में जल किन शक्तियो द्वारा ऊपर चढ़ता है ?

हम ऊपर देख चुके हैं कि जड़ से सचित रस तने की नसों मे होकर पत्तियों मे आते हैं। अब हमे यह देखना है कि इन रसो को सैकडो फीट की ऊँचाई पर चढाने-वाली कौन-सी शक्ति अथवा शक्तियाँ हैं ? वनस्पति - भौतिक-शास्त्र की यह एक अत्यन्त जटिल समस्या है। अब तक हमे इसका कोई पर्याप्त उत्तर नही मिल सका। फिर भी इसमे सन्देह नही कि इस क्रिया मे कई बातो का सम्बन्ध है। इनमे मूल दबाव (Root Pressure), वाष्प-त्याग (Transpiration), सूचिका-शक्ति, पत्तियों द्वारा जलोत्सर्ग (Secretion) और जल-कणो की सशक्ति (Cohesion) मुख्य हैं।

चि० ६—बाईं ओर की पत्ती उस टहनी से है जो लाल रंग में दस-बारह घंटे रक्खी रही है। दाहिनी ओर की पत्ती जिस टहनी से ली गई है, वह जल में रक्खी रही है। नसो में रंग चढने के कारण बाईं ओर की पत्ती की नसे रंगीन हो गई हैं और इसीलिए फोटो में विशेष स्पष्ट हो गई हैं।

(फ़ो०—मि० श० अहमद)

मूल दबाव

जैसा पूर्व ही वर्णन किया जा चुका है, मूलरोमो द्वारा शोषित जल जड के वल्क-कोशो मे प्रवेश करता है। यहाँ से वह काष्ठ-नलिकाओं मे पहुँचता है । इस प्रकार वल्क के करोडों कोश काष्ठ-नलिकाओ मे जल को पम्प किया करते हैं। यह क्रिया निरंतर चौबीसों घटे होती रहती है। परिणाम यह होता है कि यह जल बडे दबाव के साथ बहता रहता है। वैसे तो हमे इसका पता नही चलता, परन्तु जिन दिनो पौधे बाढ पर होते हैं उस समय किसी ज़ोरदार पौधे के तने को काट देने पर ठूँठ के सिरे से प्रायः रस बहता दिखाई देता है। कभी-कभी वसंत के दिनो में झाडियो को छाँटने पर भी कटे सिरो पर रस चुहचुहाता देख पडता है । इसी प्रकार यदि किसी गमले मे लगे ज़ोरदार और भली भाँति सींचे पौधे को, उसके चार - छः अगुल निचले भाग को छोडकर, काट दिया जाय तो निचले कटे सिरे से रस बहता दिखाई देगा। यह जल-त्याग निस्सरण के कारण है और इसका बहुत बडा दबाव पडता है। चूँकि यह दबाव जडो मे प्रारम्भ होता है, इसलिए इसे मूल दबाव कहते हैं। इस क्रिया को हम निम्नलिखित प्रयोग से दर्शित कर सकते हैं।

अजूबा, गुल-मेहदी या किसी और ऐसे ही पौधे के तने को, चार-छः अगुल निचले भाग को छोडकर, काट दीजिए और ठूँठ को लगभग उतने ही व्यास-वाली एक शीशे की नली से, जिसमे कुछ पानी भरा हो, रबर की नली द्वारा जोड दीजिए। कुछ घटे बाद आप

चि० १०—सफ़ेद रंग का गुलाब का फूल। इस फ़ूल के डठल को १५-२० मिनट लाल घोल मे रक्खा गया है। पँखुडियों की नसो में रग चढ़ जाने के कारण वे फोटो मे स्पष्ट हो गई हैं। (फो०—मि० श० अहमद)

देखेंगे कि ठूँठ से रसकर जल शीशे की नली मे आ गया है और इसलिए उसमे पानी की सतह ऊँची हो गई है। यदि शीशे की नली पर्याप्त ऊँचाई की हो और प्रयोग कई दिन तक चालू रहे तो सम्भव है जल कई फीट ऊँचा चढ जाय। इस प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि गमले से पौधे की जडे ठूँठ मे होकर शीशे की नली मे बराबर जल पम्प करती रहती हैं। साधारण अवस्था मे यही जल पौधे की नसो मे होकर ऊपर चढता रहता है। इस प्रयोग मे पौधे के तने के स्थान पर शीशे की नली है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि पौधे की जड़ो द्वारा इस भॉति कितना दबाव पडता है। यदि साधारण नली के स्थान पर हम मैनोमीटर (दबाव-मापक यत्र) लगा दे तो हम मूल दबाव को नाप सकते हैं (चि० १)। प्रोफेसर वाइन्स (Vines) ने बिच्छू बूटी (*Urtica*) मे इस दबाव का नाप लगभग ३५४ मिलीमीटर बताया है। यह दबाव साधारण वायु के दबाव का लगभग आधा है और प्राय १५ फीट ऊँचे पानी के भार को रोक सकता है। अर्थात् यदि ऐसे पौधे के तने को काटकर इसके ऊपर उतने ही घेरेवाली नली लगाकर उसमे १५ फीट की ऊँचाई तक पानी भर दिया जाय तो भी इस पानी के वजन के बावजूद ठूँठ से जल निकलकर नली मे आता रहेगा। किसी-किसी पौधे मे मूल दबाव इससे भी अधिक होता है।

किसी समय मे मूल दबाव वृक्षो मे ऊपर जल चढने मे एक प्रधान शक्ति समझी जाती थी, परन्तु अब इसको इतना महत्त्व नही दिया जाता। प्रयोगो से पता चलता है कि जिन दिनो पौधो मे रस अधिक तेजी से ऊपर चढते रहते हैं, उन दिनो प्रायः मूल दबाव कम रहता है इसके अतिरिक्त कभी-कभी पौधो मे ऋणात्मक या विपरीत मूल दबाव (Negative Root Pressure) देखा गया है। इसलिए यदि पौधो मे जल मूल दबाव के सहारे ही चढता होता तो ऐसी अवस्था कदापि न होती। इन कारणों से पेड-पौधो मे जल के ऊपर चढने मे आजकल मूल दबाव की इतनी महत्ता नही मानी जाती। फिर भी इसमे सन्देह नही कि जिस समय मूल दबाव रहता है उस समय वह ऊपर जल चढने मे अवश्य सहायता करता है।

वाष्प-त्याग द्वारा भार उठाने की शक्ति

जैसा हम देख चुके हैं, वाष्प-त्याग की क्रिया से पत्तियों का

चि० ११—यह उसी गुलाब के पौधे का दूसरा फूल है, जिसके एक फूल का फ़ोटो चि० १० में दिया गया है। यह टहनी पानी के अंदर रक्खी रही है। दोनों चित्रों की तुलना से स्पष्ट हो जायगा कि जल का मार्ग नसें हैं। (फो०—मि० श० अहमद)

जल बराबर निकलकर वायु मे जाता रहता है। इस क्रिया के कारण नीचे से तने मे आते हुए जल पर बड़ा खिचाव पड़ता है। इस क्रिया को हम प्रयोग से दिखा सकते हैं।

कोई एक इंच व्यासवाली लगभग छः इंच लम्बी शीशे की नली लेकर उसके दोनो सिरो मे कसे-कसे काग लगा दीजिए। दोनों काग मे छेद करके उनमे से एक मे शीशे की लगभग अठारह इंच लम्बी और चौथाई इंच व्यास वाली नली लगा दीजिए और दूसरी मे एक ज़ोरदार पौधे की टहनी। टहनी को पानी के अन्दर उसी विधि से काटना चाहिए जैसा वाष्प-त्याग के प्रयोगो के लिए पहले बताया जा चुका है। शीशे की दोनो नली पानी से पूरी-पूरी भरी होनी चाहिएँ। अब पतली नली के निचले सिरे को एक पारे की प्याली मे डुबाकर, जैसा चित्र १२ मे दिखाया गया है, क्लैम्प द्वारा रोक देना चाहिए। ज्यो-ज्यो वाष्प-त्याग द्वारा जल बाहर जायगा नली मे पारा ऊपर को चढेगा (चि० १२)। यदि पौधे की टहनी हरी बनी रहे और शीशे की नली पर्याप्त लम्बी हो तो उसमे लगभग वायुमडल के दबाव के बराबर पारा चढ सकता है। यथार्थ मे नली मे पारा वायुमडल के दबाव के कारण ही चढता है।

पत्तियो से वाष्प-त्याग के कारण नली मे ऋणात्मक दबाव उत्पन्न हो जाता है और इसलिए पारे पर वायुमडल के दबाव का प्रभाव पड़ता है। साधारण अवस्था मे भी पौधो मे वाष्प-त्याग के कारण यही दशा हो जाती है; परन्तु इस अवस्था मे वायुमडल के दबाव के स्थान पर उनका मूल दबाव काम करता है।

चि० १२
(मि० श० अहमद द्वारा)

पत्ती के कोशो से जलोत्सर्ग द्वारा जल का बाहर जाना

यद्यपि मूल दबाव और पौधो की पत्तियों से वाष्प-त्याग द्वारा भार उठाने की शक्ति उनमे ऊपर जल चढने की समस्या को किसी सीमा तक हल अवश्य करते हैं, फिर भी केवल इन्ही के सहारे सैकड़ो फीट ऊँचे वृक्षो और लताओ मे जल ऊपर चढाने के लिए पर्याप्त शक्ति नही प्राप्त होती। इसके अतिरिक्त जलमग्न पौधो मे इनके सहारे काम नही चल सकता। अनुसधान से पता चलता है कि ऐसी दशा मे ऊपर जल चढने मे यथार्थ निस्सरण, जलोत्सर्ग और जल-कणो की सशक्ति ही प्रधान शक्तियॉ हैं।

सबसे पहले पत्ती के मिसोफिल (mesophyll) कोशो से उत्सर्ग द्वारा घोल का कुछ अश अन्तर-तान्तविक स्थानो में आता है। इस घोल का समाहरण घोलक के भाप बन जाने से गाढ़ा हो जाता है और इसलिए वह मिसोफिल कोशो से फिर जल ग्रहण करता है। ये कोश निस्सरण के नियमानुसार अपने पड़ोस के अन्य कोशो से जल ग्रहण करते हैं। अन्त मे पत्ती की नसो से निचुड़कर जल यहॉ पहुँचता है (चि० ४)। पत्ती की नसो मे तने की नसो से जल आता है और इनमे जड़ की नसो से। इस प्रकार पत्ती से लेकर जड़ तक की नसो का जलखड बराबर तनाव की दशा मे रहता है। इस शक्ति के कारण जितनी शीघ्रता से वाष्प-त्याग द्वारा जल बाहर होता है, उतनी ही शीघ्रता से वह ऊपर भी चढता है।

जलोत्सर्ग, निस्सरण, मूल दबाव, शूच्चिका शक्ति तथा जलकणो की सशक्ति के सगठित प्रभाव से हमे ऊँचे से ऊँचे वृक्षो और लताओ मे ऊपर जल चढने की क्रिया समझने मे अड़चन नही पड़ती। डिक्सन ने प्रयोगो से सिद्ध कर दिया है कि यदि पौधे पानी मे डुबो दिये जायँ तो भी उनमे जल चढता रहता है।

टिकोमा, गुलमेहदी या किसी और ऐसे ही पौधे की टहनी पूर्वोक्त विधि से पानी के अन्दर काटकर उसे एक शीशी मे लाल स्याही या इयोसिन का घोल भरकर काग द्वारा लगा दीजिए। शीशी को तुरत ही एक पात्र मे पानी भरकर शाख समेत डुबो दीजिए (चि० १३)। इस अवस्था मे टहनी मे केवल निस्सरण और जलोत्सर्ग क्रियाएँ ही काम करती हैं। कुछ समय पश्चात् आप देखेंगे कि टहनी की पत्तियो की नसे सुर्ख पड गई हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि मूल दबाव और वाष्प-त्याग न भी काम करते हो, तब भी पौधो मे जल ऊपर चढता रहता है।

ऊँचे-ऊँचे वृक्षो और लताओ मे तने की नलिकाओ का
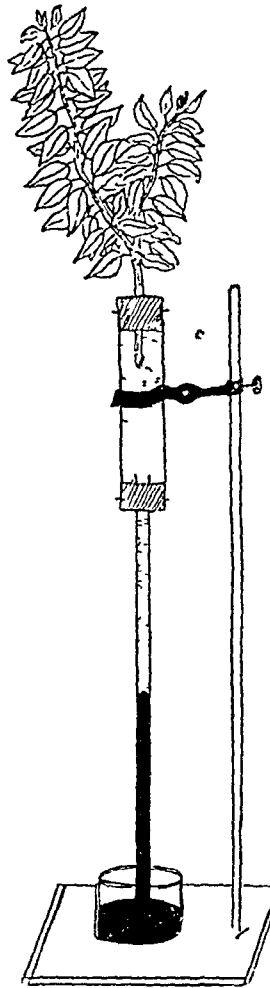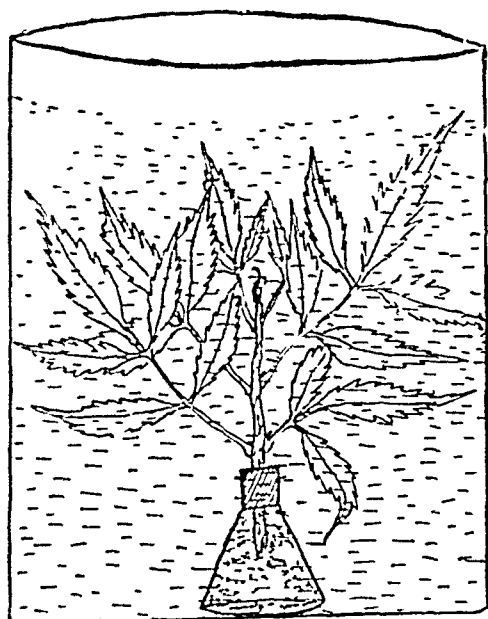
चि० १३—बोतल में लाल स्याही में काग द्वारा एक टिकोमा की शाख लगाकर पानी के पात्र मे डुबोकर रख दी गई है। पानी में डूबे रहने पर भी टहनी में जल चढ़ता रहता है और पत्ती की नसें रगीन हो जाती हैं। (चि०—मि० श० अहमद)
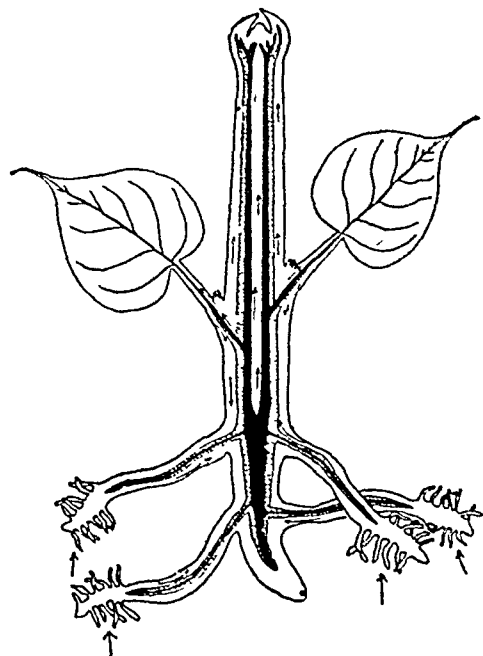
चि० १४—इस चित्र द्वारा मूल रोमों से जल किस प्रकार जड़ मे होकर पत्तियो तक पहुँचता है यह तीरों द्वारा दिखलाया गया है। नीचे को आनेवाली धारा नीचे की ओर को तीरो की नोक से दिखाई गई हैं। काली रेखाएँ काष्ठ को सूचित करती हैं। (चि०—मि० श० अहमद)

जल-खड नीचे को धरती की आकर्षण-शक्ति से खिंचा रहता है और ऊपर की ओर को पत्ती की इद्रिय-व्यापारिक (Physiogical) क्रियाओ से। फिर भी यह अविच्छिन्न बना रहता है और जल की धारा ऊपर को बराबर प्रवाहित रहती है, क्योकि ऊपर का खिंचाव पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से सदैव अधिक रहता है।

इस भाँति नीचे से मूल दबाव, पौधे की नलिकाओं की सूचिका-शक्ति और ऊपर से पत्तियो के वाष्प-त्याग का खिंचाव तथा उनके कोशो की जलोत्सर्ग-क्रिया और जल-कणो की सशक्ति मिलकर गुरुत्व के सभी नियमों के विपरीत तने मे होकर जल को पेड़ो की चोटी तक हज़ारों फीट की ऊँचाई पर पहुँचाते हैं (चि० १४)।

कदाचित् आप यह जानना चाहते होंगे कि जडो द्वारा सचित रस पेड़ मे किस रफ्तार से चढता है। यह बहाव कई बातो पर निर्भर है और भिन्न-भिन्न जाति के पेड़ो मे इसमे बड़ा अन्तर रहता है। एक जाति के पेड़ो मे भी प्रत्येक समय यह बहाव समान नहीं रहता। एक सफेद फूलवाली आयरिस (*Iris*) मे देखा गया है कि यदि इसे नीले घोल से सीचा जाय तो इसकी पखुडियों में सींचने के कोई १५-२० मिनट मे रग पहुँच जाता है। एक जाति की बेद (Willow) मे प्रति घटे लगभग १ गज की तेज़ी से जल चढता मिला है। मकाई मे इसका बहाव प्रायः १४ इन्च फी घटे पाया गया है और सूरजमुखी मे लगभग २५ इंच। इसी प्रकार तम्बाकू मे प्रति घटे ४ फीट की रफ्तार से जल चढता मिला है। अमेरिका में भूमध्य रेखा के निकटवर्ती जगलों में उगनेवाली एक अगूर की भाँति की विशेष जातिवाली बेल की जाँच से पता चला है कि इसके तने मे किसी निश्चित् स्थान से एक मिनट मे लगभग डेढ पाव जल गुजर जाता है। इस हिसाब से इस पौधे मे दिनभर मे इस स्थान से होकर मनों की तादाद मे रस बहता रहता है। यह रस जडों से ही आता है और इसका सचालन बहुत-कुछ उन्हीं शक्तियो पर निर्भर है जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।
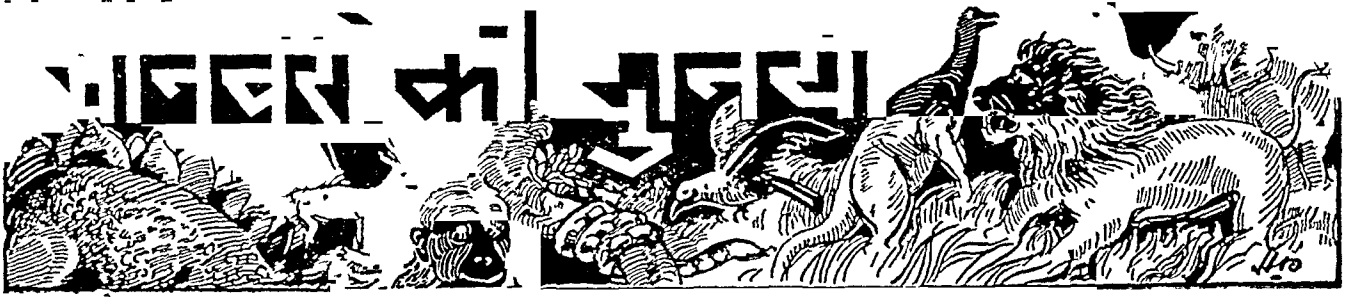
जीवन का आश्चर्यजनक चक्र

प्रकृति ने ऐसी अद्भुत व्यवस्था कर रक्खी है कि प्रत्येक जीवधारी—चाहे वह वनस्पति हो या प्राणी—अपने निर्वाह के लिए किसी अन्य वनस्पति या प्राणी पर निर्भर है। साथ ही एक अजीब बात यह है कि किसी भी जीवधारी द्वारा काम में लाया गया या पैदा किया हुआ कोई भी द्रव्य निरर्थक नहीं जाता। एक जिसे त्याग देता है, दूसरा उससे अपना निर्वाह करता है।

इस लेख के पढने से आप समझ सकेंगे कि जीवित जगत् किस प्रकार चल रहा है और सारी जीवित वस्तुएँ एक-दूसरे के साथ पारस्परिकता का सम्बन्ध रखते हुए कैसे बँधी पडी हैं मानो वे एक ही ज़ंजीर की कडियाँ हों। कोई भी जीव या पौधा ऐसा नही है, जो किसी अन्य जीव या वनस्पति की सहायता बिना अपना जीवन बिता सके। इतना ही नही, प्रत्येक प्राणी कई व्यक्तियो पर निर्भर है। इस जीवन की ज़ंजीर की एक भी कडी दूसरी कडियो पर अपना असर डाले बिना ज़ंजीर से अलग नही हो सकती।

सभी प्राणी चलने-फिरने, खेलने-कूदने और काम करने मे ही अपने जीवन का अधिकाश समय लगाते हैं। इन सबके लिए उन्हे शक्ति की आवश्यकता होती है और यह शक्ति उन्हे भोजन-सामग्री से ही प्राप्त होती है जब हम अपनी किसी भी मांस-पेशी द्वारा कोई कार्य करते हैं तो कुछ शक्ति खर्च हो जाती है। यदि कोषो के ओषदीकरण द्वारा उस पेशी को यह शक्ति शीघ्र ही नहीं प्राप्त हो जाती तो वह थक जाती है, जैसा कि 'विश्व-भारती' के पिछले अंक मे 'हम और हमारा शरीर' शीर्षक स्तम्भ मे बतलाया जा चुका है। अतएव प्रत्येक प्राणी के लिए यह आवश्यक है कि वह भोजन द्वारा शरीर के कोषों की पूर्त्ति करता रहे और उनकी शक्ति तथा ताप स्थिर रक्खे। यदि हमारे भोजन मे शरीर के लिए आवश्यक उन रासायनिक मिश्रणों का अभाव हो जाय तो शरीर अवश्य ही अपना स्वास्थ्य खो बैठेगा और घिसते-टूटते अवयवो की पूर्त्ति न होने से उसको शीघ्र ही मृत्यु के वश मे होना पडेगा।

समुद्र के ऊपरी जल के निवासी सूक्ष्म जीव (प्राणी और वनस्पति)
इनकी सख्या इतनी अधिक होती है कि अत्यंत छोटे होते हुए भी ये अन्य समुद्री जीवो के आहार का मुख्य अंश हैं। यदि ये न होते तो अन्य जीवों का समुद्र में जीवित रहना असम्भव होता।

जीवो का परस्पर निर्भर होना

प्रायः आप सभी अब तक जान चुके होंगे कि वनस्पतियो की तरह प्राणियो को भी प्रोटीन, कार्बोदेत आदि द्रव्यों की आवश्यकता होती है और समस्त ससार मे केवल हरे पौधे ही एक ऐसी वस्तु हैं, जो इन नितान्त आवश्यक वस्तुओं को फिर से बना सकते हैं। शेर बकरी और भैंस को खाकर अपना निर्वाह कर सकता है, परन्तु बकरी और

भैंस तो घास, भूसा और चारा ही खाकर रहती हैं। अत बकरी और भैंस का मास वनस्पति के खाने ही से बनता है। यदि हम इनके मास को घास का ही एक परिवर्तित रूप समझें तो अनुचित न होगा, क्योंकि उन्ही रासायनिक पदार्थ—अमिनोऐम्ल, शक्कर, चर्बी और लवण—से, जो घास मे होते हैं, बदलकर बकरी या भैंस के शरीर का जीवन-मूल अथवा मास बन जाता है इसलिए जब शेर उनका मास खाता है तो यह कहा जा सकता है कि वह एक बार की इस्तेमाल की हुई घास-पात ही खा रहा है। मास मे जो भोजन-सामग्री है, वह नि.सदेह पेड-पौधों मे ही बनती है।

खाद्य पदार्थ एक से अधिक बार प्रयोग किये हुए भी हो सकते हैं। कीडे (सूँडे या भ्रूण) पत्तियो को खाकर मोटे हो जाते हैं और छोटी चिडियाँ इन्हीं से अपना पेट भरती हैं। इसी आहार से वे वह भोजन-सामग्री तैयार करती हैं, जो उनके अडो मे मिलती है। जब गिलहरियाँ अडे या चिडियो के बच्चे खाती हैं तो वे अपने अमिनो-ऐम्ल को दो बार प्रयोग होने के बाद प्राप्त करती हैं। सुनहला उकाब मास के अतिरिक्त कुछ नहीं खाता और, जहाँ तक सम्भव होता है, हाल के ही मरे जीव का मास खाता है। यह मास चाहे किसी खरगोश या खरहे का हो, जो केवल दूब या रसीली पत्तियों को ही खाता है, अथवा किसी चिडिया का हो, जो सभवत. चुहियो, मेढको तथा भमीरियों इत्यादि को खाकर रहती हो, हर हालत मे वनस्पति ही से यह मास बना, क्योकि चुहियो ने अनाज और उसके डठल को ही कुतरकर अपना उदर-निर्वाह किया तथा मेढको और भमीरियो ने भी उन हजारो कीटाणुओ को खाकर जीवन-निर्वाह किया, जिन्होने अपने बचपन मे—जब वे सूँडे या भ्रूण थे—पेडो के पत्ते ही खाकर अपना पेट भरा था। इसी तरह आप मनुष्य और अन्य जानवरो के आहार की जजीरें बना सकते हैं। जजीर मे चाहे कितनी ही कडियाँ क्यो न हो, हम अन्त मे सदा हरी वनस्पति पर ही पहुँचते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वनस्पति के बिना अन्य प्रकार के जीवो का होना असम्भव है।

समुद्री जानवरों के भोजनों की ज़ंजीर

शायद आप थोडा चकरा गए होंगे कि यदि यह बात ठीक है तो फिर समुद्र मे क्या होता है। समुद्र मे तो स्थल की तरह हरे वृक्ष नि.सन्देह नहीं होते और जो कुछ समुद्री घास-पात हम देखते हैं वह भी किनारे पर ही रहनेवाले पौधे हैं। फिर समुद्री जीव वनस्पति पर किस प्रकार निर्भर हैं? समुद्री जीवो का जीवन वास्तव मे खुले समुद्र की सतह पर दूर-दूर तक बहते हुए उन एककोषक या द्विपरिमाणुवाले (Diatoms) नन्हे-नन्हे वनस्पति-प्राणियों पर है, जो लाखों और करोडो की सख्या मे तैरते रहते हैं और जिनका एक चित्र पिछले पृष्ठ पर दिया गया है। ये स्थलवाले पौधों की भाँति घुले हुए लवणों से अपना भोजन स्वय बना लेते हैं और बढते रहते हैं। इनकी ऐसी वृद्धि होती है कि समुद्र की सतह का पानी छोटे-छोटे वनस्पतियो से युक्त एक उत्तम शोरबा या रसा-सा हो जाता है, जिसको नन्हें-नन्हे जीव ग्रहण करते हैं। इसीलिए समुद्र के इस ऊपरी पानी को 'समुद्री चरागाह' कहा गया है। सतह पर रहनेवाले ये वनस्पति और सूक्ष्म प्राणी अपने से बडे प्राणियो के भोजन के काम आते हैं, जिन्हे इनसे भी बडे प्राणी या मछलियाँ खाकर अपना पेट पालती हैं। इस प्रकार समुद्री मछली छोटे झींगे की तरह के जीवों को खाती है, जो नन्ही-नन्ही वनस्पतियों पर पलते हैं, और मनुष्य इन्हीं मछलियों को पकडकर खा जाते हैं। पाव भर समुद्री मछली का मास बनने के लिए उसे लगभग दस पाव घोंघे, झींगे इत्यादि को खाने की आवश्यकता होती है। घोंघे या झींगे का पाव भर मास तब बने जब कि वह दस पाव अपने से छोटे अन्य समुद्री कीडे खाय। इन छोटे कीडों का एक पाव वजन अपने से उन दस गुने सूक्ष्म जीवाणुओं और वनस्पतियों को खाने से बनता है, जो समुद्र के ऊपरी जल मे तैरा करते हैं। इसलिए जब कोई भूखा मनुष्य पाव भर मछली का मास खा लेता है तो यह समझना चाहिए कि वह एक हजार पाव नन्हें-नन्हे समुद्री जीवो को बदले हुए रूप मे खा रहा है। जो जीव गहरे समुद्र मे रहते हैं, वे ऊपरी जल से मरकर नीचे गिरे हुए नन्हे-नन्हें पौधो और जीव-जन्तुओं पर ही निर्भर हैं। पेड-पौधो को अपना खाना बनाने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है, इससे यह स्पष्ट होता है कि ये नन्ही वनस्पतियाँ पानी की ऊपरी सतह पर ही रह और बढ सकती हैं, क्योकि पानी के भीतर रोशनी दूर तक नहीं पहुँच सकती।

जीवधारियो को काम करने की शक्ति कैसे प्राप्त होती है?

प्रत्येक जानदार वस्तु को भोजन से ही काम करने की शक्ति प्राप्त होती है। बहुत-सी क्रियाएँ ऐसी हैं जो हमको सहज मे दिखलाई पडती हैं। एक दो सेर वजनवाली बिल्ली गज भर की ऊँचाई से कूदकर नीचे गिरती है तो वह १२ फीट ऊँचे तक पौंड भर वजन उठाने जितना काम करती है। बिल्ली का शरीर द्रव्यो से बना हुआ है। उसी प्रकार जगत् की सभी वस्तुओ मे भी द्रव्य ही हैं। मनुष्य का शरीर भी द्रव्य

का ही रचा हुआ है। पत्थर भी द्रव्य ही से बना है। जब कोई लड़का पत्थर फेंकता है तो यह समझना चाहिए कि वह द्रव्य ही को एक जगह से दूसरी जगह हटा रहा है, किन्तु ऐसा करने में उसको बल-प्रयोग करना पड़ता है। हम भी जब कोई शारीरिक काम करते हैं तो साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हमारे सारे शारीरिक कार्य पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाना ही हैं। चलते हैं तो हम अपने शरीर को एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं, खाते हैं तो भोजन को ही नहीं हटाते, बल्कि अपनी बाहों, जबड़ों और जिह्वा को भी चलाते हैं। हम खाना पकाते हैं, कपड़ा बुनते हैं, मकान बनाते हैं तथा सैकड़ों ही काम करते हैं—इन सभी कामों में पदार्थों को ही इधर-उधर हटाते और रखते हैं। ऐसा करने में शक्ति व्यय होती है। वृक्ष भी बहुतेरे काम किया करते हैं, किन्तु भेद इतना ही है कि जानवरों के समान उनके कार्य हमको दिखलाई नहीं पड़ते। लम्बाई में बढ़ने से ही विदित होता है कि वे भी द्रव्य को नीचे से ऊपर उठाते हुए काम करते हैं। उनकी जड़ें धरती में घुसकर मिट्टी को इधर-उधर ढकेलकर कार्य करती हैं और उनके पत्ते हवा से द्रव्य को अपने अन्दर खींच लेते हैं। इससे यह प्रकट है कि पेड़ भी अपने जीवन में अनेकों कार्य करते हैं और पदार्थों का स्थान-परिवर्तन करते हैं।

यह सारी शक्ति, जो जानवरों और पेड़ों के लिए अपने काम करने के लिए आवश्यक है, उन्हें कहाँ से प्राप्त होती है, इसे समझने के लिए एक उदाहरण सुनिए। एक लड़का जब गुलेल से किसी चिड़िया को निशाना बनाना चाहता है तो अपनी गुलेल की रबड़ को पीछे की ओर खींचता है। ऐसा करने से वह रबड़ के उन अणुओं को खींचकर अलग करता है जो साथ-साथ रहना चाहते हैं। ज्योंही वह रबड़ को छोड़ता है, अणु तुरन्त ही सिमटकर एक-दूसरे के पास आने का प्रयत्न करते हैं और रबड़ सिकुड़कर छोटा हो जाता है। रबड़ खींचने के लिए लड़के को ज़ोर लगाना पड़ा और जब तक वह उसको खींचे रहता है तब तक वह शक्ति रबड़ में एकत्रित रहती है। ज्योंही वह रबड़ को छोड़ देता है त्योंही उतनी शक्ति (जो उसने रबड़ के खींचने में लगाई थी) मुक्त हो जाती है और कंकड़ को ढकेलकर दूर फेंक देती है। गुलेल काम को करने—कंकड़ को फेंकने—की एक मशीन है, लड़का उसकी शक्ति का साधन है। इसी प्रकार सारी चलने-फिरनेवाली तथा क्रियाशील सृष्टि एक प्रकार की मशीन है। यदि उसे चलाने के लिए और चलते रहने के लिए शक्ति मिलती रहे तो वह अपना काम करती रहती है। बिना इस शक्ति के सारा संसार अचल और स्थिर हो जायगा—उसमें कोई गति न रह जायगी। इस शक्ति की सहायता से जीव

एक समुद्री मछली के आहार से सम्बन्धित कड़ियाँ

सबसे ऊपर के सूक्ष्म वनस्पति-प्राणियों पर समुद्री कीड़े और उन पर नीचे दिए हुए उनसे बड़े झींगे, घोंघे आदि पलते हैं। इन्हीं घोंघों और झींगों को खाकर बड़ी मछलियाँ अपना निर्वाह करती हैं।

धारियों के काम कैसी सुन्दरता और नियमानुकूलता से चले जाते हैं।

सूर्य ही सारी शक्ति का उद्गम

गुलेल को तो बल लडके ने दिया था, किन्तु सारी दुनिया के जीव-जन्तु, पेड-पौधों को शक्ति देनेवाला कौन है? वही आग का बडा गोला जो हमसे ९३ करोड मील दूर होते हुए भी हमको गर्मी और प्रकाश देता है—वही सूर्य अपनी किरणो द्वारा अपनी अखड शक्ति को इस पृथ्वी तक भेजकर सारे प्राणि-वनस्पति-ससार को जीवित रखता है। इस सूर्य-शक्ति को कौन अपने वश मे कर सकता है, यह आप "पेड-पौधो की दुनिया" और "रसायन—विज्ञान" के लेखों मे पढ चुके होंगे या आगे पढेंगे। यहॉ तो हम इतना ही कह सकते हैं कि यह काम पेडो के हरे पत्ते ही कर सकते हैं। वे ही इस शक्ति को पकडकर एकत्र कर सकते हैं और उसका प्रयोग विविध कामों मे कर सकते हैं।

पेडो के हरे पत्तो मे एक हरे रग के पदार्थ के दाने होते हैं, जो प्रकाश द्वारा सूर्य से आनेवाली असीम शक्ति और उसे प्राप्त करनेवाली दुनिया के बीच एक मध्यस्थ दूत का कार्य करते हैं। पत्तो के अन्दर छेदों द्वारा हवा के प्रवेश करने पर जो कार्बन द्वयोषिद उसके अन्दर होता है उससे, इस पर्णहरित् (Chlorophyll) के कणों (हरे रग के दानो) मे पकडी हुई सूर्य की शक्ति के प्रभाव द्वारा, कार्बन और ओषजन अलग-अलग हो जाते हैं। यह महान् कार्य चुपचाप होता रहता है। किसी को इस बात का सन्देह भी नहीं होता कि इसमे कोई काम कर रहा है। कार्बन को तो पेड स्वय अपने लिए रख लेता है, जो पानी और हवा द्वारा खींचे हुए लवणो और अन्य वस्तुओ से मिलकर भोजन-सामग्री मे रूपान्तरित हो जाता है। ओषजन पेड के लिए बेकार होता है, अतएव वह पत्तियो से सॉस द्वारा बाहर निकल जाता है। कार्बन और ओषजन के परमाणुओ मे बडा स्नेह होता है। उनको एक दूसरे से अलग करना आसान नही। जब कभी वे एक दूसरे के निकट पहुँचते हैं, फ़ौरन् एक दूसरे से मिल जाते हैं। जब लडका गुलेल तानकर छोडता है तो उसकी दी हुई शक्ति रबड के सिकुडने अथवा उसके अणुओं के मिलने से छूट जाती है और ककड या पत्थर फेकने का कार्य करती है। इसी प्रकार उतनी ही शक्ति जो कार्बन और ओषजन को अलग करने मे ख़र्च हुई थी, कार्बन और ओषजन के पुनर्मिलन से काम करने के लिए छुटकारा पा जायगी। यह क्रिया जानवरों के ही शरीर मे होती है। जब वे भोजन मे वनस्पतियाँ ग्रहण करते हैं तो उनके शरीर मे कार्बन पहुँचता है और जब वे सॉस लेते हैं तो हवा से ओषजन शरीर मे पहुँचता है। ये दोनों पदार्थ अपने पारस्परिक स्नेह के वश शरीर मे ही एक दूसरे से मिल जाते हैं और उनके ससर्ग से जो शक्ति मुक्त होती है उसी से वे अपना काम करते हैं और उसी से शरीर को गर्मी मिलती है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि हमारी भोजन-सामग्रियाँ ही वे शक्ति-भाडार हैं, जिन्हे हरे पेडों ने हमारे लिए तैयार किया है और जब हम चाहें इन शक्ति-भाडारों से थोडी-सी शक्ति को मुक्त करके काम ले सकते हैं। चूँकि पौधों मे भोजन की शक्ति धूप और रोशनी से प्राप्त होती है अतएव हम कह सकते हैं कि हमारा खाना बोतल में बन्द की हुई धूप ही है।

दुनिया में खाना बनाने का सबसे विचित्र कारखाना

बागो या खेतों मे आप पेडों को प्रतिदिन ही बढते देखते हैं, पर क्या आपके मन में यह विचार भी कभी उठता है कि पेड का प्रत्येक नया हिस्सा पत्तों मे बननेवाले भोज्य पदार्थों ही से बढ रहा है? जब आप आम या अमरूद को पेड पर बढते और पकते हुए देखते हैं तो क्या आपके जी में
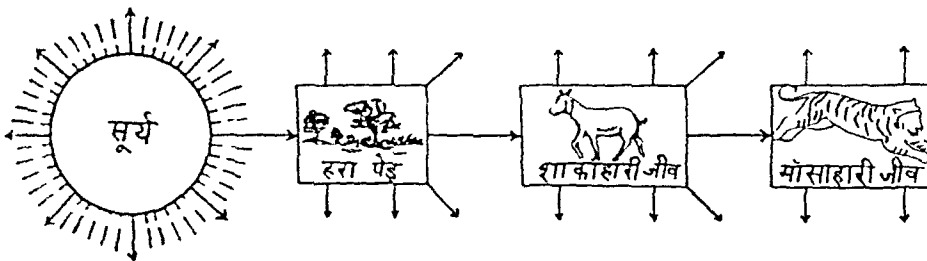
जीवों को शक्ति सूर्य से ही प्राप्त होती है

सूर्य की गर्मी उसकी किरणों द्वारा चारो ओर करोडों मील तक दौडती है। इस शक्ति को हरे वनस्पति ही पकडकर उसकी सहायता से हवा, पानी और धरती से लिये हुए पदार्थों को भोजन-सामग्री में परिवर्तित कर सकते हैं। जब शाकाहारी जन्तु इन वृक्षों के बनाये हुए भोजन-पदार्थ खाते हैं तो वे भी अपनी शक्ति इस प्रकार सूर्य से ही प्राप्त करते हैं और इस तरह इन जीवों को खाकर मांसाहारी जीव भी शक्ति ग्रहण करते हैं।

इस बात का भी कभी विचार उठता है कि उनके आस-पास के पत्ते कैसे शक्कर और अन्य आवश्यक वस्तुएँ बना-कर इन फलों में पहुँचाकर हमारे लिए इकट्ठा कर देते हैं? जब आप हरे पत्तों को धूप में फैले हुए देखते हैं तो क्या आपको इस बात की अनुभूति होती है कि आप दुनिया के सबसे मुख्य और आवश्यक कारखाने को देख रहे हैं, जो बिना शोरगुल के कार्बन द्वयोषिद, पानी और लवणों को अपने में चूसकर धूप की शक्ति का प्रयोग करते हुए उन खाद्य-पदार्थों को बनाते हैं, जिन्हें पाकर पौधों के अन्य भाग बढ़ते और अपने लिए शक्ति इकट्ठी करते हैं? हम मूली, गोभी, पालक इत्यादि के कोमल पत्ते, और चना-मटर का साग कच्चा ही या पकाकर भी खाते हैं। बहुतेरे जानवर तो बिल्कुल घास-पात ही खाकर रहते हैं। तेज दौड़नेवाले घोड़े और भारी बोझ ढोनेवाले बैल इन्हीं वनस्पतियों के द्वारा इतना बल प्राप्त करते हैं। आलू, गाजर, शकरकंद, शलजम, प्याज़ द्वारा हम वही एकत्रित भोजन सामग्री प्राप्त करते हैं, जिसे वनस्पति बनाकर अपने धरती में दबे हुए भागों में इकट्ठा करते हैं। गेहूँ का पौधा अपने बीज के लिए जो भंडार बनाता है, उसे ही पीसकर हम आटा बनाते हैं।
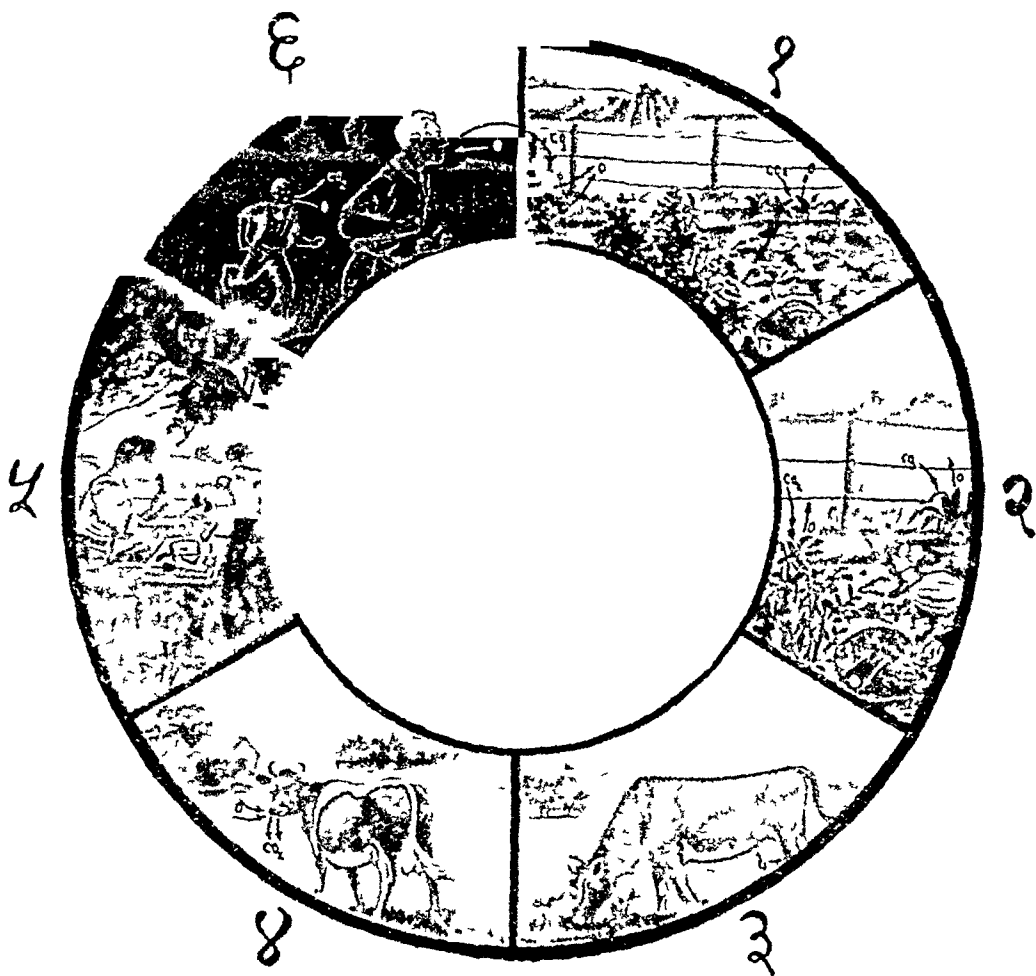
प्राणि-वनस्पति संसार का निरन्तरगामी चक्र

जिस प्रकार जीवधारी भोजन की शृंखला द्वारा एक दूसरे में गुँथे हुए हैं, उसी प्रकार जीवन की शक्ति की ज़ंजीर की कड़ियाँ सूर्य को हरी वनस्पतियों से, उन वनस्पतियों को शाकाहारी जीवों

प्राणि-वनस्पति-वर्ग के आश्चर्यजनक चक्र का एक दृश्य

पहले खाने में पृथ्वी पर सूर्य से प्रकाश और गर्मी के रूप में शक्ति आते दिखाई गई है। दूसरे खाने में हरे पेड़ इस शक्ति की सहायता से हवा से कार्बन द्वयोषिद लेकर कार्बन अपने में रख लेते और ओषजन वापस करते दिखलाई पड़ रहे हैं। तीसरे में एक गाय हरी वनस्पति को खाकर कार्बन प्राप्त कर रही है। चौथे में दिखलाया गया है कि गाय हवा से साँस लेने में ओषजन प्राप्त करती है जो उसके शरीर में जाकर खाए हुए पेड़-पत्तोंवाले कार्बन से मिलकर उसे शक्ति और गर्मी देता है और उसे चलने-फिरने योग्य बनाता है। जब गाय साँस बाहर निकालती है तो कार्बन गैस के रूप में शरीर से बाहर हवा में जा मिलता है और फिर पेड़ों के लिए उपस्थित हो जाता है। यही हाल सारे प्राणि-वनस्पति-जगत् का है। पाँचवें खाने में एक मनुष्य वनस्पति और मांस दोनों को ही खा रहा है। वह भी गाय के सदृश अपने भोजन से कार्बन पाता है और जब साँस लेता है तो ओषजन शरीर में जाकर उससे मिलता है। उन दोनों के मिलने से जो शक्ति मुक्त होती है उसी के कारण वह दौड़ता-भागता है जैसा कि छठे खाने में प्रकट हो रहा है। भागते समय जब साँस निकलती है तो कार्बोनिक एसिड गैस बाहर निकल जाती है और पेड़-पौधे फिर इस निकली हुई गैस को अपने काम में लाते हैं। इस तरह फिर वही चक्र शुरू हो जाता है।

से और शाकाहारी जीवों को मांसाहारी जीवों से मिलाए हुए हैं (जैसा कि पिछले पृष्ठ के चित्र में दर्शाया गया है)। ध्यान देने की बात है कि प्रकृति ने कैसे इतने सरल तरीक़े से सूर्य-शक्ति को बाँधने (इकट्ठा करने) और फिर उसे मुक्त करने का अद्‌भुत उपाय रचा है। वनस्पतियों को ऐसा बनाया है कि उन्हें अपने व्यवहार के लिए कार्बन की जरूरत होती है। जानवरों की रचना ऐसी की गई है कि उन्हें ओषजन ही चाहिए। कार्बन औ ओषजन दोनों ही, कार्बन द्वयोषिद के रूप में उस हवा में, जो पेड़ों और जानवरों दोनों को घेरे हुए हैं, सदा उपस्थित रहते हैं। सूर्य के विशाल भांडार से आवश्यक शक्ति बराबर आती रहती है। पेड़ इस शक्ति से काम लेकर हवा से कार्बन प्राप्त करते हैं और ओषजन को, जो उनके लिए बेकार है, फिर हवा में फेंक देते हैं। जानवर इस ओषजन को साँस द्वारा अपने काम में लाते हैं और जो कार्बोनिक एसिड गैस बेकार बचती है, उसे शरीर से बाहर निकाल देते हैं। यही कार्बन फिर पेड़ों के काम में आ जाता है।

प्रकृति का सदा चलता रहनेवाला चक्र ऐसा ही है, जिसमें कुछ भी बेकार नहीं जाता। इस जीवन-चक्र को चलाने के लिए न और कार्बन की जरूरत होती है और न ओषजन की ही। ये वस्तुएँ तो बार-बार उसी (जानवर से वनस्पति और वनस्पति से जानवर के) घेरे में घूमती रहती हैं। इस चक्र को चलता रखने के लिए केवल नई शक्ति ही और चाहिए और यह काफी मात्रा में हमको सूर्य से मिलती है, तथा मिलती रहेगी, जब तक कि उसमें तेज है। अब आप समझ गये होंगे कि कैसे सूर्य ही संसार भर पर राज्य करता है, कैसे वनस्पतियाँ धूप की शक्ति को जमा कर लेती हैं, कैसे जीव उस शक्ति को प्राप्त करते हैं और इसके लिए वे किस प्रकार वनस्पतियों पर निर्भर हैं तथा वनस्पतियाँ स्वयं किस प्रकार जीवधारियों पर निर्भर हैं। यही जीवन का निरंतर-गामी चक्र है।

ऊपर लिखने के अनुसार कोई भी जीवधारी न तो केवल अपने ही लिए जीता है और न दूसरे जीवों से सम्बन्ध रक्खे बिना जीवित ही रह सकता है। सर्वश्रेष्ठ प्रकृतिवादी चार्ल्स डार्विन ने ही यह बात सबसे पहले साफ़-साफ़ समझाई थी। छोटे-से-छोटा जीव भी उस सम्पूर्ण रचना का एक अंश है, जिसको हम प्रकृति की दुनिया कहते हैं। प्रत्येक जीवन अन्य असंख्य जीवनों से सम्बन्धित है। कोई भी केवल अपने लिए न जन्म लेता है और न मरता है। एक प्राणी के जीवन-चक्र से दूसरे प्राणियों के जीवन-चक्र भी संबंध रखते हैं। शहद की मक्खियाँ जब शहद की खोज में फूलों

स्थल जल
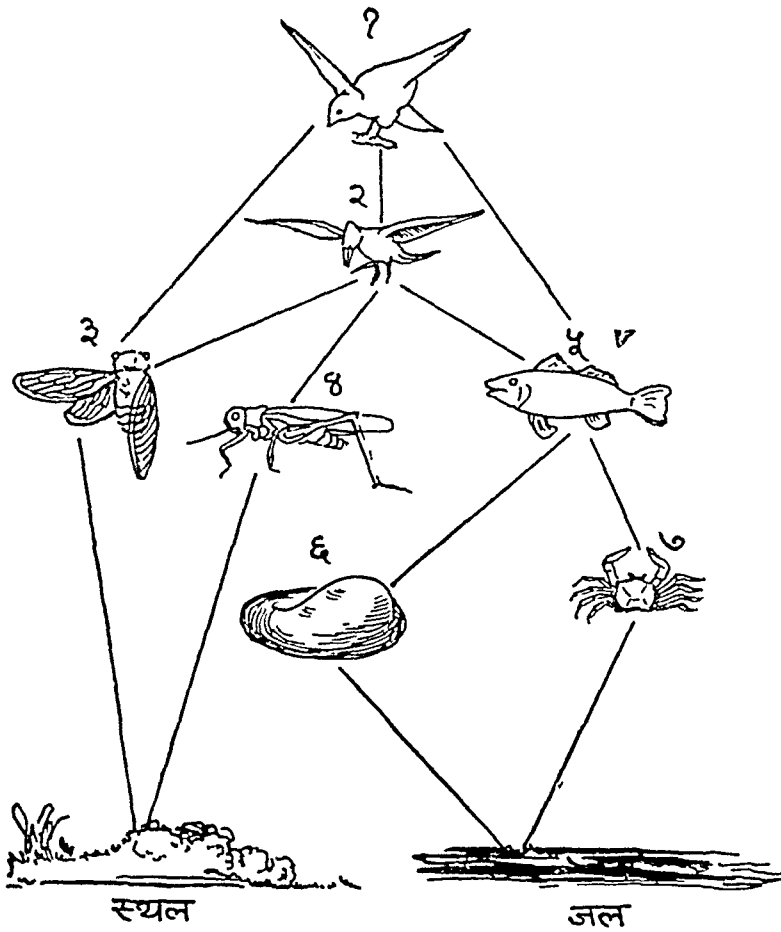
मांसाहारी चिड़िया के आहार की ज़ंजीर का एक दृश्य

सबसे ऊपर माहीगीर (१) जो अपने से छोटी चिड़ियों—लहिया (२) या छोटे चूहे आदि—को खाता है। माहीगीर और लहिया झींगुर (३) टिड्डे या भुनगे (४) इत्यादि कीटाणुओं तथा छोटी-छोटी मछलियों को पकड़कर खा जाते हैं। झींगुर और भुनगे इत्यादि स्थलवासी अन्य नन्हे-नन्हें जीवों तथा कूड़ा-कर्कट पर निर्वाह करते हैं। मछलियाँ जल में रहनेवाली सीप (६), केकड़े (७), घोंघे आदि जल-निवासी प्राणियों पर गुज़र करते हैं और ये सब जल में ही मिलनेवाले अन्य छोटे-छोटे जीवों को खाते हैं।

सुमात्रा द्वीप में एक समय चीतों का अधिक शिकार होने से वहाँ के निवासियों को अत्यन्त हानि पहुँची और वहाँ के हाकिम को चीतों का शिकार बन्द करने के लिए कानून बनाना पड़ा। ऐसा क्यों हुआ, आप इस चित्र को देखकर समझ सकेंगे। (ऊपर बाईं ओर से) चीता सुअर पर आक्रमण कर रहा है, चीते मारे जा रहे हैं; उनके अधिक मर जाने से सुअर बहुत बढ़ गए। (नीचे दाहिनी ओर से) इन बढ़े हुए सुअरों ने इतने खजूर के वृक्षों की छाल खाकर उन्हें सुखा डाला कि बहुत-से खजूर के तेल के कारखाने बन्द हो गए और काम करनेवालों की रोज़ी चली गई।

मे घुसती है तो वे एक फूल से दूसरे फूल तक बीज-कण पहुँचाने मे सहयोग देती हैं। उनका पारस्परिक व्यवहार हाथ और दस्ताने का-सा है। तालाबों मे रहनेवाली कुछ मछलियाँ मच्छरों के बच्चों को निगल जाती हैं और फसली बुखार (मलेरिया ज्वर) को रोकने मे सहायता करती हैं। इसलिए मनुष्य तथा ऐसी मछलियो, मच्छरों के बच्चो, मच्छरों और फसली बुखार मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। बाज कबूतर और चहे आदि छोटे पक्षियो को खाकर रहता है। चहे पानी मे रहनेवाली मछलियो का शिकार करते हैं, मछलियाँ जल के ही झींगो और उनकी ही तरह के और पर्तधारियो (Crustacea) को निगल जाती हैं और ये जीव अपने से भी छोटे एककोषीय जीवो एव नन्ही-नन्ही सूक्ष्म वनस्पतियो पर निर्भर रहते हैं। इन सब जीवो का पारस्परिक सम्बन्ध पृ० १३५४ का चित्र देखने से आपको भली भाँति समझ मे आ जायगा।

जीवन का जाल

इसी प्रकार और जीव भी एक-दूसरे के साथ मकड़ी के जाल की तरह बँधे हुए है और डार्विन साहब के 'जीवन के जाल' का यही आशय है। विभिन्न प्राणियो के जीवनो के धागे एक-दूसरे के साथ जाले की रेखाओ की तरह या कपड़े के सूतो के समान बुने हुए हैं। सर जे० ए० टाम्सन के कथनानुसार हम आसानी से कभी भी नही बतला सकते कि कोई धागा कहाँ तक हमको ले जाता है। यदि एक भी धागा खिच जाय तो बहुत-से धागे ढीले पड जाते हैं। यह बात प्रकृति मे इस छोर से उस छोर तक सरासर चली जाती है। जीवन के जाल का हर एक धागा दूसरे धागो पर निर्धारित है। प्रकृति और अपने पास-पड़ोस का ज्ञान हमको जितना अधिक होता है, उतना ही हमारी समझ मे आता जाता है कि प्रकृति विभिन्न कड़ियो की एक महान् सस्थिति है। इसमे दूसरो से बिल्कुल अलग रहना असम्भव है। हमको

नाना प्रकार के जीवों को बाँधे हुए इस तरह की कड़ियाँ सारे संसार में नजर आती हैं। इन जंजीरों की एक भी कड़ी टूट जाय या अलग हो जाय तो बाक़ी कड़ियों पर भी बिना असर पड़े नहीं रह सकता। जीवन-विज्ञान के इस सत्य के बहुत-से दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। यहाँ हम आपके सामने केवल दो ही उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं।

जीवन के जाल के कुछ उत्कृष्ट उदाहरण

भारतवर्ष और सुमात्रा जैसे देशों में मानव-जीवन के लिए चीता ख़तरे और जोखिम की वस्तु समझा जाता है और जब कोई चीता मारा जाता है तो लोग बड़े प्रसन्न होते हैं। वे समझते हैं कि उनका और उनकी भेड़-बकरियों का शिकार करनेवाला एक शत्रु कम हो गया। इसलिए कुछ साल पहले जब सुमात्रा के गवर्नर ने यह हुक्म निकाला कि कोई भी मनुष्य चीतों को बिल्कुल ही न मारे और जो इस हुक्म का पालन न करेगा उसे कड़ी सजा दी जायगी, तो वहाँ के निवासी बड़े ही आश्चर्य में पड़ गए। इस महाभयानक मनुष्याहारी हत्यारे जीव की रक्षा करने की यह योजना सुमात्रावासियों के समझ में नहीं आई, फिर भी ऐसी आज्ञा देने का कारण बड़ा ही उपयुक्त था।

अधिकांश द्वीपवासियों की समृद्धि वहाँ के खजूर जैसे ताड़ के पेड़ के तेल के व्यापार पर ही निर्भर है। हरे-भरे पेड़ों से तेल अच्छा मिलता है, जिससे लोग अधिक धन प्राप्त करके लाभ उठाते हैं। जंगली सुअर इन ताड़ या खजूर के पेड़ों का भीषण शत्रु है। वह अपने तीक्ष्ण दाँतों से इन पेड़ों के धड़ों की छाल उखाड़ डालता है, जिसके कारण वृक्ष सूखकर गिर जाते हैं और तब सुअर उनके फलों को खा जाते हैं। अगर जंगली सुअरों की संख्या किसी कारण बहुत बढ़ जाय तो वे उतने ही ज़्यादा पेड़ों को बरबाद कर दें और लोगों को आर्थिक
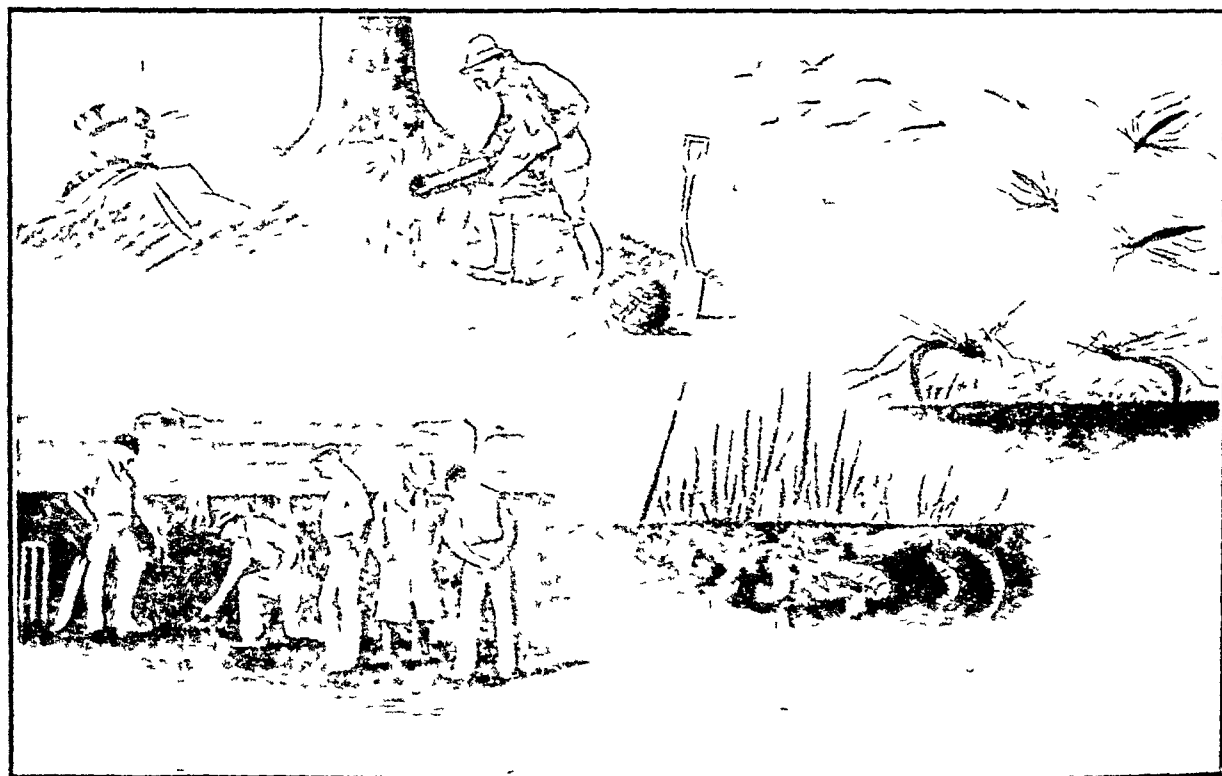
सन् १९३४ में बर्रों के असाधारण रीति से अधिक संख्या में मर जाने के कारण आगामी वर्ष विलायत में लार्डस् के प्रसिद्ध क्रिकेट के मैदान की घास ख़राब होकर कैसे खेल बिगड़ गया इसकी चित्रमय कहानी

(ऊपर से बाईं ओर से) बर्रें मारस-मक्खी का शिकार कर रही हैं, आदमी बर्रों के छत्ते जला रहा है, बर्रों के कम होने से मारस-मक्खियाँ ख़ूब बढ़ीं, (नीचे दाहिनी ओर से) उनके बच्चे बहुत हुए और वे घास की जड़ें खा गए; घास जगह-जगह गायब हो गई और खेलनेवाले अचम्भे में देख रहे हैं कि यह क्या हुआ।
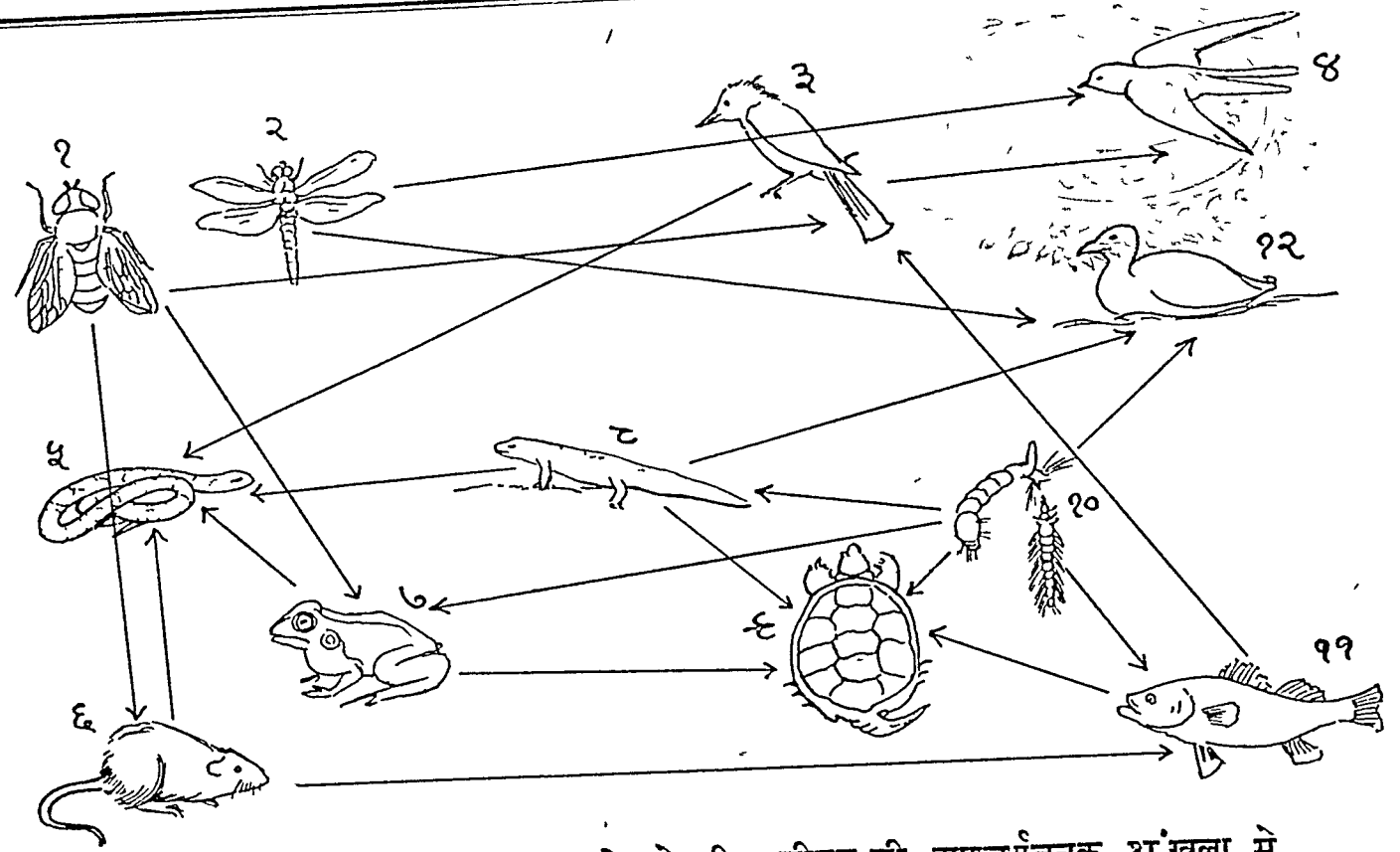
तालाब में और उसके आस-पास रहनेवाले जीव जीवन की आश्चर्यजनक शृंखला मे एक-दूसरे से कैसे गुँथे हुए रहते हैं ?

हवा में उडनेवाले पतिगे और चिडियाँ १-४, स्थल-वासी साँप और चूहे ५-६, जल-थल-चर मेढक, न्यूट और कछुआ ७-९, जल-चर कीडे-मकोडे, मछली और बतख़ १०-१२, कैसे एक दूसरे को पकडते और खाते हैं तथा सदा जीवन-संग्राम मे व्यस्त रहते हैं, यह ऊपर के चित्र द्वारा दर्शाया गया है। तीरों की नोक से विदित होता है कि कौन-सा जीव किस जीव को खाता है। इससे हमें ज्ञात होता है कि एक ही विशिष्ट आवेष्ठन (environment) मे प्रकृति ने जीवधारियों के निर्वाह का कैसा प्रबंध कर रक्खा है।

हानि पहुँचाएँ। सभी जानते हैं कि चीता जगली सुअर का भी वैरी है और अन्य जानवरो के मास की अपेक्षा उसे जगली सुअरो का मास ही अधिक अच्छा लगता है। इसीलिए जब चीते काफी बढ जाते हैं तो जगली सुअरो को खाकर उनकी सख्या को बढने से दबाए रहते हैं। जब शिकारियों ने बहुत-से चीते मार डाले तब सुमात्रा मे उनकी सख्या इतनी कम हो गई कि जगली सुअर बहुत बढ गए और उन्होंने इतने ताड के पेड नष्ट कर डाले कि तेल के कारखाने बन्द हो गए। कारख़ानो के नौकर छुडा दिये गये और लोगों को जीविका प्राप्त करना कठिन हो गया। इसलिए वहाँ के गवर्नर को जनता की भलाई के ही ध्यान से चीतो की रक्षा का हुक्म निकालना पडा। मनुष्य, तेल, ताड का पेड, सुअर, तथा चीते के ज़ज़ीर की एक कडी (चीता) के कमज़ोर होने से सब कड़ियो का समतुलन अव्यवस्थित हो गया।

इससे भी एक रोचक उदाहरण सन् १९३५ मे विलायत मे देखने मे आया था। वहाँ का क्रिकेट खेलने का प्रसिद्ध लॉर्डस् वाला मैदान ख़राब हो जाने से खेल मे बडी बाधा पडी। घास के ख़राब हो जाने के कारण की खोज की गई तो घास की जड खानेवाले एक प्रकार के कीडे उस साल सारे घास के मैदान मे मिट्टी के नीचे बहुत बडी सख्या मे दिखलाई पडे। ये कीडे ममीरों-जैसी उडनेवाली सारस-मक्खी (Crane fly) के बच्चे होते हैं, जो जमीन के नीचे घास की जडो को खाकर रहते हैं। ये मक्खियाँ भी उस साल मैदान मे बहुत कसरत से थीं।

बरैंया या ततैया इन मक्खियों को डक मारकर खा जाती हैं। जाँच करने से पता चला कि पिछले साल मे असाधारण तौर से वहाँ बरैंयो के छत्ते नष्ट हो गए थे। फल यह हुआ कि सन् १९३५ मे बरैंयो की तादाद कम रह गई और सारस-मक्खियाँ, जिन्हें बरैंयाँ खाया करती थीं, ख़ूब बढ़ी और पहले सालों की अपेक्षा उनके अडे और

बच्चे भी खूब पैदा हुए। क्रिकेट के मैदान की घास उस साल अच्छी न होने का यही कारण था।

दुनिया के भिन्न-भिन्न भागो मे इसी तरह का पारस्परिक व्यवहार, ऐसा ही समतुलन, वर्षों के बाद घटने-बढने व मिलने-जुलने से क़ायम हो गया है। दुनिया के सब हिस्सो मे एक से ही सम्बन्ध नहीं मिलते। हर जगह वहाँ की जलवायु, भूमि और पडोस के अनुसार वे बदलते रहते हैं। हर जगह के वनस्पतियों और जानवरों मे आपस मे वहाँ की दशा के उपयुक्त ऐसा पारस्परिक व्यवहार बँध जाता है कि जिससे वे सब साथ-साथ रह सकते हैं। सभी को अपनी जरूरत के अनुकूल भोजन और स्थान मिल जाता है। एक-दूसरे पर आक्रमण करते रहने और एक-दूसरे को खा जाने पर भी एक उपजाति के जीव दूसरी उपजाति के प्राणियो को बिलकुल नष्ट नहीं कर डालते—वे प्रकृति के साधारण मेल को क़ायम रखते हुए अपना उचित भाग ही लेते रहते हैं। बहुधा इस स्थायी समतुलन मे भी घटा-बढी होती रहती है, क्योंकि जीवन के जाल में अभी तक और बुना-बुनी लगी हुई है। कभी-कभी एक ऐसी बात, जो ऊपरी दिखावे मे बहुत छोटी-सी मालूम होती है, कुछ समय के लिए समतुलन मे बाधा डाल देती है। परन्तु प्रकृति थोडे-बहुत दिनों मे फिर सब बातो को अपने आप ज्यो-की-त्यों ठीक कर लेती है।

एक बार की बात है कि दक्षिणी अमेरिका में वसन्त ऋतु जल्दी ही शुरू हो गई और गर्मी लगते ही अन्य सालों से अधिक वर्षा हुई। सब चीज़ों की पैदावार खूब अच्छी हुई। फूल भी खूब आए और शहद की मक्खियों ने उनसे यथाशक्ति लाभ उठाया और अपनी सख्या भी खूब बढा-चढा ली। यहाँ तक तो जो हुआ वह अच्छा ही हुआ, लेकिन जगली चुहियों ने इन मक्खियों का बडा पीछा किया और उनको खाने से इन चुहियो की इतनी वृद्धि हुई कि गर्मी समाप्त होने से पहले ही सारा देश उनसे भर गया। सचमुच ये चुहियाँ उस समय बडा दु:ख देने लगीं। बस्तियो के निकट कुत्ते और बिल्लियाँ बराबर उनका शिकार करते थे। कहा तो यह भी जाता है कि मुर्गियाँ तक उनको खाने लगी थीं। उल्लू और बाज़-जैसी शिकारी चिड़ियाँ, जो और सालो मे उडकर दूसरी जगह चली जाया करती थीं, अपना भोजन वहीं पर बहुतायत से पा जाने के कारण वहीं रह गईं। ये चुहियाँ इतनी अधिक हो गई थीं कि अपने खाने की सारी सामग्री को वे सफाचट कर गई थीं। इसलिए वे कमज़ोर और रोगी हो गईं। फलस्वरूप अगली वसन्त ऋतु आते-आते वे बहुत कम बची रह गईं। वे सब तो मर नही गई थीं, अतएव दो एक वर्ष मे फिर अपनी औसत सख्या तक पहुँच गईं और प्रकृति का सतुलन फिर ज्यों-का-त्यों हो गया। इस प्रकार के बहुतेरे उदाहरण हैं। इस छोटी-सी पुस्तक मे हम उन्हें कहाँ तक लिखे!

प्रकृति के समतुलन में मनुष्य द्वारा बाधा

कभी-कभी मनुष्य ख़ुद अपनी ही करतूतो से जान बूझकर या अनजान मे किसी देश की प्रकृति के समतुलन मे बाधा डाल देता है और उसका फल भी उसे भुगतना पडता है। इसका एक बडा अच्छा उदाहरण आस्ट्रेलिया मे खरगोशों के ले जाने का है। वहाँ खरगोश बिल्कुल न थे। वहाँ आरभ मे बसनेवाले अग्रेज़ो ने थोडे से पालतू खरगोश ले जाकर खेतों मे छोड दिए और उनकी रक्षा के लिए क़ानून बना दिए। चूँकि वहाँ खरगोशों पर आक्रमण करनेवाले क़ुदरती शत्रु कुत्ते, बिल्ली, भेडिया इत्यादि न थे, अतएव वे थोडे ही वर्षों मे वहाँ इतने बढे कि नाज पैदा होना असम्भव-सा हो गया। खेत के खेत मौक़ा पाने पर वे रात भर मे साफ करने लगे। तब जनता को उनकी सख्या कम करने का प्रयत्न करना पडा। किसानों के लिए यह क़ानूनी हुक्म हो गया कि वे ख़रगोशों को मारें, उन्हे विष दें और उनके बिलों को खोदकर फेंक दें। इस पर शिकारियों के झुंड-के-झुंड निकल पडे और कोसों से घेर-घेरकर खेतों में उनका शिकार किया गया। इतना सब करने पर भी उनसे चैन पाना कठिन हो गया।

अचम्भे की बात है कि पूर्वी भागों से ये खरगोश पश्चिमी आस्ट्रेलिया मे भी लगभग १००० मील के बीहड और जलहीन मैदानों को पार कर पहुँच गए। वहाँ की और उत्तरी क्वीन्सलैंड की सरकारो को उनसे युद्ध ठानना पड़ा। ख़रगोशों को रोकने के लिए उन्होंने हजारो मील तक इकहरी ही नहीं बल्कि दोहरी टट्टियाँ बनाईं। इनके ऊपर बराबर पहरेदार रहते हैं, जो टट्टी के टूट जाने पर उसकी फौरन् मरम्मत करते हैं और ख़रगोश को देखते ही मार डालते हैं। दीवारे या टट्टियाँ जमीन के अन्दर तक इतनी गहरी बनाई गई हैं कि ख़रगोश उनके नीचे बिल खोदकर उस पार न पहुँच जायँ। खरगोशों से भरे हुए विक्टोरिया नामक प्रान्त में यह नियम है कि जो कोई ख़रगोश पालेगा उस पर १०० पौंड जुरमाना होगा। ऐसा ही नुक़सान सयुक्त राज्य अमेरिका मे भी ख़रगोशों और गौरैयों के प्रचार करने से हुआ। पर यहाँ हम इनका विस्तृत वर्णन करने मे असमर्थ हैं।
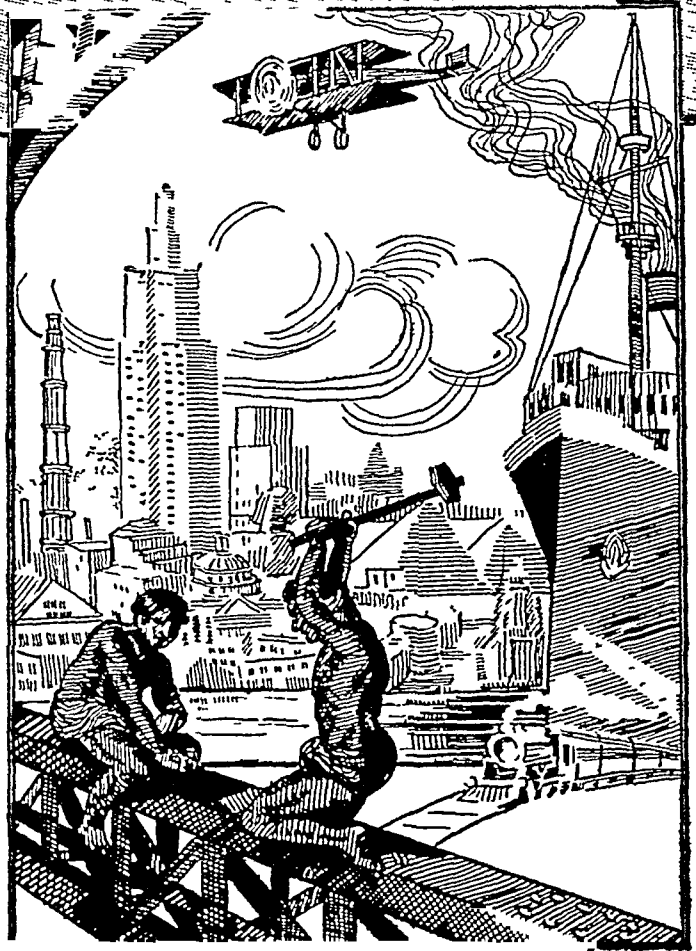
मनुष्य की कहानी
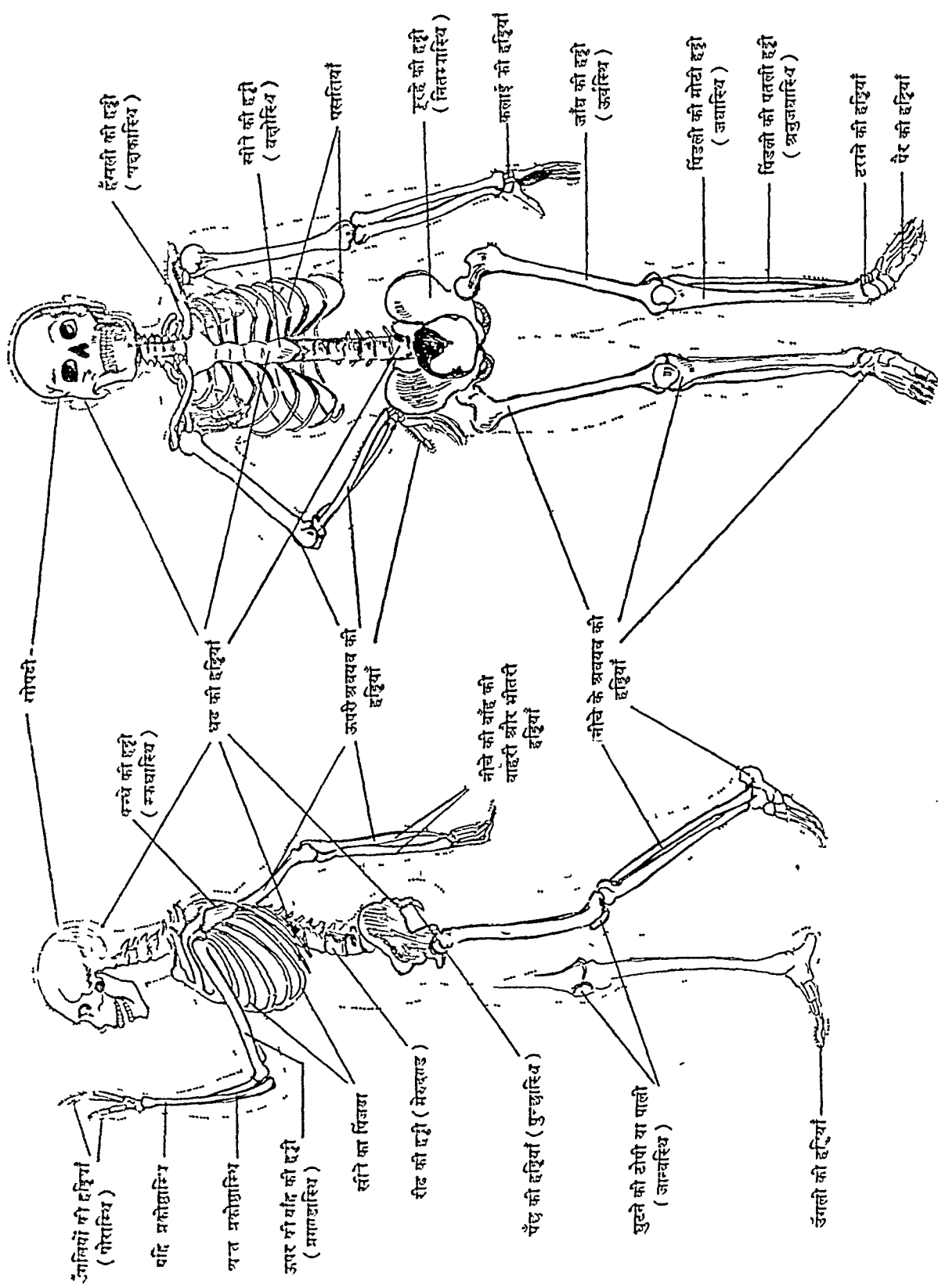
अस्थि-पंजर के पार्श्व और सामने के चित्र (कटावदार रेखा शरीर की स्थूल रूपरेखा को सूचित करती है)

हम और हमारा शरीर

शरीर को स्थिर रखनेवाला सुदृढ़ लचीला आधार—अस्थिपंजर

सम्पूर्ण शरीर पर मढी हुई खाल और उसके नीचे रहनेवाली मास-पेशियो की रचना और उनके अद्भुत कर्त्तव्यो का रोचक विवरण हम आपको सुना चुके हैं। अब हम आपका ध्यान हड्डियो के उस ढॉचे की ओर ले जाना चाहते हैं, जो मास के नीचे छिपा हुआ है। यह तो आप सब जानते ही हैं कि शरीर को टटोलने पर मास के नीचे जो कडे भाग जान पडते हैं वही हड्डियॉ हैं। यह बात भी सर्वविदित है कि हाथ-पैर, उँगली और खोपडी की हड्डियॉ एक-सी नही हैं। क्या आपने कभी यह सोचा है कि बॉह के अगले हिस्से को तो आप कोहनी से घुमा सकते हैं लेकिन अगली टॉग को आप घुटने पर क्यो नही मोड सकते ? आपको यह तो मालूम होगा कि शरीर में कई हड्डियॉ हैं, किन्तु कदाचित् आपमे से बहुतों को यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य होगा कि इन हड्डियों की सख्या २०० से भी अधिक है और वे सब हमारे शरीर मे कई आवश्यक कार्य करती हैं। इस लेख मे हम इन्ही का रोचक वर्णन करने जा रहे हैं।

हड्डियो का आकार-प्रकार भिन्न क्यो है ?

अधिकतर जीवों मे हड्डी एक नितान्त आवश्यक वस्तु है। जिस प्रकार प्रत्येक पेचीदा यन्त्र मे उसका एक ढॉचा अवश्य ही होता है, जिस पर उसके भिन्न-भिन्न पुर्जे सधे रहते हैं, उसी भॉति शरीर-रूपी कल मे भी एक कडी ठठरी है, जिसको ककाल या अस्थि-पजर कहते हैं और जो बहुत-से टुकडो या हड्डियो से बनी हुई है। यदि हम शरीर से खाल, मास और अन्य कोमल अगो को काट-छॉटकर निकाल दे तो हड्डियो की एक ठठरी ही शेष बच रहेगी, जिसके सम्मुख और बगल से लिये गए चित्र इसी पृष्ठ के सामने बने हुए हैं। इनके देखने से आपकी समझ मे आ जायगा कि इस ढॉचे मे बहुत-सी भिन्न-भिन्न आकारो की हड्डियॉ हैं और ये ठठरी मे सिर से लेकर पैर तक फैली हुई हैं। ये असख्य हड्डियॉ सब एक-सी ही नही हैं। वास्तव मे यदि ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि सब हड्डियॉ भिन्न-भिन्न हैं, उनमे से कोई भी किसी से मिलती नही है। कुछ खोखली हैं तो कुछ ठोस हैं, कुछ बहुत पतली हैं तो कुछ बहुत मोटी, कुछ बिलकुल नन्ही-सी हैं तो कुछ बहुत लम्बी, कुछ सीधी हैं और कुछ टेढी या घुमावदार। ऐसा क्यो है ? उदाहरण के लिए कलाई, हाथ और उँगलियो की हड्डियो पर ही ध्यान दीजिए। ये हड्डियॉ आपस मे जिस रीति से मिली हुई हैं वह पेचीदा अथवा असाधारण प्रतीत होती हैं; किन्तु यह निश्चित समझिए कि इस ढॉचे का प्रत्येक भाग कोई-न-कोई उपयोगी काम देता है और हर एक की रचना ऐसी की गई है कि वह अपना काम पूर्ण योग्यता से कर सके। हाथ और कलाई की हड्डियो के तेरहो टुकडे इतनी सुन्दरता से एक-दूसरे के साथ मिलाये गये हैं कि जब हम क़लम से लिखते हैं, हथौडा चलाते हैं, सुई से सीते हैं, भीगे हुए कपडे को निचोडते हैं, शरीर को धोते हैं, या हजारों अन्य कठोर या सुकुमार कार्य अपने हाथो से लेते हैं, तब ये हड्डियॉ बडी सुन्दरता से मिल-जुलकर अपना काम कर लेती हैं। इनसे अच्छा कोई भी प्रबन्ध का सोचना या ध्यान मे आना असम्भव-सा जान पडता है। यदि इन हड्डियो की सख्या कम होती तो हथौडा या और कोई भारी औज़ार चलाने पर हमे ऐसा धक्का लगता कि कदाचित् उसे हमारा हाथ न सह सकता और शायद वह टूट जाता।

हड्डियो के पारस्परिक अन्तर का इससे भी मनोरजक उदाहरण हमे ऊपरी और निचली बॉह की हड्डियो मे दिखलाई पडता है। ठठरियो के चित्र मे दिखलाई पड रहा है कि ऊपरी बॉह मे तो एक ही हड्डी है, किन्तु नीचेवाली बॉह मे दो हड्डियॉ हैं। यह क्यो ? जब भुजा के ऊपरी भाग मे एक हड्डी से काम चलता है, तो नीचेवाली मे दो की आवश्यकता क्यो है ? क्या प्रकृति से कोई भूल हो गई है ? नही। नीचे की बॉह मे दो हड्डियो के होने से ही हम सारी घुमाने-

मरोड़नेवाली गतियाँ कर सकते हैं। यदि उसमें ऊपरी बाँह के समान एक ही हड्डी होती तो हम न तो दीवाल-घड़ी में चाभी ही लगा पाते और न पेचकश से ही काम ले सकते। इस प्रकार के बहुतेरे मरोड़ने और ऐंठनेवाले काम करना हमारे लिए उस हालत में दुष्कर हो जाता। यही बात टाँग की हड्डियों के विषय में भी कही जा सकती है।

अन्य हड्डियों के भी आकार और रचना के भिन्न-भिन्न होने के ऐसे ही अनेक कारण हैं। खोपड़ी, सीने और कन्धे की सभी हड्डियाँ चपटी हैं। भुजाओं और टाँगों की हड्डियाँ लम्बी, गोल और खोखली हैं। रीढ की हड्डियाँ ऐसी हैं कि उनकी गिनती न चपटी हड्डियों में ही हो सकती है और न लम्बी में ही। चपटी हड्डियाँ वहीं हैं जहाँ भीतर के आवश्यक यन्त्रों की रक्षा करनी होती है। शरीर का आवश्यक अवयव मस्तिष्क खोपड़ी की चपटी हड्डियों के अन्दर ही बंद है। इसी तरह सीने की हड्डियों से हृदय, फेफड़े जैसे जरूरी अंग सुरक्षित हैं। जिन अंगों को हिलाने-डुलाने की आवश्यकता पड़ती है, उनकी हड्डियाँ लम्बी हैं, परन्तु इस ख़याल से कि पेशियाँ उन्हें सहज में चला-फिरा सकें, वे पोली रक्खी गई हैं, ताकि उनका बोझ न बढ़े। प्रकृति ने शरीर के हर एक भाग की हड्डी को उस भाग के कार्य के उपयुक्त ही बनाया है।

हड्डियाँ क्या करती हैं ?

आइए, अब हम यह जानने की कोशिश करें कि हड्डियों से बने हुए ढाँचे के और क्या-क्या काम हैं? ढाँचे का सबसे पहला कर्त्तव्य शरीर को साधे रहना और उसके रूप को स्थिर रखना है। यही कारण है कि अधिकांश जीवों में अस्थि-पंजर की उपस्थिति नितान्त आवश्यक है। यदि किसी अदृश्य किरण के द्वारा एक हाथी अथवा मनुष्य के शरीर की हड्डियाँ गायब कर दी जायँ या गला दी जायँ तो कल्पना कीजिए कि उसकी क्या दशा हो जायगी? वह अपनी शक्ल-सूरत खोकर मांस का एक लोथड़ा बन जायगा। हड्डी के बिना मानव-रूपी कल ऐसी लाचार हो जायगी जैसे कि पानी के बाहर मछली। अगर शरीर में हड्डियाँ न होतीं तो न वह सीधा खड़ा हो सकता और न वह तेजी से चल-फिर ही सकता। इसलिए हड्डियों का सबसे जरूरी काम शरीर के आकार को स्थिर रखना है।

दूसरा काम शरीर के सबसे आवश्यक अंगों की रक्षा करना है। कई हड्डियों के मिल जाने से हमारे शरीर में दो मुख्य खाने या सन्दूक-से बन गए हैं, जिनमें शरीर के सबसे जरूरी अंग सुरक्षित हैं। शरीर का सर्वोत्तम अवयव मस्तिष्क कैसी सुदृढ खोपड़ी के भीतर बन्द है! उससे निकलनेवाली महत्त्वपूर्ण सुषुम्ना नाड़ी, जो सारे शरीर के कार्यों का निदर्शन करती है, खोखली पीठ की मजबूत खोखली गुरियों में से होकर जाती है। भीतरी कान और आँखें इसीलिए खोपड़ी के गड्ढों में घुसे हुए हैं कि सहज में उन्हें चोट न लग जाय। पसलियाँ और सीने की हड्डी भी मिलकर एक पिंजड़े का काम देती हैं, जिसमें हृदय और फेफड़ों-जैसे क़ीमती अंग सुरक्षित हैं। यदि ये आवश्यक अंग हड्डियों के कोष्ठ या पिंजड़े में सुरक्षित न होते तो बात की बात में टूट-फूट जाया करते और शरीर बेकार हो जाता।

हड्डियों का तीसरा काम यह है कि उनसे पुट्ठे जुटे रहते हैं और इस प्रकार हड्डियों से जुटे रहने ही के कारण वे शरीर के अंगों में गति या चाल पैदा करते हैं। जोड़दार हड्डीवाले जानवरों में पेशियाँ जोड़ों ही के ऊपर सिकुड़ या फैलकर अपना काम करती हैं और उन्हें इधर-उधर सरका और मोड़ सकती हैं। इसी प्रकार उन्हें चलने-फिरने तथा अन्य कामों को करने की शक्ति प्राप्त होती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण टाँग और हाथ की हड्डियाँ हैं। वे एक दूसरे से इस तरह लगी हुई हैं कि जब उनमें चिपटे हुए पुट्ठे सिकुड़ते या फैलते हैं तो हम अपनी टाँगों को आगे-पीछे हटाकर चल-फिर सकते और बाँह को आगे की ओर फैला या पीछे की ओर मोड़ सकते हैं। सीने की हड्डियों में चिपटे हुए पुट्ठों के ही सिकुड़ने और फैलने से हम अपनी पसलियों को साँस लेते समय ऊँचा या नीचा कर सकते हैं, जिससे फेफड़ों में हवा भरती या निकलती रहती है।

यह सच है कि गति पुट्ठों ही से होती है, लेकिन यदि हड्डियाँ एक 'लीवर' या टेकन का कार्य न करतीं तो पुट्ठे बिलकुल बेकार हो जाते—गति करना उनके लिए असम्भव हो जाता। हम नित्य ही देखते हैं कि जब एक मज़दूर किसी भारी पत्थर को ढकेलना चाहता है तो वह एक लम्बे टेकने की मदद लेता है। वह पत्थर के नीचे छड़ को टेककर भारी बोझ को सहज में सरका लेता है। कभी-कभी टेक लगाने के लिए वह दूसरे छोटे पत्थर या लकड़ी के कुन्दे का भी सहारा लेता है। हड्डियों में भी एक-दूसरे के बीच में चूल होती है और चूल के ऊपर एक हड्डी को दूसरे की तरफ खींचना पुट्ठों का ही काम है। इसलिए हड्डियाँ जोड़ों के ऊपर एक टेकने का ही काम देती हैं। लेकिन वे अधिकांश अवस्थाओं में उपरोक्त वर्णित टेकने से भिन्न हैं। शरीर-रूपी मशीन में बहुधा अपने सामर्थ्य से भी अधिक तेज़ गति उत्पन्न करने की आवश्यकता होती

है। जब एक बच्चा सडक पर अपनी ओर मोटर आते देखता है तो उसके लिए आवश्यक है कि उसके पुट्ठे टॉगों की हड्डियों को इस प्रकार खींचे कि उसका शरीर मोटर के रास्ते से जल्दी ही हट जाय और ऐसा ही होता भी है। उदाहरणार्थ—द्विशिरस्का नामक पेशी नीचे की बॉह की हड्डी के दसवे भाग पर लगी हुई है। इससे यह होता है कि जब हड्डी का वह हिस्सा, जहॉ पेशी चिपटी हुई है, एक इच हटता है तो हाथ दस इच हट जाता है। हाथ-पैर की सारी गति इसी प्रकार के टेकनों द्वारा होती है। इसी व्यवस्था के कारण हम तेज़ी से दौड सकते, सहज मे कूद जाते, ज़ोर से गेंद फेक लेते और अन्य फुर्ती के काम कर सकते हैं। इनके अलावा हड्डियॉ सारे शरीर मे दृढता भी लाती और शरीर के तन्तुओ को सहारा देती हैं। यदि हड्डियॉ न हो तो हरएक भाग पर दबाव आदि पडने पर शरीर अपना रूप ही बदल दे। हाथ और पैरो मे यदि हड्डियो के कारण दृढता न होती तो न हम भारी बोझ उठा सकते और न पैरो के सहारे खडे ही हो सकते।

खोपड़ी के सामने और पार्श्व के चित्र (दे० पृ० १३६४ का मैटर)

ढॉचे की विशेषता

हड्डियो का ढॉचा हमारे शरीर को दृढ और सीधा तो रखता है, परन्तु वह एक कारख़ाने या मकान की ठठरी की तरह बिल्कुल सीधा और अचल नही है। वह तो मज़बूत होते हुए भी जगह-जगह से मुड जाता है, जिससे हम इच्छानुसार अगो को तोड-मोड़, घुमा-फिराकर उनसे विविध काम ले सकते है। यही तो उसकी ख़ूबी है। उसकी दृढता और जगह-जगह का लचीलापन ये दोनो ही विशेषताऍ सराहनीय और अचम्भित कर देनेवाली हैं। अगर यह ढॉचा सिर से पैर तक कठोर और अचल होता, यदि उसमे बहुत-सी छोटी-छोटी जोडदार हड्डियों की जगह एक-दो या थोडी ही सी बडी हड्डियॉ होती, तो न हमारी उॅगलियॉ मुड़ती, न हाथ घूमते, न पैर ही उठते और न गर्दन ही इधर-उधर को हिल पाती। पर यह ढॉचा तो मज़बूत और कड़ा होते हुए भी ऐसा बना है कि जगह-

जगह झुक और मुड़ सकता है। यह इसी कारण से है कि वह बहुत-सी हड्डियों का बना हुआ है। इससे ढाँचे को दृढता प्राप्त होती है, जो एक ही बड़ी हड्डी से बने हुए ढाँचे में कदापि नहीं हो सकती थी। एक ही अग मे कई हड्डियाँ क्यों होनी चाहिए, इसका उत्तर यह है कि अगर एक अग में एक ही हड्डी रहती तो चोट अथवा किसी कारणवश उसके टूट जाने पर वह अग बिल्कुल बेकार हो जाता। कई हड्डियो के होने मे, यदि एक हड्डी या उसके किसी एक भाग पर चोट आ जाती है तो उसकी तकलीफ उसी हड्डी या जगह पर जान पड़ती है—सारा अग उससे बेकार नहीं हो पाता।

कठोर परिश्रम और अध्यवसाय से हम अपनी ठठरी की शक्ति और लचक अधिक भी कर सकते हैं। साधारण मनुष्य छोटी-सी गाड़ी और इक्के के नीचे दब जाय तो उसकी हड्डी-पसली टूट जाती हैं, परन्तु भारतवर्ष मे कौन राममूर्त्ति के व्यायाम-सबधी करतबो से परिचित नही है? वह मनों भारी पत्थर की सिल अपने सीने पर रखकर तोड़वा लेते थे और आदमियो से लदी गाडी को अपने ऊपर रक्खे हुए तख्ते पर से बेखटके निकलवा लेते थे। इससे स्पष्ट है कि कसरत इत्यादि से हड्डियों मे महान् शक्ति आ सकती है। हमने यह भी देखा है कि सरकस मे काम करनेवाले कई खिलाड़ी अपने शरीर को ऐसा मोड-माड़ लेते हैं कि मानों उनके शरीर मे हड्डी है ही नहीं! बचपन मे हड्डियों मे लचीलापन अधिक होता है और बुढापे में कम हो जाता है। यही कारण है कि बच्चों की हड्डियाँ जल्दी मुड जाती हैं, परन्तु टूटती नहीं और सयानों की हड्डी जल्द टूट जाती है। यही इस ढाँचे की विशेषता है। यह सख्त भी है और लचीला भी।

अस्थिपंजर के हिस्से और हड्डियों की संख्या

ठठरी का चित्र देखने से पता चलता है कि वह दो मुख्य भागो मे विभाजित हो सकती है—एक वह सीधा खडा हिस्सा, जिसमे खोपडी और पीठ व सीने की हड्डियाँ शामिल हैं, दूसरा वह भाग जो इस बीच के सीधे भाग से दोनों भुजाओं और टाँगो तथा कन्धे व कूल्हे की हड्डियों के रूप में लटका है।

पूर्ण वयस्क मनुष्य की ठठरी में लगभग २०६ भिन्न-भिन्न हड्डियाँ होती हैं, लेकिन जीवन की सभी अवस्थाओं में उनकी सख्या एक-सी नहीं रहती। नवजात बालक मे २७० हड्डियाँ होती हैं। इनमे से कुछ बड़े होने पर एक दूसरे से जुट जाती हैं। कई हड्डियाँ ऐसी होती हैं, जो जवानी मे अलग रहती हैं, किन्तु वृद्धावस्था मे एक दूसरे से मिल जाती हैं। रीढ मे पहले-पहल ३३ अलग-अलग टुकडे या मोहरे होते हैं। इनमे से २४ आम तौर से जिन्दगी भर एक-दूसरे से पृथक् बने रहते हैं। २५वे से लेकर २९वे तक एक-दूसरे से जुटकर मजबूत कूल्हे या त्रिक की हड्डी बन जाते हैं और पीछे के शेष चार मोहरे भी बहुधा एक-दूसरे मे सटकर पूँछ की एक हड्डी मे परिणत हो जाते हैं। इसी तरह युवावस्था मे खोपडी मे २२ भिन्न-भिन्न हड्डियाँ दिखलाई पडती हैं, लेकिन बच्चे की खोपडी में उससे ज्यादा और वृद्ध की खोपडी मे उससे कम हड्डियाँ पाई जाती हैं।

शरीर के ढाँचे की २०६ हड्डियाँ निम्न प्रकार बँटी हैं—

खोपड़ी	चेहरे मे १४, ऊपरी हिस्से मे ८, कुल २२
रीढ़	२४ + २ (५ + ४) = २६
भुजाएँ	हर एक मे ३२, दोनो मे ६४
पैर	हर एक मे ३१, दोनों मे ६२
सीना	२५

ये सब १९९ हड्डियाँ हुईं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक कान मे ३ हड्डियाँ हैं और १ हड्डी स्वरयत्र और दाढी के बीच में होती है। इस तरह यदि हम शरीर को सात भागों मे विभक्त कर दे—एक खोपड़ी, दूसरा गर्दन, तीसरा धड और शेष चार हाथ-पैर—तो हम देखेंगे कि प्रत्येक भाग मे लगभग ३० हड्डियाँ होती हैं। इस लेख मे इन सब हड्डियों का विस्तारपूर्वक वर्णन करना सभव नही है, इसलिए हम अस्थिपजर के भागों का थोडा-सा हाल सक्षेप मे देकर आगे बढेंगे।

खोपड़ी

सर्वप्रथम भाग खोपडी ही है। इसके मजबूत प्रकोष्ठ में शरीर का सर्वोत्कृष्ट अग मस्तिष्क है। जैसा कहा जा चुका है यह भाग बहुत-सी हड्डियों तथा नर्म चबनी (Cartilage) से मिलकर बना है। खोपडी से ही मिली हुई कानो की हड्डियाँ, आँखों के गड्ढे और नाक के छेद हैं। नाक के भीतरी छेद और मुँह के बीच मे तालू की हड्डी है। हमारे जबडे भी, जिनमे दाँत लगे हुए हैं, खोपडी से ही मिले हुए हैं। ऊपर का जबड़ा तो खोपडी से बिलकुल जुटा रहता है, परन्तु नीचे के जबडे की हड्डी खोपड़ी से अलग होती है—केवल आँखों के पीछे चूल पर वह खोपडी से लगी रहती है। इसमे चूल होने के ही कारण हम नीचे के जबडे को नीचे-ऊपर उठाकर अपना मुँह खोल और बन्द कर सकते हैं। ऊपरी जबडे की हड्डियाँ उतनी मजबूत नहीं होतीं, जितनी कि नीचे के जबडे की। दोनो ही मे सोलह-सोलह दाँतों के लिए गड्ढे होते हैं। चेहरे की सबसे बड़ी और मजबूत हड्डी नीचे का जबडा ही है, जो न केवल ऊपर-नीचे ही को हिलती और चलती है, वरन् दाहिने-बाएँ भी घूम लेती है। इसी से हम भोजन अच्छी तरह चबा सकते हैं।

रीढ़ और उसकी रचना

(बाईं ओर) रीढ और उसके मोहरे; (बीच मे) रीलों मे रस्सी पिरोकर बनाया गया रीढ का नमूना, (दाहिनी ओर) बच्चे मे बैठना सीखते समय रीढ किस प्रकार गर्दन के पास मुड जाती और खडा होना सीख लेने पर कमर के मोहरो में भी झुकाव आ जाता है।

उस जगह सिलाई की गई हो। युवावस्था और बचपन मे यह सीवन कुछ ढीली रहती है, लेकिन प्रौढावस्था मे वह बिलकुल सट जाती है। इतना ही नही, बल्कि छोटे बच्चो की खोपडियो की हड्डियाँ एक-दूसरे के ऊपर भी सरक सकती हैं। यदि ऐसा न होता तो बच्चों के जन्म के समय माताओ को अत्यन्त कष्ट होता। उत्पन्न होते समय सिर पर दबाव पडने से हड्डियो के किनारे एक-दूसरे पर चढ जाते है और पैदा होने के बाद इन हड्डियो के फिर ज्यों-की-त्यो होने मे कई दिन लग जाते हैं।

धड़ की हड्डियाँ

आइए, अब धड की हड्डियो का दिग्दर्शन करे। इन हड्डियो मे रीढ और छाती की हड्डियाँ भी शामिल हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रीढ मे २६ हड्डियाँ मानी जाती हैं और सीने मे २५। रीढ शरीर का आधार है। वह एक तरह का स्तम्भ है, जिस पर अस्थिपजर के दूसरे सारे भाग सधे रहते हैं। यही वह मुख्य हड्डी है, जिसके आधार पर सारा शरीर रचा गया है। इसीलिए इसको हड्डियो की ठठरी को बाँधने या कसनेवाली कडी या धरणी भी कहा गया है। वह पीठ के बीचोबीच गर्दन से लेकर पीठ के नीचे तक चली गई है।

पूरी खोपडी वास्तव मे दो हिस्सो मे रची गई है—एक सिर या चाँद, जिसके अन्दर मस्तिष्क बन्द रहता है, और दूसरा चेहरे का भाग, जिसमे विशेषतया जबडे सम्मिलित हैं। शरीर के सभी अवयवो से मस्तिष्क अधिक तेज़ी से बढ़ता है। चाँद की हड्डियों की बाढ उससे पिछड जाती है। यही कारण है कि जन्म के समय ऊपर का मस्तिष्क हड्डो से ढँका हुआ नही होता और लगभग एक वर्ष तक तालू के ऊपर बालक के सिर मे गड्ढा-सा बना रहता है।

खोपडी की हड्डियाँ जिस जगह एक-दूसरे से मिलती हैं, वहाँ टेढी-मेढी नोके-सी निकली रहती हैं, जो आपस मे एक-दूसरे से फँसी रहती हैं। ऐसा लगता है, मानो

इसके ऊपर खोपडी का पेंदा सधा रहता है और उसी से पसलियाँ और कूल्हे की हड्डी लगी रहती हैं। वह कूल्हे की हड्डियों को ही नहीं बल्कि पेट के बहुत-से अगो को भी साधे रहती है और सुषुम्ना नाडी की रक्षा करती है। अगर सारी रीढ मे एक ही हड्डी होती तो वह लोहे की छड की तरह कडी और बेलोच होती। इसीलिए वह २६ (३३) अलग-अलग टुकडो—मोहरो या कशेरुकाओ—की बनी हुई है। प्रति

दो मोहरो के बीच मे एक नर्म गद्दी-सी रहती है, जिसके कारण प्रत्येक मोहरा एक-दूसरे पर थोडा-सा झुक और सरक सकता है। इससे कुल हड्डी इच्छानुसार झुकाई और मोडी जा सकती है। हर एक कशेरुका दूसरी कशेरुका से इस प्रकार फॅसी हुई है और ऐसे चीमड बन्धन से बॅधी रहती है कि लचकदार होते हुए भी वह टूटकर अलग नही हो सकती। रीढ की हड्डी की रचना की यही तो खूबसूरती है कि वह काफी मजबूत भी है और लचकदार भी।

रीढ का स्तम्भ पॉच भागों मे बॉटा जा सकता है। इसके सबसे ऊपरी या गर्दनवाले भाग मे मोहरे हैं। सीने के पीछे-वाले भाग मे १२ और कमर के हिस्से मे ५ मोहरे होते हैं। कूल्हे के भाग मे पॉच मोहरों की एक सयुक्त हड्डी होती है तथा दुम मे चार छोटे-छोटे मोहरो से बनी हुई एक सयुक्त हड्डी रहती है। रीढ के स्तम्भ के चित्र को देखने से साफ पता चलता है कि इसकी हड्डियॉ एक ऐसा खम्भा-सा बनाती हैं, जो कूल्हे की सयुक्त हड्डी—जिसकी शक्ल पचड़ की ... है—पर टिका हुआ है। इस हड्डी के दोनों ओर कूल्हेवाली बड़ी हड्डियॉ जुडी हुई हैं और ये दोनो टॉगों के ऊपर सधी रहती हैं। अचम्भे की बात तो यह है कि सारे शरीर को साधे रहनेवाला यह जोडदार स्तम्भ बिलकुल सीधा नहीं रहता। पृ०-१३६५ पर दिए गए चित्र के देखने से वह स्पष्टतया कई जगह पर झुका हुआ दीख पडता है। इसका कोई हिस्सा आगे को निकला हुआ तो कोई पीछे को धॅसा हुआ दिखलाई पडता है। गर्दन और कमरवाले भाग पीठ की ओर उभरे हुए हैं और सीने, कूल्हे तथा दुम का हिस्सा पीछे की ओर को धॅसा हुआ है। गर्दन और कमर का टेढापन बच्चा पैदा होने के समय नहीं होता। जब बच्चा बैठने लगता है तो गर्दन के मोहरो मे झुकाव आ जाता है और ज्योंही वह पैरो पर चलना सीख जाता है, कमर के मोहरों मे भी झुकाव आ जाता है (दे० पृ० १३६५ का चित्र)।

धारणा की जाती है कि कमर और कूल्हे के मोहरों मे झुकाव होने की वजह से पेट के भीतर के अगों को सहारा मिलता है, अन्यथा वे रीढ से सीधे ही लटकते रहते। वास्तव मे देखा गया है कि जिन कमजोर औरतों मे यह झुकाव कम होता है और पीठ सीधी हो जाती है उनके पेट के भीतर के भाग साधारण स्त्रियों की अपेक्षा नीचे को अधिक लटक आते हैं। मोहरो के बीच जो नर्म गद्दियॉ होती हैं उन्ही की लचक से कूदते-फॉदते या दौडते समय हमे बहुत धमक नही लगती। यह सही है कि दो गुरियो के बीच मे गति करने को थोडी ही गुजायश है, लेकिन ऐसा होते हुए भी रीढ काफी दूर तक इधर-उधर गति कर लेती है। इसे भली भॉति समझने के लिए आप डोरा लपेटनेवाली कुछ खाली रीलों को एक मोटे तार मे पिरो लीजिए और हर एक रील के बीच में एक-एक टुकडा काग या मोटे पट्ठे का लगाते जाइए। अब आप देखेंगे कि तार को हिलाने से कैसे रीढ की हड्डी भिन्न-भिन्न दिशाओं मे झुकाई जा सकती है (दे० पृ० १३६५ का चित्र)। हमारे रचयिता ने हमारे सग बड़ी ही भलाई की जो रीढ की हड्डी को ऐसी बनाई, अन्यथा हमारे लिए दौडना या कूदना आदि कार्य बडे कठिन हो जाते। चलने मे शरीर बारी-बारी हरएक टॉग पर सधता है जिससे वह अगल-बगल थोड़ा झुक जाता है, ताकि बोझ पूरी टॉग पर ही पडे और शरीर एक ओर लुढक न जाय।

सीने की हड्डियों का पिजरा और उनमे सुरक्षित अवयव

पसलियॉ

हमारे शरीर मे दोनों तरफ १२-१२ पसलियॉ हैं, जो पीछे रीढ के १२ मोहरों के बीच-बीच मे जुडी हुई हैं और आगे की ओर छाती की हड्डी से जुडी हुई हैं। पसलियॉ पीठ से नीचे की ओर गिरती हुई सामने की ओर सीने की हड्डी तक मुड़ी रहती हैं। पसलियो के पहले सात जोडे एक-एक चबनी (Cartilage) द्वारा सीने की हड्डी से जुडे हुए हैं। इसलिए

उन्हे असली पसलियॉ कहा गया है। आठवे, नवे और दसवे जोडे अपने से हरएक ऊपरवाली चवनी से जुडे हैं जिससे कि वे एक दूसरे से मिलकर सीने की हड्डी तक पहुँच पाते हैं। पीछे के दो जोडे सीने की हड्डी से बिलकुल ही अलग हैं (देखिये पृ० १३६० के चित्र मे ठठरी का पार्श्व का दृश्य)। इन पिछले पॉचों जोडों को नक़ली हड्डियॉ कहा जाता है और अन्तिम दोनों स्वतन्त्र हड्डियॉ कही जाती हैं। टेढी पसलियॉ, सीने की हड्डी और रीढ का स्तम्भ मिलकर एक घेरा-सा बना लेते हैं, जिसको हम 'सीने का पिजरा' कहते हैं। इसी के अन्दर हृदय, फेफडे, यकृत तथा अन्य आवश्यक अवयव सुरक्षित रहते हैं। इनकी रक्षा करने के अलावा पसलियॉ हमारी श्वासोच्छ्वास क्रिया मे भी सहायता करती हैं। सीने को पेट से पृथक् करनेवाला वक्षोदर मध्यस्थ परदा (Diaphragm) नीचे की ६ पसलियो और रीढ तथा सीने की हड्डी से जुडा हुआ है, जो अपनी पेशियों के सकोच से पसलियो को भीतर की ओर खीचता है, जिससे फेफडों पर दबाव पड़ता है और सॉस बाहर निकल जाती है। जब फिर वक्षोदर मध्यस्थ परदे की पेशियॉ ढीली पडती हैं और पसलियो के ऊपर लगी हुई बीच की पेशियॉ सिकुडती हैं, तब पसलियॉ फिर ऊपर को उठ जाती हैं, जिससे फेफडे फूल जाते हैं और सॉस भीतर चली जात है। इससे पता चलता है कि पसलियो मे भी काफी लचक है, जो उन्हे ज़ोर पडने पर लचा देती है, किन्तु टूटने नहीं देती। इनका यही लचीलापन भीतरी अगों की रक्षा का कारण है।

बाहरी हड्डी (बहिः प्रकोष्ठास्थि)

भीतरी हड्डी (अन्तः- प्रकोष्ठास्थि)

अँगूठे की हड्डियाँ

कलाई की हड्डियाँ

हथेली की हड्डियाँ (करभास्थि)

उँगलियों के पोरों की हड्डियाँ

अगली बाँह, हथेली और उँगलियों की हड्डियाँ

हाथ-पैरो की हड्डियॉ

साधारण मनुष्य भी अन्य अंगों की हड्डियों की अपेक्षा इन हड्डियों से अधिक परिचित हैं। इसलिए इनका विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। ऊपर और नीचे के अवयवो मे वे हड्डियॉ भी सम्मिलित हैं, जिनसे भुजाऍ और टॉगो की हड्डियॉ रीढ की हड्डी से जुडी रहती हैं। इनमे हर अवयव मे तीन भाग हैं—बॉह मे पिछली बॉह, अगली बॉह और हाथ, तथा टॉग मे जॉघ, पिंडली और पैर। जिन हड्डियो के द्वारा बॉह धड की हड्डियो से जुडी रहती है, उन्हे कधे की पेटी कहा जाता है, और जिन हड्डियों के द्वारा टॉग धड से जुडती है, वे कूल्हे की पेटी कहलाती हैं। प्रत्येक बॉह मे जो हड्डियों के हिस्से हैं, वे पृ० १३६० पर दिये हुए चित्र मे दिखलाये गये हैं। उसी चित्र को देखकर उनकी शक्ल-सूरत का भी ज्ञान आपको हो सकता है। हर एक भुजा मे कुल ३२ हड्डियॉ हैं, जो इस प्रकार बॅटी हुई हैं:— हॅसली १, खवा १, ऊपरी बॉह मे १; नीचे की बॉह में २; कलाई मे ८; हथेली मे ५, उँगलियों मे १४। कलाई की ८ छोटी-छोटी हड्डियों के दो पक्तियो मे सजी होने और बॅधनो से जुडी रहने के कारण ही कलाई मे लचीलापन और इधर-उधर अच्छी तरह घूमने की शक्ति है। हथेली की हड्डियॉ उँगली की हड्डियों की-सी ही हैं। इस बात का अन्दाज़ा हम स्वयं अपने हाथ को टटोलकर कर सकते हैं (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। नीचे के अवयवो की रचना ऊपर के अवयवों के तरह की ही है, जैसा कि अगले पृष्ठ के चित्र से विदित होता है। हॉ, ऊपर के अवयवों से नीचे के अवयवों मे केवल इतनी ही भिन्नता है कि प्रत्येक टॉग मे कुल मिलाकर ३२ की जगह ३१ ही हड्डियॉ होती हैं; क्योंकि टख़ने मे कलाई से १ हड्डी कम पाई जाती है। इस अवयव मे हड्डियों का विभाजन इस प्रकार हुआ है:—
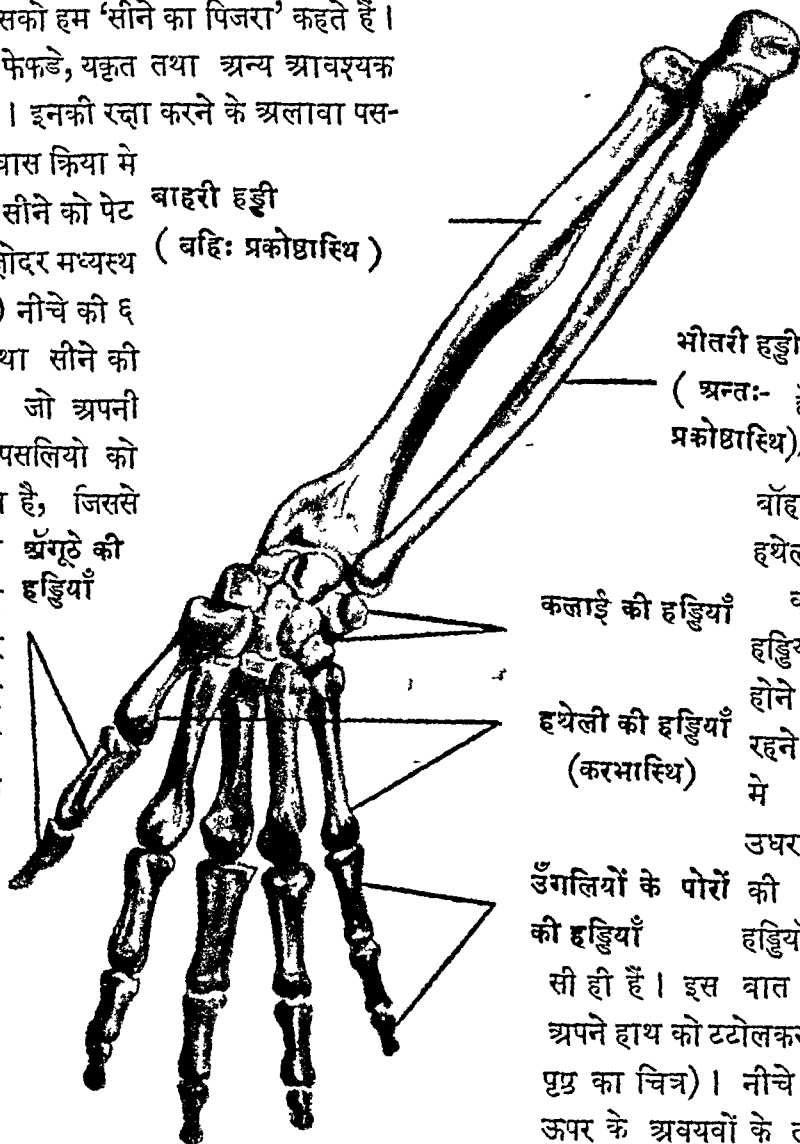
कूल्हे मे १; जॉघ मे १; घुटने मे १; पिंडली मे २; टख़ने मे ७; पैर मे ५; और उँगलियो मे १४।

हड्डियो के जोड़

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे आपको मालूम हो गया होगा कि हड्डियो के ढॉचे मे जगह-जगह पर जोड़ हैं। उनके बिना हम न हाथ-पैर ही हिला सकते और न उठ-बैठ या चल-फिर ही सकते हैं। कुछ हड्डियॉ एक दूसरे से ऐसी मजबूती से सटी होती हैं कि उनके बीच के जोड़ का पता लगाना मुश्किल हो जाता है। इस प्रकार के जोड़ वयस्क मनुष्य की खोपड़ी की हड्डी मे मिलते हैं। इन्हे 'अचल सन्धि' या पक्के जोड़ कहकर पुकारते हैं। एक और प्रकार के जोड़ वे हैं, जो कुहनी, घुटने या जिस जगह बॉह खवे से मिलती है वहॉ पाये जाते हैं। ये हिलने-घूमनेवाले जोड या 'चल-सन्धि' कहलाते हैं। सब हिलने-डुलनेवाले जोड़ एक से नहीं हैं। वे कई प्रकार के हैं.—

(१) घूमनेवाले जोड़—शरीर मे दो जोड इस प्रकार के हैं, जो घूमते हैं। एक तो रीढ के पहले और दूसरे मोहरे मे मिलता है। दूसरे मोहरे से आगे की ओर एक मोटी नोक-सी निकली रहती है, जिसके चारो ओर पहले मोहरे का गड्ढा या छल्ला घूमता है। यही कारण है कि हम सिर को इधर-उधर घुमा सकते हैं। जो रेशेदार फीता पहले मोहरे के गड्ढे से मिलकर इस छल्ले को बनाता है वह अगर टूट जाय तो सुषुम्ना नाडी कुचल जाय और हम फौरन् ही अपनी जान खो बैठें' इस जोड़ को कीलदार जोड कहते हैं। ऐसा ही दूसरा जोड़ कुहनी पर है, जिसके द्वारा कलाई मोडने के समय आगे की बॉह भी इधर-उधर घूम जाती है।

(२) फिसलनेवाले जोड़—इस प्रकार के जोड हमको रीढ के मोहरो के बीच-बीच मे तथा कलाई की हड्डियो में मिलते हैं। दो हड्डियो के बीच चबनी की गद्दी रहती है। हड्डियॉ सफेद सौत्रिक बॅधनो या फीतों से बॅधी रहती हैं। गद्दी बीच मे रहने के कारण हड्डियॉ एक दूसरे पर फिसल सकती हैं, परन्तु बधन सुतली का काम देते हैं और हड्डियो को जरूरत से ज्यादा फिसलने नहीं देते।

(३) गेंद गड्ढेवाला जोड़—इसके सबसे अच्छे उदाहरण कंधे और कूल्हे हैं। इस जोड पर एक लम्बी हड्डी का गेंद जैसा गोल सिरा दूसरी हड्डी के गड्ढे मे टिका रहता है। गड्ढे मे नर्म चर्बी रहती है और गेंद के ऊपर नर्म चबनी रहती है। इस जोड मे एक प्रकार का तेल-सा द्रव्य निकलता रहता है, ताकि वह जल्दी ही घिस न जाय और उस पर रगड़ अधिक न पडे। इस जोड़ की हड्डियॉ अच्छी तरह और हर तरफ घुमाई जा सकती हैं।

(४) चूलदार जोड़—इस प्रकार का जोड कुहनी, टखने और नीचे के जबड़े मे है। उँगलियो मे भी ऐसा ही जोड़ रहता है। इस जोड मे हड्डियों के जोड़ ऐसे टेढे और खॉचेदार होते हैं कि एक दूसरे मे अच्छी तरह भिड जाते हैं। दोनों हड्डियॉ जोड के चारो ओर मजबूत बधनो से जकडी रहती हैं, जिससे हड्डियॉ एक ही तरफ गति कर सकती हैं, जैसे किवाड कब्जो पर घूमता है। ये आगे-पीछे तो मुड़ सकते हैं, किन्तु दाये बायें नहीं।
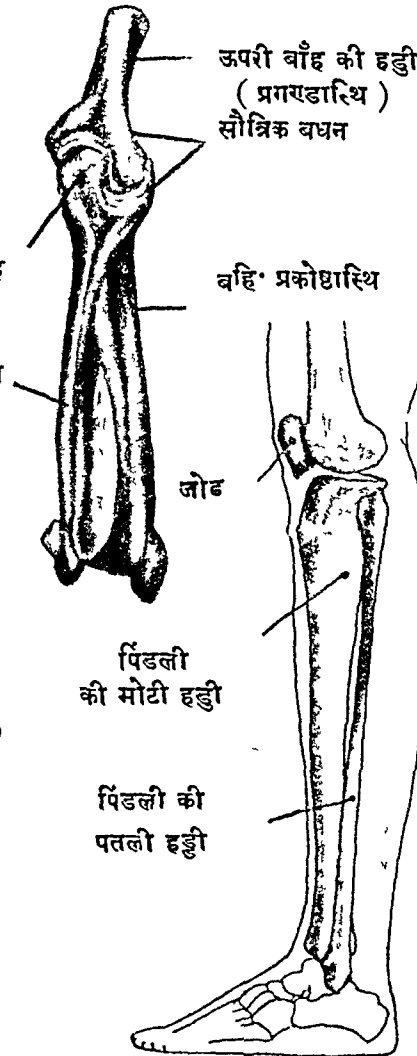
ऊपरी बॉह की हड्डी (प्रगण्डास्थि)
सौत्रिक बधन
चूलदार जोड़
बहि: प्रकोष्ठास्थि
अन्त. प्रकोष्ठास्थि
जोड
पिंडली की मोटी हड्डी
पिंडली की पतली हड्डी

(ऊपर बाईं ओर) बॉह और खवे का जोड़। पसलियो की हड्डियाँ भी दिखाई दे रही हैं। (ऊपर दाहिनी ओर) कुहनी का चूलदार जोड़। (नीचे दाहिनी ओर) घुटने और पैर के जोड़।

मुद्रा और विदेशी विनिमय का विकास

व्यापार के विस्तार के सम्बन्ध मे यह बतलाया जा चुका है कि एक पदार्थ के बदले मे दूसरा पदार्थ देने या विनिमय करने के ढग पर होनेवाले व्यापार का विस्तार अत्यन्त सीमित रहता है। यही नहीं वरन् कितने ही अवसर पर ऐसा व्यापार स्थगित ही हो जाता है। पदार्थों के अदल-बदल या विनिमय का ढग तब ही चल सकता है जब प्रत्येक बेचनेवाले के लिए ठीक उसकी आवश्यकता के पदार्थ उतनी ही मात्रा मे सुगमता से मिल सके। यह कभी-कभी एक ग्राम मे तो सम्भव भी हो सकता है, और सो भी केवल प्रत्येक दिवस की साधारण वस्तुओ की बिक्री मे, परतु आज जैसे विस्तृत व्यापार मे, जिसमे असख्य मनुष्य अगणित तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों की बिक्री तथा ख़रीद करते हैं, पदार्थों की बदली या विनिमय के ढग का प्रचलित होना असम्भव है। इसी दिक्कत को मिटाने के लिए यह आवश्यक हुआ कि किसी एक वस्तु को सर्वमान्य समझा जाय और फिर प्रत्येक पदार्थ का मूल्य उसी सर्वमान्य वस्तु के अश मे निर्धारित किया जाय। इस प्रकार पदार्थों की बिक्री-ख़रीद बहुत सुगम हो गई है। इस पद्धति मे सब व्यापारी सर्वमान्य वस्तु के बदले मे अपनी-अपनी व्यापार की सामग्री देने को प्रस्तुत रहते हैं। इस प्रकार व्यापार का विस्तार बहुत बढा। दूसरा लाभ यह हुआ कि प्रत्येक पदार्थ का मूल्य सर्वमान्य वस्तु मे आँका जाने से उधार बेचने की प्रथा की भी नींव पड सकी। पहले यदि कोई व्यापारी अपना माल उधार बेचता तो उसका मूल्य कुछ दिन बाद लेने के लिए कोई निश्चित वस्तु नहीं मिलती थी जिसके आधार पर मूल्य आँककर चुकाया जाता। सम्भव था कि निश्चित पदार्थ निर्धारित समय के बाद मिल ही न पाता। किंतु सर्वमान्य वस्तु के निश्चय होने से इसका भय जाता रहा और आज बेचे हुए पदार्थ का मूल्य कितने ही दिन के बाद भी उतना ही लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि आज कपडे का व्यापारी ५०) का कपडा उधार दे तो ५०) की यह रक़म कभी भी ली जा सकती है, क्योंकि बाज़ार मे रुपया मिलना दुर्लभ नही होगा। तीसरी बात यह है कि अब मनुष्य सर्वमान्य वस्तु को एकत्रित करके सचय भी कर सकते हैं और इस प्रकार धनी बन सकते हैं। इसी प्रकार एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को धन (सर्वमान्य वस्तु) दे भी सकता है, जिसके द्वारा वह चाहे जब आवश्यक पदार्थ मोल ले सकता है।

प्रोफेसर हिल्देब्रान्द ने तो यहाँ तक कह डाला है कि पदार्थ-बदली द्वारा विनिमय का ढग, सर्वमान्य वस्तु द्वारा विनिमय-ढग, तथा उधार विनिमय-ढग, ये मनुष्य की सभ्यता की तीन श्रेणियाँ हैं। यह अवश्य है कि यह तीन प्रकार का व्यापार का ढग मनुष्य-सभ्यता को बढाने तथा मनुष्य-जीवन को सुगम तथा सुखी बनाने मे बहुत अश तब सफल हुआ है, परन्तु इतिहासज्ञ इस प्रकार के कालविभाजन को पूर्ण रूप से निश्चित नहीं मानते। आज भी मिश्रित विनिमय-ढग कहीं-कहीं पाया जाता है।

इस "सर्वमान्य वस्तु" के निश्चित होने का इतिहास बडा रुचिकर है। आखेट के काल मे (जिसे मनुष्य की सभ्यता तथा आर्थिक व ऐतिहासिक जीवन का प्रारम्भ-काल कहते हैं) पशुओ की खाल और समूर (furs) विनिमय के लिए सर्वमान्य माध्यम माने गए।

इसके बाद के समय मे, जिसे 'चरवाहों का काल' कहते हैं, खाल और समूर की जगह, जीवित पशु और बन्दी अथवा दासगण विनिमय के पदार्थ बनाए गए। ध्यान देने की बात यह है कि दोनों समय मे सुगमता से प्राप्त तथा अधिकाश के लिए लभ्य पदार्थ ही विनिमय-पात्र समझे गए। उत्तरी अमेरिका के आदिमवासी, जिन्हे 'रेड इडियन' के नाम से सम्बोधित करते हैं, अपने पहिनने के आभूषण इत्यादि को, जिनमे मूँगा विशेष था, विनिमय के कार्य मे लाते थे। एशिया महाद्वीप मे कौडी ने विनिमय के माध्यम का स्थान ग्रहण किया। भिन्न-भिन्न काल तथा स्थानों में गल्ला, तेल, तम्बाकू, सूखी मछली, नमक, चाय, कपडा और चटाई इत्यादि

विविध विनिमय के माध्यम बनाए गए हैं। विनिमय का माध्यम बनने के लिए सर्वमान्य होने के अतिरिक्त यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि माध्यम की वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जा सके, उसकी गणना की जा सके, उसे पहचानने मे सदेह न हो और वह शीघ्र नष्ट न हो। इन बातों को ध्यान में रखते हुए और व्यावहारिक अनुभव के आधार पर अन्त में सोना तथा चाँदी ही ससार के लगभग सभी देशो मे सर्वमान्य विनिमय के माध्यम मान लिये गये और यह गौरव इन्हे आज तक प्राप्त है।

दूसरा प्रश्न अब यह हुआ कि बहुमूल्य धातु-पदार्थों को साधारण विनिमय के लिए छोटे-छोटे अशों मे किस प्रकार विभाजित किया जाय। इस आवश्यकता ने मुद्रा-निर्माण को जन्म दिया। मूल्यवान् धातुओ के छोटे-छोटे समान मात्रा के सिक्के बनाए गए। आज भी हम ससार मे इस प्रकार के सिक्को का चलन पाते हैं। इँगलैंड मे सावरन या पौड, शिलिङ्ग, और पेन्स, अमेरिका मे डालर, और सेन्टस्, जर्मनी में मार्क, फ्रास मे फ्रेंक, इटली में लिरा, जापान और चीन मे येन, और भारतवर्ष मे रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, आना, पैसा, पाई आदि के सिक्के प्रचलित हैं प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न सिक्कों का एक दूसरे के प्रति निश्चित दर है, जैसे एक रुपये की दो अठन्नी, चार चवन्नी, आठ दुअन्नी, सोलह इकन्नी, चौंसठ पैसे और एक सौ बानवे पाई होती हैं। इस युक्ति से छोटे-से-छोटे या बडे-से-बडे मूल्य तथा मिश्रित मूल्य के पदार्थ का दाम दिया जा सकता है। सभी मनुष्य अपने-अपने सिक्के न चला दे या उनके धातुभार के अन्तर से स्वय लाभ न उठाने लगे, इस भय से यह निश्चय हुआ कि सिक्का बनाने का कार्य केवल देश की शासन-सत्ता ही करे। अन्य किसी को इसकी आज्ञा न हो। बल्कि नकली सिक्के बनानेवालों को कठोर दण्ड भी दिया जाय। इस प्रकार सिक्कों मे समानता उत्पन्न की जा सकी जिससे उन्हें कोई भी मनुष्य निश्शक भाव से स्वीकार करने के लिए राष्ट्र द्वारा बाध्य किया जा सकता था।

एक प्रश्न और सामने आया। वह यह था कि बहुत-से देशो मे कई धातु एक साथ सर्वमान्य मानी गई। इनमे सोना तथा चाँदी कहीं-कहीं साथ-साथ विनिमय का कार्य करते हैं। इन देशो में दोनों धातुओं के सिक्के एक निश्चित दर पर साथ-साथ व्यवहार में लाये जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ वर्ष पहले भारतवर्ष मे गिन्नी और रुपया साथ-साथ चलते थे। इनका दर राष्ट्र की ओर से १५) रुपया एक गिन्नी के बराबर निश्चित था। उन देशों में जहाँ दो धातुओं के सिक्के अगणित मात्रा में राष्ट्र द्वारा चलाये जाते हैं, एक समस्या आ खडी होती है। पहले कहा जा चुका है कि भिन्न-भिन्न सिक्कों का मूल्य एक निश्चित दर के अनुसार होता है। कभी-कभी सिक्कों के पारस्परिक मूल्य और धातुओं के पारस्परिक मूल्य मे भेद होने से अधिक मूल्यवाली धातु के सिक्के गलाकर धातु के रूप मे वेचे जाते हैं और अल्प-मूल्यवाली धातु के सिक्के ही केवल चलन मे रह जाते हैं। यदि सिक्के बनाने मे कोई विशेष रोक न हुई, अर्थात् जो चाहे धातु देकर उसके मूल्य भर दूसरी अथवा उसी धातु के सिक्के बनवा सकता हो तो बहुधा मनुष्य सस्ती धातु मोल लेकर उसके सिक्के बनवा लेते हैं। यह भी कह सकते हैं कि ऐसी अवस्था मे मनुष्य सिक्के का व्यापार करने लगते हैं और इस प्रकार दो धातुओं के सिक्के का चलन व्यावहारिक रूप से बन्द हो जाता है। दो धातु के सिक्कों का इस प्रकार साथ-साथ चलना द्विधातु-प्रथा (Bimetallism) कहलाती है। इस सकट से बचने के लिए ससार के लगभग सभी देश आजकल केवल एक धातु के सिक्के ही प्रधान रूप से चलाते हैं। कहीं केवल सोने के सिक्के हैं तो कहीं चाँदी के। यह अवश्य होता है कि छोटे सिक्के चाँदी अथवा मिश्रित सस्ती धातुओं के बना दिए जाते हैं और वे केवल सीमित मात्रा तक ही प्रयोग मे लाए जा सकते हैं। अब केवल देशान्तरों मे सिक्कों के अदल-बदल की बात रही। प्रत्येक देश मे सिक्कों का भार तथा मूल्य भिन्न होता है। यदि समान धातु के सिक्के हुए, जैसे डालर, फ्रेंक तथा पाउड अथवा रुपया और येन, तब तो उनकी बदली मे विशेष आपत्ति नहीं होती, क्योंकि उनका दर उनके धातुमूल्य के अनुसार निश्चित हो जाता है। कारण यह है कि उन सिक्कों को चाहे सिक्कों के रूप मे बदला जाय चाहे धातु के रूप में, इससे बदलनेवालों को अधिक या कम मूल्य तो मिल ही नहीं सकता। इसी तरह अन्य धातु के सिक्के भी धातुमूल्य के दर से बदले जा सकते हैं। जैसे डालर में सोने का मूल्य येन के चाँदी के मूल्य के पारस्परिक दर से बदला जा सकता है। इनमें मुख्य बात यह है कि सिक्का चाहे किसी धातु का भी हो, परन्तु उसका धातुमूल्य उसके मौद्रिक मूल्य के बराबर होना चाहिए। ऐसी अवस्था में सिक्के बदलना सरल होता है। परन्तु यदि सिक्के का मूल्य सिक्के के धातुमूल्य से अधिक हुआ, जैसे भारतवर्ष के रुपए मे, तब बदली करने में थोड़ी दिक़्क़त होती है। ऐसी अवस्था मे सिक्के को गलाने में हानि होती है। दूसरे देश-वाले केवल धातु का ही मूल्य देंगे। उदाहरण के लिए

भारतवर्ष के रुपये में चॉदी का मूल्य ।|=) भर है, इसलिए दूसरे देशवाले उसे केवल ।|=) के धातुरूप में मोल ले सकते हैं। परन्तु भारतवासियों को १) केवल सोलह आने के दर मे ही मिल सकता है, इसलिए प्रति रुपया धातुरूप से ।=) छः आना हानि होती है। ऐसी अवस्था मे सिक्के का दर राष्ट्र द्वारा किसी पूर्ण धातुमूल्यवाले सिक्के के दर से निश्चित कर दिया जाता है और अन्य देशवाले पूर्ण धातुमूल्य वाले सिक्के के हिसाब से अपना व्यौरा चुकाते हैं। भारतवर्ष के रुपये का मूल्य अँगरेज़ी पाउड के दर मे एक शिलिङ्ग और छः पेन्स निश्चित है। इसमे हानि यह है कि भारतवासी अन्य देशों से सीधा व्यापार नहीं कर सकते। जब तक भारतवर्ष का रुपया पाउड से बँधा था तब तक तो कुछ सुविधा भी थी कि उसका पूर्ण मूल्य अन्य सिक्को में निश्चित हो सकता था, परन्तु सन् १९३१ से, जब से रुपया स्टर्लिङ्ग (Sterling) से सम्बद्ध है, यह सुविधा भी जाती रही। स्वय स्टर्लिङ्ग का मूल्य निश्चित नही है अतएव रुपये का मूल्य और भी अस्थिर हो गया है।

धातुमूल्य निश्चित होने पर भी एक कठिनाई रह जाती है, और वह है मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने तथा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास ले जाने की। साधारणतया मनुष्य मुद्रा देकर इस कार्य को पूरा करते हैं। यह कार्य थोडी रक़म तक तो हो सकता है, परन्तु यदि हज़ारो-लाखो रुपये लेने-देने हों तो उनका भार इतना होगा कि शायद मनुष्य उठा ही न सके। भारतवर्ष के रुपये का भार एक तोला होता है। यदि ८००० रुपया देना हो तो उनका भार १०० सेर अथवा २॥ मन होगा। वास्तव में व्यापार मे इससे कहीं अधिक रुपए का लेन-देन होता है। इसलिए बडे व्यापार का व्यौरा नक़द रुपये से चुकाना बड़ा कठिन होगा। दूसरी बात यह है कि रुपया ले जाने और लाने मे चोरों और डाकुओं का भी भय है। भाडे का ख़र्च भी अधिक होगा। इन सकटों से बचने के लिए यह युक्ति सोची गई कि रुपये की जगह काग़ज़ से काम लिया जाय। काग़ज़ के बदले रुपया मिल जायगा इसका विश्वास दिलाने के लिए विश्वस्त स्थान मे रुपया रखने की प्रथा शुरू हुई और विश्वस्त मनुष्य की लिखी हुई चिट्ठी तथा वचन पर कार्य चलने लगा। इस चिट्ठी को 'हुण्डी' के नाम से पुकारने लगे। आज भारतवर्ष के व्यापारी हुण्डी द्वारा लाखों रुपए का लेन-देन चुकाते हैं। इस प्रथा को जन-साधारण में प्रचलित करने के लिए कई सस्थाएँ स्थापित की गईं, जिन्हें आज 'बैंक' के नाम से पुकारते हैं। बैंक के नोट, जिनके द्वारा बैंक इस बात का वचन देता है कि नोट पानेवाला मनुष्य लिखा हुआ रुपया बैंक से ले सकता है, रुपया भेजने का काम करते हैं और धातुमुद्रा ले जाने सबंधी कष्ट और सकट का निवारण करते हैं। हुण्डी का स्थान अब इन बैंकों मे जमा किए गए द्रव्य के नाम पर लिखी हुई चिट्ठी ने, जिसे चेक कहते हैं, ले लिया। बैंक एक से अधिक साख रख सकता है, परन्तु उसका विश्वास सबको नही हो सकता। दूसरे यह भी सम्भव है कि बैंक हर स्थान मे अपनी शाखा न बना सके और ऐसी अवस्था मे शाखारहित स्थानों मे रुपया लेना दुष्कर होगा। इन कष्टों को दूर करने के लिए राष्ट्र ने स्वय नोट छापने का कार्य ग्रहण किया, जिनके आधार पर नोट ले जानेवाला व्यक्ति सरकारी ख़जाने से लिखा हुआ रुपया पा सकता है। इस प्रकार धातु का स्थान काग़ज़ ने ले लिया और आज ससार के सभी सभ्य देशों में बहुताश काग़ज़ द्वारा ही विनिमय का कार्य पूर्ण होता है। यही दशा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की भी है। काग़ज़ के बिल द्वारा बडे-बडे व्यापार का व्यौरा चुकाया जाता है। बैंक की शाखाएँ इस व्यौरा चुकाने के कार्य को पूरा करती हैं। यदि हमें ५०००) रु० इङ्गलैंड भेजना है, तो आजकल रुपया अथवा सोना न भेजकर हम अपने देश में किसी इङ्गलैंड की कम्पनी का बिल ख़रीद लेगे। उसका रुपया बिल बेचनेवाले को बैंक चेक द्वारा दे सकते हैं। इस प्रकार प्राप्त किये हुए बिल को हम उस मनुष्य को इङ्गलैंड मे डाक द्वारा भेज देंगे और वह उस बिल के वास्तविक देनेवाले से रुपया अपने ही देश मे ले लेगा। बिल बेचने और ख़रीदने के इस काम को आजकल या तो बैंक या एक प्रकार के दलाल, जिन्हे बिल-ब्रोकर (Bill broker) कहते हैं, किया करते हैं। जहाँ यह कार्य होता है उसे 'बिल मार्केट' (Bill Market) या 'एक्सचैंज' (Exchange) के नाम से पुकारते हैं। रुपया-बदली तथा अन्य देश के सिक्कों के मोल लेने और बेचने के भी बाज़ार हैं, जिन्हें विदेशी-मुद्रा विनिमय सस्था (Foreign Exchanges) के नाम से पुकारते हैं। संसार के समस्त व्यापारिक लेन-देन का भुगतान इन्हीं के द्वारा शीघ्र तथा कम-से-कम ख़र्च मे होता है। काग़ज़ द्वारा विनिमय की नींव विश्वास तथा साख पर निर्भर है। इसमें एक सुविधा और यह है कि मुद्रा न होने पर भी केवल साख (Credit) द्वारा ही व्यापार चल सकता है। अनुमान किया जाता है कि भविष्य मे धातु का व्यवहार कम हो जायगा और केवल काग़ज़ द्वारा ही विनिमय-कार्य चलेगा।

विविध विनिमय के माध्यम बनाए गए हैं। विनिमय का माध्यम बनने के लिए सर्वमान्य होने के अतिरिक्त यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि माध्यम की वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जा सके, उसकी गणना की जा सके, उसे पहचानने मे सदेह न हो और वह शीघ्र नष्ट न हो। इन बातो को ध्यान मे रखते हुए और व्यावहारिक अनुभव के आधार पर अन्त में सोना तथा चाँदी ही ससार के लगभग सभी देशो मे सर्वमान्य विनिमय के माध्यम मान लिये गये और यह गौरव इन्हे आज तक प्राप्त है।

दूसरा प्रश्न अब यह हुआ कि बहुमूल्य धातु-पदार्थों को साधारण विनिमय के लिए छोटे-छोटे अशो मे किस प्रकार विभाजित किया जाय। इस आवश्यकता ने मुद्रा-निर्माण को जन्म दिया। मूल्यवान् धातुओं के छोटे-छोटे समान मात्रा के सिक्के बनाए गए। आज भी हम ससार मे इस प्रकार के सिक्कों का चलन पाते हैं। इँगलैंड मे सावरन या पौड, शिलिङ्ग, और पेन्स, अमेरिका मे डालर, और सेन्टस्, जर्मनी मे मार्क, फ्रास मे फ्रेंक, इटली मे लिरा, जापान और चीन मे येन, और भारतवर्ष मे रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, आना, पैसा, पाई आदि के सिक्के प्रचलित हैं प्रत्येक देश मे भिन्न-भिन्न सिक्को का एक दूसरे के प्रति निश्चित दर है, जैसे एक रुपये की दो अठन्नी, चार चवन्नी, आठ दुअन्नी, सोलह इकन्नी, चौसठ पैसे और एक सौ बानवे पाई होती हैं। इस युक्ति से छोटे-से-छोटे या बड़े-से-बड़े मूल्य तथा मिश्रित मूल्य के पदार्थ का दाम दिया जा सकता है। सभी मनुष्य अपने-अपने सिक्के न चला दे या उनके धातुभार के अन्तर से स्वय लाभ न उठाने लगें, इस भय से यह निश्चय हुआ कि सिक्का बनाने का कार्य केवल देश की शासन-सत्ता ही करे। अन्य किसी को इसकी आज्ञा न हो। बल्कि नक़ली सिक्के बनानेवालों को कठोर दण्ड भी दिया जाय। इस प्रकार सिक्कों में समानता उत्पन्न की जा सकी जिससे उन्हें कोई भी मनुष्य निश्शक भाव से स्वीकार करने के लिए राष्ट्र द्वारा बाध्य किया जा सकता था।

एक प्रश्न और सामने आया। वह यह था कि बहुत-से देशो मे कई धातु एक साथ सर्वमान्य मानी गईं। इनमे सोना तथा चाँदी कहीं-कहीं साथ-साथ विनिमय का कार्य करते हैं। इन देशों मे दोनों धातुओं के सिक्के एक निश्चित दर पर साथ-साथ व्यवहार मे लाये जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ वर्ष पहले भारतवर्ष में गिन्नी और रुपया साथ-साथ चलते थे। इनका दर राष्ट्र की ओर से १५) रुपया एक गिन्नी के बराबर निश्चित था। उन देशों मे जहाँ दो धातुओं के सिक्के अगणित मात्रा में राष्ट्र द्वारा चलाये जाते हैं, एक समस्या आ खडी होती है। पहले कहा जा चुका है कि भिन्न-भिन्न सिक्कों का मूल्य एक निश्चित दर के अनुसार होता है। कभी-कभी सिक्कों के पारस्परिक मूल्य और धातुओं के पारस्परिक मूल्य मे भेद होने से अधिक मूल्यवाली धातु के सिक्के गलाकर धातु के रूप मे बेचे जाते हैं और अल्पमूल्यवाली धातु के सिक्के ही केवल चलन मे रह जाते हैं। यदि सिक्के बनाने में कोई विशेष रोक न हुई, अर्थात् जो चाहे धातु देकर उसके मूल्य भर दूसरी अथवा उसी धातु के सिक्के बनवा सकता हो तो बहुधा मनुष्य सस्ती धातु मोल लेकर उसके सिक्के बनवा लेते हैं। यह भी कह सकते हैं कि ऐसी अवस्था मे मनुष्य सिक्के का व्यापार करने लगते हैं और इस प्रकार दो धातुओं के सिक्के का चलन व्यावहारिक रूप से बन्द हो जाता है। दो धातु के सिक्कों का इस प्रकार साथ-साथ चलना द्विधातु-प्रथा (Bimetallism) कहलाती है। इस सकट से बचने के लिए ससार के लगभग सभी देश आजकल केवल एक धातु के सिक्के ही प्रधान रूप से चलाते हैं। कहीं केवल सोने के सिक्के हैं तो कहीं चाँदी के। यह अवश्य होता है कि छोटे सिक्के चाँदी अथवा मिश्रित सस्ती धातुओं के बना दिए जाते हैं और वे केवल सीमित मात्रा तक ही प्रयोग मे लाए जा सकते हैं। अब केवल देशान्तरों मे सिक्कों के अदल-बदल की बात रही। प्रत्येक देश मे सिक्कों का भार तथा मूल्य भिन्न होता है। यदि समान धातु के सिक्के हुए, जैसे डालर, फ्रेंक तथा पाउड अथवा रुपया और येन, तब तो उनकी बदली मे विशेष आपत्ति नहीं होती, क्योकि उनका दर उनके धातुमूल्य के अनुसार निश्चित हो जाता है। कारण यह है कि उन सिक्कों को चाहे सिक्कों के रूप मे बदला जाय चाहे धातु के रूप में, इससे बदलनेवालों को अधिक या कम मूल्य तो मिल ही नहीं सकता। इसी तरह अन्य धातु के सिक्के भी धातुमूल्य के दर से बदले जा सकते हैं। जैसे डालर मे सोने का मूल्य येन के चाँदी के मूल्य के पारस्परिक दर से बदला जा सकता है। इनमें मुख्य बात यह है कि सिक्का चाहे किसी धातु का भी हो, परन्तु उसका धातुमूल्य उसके मौद्रिक मूल्य के बराबर होना चाहिए। ऐसी अवस्था में सिक्के बदलना सरल होता है। परन्तु यदि सिक्के का मूल्य सिक्के के धातुमूल्य से अधिक हुआ, जैसे भारतवर्ष के रुपए मे, तब बदली करने मे थोड़ी दिक़्क़त होती है। ऐसी अवस्था मे सिक्के को गलाने मे हानि होती है। दूसरे देशवाले केवल धातु का ही मूल्य देंगे। उदाहरण के लिए

भारतवर्ष के रुपये में चाँदी का मूल्य ।।=) भर है, इसलिए दूसरे देशवाले उसे केवल ।।=) के धातुरूप में मोल ले सकते हैं। परन्तु भारतवासियों को १) केवल सोलह आने के दर से ही मिल सकता है, इसलिए प्रति रुपया धातुरूप से ।=) छः आना हानि होती है। ऐसी अवस्था में सिक्के का दर राष्ट्र द्वारा किसी पूर्ण धातुमूल्यवाले सिक्के के दर से निश्चित कर दिया जाता है और अन्य देशवाले पूर्ण धातुमूल्य वाले सिक्के के हिसाब से अपना व्यौरा चुकाते हैं। भारतवर्ष के रुपये का मूल्य अँगरेजी पाउंड के दर में एक शिलिङ्ग और छः पेन्स निश्चित है। इसमे हानि यह है कि भारतवासी अन्य देशो से सीधा व्यापार नहीं कर सकते। जब तक भारतवर्ष का रुपया पाउंड से बँधा था तब तक तो कुछ सुविधा भी थी कि उसका पूर्ण मूल्य अन्य सिक्कों मे निश्चित हो सकता था, परन्तु सन् १९३१ से, जब से रुपया स्टर्लिङ्ग (Sterling) से सम्बद्ध है, यह सुविधा भी जाती रही। स्वय स्टर्लिङ्ग का मूल्य निश्चित नहीं है अतएव रुपये का मूल्य और भी अस्थिर हो गया है।

धातुमूल्य निश्चित होने पर भी एक कठिनाई रह जाती है, और वह है मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने तथा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास ले जाने की। साधारणतया मनुष्य मुद्रा देकर इस कार्य को पूरा करते हैं। यह कार्य थोडी रक़म तक तो हो सकता है, परन्तु यदि हज़ारों-लाखों रुपये लेने-देने हों तो उनका भार इतना होगा कि शायद मनुष्य उठा ही न सके। भारतवर्ष के रुपये का भार एक तोला होता है। यदि ८००० रुपया देना हो तो उनका भार १०० सेर अथवा २।। मन होगा। वास्तव मे व्यापार मे इससे कहीं अधिक रुपए का लेन-देन होता है। इसलिए बडे व्यापार का व्यौरा नक़द रुपये से चुकाना बड़ा कठिन होगा। दूसरी बात यह है कि रुपया ले जाने और लाने मे चोरों और डाकुओं का भी भय है। भाडे का ख़र्च भी अधिक होगा। इन सकटों से बचने के लिए यह युक्ति सोची गई कि रुपये की जगह काग़ज़ से काम लिया जाय। काग़ज़ के बदले रुपया मिल जायगा इसका विश्वास दिलाने के लिए विश्वस्त स्थान मे रुपया रखने की प्रथा शुरू हुई और विश्वस्त मनुष्य की लिखी हुई चिट्ठी तथा वचन पर कार्य चलने लगा। इस चिट्ठी को 'हुण्डी' के नाम से पुकारने लगे। आज भारतवर्ष के व्यापारी हुण्डी द्वारा लाखों रुपए का लेन-देन चुकाते हैं। इस प्रथा को जन-साधारण में प्रचलित करने के लिए कई सस्थाएँ स्थापित की गईं, जिन्हें आज 'बैंक' के नाम से पुकारते हैं। बैंक के नोट, जिनके द्वारा बैंक इस बात का वचन देता है कि नोट पानेवाला मनुष्य लिखा हुआ रुपया बैंक से ले सकता है, रुपया भेजने का काम करते हैं और धातुमुद्रा ले जाने संबधी कष्ट और संकट का निवारण करते हैं। हुण्डी का स्थान अब इन बैंकों मे जमा किए गए द्रव्य के नाम पर लिखी हुई चिट्ठी ने, जिसे चेक कहते हैं, ले लिया। बैंक एक से अधिक साख रख सकता है, परन्तु उसका विश्वास सबको नहीं हो सकता। दूसरे यह भी सम्भव है कि बैंक हर स्थान मे अपनी शाखा न बना सकें और ऐसी अवस्था मे शाखारहित स्थानों मे रुपया लेना दुष्कर होगा। इन कष्टों को दूर करने के लिए राष्ट्र ने स्वयं नोट छापने का कार्य ग्रहण किया, जिनके आधार पर नोट ले जानेवाला व्यक्ति सरकारी ख़ज़ाने से लिखा हुआ रुपया पा सकता है। इस प्रकार धातु का स्थान काग़ज़ ने ले लिया और आज ससार के सभी सभ्य देशो में बहुताश काग़ज़ द्वारा ही विनिमय का कार्य पूर्ण होता है। यही दशा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की भी है। काग़ज़ के बिल द्वारा बडे-बडे व्यापार का व्यौरा चुकाया जाता है। बैंक की शाखाएँ इस व्यौरा चुकाने के कार्य को पूरा करती हैं। यदि हमे ५०००) रु० इङ्गलैंड भेजना है, तो आजकल रुपया अथवा सोना न भेजकर हम अपने देश में किसी इङ्गलैंड की कम्पनी का बिल ख़रीद लेंगे। उसका रुपया बिल बेचनेवाले को बैंक चेक द्वारा दे सकते हैं। इस प्रकार प्राप्त किये हुए बिल को हम उस मनुष्य को इङ्गलैंड मे डाक द्वारा भेज देंगे और वह उस बिल के वास्तविक देनेवाले से रुपया अपने ही देश मे ले लेगा। बिल बेचने और ख़रीदने के इस काम को आजकल या तो बैंक या एक प्रकार के दलाल, जिन्हे बिल-ब्रोकर (Bill broker) कहते हैं, किया करते हैं। जहाँ यह कार्य होता है उसे 'बिल मार्केट' (Bill Market) या 'एक्सचैंज' (Exchange) के नाम से पुकारते हैं। रुपया-बदली तथा अन्य देश के सिक्कों के मोल लेने और बेचने के भी बाज़ार हैं, जिन्हें विदेशी मुद्रा विनिमय सस्था (Foreign Exchanges) के नाम से पुकारते हैं। ससार के समस्त व्यापारिक लेन-देन का भुगतान इन्हीं के द्वारा शीघ्र तथा कम-से-कम ख़र्च में होता है। काग़ज़ द्वारा विनिमय की नींव विश्वास तथा साख पर निर्भर है। इसमें एक सुविधा और यह है कि मुद्रा न होने पर भी केवल साख (Credit) द्वारा ही व्यापार चल सकता है। अनुमान किया जाता है कि भविष्य में धातु का व्यवहार कम हो जायगा और केवल काग़ज़ द्वारा ही विनिमय-कार्य चलेगा।

सुरंगें किस तरह बनाई जाती है ?

(ऊपर की पंक्ति में बाईं ओर) शैफ्ट का दृश्य। यह सुरंग की खुदाई की पहली मंज़िल है। जैसा कि लेख में विस्तार के साथ समझाया गया है, बहुत गहराई पर सुरंग खोदने के लिए प्राय: थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कई कुएँनुमा 'शैफ्ट' धरती में गलाए जाते हैं। उन्हीं के रास्ते मज़दूर और खुदाई का सामान, यंत्र आदि नीचे पहुँचाए जाते और खोदी गई चट्टानों का मलबा बाहर निकाला जाता है। शैफ्ट बना लेने पर फिर सुरंग की आड़ी खुदाई शुरू होती है। चित्र में शैफ्ट का वैसा दृश्य है जैसा कि ऊपर से देखने पर वह दिखाई पड़ेगा। कुछ मज़दूर नीचे उतर रहे हैं। (ऊपर दाहिनी ओर) 'एयरलॉक' का दृश्य। (नीचे बाईं ओर) 'ग्रीदहेड शील्ड' के भीतर का दृश्य। (नीचे दाहिनी ओर) खुदाई समाप्त हो जाने पर लोहे की शहतीरों और कंक्रीट से सुरंग की दीवाल चुनी जा रही है।

धरती पर विजय—(३) मीलों लंबी सुरंगें

पर्वत-श्रेणियों या धरती के पेटे को भेदकर रास्ता निकालने का प्रयत्न

वायु पर विजय प्राप्त करने के बहुत पहले ही मनुष्य ने धरती पर अधिकाश मे विजय प्राप्त कर ली थी। पर्वत-श्रेणी के उस पार जाना हुआ तो वह अब लम्बा चक्कर लगाकर नौ दिन मे ढाई कोस का रास्ता नही तय करता, बल्कि कठफोड कीडे की तरह पर्वत-श्रेणी को ही भेद-कर वह अब सीधा आगे बढता है। यदि बिना पुल बनाए नदी लॉघना हुआ तो वह नदी के पेटे के नीचे धरती के भीतर ही भीतर सुरग बनाकर इस पार से उस पार के लिए सडक बना लेता है। घनी बस्ती वाले व्यापारिक बडे नगरो मे सवारियों को सडक पर भीड के कारण चलने को जगह नहीं मिलती तो मनुष्य अब ज़मीन के नीचे सुरगों का जाल बिछाकर उनमे छोटी-छोटी रेलगाडियॉ दौडाता है, ताकि कारखानो और आफिसों मे काम करनेवाले लोग ठीक समय पर अपनी-अपनी ड्यूटी पर पहुँच जायॅ।

सदियों पहले, जब सभ्यता का उदय भी नहीं हुआ था, इङ्गलैण्ड के आदि निवासियों ने बारहसिंघे के सींग की मदद से जमीन के अन्दर दूर-दूर तक सुरगे खोद डाली थी। इन सुरगो के निर्माण मे उन लोगो ने निस्सन्देह गज़ब की लगन, धुन और अध्यवसाय का परिचय दिया था। इन सुरगो मे ये लोग शिकार करने के अपने पत्थर के हथियारो

मनुष्य टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता अब नहीं पसंद करता—वह एकदम सीधी सड़कें चाहता है!
यदि उसके रास्ते मे पहाड की दीवार जैसी कोई बड़ी आड आ जावे तो भी वह उसे फोड-कर—उसमें सुरंग बनाकर—ही आगे बढेगा। उसका चक्कर काटने को वह तैयार नहीं। ऊपर के चित्र मे अमेरिका के एक विशाल वृक्ष के भीमकाय तने में काटी गई एक सुरंग का दृश्य है। यह वृक्ष उस ओर निकलनेवाले एक रास्ते की आड में पडता था। वृक्ष भी बना रहे और गाडी-घोडों को रास्ते से मुडना भी न पडे, इन दोनो बातों को करने के लिए किसी बुद्धिमान व्यक्ति ने इसके तने में ही सुरंग फोडकर मोटर जाने भर का रास्ता निकाल लिया!
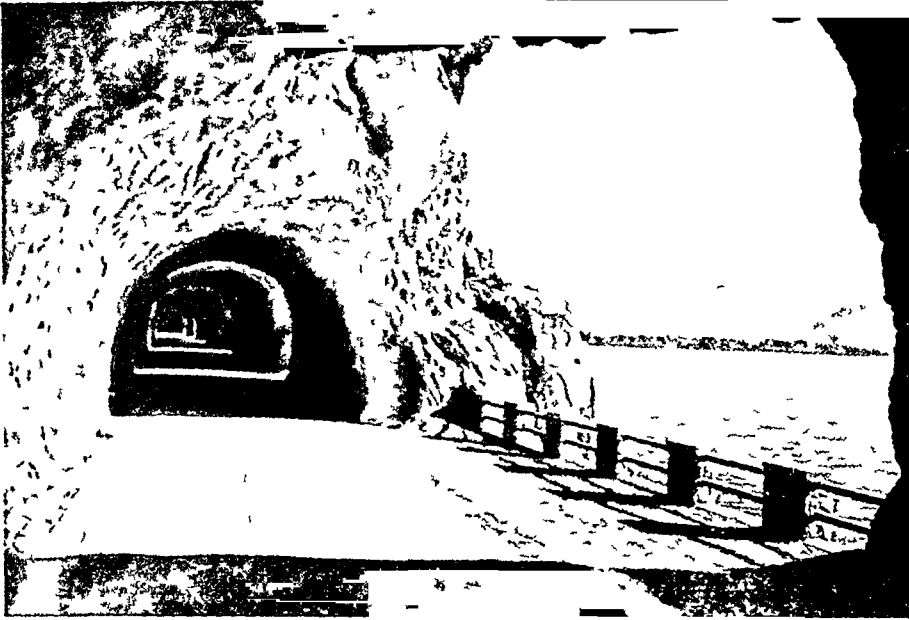
इटली में गार्डा नामक झील के किनारे पर सीधी खडी पहाडी दीवाल में एक के बाद एक खोदी गई कई सुरंगों में से होकर जाती हुई सडक का अद्भुत दृश्य। बीच-बीच में इन सुरंगों में खुले झरोखे भी निकल आए हैं।

के शत्रुओं की नजर से छिपाकर रखते थे। उन दिनों पत्थर के ये हथियार ही मनुष्य की सबसे बहुमूल्य संपत्ति माने जाते थे।

तदुपरान्त भिन्न-भिन्न उद्देशो को लेकर लोगो ने सुरगो का निर्माण करना शुरू किया। मिस्र-निवासियो ने क़ब्र बनाने के लिए गहरी सुरगे खोदी। मिस्र का प्रत्येक बादशाह उन दिनों अपनी समाधि के लिए पहाडियो के नीचे अपने जीवन-काल मे ही सुरगे खुदवा लेता था।

सुरग खोदने मे वैज्ञानिक प्रणाली का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय रोमन-सम्राटो को प्राप्त है। सडको और पुलो के साथ-साथ इन्हे जगह-जगह सुरगे बनाने की भी जरूरत पडी। योरप मे जिन-जिन देशों मे रोमन सम्राट् गए, वहीं उन्होंने बढिया जाति की सुरगों का निर्माण किया। इस सम्बन्ध मे स्विट्जरलैंड का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पानी के नल जमीन के नीचे बिछाने के लिए, सडको के लिए, पहाडो मे से होकर रास्ता निकालने के लिए, तथा पानी के निकास के लिए, हर प्रकार की सुरगे रोमन लोगो ने बनवाई थीं। अपीनाइन पर्वत-श्रेणी के माउण्ट सल्विनो पहाड को भेदकर आज से दो हजार वर्ष पूर्व ३॥ मील लम्बी एक सुरग रोमन लोगो ने बनवाई थी। यह सुरग १० फीट ऊँची और ६ फीट चौडी थी। फूसिनो झील के पानी की निकासी के लिए यह सुरग खोदी गई थी। इस बात का लेखा मौजूद है कि इसके निर्माण मे ३० हजार मजदूरों को निरतर ११ वर्ष तक काम करना पडा था। इसकी खुदाई के सिलसिले मे ४० कुएँ ऊपर से सुरग की सतह तक थोडी-थोडी दूर पर खोदने पडे थे। इनमे से कुछ एक कुएँ तो ४०० फीट से भी ज्यादा गहरे थे। इन कुओं के अतिरिक्त कितने ही तिरछे रास्ते ऊपर पहाड के ढाल से सुरग तक खोदे गए थे, ताकि सुरग खोदते समय जो पत्थर, ककड आदि तोडे जायँ, उन्हें इन्ही रास्तो से ऊपर खींच ले। उन दिनों ककड-पत्थर को ऊपर खींचने के लिए किसी प्रकार की मशीन न थी। केवल घिर्री की मदद से ककड-पत्थर से भरी हुई टोकरियों को ऊपर खीचना पडता था।

उन दिनो सुरग खोदना कठोर परिश्रम का काम था। अँधेरी गुफा मे मोमबत्ती की धुँधली और डरावनी रोशनी के सहारे बेचारे मजदूर एक-एक इञ्च करके चट्टान को काटते थे। मजदूरों के बचाव के लिए ऊपर सुरग की छत पर आजकल जैसी लोहे की कोई चद्दर (शील्ड) नहीं लगी होती थी। मजदूर ज्यो-ज्यों आगे बढते, शहतीरो का सहारा छत के नीचे लगाते जाते। ऐसी परिस्थितियो में तरह-तरह की आफतो का उन्हे पग-पग पर सामना करना पडता। कभी-कभी तो सुरग की छत ही, जहाँ कमजोर पड़ती, सब कुछ लिये-दिये नीचे को बैठ जाती और सैकडों मजदूर बेचारे उसके नीचे दबकर मर जाते। कभी एकाएक पहाडी मे से गर्म पानी के सोते फूट उठते और बात-की-बात मे समूची सुरग जलमय हो जाती। इसी तरह कभी पहाड़ी के अन्दर से विषैली गैसे निकल पडती और बेचारे मजदूरों का दम घुट जाता।

किन्तु इञ्जीनियरिंग की उन्नति के साथ-साथ सुरग खोदने की कला मे भी नए-नए तरीके निकाले गए। पहाडियो और टीलो के अन्दर सुरग खोदने के लिए अब

जगह-जगह गहरे कुएँ खोदे जाते हैं, जो नीचे सुरग तक पहुँचते हैं। ये गहरे कुएँ 'शैफ्ट' कहलाते हैं। इन्हीं शैफ्टों के सहारे सुरग को एक सीधी रेखा मे खोदते हैं। साथ ही इन कुओं के रास्ते सुरग मे बराबर ताज़ी हवा भी पहुँचती रहती है। किन्तु ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों तथा पानी के नीचे इस तरह के शैफ्ट का खोदा जाना सम्भव नही है। ऐसी जगहो मे सुरग खोदने के लिए फौलाद की मज़बूत चद्दरो के बने हुए वेलनाकार पीपों से काम लेते हैं। इन पीपो को 'शील्ड' कहते हैं। उन्हीं के भीतर खड़े होकर मज़दूर सुरग की चट्टाने खोदते हैं। ऐसी दशा मे छत के टूटने पर उन्हें किसी प्रकार की जोखम नहीं पहुँच सकती। फौलाद के ये मज़बूत पीपे सुरग की छत को सँभाले रहते हैं।

'शील्ड' का सर्वप्रथम प्रयोग एक अग्रेज़ इञ्जीनियर ब्रनेल ने किया था। १८ वीं शताब्दी के शुरू मे ऊपर से शैफ्ट गलाकर टेम्स नदी के नीचे सुरग खोदने का प्रयत्न किया गया। किन्तु शैफ्ट से केवल ११०० फीट की दूरी तक सुरग खोदी जा सकी। इसके आगे बढने पर कई बार नदी के पेटे की नरम मिट्टी सुरग मे बैठ गई। कितनी ही जानें व्यर्थ मे गईं। आख़िर ५ वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद इस योजना को त्यागना पड़ा।

१८१६ मे अग्रेज इञ्जीनियर ब्रनेल इस फ़िक्र मे लगा हुआ था कि किस तरह टेम्स नदी की समस्या सुलझाई जाय। एक दिन उसने एक कीड़े को काठ मे सूराख करते हुए देखा। ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने पर उसने देखा कि इस कीड़े के शरीर के ऊपर एक वेलनाकार कड़ी खोल चढी हुई है। इसी खोखली नली को स्क्रू की तरह घुमा-घुमाकर वह कीड़ा काठ मे धीरे-धीरे सूराख़ करता है और फिर बुरादे को अपनी खोल और शरीर की बीचवाली साँस के रास्ते निकालकर पीछे फेंक देता है।

बस एकाएक उसके दिमाग मे यह बात आई कि उसी सिद्धान्त का प्रयोग करके वह भी टेम्स नदी के नीचे सुरग खोदने मे सफल हो सकता है। तदनुसार १८१८ मे उसने सुरग खोदने की अपनी निज की एक प्रणाली को पेटेन्ट कराया। उस प्रणाली मे कच्चे लोहे की मजबूत चद्दर की बनी हुई शील्ड काम मे लाई गई थी। ब्रनेल की शील्ड मे १२ पीपे एक दूसरे के साथ जुटे हुए थे। प्रत्येक पीपा व्यास मे २२ फीट ऊँचा और ३ फीट लम्बा था। उन पीपों के अन्दर ३६ कम्पार्टमेण्ट बनाए गए थे। इन कम्पार्टमेण्टों के भीतर-भीतर मज़दूर पीपे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आते-जाते थे। सबसे आगेवाले पीपे मे खड़े
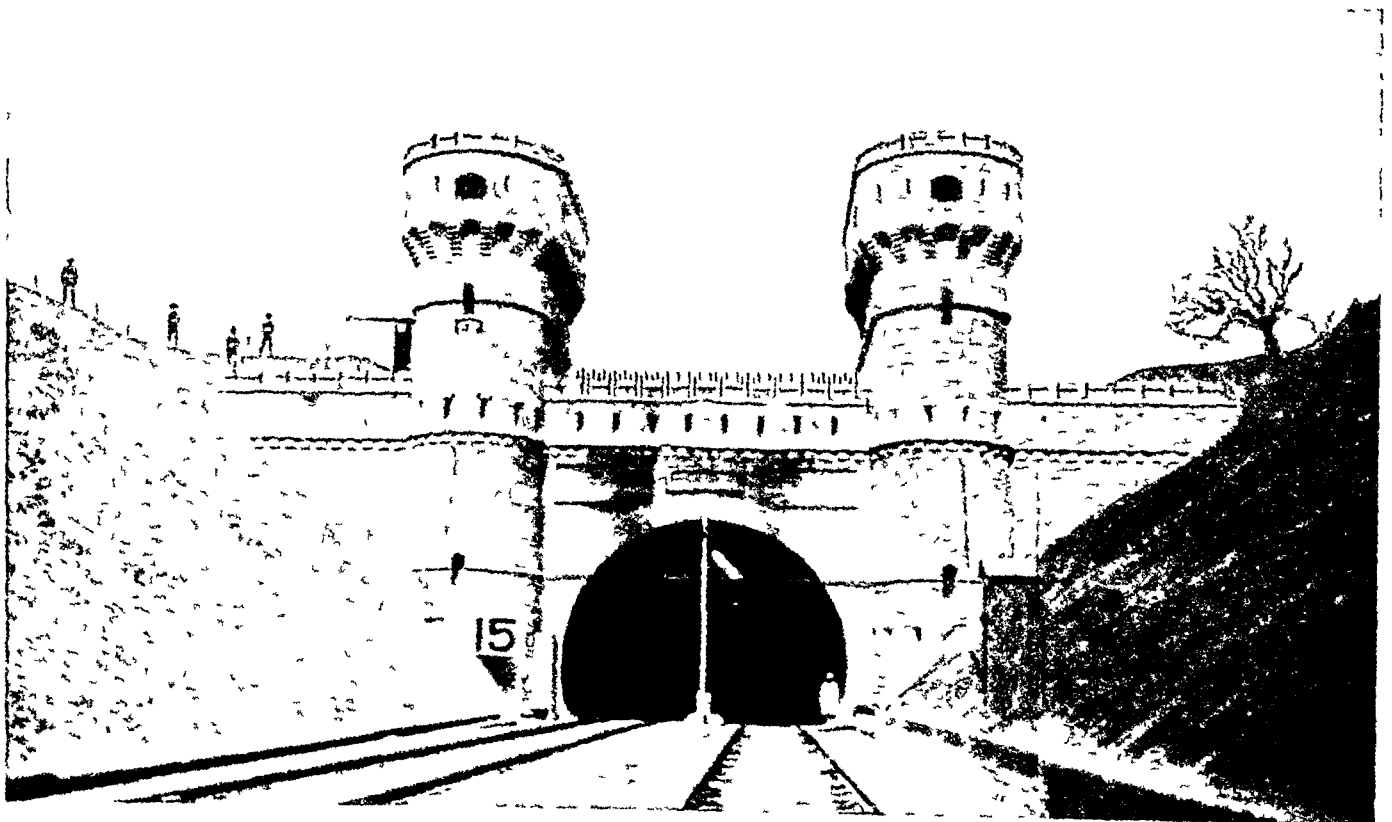
भारतवर्ष की सबसे लंबी रेल की सुरंग—"खोजक टनल"

यह बलूचिस्तान में ख्वाजा अमरान नामक ८००० फ़ीट ऊँची पर्वतमाला को भेदकर चमन के समीप बनाई गई है। इसकी कुल लंबाई २॥ मील के लगभग है। चित्र में सुरंग का पूर्वी मुहाना दिखाई दे रहा है।

होकर मजदूर सामने की चट्टान को तीन फीट की दूरी तक काटते हुए कंकड़-पत्थर को इन्हीं कम्पार्टमेण्ट के रास्ते पीछे को ट्राली में भरकर भेज देते। अब पूरी शील्ड तीन फीट आगे को खिसकाई जाती। इस विशालकाय शील्ड को आगे सरकाने के लिए हाइड्रालिक जैक काम में लाया जाता था। पीछे की खाली हुई तीन फीट जगह में अब सुरंग की दीवालों में चारों ओर पक्की ईंटें चुन देते। इस प्रकार ३७ फीट ६ इंच चौड़ी और १२०० फीट लम्बी एक वर्गाकार सुरंग तैयार कर ली गई। उसके अन्दर १७ फीट ऊँची और १८ फीट चौड़ी दो मेहराबदार सुरंगें बना ली गईं। ठौर-ठौर पर एक सुरंग से दूसरी सुरंग में जाने के लिए रास्ते भी बना लिये गए।

इसके बाद जेम्स ग्रीदहेड ने ब्रनेल शील्ड में अनेक सुधार किए। उस शील्ड के आविष्कार के पहले सुरंग खोदते समय पेटे से अक्सर बालू और पानी की धार फूट निकलती थी, जिसमें मजदूर जिन्दा दफन हो जाते थे। इस प्रकार की दुर्घटना से बचने के लिए जेम्स ग्रीदहेड ने अपनी शील्ड में संकुचित वायु का प्रयोग किया। संकुचित वायुवाली शील्ड के आविष्कार के बिना टेम्स नदी के नीचे सुरंगों का जाल कदाचित् कभी भी न बिछ पाता और न लन्दन के नीचे ट्यूब रेलवे की ही लाइनें संभव हो पातीं।

ब्रनेल की शील्ड में प्रत्येक कम्पार्टमेण्ट एक दूसरे से एकदम अलग था। अकेले एक कम्पार्टमेण्ट को भी उसमें आवश्यकतानुसार आगे को खिसका सकते थे। ग्रीदहेड शील्ड के अन्दर भी कम्पार्टमेण्ट बने होते हैं, किन्तु खुदाई का काम सभी कम्पार्टमेण्टों में एक गति से आगे बढ़ता है। सामने के हिस्से में बालू और पानी की धार रोकने के लिए संकुचित वायु का प्रयोग करते हैं। सुरंग की सामने वाली दीवाल पर हवा का समूचा दबाव क़रीब २०० टन के बराबर पड़ता है। हवा के इस प्रबल वेग के कारण पानी और बालू आदि पेटे से बाहर निकलने नहीं पाते।

ग्रीदहेड शील्ड एक बन्द बक्स की भाँति होती है। बक्स के अन्दर १२ कम्पार्टमेण्ट होते हैं, जिनमें संकुचित वायु भरी होती है। प्रत्येक कम्पार्टमेण्ट के प्रवेश-द्वार पर एक छोटी-सी कोठरी बनी होती है, जिसके अन्दर हवा का दबाव इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। संकुचित वायु के कम्पार्टमेण्ट में घुसने के पहले मिस्त्री लोग इसी कोठरी में कुछ देर तक रुके रहते हैं, ताकि उनके फेफड़े पर हवा का दबाव धीरे-धीरे बढ़ाया जा सके। यदि फेफड़ों पर हवा का जोर एकाएक बढ़ा दिया जाय तो उन्हें नुकसान पहुँचने की गहरी सम्भावना रहती है। प्रवेश-द्वार पर लगी हुई उस छोटी-सी कोठरी को 'एयरलॉक' कहते हैं।

शील्ड ज्यों-ज्यों आगे को खिसकायी जाती है, पीछे की ओर सुरंग की दीवालों पर फ़ौरन् ही द्रव सीमेण्ट की मोटी तह संकुचित वायु की मदद से जमा दी जाती है और फिर कास्ट आयरन (कच्चे लोहे) का मज़बूत ट्यूब उसमें फिट कर दिया जाता है। ट्यूब की दीवालें डेढ़-दो इंच मोटी होती हैं। मजबूती में ये ट्यूब अद्वितीय होते हैं। इनमें मोर्चा भी नहीं लग सकता। तदुपरान्त ट्यूब के भीतर

संसार के सबसे लंबे पुल—सैनफ्रैन्सिस्को-ओकलैण्ड ब्रिज—के सिलसिले में यर्बा-ब्यूना द्वीप की चट्टान में खोदी गई सुरंग बड़े निराले ढंग से बनाई गई। पहले सुरंग की दीवालों के लिए चट्टान में खोदकर सँकरी-सी जगह बना ली गई। तदुपरांत सुरंग की मेहराब तैयार कर बीच की चट्टानें संकुचित वायु की बर्मी से खोदकर निकाल ली गईं।

संसार की सबसे अधिक ऊँचाई पर बनाई गई रेल की सुरंग

यह दक्षिणी अमेरिका की एंडीज़ पर्वतमाला में ब्यूनस एरेस और वेलपेराइज़ो के बीच की रेल की लाइन पर १०,५०० फ़ीट की ऊँचाई पर बनाई गई है और लगभग ७ मील लंबी है।
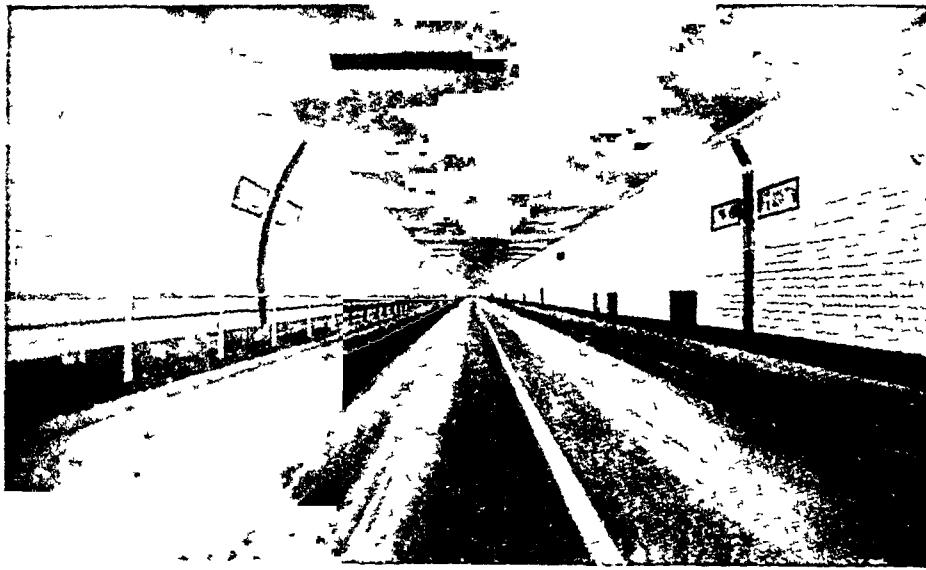
(बाईं ओर) अमेरिका की सुप्रसिद्ध 'हालैण्ड टनल' जो नदी और शहर के नीचे-ही-नीचे होकर मनहट्टन द्वीप और न्यू-जर्सी नामक न्यूयार्क के भागों को जोडती है। यह लगभग दो मील लंबी है।

(दाहिनी ओर) स्विटजरलैंड की सुप्रसिद्ध 'सैंट गोथार्ड टनल' का मुहाना। यह सुरंग ९। मील लंबी है। एक बिजली से चलनेवाली गाडी सुरंग में घुस रही है।
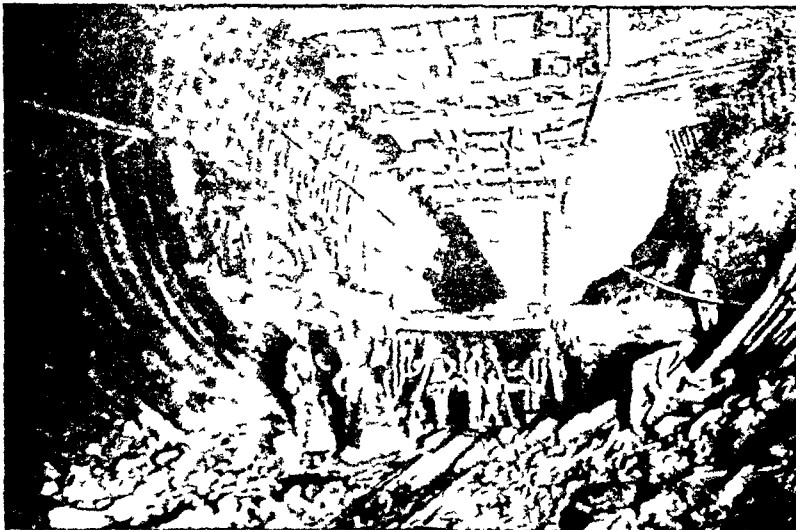
(बाईं ओर) इंगलैंड की सुप्रसिद्ध 'मर्सी टनल' के निर्माण के समय का दृश्य। यह सुरंग भी नदी के नीचे ही नीचे बनाई गई है। अपने ढंग की यह संसार की सबसे बड़ी सुरंग है।
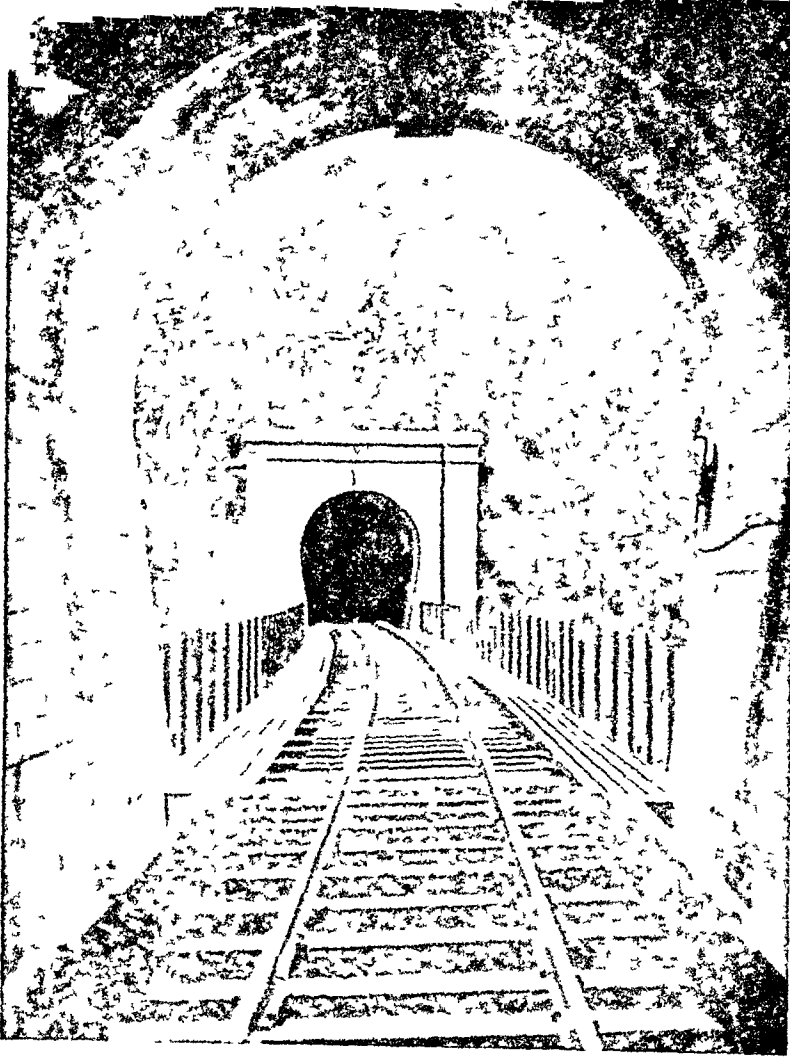
कहीं-कहीं दो सुरंगों के बीच में हज़ारों फीट गहरा खड्ड आ जाता है। उस दशा में दोनों के बीच पुल बना दिया जाता है। चित्र में मलाया प्रायद्वीप की ऐसी ही दो सुरंगों का दृश्य है।

चारों तरफ पक्की ईंटे जड दी जाती हैं, ताकि पैदल यात्रियों को सुरग के अन्दर रास्ता चलने मे कष्ट न हो।

सुरग के अन्दर शील्ड को आगे खिसकाने के लिए दो-तीन हजार टन की शक्ति लगानी पडती है। ऐसी सुरगों के खोदने का काम चौबीसो घण्टे जारी रहता है। मज़दूर और मिस्त्री टोलियाँ बनाकर बारी-बारी से काम करने को आते हैं। तिस पर भी २४ घण्टे मे ६-७ फीट से ज्यादा वे खोद नहीं पाते।

जितनी गहराई पर सुरग खोदी जायगी, इञ्जीनियर को इसका भी ध्यान रखना पडता है क्योंकि ज़मीन के अन्दर जितनी ज्यादा गहराई पर हम जायेंगे, उतनी ही ज्यादा कठिनाई सकुचित वायु के अन्दर काम करने में पडती है। सकुचित वायुवाले कम्पार्टमेण्ट में घुसने के पहले मज़दूरों को 'एयरलॉक' मे बडी देर तक रुकना पडता है, ताकि धीरे-धीरे हवा का दबाव बढाकर वे अपने फेफडों को भारी दबाव सँभालने का अभ्यस्त बना ले। इसी प्रकार खुदाई समाप्त करके जब ये लोग बाहर निकलते हैं, तब भी खुली हवा मे आने के पहले एयरलॉक मे रुककर वे धीरे-धीरे अपने चारों ओर की हवा का दबाव कम कर लेते हैं। ग्रीदहेड शील्ड के आविष्कार के प्रारम्भिक दिनो मे मजदूर बगैर एयरलॉक का प्रयोग किये ही सीधे खुली हवा मे से सकुचित वायु के कम्पार्टमेण्ट मे चले जाते थे। फेफडे पर हवा का दबाव एकदम बढ जाने से उनके स्वास्थ्य को बडी हानि पहुँचती थी। यहाँ तक कि सुरग खोदनेवाले मजदूरों की वार्षिक मृत्यु-सख्या २५ प्रतिशत से भी ऊपर चली गई। तुरन्त डाक्टरों की राय उस मामले मे ली गई और अन्त मे एयरलॉक का प्रयोग करना तय पाया, ताकि फेफडे पर हवा का दबाव अचानक घटे-बढे नही। इस नए आविष्कार का आशातीत फल निकला। वार्षिक मृत्यु की संख्या २५ प्रतिशत से घटकर एक प्रतिशत रह गई।

सुरग के अन्दर मज़दूर हवा के अत्यधिक दबाव के कारण बडी देर तक लगातार काम नही कर सकते। यदि दबाव २५ पौण्ड प्रति वर्ग इञ्च के लगभग हुआ, तो २४ घण्टे मे केवल ६ घण्टे मजदूर काम करता है। तीन घण्टे काम लेने पर मज़दूरों को एक घण्टा आराम करने के लिए मिलता है। ज्यो-ज्यों हवा का दबाव बढता है त्यों-त्यों मजदूरों के काम करने के घण्टों में भी कमी की जाती है। यदि ४५ पौण्ड प्रति वर्ग इञ्च दबाव हुआ तो २४ घण्टे मे मजदूर केवल दो घण्टे काम करता है और सो भी एक सिलसिले में नहीं। एक घण्टा काम कर लेने के बाद वह बाहर चला आता है और चार घण्टे विश्राम कर लेने के उपरान्त फिर एक घण्टे के लिए वह काम करने के लिए सुरग के अन्दर प्रवेश करता है। यदि दबाव ५० पौण्ड प्रति वर्ग इञ्च हुआ तो मज़दूर २४ घण्टे मे कुल १॥ घण्टे काम करता है—४५ मिनट के उसके दो शिफ्ट लगते हैं, और इन दोनों शिफ्टों के दर्मियान कम-से-कम ५ घण्टे का विश्राम दिया जाता है।

सुरगें प्राय. तीन प्रकार की होती हैं—एक जो ऊँचे पहाडों में से होकर गुजरती हैं, दूसरी जो जमीन के धरातल से थोडी ही गहराई पर नीचे बनाई जाती हैं, और तीसरी जो ज़मीन के अन्दर बहुत गहराई पर खोदी जाती हैं।

पहली जाति की सुरगे आल्प्स पर्वत और अमेरिका की रॉकी पर्वतमाला मे खोदी गई हैं। ऐसी सुरगों की सतह समतल नहीं होती। एक सिरे से दूसरे सिरे तक जबर्दस्त ढाल होता है, ताकि ऊपर से टपकता हुआ पानी बहकर अपने आप आसानी से बाहर निकल जाय। ऐसी सुरगो मे पहाड के ढाल से अक्सर पानी टपका करता है।

दूसरी तरह की सुरगे लन्दन मे पैदल चलनेवालों के आने-जाने के लिए जमीन की सतह से थोडी ही नीचे खुदी हुई हैं। तीसरी जाति की सुरगे जमीन या नदी के पेटे से बहुत नीचे गहराई पर खोदी जाती हैं। लन्दन की ट्यूब रेलवे की सुरगे इसी श्रेणी की हैं।

पहाड़ में खोदी गई सुरगों में आल्प्स की सुरगे विशेष महत्व रखती हैं। इनके निर्माण में इञ्जीनियरों ने विज्ञान की वास्तविक शक्ति का परिचय दिया है। इन सुरगो के बनने के पहले आल्प्स को पार करने मे १४ घण्टे लगते थे—अब बर्फ से ढकी हुई चोटी के ६००० फीट तले सुरगों मे होकर १५ मिनट मे रेलगाडियॉ आल्प्स के इस पार से उस पार को निकल जाती हैं।

पहाड की इन सुरगों के खोदने मे ग्रीटहेड शील्ड से काम नहीं चलता, क्योकि इस तरह की शील्ड नरम मिट्टी और बालू आदि के अन्दर ही काम मे लाई जा सकती है। पहाड की सख्त चट्टानो के अन्दर सुरग बनाने के लिए पहले एक ही सीध मे थोडी-थोडी दूरी पर चट्टान में गहरे शैफ्ट बडे आकार की बर्मा से खोद लेते हैं। फिर शैफ्ट के पेटे मे डाइनामाइट डालकर उसका विस्फोट कराते हैं। इस प्रकार तह की चट्टाने तोड दी जाती हैं। शैफ्ट के ही रास्ते टूटी हुई चट्टाने और कडड आदि बाहर मशीन द्वारा खींच लिये जाते हैं। इस रीति का सर्वप्रथम प्रयोग आल्प्स की पहली सुरग 'माउण्ट सेनिस टनल' के तैयार करने मे हुआ था। इसकी खुदाई में बर्मियों के लिए चालक शक्ति सकुचित वायु से प्राप्त की गई थी।

माउण्ट सेनिस टनल १८७० ई० मे तैयार हुई थी। यह ७॥। मील लम्बी है। इसकी ऊँचाई १६ फीट और चौडाई २६ फीट है। इसके निर्माण मे पूरे १३ वर्ष लगे थे। पहले चार वर्षों तक खुदाई का काम मजदूरों ने फावड़ों से किया, फिर बाद मे सकुचित वायु द्वारा परिचालित बर्मियो का प्रयोग किया जाने लगा। अवश्य ही तब खुदाई की रफ्तार भी पहले से तेज हो गई। लोगो की राय इस सुरग की स्कीम के एकदम खिलाफ थी। आम जनता का ख्याल था कि यह स्कीम कभी सफल हो ही नही सकती। यहाँ तक कि जब सुरग बनकर तैयार हो गई, तो किसी ने अखबार मे गप्प उडा दी कि इस सुरग के उद्घाटन के दिन एक रेलगाडी को लेकर तीन ड्राइवर इस सुरग मे घुसे थे, उनमे दो का तो दम रास्ते मे ही कोयले के धुएँ से घुट गया और तीसरा भी अस्पताल मे पडा-पडा मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहा है—जब कि वास्तव मे सही बात यह थी कि किसी ड्राइवर के सिर मे दर्द भी नही हुआ था।
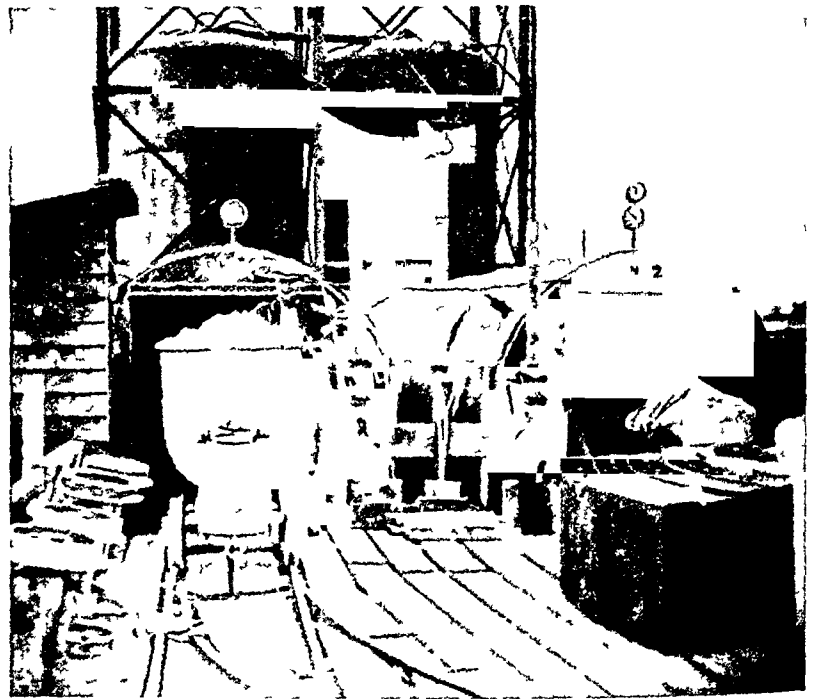
अभी हाल में टेम्स नदी के नीचे बनायी जा रही एक और नई सुरंग के निर्माण के समय काम में लाये जानेवाले दो 'एयरलॉको' का दृश्य

दाहिनी ओर का 'एयरलॉक' (जिस पर न० २ लिखा है) बंद है। बाईं ओर का खुला है और उसमें से एक खड़िया मिट्टी से भरी ट्राली बाहर निकल रही है।
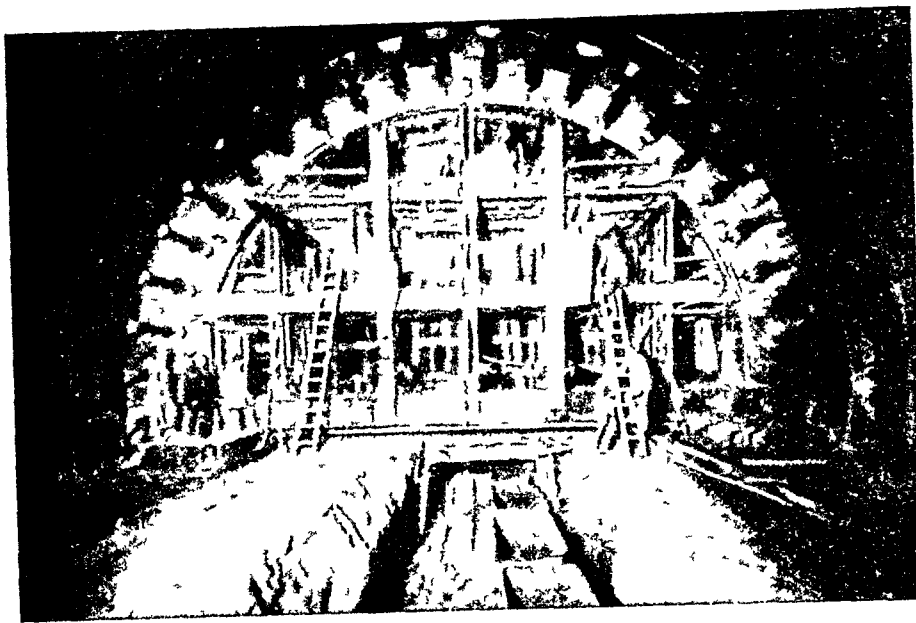
इंगलैंड की मर्सी नदी के नीचे हाल में बनाई गई सुप्रसिद्ध सुरंग के निर्माण के समय का दृश्य। छत पर लगी हुई अर्द्ध-वर्तुलाकार 'शील्ड' के नीचे मज़दूर खुदाई कर रहे हैं। पहले ऊपरी आधा हिस्सा खोद लिया जाता और उसकी दीवाल बना ली जाती, बाद में निचला आधा भाग भी खोदकर तैयार कर लिया जाता था।
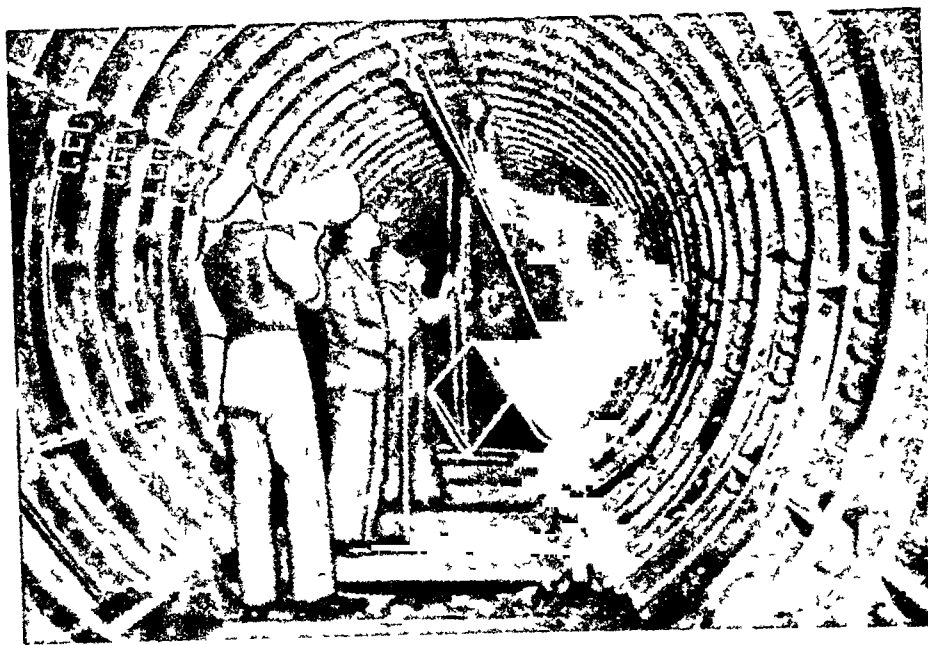
लंदन की धरती के नीचे बनी हुई रेलगाड़ियों की सुरंगों में आसपास लोहे और कंकरीट की दीवाल बना देने के बाद रेल की पटरियाँ बिछाई जा रही हैं।

आल्प्स की 'आर्लबर्ग सुरग' इन्सबर्ग को कान्सटैन्स झील से मिलाती है। इसकी लम्बाई ६३⁄४ मील है। इसकी खुदाई मे तीन वर्ष लगे थे। ख़र्च प्रति गज़ १५००) रु० बैठा था।

आल्प्स की चौथी सुरग 'सिम्पलन टनल' १२॥ मील लम्बी है। यही योरप मे सबसे बडी सुरग है। मुख्य सुरग के साथ-साथ उसी के समानान्तर एक सॅकरी सुरग भी ताज़ी हवा पहुँचाने के लिए बनी हुई है। मुख्य सुरग १४ फीट ६ इच चौडी और १८ फीट ऊँची है।

आल्प्स की सुरगों के खोदने मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा था। ज्यो-ज्यो सुरगे आगे बढती जाती हैं, उनके ऊपर पर्वत की ऊँचाई भी बढती जाती है, अतः सुरग के अन्दर गर्मी भी बढती है। सेट गोथार्ड सुरंग की खुदाई के समय तो तापक्रम ६३° फा० तक पहुँच गया था। ऐसी गर्मी मे मज़दूर ठीक तौर पर अपना काम पूरा नहीं कर पाते थे। ताज़ी हवा पहुँचाने का भी प्रबन्ध इतनी गहराई पर ठीक नही हो पाता था। फल-स्वरूप डायनामाइट के विस्फोट से उत्पन्न गैसो के कारण कितने ही मजदूरो और घोडों के दम घुट गए—सो भी ऐसी दशा मे जबकि ४५ लाख घनफीट ताज़ी हवा प्रतिदिन पम्प करके सुरग के भीतर भेजी जाती थी। इन्ही कारणो से सेट गोथार्ड की खुदाई के सिलसिले मे ३०० जाने गई और ७०० से अधिक मज़दूर घायल हुए।

आल्प्स पर्वत की 'सेट गोथार्ड सुरग' ६। मील लम्बी है। इसकी खुदाई मे पूरे ६ वर्ष लगे थे। रात-दिन ४००० मजदूर खुदाई पर लगे रहते थे। सकुचित वायु द्वारा परिचालित गाडियाँ ककड-पत्थर आदि ढोने के लिए काम में लाई जाती थीं। इस सुरग के खोदने मे प्रति गज़ २०००) रु० ख़र्च बैठा था। यह दुनिया की बहुत लम्बी सुरगो मे है।

सिम्पलन टनल की खुदाई मे निस्सन्देह सेट गोथार्ड के अनुभव से लाभ उठाया गया, किन्तु फिर भी ६० मज़दूरो की जाने इस सुरग के निर्माण मे चली गई। इस सुरंग के

खोदने में १३५० टन डायनामाइट खर्च हुई थी। सुरंग खोदते समय कई जगह पानी की तेज धार फूट पड़ी थी। एक बार तो प्रति मिनट १० हजार गैलन के हिसाब से पानी पहाड़ के सोतों से सुरंग के अन्दर आने लग गया था। यह पानी इतना ठण्डा था कि सुरंग के अन्दर फौरन् ही तापक्रम घटकर ६३ डिग्री फा० से ५५ डिग्री फा० पर पहुँच गया। सुरंग की खुदाई समाप्त होते-होते एकदम उलटी ही घटना घटी। गर्म पानी के कई सोते एकाएक फूट पड़े। इस पानी का तापक्रम ११३ डिग्री फा० था। प्रति मिनट १६०० गैलन पानी सुरंग के अन्दर आने लगा। तापक्रम घटाने के लिए फौरन् ही ठण्डी हवा और ठण्डा पानी पम्प के ज़रिये सुरंग के अन्दर पहुँचाया गया। सेंट गोथार्ड की खुदाई में भी दक्षिण प्रवेश-द्वार के नजदीक मजदूरों को घुटने भर पानी के अन्दर खड़े होकर चट्टान खोदनी पड़ी थी। मूसलाधार पानी छत से बरसता था। अक्सर सामने की दीवाल से पानी की मोटी धार फूट पड़ती, जो मजदूर को धक्का देकर कभी-कभी जमीन पर गिरा देती। पानी का निकलना रोकने के लिए संकुचित वायु का प्रयोग किया जाता था, जो अपने प्रबल दबाव की वजह से पानी को दीवालों के अन्दर से निकलने ही नहीं देती थी। इतनी सावधानी के रखने पर भी पानी के कारण सुरंग बनाते समय दुर्घटनाएँ हो ही जाती हैं। हडसन नदी
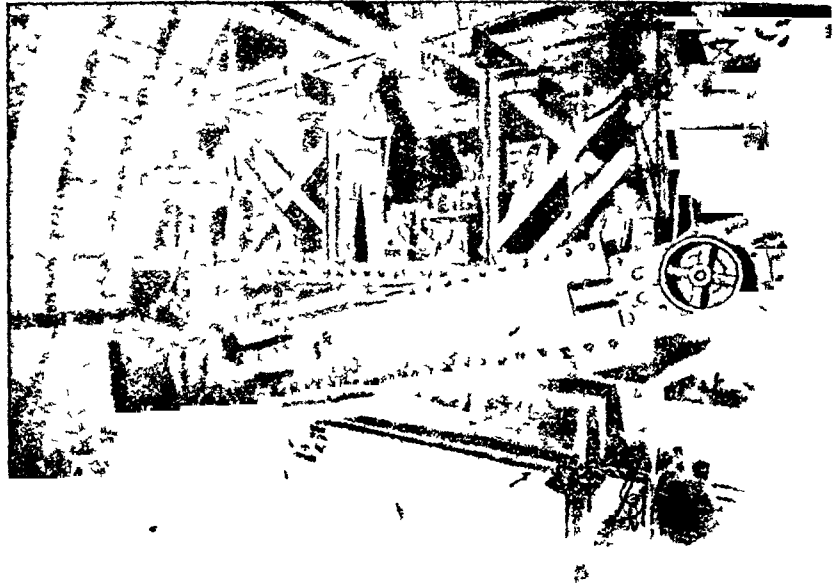
अमेरिका में हडसन नदी के नीचे सुरंग खोदते समय काम में लाई गई शील्ड का दृश्य। सामने का यंत्र-भाग 'इरेक्टर' कहा जाता है। इसकी मदद से सुरंग की दीवार और छत में फ़ौलाद की मेहराबदार शहतीरें और चद्दरें लगाई जाती हैं।

लंबी-लंबी सुरंगों के बनाने में सफलता प्राप्त होने पर योरप महाद्वीप और ग्रेट ब्रिटेन के बीच की इंगलिश चैनेल नामक खाड़ी के नीचे भी सुरंग बनाकर रेल का रास्ता निकाल लेने की बात सोची गई। इस प्रस्तावित लंबी सुरंग की कुल लंबाई ३१ मील और गहराई समुद्र की सतह से २६० फीट होगी। दोनों तटों की ओर से लगभग डेढ़-डेढ़ मील सुरंग खोदी भी जा चुकी थी, पर युद्ध-विभाग के विरोध के कारण यह काम बंद कर देना पड़ा। इस चित्र में इस अपूर्ण सुरंग का मुहाना दिखाई दे रहा है।

के नीचे जब सुरग खोदी जा रही थी, तब एक दिन सुरग मे इतने ज़ोर से पानी फट पडा कि समूची छत बैठ गई और २० मज़दूर उसी के अन्दर फँसकर डूब गए।

इस तरह की सुरगो की खुदाई प्रायः दोनो सिरो से एक ही साथ आरम्भ की जाती है। बीच मे दोनों ओर की सुरगे मिल जाती हैं। अवश्य ही दोनो ओर की सुरगों को एक सीध मे रखने के लिए बडी सावधानी रखनी पडती है। १२॥ मील लम्बी सिम्पलन टनल की खुदाई के समय जब दोनो ओर की सुरगे बीच मे मिली तो उनकी दीवालें ठीक एक-दूसरे की सीध मे मिल गई। उनके फर्श के धरातल मे केवल ४ इच का अन्तर पडा, सो भी ऐसी हालत मे, जब कि सुरग का उत्तरी प्रवेश-द्वार दक्षिणी द्वार से १७५ फीट ऊँचे धरातल पर था। सेट गोथार्ड की खुदाई भी दोनो सिरो से एक ही साथ शुरू की गई थी। बीच मे जब दोनों ओर की सुरगे मिली तो उनके फर्श के धरातल मे केवल ४॥ इच का अन्तर था। कैलिफोर्निया की फ्लोरेन्स टनल की खुदाई मे तो इञ्जीनियरो ने वास्तव मे कमाल कर दिखाया। दोनो ओर की सुरगे बीच मे जब मिली तो उनके फर्श के धरातल मे केवल ३/१० इंच का अन्तर पडा।
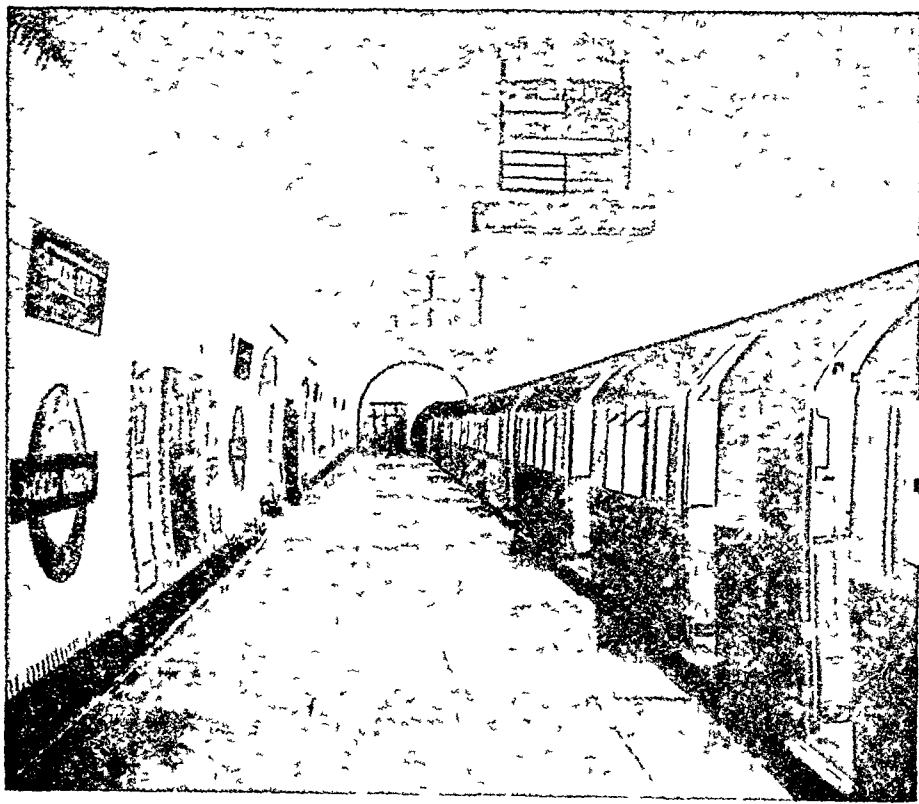
इन सुरगो मे ताजी हवा पहुँचाने के लिए जो शैफ्ट खोदे जाते हैं वे एकदम सीधी रेखा मे रखे जाते हैं, और फिर इन्ही के सहारे सुरग को सीधी रेखा मे खोदते चले जाते हैं। प्रत्येक शैफ्ट के बीच मे पेन्डुलम (साहुल) लटकाकर साधते जाते हैं कि सुरग कही टेढी तो नही हुई जा रही है।

जहाँ-कही ऊँचे पहाडो के कारण शैफ्ट नही गलाए जा सकते, वहाँ पर दोनों ओर की सुरगो को एक सीध मे रखने के लिए ज्योतिषशास्त्र का एक यत्र 'ट्रान्ज़िट इन्स्ट्रूमेण्ट' काम मे लाते हैं। इस यत्र मे एक दूरबीन भी लगी होती है। सुरग के प्रत्येक प्रवेश-द्वार के सामने ही मजबूत ककरीट सीमेन्ट के चौरस प्लैटफार्म पर एक छोटी-सी वेधशाला स्थापित कर लेते हैं। तब बीच मे पहाड की चोटी पर भी उसी सीध मे एक वेधशाला बना लेते हैं। दोनो सिरों की दूरबीन को इस बीचवाली वेधशाला की दूरबीन से साध लेते हैं, ताकि तीनो दूरबीनें एक सीधी रेखा मे हो। फिर दूरबीन के धरातल को बिना दाहिने-बाएँ मोडे हुए नीचे को सावधानी के साथ इतना झुकाते हैं कि उसका झुकाव सुरग के ढाल के साथ ठीक-ठीक मिल जाय। अब इसी दिशा की सीध मे सुरग को खोदते जाते हैं। सुरग ज्यो-ज्यो आगे बढती है, त्यो त्यो सुरग के भीतर भी वेधशाला की दूरबीन की सीध मे अन्य दूरबीनें खडी करते जाते और उन्हे खुदाई के साथ-साथ बराबर एक-दूसरे से साधते जाते हैं।

लंदन के नीचे ज़मीन के भीतर चलनेवाली रेल के एक स्टेशन का दृश्य

लम्बी सुरग के अन्दर ताज़ी हवा पहुँचाने का प्रबन्ध भी विशेष रूप से करना पडता है। रेल की सुरगो मे जगह-जगह पर बने हुए शैफ्ट से धुआँ आदि निकल जाता है, और धुएँ के ऊपर खिंच जाने से सुरग के प्रवेश-द्वारो से ताज़ी हवा सुरग मे तेजी के साथ प्रवेश करती है। लन्दन की ट्यूब रेलवे की सुरगो मे बिजली के पखो से ताज़ी हवा भीतर पहुँचाई जाती है। लन्दन की इन सुरगों की कुल लम्बाई ७३ मील है। सुरगों का इतना लम्बा जाल अन्यत्र कहीं नहीं है। सिम्पलन टनल मे तो मुख्य टनल के ऊपर एक सँकरी सुरग केवल हवा की निकासी के लिए ही बनाई

गई है। सेंट गोथार्ड का एक प्रवेश-द्वार दूसरे द्वार की अपेक्षा काफी ऊँचे धरातल पर है, अत एक ओर आकाश की हवा का दबाव कम, और दूसरी ओर बहुत ज्यादा है, फलस्वरूप इस सुरग मे अपने आप हवा की एक धारा एक प्रवेश-द्वार से दूसरे प्रवेश-द्वार को बराबर चला करती है।

अमेरिका की सुरगो का निर्माण योरप की अपेक्षा देर मे हुआ। ग्रेट नार्थर्न रेलवे पर साउथ डकोटा मे ८ मील लम्बी कैस्केड टनल अभी हाल मे बनकर तैयार हुई है। १९२५ मे इसकी खुदाई आरम्भ हुई थी और तीन वर्ष के भीतर यह पूरी हो गई। योजना के अनुसार अवधि के भीतर काम समाप्त करने के लिए इञ्जीनियरों ने पहले एक नमूने की सुरग खोदी ताकि यह मालूम हो जाय कि पहाड की चट्टान जगह-जगह पर किस क़िस्म की है। फिर इसी नमूने की टनल को भेदते हुए प्रत्येक १५,०० फीट के फासले पर ऊपर से शैफ्ट गलाए गए। रास्ते मे इन्ही शैफ्टों पर ११ जगह एक ही साथ इञ्जीनियरो ने खुदाई का काम शुरू किया था। नमूने की टनल के रास्ते से खुदाई का सामान, पानी और ताजी हवा अन्दर पहुँचाए जाते थे।

न्यूयार्क आदि पूर्वी तट के शहरो को राकी पर्वतमाला के पश्चिम की ओर के प्रान्तो से मिलानेवाली रेलगाडियो के पहले रॉकी पर्वतों के ऊँचे-ऊँचे दर्रो मे से होकर गुजरना पडता था। ऊँची चढाई और जबर्दस्त ढाल की परेशानी भी कुछ कम न थी। अकेली एक ट्रेन खीचने के लिए चार-चार पॉच-पॉच इजिन काम मे लाने पडते थे। ट्रेन की रफ्तार भी बहुत कम थी। चढाई पर एक जगह ९० मील रास्ता तय करने मे १४ घण्टे लग जाते थे। ६॥ मील प्रति घण्टे के हिसाब से ट्रेन रेंगती हुई आगे बढ़ती थी। फिर पर्वत-श्रेणी पर रेलवे लाइन दो मील तक टिन की छत से ढकी हुई थी, ताकि ओले और बर्फ का ढेर लाइन पर न जमा हो जाय। इस सुरग के खुद जाने पर ट्रेन की ढाई हजार फीट की चढाई कम हो गई।

सनफ्रैन्सिस्को पुल के सिलसिले मे यर्बा-ब्यूना द्वीप की चट्टान मे जो सुरग खोदी गई थी, उसके खोदने का ढग भी निराला था। पहले सुरग की दीवालो के लिए चट्टान में खोदकर सॅकरी-सी जगह बना ली गई थी। तदुपरान्त सुरग की मेहराब तैयार की गई और तब बीच की चट्टाने सकुचित वायु की बर्मा से खोदकर निकाल ली गई। इस प्रकार इस सुरग के निर्माण मे एकदम विलोम क्रिया का प्रयोग किया गया था।

अमेरिका मे पानी ले जाने के लिए भी कई एक लम्बी सुरगे बनी हुई हैं। न्यूयार्क शहर के लिए ३० मील के फासले से कार्टन झील से सुरग के रास्ते से पानी आता है। इस सुरग की दीवालों मे पक्की ईंटे जडी हुई हैं। इसकी लम्बाई ३१ मील है, तथा इसका व्यास १२॥ फीट है। अकसर नदी की धारा फेरने के लिए भी सुरगे बनाई जाती हैं। चौथी शताब्दी मे एशिया माइनर मे इसी ढग की एक सुरग द्वारा नदी का रास्ता बदला गया था। आधुनिक काल मे अमेरिका और फ्रान्स मे कई एक सुरगे नदियों को एक खास रास्ते पर रखने के लिए बनाई गई हैं।

इञ्जीनियरिंग के इस उन्नत युग मे इगलिश चैनेल के आरपार सुरग खोदने की बात भी सोची गई है। १८०२ मे एक फ्रेञ्च इञ्जीनियर ने पहली बार इगलिश चैनेल के नीचे सुरग खोदने की स्कीम बनाई थी, किन्तु इतने मे फ्रान्स और इङ्गलैण्ड के बीच युद्ध छिड़ गया और वह स्कीम ताक पर रक्खी रह गई। फिर १८५६ मे इस स्कीम पर पुन. विचार किया गया। महारानी विक्टोरिया ने भी उस स्कीम को काफी पसन्द किया था और १८८० मे फ्रास तथा इङ्गलैण्ड की गवर्नमेण्ट की सम्मिलित राय से सुरग की खुदाई का काम आरम्भ किया गया। फ्रेंच चैनेल कम्पनी ने सैन्गैट पर एक गहरा शैफ्ट गलाया और उसके पेंदे से एक मील की दूरी तक चैनेल के अन्दर लम्बी सुरग खोद भी ली गई। दूसरे किनारे पर डोवर मे भी ब्रिटिश इञ्जीनियरो ने कच्चे लोहे के शैफ्ट १६० फीट की गहराई तक जमीन मे धँसाए और लगभग १॥ मील की दूरी तक सुरग खोदी गई। इगलिश चैनेल मे ७६०० स्थानो पर पानी का थाह लिया गया तथा ३०० जगहों से पेंदे की मिट्टी यह देखने के लिए नकाली गई कि वहाँ का धरातल किस ढग की मिट्टी से बना है। इतने मे १८८२ ई० मे ब्रिटिश युद्ध-विभाग ने उस स्कीम का विरोध किया और सुरग का खोदा जाना वही रुक गया। ब्रिटिश युद्ध-विभाग के पदाधिकारियों का कहना था कि युद्धकाल मे यह सुरग हमारे लिए भारी विपद का कारण बन सकती है।

उक्त स्कीम के अनुसार इस टनल की लम्बाई ३१ मील होगी। उसका दो तिहाई भाग समुद्र की सतह से २६० फीट नीचे होगा—अर्थात् पेंदे की ज़मीन से ६५ फीट नीचे। इस टनल मे एक-दूसरे से ५० फीट के फासले पर लगातार साथ-साथ दौडती हुई दो सुरगे बनेंगी। प्रत्येक का व्यास २५ फीट होगा। इसके तैय्यार होने मे कुल ५ वर्ष लगेंगे और ढाई-तीन करोड़ पौण्ड ख़र्च होंगे।
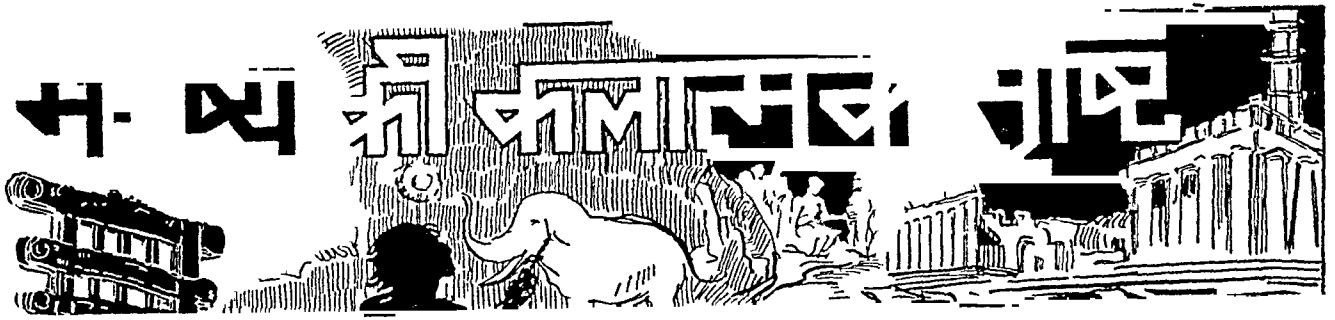
इटली में कला का आरम्भ

इट्रस्कन या प्राक्-रोमन कला

मिस्र से ग्रीस, और ग्रीस से रोम की ओर अग्रसर होना स्वाभाविक ही है। जैसा कि हम पिछले प्रकरणों में देख चुके हैं, ग्रीक कला को आदि प्रेरणा शक्ति मिस्र ही से प्राप्त हुई, और किसी-किसी आलोचक की राय में तो ग्रीक लोग कई बातों मे मिस्र की ऊँचाई तक पहुँच ही नही पाए। रोमन कला के बारे मे तो यह बात शत-प्रतिशत लागू होती है। रोम को ग्रीस ही से कला-प्रेरणा मिली, परन्तु अपने गुरू ग्रीस के समकक्ष वह नहीं पहुँच पाया। क्यों? आइए, इस और आगे के लेखों मे इसका दिग्दर्शन करे। साथ ही इटली में कला का आरंभ करनेवाले उन अद्भुत इट्रस्कन लोगो का भी परिचय प्राप्त करें, जिनका संबंध एशिया से बताया जाता है।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि बायरन ने अपनी प्रायः उद्धृत होनेवाली पक्ति 'वह गौरवशाली ग्रीस और वह भव्य रोम।' (The Glory that was Greece and the Grandeur that was Rome') मे बहुत ही सुन्दर ढग से ग्रीक और रोमन कला की आधारभूत विशेषताओ का सूत्र रूप मे परिचय दे दिया है। रोमन कला का विवेचन करने से पहले यह उचित जान पडता है कि हम उस कला-प्रेरणा के प्रधान लक्षणो का अन्वेषण करे जो कि प्राचीन ससार की इन दो प्रसिद्ध जातियो की क्रियात्मक अभिव्यजनाओ के मूल मे थी।

ग्रीक कला का प्रधान लक्षण प्रत्येक वस्तु को देवत्व की कोटि पर या आदर्श रूप मे गौरवान्वित करने के प्रयत्न मे निहित है। यह कला प्रकृति की महान् शक्तियो को आदर्श रूप मे गौरवान्वित करती और उनको देवी-देवताओ का व्यक्तित्व प्रदान कर देती है। राष्ट्रीय महापुरुषो को उसने अतिमानव और अर्द्ध-देवों के रूप मे चित्रित किया है, यहाँ तक कि सुदृढ शरीरवाले कसरती नौजवानो को भी उनके शारीरिक सौंदर्य की पूर्णता के लिए अर्ध-देवो की कोटि मे रख दिया है। इतना ही नही, ऋतुओ, नृत्य-समारोहो और वृक्षो तक का ग्रीक दन्त-कथाओ मे रूपकमय वर्णन किया गया है और उन्हे वहाँ की कला मे शाश्वत स्थान दिया गया है। ग्रीक कला मे हम जिधर भी दृष्टि डाले, सर्वत्र देवो और देवसदृश स्त्रियो तथा पुरुषो का इस लगन के साथ माहात्म्य-चित्रण पाते हैं, कि जिसे दूसरे किसी अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव मे 'सौन्दर्य-पूजा' के नाम से हम अभिहित कर सकते हैं। सौन्दर्य-पूजा, जिसमे पूर्णता, आदर्श पूर्णता, विचार की परिपूर्णता, कार्य की परिपूर्णता, सामजस्य की परिपूर्णता और रूप की परिपूर्णता की उपासना का भाव निहित है और जिसके साथ आनन्दकी भावना, सहज हर्षातिरेक, आत्मानुभूति के प्रथम आश्चर्यमय बोध की भावना मिश्रित है—ऐसी सौन्दर्यपूजा ग्रीक कला का मूल स्रोत जान पडती है। ग्रीक लोग सौन्दर्य को कितना ऊँचा महत्त्व देते थे और उसके आगे दूसरे गुणो को किस प्रकार तुच्छ समझते थे, इसका हमे एथेन्स की रूपवती नर्तकी फ्राइनी (Phryne) की प्रसिद्ध कथा से स्पष्ट रूप से पता चलता है। फ्राइनी को गिरफ्तार कर उस पर दुश्चरित्रता के अपराध मे नगर के निर्वाचित पचों की अदालत मे मुकदमा चलाया गया था और उसे प्राणदण्ड की सज़ा सुना दी गई थी। उसके प्रेमी ने माननीय न्यायाधीशो से उसके लिए अपनी शक्ति भर कहा-सुना और उस पर तरस खाने की प्रार्थना की, किन्तु न्यायाधीश कठोर बने रहे और अपने निश्चय पर पुनर्विचार करने के लिए तैयार न हुए। निराश होकर वह दौडकर वही उपस्थित उस कमनीय अपराधिनी के पास पहुँचा और उसके रेशमी परिधान को फाडकर विचारकों को ललकारते हुए उसने कहा कि यदि अब भी तुम्हे सन्देह हो कि ऐसे सुन्दर शरीर मे ऐसा कुत्सित पाप रह सकता है, तो भले ही तुम इसे अपराधिनी करार दो! ऐरियोपैगस (विचारक-मण्डली) के सम्मानित

बुजुर्गों ने अपनी दाढ़ियाँ खुजलाते हुए प्रश्नसूचक दृष्टि से एक-दूसरे की ओर देखा, साथ ही छिपकर एक निगाह उस पूर्णयौवना अपराधिनी के उत्कृष्ट शारीरिक सौन्दर्य पर भी डाली। उन्होंने आपस में सलाह-मशविरा शुरू किया। बिना किसी नतीजे पर पहुँचे वे तर्क-वितर्क करते रहे और इसके बाद एक ठंडी आह के साथ उन्होंने उसकी रिहाई की आज्ञा दे दी। फ्राइनी का प्रेमी तथा उत्साही वकील प्रैक्सिटिलीज नामक प्रसिद्ध मूर्तिकार था, जिसने बाद को सुदृढ़ संगमरमर की एक मूर्त्ति में अपनी प्रेमिका को प्रेम की देवी वीनस के रूप में सदा के लिए अमर कर दिया।

सौन्दर्य के आगार शान्तिपूर्ण ग्रीक मन्दिरों में रमणीय भावपूर्वक प्रतिष्ठित ग्रीस के पौराणिक आदर्श से युक्त रचनाओं से जब हम एक क्षण को अपनी दृष्टि हटाते हैं, तो सहसा रोमन कला में पाई जानेवाली भव्य विशालता तथा दर्पपूर्ण तड़कभड़क से अभिभूत हो उठते हैं। ग्रीक कला की विशेषताओं—सरलता, आकर्षण तथा मनोहारिता के साथ संयमित शक्ति के संयोग—के दर्शन इस कला में नहीं मिलते। न यहाँ व्यक्तिगत भावनाओं, व्यक्तित्व की उपासना तथा व्यक्तिगत सम्बन्धों का ही चित्रण हमें मिलता है। इनकी जगह हम एक विशद सामाजिक चेतना, दीर्घकाय आकारों की अभिव्यक्ति, विजयोल्लसित वैभव, राजसी भव्यता तथा राजनीतिक प्रभुता को चित्रित पाते हैं। जिस तरह 'सौन्दर्य' ग्रीक कला का प्रधान लक्षण है, उसी तरह 'शक्ति' रोमन कला का प्रधान लक्षण कहा जा सकता है। शक्ति-प्रदर्शन तथा धूम-धाम और शानशौकत, जो कि रोम के अन्य देशों पर प्रभुत्व स्थापित करने के स्वाभाविक परिणाम थे, उसके दीर्घ इतिहास की प्रत्येक काल की कला में अनिवार्य रूप से प्रतिबिम्बित हैं। इट्रूरिया की विजय के बाद से रोम अपने पड़ोस के सभी नगरों को निर्दयतापूर्वक आत्मसात् करता चला गया और अंततोगत्वा उस स्थिति में पहुँच गया जबकि सारे प्रायद्वीप पर उसका अधिकार हो गया। अपनी शक्ति-प्रसार की अतृप्त तृष्णा को शान्त करने के लिए अब उसने अफ्रीका के प्रदेशों पर अधिकार करना आरम्भ किया। जर्मेनिया (आधुनिक जर्मनी), गॉल (आधुनिक फ्रांस), डालमेशिया, ग्रीस, मिस्र, लीबिया—यहाँ तक कि सुदूर ब्रिटेन तक का सारा प्रदेश रोम की छत्रछाया में आ गया और रोमन लोगों की शासन-प्रतिभा ने सभी विजित प्रदेशों में रोमन राज्य को सुदृढ़ बना दिया। रोमन झण्डे के नीचे आये हुए देशों में शान्ति विराजने लगी, और इन देशों का धन लगातार होनेवाले सोने के निर्यात के रूप में खिंचकर रोम को जाने लगा। कैपिटोलाइन पहाड़ियों पर गड़ेरियों की छोटी-सी बस्ती से विकसित होकर इस प्रकार रोम अमरपुरी (Eternal City) कहलाने लगा और तमाम राष्ट्रों और देशों का जनक माना जाने लगा।

रोमन साम्राज्य की लगातार वृद्धि के साथ सैनिक स्थापत्य की आवश्यकता भी अनुभव की गई। सड़कों और पुलों, मेहराबदार ऊँचे बाँधों और नहरों, क़िलों और भव्य प्रासादों का बनना आरम्भ हुआ। रोम के सैनिक स्थापत्य-विशारदों ने बड़ी बड़ी स्थापत्य सम्बन्धी योजनाओं में हाथ लगाया, जिनमें से अधिकांश आज भी एशिया, योरप और अफ्रीका के विभिन्न भागों में विद्यमान हैं। नगर-योजना और नगर-निर्माण को, जिनके सम्बन्ध में ग्रीक लोगों को भी अधिक जानकारी नहीं थी, रोमन लोगों ने एक ललित कला का रूप दे दिया और नागरिक स्थापत्य रोमन कला की एक प्रमुख विशेषता बन गया। विजयी सेनापतियों के नायकत्व में साम्राज्य की वृद्धि के साथ-साथ उनकी सफलता के लिए हर्ष मनाने और जनता को यह दिखलाने के लिए कि शासक उनके लिए क्या कर रहे हैं, रोम तथा साम्राज्य के दूसरे भागों में विजय-तोरण और स्तम्भ खड़े किये जाने लगे। रोमांचक घटनाओं में दिलचस्पी रखनेवाले करदाताओं की परितुष्टि के लिए चतुर साम्राटों ने बड़े-बड़े क्रीडाभवन और रंगभूमियाँ बनवाना शुरू किया, जहाँ मनुष्य मनुष्य के साथ, पशु पशुओं के साथ, और प्रायः मनुष्य पशुओं के साथ तथा कभी-कभी पशु निरस्त्र मनुष्यों के साथ लड़ा करते थे। पतन के दिनों में बेकार बातों में समय गँवानेवाले रोम के नागरिकों के मनोरंजन के लिए सार्वजनिक स्नानगृह, सभागृह और प्रार्थनागृह बनवाए गए, जहाँ हर प्रकार के संशयपूर्ण व्यापार होते थे, जैसा कि पेट्रोनियस और जुवेनल तथा अन्य लेखकों की कृतियों से पता चलता है। धनियों के नये-नये विलास और आत्म-विज्ञापन का सर्वत्र प्रदर्शन होता था और यह लोगों का सामान्य विश्वास हो गया था कि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो धन के द्वारा ख़रीदी न जा सके।

किन्तु उपरोक्त उक्ति केवल एक सीमा तक ही सत्य है, क्योंकि धन की कितनी भी मात्रा प्रतिभा को न तो उत्पन्न कर सकी है और न कर सकती है। जब तक सृष्टिकर्त्ता द्वारा किसी व्यक्ति में प्रतिभा के बीज न बोये गये हों, चाहे जितना धन ख़र्च किया जाय उसे प्रतिभावान नहीं बनाया जा सकता। व्यस्त रोमवासियों को कला के सम्बन्ध में चिन्तन करने का अवकाश कहाँ मिलता। अतएव उन्हें अपने देवालयों,

घरों और स्त्रियों के शृङ्गार की सामग्री तैयार करने के लिए ग्रीक कलाकारों, मूर्तिकारों और कारीगरों को बाहर से बुलाना पड़ता था। ग्रीक की अद्भुत संगमरमर की कलाकृतियाँ और मिस्र की पाषाण में निर्मित सुस्पष्ट आकृतियाँ रोमवासियों को श्रद्धा और आश्चर्य के भाव से भर देती थीं, क्योंकि ये चीज़ें ऐसी थीं जिनका निर्माण रोमन विजेताओं के वश के बाहर की बात थी। ग्रीक और मिस्री मूर्तियाँ तथा मिस्र के चतुष्कोण स्तम्भ विजयी सैनिकों के वापस लौटने पर रोम में प्रवेश करते थे और विजय-सम्बन्धी जुलूसों में पकड़े गए बन्दियों और लूटी गई सामग्री के साथ उनका भी सार्वजनिक प्रदर्शन किया जाता था। लोगों में सौन्दर्य की पिपासा जग चली थी, किन्तु उसकी तृप्ति के साधन उनके घर में न थे। अतएव रोमन लोगों ने विजित प्रदेशों की कलाकृतियों को हर लाने और वहाँ से कला के नाम पर जो भी निम्न कोटि की चीज़ें उन्हें दी जायँ उनसे ही अपने घरों को सजाने की नीति ग्रहण की। रोम में ग्रीक लोगों की मध्यम श्रेणी की कलाकृतियों का इकट्ठा होना स्वयं रोम के कला सम्बन्धी विकास पर हानिकर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता था और यही कारण है कि रोमन कला के सर्वोत्तम काल की कृतियाँ भी ग्रीस की आरम्भिक कलाकृतियों के निर्जीव अनुकरण से आगे नहीं जातीं।

इट्रस्कन कला का एक नमूना

शस्त्रधारी योद्धा की यह मूर्ति काँसे की बनी हुई है और प्राचीनतम इट्रस्कन युग की है।

मूर्तिकला का एक अंग अवश्य था, जिसमें रोमन लोगों ने उल्लेखनीय उन्नति की थी, और वह था सजीव मानव-मूर्ति का अंकन। मूर्ति-अंकन का यह अंग, जो ग्रीस में उसकी राष्ट्रीय समृद्धि के ह्रासावस्था के दिनों में आरम्भ हुआ था, रोमन कला में उत्कृष्ट सजीवता के साथ पुनर्जीवित दीख पड़ता है। रोम ने प्रतिभावान् महात्माओं की जिस नक्षत्र-मण्डली को जन्म दिया था, कृतज्ञ नागरिक उनकी स्मृति को कला की सहायता से चिरस्थायी बनाना चाहते थे। अतएव रोमन कला में जो मानव-मूर्ति-अंकन सम्बन्धी अनेक कृतियाँ पाई जाती हैं, उनमें रोम के प्रत्येक क्षेत्र के उल्लेखनीय पुरुषों की मानों एक पूरी सचित्र चारुचरितावली अंकित है।

यहाँ पर विचारशील पाठक सम्भवतः यह प्रश्न करेंगे कि इससे पूर्व रोम की कला का क्या इतिहास है? क्या रोम की कला के विकास का कोई प्रागैतिहासिक, आदिम या अतीत काल नहीं था? रोम की कला के ये युग भी अवश्य थे। किन्तु रोमन कला के प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध में हमें निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। हाल के स्थापत्य-पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसन्धानों से रोम के आरम्भिक निवासियों के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें प्रकाश में आई हैं। रोम के ये आदिमवासी आजकल के पोलीनेशियन लोगों की भाँति दलदली ज़मीन में लट्ठे गाड़कर बनाये गए घरों में रहते थे। ये लोग असभ्य नहीं थे और आदिम युग का परिष्कृत जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से ये उपेक्षणीय थे। रोम में रहनेवाले वे आरम्भिक प्राणी, जिनमें वस्तुतः कलात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है, स्वयं रोम के ही निवासी न थे, बल्कि एशियाई या आयोनिक ग्रीस से आये हुए लोग थे। इस लेख के शेष भाग में हम इन्हीं लोगों का उल्लेख करेंगे, जो अपने आदि गृह इट्रूरिया के नाम पर 'इट्रस्कन' कहलाते हैं।

ये इट्रस्कन लोग कौन थे, हम निश्चित रूप से इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। जाति सम्बन्धी दूसरे अनेक प्रश्नों की भाँति इस प्रश्न का उत्तर भी तब तक सम्भवतः नहीं दिया जा सकेगा जब तक कि इट्रस्कन अभिलेख ठीक-ठीक न पढ़ लिये जायँ। यह सच है कि इन अभिलेखों के अक्षर पढ़ लिये गए हैं, किन्तु जिस भाषा में ये अभिलेख लिखे गए हैं वह पृथ्वी पर से इस प्रकार पूर्णतया लुप्त हो गई है कि इन अभिलेखों का अर्थ नहीं लगाया जा सका है। किसी दिन जब कि भाषाविद् लोग इट्रस्कन शब्दों का अर्थ

लगा सकेंगे, तब हम लोग इन प्राचीन प्राणियों का घनिष्ठ परिचय प्राप्त कर सकेंगे। तब तक हमें इतिहास के पिता हेरोडोटस की बातों से ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा, जिसने लिखा है कि इट्रस्कन लोग मूलतः एशिया से आए थे और जीविका के श्रेष्ठतर साधनों की खोज मे लीडिया से एशिया माइनर होते हुए इटली मे आ बसे थे। हेरोडोटस के इस वक्तव्य को ग्रीस के एक दूसरे इतिहासकार डायोनाइसियस ने, जो ई० पू० पहली शताब्दी मे सम्राट् आगस्टस के राज्यकाल मे हुआ था, अप्रामाणिक बतलाया है। रोम की प्राचीनता पर लिखित अपने २२ भागोंवाले महान् ग्रन्थ मे उसने यह आश्चर्यजनक मन्तव्य प्रकट किया है कि हेरोडोटस का यह कथन कि इट्रूरिया के निवासी मूल रूप मे एशियाई थे बिल्कुल निराधार है। उसकी राय मे इट्रूरिया के लोग योरोपीय नस्ल के ही थे, और हमेशा से इटली मे ही रहते आए थे। इट्रूरिया-निवासियों के पूर्वजो के सम्बन्ध मे ये परस्परविरोधिनी धारणाएँ तब तक प्रचलित रहीं जब तक कि पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इट्रूरिया की भूमि की खुदाई न की और इस प्रकार भाग्यवश असली समाधान उन्हे न मिल गया।

मोटे तौर पर टाइबर नदी (रोम के समीप), आर्नो नदी (फ्लोरेन्स के समीप) और अपेनाइन पर्वतमाला के बीच का सभी प्रदेश इट्रूरिया के अन्तर्गत था। इट्रूरिया कभी एक शक्तिशाली राष्ट्र था, जिसके समुद्री बेडो का पश्चिमी भूमध्यसागर पर प्रभुत्व था और जिसने कारथेज-निवासियों के विरुद्ध कई लड़ाइयो मे सफलता प्राप्त की थी। जब इट्रूरिया मे खुदाई हुई तो पुरातत्त्ववेत्ताओं को पता चला कि वहाँ की सभी पुरानी कलाकृतियों पर एशिया की कारीगरी की समानता की बहुत गहरी छाप है। उनमे निहित भावनाएँ, उन पर की गई कारीगरी और उनकी शैली स्पष्टतया एशियाई है तथा उनकी मूर्त्तियों व सोने और कॉसे के काम मे बेबिलोनिया या मसोपटामिया के मैदान के दूसरे भाग की कारीगरी के साथ स्पष्ट सादृश्य पाया जाता है। उभड़े हुए भित्तिचित्रो मे वर्णित विषयों में भी एशियाई कृतियो से गम्भीर सादृश्य पाया जाता है। मृगया के यथार्थवादी दृश्यो के चित्रण की वही विशेष प्रवृत्ति हमें यहाँ भी देख पड़ती है, जो असीरियन कला मे बहुतायत के साथ मिलती है। भेड़ के गुर्दे और ऑतों द्वारा उसी प्रकार के शकुन-संस्कार की प्रथा यहाँ भी हमे मिलती है जैसी कि कैल्डिया मे प्रचलित थी, यद्यपि ईजियन सागर की सीमा पर या स्वय ग्रीस प्रायद्वीप मे बसनेवाली जातियों मे कही भी वह नही पाई जाती। इटली के शेष भाग की कला का कोई सम्बन्ध आयोनिया, लीडिया या क्रीट और माइकीनि के साथ नहीं पाया जाता। ऐसी अवस्था मे प्राचीन इट्रूरियन लोगो ने अपने मातृप्रदेश के साथ किसी-न-किसी प्रकार सम्पर्क अवश्य बनाये रखा होगा अन्यथा वे सैकड़ों मील दूर रहते हुए इन सास्कृतिक सम्बन्धो को बनाये रखने मे इतने दिनो तक समर्थ न होते।

इट्रूरिया मे धनुपाकार या मेहराबदार छत के निर्माण की कला के अस्तित्व से इट्रूरिया और असीरिया मे सास्कृतिक सम्बन्ध होने की पुरातत्वविदों की विचक्षण धारणा और भी पुष्ट होती है। मानव इतिहास के अत्यन्त आरम्भिक काल मे ही पश्चिमी एशिया के लोग धनुपाकार छत बनाने की कला से परिचित थे। न तो ग्रीक लोग और न उनके गुरु मिस्रवाले ही धनुपाकार छत के बारे मे कुछ जानते थे—वे केवल चौरस छतों का ही प्रयोग करते थे। यह अनुमान किया जाता है कि चूँकि वे बड़े-बड़े पत्थरों को ही घर बनाने के काम मे लाते थे और ईंट का प्रयोग नही करते थे इसीलिए वे धनुपाकार छत का आविष्कार नहीं कर पाए। इसी प्रकार असीरिया और बेबिलोनिया के लोगो ने, जो केवल ईंट से काम लेते थे पत्थर से नहीं, धनुपाकार छते बनाने की ओर ही विशेष ध्यान दिया। "इट्रूरिया मे अनेको धनुपाकार छतों का पाया जाना—जबकि इटली के दूसरे भागो मे रहनेवाले लोग, जिन्होंने ग्रीसवालो से कला की दीक्षा ली थी, भवन-निर्माण की इस पद्धति से एकदम अपरिचित थे—इस कथन के पक्ष मे अन्तिम प्रमाण है कि इट्रस्कन लोग एशियाई जाति के थे और ट्राय के युद्ध (मोटे तौर पर ई० पू० लगभग १००० वर्ष) के बाद शीघ्र ही अपने मूल निवास-स्थान को छोड़कर इटैलियन प्रायद्वीप मे टाइबर नदी के ठीक उत्तर के हिस्से मे आ बसे थे।"

प्राचीन इट्रस्कन लोगो के भवनो की कलात्मक परिष्कृतियों से यह स्पष्ट है कि वे परिष्कृत व्यवहार और उत्तम रुचिवाले प्राणी रहे होंगे। किन्तु अधिकाश कलाप्रिय जातियो की भॉति उनमे सगठन अथवा राजनीतिक दृढता का अभाव था। उनके विभिन्न नगर-राज्य सदैव एक दूसरे के विरुद्ध रहा करते थे, अतएव जब रोमवासियो और इट्रस्कन लोगों में सघर्ष आरम्भ हुआ तो रोमन लोगों के ऊँचे दर्जे के राजनीतिक कौशल और एकता के मुकाबले इट्रस्कन लोग एकदम न टिक सके। एक के बाद दूसरा शहर रोम के अधिकार मे आता गया, पर विलासप्रिय इट्रस्कन आपस

में ही लड़ते रहे, यहाँ तक कि ई० पू० तीसरी शताब्दी के अन्त तक समूचे इट्रूरिया प्रदेश पर रोम का पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो गया।

इट्रूरिया की विजय से न केवल रोम की प्रतिष्ठा में ही अपूर्व वृद्धि हुई, बल्कि उसकी व्यापारिक समृद्धि और वैभव का भी विस्तार हुआ। प्राचीन काल से इट्रूरिया अपनी ताँबे की खानों के लिए प्रसिद्ध था और निकटवर्त्ती एल्बा द्वीप में लोहे की बहुतायत थी। इट्रस्कन लोगों की लौह आदि के व्यवसायों में दक्षता प्रसिद्ध थी, अतएव उनके साम्राज्य को जब रोमन लोगो ने अपने साम्राज्य में मिला लिया तो रोम भी तीव्र गति से व्यवसाय-प्रिय होने लगा।

अपनी समस्त कलात्मक परिष्कृतियों के बावजूद सारी इट्रस्कन कला में एक प्रकार का अशोभनीय और भयोत्पादक भाव पाया जाता है। इसमें वह सर्वांगीण माधुर्य और आकर्षण नही मिलता जैसा कि हम ग्रीक लोगो की कला मे पाते हैं। आरम्भिक ग्रीक मूर्त्तिकला मे पाई जानेवाली रहस्यमय मुस्कान इट्रस्कन कला में उसके बहुत दिनो बाद भी विद्यमान पाई जाती है, जबकि अपने ही जन्मस्थान में वह कभी की विलुप्त हो चुकी थी। इट्रस्कन कलाकारो द्वारा निर्मित्त जो मानव प्रतिमाएँ हमे उपलब्ध हैं, उनको देखकर यह भान होता है कि प्राचीन असीरियन लोगों की कठोर सजीवता अब भी अपने इट्रूरिया के वशजो की मुखाकृति में एक हल्की-सी छाप छोड़े हुए है। किन्तु इसके विपरीत इट्रस्कन स्त्रियों की मुखाकृति में गिद्ध जैसी नासिकावाली अपनी परदादियो की अपेक्षा कहीं अधिक सरलता और सुकुमारता मिलती है। सुखी गृहस्थ-जीवन—विशेतया सुखी वैवाहिक जीवन—के (जो कि उत्तरकाल के साम्राज्यवादी रोम मे विलुप्त-सा हो चला था) इट्रस्कन कला मे पर्याप्त रूप मे प्रमाण मिलते हैं और उनके असाधारण शवाधारो* (Sarcophagus) और टेराकोटा की मूर्त्तियो में हम बहुधा पति-पत्नी को मृत्यु मे भी एक दूसरे से सयुक्त पाते हैं।

माइकीनियन लोगों की तरह इट्रस्कन लोग भी मृत व्यक्तियो की आकृति का एक हूबहू नक़ली आवरण बनाते थे। बहुत सम्भव है कि यह मिस्रवालों की प्रथा का अनुकरण रहा हो, जो कि मृत व्यक्तियों की मोमियाई के बाहरी आवरण के ऊपर उनके शिरोभाग की मूर्त्ति अकित करते थे। यह प्रथा ग्रीक-मिस्री (Greco-Egyptian) काल मे पूर्णता को पहुँच गई थी। इट्रस्कन लोगों द्वारा चलाई गई इस तर्ज़ की आगे चलकर उनके रोमन पड़ोसियों ने—विशेषकर धनवान् कुलीन नागरिको ने—नक़ल की, जो इट्रस्कन पद्धति का अनुसरण करते हुए अब अपने पूर्वजों के मोम की मुखाकृति (mask) को अपने घरों के बीच के कमरो की दीवारो पर जड़ने के विचार से सुरक्षित रूप मे रखने लगे। इट्रस्कन लोगों की यह प्राचीन प्रथा रोमनों के ग्रहण कर लेने के कारण आज के योरपीय लोगो मे भी चली आई है। योरप मे पारिवारिक
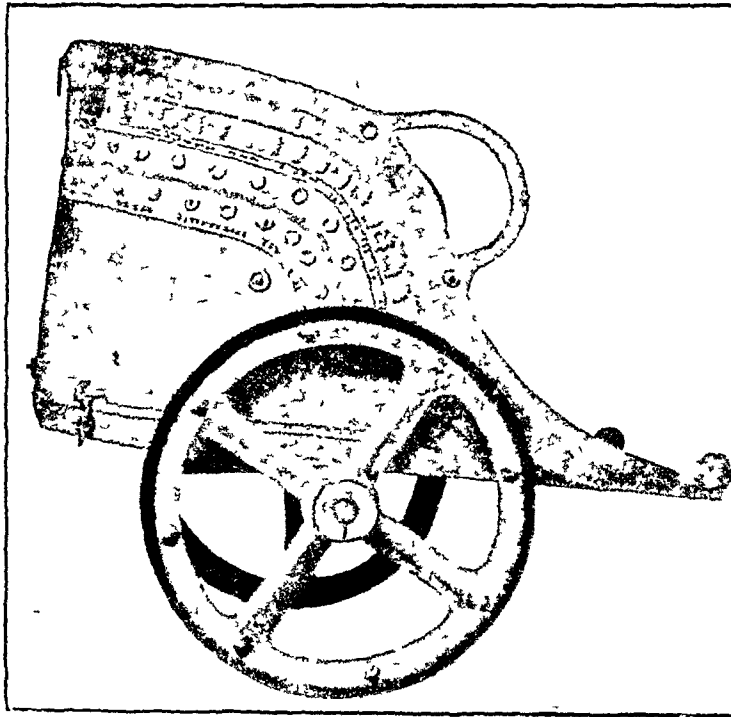
इट्रस्कन लोगो का एक रथ

यह संभवत: छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व का है और ब्रिटिश म्यूज़ियम मे सुरक्षित है। इट्रस्कन लोग धातु की वस्तुओं के निर्माण में बड़े निपुण थे। उनके ये रथ धातु के पत्तर से जड़े रहते थे और उन पर बड़ी बारीकी के साथ कलापूर्ण कारीगरी की जाती थी। ऊपर के रथ से भी अधिक सुंदर नमूने मिले हैं।

---

*Sarcophagus (सार्कोफेगस) शब्द का अर्थ मांस-भोजी पाषाण है, क्योंकि ग्रीक लोगों का विश्वास था कि कुछ क़िस्म के पत्थर मृत शरीर को बहुत शीघ्रता से खाकर समाप्त कर देते हैं, अतः वे तावूत या शवाधार के काम के लिए अधिक उपयुक्त होते थे।

चित्र भोजनगृहो की दीवालों पर अब भी उसी रूप मे लगे रहते हैं, जिस रूप मे कि रोमन लोगों के गृहो के बीच के कमरो की दीवालो पर सम्माननीय मृत व्यक्तियों की मुखाकृतियो की पक्तियाँ जडी रहती थीं।

लगभग प्रत्येक अन्य प्राचीन जाति के समान पुराने ज़माने के इट्रस्कन लोग भी टेराकोटा (पकाई हुई मिट्टी) की कारीगरी मे दक्ष थे। बहुमूल्य पत्थरों पर खुदाई के प्रचलन के पहले से ही मुलायम कच्ची मिट्टी मे चीजों को गढकर मनुष्य ने अवश्य अपनी क्रियात्मक प्रवृत्तियो को विकसित होने दिया होगा—सम्भवत. जादू के कृत्यों के लिए—क्योंकि गीली मिट्टी को कडे पत्थर की अपेक्षा काम मे लाना बहुत अधिक सरल है। लेकिन कच्ची मिट्टी से बनी मूर्त्तियो के साथ यह कठिनाई थी कि जितना भी हो तो भी वे नाज़ुक ही रहती थीं और सूखते ही टूट-कर टुकडे-टुकडे हो जाती थी। इसलिए अपने सास्कृतिक इतिहास के आरम्भकाल मे ही मनुष्य ने मिट्टी की मूर्त्तियो को आग मे पकाकर उन्हे अधिक स्थायी बनाना सीखा। इस प्रकार पकाई हुई मिट्टी की उसकी कारीगरी के प्रमाण प्राचीन काल के मेक्सिको और पेरू से लेकर चीन और जापान तक दुनिया के प्रायः सभी भागों मे मिलते हैं। स्वय हमारे अपने देश मे भी पकी हुई मिट्टी की कारीगरी के नमूने मोहन-ज-दडो, हरप्पा, नालन्द, पहाडपुर, कौशाम्बी, बोधगया तथा अन्य अनेक स्थानों की खुदाई में बहुतायत से पाए गए हैं। इनमे अभी हाल ही मे बनारस मे राजघाट के पास पाए गए नमूने सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं।

टेराकोटा की कृतियाँ बहुत ही नाज़ुक होती हैं, अतएव इस माध्यम द्वारा बृहदाकार मूर्त्तियाँ तैयार करना अत्यधिक कठिन होता है। ग्रीक लोग सुप्रसिद्ध टनाग्रा के कारख़ानों में छोटे आकार की मूर्त्तियाँ बनाते थे। लेकिन ग्रीक लोगों द्वारा निर्मित्त टेराकोटा की कोई भी मूर्त्ति इट्रस्कन लोगो के 'प्रसिद्ध विला गायलियो शवाधार' (Villa Giulio Sarcophagus) अथवा न्यूयार्क के मेट्रोपालिटन म्यूज़ियम मे रक्खी हुई योद्धाओं की मूर्त्तियों के आकार को नहीं पहुँच सकीं।

इट्रस्कन लोगो की मूर्त्तिकला मे ग्रीक लोगो की भाँति स्वाभाविकता नहीं है। इसके बजाय, उनमे सदैव अलकृत शैली के प्रदर्शन की प्रवृत्ति पाई जाती है, जो कि आधुनिक आलोचकों के अनुसार योरप की कला के इतिहास में अपना सानी नहीं रखती। शवाधारों की सजावट और पात्रों की चित्रकारी मे पाये जानेवाले आभूषण और अलकारों की भरमार और पहनाव की सामग्री से पता चलता है कि इट्रस्कन लोग अवश्य ही कलाप्रेमी एशियाई विचारो के लोग रहे होंगे। उनके मकबरो मे जो असली जवाहरात, धातु के पात्र तथा मूर्त्तियाँ पाई गई हैं, उनसे भी इसी बात की पुष्टि होती है। सुनहले वस्त्राभूषणों और कठहारो से लेकर पच्चीकारी की हुई मजूषा और धातु-निर्मित्त चारपाइयो तक धातु की कला के सम्पूर्ण क्षेत्र मे इट्रस्कन लोग अत्यन्त दक्ष थे। एक सुसज्जित रथ की धातु की चद्दरों मे प्राचीनकालीन दृढता टपकती है। दर्पणो पर रेखाचित्रों का ऐसा निपुण प्रयोग हुआ है कि जिससे चौरस वस्तु पर उनके संस्थान-नैपुण्य का पता चलता है। घर को सजाने की सामग्री में भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तुओ से लेकर बडी-बडी वस्तुओ पर कारीगरी की गई है। इट्रस्कन अवशेषों मे कसरत से पाई जानेवाली एक छोटे नमूने की मूर्त्ति काँसे के बडे बर्त्तनों की मुठिया के रूप मे काम मे लाये जाने के लिए बनाई गई थी।

बहुत दिनों तक योरप के विद्वानों का विश्वास था कि पात्र-निर्माण और पात्र-चित्रकारी ग्रीक कला की नहीं, बल्कि इट्रस्कन कला की विशेषता है। इट्रूरिया के मक़बरों से कितने ही अच्छे-अच्छे नमूने मिले हैं, जिनमें वह प्रसिद्ध 'फ्रॉशोआ पात्र' भी शामिल है जिसका चित्र हम पिछले अक मे दे चुके हैं। पुरातत्व-वेत्ताओं ने बिना किसी सन्देह के इन्हें स्थानीय इट्रस्कन कृति मान लिया था। इसमे सन्देह नहीं कि इनमे स्थानीय मिट्टी की बनी हुई चीजें भी थीं, ख़ासकर सुप्रसिद्ध 'बुकेरो नीरो' (bucchero nero) अर्थात् काले बर्त्तन, किन्तु सभी श्रेष्ठतम नमूने एथेन्स, चेल्सिस और कारिन्थ से ही आते थे।

इट्रस्कन भित्ति-चित्रकारी के उदाहरण कोरनेटो, चिन्सी, वुल्सी, सर्वेटेरी आदि के मक़बरों मे पाये गए हैं। ये भित्तिचित्र ग्रीक लोगों के चित्रों के अनुकरण पर बनाये गए जान पडते हैं और यद्यपि वे मनोरञ्जक हैं, किन्तु उनमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं, जिससे उन्हे श्रेष्ठ कहा जा सके। पूर्व रोमन काल के जीवन का चित्रण करने के कारण वे ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इनमे शराब के प्यालों और दावतों मे निमग्न इट्रस्कन सरदारों की विलासप्रियता का अच्छा चित्रण हमें मिलता है। इन चित्रों मे विशेष रूप से दावतों मे शामिल होनेवालो, गायकों और नर्त्तकों का ही दिग्दर्शन कराया गया है।

इट्रस्कन कला के दो नमूने—(ऊपर) छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व का एक शवाधार या 'सार्कोफेगस'
(नीचे) तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व का एक शवाधार। ('ब्रिटिश म्यूज़ियम' में सुरक्षित)
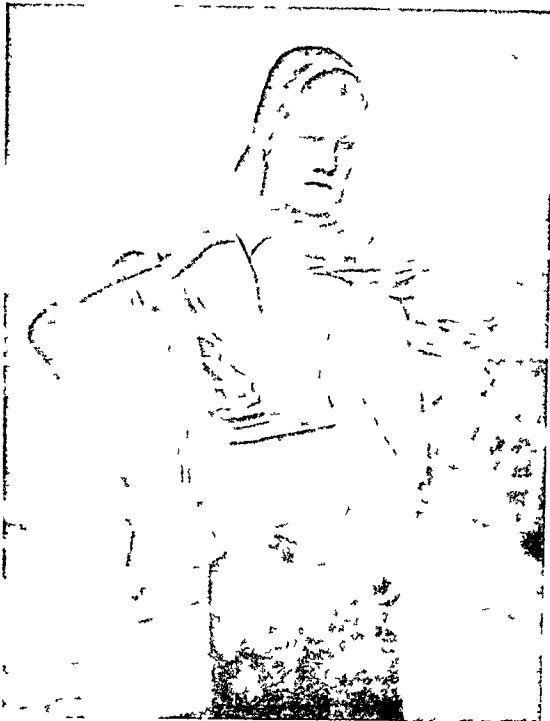
गारो जाति के स्त्री-पुरुष के कुछ नमूने
(फो०—लेखक द्वारा)

आसाम की गारो जाति

संस्कृति और सभ्यता की निचली श्रेणी पर स्थित अनेक आदिम जंगली जातियों के जीवनक्रम का मनोरंजक हाल आप इसी स्तंभ के पिछले कई लेखों मे पढ चुके हैं। उनके विचित्र सामाजिक रीति-रिवाजों का परिचय पाकर आपको मानव विकास के अद्भुत ढंग का कुछ अंदाज़ ज़रूर हुआ होगा। किन्तु अब तक प्रस्तुत की गई जातियाँ मानवविज्ञान की शब्दावली में 'पितृमूलक' (Patriarchal) संगठनवाली जातियाँ ही थी; अर्थात् उनके सामाजिक संगठन में सम्पत्ति का उत्तराधिकारी लडका होता है, लडकियाँ नहीं। दूसरे शब्दों मे पिता या पुरुष को ही केन्द्र बनाकर परिवार का ढाँचा खडा होता है। इसके विपरीत अब हम एक ऐसी जाति का उदाहरण प्रस्तुत करने जा रहे हैं, जो 'मातृमूलक' (Matriarchal) समाज संगठन को अपनाए हुए है। इस प्रकार के संगठन मे सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी लडकी होती है और पुरुष के बदले स्त्री को ही केन्द्र बना कर समाज की रचना की गई होती है। ऐसी जातियाँ अब संसार में बहुत कम रह गई हैं, इसलिए समाज-वैज्ञानिको के लिए वे बडी महत्वपूर्ण हैं। आइए, इस लेख मे हमारे देश की इसी वर्ग की एक जाति का मनोरंजक हाल आपको सुनावे।

आसाम, अथवा उसका वह भाग जिसमे जगली और अर्द्ध-सभ्य जातियाँ निवास करती हैं, मानवविज्ञान-वेत्ताओ का स्वर्ग है। आसाम की पहाडियों मे अब भी बहुत सी आदिम जातियाँ रहती हैं, जिनमे से कुछ बहुत उपद्रवी, हठी, प्रायः मैदानवालो को तग करनेवाली और आपस मे निरतर कलह करनेवाली बतलाई जाती हैं। गारो लोगो की तरह कई जातियाँ, जो कि मैदानवाले जिलो के पास रहती हैं, अक्सर यह दावा करती हैं कि पडोस के गाँवो पर मूलत' हमारा ही अधिकार था—इन गाँवों के स्वामियो ने धूर्तता से और बगाल के भूतपूर्व शासकों की सहायता से हमें अधिकारच्युत कर दिया है। अत्यन्त दुर्गम और क़िले की तरह बनी। हुई पहाडियो मे नागा जाति के लोग रहते हैं, जो आज भी मनुष्य की बलि की प्रथा के लिए बदनाम हैं। ये लोग 'नरमुण्ड के शिकारी' (head-hunters) कहलाते हैं और एक विचित्र और प्राचीन युग का जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन रग-बिरगा और भडकीला होता है और उनके व्यवहार रहस्यपूर्ण और डरावने होते हैं। नागा लोग शक्ति के पूजक होते हैं और उनका धर्म आत्मतत्त्वकी शक्ति या एक ऐसी सर्वव्यापी शक्ति के प्रति विश्वास मे केंद्रित है, जोकि पोलीनेशिया मे पाइ जानेवाली 'माना' की कल्पना से बहुत मिलती-जुलती है। उनका विश्वास है कि यह शक्ति मनुष्यों और वस्तुओं मे बिखरी हुई होती है। शक्ति और प्रभाव राजाओ, सरदारों और देवताओं की भाँति कुशल योद्धाओं के भी गुण

गारो लोगो के युवागृह या अविवाहित नवयुवको के विश्रामागार

जो मेहमानों के भी काम आते हैं। इसी तरह के युवागृह का एक अन्य चित्र इसी लेख में अन्यत्र दिया गया है। ये लोग ऐसे घरों को 'नोकपान्टे' कहते हैं।

बनी है। आसाम ने इन जातियों के लिए ऐसे एकान्त शरणस्थल प्रस्तुत किए हैं, जहाँ मालूम होता है कि वे उन अधिक सम्पन्न और व्यवहारकुशल जातियों के दबाव के सामने न टिक सकने के कारण चली गई हैं, जिनके प्रभाव से नदियोंवाली उपजाऊ जमीनों का भूभाग नहीं बच पाया है। आसाम की अनेकों जगली जातियों मे गारो ही सर्वप्रथम पहाड़ी जाति है, जिससे कि बगाल की जनता और शासको का सम्पर्क हो पाया है।
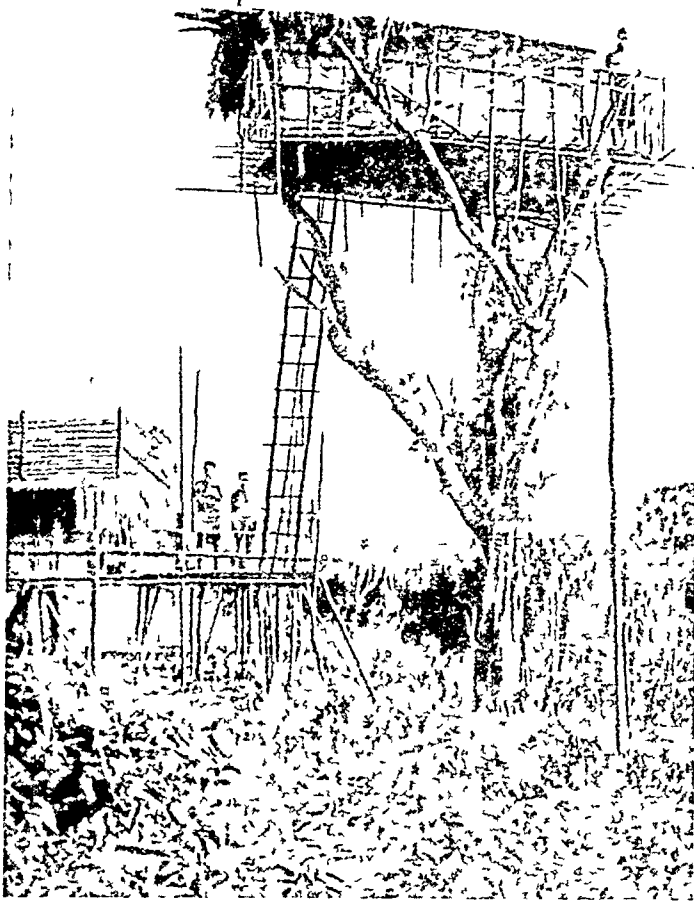
वृक्ष पर बना हुआ गारो लोगो का मकान

यह 'बोराङ्ग' कहलाता है। ऐसे मकान इन लोगों में बहुतायत से पाये जाते हैं। प्रत्येक गारो गृहस्थ के पास दो मकान होते हैं—एक गाँव में और दूसरा खेत पर। खेत पर बने इस प्रकार के मकानों को वृक्षों के सिरे पर इतना ऊँचा इसलिए बनाया जाता है कि हाथी आदि जंगली जानवर उन्हें तोड़ न सकें। (फ़ो०—मेजर प्लेफ़ेयर)

गारो लोगो की भाषा

गारो लोग तिब्बती-बर्मी भाषा बोलते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे तिब्बत के पठार को पार करने के बाद गारो पहाड़ियों की ओर भटक पड़े थे। गारो लोगो की भाषा—शब्दावली और वाक्यरचना दोनों की दृष्टि से—तिब्बती भाषा से बहुत सादृश्य रखती है। आसाम के आदिम निवासियों के क्षेत्रों मे केवल कुछ ही मील की दूरी तय करने के बाद बोली मे परिवर्त्तन होने लगता है। इन भाषाओं की यह विशेषता है कि वे शीघ्र ही ऐसी स्थानीय बोलियों मे परिणत हो जाती हैं कि एक बोलीवाला दूसरी बोली जाननेवाले की बात को समझ नहीं पाता। डा० हटन ने इस सम्बन्ध मे एक दिलचस्प कहानी लिखी है। आसाम की सेमा नागा जातियों के विभिन्न गाँवों के सात आदमी एक दिन शाम को एक सड़क के किनारे दैवात् मिल गए। सबने एक दूसरे से पूछा कि तुम्हारे पास चावल के साथ खाने के लिए क्या चीज है? हर एक ने अतुशेह, ग्योमिशी, मुगीशी, अमूसा,

समझे जाते हैं और किसी व्यक्ति के गले मे पड़ी हुई खोपड़ियो की माला समाज मे उसकी स्थिति और वैवाहिक चुनाव मे उसकी सफलता का निश्चय करती है। नागा लोगों मे बहुविवाह का काफी प्रचलन है और नरमुण्ड का शिकार कर लाना स्त्रियों की कृपादृष्टि प्राप्त करने का पक्का साधन है।

आसाम के भीतरी भागो मे बसनेवाली जातियो के बारे में बहुत ही कम हाल मालूम हो पाया है। आज भी यहाँ के आदिम निवासियों की अनेकों टुकड़ियों की कोई सूची नहीं

अखेल्हे आदि भिन्न-भिन्न वस्तु का नाम लिया, जिनका अर्थ अपनी-अपनी बोली के अनुसार लोगो ने सूखी मछली, मास तथा विभिन्न प्रकार की तरकारियाँ समझा। इसके बाद सबमे यह राय ठहरी कि सब अपनी अच्छी-अच्छी चीजें सब लोगो के खाने के लिए दे दें और सब लोग समान रूप से उसमे हिस्सा लें। जब वे दावत खाने के लिए तैयार होकर बैठे तब प्रत्येक अपने मन मे यह सोच रहा था कि अपने पड़ोसियो को हिस्सेदार बनाने के लिए राज़ी करके किस प्रकार वह फायदे मे रहा! किन्तु जब

उन्होंने अपने-अपने गट्ठर खोले, तो सब के गट्ठरों से सिर्फ लाल मिर्चें निकलीं। नागा, कूकी और गारो लोगो की भाषाओं मे परिवर्त्तनशीलता की वह प्रवृत्ति, जिसके कारण शब्दों का रूपान्तर हो जाता है, तथा नये शब्दों और वाक्यांशों को पचा लेने की एक अद्भुत शक्ति पाई जाती है। परम्परागत अनुश्रुति के अनुसार, वे हिमालय के पठारों से पूर्वी भारत और बर्मा से होते हुए आसाम की घाटियों मे चले आए। इस अपनी यात्रा की स्मृति अब भी उनमे बनी हुई है। सर्वप्रथम वे हिमालय की तराई मे आए। वहाँ से पूर्व की ओर घूमते हुए ब्रह्मपुत्र की घाटी मे आकर रहने लगे। बाद मे वहाँ से भी पलटकर चल पडे और अन्त मे पहाडियो तथा नदी से घिरे हुए उन मैदानों मे आ पहुँचे जिनमें कि आजकल वे रहते हैं।

गारो प्रदेश की प्राकृतिक शोभा और विशेषताएँ

आजकल गारो लोग दो भागों मे बँट गए हैं—पहाडी गारो और मैदानी गारो। मैदानी गारो लोग गारो पहाडियो से बाहर मैमनसिंह, ग्वालपाडा, कामरूप और खसिया-जयतिया पहाडियों मे फैले हुए हैं। गारो पहाडियाँ कमोवेश ऊँचे पठार-सरीखी मालूम होती हैं, जिस पर अनेकों ऊँची चोटियाँ इधर-उधर उठी हुई हैं। इनमे सबसे ऊँची चोटी 'नोकरेक' है, जो कि ४६५२ फीट ऊँची है। यहाँ पर बहुत अधिक वर्षा होती है। किसी-किसी वर्ष लगभग १५५ इंच तक वर्षा हो जाती है। पहाडियाँ सघन वनों से आच्छादित हैं, जिनमे साल वृक्ष और घास बहुतायत से पाये जाते हैं।

गारो लोगो का बलि देने का स्थान
जिसे ये लोग 'सम्बासी' कहते हैं।

गारो पहाडी प्रदेश की प्रमुख विशेषता उसका सुंदर प्राकृतिक दृश्य है। ऊँचे स्थानों से नीची पहाडियों की ओर देखने पर रग और प्रकाश के अत्यधिक मनोहर दृश्य देखे जाते हैं। सेमसाङ्ग और उसकी सहायक नदियाँ वृक्षों, चट्टानों और झरनों के साथ मिलकर कलाकारों के हृदय को लुभानेवाले दृश्य उपस्थित करती हैं। 'रगीरा' पहाडी के निचले शिखरों पर जब प्रातःकालीन सूर्य की अरुण किरणें पडती हैं तो फेनिल श्वेत कुहरे के साथ सूर्य की किरणों के मिल जाने से जो मनोहर दृश्य उपस्थित होता है उसे देखकर ऐसा जान पडता है मानों हम परीदेश मे पहुँच गए हों। जंगल की प्राकृतिक शोभा के साथ मिलकर यह दृश्य यात्रियों के मस्तिष्क पर एक अमिट छाप अंकित कर जाता है—यह दृश्य कभी भूला नहीं जा सकता।

सोमेश्वरी नदी ऊँची और ढालू पहाडियो के बीच एक बडी ही तग घाटी से होकर बहती है और कई स्थानों पर वह बहुत विस्तृत चट्टानो के ऊपर से होकर बडी तेज़ी के साथ आगे बढती है, जिससे कि वर्ष के अधिकाश भाग तक उसमे नावे नहीं चल सकती। वर्षाकाल मे यह नदी अपने किनारों को लाँघ जाती है और कई स्थानों पर उसे पार करना कठिन हो जाता है। जिस समय इसमें बाढ आ जाती है

उस समय तो उसके वेग के सामने कोई साधारण पुल टिक ही नहीं सकता। गारो लोगों ने एक प्रकार का लटकनेवाला पुल बनाना सीख लिया है। यह पुल पेडों की ऊपरी डालियों मे बॉधे गये बेतों के समूह के सहारे लटका रहता है। पुल पर का आने-जाने का रास्ता बॉस की छडों को आरपार रखकर बनाया जाता है। सोमेश्वरी नदी की नीचाई के भागो मे नावे चलाना सम्भव है। यहॉ गारो लोग एक प्रकार की अपनी ही बनाई हुई नाव काम मे लाते हैं, जिससे उन्हे अपनी खेती की पैदावार बाजार मे ले जाने मे सुविधा हो जाती है।

जीवन-निर्वाह के साधन

गारो लोग इस समय जगल की पैदावार पर अधिक आश्रित नही हैं, क्योंकि जनकी भोजन-सामग्री का पर्याप्त भाग मछलियों के शिकार से ही मिल जाता है। उनकी वह खुरदरी रुई, जिसे कि वे पहाडियो मे पैदा करते हैं, सीमान्त के गॉवों मे आसानी से बिक जाती है। यह मिलावट और भर्ता के काम मे लाई जाती है, क्योंकि इसके रेशे बहुत छोटे होते हैं और देहात मे मिलनेवाली मामूली क़िस्म की रुई से भी वह अधिक खुरदरी होती है। बाजार के दिन गारो लोग लगूचा की शक्ल की बेंत की सैकडों टोकरियॉ, जिनमें रुई भरी रहती है, लाते और उसके बदले में अपनी आवश्यकताओं की चीज़ें ख़रीद ले जाते हैं।

आकृति, वर्ण और रूप

गारो लोग मगोल जाति के हैं। वे पीत वर्ण के होते हैं। कुछ व्यक्तियो में श्यामता भी पाई जाती है। उनका चेहरा छोटा और गोल होता है, और देखने मे चौडापन लिये हुए होता है। ऐसा ख़ास तौर पर उनकी नाक की वजह से होता है। उनका क़द छोटा होता है। मेजर प्लेफेयर के अनुसार, पुरुषों की औसत ऊँचाई ५ फीट १॥ इच और स्त्रियों की ४ फीट १० इच होती है। लेकिन मैंने जो ऑकडे इकट्ठे किये हैं उनके अनुसार पुरुषों की औसत ऊँचाई ५ फीट २॥ इच है। स्त्रियो का नाप लेना कठिन था। इसके कारण स्पष्ट ही हैं। गारो पहाडियो के भीतर रहनेवाले गारो लोग, उन लोगो से जो कि पहाडियो के सिरो पर रहते हैं, कहीं अधिक हट्टे-कट्टे होते हैं। स्त्रियॉ बहुत ख़ूबसूरत नहीं होतीं, वे शीघ्र बूढी हो जाती हैं। वे स्त्रियॉ जो कि मैदानों मे आकर बस गई हैं और जो कि ईसाई हो गई हैं पहाडियो पर बसनेवाली अपनी बहनो से कहीं अधिक सुन्दर पोशाक पहनतीं और उनमे अधिक आकर्षक देख पडती हैं। गारो पहाड़ियों के भीतरी भाग की महिलाएॅ कान मे बहुत-सी बालियॉ पहनती हैं, जिससे उनके कान का निचला सिरा काफी फैल जाता और कभी-कभी तो बालियों के भार से कटकर उसके दो भाग भी हो जाते हैं। जैसा कि अधिकाश मगोल जातियो मे पाया जाता है, गारो लोगों के भी चेहरों पर बहुत कम बाल होते हैं और अगर बाल निकल आते हैं तो ये लोग उन बालों को मूछों के बीच के भाग से हटाकर उसके किसी एक किनारे की ओर करके प्रदर्शित करने का बडा ध्यान रखते हैं।

वेषभूषा और आभूषण

पहाडों मे रहनेवाले गारो लोग पोशाक की जरूरत ज्यादा नही महसूस करते। लेकिन जिस समय वे अपनी बस्तियो से बाहर निकलते हैं या बाजारों के लिए रवाना होते हैं तो स्वय अपने ही तैयार किये हुए कपडों को पहन लेते हैं। वे अपने नृत्यों और उत्सवों के अवसर पर अपनी सबसे उम्दा पोशाक पहनते हैं। ख़ास तौर से वे एक अत्यधिक आकर्षक मुकुट पहनते हैं जोकि मुर्गों के पख से अलकृत होता है। गारो पुरुषों की ख़ास पोशाक गैण्डो (Gando) होती है। यह नीले रग के सूती कपडे की एक पट्टी होती है, जिसमे लाल रग की धारियॉ पड़ी होती हैं। यह ६ इच चोडी और लगभग ६ या ७ इच लम्बी होती है। यह पैरों के बीच से होकर निकलती और पीछे की ओर से ऊपर लाकर कमर के चारों ओर कस ली जाती है। उसके सिरे पीठ की ओर के तहों के नीचे जकड़ दिये जाते हैं। पोशाक पहनते हुए इस बात का ख़ास ध्यान रखा जता है कि लगभग डेढ फुट कपड़ा बच रहे जिसे कि सामने झूलते रहने के लिए छोड़ दिया जाता है। यह पोशाक साधारणतया सादी होती है, लेकिन कभी-कभी इसका एक सिरा कौडियों की पक्तियो से सजाया रहता है।

गारो स्त्रियों के पहनने का कपडा १८ इच लम्बा होता है और उसकी चौडाई इतनी काफी होती है कि वह लहँगे की शक्ल मे उनकी कमर के चारो ओर आ जाता है। इसी कपडे की बनी हुई दो डोरियो से वह दायें या बाये सिरे पर बॅधा रहता है, जिससे कि जॉघो पर वह खुला रह सकता है। इस पोशाक को रिकिंग (Riking) कहते हैं। स्त्रियों के कान पीतल आदि धातुओं की बनी हुई बालियो से आभूषित होते हैं। इनमे से कुछ काफी बड़ी होती हैं, जिनके भार के कारण कान और उसकी लटकन का भाग काफी झुक आता है। गारो स्त्रियॉ इन बालियो को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझती हैं, क्योंकि जब कोई पुरुष मर जाता है तो

उसकी पत्नी को बालियाँ तब तक के लिए उतारकर रख देनी पड़ती हैं जब तक कि अन्त्येष्टि क्रिया समाप्त नहीं हो जाती। ऐसा भी होता है कि वह उन्हें फिर कभी न पहने। परपुरुष-सम्भोग के अपराध के लिए दिए जानेवाले दण्डों में से एक यह भी है कि अपराधिनी स्त्री की बालियाँ पकड़-कर इतनी बेरहमी से खींच ली जाती हैं कि कान के निचले भाग के फटे हुए दोनों हिस्से कुरूपता की दशा में बने रहते हैं। जब किसी पत्नी के पातिव्रत का उल्लंघन हो जाता है तो उसकी रिश्तेदार औरतें कभी-कभी उसकी बालियाँ निकालकर उस समय तक के लिए अलग रख देती हैं जब तक कि मामले की जाँच-पड़ताल होकर उसका फ़ैसला नहीं हो जाता।

गारो लोगों के मकान

गारो लोग अपना मकान टीले पर और साधारणतया पहाड़ियों के ढाल पर बनाते हैं। मकान बनाने की जमीन के समतल न होने के कारण उनके खम्भे विभिन्न नाप के होते हैं ये खम्भे ४ फ़ीट से लेकर ८ फ़ीट तक के होते हैं। इन खम्भों पर आरपार कड़ियाँ रक्खी जाती हैं और उन पर बाँस का छाजन रहता है। दीवालें भी बाँस के छाजन की ही होती हैं और बाँस की छत घास-फूस से छाई जाती है। मकान काफ़ी लम्बे होते और तीन कमरों या हिस्सों में बँटे रहते हैं। बीच का कमरा सबसे बड़ा होता है और परिवार के शयनागार का काम देता है। मृत पूर्वजों की आत्माओं का भी इसी कमरे में निवासस्थान होता है और यहीं सब
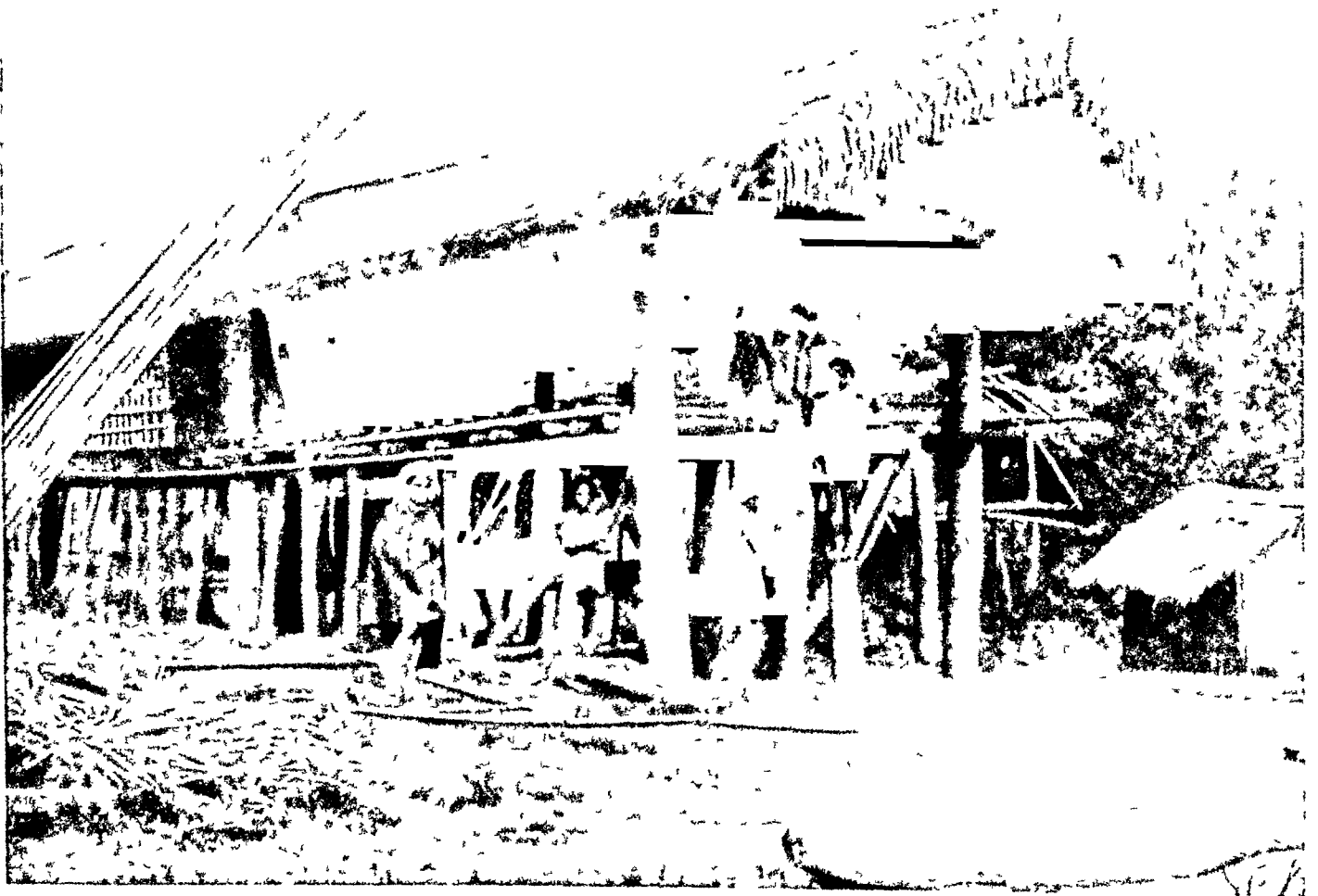
गारो लोगों के प्रत्येक गाँव में पाया जानेवाला युवागृह या 'नोकपान्टे'

इसे गाँव के अविवाहित नौजवानों को ही मिलकर बनाना पड़ता है। यह हमेशा ऊँचे मंच पर बनाया जाता है। कई खम्भों पर आरपार कड़ियाँ रक्खी जाती हैं और ऊपर बाँस का छाजन रहता है। दीवालें भी बाँस के छाजन की ही होती हैं और बाँस की छत घास फूस से छाई जाती है। काटे हुए बाँस के लट्ठे बतौर सीढ़ियों के काम में लाये जाते हैं। गाँव के अविवाहित नवयुवकों के लिए इस प्रकार के अलग जातीय विश्रामगृह या शयनागार बनाने का रिवाज अन्य अनेक आदिम जातियों में भी पाया जाता है, जिनमें से कई से आप परिचित हो चुके हैं।

के पात्र रखने का स्थान 'चुसीमारा' (Chusimara) भी बना होता है। इसी कमरे के अन्दर खाना पकाने का चूल्हा भी बना रहता है और इसके ऊपर भोजन बनाने के बर्त्तन या यदि और कोई वर्त्तन हुए तो उन्हें रखने के लिए बॉस की एक चौकी रखी जाती है जिसे कि 'ओङ्गल' (Ongal) कहते हैं। भोजन परसने के लिए इस कमरे के भीतर साफ-सुथरी जगह खाली रहती है, जिसे कि रात मे सोने के काम मे लाया जा सकता है। गारो लोगों के कुछ मकानों मे तीसरी या आखिरी कमरा खाने का सामान रखने के काम मे लाया जाता है, लेकिन जबकि परिवार मे सयानी और अविवाहिता लड़कियाँ रहती हैं, तो बीचवाला कमरा इन्हीं के काम मे आता है और पति-पत्नी हटकर इस तीसरे कमरे मे चले आते हैं। गारो समाज के मातृमूलक होने के कारण जिस समय पुरुष अपनी पत्नी के साथ रहने के लिए उसके घर चला आता है तो बॉस की एक दीवाल से बड़े कमरे का बीच से बॅटवारा कर दिया जाता है, जहाँ पर नवदम्पति रात्रि मे शयन करते हैं।

प्रत्येक गॉव मे एक युवागृह होता है, जिसे नोकपान्टे (Nokpante) कहते हैं। साधारणतया यह जाति के नौजवानों के रहने के लिए ही होता है। इसे गॉव के नवयुवकों को मिलकर अनिवार्य रूप म स्वय अपने ही परिश्रम से बनाना पड़ता है। यह हमेशा उच्चतर मच पर बनाया जाता है और इसमे काटे हुए बॉस के लट्ठे बतौर सीढ़ियों के काम मे लाये जाते हैं। प्रत्येक गारो गृहस्थ के पास दो मकान होते हैं, एक गॉव मे और दूसरा खेत में, जहाँ कि उनके झूम के खेत स्थित होते हैं। खेत में बने हुए मकान को जानवरों से रखवाली करनी पड़ती है, खास करके जगली हाथियों से, जो कि धान के हरे पौधों और रुई के पौधों के लिए खेतों मे आते रहते हैं। ये मकान वृक्षों के सिरो पर बनाये जाते हैं, जैसा कि पृ० १३६४ के चित्र में दिखाया गया है। इस प्रकार के मकानों को 'बोराग' (Borang) कहते हैं और ये गारो प्रदेश भर मे देख पड़ते हैं।

खेती-बारी

गारो लोगों की कृषि-प्रणाली 'झूम' कहलाती है। इस प्रणाली में, जैसा कि हम पिछले लेखों मे बतला चुके हैं, जमीन के एक बड़े टुकड़े को आग लगाकर साफ कर लिया जाता है, साल-दो साल तक उस पर खेती की जाती है और तब उसे छोड़कर जमीन का एक दूसरा टुकड़ा उपयोग मे लाया जाता है। उस पर भी आरम्भ मे यही क्रिया होती है। खेती की इसी प्रणाली को दक्षिण-पश्चिम भारत में 'कुमारी', गंजाम एजेन्सी मे 'पोड्डू' या 'बोडागू', बर्मा मे 'टोउग्यॉ', उत्तर भारत में 'दहिया' और मलाबार मे 'पोनम' कहते हैं। फिलिप्पाइन द्वीपसमूहों मे यह प्रथा 'गुइङ्गेज' के नाम से प्रसिद्ध है। आर्डेनीज मे यह प्रणाली 'सार्टेज' और स्वीडन मे 'स्वेडजान्डे' के नाम से प्रचलित है। यह आदिम कृषि-प्रणाली सारे ससार मे पाई जाती है और जहाँ कि बहुतायत से अछूता जगल मिलता है वहॉ पर यह आज भी व्यापक रूप मे प्रचलित है।

गारो लोगो मे खेती की जो प्रणाली प्रचलित है, उसके अनुसार भूमि को जोता या खना नही जाता, बल्कि जब जमीन काफी मुलायम रहती है तो उसमे तेज धार की नोकीली खुत्तियों से जगह-जगह गड्ढा खोद देते हैं और प्रत्येक मे कुछ बीज छोड़ दिए जाते हैं। बाजरे की खेती और भी आसान है, क्योंकि इसे जलाये हुए जगल की राखो मे छींटकर बो दिया जाता है और बोने के पूर्व उस जमीन को उलटा नही जाता। साधारणतया गारो लोग झूम के खेतों से दो-तीन फसल तक पैदा करते हैं। पहले वर्ष कई चीजों के बीज मिलाकर बोये जाते हैं। दूसरे साल केवल धान बोया जाता है और इसके बाद खेत छोड़ दिया जाता है। कुछ खेतो मे तीसरे वर्ष भी खेती की जाती है, लेकिन इसके बाद खेती बेमुनाफे की हो जाती है। वे लोग धान को काटते नही, जैसा कि मैदानों में होता है, बल्कि वे बालियो को अपनी मुट्ठियो मे पकड़कर दानों को बाहर खींच लेते हैं। वे दो टोकरियॉ लिये रहते हैं—एक पीठ पर रहती है, जिसमे कि वे धान के दाने रखते जाते हैं और दूसरी सामने की ओर कमर से बॅधी रहती है। इस दूसरी टोकरी मे वे उन दानों को रखते हैं जिन्हे वे बीज के लिए काम मे लाते हैं।

समाज-संगठन—मातृमूलक व्यवस्था

गारो लोगों की सबसे महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक विशेषता उनके समाज का मातृमूलक सगठन और उसके फलस्वरूप उत्तराधिकार के नियमो का होना है। भारतवर्ष की कुछ ही आदिम जातियॉ अपने मातृमूलक सगठन को सुरक्षित रख पाई हैं। इसलिए खसिया और गारो जातियॉ, जो दोनो आसाम की हैं और आज भी मातृमूलक सगठन को बनाए हुए हैं, समाजशास्त्रियो और सामाजिक मनोविज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मातृमूलक परिवार में सम्पत्ति का उत्तराधिकारी लड़का न होकर लड़की होती है। स्त्री पति के घर नहीं जाती, बल्कि पति ही स्त्री के घर आकर रहता है और लड़कों का नाम पिता के वश के अनुसार न रखकर माता के वश के अनुसार रखा जाता

है। ये सभी विशेषताएँ गारो जाति मे भी पाई जाती हैं। यहाँ पर उनके सामाजिक सगठन का कुछ वर्णन देना मनोरञ्जक होगा।

गारो लोगो मे सबसे छोटी पुत्री सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती है। यदि वह शारीरिक या मानसिक दृष्टि से अथवा अन्य किसी कारण से उत्तराधिकारिणी होने के अनुपयुक्त हो या उसके माता-पिता तथा जाति के लोग उसे इसके अनुपयुक्त समझे तो ऐसी दशा मे परिवार की कोई दूसरी लड़की सारी सम्पत्ति की 'नोकना' (Nokna) या उत्तराधिकारिणी बनाई जा सकती है। मामा के लडके के लिए परिवार की इस कनिष्ठ पुत्री से, अथवा उससे जो कि 'नोकना' हो, ब्याह करना अनिवार्य होता है और उसे अपनी स्त्री के साथ उसके नैहर मे रहना पडता है। कोई भी गारो पुरुष सम्पत्ति का स्वामी नही हो सकता। जो कुछ भी वह अपने परिश्रम से कमाये या किसी से उसे मिले, वह सब वास्तव मे उसकी माता और बहनो की सम्पत्ति माना जाता है, चाहे वह व्यक्ति बालिग हो या नाबालिग़। अगर वह शादी करे तो जो कुछ भी उसे इस शादी मे मिलेगा वह भी उसकी स्त्री की जायदाद मानी जायगी या उसकी (स्त्री की) मृत्यु के बाद उसकी लडकी ही उस जायदाद की मालकिन होगी। उसकी माता की मृत्यु होने की दशा मे, या उसकी पत्नी अथवा पुत्री अथवा बहिन की मृत्यु होने की दशा मे, जैसी कि परिस्थिति हो, सम्पत्ति पर माता के परिवार की निकटतम सम्बन्धिनी का अधिकार माना जायगा। किसी गारो पुरुष को अपनी पत्नी की अनुमति के बिना सम्पत्ति का कोई भी भाग वेचने का अधिकार नही होता, यहाँ तक कि वह स्वयं अपने परिश्रम से पैदा की हुई जायदाद को भी बिना उसकी अनुमति के नही वेच सकता। अगर वह ऐसा करे तो गारो लोग उसके इस कार्य को चोरी के समान ही निन्द्य मानते हैं।

यद्यपि ब्याह के बाद स्त्री साधारणतया अपने माता-

वह टोकरीनुमा समाधि जिसमे मृत व्यक्ति की अस्थियाँ उस समय तक रक्खी जाती हैं, जब तक कि उसकी अंतिम अंत्येष्टि क्रिया नहीं हो जाती। इसे 'डेलाग' कहा जाता है। दाह-क्रिया समाप्त हो जाने पर अस्थियों की राख को शवदाह की जगह पर एक गड्ढा खोदकर उसी मे डाल दिया जाता है और उसके ऊपर बाँस का छाजन कर दिया जाता है, तथा नीचे चारों तरफ बाँस का बाड़ा बना दिया जाता है। इसी बाँस के बाडे के खंभो और डंडो पर मृत व्यक्ति के कपडे, हथियार और बर्त्तन आदि प्रायः लटका दिए जाते हैं।
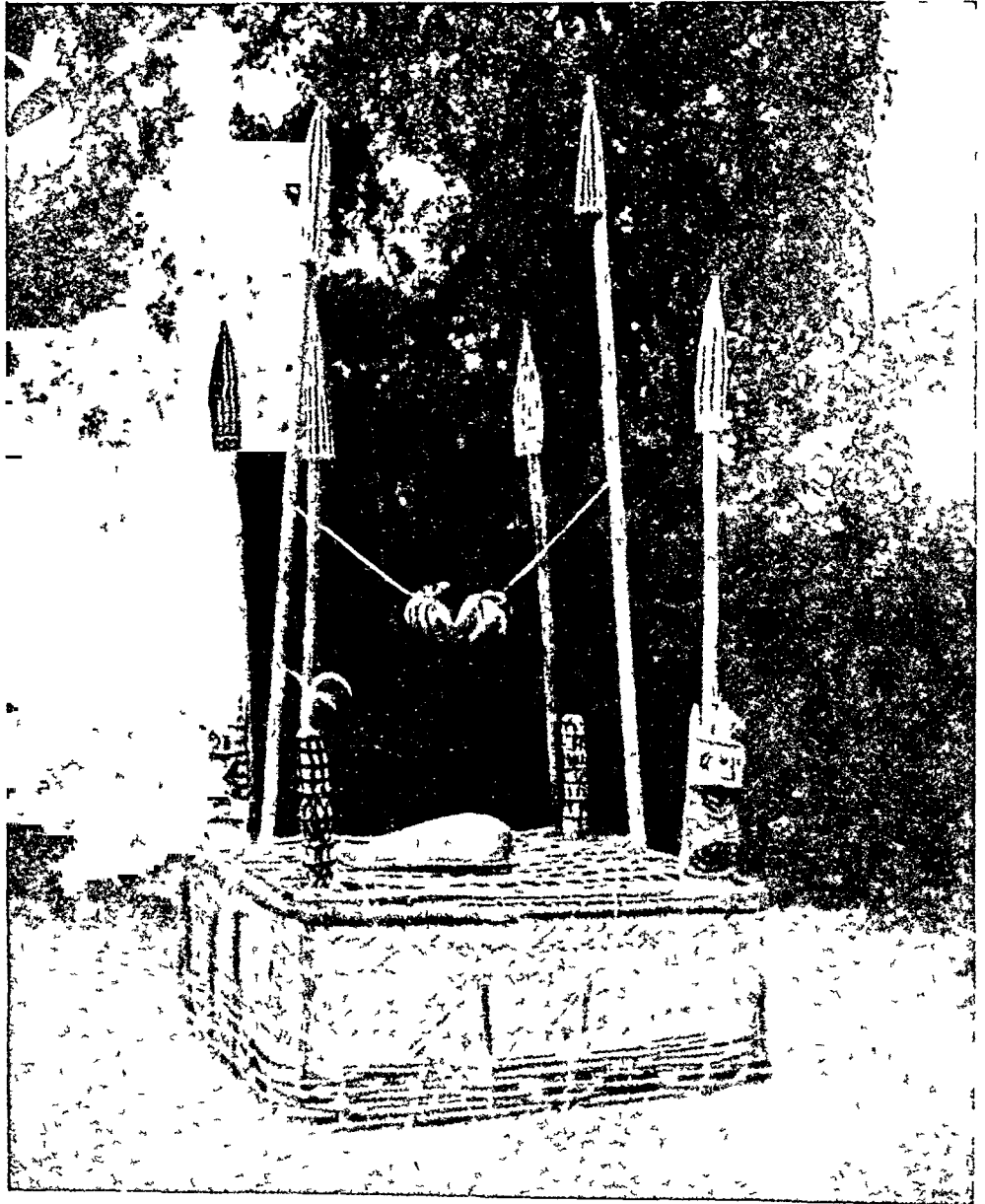
पिता के मकान पर ही रहती है, फिर भी कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई-कोई गारो अपने लडके के लिए अपने मकान पर उसकी वधू को लाकर रखता है। लेकिन ऐसा होने पर पुत्र और पुत्रवधू को अपने सास-ससुर से अलग रहना और अलग ही खाना पडता है। ज्योंही उन्हें इस तरह अलग किया जाता है, उसी समय से सास को उन दोनो के लिए छ महीने तक खुराकी अर्थात् खाने-पीने के सामान का प्रबन्ध करना पडता है और उन्हे एक जोडी बैल दे देना पडता है। यदि कोई विवाहित गारो अपनी पत्नी के साथ नहीं रहता और अपनी बहन के परिवारवालो की परवरिश के लिए काम करता है तो वह अपनी सास के मकान पर केवल अँधेरा हो जाने के बाद ही आता है और वहाँ न तो खाना खाता, न तम्बाकू आदि ही पीता और न पान आदि ही ग्रहण करता है। ऐसा उसे इस विचार से करना पडता है कि चूँकि उसकी कमाई का कोई भाग उसकी स्त्री के परिवार के व्यय मे नही आता, इसलिए उसका वहाँ पर खाना अथवा नाश्ता आदि मे हिस्सा बँटाना शिष्टाचार की बात न होगी ' मनीपुर की नागा जाति के लोगों मे भी ऐसी प्रथाएँ प्रचलित हैं। आसाम के कूकी लोगों मे प्रचलित प्रथानुसार पति इस असुविधाजनक कार्य से मुक्त रहता है—उसकी पत्नी ही अँधेरा हो जाने के बाद चुपके से उसके मकान पर चली आती है। टिपरा की पहाडियो मे बसनेवाली कुछ जातियों के प्रथानुसार पति पत्नी के कमरे मे चोर की तरह किसी प्रकार दाखिल हो जाता है और सवेरा होने से पहले ही वहाँ से चल देता है। गारो लोगों मे यदि कोई लडकी विवाह के पश्चात् पति के साथ कहीं अन्यत्र चली जाती है तो वह उस समय तक 'नोक्ना' (उत्तराधिकारी) नही मानी जा सकती जब तक कि यह साबित नही कर दिया जाता कि जीविकोपार्जन की सुविधा की दृष्टि से ही यह व्यवस्था करना उनके लिए आवश्यक हो गया था।

गारो पहाडियो के कुछ भागों मे ऐसे पति को जो कि नाकरम (Nakram) कहलाता है अपनी पत्नी को यदा-कदा मौके से पीटने का भी अधिकार होता है, अगर वह यह प्रमाणित कर सके कि उसने ऐसा उत्तेजना मिलने पर ही किया था। लेकिन पत्नी को ऐसा अधिकार नही दिया गया है। यदि वह ऐसा कर बैठे तो उसके पति के भाइयो अथवा सम्बन्धियों को इसकी अनुमति है कि वे चाहें तो उसके (स्त्री के) सबसे अच्छे बैल या सुअर को मारकर खा जायँ। ऐसा करने पर जो आर्थिक हानि होती है, उसे बिना चूँ-चपड किए उस व्यक्ति की पत्नी को उठाना पडता है।

एक गारो स्त्री के लिए जरूरी है कि यदि मिल सके तो वह अपने पिता के कबीले के किसी पुरुष से ही ब्याह करे। कबीले के भीतर ब्याह करना मना है। साधारणत. पुरुष अपने पिता की बहन अर्थात् बुआ की लडकी से ब्याह करते हैं। अगर यह सम्भव न हुआ तो परिवार की किसी दूसरी लड़की से वे ब्याह करते हैं। यदि किसी पुरुष को विवाह के बाद सतान नही होती तो अपनी साली या उसके खानदान की किसी दूसरी स्त्री को वह अपनी पत्नी बना सकता है, लेकिन साधारणतया ऐसा बन्ध्या स्त्री की स्वीकृति लेकर किया जाता है। अधिकतर कोई बच्चा गोद ले लिया जाता है। यदि किसी का बड़ा या छोटा भाई अपनी पत्नी को छोड़कर मर जाय तो उसकी विधवा स्त्री अपने पति के छोटे भाइयो मे से किसी एक को अपना पति बना सकती है। यदि कोई युवक किसी वृद्धा से शादी कर ले तो वह उसी खानदान की एक नौजवान लड़की को—विशेषकर वृद्धा की लड़की को—अपनी दूसरी पत्नी बना सकता है। किसी भी पुरुष को अधिकार है कि वह अपने भानजे को अपना जमाता बना ले और उसको उसकी भावी पत्नी के साथ एक ही कमरे मे बन्द कर दे।

विवाह-पद्धति

गारो लोगों मे विभिन्न प्रकार के विवाह प्रचलित हैं। सामान्यतया दो मुर्गा के बच्चे और पीने के लिए शराब, जिसे वे खुद तैयार करते हैं, इस कार्य के लिए आवश्यक होते हैं। मुर्गा के बच्चों मे एक नर और एक मादा होना जरूरी है। दम्पति के परिवार के बाहर के लोग उन मुर्गा के बच्चों को भूनते और देवताओं को बलि चढाते हैं और तब वे ही इन्हें खाते भी हैं। यह जानने के लिए कि यह शादी दम्पति के लिए सुखमय होगी या नहीं, गारो लोग मुर्गा की अँतड़ियों की एक दूसरे से तुलना करते हैं। यदि लम्बी अँतड़ियों के सिरे की बनावट और नाप मे समानता होती है तो समझा जाता है कि दम्पत्ति का भविष्य निस्सन्देह सुखमय होगा। ब्याह का उपचार करानेवाला पुरोहित वर और वधू की पीठ अपनी मुट्ठी से तीन बार ठोंकता है और बस शादी की रस्म पूरी हो जाती है।

ईसाई धर्मानुयायी और गैर-ईसाई दोनो ही गारो लोगों मे अपना जीवन-साथी प्राप्त करने का एक और तरीका पाया जाता है। यदि कोई गारो पुरुष उस स्त्री के बगल मे सो सके जिससे कि वह शादी करना चाहता है, या कोई स्त्री ऐसा किसी पुरुष के साथ कर सके जिससे कि वह शादी

करना चाहती हो, तो उन दोनों की सगाई मान ली जाती है और इस घटना के बाद दोनो मे शादी हो जाती है। उस हालत मे जब कि दोनो पक्षो मे से कोई एक दूसरे के बगल मे सोने से इन्कार कर देता है तो बाहर से आनेवाले को—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—उस परिवार की रिश्तेदार महिलाओ को जुर्माना देना पडता है। वे नौजवान, जिनकी नज़रों मे कोई ऐसी लडकी गड जाती है जिसे कि वे अपनी चिरसगिनी बनाना चाहते हैं, हमेशा इस बात से सावधान रहते हैं कि उन्हे उक्त प्रकार के व्यवहार द्वारा स्त्रियों या लडकियो से पराजित न होना पडे।

जब कोई युवक अपने मामा की लड़की से शादी करता है तो बहुधा उसे अपनी सास से भी शादी करने के लिए विवश होना पडता है, अगर शादी के समय सयोगवश वह विधवा हो। कोई गारो किसी नवयुवती और उसकी माता से एक साथ ही शादी कर सकता है, लेकिन लडकी से माता का दर्जा बडा होता है और उसकी मृत्यु के बाद ही लडकी जायदाद की उत्तराधिकारिणी होती है। ऐसी हालत मे दोनों पत्नियों को समान रूप से विवाह-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त रहते हैं। अगर कोई वृद्धा स्त्री किसी नवजवान से शादी करती है तो वह चाहे तो एक दूसरी नवयुवती को मकान के अन्दर रख सकती है और उसे सौत का दर्जा हासिल होता है। वृद्ध पत्नी की मृत्यु के बाद वह स्वय जायदाद की मालकिन हो सकती है।

विवाह की लोकप्रिय पद्धति के अनुसार वर और वधू एक-दूसरे की स्वीकृति से विवाह करते हैं। स्वीकृति प्राप्त करने की क्रिया मे वधू ही पहले हाथ बढाती है। वधू ही वर को पकड लाने के लिए निकलती है और रिवाज के अनुसार वर छिपने और उसकी पकड मे न आने की कोशिश उस समय तक करता रहता है जब तक कि आखिर मे वधू उसे पकड नही लेती और विजयिनी होकर उसका हरण कर लेती है। कन्यापक्ष के लोग एक मुर्गा और मुर्गी देते हैं, जिनकी बलि चढाना पुरोहित के लिए आवश्यक होता है और दम्पति को समारोह के साथ उन्हे खाना पडता है। इस समय पुरोहित मुर्गा और मुर्गी के डैनो को पकडकर मन्त्र पढते हुए दम्पति को सम्बोधित करता है और दम्पति को पुरोहित द्वारा पढे जानेवाले मन्त्रों को दोहराना पडता है। मुर्गों के सामने कुछ दाने बखेर दिये जाते हैं और उन्हे इन दोनों को खाने के लिए छोड दिया जाता है। एकाएक पुरोहित एक डडे से उनके सिर पर प्रहार करके उसी क्षण उन्हे मार डालता है। इसके बाद वह छुरे से मुर्गे की अँतडियो को बाहर निकाल लेता है और यही क्रिया वह मुर्गी के साथ भी करता है। इस क्रिया को सम्पादित करते समय इस बात का ध्यान रखना होता है कि ख़ून की कोई छीटें न पड़ने पावे, न अँतडियाँ ही टूटें और अँतडियो के साथ खून भी बाहर न आने पावे। ऐसा होना दम्पति के लिए अनिष्टकर माना जाता है। यह क्रिया समाप्त हो जाने के बाद एक सहभोज होता है, जिसमे नृत्यसहित गायन होता है और इस प्रकार विवाह समारोह समाप्त हो जाता है।

मृत्यु-संस्कार

मृत्यु के पश्चात् गारो लोग चार दिन तक मृत शरीर को रक्खे रहते हैं और इसके बाद ठीक आधी रात के समय चिता मे आग लगाई जाती है। सामाजिक जीवन मे मृत व्यक्ति की स्थिति के अनुसार अन्त्येष्टि क्रिया का स्वरूप निश्चित किया जाता है। यदि वह कोई प्रभावशाली व्यक्ति, मुखिया या सरदार होता है तो चिता को फूल और लाल रग के कपडो से सजाया जाता है और एक बैल की बलि चढाई जाती है। पुराने जमाने मे सरदार या राजा के मृत शरीर के साथ दासो को भी जला दिया जाता था और प्रायः मृत सम्बन्धियो की चिता के साथ जलाने के लिए मनुष्यो के सिर काटकर लाने के प्रयत्न किए जाते थे। दाहक्रिया समाप्त हो जाने के बाद जलाने के स्थान पर एक गड्ढा खोदकर उसी मे अस्थियो की राख को डाल दिया जाता है और उसके बाँस का एक छाजन कर दिया जाता है तथा नीचे चारो तरफ बाँस का बाडा बना दिया जाता है। मृत व्यक्ति के कपडे, हथियार और बर्त्तन आदि या तो इस बाँस के बाडे के स्तम्भों मे लटका दिये जाते हैं या बाडे के भीतर रख दिये जाते हैं। यदि मृत व्यक्ति का समाज मे कोई महत्त्वपूर्ण स्थान न भी हो तो भी गारो लोग परलोकगत प्राणी को एक कुत्ते की बलि अवश्य चढाते हैं, ताकि वह उसके पर्यटन मे पथ-प्रदर्शक का कार्य करे।

महामारी आदि रोग और तत्संबधी अंधविश्वास

जब महामारी और सक्रामक रोगो का गॉव मे प्रकोप होता है तो ग्रामवासी गदाओं और डण्डों से सुसज्जित होकर गॉव के रास्तों मे इधर-उधर घूमते हैं, जगल के वृक्षों पर प्रहार करते हैं, गॉव मे बाहर से आनेवाले सभी रास्तों को रूँध देते हैं और सकट की भयानकता के अनुसार मुर्गों, सुअरो

और बैलो की बलि चढाते हैं। गारो लोगों को एक आदमी के ऊपर से हटाकर दूसरे के उपर सकट डालने के विचित्र ढग मालूम हैं। यदि किसी आदमी को आँखों से ठीक न दिखाई देने या आँखों मे दर्द होने की बीमारी हो तो वह एक टोकरी मे मिट्टी का एक ढेला रख लेता है और यह चिल्लाता हुआ घूमता है कि 'लो, मुर्गा के बच्चे ख़रीदो !' यदि कोई उसे रोक लेता है या दाम पूछता है तो वह उसे टोकरी दिखा देता है और भाग जाता है। इससे उसे विश्वास हो जाता है कि अपना सकट निरापद रूप मे अपने ऊपर से उसने टाल दिया। दाहक्रिया समाप्त हो जाने के बाद मृत व्यक्ति के मकान के सामने की पहाड़ियों पर अनेक स्मारकस्तूप या 'किमा' (Kimas) खडे कर दिये जाते हैं। हर किमा मे जमीन के भीतर से गडे हुए दो स्तूप होते हैं और जमीन से वे दो से चार फीट की ऊँचाई तक उठे रहते हैं। कुछ स्तूप तो तराश कर मनुष्य की मुखाकृति के सदृश बना दिये जाते हैं और उन पर मृत व्यक्ति की पोशाक के कपडे या चीथडे टाल दिये जाते हैं। किसी-किसी गॉव मे इस प्रकार के सैकडों कीमा खडे कर दिये जाते हैं, और यदि गॉव की आबादी महामारी अथवा काला आजार के कारण—जो कि इस प्रदेश का एक भीषण रोग है—बर्बाद हो जाती है तो कभी-कभी सारा-का-सारा वीरान गॉव इन कीमों से ही भर जाता है और समूचे वातावरण मे एक रहस्यपूर्ण निस्तब्धता छा जाती है। ऐसे भूतों के निर्जन गॉव गारो पहाडियों के भीतरी भागों मे कई पाए जाते हैं, जिससे हमे गारो लोगो मे फैली हुई महामारियों और बीमारियो के ख़तरे का पता चलता है।

किमा या वे स्मारक-चिह्न जो गारो बस्तियो में बहुतायत से पाए जाते है

मृत व्यक्ति की दाहक्रिया हो जाने के बाद गारो लोग उसकी स्मृति में उसके मकान के सामने की पहाड़ियो या टीलों पर एक प्रकार के स्मारक स्तूप खडे कर देते हैं। यही 'किमा' कहलाते हैं। प्रत्येक किमा ज़मीन के भीतर गाडे गए दो स्तूपो के रूप में होता है। कुछ स्तूपों को तराशकर मनुष्य की मूर्त्ति का रूप दे दिया जाता है। इन आकृतियों पर मृत व्यक्ति की पोशाक के कपडे डाल दिए जाते हैं। गारो बस्तियों में इस प्रकार के सैकडो किमा खडे हैं।

गारो जाति का भविष्य

गारो लोगों की इस दिलचस्प जाति को भी ऐसी-ऐसी समस्याओं का सामना करना पड रहा है, जिन्हे वह स्वय अपने प्रयत्नो और ज्ञान के बल पर सुलझाने मे असमर्थ है, अतएव आज गारो लोगों के जीवन की शृंखला का बिखरना शुरू हो चुका है, जो कि आगे चलकर भीषण रूप धारण कर सकता है। रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाई प्रचारक चाहते हैं कि ये लोग भाई-बहनो मे शादी होने की प्रथा बन्द कर दे। बैपटिस्ट सम्प्रदाय के प्रचारक चाहते हैं कि वे मातृमूलक समाज-व्यवस्था को छोडकर पैतृक उत्तराधिकार तथा पैतृक *स्थानावास* की प्रथा स्वीकार करे, और हिन्दू प्रचारक चाहते हैं कि वे हिन्दू हो जायें। वकीलों ने उन्हें झूठ बोलना सिखा दिया है और अगर वे यह जान लें कि सम्पत्ति पर अपना अधिकार स्थापित करने मे असत्यवादिता से उन्हे सहायता मिल सकती है तो वे उसी प्रकार सरलता से असत्य बोल सकते हैं जिस प्रकार कि पहले वे बड़े भोले और निष्कपट भाव के साथ सच बोला करते थे।

गारो लोगों के जीवन-सग्राम की कटोर परीक्षाओं का सामाजिक दृष्टि मे बडा महत्व है। इन लोगों का सामाजिक सगठन बाहरी विचारों के सम्पर्क से बहुत अधिक प्रभावित होने लगा है और उसके एक ऐसे लक्ष्य की ओर भी आगे बढने की सम्भावना है जो किसी समाज विज्ञान के विद्यार्थी की दृष्टि में इस जाति के लिए वाछनीय नहीं होगा।

ज़रथुश्त्र

सत्य, दया, आदि दैवी आदर्शों का संदेश सुनानेवाले एक दिव्य मनस्वी की अमर गाथा

आज से कई हजार वर्ष पूर्व का ईरान देश। असाम्य, घृणा, तिरस्कार, अपमान आदि के दारुण दृश्य। प्रेम, दया, करुणा और उदारता के पुनीत आदर्शों के बदले स्वेच्छाचारिता, उद्दण्डता और स्वार्थपरता का आतक। जनता निरापद नही। शासक भी सशक। चारो ओर अराजकता का ही निविडतम साम्राज्य।

इस घने अधकार के बीच अचानक एक आलोक दिखाई दिया। वर्षा की पूर्व-सूचना लिये अत्याचारो के इस घटाटोप मे एकाएक बिजली कौध उठी। लोगों की प्यासी किंतु विस्मित-सी आँखे एकबारगी ही उस ओर खिंच गई। भीषण गर्मी के बाद मानों शीतल बूँदा-बाँदी होने का उन्हे आभास मिला।

अराजकता के इस वातावरण मे, स्वार्थियों के इस जमघट मे, दिन-दिन गिरते इस ज़माने मे भी, लका मे विभीषण की तरह एक आदर्श दम्पति स्नेह-पाश मे बँधे हुए, दुनियाई हलचलों से तटस्थ, जीवनयापन कर रहे थे। ईश्वर-निष्ठा उनका धर्म, दया और उदारता उनका मूलमत्र, एव सतत् अध्ययन तथा प्रेममय जीवन ही उनका आदर्श था। असत्य, अधर्म और कुत्सित पापाचारो की गली मे इनके जीवन का पुनीत छकडा भी जैसे-तैसे डगरमगर घिसटता चला जा रहा था। परमात्मा की विचित्र लीला कि इन्ही के घर मे उस नूतन प्रदीप की लौ प्रकट हुई जिससे कालान्तर मे सारा ईरान जगमगा उठा। एक तेजस्वी बालक ने उनके घर मे जन्म लिया। कहते हैं, बालक जब मा के गर्भ मे था उसी समय राज-ज्योतिषियों ने घोषणा की कि वह शासकों का शत्रु होगा, उसके जन्म के साथ ही उनका विनाश जुडा हुआ है। इस भविष्य-वाणी के परिणाम-स्वरूप अराजकता के उस जमाने मे निरकुश हाथों से जिस व्यवहार की अपेक्षा की जा सकती थी, वही होकर रहा। बालक के प्राण गर्भ ही मे हरण कर लेने के लिए प्रयत्न किए जाने लगे। पर गर्भिणी माता जैसे-तैसे, अपने शिशु का स्नेह लिये, प्राण बचाकर मैके भाग गई और वही एक स्वर्गीय हँसी लिये हुए उस बालक ने इस जगती मे पदार्पण किया। तत्कालीन रीतियों के अनुसार उसके संस्कार किये गए और एक पूर्वज वीर के आधार पर उसका नाम 'स्पितमा' रखा गया। किंतु मुसीबतो ने यहाँ भी पीछा न छोडा। बालक के प्राणो का सौदा होने लगा। उसे चुराया गया। उसे मारने की तरह-तरह की कोशिशे की गई। परतु जिसकी भाग्य-रेखा मे अपने देश का अंधकार दूर करने का श्रेय अकित था, उसे कौन यो असमय ही मिटा सकता था? वह सब आपदाओं की खाइयों को लाँघता गया और इस प्रकार कालान्तर मे उसने किशोरावस्था मे पदार्पण किया।

बचपन ही मे इस बालक ने जिस ईश्वर-प्रदत्त असाधारण प्रतिभा से अपने बौद्धिक विकास का परिचय दिया, उससे स्वयं उसके माता-पिता ही चकित थे। पिता ने बालक की विलक्षणता देखकर उसके पठन-पाठन का उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर ले लिया। किंतु स्पितमा दुनिया की नश्वरता, दैवी गुणों की महत्ता और विश्व मे फैले अनाचार तथा अध-विश्वासों के सम्बन्ध मे कभी-कभी ऐसे प्रश्न कर लिया करता कि सुविज्ञ पिता को भी उत्तर देने के पूर्व ज़रा ठिठक जाना पडता था।

एक के बाद एक पन्द्रह वर्ष बीते। तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार स्पितमा का विवाह हो गया। किंतु गृहस्थाश्रम की माया-जाल से वह सशकित हो उठा। उसका हृदय विचित्र-विचित्र प्रश्नों का क्रीडास्थल बन गया। एक ओर आँखों मे गृहस्थाश्रम का असीम सुख, नव-वधू का स्नेह, और अपने आस-पास फैला ऐश्वर्य से भरपूर वैभव

था तो दूसरी ओर दुखियों का कातर क्रन्दन उसे चौंका देता था। गृहस्थी के आकर्षक किंतु क्षणिक सुखों की भावनाओं और दया, प्रेम, उदारता, त्याग आदि स्वर्गीय आदर्शों के बीच उसके मन में घोर युद्ध छिड़ गया था। बड़ी उलझन थी। सासारिक प्रलोभन और ऐहिक जीवन की सफलता के माया-जाल ने उसे अपनी परिधि में कसकर बाँध रखने की कोई बात उठा न रक्खी थी। उधर पारलौकिक अज्ञात शक्तियाँ उसकी आँखो मे एक उज्ज्वल भविष्य चमका रही थीं। आखिर वैराग्य ने वैभव को विदाई दी और अपनी नवागत वधू से स्नेहपूर्वक विदा माँग युवा स्पितमा अनत शाति की खोज मे न जाने किस सुनसान में विलीन हो गया।

साधना के सुरम्य प्रदेश से इस नवीन साधक को निर्वासित करने के लिए माया ने कोई बात उठा न रक्खी। उसे विश्वसाम्राज्य का प्रलोभन दिखाया, इस अनुष्ठान मे असफलता का भय दिखाया और मधु-घुली मीठी शब्दावलियों से उसे भ्रष्ट करने की अनेकों कोशिशे कीं। लेकिन जो इन प्रलोभनों से परे बहुत ऊँचा उठ चुका था, जिसमें ज्ञान की अदम्य पिपासा जाग उठी थी और जिसने दु:ख मे सुख, त्याग में प्राप्ति और बलिदान मे जीवन देखने मे जीवन की सार्थकता समझी थी, उसे ये इद्रधनुष-से क्षणिक रगीन प्रलोभन कब तक अपने मे लुभा रखने की चेष्टा करते। इनके लिए उसके पास एक ही उत्तर था—मेरा जीवन मेरा अपना नहीं। मैं उसे दुखियों के चरणों में स्नेह-पूर्वक समर्पित कर चुका हूँ। मुझे अपने प्राणों की चिन्ता नहीं, मैं अपने कर्त्तव्य से विमुख नही हो सकता। यह ईश्वरीय आदेश है। मुझे उसके आदेशो को प्रतिष्ठित करना है।

ग्यारह वर्ष की निरतर घोर तपस्या ने जिस प्रकार राजकुमार सिद्धार्थ को बुद्ध बना दिया था उसी तरह पन्द्रह वर्षों की कठोर साधना ने इस राजवशी को भी 'स्पितमा' से 'ज़रथुश्त्र' अथवा 'स्वर्णिम किरणोंवाला' बना दिया। साधना की स्वर्णिम रश्मियों से युवक स्पितमा का मुख प्रोद्भासित था। उसकी बुद्धि की प्रखर प्रतिभा साधना के इस दिव्य प्रकाश से और भी अधिक दमक उठी थी।

इसी समय उसे अपने आस-पास बिखरे हुए असाम्य का स्पष्ट चित्र दिखाई दिया। जिस ईश्वरीय आदेश की प्रतिष्ठा के लिए उसका जन्म हुआ था, उसकी सार्थकता के लिए प्रयत्न मे विलम्ब उचित नहीं था। अतएव जगल के निर्जन प्रदेश को छोड़कर उसने फिर बस्ती का मार्ग पकड़ा। पद्रह वर्ष के लम्बे सन्यास के बाद उसने फिर अपने कुटुम्ब मे आश्रय लिया—इसलिए नही कि साधनामय जीवन मे अब उसे विश्वास नही रह गया हो अथवा सासारिक प्रलोभनो ने उसे ग्रस लिया हो, बल्कि इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए कि मनुष्य कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करके भी दैवी आदर्शों को जीवन मे उतार सकता है। पूर्ण उत्साह के साथ उसने अपना कार्यक्रम निश्चित कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना आरम्भ कर दिया।

जरथुश्त्र की बाते एकाएक ग्रहण नहीं कर ली गईं। उसे कई मुसीबतो का सामना करना पड़ा। परतु विरोधों ने उसे निराश करने के बजाय प्रोत्साहन ही दिया। और फिर वह कोई नई बात भी तो नही कर रहा था। उसके उपदेश उसी सनातन सत्य पर ही तो आश्रित था, जो चिरकाल से मानवता के विकास में पूर्ण योग देता आ रहा था। केवल सुव्यवस्था के बधन शिथिल हो चले थे, इसलिए स्वेच्छाचारिता के इस युग मे ये दैवी गुण अत्याचारों की पृष्ठ-भूमि मे फेंक दिए गए थे। इन्हीं प्राचीन मानवीय आदर्शों की पुनः स्थापना ही ज़रथुश्त्र का लक्ष्य था।

वर्षों तक जरथुश्त्र को अपने एक भतीजे के सिवाय कोई साथी न मिल सका। किंतु इस एकमात्र अनुयायी ने अपने गुरु का साथ बुढापे में सफेद बालों की तरह निभाया। इसके अतिरिक्त ईरान से बाहर तो क्या, स्वय ईरान ही में उसे माननेवाला कोई नहीं था। वहाँ का शासकवर्ग तो यों ही उससे जला-भुना था, फिर उसके उपदेशों को उपेक्षा की दृष्टि से वह क्यों न देखता। तत्कालीन पडितवर्ग भी उससे प्रसन्न रहा हो, यह बात भी नहीं थी। किंतु जरथुश्त्र इससे हताश नहीं हुआ। अपने सम्मुख वह एक महान् उत्तरदायित्व को खड़ा देखता था। इसके लिए वह तत्पर था। वह समझता था और बखूबी जानता था कि उत्साह तो अपने हृदय ही मे निवास करता है, वह बाहर से आने की चीज थोड़े ही है। और यदि वह अपने प्रति, अपने सिद्धान्तों के प्रति सच्चा है, तो दुनिया की कोई शक्ति उसके आदर्शों की अपेक्षा नहीं कर सकती।

समय आया और पड़ौसी बाख्धी (बैक्ट्रिया) के शासक विष्टास्प ने जरथुश्त्र के सिद्धान्तों के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। उसके साथ ही उसके दो मत्री जामास्प और फशाओष्ट्र भी ज़रथुश्त्र के अनुयायी बन गए। इस प्रकार ज़रथुश्त्र का मत पूर्वी ईरान का मान्य धर्म बन गया। तब तो जरथुश्त्र की ख्याति की मानो बाढ़ आ गई।

उसके अनुयायियो की सख्या-वृद्धि इस तथ्य का निश्चित प्रमाण थी कि लोगो मे अपने विस्मृत आदर्शा को अपनाने के लिए पिपासा जग उठी थी। जरथुश्त्र के अनुयायियों की यह आशातीत वृद्धि देखकर ईरान के निरकुश शासक कुढ गए। उन्होंने बेक्ट्रिया आदि से ज़रथुश्त्र के मत के विनाश के लिए युद्ध ठान दिया। किंतु सत्य का पक्ष सदैव विजयी होता है। कालान्तर मे सारे ईरान को विवश होकर ज़रथुश्त्र के मत को स्वीकार करना पडा। अपने जीवनकाल ही मे जन्मभूमि ईरान मे अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा होते देख जरथुश्त्र अपनी सफलता पर गद्‌गद हो गया। सम्राट् अशोक ने जिस तरह बाद मे बौद्ध धर्म के प्रचार मे उत्साह-पूर्वक भाग लिया था, उसी तरह इन ईरानी सम्राटों ने भी जरथुश्त्र के उपदेशों का देश के कोने-कोने मे प्रचार करने मे कोई कसर न उठा रक्खी। कई वर्षा तक इस तरह मानव-धर्म की प्रतिष्ठा करते रहने के पश्चात् ईरान का यह 'स्वर्णिम प्रकाश-पुज' अत मे कहीं अन्यत्र उगने के लिए विलुप्त हो गया।

प्राचीन ईरान का यह धर्म-सस्थापक कब हुआ इसके सबध मे इतिहास-कारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। पाश्चात्य विद्वान् आम तौर पर जरथुश्त्र की तिथि १००० ई० पू० मानते हैं। अनेक प्राचीन ग्रीक लेखको ने तो जरथुश्त्र को ईस्वी पूर्व कई हजार वर्ष पूर्व का माना है। कुछ भी हो इसमे सदेह नही कि ससार के इतिहास मे जर-थुश्त्र और उनके धर्मग्रथों का नाम बहुत प्राचीन है। यह कहा जा सकता है कि ये उतने ही प्राचीन हैं जितने कि ऋग्वेद के ऋषि और ऋचाएँ। काल की लीला के फल-स्वरूप जरथुश्त्र का मत बौद्ध धर्म की भाँति अपनी जन्मभूमि से निर्वासित होकर आज दिन केवल भारत मे आ बसे कुछ लाख पारसियो मे ही बचा रह गया है। पश्चिमी एशिया मे जब इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ तब उसकी आँधी के सामने न ठहर सकने के कारण अधिकाश ईरानवासी भी मुसलमान हो गए। केवल कुछ धर्मव्रती ईरानी अपने धर्म की रक्षा के लिए स्वदेश से निर्वासन स्वीकार कर भारत-भूमि मे आ बसे। यह लगभग १००० वर्ष पूर्व की घटना थी। उन्ही की सतान, जो पारसी कहलाते हैं, आज इस देश मे जरथुश्त्र के पुरातन पुनीत धर्म के प्रदीप को जीवित रखे हुए हैं। पश्चिमी भारत मे उदवाडा नामक स्थान मे इनका प्रधान देवालय है, जहाँ उनके द्वारा पूजी जाने-वाली पवित्र अग्नि स्थापित है।

ज़रथुश्त्र

प्राचीन ईरान और भारत की सस्कृति मे बडी समानता है, यह बात दोनो सस्कृतियो के साहित्य के अध्ययन के पश्चात् स्पष्ट हो जाती है। एशिया के मध्य भाग से जब आदि आर्यो ने दक्षिण की तरफ कूच करना शुरू किया था तब ईरान की सीमा पर आते-आते उनके दो विभाग हो गए। एक धारा ईरान की ओर बह चली, दूसरी ने भारत की शस्य श्यामला भूमि की ओर प्रयाण किया। देश-काल के प्रभावों के अनुसार यद्यपि ईरानी और भारतीय सस्कृतियो मे कुछ अन्तर पड गया है, किंतु वस्तुतः दोनो सभ्यताओ का मूल स्रोत एक ही है। प्राचीन भारतीय आर्यो की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की चातुर्वर्ण्य योजना से मिलती-जुलती वर्ण-व्यवस्था ईरा-नियो की धार्मिक व्यवस्था मे भी पाई गई है, जो क्रमशः 'अथ्रवन', 'रथेष्टार', 'वास्ट्र्योश' तथा 'हुतोक्ष' शब्दों से परिलक्षित होती है। वे भी अग्नि, जल, वायु, इंद्र आदि देवताओ के पूजक थे। उनकी भाषा वैदिक सस्कृत से बहुत-कुछ मिलती है। उनका धर्म 'यस्न' नामक ग्रथ-सग्रह मे लेखबद्ध है। इसके ७२ 'हास' या भाग है। इन्ही मे जरथुश्त्र की 'गाथा' हैं, जो पाँच हैं—अहुनवैती, उष्तवैती, स्पेन्तामैन्यु, योहू-क्षत्र और वहिश्तोइश्ती। इन्ही पाँच ग्रथों मे ज़रथुश्त्र की सारी शिक्षा भरी हुई है। जैसी झाँकी ऋग्वेद की ऋचाओं मे दीखती है वैसी ही कही-कही 'अवेस्ता' (ईरानियो के सबसे महत्त्व-पूर्ण धार्मिक ग्रथ) मे भी मिलती है। परम पिता को उसमे 'अहुर' की संज्ञा प्रदान की गई है। तात्पर्य यह कि भारत के

धर्म मे पाई जानेवाली मुख्य-मुख्य विशेषताओं का प्रयोग प्राचीन ईरानी धर्म-व्यवस्था में भी होता था।

हम ईरानी धर्म की बारीकियों में जान-बूझकर नही घुसना चाहते। यह हमारा लक्ष्य नहीं। मोटे रूप में हम आपके सम्मुख उसके सिद्धान्तों मे छिपे तत्त्व को ही सक्षेप म प्रकट कर देना चाहते हैं।

यह हम लिख चुके हैं कि जरथुश्त्र का ईरान 'अद्वैत' का अनुयायी था। हमारे 'निर्गुण' की कल्पना उनके इस अद्वैत मे भली भॉति स्पष्ट है। यद्यपि 'अहुर मजदा' के साथ ईश्वर के छः अन्य रूपों की भी कल्पना है, किंतु वे 'एक' ही के भिन्न रूप हैं, यह भी स्पष्ट है। सत शक्तियॉ देवी गुणों की सम्यक् प्रतीक हैं। जरथुश्त्र ने ससार की उत्पत्ति इन्ही शक्तियों द्वारा स्वीकार की है। 'अग्नि' (आतर) की पूजा ईरानियों में सबसे अधिक पवित्र मानी गई है। सभवत. ज्ञान के प्रकाश का प्रतीक मानकर अग्नि की पूजा को महत्त्व प्रदान किया गया हो।

ईरानियों की प्राचीन धार्मिक पुस्तकों में कहीं-कहीं बड़ा सुन्दर और मनोरजक दार्शनिक विवेचन मिलता है। 'गाथा अहुनवैती' इसी तरह की एक धार्मिक पुस्तक है, जिसमे सत (good) तथा असत् (evil) का गभीर विवेचन किया गया है। जरथुश्त्र के दार्शनिक सिद्धान्त मुख्यतः इसी मे सकलित हैं। सत्-असत् का विवेचन करते हुए यह बताया गया है कि जीवन मे इन दोनों परस्पर-विरोधी शक्तियों का क्या महत्त्व है। एक से दूसरे का ज्ञान सभव है। असत् की उपस्थिति से ही सत् का मूल्य है। और यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो यह स्पष्ट होते देर न लगेगी कि परस्पर विरोधी वस्तुओं से ही किसी वस्तु का मूल्याकन उचित रीति से हो सकता है। मृत्यु एक भयानक सत्य है, इसीलिए जीवन की लालसा अधिक जागरूक है। फल के क्षणिक सौन्दर्य की भावना मे ही उसके उपयोग कर लेने की सार्थकता निहित है। अभावो से ही प्राय भावो की सृष्टि होती है। जीवन मे सुख जितना सत्य है, दुःख उससे कम सत्य नही। वस्तुऍ क्षणिक हैं, इसीलिए वे आनदप्रद भी हैं, अन्यथा अपरिवर्त्तनशीलता तो थका देनेवाली चीज है। जरथुश्त्र ने इस महान् सत्य को बखूबी समझा था। साख्य के 'पुरुष' और 'प्रकृति' की तरह उन्होंने ससार के विकास के लिए सत् और असत् की विद्यमानता आवश्यक समझी। ज़रथुश्त्र के अनुसार भावों की तरह अभाव भी जीवन मे उतने ही वास्तविक हैं, जितने कि भाव।

भारत के प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने ईश्वर-प्राप्ति के तीन प्रमुख साधन बताए हैं—एक ज्ञान द्वारा, दूसरा भक्ति द्वारा और तीसरा कर्म द्वारा। इन सबमे निष्काम भाव की प्रधानता पर जोर दिया गया है। इन तीन मे से जरथुश्त्र ने कर्म का मार्ग अपने लिए चुना और उसे गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' मे निहित सिद्धान्त की ठोस नींव पर आश्रित कर दिया। निःस्वार्थ सेवा, परोपकार, दया, प्रेम, त्याग, उदारता आदि दैवी गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। मुसीबत मे पीड़ित की सहायता से बढकर दूसरा पुण्य-कार्य नहीं हो सकता। परस्पर सहानुभूति की भावना मानवता के विकास के लिए सबसे महान् साधन है।

जीवन के इन आदर्शों का मन, वचन और कर्म से सचाई के साथ पालन करना प्रत्येक के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। सत्य-भाषण और सत्य आचरण की समता दुनिया का कोई ऐश्वर्य नहीं कर सकता। किंतु जहॉ सत्य-भाषण पर इस तरह का जोर दिया गया है, वहॉ कटु सत्य का निषेध भी है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मधुर असत्य का प्रयोग क्षम्य है। ठीक इसी तरह के विचार मनु-स्मृति मे भी पाए जाते हैं। भावों की यह एकरूपता कैसे सभव हो सकी, यह विवादग्रस्त उलझन है। किंतु ये वही महान् सत्य हैं, जिनका अनुभव सभी स्थानों मे महापुरुषों द्वारा सभव हुआ।

'हुवर्ष्ट' जरथुश्त्र के धर्म में भारतीय कर्मयोग का रूपान्तर है। एक वाक्य में इसका सार अकित किया जा सकता है—सुख का उद्गम वहीं है जहॉ से मनुष्य की सहानुभूति का स्रोत अन्य के लिए उमड़ पड़ता है।

आज यद्यपि समय के फेर मे पड़कर ईरान ने अपनी प्राचीन पुनीत एव स्वर्गीय सभ्यता को भुलाकर घोर भौतिकता का चोगा धारण कर लिया है, तथापि उसे अपने प्राचीन आध्यात्मिक उत्कर्ष पर गर्व है। विश्व की महान् आत्माओं मे जरथुश्त्र की भी अपनी विशेषता है। भारत के कुछ लाख पारसी ही आज पृथ्वी पर इस महान शिक्षक के अनुयायियों के रूप में बचे रह गए हैं, परतु किसी भी महापुरुष की महानता उसके अनुयायियों की सख्या से तो नहीं ऑकी जा सकती।
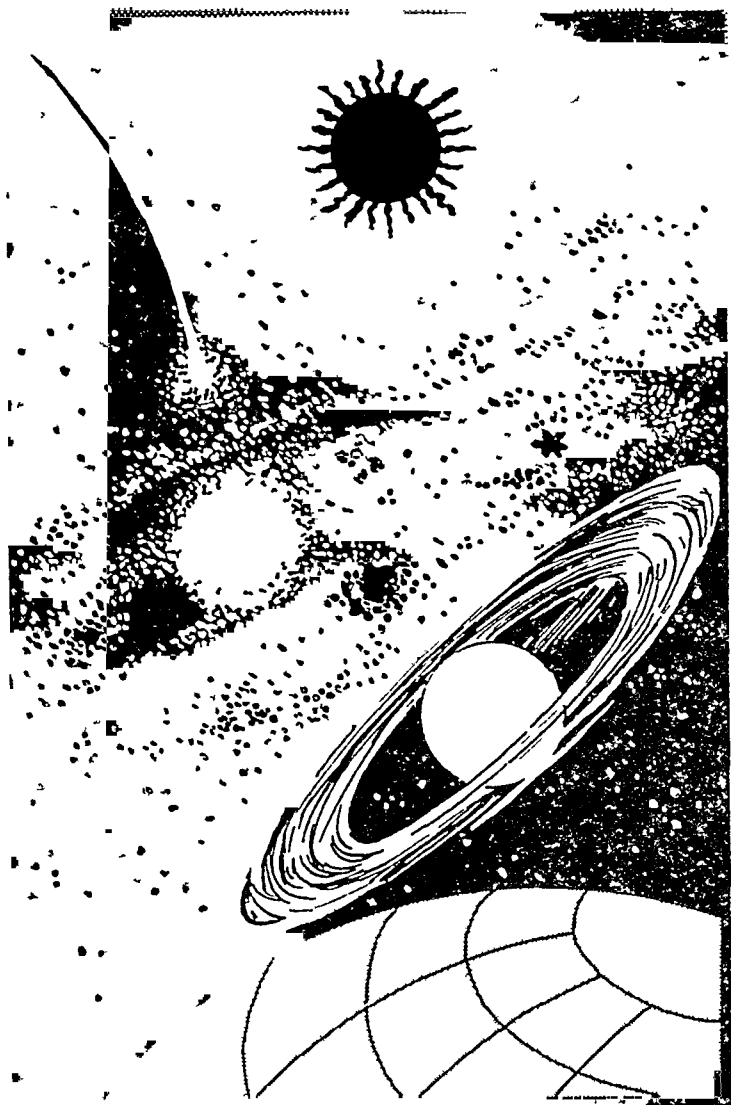
विश्व की कहानी

अपने:एक उपग्रह से बृहस्पति का दृश्य

यह चित्र काल्पनिक है। बृहस्पति के विशाल बिम्ब की आड में सफ़ेद और काली गेंद जैसी जो आकृतियाँ हैं वे उसके सामने से होकर गुज़रते हुए दो उपग्रहों को सूचित करती हैं। सफ़ेद आकृति के समीप ही बाईं ओर दिखाई दे रहा काला बिंदु उक्त उपग्रह की बृहस्पति पर पड रही छाया को सूचित करता है।

बृहस्पति

सूर्य को छोडकर बृहस्पति सौर परिवार का सबसे बडा सदस्य है। इसकी कक्षा मंगल और अवान्तर ग्रहों की कक्षाओं से बाहर पडती है। आइए, इस लेख मे इस महत्त्वपूर्ण ग्रह से परिचय प्राप्त करें।

बृहस्पति अन्य सब ग्रहों से बडा है, तो भी अधिक दूरी के कारण साधारणतः यह शुक्र से कुछ कम ही चमकीला दिखलाई पडता है। एक बार इसको देख लेने पर इसकी पहचान पीछे आसानी से की जा सकती है, क्योंकि यह तारो से अधिक चमकीला है। शुक्र और इस ग्रह मे अतर यह है कि शुक्र क्षितिज से केवल थोडी ही ऊँचाई पर और सध्या समय पश्चिम मे या सवेरे पूरब मे दिखलाई पडता है, परतु बृहस्पति क्षितिज से किसी भी ऊँचाई पर रह सकता है और अर्धरात्रि मे भी क्षितिज के ऊपर दिखलाई पड़ सकता है। बृहस्पति की चमक प्रायः सदा एक समान रहती है। कारण यह है कि पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी बृहस्पति और सूर्य के बीच की दूरी की अपेक्षा बहुत कम है। मोटे हिसाब से हम यह मान सकते हैं कि हम सूर्य से बिल्कुल सटकर खडे हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बृहस्पति का केवल वही गोलार्ध हमें दिखलाई पडता है जिस पर सूर्य का प्रकाश पडता है। अर्थात् बृहस्पति का बिम्ब हमे प्रायः सदा पूर्णिमा के चंद्रमा के समान दिखलाई पडता है—इसमे हमें कलाएँ प्रायः नही दिखलाई पडतीं। फिर बृहस्पति सूर्य के चारों ओर प्रायः गोल कक्षा मे चलता है और मोटे हिसाब से पृथ्वी सूर्य के पास ही रहती है। इसलिए पृथ्वी से बृहस्पति की दूरी भी बहुत कम ही घटती-बढती है। इन दोनों कारणों से बृहस्पति की चमक मे उतना घटाव-बढाव नही होता जितना मगल या शुक्र की चमक मे।

बृहस्पति का एक फ़ोटो
तीर के निशान से बृहत् रक्त चिह्न दिखाया गया है। यह फोटो पराकासनी किरणों द्वारा लिया गया है। (फो०—'लिक वेधशाला'।)

नाप और दूरी

बृहस्पति अन्य ग्रहों से बहुत बडा है। जब इसकी उपमा नारगी से दी गई थी तो अन्य ग्रहों को उपमा राई, मटर और लीची से देनी पड़ी थी (देखो पृष्ठ ६६०)। केवल शनि ही बृहस्पति के आगे कुछ-कुछ बराबरी का दावा रख सकता है। बृहस्पति के बडे आकार का एक सिद्धात यह है कि हमारे सौर जगत् की उत्पत्ति हमारे सूर्य के निकट किसी अन्य सूर्य के आ जाने से हुई। आरभ मे केवल हमारा सूर्य ही रहा होगा, पृथ्वी और अन्य ग्रह न रहे होंगे। परंतु हमारा सूर्य और इसी के समान वे अन्य सूर्य जो हमें महान् दूरी

उपरोक्त सिद्धात का समर्थन होता है। इस सिद्धात से बृहस्पति के बडे होने का कारण अच्छी तरह समझ मे आ जाता है।

जैसे पृथ्वी नारगी के समान कुछ चिपटी है उसी प्रकार बृहस्पति भी चिपटा है, अतर यही है कि पृथ्वी बहुत कम चिपटी है और बृहस्पति अपेक्षाकृत बहुत अधिक। पृथ्वी का ध्रुवोंवाला व्यास भूमध्य रेखावाले व्यास की अपेक्षा कुल ⅓ प्रतिशत ही छोटा है, परतु बृहस्पति का ध्रुवोवाला व्यास दूसरे व्यास से लगभग ६ प्रतिशत छोटा है। यदि हम पृथ्वी का चित्र पैमाने के अनुसार बनावे तो पृथ्वी के चिपटेपन का पता हमे न चलेगा, परतु बृहस्पति का चिपटापन प्रत्येक फोटोग्राफ और पैमाने के अनुसार बने नक्शे मे प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। कारण यह है कि बृहस्पति का व्यास पृथ्वी के व्यास की अपेक्षा लगभग दस गुना होते हुए भी बृहस्पति अपनी धुरी पर केवल दस घटे मे ही घूम लेता है। निस्सदेह स्थूलकाय होने पर भी द्रुत गति से नाचने के कारण ही बृहस्पति इतना चिपटा हो गया होगा।
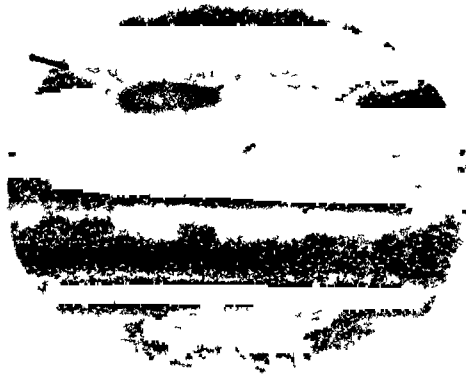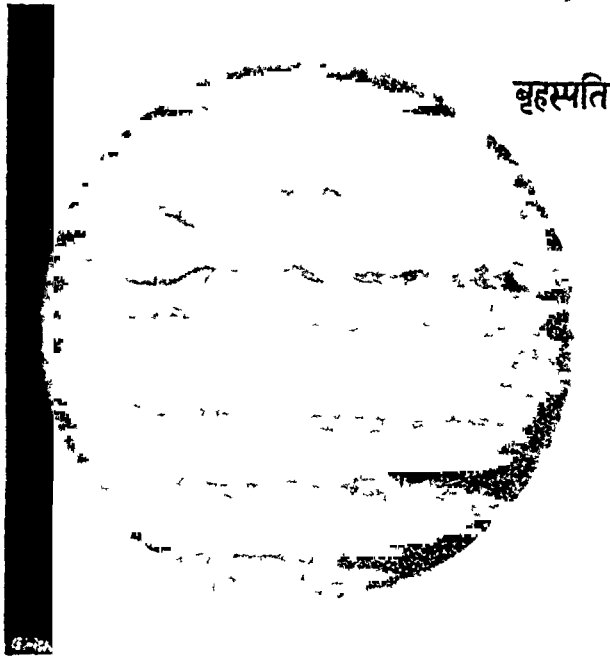
बृहस्पति और पृथ्वी के आकार की तुलना

बृहस्पति का व्यास ८७००० मील है अर्थात् पृथ्वी के व्यास से लगभग दस गुना है।

के कारण तारे की तरह दिखलाई पडते हैं सदा चलते रहते हैं। किसी सुदूर काल मे सयोगवश कोई अज्ञात सूर्य हमारे सूर्य के पास से निकल गया होगा। उस अज्ञात सूर्य के भीषण आकर्षण के कारण हमारे सूर्य मे भयानक तरगे उठी होगी, ठीक उसी प्रकार जैसे चद्रमा के कारण हमारी पृथ्वी के समुद्रो मे ज्वार-भाटा उठा करता है। हमारे सूर्य पर जब तरगे उठी होगी तो उसका एक अश छटक गया होगा, ठीक उसी तरह जैसे जब समुद्र मे कोई बड़ी लहर उठती है तो बहुत-सा जल छटक जाता है। छटका हुआ सूर्य का यह अश गोल न होकर गुल्ली की तरह लबा हो गया होगा, क्योंकि एक ओर से हमारे सूर्य के, और दूसरी ओर से अज्ञात सूर्य के आकर्षण ने इसको तान डाला होगा। अज्ञात सूर्य के निकल जाने पर हमारे सूर्य से निकला लबा अश छिन्न-भिन्न हो गया होगा, ठीक उसी प्रकार जैसे लहरो से छटका पानी अत मे छींटो के रूप मे बँट जाता है। स्वभावत. जब सूर्य से निकला गुल्ली के रूपवाला अश टूटा होगा तो इसके मध्य भाग बडे रहे होंगे। अनुमान किया जाता है कि ये ही मध्यवाले भाग बृहस्पति और शनि हुए होगे। ओर-छोर पर स्थित द्रव्य से बुध और प्लूटो उत्पन्न हुए होगे। ओर-छोर के समीपवाले भागो से शुक्र और नेपच्यून उत्पन्न हुए होंगे, इत्यादि। यदि ग्रहो की नापो पर ध्यान दिया जाय तो

सूर्य के चारो ओर एक बार चलने मे बृहस्पति को लगभग १२ वर्ष का समय लगता है। सूर्य से बृहस्पति की मध्यम दूरी लगभग ४८,३३,००,००० मील है।

दूरदर्शक से देखने पर

दूरदर्शक से देखने पर बृहस्पति के चिपटे बिम्ब पर हलकी समानान्तर धारियाँ दिखलाई पडती हैं, जैसा इस लेख मे दिये गये फोटोग्राफो से स्पष्ट है। ये धारियाँ बृहस्पति की भूमध्यरेखा के समानान्तर रहती हैं। धारियाँ बृहस्पति की कोई स्थायी अग नहीं हैं, क्योंकि उनकी चौडाई और सख्या घटा-बढा करती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बृहस्पति बादलो से ढका रहता है और धारियाँ या तो बादलो के बीच के स्वच्छ स्थान हैं या गाढे रग के बादल

हैं। कभी-कभी केवल दो ही चौड़ी-चौड़ी धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं, कभी-कभी आठ-दस तक पतली-पतली धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं। कभी-कभी उनका रूप देखते-देखते बदल जाता है, तब ऐसा जान पड़ता है, जैसे बृहस्पति पर प्रचंड आँधी आई हो। परंतु कभी-कभी धारियों का रूप महीने-दो महीने तक एक सा ही रह जाता है। बृहस्पति का रंग कुछ-कुछ गुलाबी लिये पीला रहता है और धारियाँ मटमैली दिखलाई पड़ती हैं। कभी-कभी वे कुछ ताँबे के रंग की जान पड़ती हैं।

बृहस्पति पर कभी-कभी धब्बे भी दिखलाई पड़ते हैं। ये धब्बे साधारणतः छोटे होते हैं, और कुछ ही दिनों तक टिकते हैं, परंतु एक बार ऐसा धब्बा दिखलाई पड़ा जो ७५ वर्ष तक दिखाई देता रहा। इसका नाम "बृहद् रक्त-चिह्न" (the Great Red Spot) रक्खा गया। बृहस्पति के दक्षिण भाग में यह चिह्न वर्षों तक स्पष्ट दिखलाई पड़ा, परंतु अब वह प्रायः मिट गया है। यह लगभग ३०,००० मील लंबा और ७,००० मील चौड़ा था। पृथ्वी से दूर-दर्शक द्वारा देखने पर यह परवल के आकार का और ईंट के रंग का दिखलाई पड़ता था। सन् १८७८ में यह स्पष्ट दिखलाई पड़ा और उस समय के ज्योतिषियों का ध्यान इसकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। इसका इतना बड़ा होना, इसका चटक रंग और इसका बराबर एक समान रह जाना बड़े मार्के की बातें थीं। चार वर्ष बाद इसका रंग फीका पड़ने लगा, परंतु आकार छोटा न हुआ। पीछे यह इतना फीका हो गया कि केवल बहुत ध्यान देने से इसके रहने का आभास होता था।

बृहस्पति पर कभी-कभी सफेद धब्बे भी दिखलाई पड़ते हैं।

अक्षभ्रमण

बृहस्पति अपनी धुरी पर बराबर घूमता रहता है और उसके एक बार घूमने में लगभग दस घंटे लगते हैं, परंतु ठीक समय नापना सरल नहीं है। बात यह है कि सूर्य की तरह बृहस्पति पर भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों का अक्षभ्रमण-काल भिन्न-भिन्न है। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी है कि बृहस्पति के चिह्न स्थायी नहीं हैं और भिन्न-भिन्न चिह्नों से अक्षभ्रमण-काल भिन्न-भिन्न निकलता है। बृहस्पति की भूमध्यरेखा के पास के धब्बे एक चक्कर लगभग ९ घंटे ५० मिनट २६ सेकंड में लगाते हैं। यह औसत मान है। कोई धब्बे इससे शीघ्र चलते हैं, कोई इससे धीरे। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के पासवाले धब्बे लगभग ५ मिनट अधिक समय लेते हैं। बृहद् रक्त-चिह्न भी सदा एक वेग से नहीं
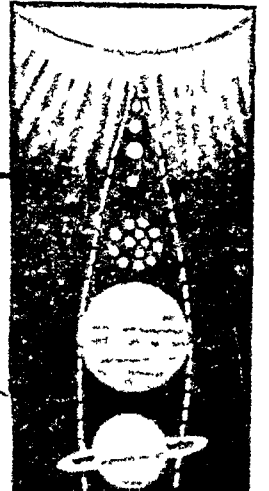
सौर परिवार की उत्पत्ति के संबंध में एक सिद्धान्त यह है कि सुदूर भूतकाल में जब हमारा सूर्य अकेला ही था, किसी अन्य अज्ञात सूर्य या नक्षत्र के हमारे सूर्य के समीप होकर निकलने से उसके आकर्षण के द्वारा एक लंबा-सा गुल्ली-नुमा अंश छटककर अलग हो गया था। उसी गुल्ली-नुमा अंश से छींटों की तरह टूट-टूटकर विभिन्न ग्रह बन गए। इन ग्रहों के आकार तथा विन्यास (दे० दाहिने कोने का चित्र) से उपरोक्त सिद्धान्त का समर्थन होता है।
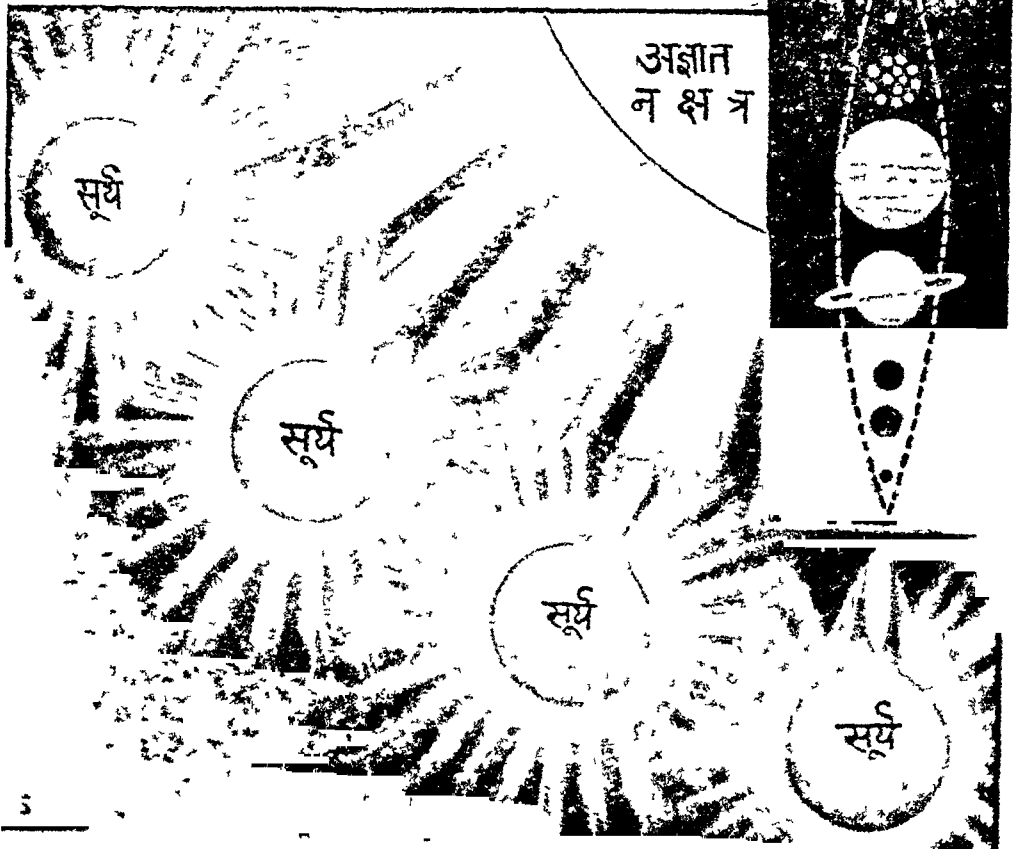
चलता था। समान वेग से चलने पर इसे जहाँ पहुँचना चाहिए था वहाँ से यह कभी बीस हजार मील आगे निकल जाता था या इतना ही पीछे छूट जाता था। जिस मार्ग पर लाल चिह्न चलता था, उसी पर एक बार एक छोटा काला चिह्न भी चलता हुआ दिखलाई पड़ा था। यह लाल चिह्न से अधिक शीघ्रगामी था। जिस समय यह देखा गया था, उस समय यह लाल चिह्न के पीछे था। ज्योतिषियों ने पहले सोचा था कि काला चिह्न लाल के ऊपर से या नीचे से होकर निकलेगा, जिससे पता चल जायगा कि लाल चिह्न अन्य चिह्नों से ऊँचा है या नीचा। परंतु काला चिह्न अपने मार्ग से विचलित हो लाल चिह्न की बगल से होकर निकल गया। फिर, १९०१ से लेकर कई वर्षों तक लाल चिह्न के दक्षिण की ओर एक साँवले रंग का विस्तृत धब्बा दिखलाई पड़ता रहा। यह भी लाल चिह्न से अधिक शीघ्रगामी था, इसका वेग लाल चिह्न की अपेक्षा १६ मील प्रति घंटा अधिक था। यह जब कभी लाल चिह्न तक पहुँचता था तो अपने मार्ग से हट, लाल चिह्न की बगल से होकर, आगे जाता था और फिर अपना सीधा रास्ता पकड़ लेता था। ऐसे अवसरों पर लाल चिह्न हजारों मील आगे घसीट जाता था और फिर जब साँवला चिह्न बहुत आगे बढ़ जाता था तो लाल चिह्न अपने स्थान पर लौट आता था।
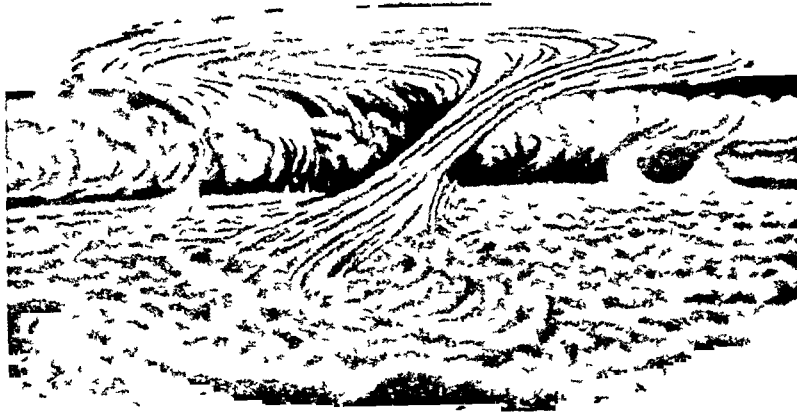
चिह्नों की गतियों से स्पष्ट है कि ये चिह्न बृहस्पति की ठोस सतह पर ठोस वस्तु नहीं हैं।

भीतरी बनावट

बृहस्पति का घनत्व अपेक्षाकृत बहुत कम है। यह पानी से थोड़ा ही भारी है। इसलिए लोगों का अनुमान था कि यह सूर्य के समान घनी गैसों से बना होगा। इसके बृहद् आकार से लोग अनुमान करते थे कि यह अभी काफी ठंढा न हो पाया होगा। इसका समर्थन वे इस बात से करते थे कि इसकी चमक मंगल आदि ग्रहों से अधिक है और इसलिए वे समझते थे कि अवश्य यह इतना गरम होगा कि उसमें निजी चमक भी होगी। परंतु पीछे के वेधों से पता चला कि ये अनुमान सब गलत हैं। बृहस्पति का तापक्रम नापा गया है। वह बेहद ठंढा है। उसकी अधिक चमक का केवल एक ही यह कारण हो सकता है कि बृहस्पति अत्यंत चमकीले बादलों से ढका है। वस्तुतः बृहस्पति इतना ठंढा है कि वहाँ पानीवाले बादल रह ही नहीं सकते। पानी स्वयं वहाँ नहीं रह सकता, जमकर बर्फ हो जायगा। इसलिए अनुमान किया जाता है कि वहाँ के बादल जमे हुए कारबन द्विओषिद् (कारबन डाइऑक्साइड) या इसी प्रकार की किसी अन्य गैस के होंगे। कारबन डाइऑक्साइड वही गैस है जो सोडावाटर की बोतल खोलने पर निकलती है और कलकत्ता, बंबई आदि बड़े शहरों में जमाकर 'ड्राइ आइस' (dry ice) अर्थात् सूखी बर्फ के नाम से बिकती है। वर्तमान ज्योतिषियों का अनुमान है कि बृहस्पति के बादल अवश्य ही किसी ऐसी गैस के होंगे जो लगभग कारबन डाइऑक्साइड के जमने के तापक्रम पर जम जाती है या तरल हो जाती है और जो ठंढक के थोड़ा-सा ही कम होने पर उबलने लगती है। एक सिद्धांत के अनुसार बृहस्पति का भीतरी भाग ठोस पाषाण है, ऊपर से बर्फ की गहरी तह है और सबसे ऊपर विस्तृत वायुमंडल है, जिसमें ऐसी गैसों के बादल हैं जो ठंढक पाकर अपेक्षाकृत अधिक सुगमता से जम जाती हैं या तरल हो जाती हैं। धारियाँ और धब्बे इन्हीं बादलों के भेद हैं। इस सिद्धांत से बृहस्पति का कम तापक्रम, कम

अनुमान किया जाता है कि 'बृहत् रक्त-चिह्न' बृहस्पति के घने वायुमण्डल को भेदकर उसके ऊपर उमड़ निकलनेवाले गैसीय तत्त्वों का ३० हजार मील लंबा और ७ हज़ार मील चौड़ा एक अंधड़ जैसा होगा जैसा कि चित्र में कल्पना की गई है।
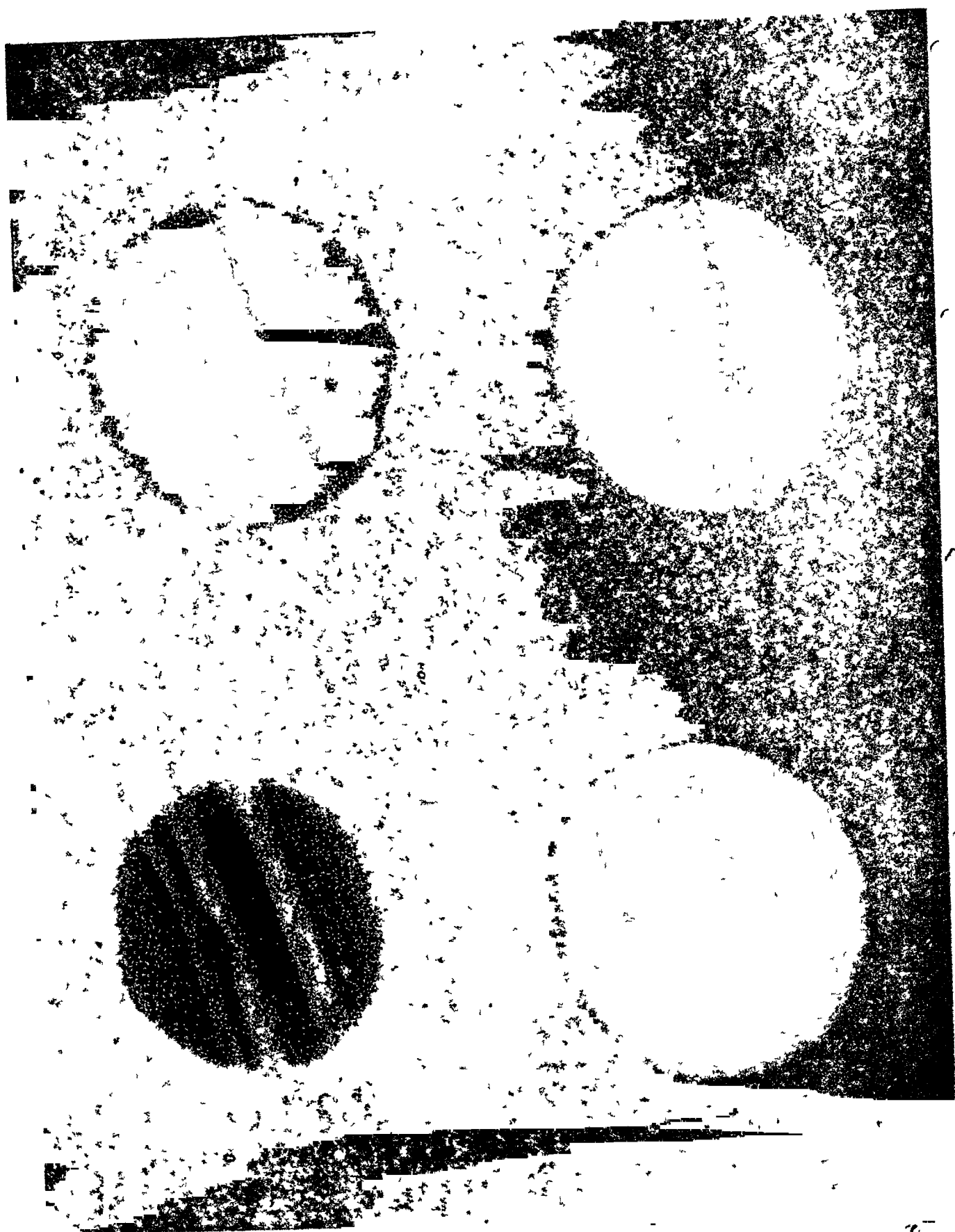
बृहस्पति के चार विभिन्न तिथियों के फोटो—काला गोल चिह्न एक उपग्रह की बृहस्पति पर पड़ रही छाया है। [फो०—'माउण्ट विलसन वेधशाला'।]

बृहस्पति के चार बड़े उपग्रहो के आकार की चद्रमा से तुलना
बाईं ओर सबसे पहला पिंड चंद्रमा का आकार सूचित करता है, शेष पिंड बृहस्पति के चार प्रधान उपग्रहों के हैं।

घनत्व, अधिक चमक आदि सभी ज्ञात बातें समझ में आ जाती हैं।

बृहस्पति सूर्य से इतना दूर है कि पृथ्वी की अपेक्षा वहाँ केवल ४ प्रतिशत ही गरमी पहुँच पाती होगी। वहाँ से सूर्य बहुत छोटा और विवर्ण दिखलाई पडता होगा।

उपग्रह

पृथ्वी के एक उपग्रह—चद्रमा—है, और मगल के दो। परतु बृहस्पति के चार बडे उपग्रह हैं और पॉच छोटे। इस प्रकार कुल मिलाकर बृहस्पति के ६ उपग्रह हैं। चार बडे उपग्रह वस्तुत. हमारे चद्रमा के बराबर या उससे कुछ बडे हैं, परतु दूरी अधिक होने के कारण कोरी ऑख से वे देखे नहीं जा सकते। वे दूरबीन से आसानी से देखे जा सकते हैं, चाहे दूरबीन छोटी ही क्यों न हो। तीक्ष्ण दृष्टि-वाले तो अनुकूल अवसरो पर कोरी ऑख से ही उपग्रहों के अस्तित्व का पता पा सके हैं। अनुकूल अवसर तब होता है जब तीसरे और चौथे उपग्रह प्राय. एक ही साथ रहते हैं और तीसरा उपग्रह बृहस्पति से महत्तम दूरी पर रहता है। ऐसी दशा मे दोनों उपग्रह मिलकर एक नन्हे-से तारे के समान देखे जा सके हैं। कभी-कभी चार उपग्रह कोरी ऑख से दो उपग्रह के समान भी देखे गए हैं। रूसी यात्री रैंगल ने लिखा है कि उनसे एक शिकारी से मुलाक़ात हुई थी जिसने बृहस्पति को दिखलाकर बतलाया कि मैंने अभी उस बडे तारे को एक दूसरे छोटे तारे को निगलते देखा और थोडे समय बाद उसने उस तारे को दूसरी ओर उगल भी दिया।

बृहस्पति के समीपवाले उपग्रह को प्रथम उपग्रह कहते है, इसके बादवाले को द्वितीय उपग्रह। फिर तृतीय उपग्रह की पारी आती है। यही सबसे बडा है।

बृहस्पति बहुत बडा है और प्रथम तीन उपग्रहों की कक्षाऍ बहुत तिरछी नहीं हैं। इसलिए प्रत्येक चक्कर मे ये उपग्रह बृहस्पति की छाया मे पड जाते हैं। इस प्रकार इन उपग्रहों का ग्रहण प्रत्येक चक्कर मे एक बार लगता है। केवल चौथा उपग्रह कभी-कभी बच जाता है। उपग्रहों की अधिक सख्या और उनमे प्राय. प्रत्येक बार ग्रहण लगने के कारण बृहस्पति पर खूब ग्रहण दिखलाई पड़ते होगे। गणना से पता चलता है कि बृहस्पति पर वहाँ के एक वर्ष मे सूर्य और चार चद्रमाओं के ग्रहणो की सख्या ४५०० से कम न होगी।

जब कोई उपग्रह बृहस्पति और हमारे बीच मे आ जाता है, तब उसकी परछाईं बृहस्पति के बिंब पर स्पष्ट पडती है। उपग्रह स्वय इतना स्पष्ट नहीं दिखलाई पडता, क्योंकि उपग्रहो और बृहस्पति की चमको मे बहुत अतर नहीं है, परतु उपग्रह की परछाईं काली दिखलाई पडती है। हॉ, यदि सूर्य ठीक हमारे पीछे हो तो परछाईं उपग्रह के ठीक पीछे पडेगी और इसलिए देखी न जा सकेगी।

जो उपग्रह बृहस्पति के सबसे अधिक निकट है, उसके सबध मे कुछ विचित्र बाते देखी गई हैं। कभी-कभी वह लबा दिखलाई पडता है और कभी-कभी दो बिंदु-सरीखा। इसका वास्तविक कारण अमेरिका के ज्योतिषी बारनार्ड ने बतलाया। उसने कहा कि इस उपग्रह का बिम्ब सर्वत्र एक रग का नहीं है। इसके ध्रुवप्रदेश सॉवले रग के हैं और कटिप्रदेश सफ़ेद रग का। जब यह उपग्रह बृहस्पति के सॉवले भाग के सामने पडता है तब उपग्रह के ध्रुवप्रदेश सॉवली ज़मीन मे मिलकर छिप जाते हैं। उस समय हमे उपग्रह का केवल कटिप्रदेश दिखलाई पडता है जो लबा है। इसलिए उस समय उपग्रह हमे लबा-सा दिखलाई पड़ता है। परतु जब उपग्रह बृहस्पति के सफ़ेद भाग के सामने रहता है, उस समय उपग्रह का कटिप्रदेश ज़मीन मे मिल

जाता है और इसलिए दिखलाई नहीं पडता। उस समय उपग्रह के ध्रुवप्रदेश ही, सॉवले होने के कारण, सफेद जमीन पर दो बिंदु-सरीखे दिखलाई पडते हैं। वस्तुतः यह उपग्रह भी औरो की तरह गोल है, केवल भ्रमवश कभी लबा और कभी दो बिंदु-सरीखा दिखलाई पडता है।

चार बडे उपग्रहो को पहले-पहल गैलीलियो ने देखा था। गैलीलियो ने ही दूरदर्शक का आविष्कार किया था। उसे दूरदर्शक से बृहस्पति के चार उपग्रह सहज ही मे दिखलाई पड गए। पॉचवे उपग्रह का पता बहुत वर्ष बाद बारनार्ड को लगा। यह इतना छोटा और बृहस्पति के इतना समीप है कि बहुत बडे दूरदर्शको मे ही, सो भी कठिनाई से, दिखलाई पडता है। शेष उपग्रह बृहस्पति से दूर हैं और इतने छोटे है कि उनका पता केवल फोटोग्राफी से लगता है। तेज प्लेट पर घटो का प्रकाश-दर्शन देने से उनके मद प्रकाश का एकत्रित प्रभाव बस इतना हो जाता है कि उनका चित्र विंदु-सरीखा उतर आए। इन उपग्रहो का पता इतनी कठिनाई से लगा है कि सभव है कि अधिक तेज़ प्लेट या बडे दूरदर्शक के बनने पर एक-दो अन्य उपग्रहो का भी पता चले।

बृहस्पति के दो अतिम उपग्रहो मे यह विशेषता है कि वे उलटी दिशा मे चलते हैं। ध्रुवतारा से देखने पर सब ग्रह और बृहस्पति के शेष सातो उपग्रह घडी की सुइयो की विपरीत दिशा मे घूमते दिखलाई पडेगे, परतु अतिम दोनो उपग्रह घडी की सुइयो की दिशा मे चलते दिखलाई पडेगे। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि ग्रह आदि हमारे सूर्य से ही निकले हैं, तब तो सब ग्रहो और उपग्रहो को एक ही दिशा मे चलना चाहिए था। इसलिए सदेह किया जाता है कि अतिम दो ग्रह सभवतः कोई अवातर ग्रह हैं जो बृहस्पति के आकर्षण से फॅस आए ह। और यदि बात ऐसी ही है तो प्रश्न उठता है कि क्या ये दो उपग्रह कभी बृहस्पति के आकर्षण से भागकर निकल भी सकते है? केवल गणित ही इन प्रश्नो का उत्तर दे सकता है, परतु ठीक हिसाब लगाना कठिन है। जहॉ तक पता चलता है, इस बात का डर नही जान पडता कि ये उपग्रह निकल भागेगे।

उपग्रहो के हज़ारो ग्रहणो के वेध और सूक्ष्म गणना से पता चला है कि बृहस्पति का आकार स्थायी नही है। वह अपने मध्यम आकार से कभी १०० मील तक छोटा, कभी बडा हो जाता है।
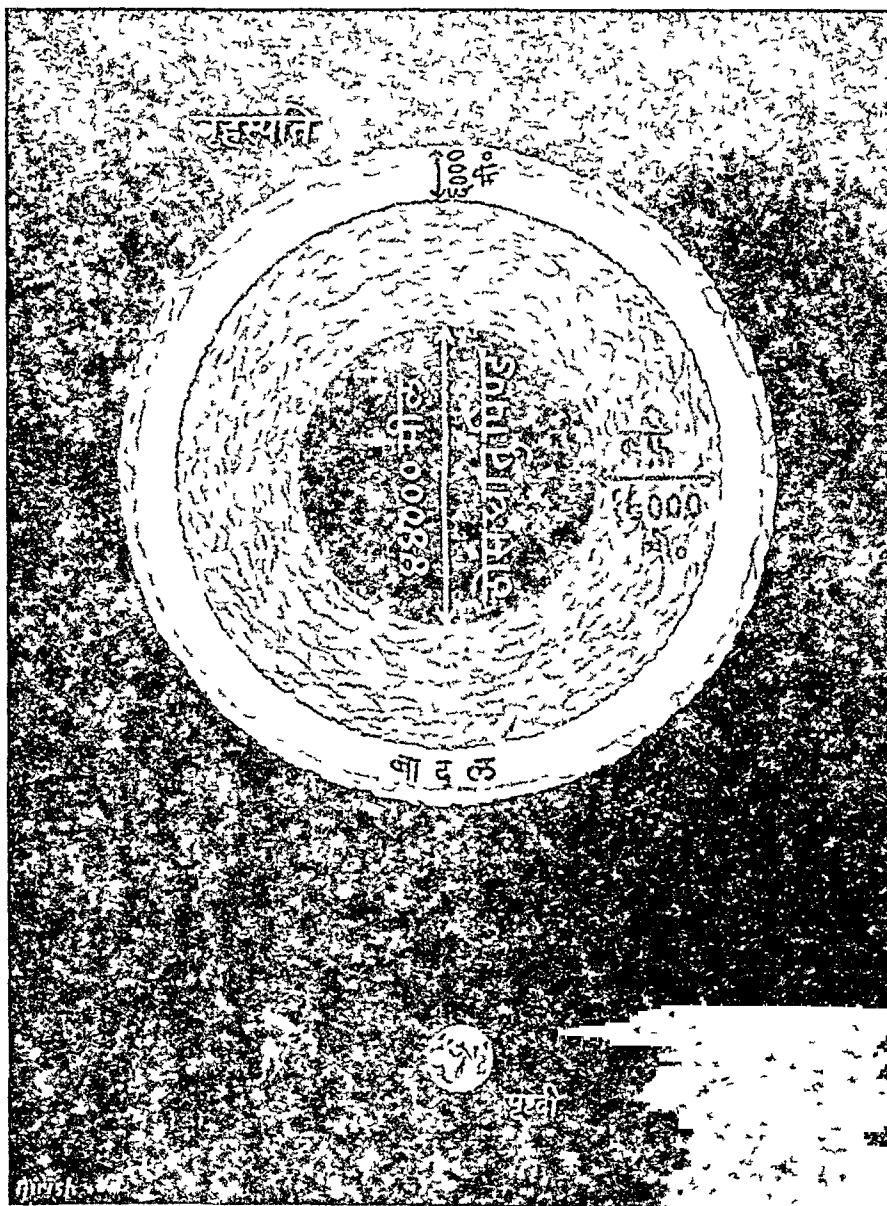
बृहस्पति की बनावट

बृहस्पति को बीच में से नारंगी की तरह काटकर उसकी भीतरी रचना समझाई गई है। तुलना के लिए उसी पैमाने पर पृथ्वी भी दी गई है।
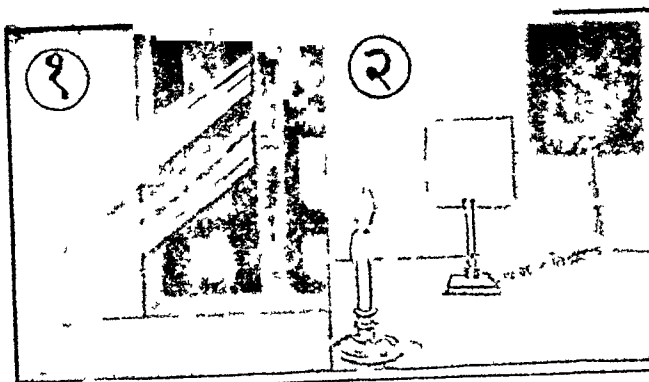
१—बंद खिडकी या दरवाज़े की दरार से जब अँधेरे कमरे मे सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं तो धूलिकणो के कारण चमकता हुआ उनका सीधी रेखावाला मार्ग एकदम स्पष्ट दिखलाई पडता है।

२—किसी भी दीपक की आड मे किसी वस्तु को रखने पर उसकी छाया उसी आकार की पडती है, जो उस वस्तु का होता है। चौकोर तख़्ती की छाया भी चौकोर पड रही है, यद्यपि वह परिवर्द्धित है।
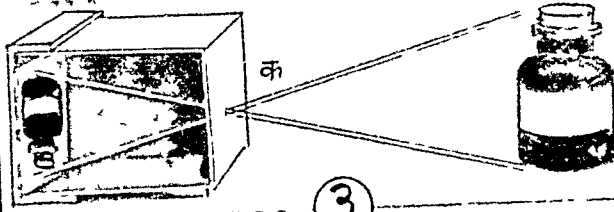
३—सूक्ष्मछिद्र केमरा। ऊपर क चित्र मे 'क' पर एक ही सूक्ष्म छिद्र है जिससे होकर सामने रक्खी दावात की उल्टी छाया केमरा के भीतर की दीवाल पर लगी प्लेट पर स्पष्ट पड़ रही है। नीचे के चित्र मे 'क' पर छिद्र चोडा है इसलिए छाया धुँधली पड रही है।
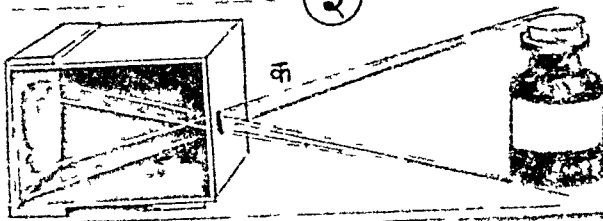
४—प्रात काल, दोपहर और शाम को सूर्य के कारण पडनेवाली छाया की विभिन्नता।
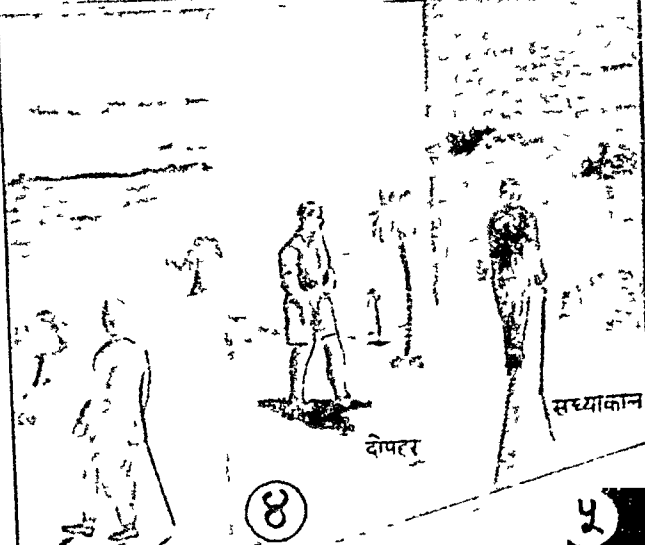
५—आलोक की तीव्रता दूरी के वर्ग के विलोम-नियम के अनुसार घटती है (दे० पृ० १४११ का मेटर)। 'क', 'ख', 'ग' क्रमश १, २, और ३ फ़ीट की दूरी के सूचक हैं।
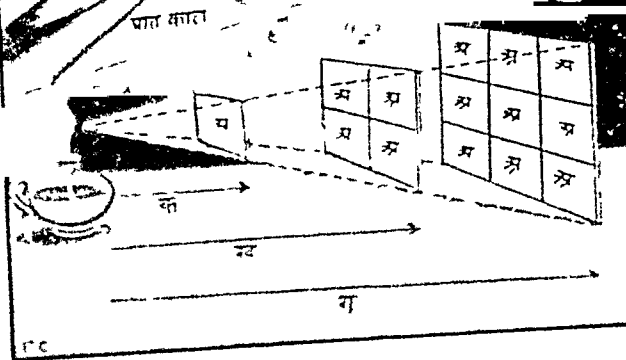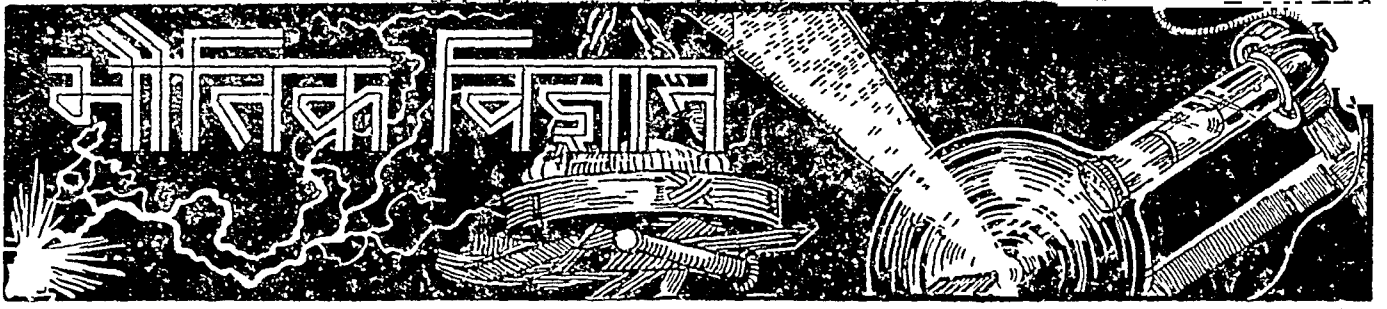
आलोक-रश्मियाँ

शक्ति के एक रूप 'ताप' का पिछले कुछ लेखो मे आपको परिचय दिया जा चुका है। इसके बाद अब हमारा ध्यान 'आलोक' की ओर जाता है। इस और आगे के कुछ लेखो मे हम भौतिक विज्ञान के इसी महत्त्व-पूर्ण विषय की जानकारी पाने की कोशिश करेंगे।

आज से हजारों वर्ष पूर्व भी लोग आलोक के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुए थ। आलोक है क्या ? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के प्रयत्न मे तरह-तरह के अनुमान तत्कालीन विद्वानो ने लगाए। लगभग २३०० वर्ष पूर्व सिकन्दरिया के महान् गणितज्ञ उक्लैदिस ने इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया। उसकी धारणा थी कि आलोक-रश्मियाँ हमारी आँखो से विकीर्ण होकर जब भिन्न-भिन्न वस्तुओ पर पडती हैं तभी ये वस्तुएँ हमे दृष्टि-गोचर होती हैं। उसका कहना था कि जिस प्रकार झींगुर आदि कतिपय कीडे-मकोडे अपने शरीर पर लगी हुई लम्बी-लम्बी पतली सूँड द्वारा छूकर अपने आस-पास की वस्तुओ की आहट पा लेते ह, ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी आँखो से विकीर्ण होनेवाली आलोक-रश्मियो द्वारा अपने आस-पास की चीजो को देखने मे समर्थ होता है।

इसके प्रतिकूल प्रसिद्ध दार्शनिक पाइथागोरस का ख्याल था कि प्रत्येक आलोकमय वस्तु से आलोक के नन्हे-नन्हे भौतिक कणो की बौछार प्रति क्षण हर दिशा मे निकलती रहती है। आलोक के ये कण जब हमारी आँखो मे प्रवेश करते है तब हमे उस वस्तु का, जहाँ से ये आलोक-कण आरम्भ मे चले थे, बोध होता है अर्थात् वह वस्तु हमे दिखलाई पडती है।

अरस्तू या अरिस्टॉटल
जिसका मत था कि आलोक एक विस्तृत माध्यम मे, जो सर्वत्र मौजूद है, तरंगो के रूप मे चारो ओर विकीर्ण होता है।

अरस्तू का मत था कि आलोक कोई भौतिक पदार्थ नही है, अतः भिन्न-भिन्न पदार्थो से चलकर आलोक के भौतिक कणो की बौछार हमारी आँखो मे पहुँचती है, यह ख़याल सर्वथा ग़लत है। अरस्तू का कहना था कि एक विस्तृत माध्यम मे, जो सर्वत्र मौजूद है, तरगो के रूप मे आलोक चारो ओर विकीर्ण होता है। निस्सन्देह यह कम आश्चर्य्य की बात नही है कि आज से २००० वर्ष पूर्व बिना किसी प्रयोगात्मक आधार के अरस्तू ने जो मत आलोक की वास्तविकता के बारे मे निर्धारित किया था, वह इस बीसवी शताब्दी मे प्रयोग की कसौटी पर कसे जाने पर एकदम सही उतरा। हम आलोक की प्रकृति के बारे मे आधुनिक मत की विवेचना किसी अगले अध्याय मे करेंगे, अभी तो हमे आलोक के साधारण गुणो का ही परिचय प्राप्त करना है।

बन्द खिड़की की दरार से सूर्य की किरणे जब अँधेरे कमरे मे प्रवेश करती है, तो उनका चमकता हुआ सीधी रेखावाला मार्ग एकदम स्पष्ट दिखलाई पडता है। वास्तव मे स्वय आलोक-रश्मियों को हम नही देख पाते।

किन्तु कमरे के अन्दर हवा मे उड़ते हुए सहस्रों धूलिकण आलोक-रश्मि के मार्ग मे आते ही चमकने लगते हैं—अतः आलोक-रश्मि का समूचा मार्ग ही आलोकित हो उठता है।

इस सम्बन्ध मे एक और प्रयोग किया जा सकता है। दफ्ती के कई टुकड़े लीजिए। प्रत्येक के बीच मे एक-एक बारीक छिद्र बना लीजिए। इन दफ्तियों को जलती हुई एक मोमबत्ती के सामने एक के पीछे दूसरी खड़ी कर दीजिए। यदि सभी दफ्तियों के छिद्र एक सीधी रेखा मे हुए तब तो आपको इनमे से होकर मोमबत्ती की लौ दिखलाई पड़ेगी अन्यथा नही। इन दोनो प्रयोगो से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आलोक का गमन केवल सीधी रेखाओ मे हो सकता है। सीधे मार्ग से ये तनिक भी इधर-उधर मुड नही सकती।

आलोक की इस विशेषता से लाभ उठाकर वैज्ञानिको ने फोटो उतारने का एक नितान्त सरल कैमरा भी तैयार किया है। इस कैमरे मे किसी लेन्स को फिट करने की आवश्यकता नही होती। इस बक्सनुमा कैमरे मे सामने की दीवाल मे सुई की नोक के बराबर एक सूराख होता है और इस छिद्र के पीछेवाली दीवाल मे एक खाँचा बना होता है। इसी खाँचे के रास्ते से फोटो की चेतनशील प्लेट को बक्स के अन्दर प्रवेश कराकर उसे दीवाल के समानान्तर खडी कर देते हैं। बाहर से आलोक-रश्मियाँ उसी नन्हे छिद्र के रास्ते कैमरे के अन्दर प्रवेश करती हैं और तब बाहर की वस्तुओ का उल्टा बिम्ब उस फोटो प्लेट पर पडता है। इस सूक्ष्म छिद्रवाले कैमरे के अन्दर प्रवेश करते समय ये आलोक-रश्मियाँ छिद्र पर ही एक-दूसरे को काटती हैं, अतः वे अपने उद्गमस्थान की वस्तुओ का उलटा बिम्ब प्लेट पर बनाती हैं। कैमरे के अन्दर प्लेट छिद्र से जितनी दूर होगी बिम्ब का आकार भी उतना ही बडा होगा। इस बात से भी यही सिद्ध होता है कि आलोक-रश्मियाँ सदैव सीधी रेखाओ मे ही चलती हैं।

सूक्ष्म छिद्रवाले कैमरे मे बिम्ब एकदम स्पष्ट उभरता है, उतना ही स्पष्ट जितना कि महँगे दाम के लेन्सयुक्त कैमरे के अन्दर। किन्तु लेन्सयुक्त कैमरे के अन्दर का बिम्ब अधिक आलोकमय होता है, क्योकि लेन्स का मुँह चौडा होने के कारण बाहर से प्रकाश की मात्रा भी अधिक परिमाण मे कैमरे के अन्दर पहुँचती है। छिद्रवाले कैमरे मे नन्हे छिद्र मे से होकर बहुत कम आलोक कैमरे के अन्दर प्रवेश कर पाता है।

आलोक-रश्मियाँ सदैव सीधी रेखाओं मे ही चलती हैं

इस चित्र मे जंगी जहाज़ो द्वारा सर्चलाइटों की रोशनी के प्रदर्शन का दृश्य है। भिन्न भिन्न सर्च-लाइटो से निकले हुए आलोक-रश्मि-पुंज आडे-तिरछे एक-दूसरे को काटते हुए आसमान मे एकदम सीधी दिशा मे जाते हुए दिखाई पड रहे हैं।
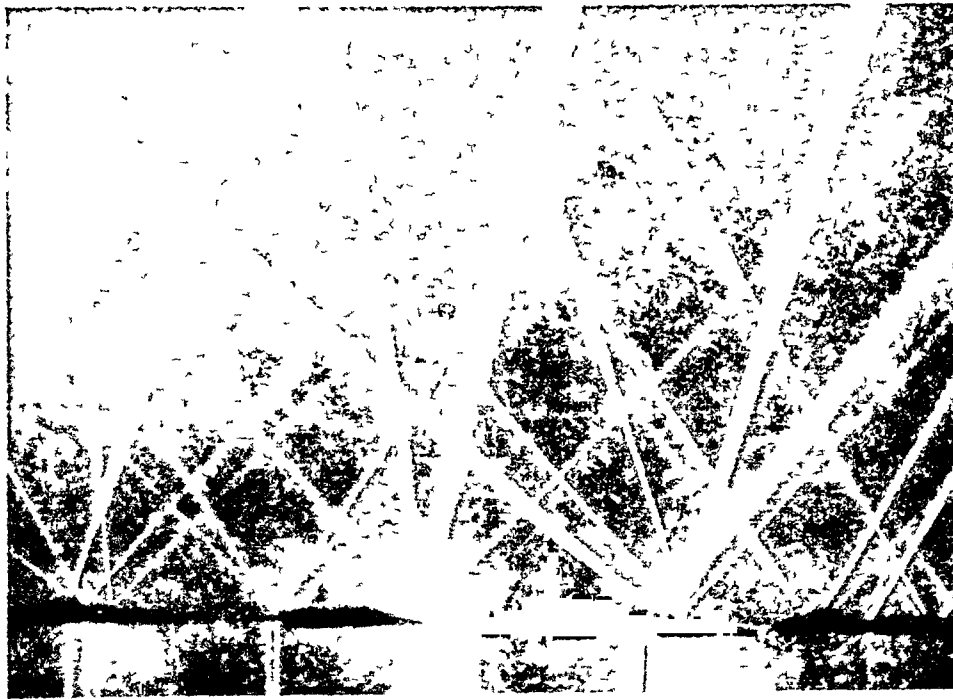
बिम्ब का आलोक बढ़ाने के उद्योग मे हम पहले छिद्र के पास ही यदि दूसरा छिद्र बना दे तो इस छिद्र के कारण भी एक दूसरा बिम्ब पहले बिम्ब पर ही उससे तनिक-सा एक ओर हटकर बनेगा। फलस्वरूप इस प्रकार बने बिम्ब मे पहले की अपेक्षा प्रकाश की मात्रा तो अधिक होगी, किन्तु वह उतना स्पष्ट न होगा। यदि छिद्रों की संख्या बढा दी जाय तो इनके योग से बने हुए बिम्ब मे आलोक

बढ जायगा, किन्तु उसी अनुपात मे उनकी स्पष्टता भी मारी जायगी। बडे आकारवाले सूराख को हम अनेक सूक्ष्म छिद्रो से बना हुआ मान सकते हैं। अतः ऐसे छिद्र द्वारा बना हुआ बिम्ब भी अस्पष्ट ही होगा। और यदि छिद्र का आकार काफी बडा हुआ तो बिम्ब इतना अधिक अस्पष्ट हो जायगा कि बिम्ब के स्थान पर प्रकाश का केवल एक हलका-सा धब्बा ही नज़र आएगा, चित्र नहीं।
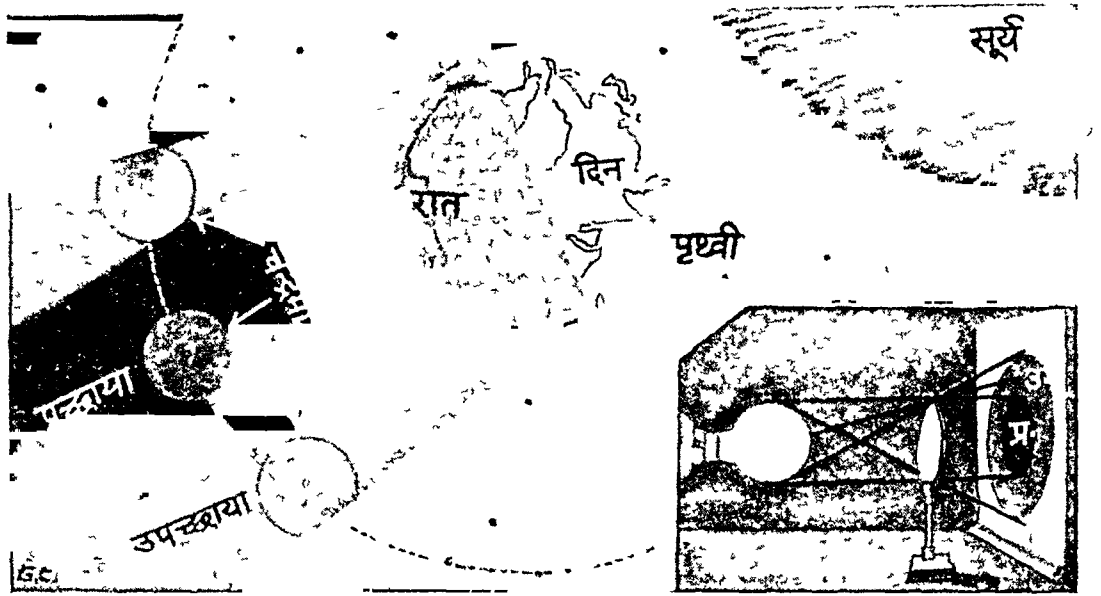
चंद्रग्रहण के समय पड़नेवाली पृथ्वी की 'प्रच्छाया' और 'उपच्छाया'

पूर्णिमा के दिन जब कभी चंद्रमा मौके से पृथ्वी के छायाकोण में प्रवेश करता है तभी चंद्रग्रहण होता है। 'प्रच्छाया' और 'उपच्छाया' का सिद्धान्त इसी चित्र के निचले कोने मे लैंप के सामने तख्ती रखकर किए जाने वाले प्रयोग द्वारा समझाया गया है।

लालटेन के सामने एक तख्ती खडी कर दीजिए—बस तख्ती की आड मे अँधेरा-ही-अँधेरा नज़र आएगा, क्योकि आलोक-रश्मियाँ मुडकर तख्ती की आड मे पडनेवाली जगह तक नही पहुँच सकती। फिर आपने ग़ौर किया होगा कि प्रातःकाल की धूप मे जमीन पर आपकी छाया बेहद लम्बी दिखलाई पडती है। ज्यो-ज्यो सूर्य आकाश मे ऊपर चढता जाता है, आपकी छाया भी छोटी पडती जाती है। सन्ध्या को सूर्य जब नीचे उतरता है, तब आपकी छाया पुनः लम्बी हो जाती है। प्रातःकाल की छाया पश्चिम की ओर और सन्ध्या को पूर्व दिशा मे पडती है। हर हालत मे आप देखेंगे कि छाया ठोस पदार्थ के पीछे तथा प्रकाशोत्पादक के दूसरी ओर ही पडती है।

यदि प्रकाशोत्पादक का आकार कुछ अधिक बडा नहीं हुआ तो इसके द्वारा प्रक्षालित छाया भी स्पष्ट और गहरी उभरती है और यह छाया एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक समान रूप से काली होती है। ऐसी छाया की सीमान्तक रेखाएँ भी स्पष्ट दीखती हैं।

इसके प्रतिकूल यदि प्रकाशोत्पादक का आकार बडा हुआ तो इसके द्वारा प्रक्षालित ठोस वस्तुओ की छाया का समूचा भाग न तो समान रूप से काला होगा और न उसकी सीमान्तक रेखाएँ ही स्पष्ट उभरेंगी। ऐसी छाया के मध्य-भाग मे प्रकाशोत्पादक के किसी अंग से भी आलोक नहीं पहुँचने पाता। फलस्वरूप छाया का यह भाग निपट काला होता है। इसे 'प्रच्छाया' के नाम से पुकारते है। प्रच्छाया के दोनों ओर छाया का वह भाग स्थित होता है जिसमे प्रकाशोत्पादक के समूचे अंग से तो नहीं, किन्तु उसके कुछ भाग से आलोक अवश्य पहुँचता है। अतः यह छाया उतनी गाढी नही होती जितनी प्रच्छाया। इसे 'उपच्छाया' (अर्द्धछाया) के नाम से पुकारते हैं।

चन्द्रमा और पृथ्वी दोनो ही सूर्य्य के प्रकाश से आलोकित होते हैं। अतः दोनो ही के पीछे लम्बी प्रच्छाया और उपच्छाया पडती हैं। पूर्णिमा के दिन जब चन्द्रमा पृथ्वी के छायाकोण मे प्रवेश करता है तो पूनो के चाँद पर पृथ्वी की काली छाया पडती है। फलस्वरूप चन्द्रमा का धरातल भी आंशिक या पूर्ण रूप से आलोकविहीन हो जाता है और हमे ग्रहण दिखाई पडता है। केवल पूर्णिमा की रात को ही चन्द्रग्रहण का लगना सम्भव हो सकता है और इस अवसर पर पृथ्वी के तमाम उस भाग मे जहाँ रात होगी, चन्द्रग्रहण दिखलाई पडेगा। कुछ ही घण्टो मे अपनी कक्षा पर परिभ्रमण करता हुआ चन्द्रमा जब इस छाया से बाहर निकल जाता है तो ग्रहण भी समाप्त हो जाता है—चन्द्रमा पुनः सूर्य्य के आलोक मे आ जाता है।

अमावस्या के दिन चन्द्रमा पृथ्वी और सूर्य्य के बीच आ जाता है, और तब चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ती

है। अपने भ्रमण-मार्ग पर ज्यों-ज्यों चन्द्रमा आगे बढ़ता है, यह छाया भी पृथ्वीतल पर तेजी के साथ आगे बढ़ती है। इस छायामार्ग में पृथ्वी के जो प्रान्त आते जाते हैं उन तक सूर्य्य का प्रकाश पहुँचने में असमर्थ होता है। अतएव इन स्थानों पर सूर्य्य का पूर्ण ग्रहण दिखलाई पड़ता है। इस प्रदेश के दोनों ओर कुछ दूर तक के प्रान्त चन्द्रमा की उपच्छाया में पड़ते हैं, इन स्थानों पर केवल आंशिक सूर्य्यग्रहण दिखाई देता है।

चन्द्रमा का परिभ्रमण-मार्ग दीर्घवृत्ताकार है। अतः कभी-कभी चन्द्रमा पृथ्वी से बहुत दूर भी चला जाता है। ऐसी दशा में सूर्य्य द्वारा प्रक्षालित अमावस्या के चन्द्रमा की छाया पृथ्वी तक पहुँच भी नहीं पाती। फलस्वरूप चन्द्रमा समूचे सूर्य्य को ढकने में असमर्थ होता है और हमें कुण्डलाकार सूर्य्य के दर्शन होते हैं। उस समय ऐसा मालूम पड़ता है मानो काले वृत्त के चारों ओर चाँदी का एक छल्ला चढ़ा दिया गया हो। जिस समय चन्द्रमा अपनी कक्षा में पृथ्वी से दूर स्थित होता है उस समय यह हमसे २५२६७० मील के फासले पर होता है। किन्तु इसकी छाया केवल २३८००० मील लम्बी होती है, अतः यह छाया पृथ्वी को छू नहीं पाती।

इस स्थान पर अवश्य ही प्रश्न उठता है कि हर पूर्णिमा और हर अमावस्या को क्रम से चन्द्र और सूर्य्य के ग्रहण क्यों नहीं लगते ? किन्तु ऐसा होना तभी सम्भव था जब कि पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों के परिभ्रमण-मार्ग का धरातल एक ही होता। वास्तव में ये दोनों ही भिन्न-भिन्न धरातल में भ्रमण करते हैं। जब कभी पूर्णिमा या अमावस्या के दिन चन्द्रमा का परिभ्रमण-मार्ग पृथ्वी की कक्षा के धरातल से होकर गुजरता है तभी चन्द्रग्रहण या सूर्य्यग्रहण के हमें दर्शन होते हैं।

आलोक-रश्मियाँ प्रकाशपिण्ड के किसी बिन्दु से ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, त्यों-त्यों उनके बीच की दूरी बढ़ती जाती है। वे फैलती जाती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कोण की भुजाएँ बढ़ाई जाने पर उत्तरोत्तर एक दूसरे से दूर हटती जाती हैं। इसका फल यह होता है कि किरणपुंज प्रकाशोत्पादक से ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उतने ही प्रकाश को अधिक क्षेत्रफलवाले धरातल को आलोकित करना पड़ता है। जैसा कि पृ० १४१६ के न० ५ चित्र से प्रगट है, प्रकाशोत्पादक से १ फुट की दूरी पर जितना प्रकाश धरातल 'अ' को आलोकित कर रहा है उतना ही प्रकाश २ फीट की दूरी पर रक्खे हुए दूसरे धरातल को आलोकित कर रहा है। किन्तु इस दूसरे
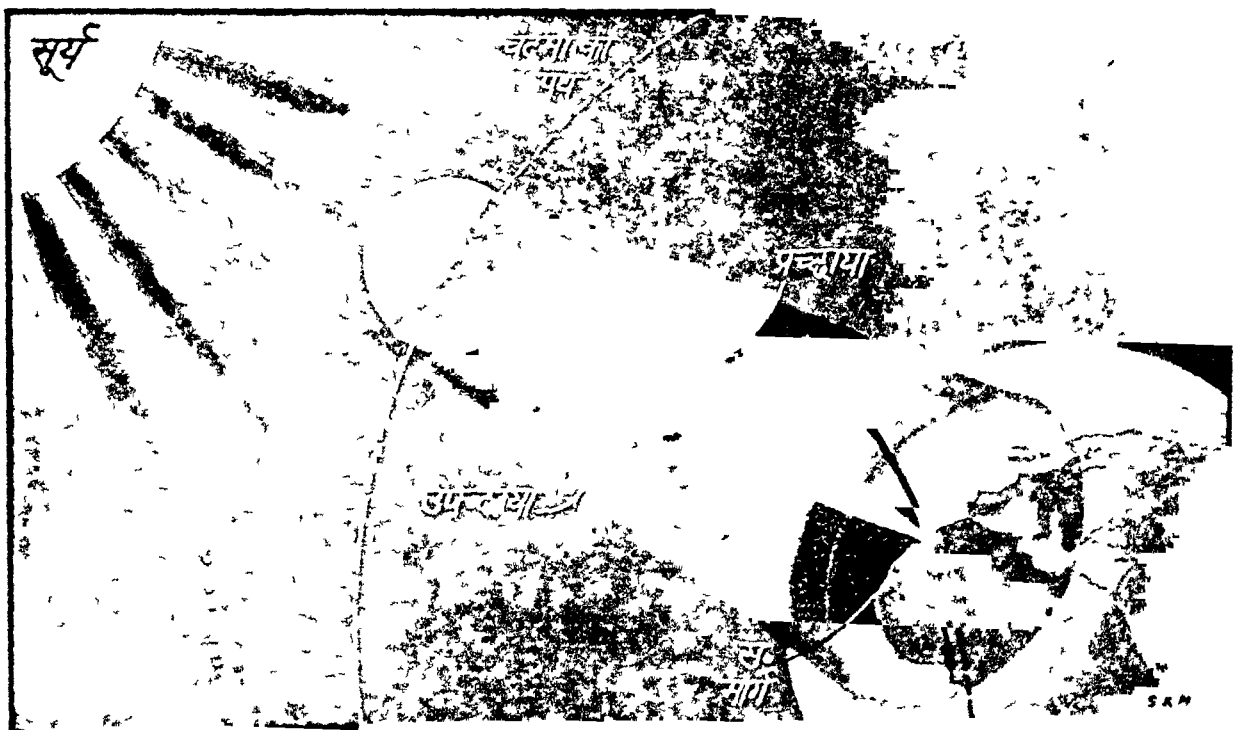
सूर्य-ग्रहण के समय चन्द्रमा की प्रच्छाया और उपच्छाया तथा सर्व-सूर्यग्रहण का मार्ग

इससे भी यही सिद्ध होता है कि आलोक-रश्मियाँ सदैव सीधी रेखाओं में ही चलती हैं।

धरातल का क्षेत्रफल प्रथम का चार गुना है। अतः दूसरे धरातल पर पहले की अपेक्षा प्रकाश की तीव्रता केवल एक चतुर्थांश रहेगी। तीन फीट की दूरी पर उसी प्रकाश को नौगुने धरातल को आलोकित करना होगा। अतः प्रकाश की तीव्रता इस ठौर अब पहले की अपेक्षा नवांश रह जायगी। यह नियम दूरी के वर्ग का विलोम नियम कहलाता है। दूरी ज्यों-ज्यों बढ़ती जायगी, प्रकाश की तीव्रता उसके वर्ग के अनुसार घटती जायगी। दूरी यदि चार गुनी होगी तो आलोक की तीव्रता पहले का सोलहवाँ अंश रह जायगी, दूरी यदि आठ गुनी हुई तो आलोक की तीव्रता पहले का चौंसठवाँ अंश रह जायगी।
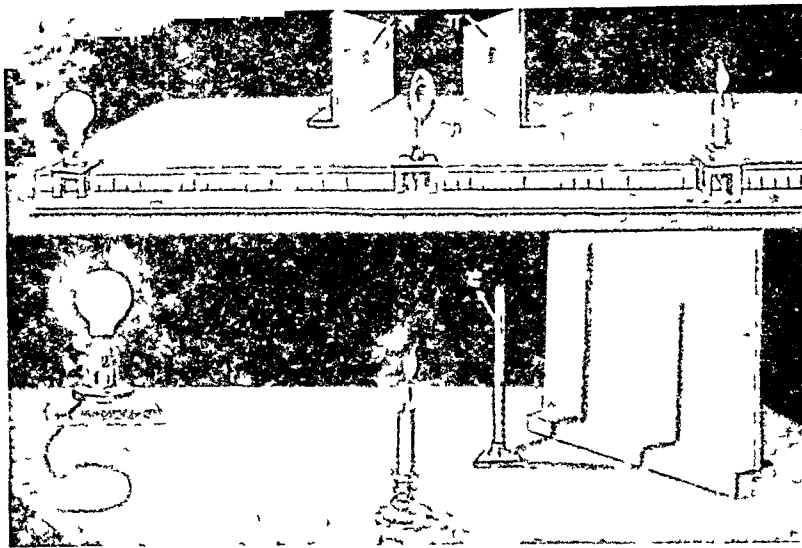
दो प्रकार के फोटोमीटर (दे० इसी पृष्ठ का मैटर)

उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर ही फोटोमीटर यंत्र बनाये गये हैं, जिनकी सहायता से हम आँक सकते हैं कि अमुक प्रकाशोत्पादक के आलोक की तीव्रता कितनी है। अवश्य ही आलोक की तीव्रता नापने के लिए एक मापदण्ड की जरूरत होती है। स्वभावत: वैज्ञानिकों ने मोमबत्ती को मापदण्ड माना। टार्च या पेट्रोमैक्स लैम्प के आलोक को मोमबत्तियों की संख्या में ही व्यक्त करते हैं। यदि टार्च की आलोक-शक्ति ५०० कैन्डिलपावर हुई तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस टार्च से ५०० मोमबत्तियों के बराबर प्रकाश उत्पन्न होगा।

साधारणत: दो प्रकार के फोटोमीटर काम में लाये जाते हैं—एक में छाया की सहायता ली जाती है और दूसरे में तेल के धब्बे से काम लेते हैं। एक सफेद रंग का पर्दा अँधेरे कमरे में रखिए। पर्दे के सामने एक पेन्सिल लम्बवत् खड़ी कर दीजिए—एक मोमबत्ती भी स्टैण्ड में लगाकर कुछ दूर पर रखिए। अब उस लैम्प को भी कमरे के अन्दर ले आइए, जिसकी आलोक-शक्ति की जाँच करनी है। लैम्प और मोमबत्ती दोनों को ऐसी जगह पर रखिए कि उनके द्वारा प्रक्षालित पेन्सिल की छाया सफेद पर्दे पर पड़े। लैम्प की दूरी घटा-बढ़ाकर आप पेन्सिल की दोनों छाया में समान गहराई की कालिमा ला सकते हैं। अपनी-अपनी छाया से अब मोमबत्ती और लैम्प दोनों की दूरी नाप लीजिए। लैम्प और मोमबत्ती की आलोकशक्तियों में वही अनुपात होगा जो लैम्प की दूरी के वर्ग और मोमबत्ती की दूरी के वर्ग में है। क्योंकि इस दशा में लैम्प द्वारा डाली गई छाया को मोमबत्ती से उतना ही तीव्र प्रकाश मिलता है, जितना मोमबत्तीवाली छाया को लैम्प से (दे० इसी पृष्ठ के चित्र का निचला भाग)।

तेल के धब्बेवाला फोटोमीटर तैयार करने के लिए एक खुरदरे सफेद कागज का टुकड़ा लेते हैं। इस कागज के बीच में एक बूँद तेल गिराकर धब्बे का एक छोटा-सा वृत्त बना लेते हैं। इस कागज को लम्बवत् खड़ा करके इसके एक ओर यदि एक मोमबत्ती रखी जाय तो उसी ओर से देखने पर धब्बा कागज के शेष भाग की अपेक्षा अधिक काला दिखाई देगा, क्योंकि धब्बे में से होकर बहुत-सा प्रकाश कागज की दूसरी ओर चला जाता है। इस ओर प्रकाश की कम मात्रा प्रक्षालित होती है। यदि कागज को दूसरी ओर से देखा जाय तो धब्बा कागज के शेष भाग की अपेक्षा अधिक आलोकित दीखेगा, क्योंकि इस भाग से अधिक मात्रा में प्रकाश छनकर आ रहा है। जिन दो प्रकाशोत्पादकों की आलोकशक्ति की तुलना करनी होती है, उनमें से एक को कागज के एक ओर, और दूसरे को दूसरी ओर रखते हैं। फिर इन दोनों की दूरी धब्बेवाले कागज से इस तरह घटाते-बढ़ाते हैं कि दोनों ओर से देखने पर धब्बा लुप्त हो जाता है। इस दशा में धब्बे से भी उतना ही प्रकाश आता है, जितना कागज के शेष धरातल से। अर्थात् उस समय कागज पर दोनों प्रकाशोत्पादकों से आये हुए आलोक की तीव्रता समान होती है। अब प्रत्येक प्रकाशोत्पादक की दूरी कागज़ के धरातल से नाप लेते हैं। उनकी आलोक-शक्तियों का परस्पर अनुपात वही होगा जो उनकी दूरी के वर्ग के बीच है (दे० इसी पृष्ठ के चित्र में ऊपर का भाग)।

जल-चक्र

समुद्रों, झीलों, नदियों, सोतों, ज्वालामुखी पर्वतों, वनस्पति और प्राणी के कलेवरों, आदि से निरंतर वाष्पीभूत होकर तथा आभ्यंतरिक जलाशयों से मिट्टी में चढ़कर पानी हवा में मिलता रहता है। यह जल-वाष्प घनीभूत होकर वर्षा, हिम, तुहिन आदि के रूप में फिर यहीं लौट आती है। यह जल-चक्र प्रकृति में निरंतर चला करता है।

धूलि कणों की उत्पत्ति

मौसमी कारणों द्वारा चट्टानों से धूलि-कण टूटकर फैल जाते हैं, और फिर हवा और अन्य गतिशील साधनों द्वारा वायुमण्डल में मिलते रहते हैं। इसके अलावा आग्नेय पर्वतों, उल्काओं, चिमनियों, आदि से भी धूलि-कण निकलकर हवा में व्याप्त होते रहते हैं।

हवा और उसके अद्भुत अवयव

जिस अदृश्य वायु के टनों बोझ से हम निरंतर दबे रहते हैं, जिसके बिना हमारा जीवन असंभव है और जो सदैव हमारे सुख-दुःख तथा आनन्द-कष्टों का एक महान् कारण रहती है, उसी को मनुष्य आदिकाल से लेकर अब से केवल सौ-डेढ सौ वर्ष पहले तक के लाखों वर्ष लम्बे समय मे भी पहचान न पाया। न-जाने कितने काल तक वह उसे देवता समझकर उसकी आराधना करता रहा, लेकिन इसका कारण अज्ञान पर अवलम्बित केवल एक कोरी कल्पना थी। वास्तव मे, उस समय मनुष्य के लिए प्रकृति प्रायः शतप्रतिशत रहस्य थी—वह उसकी अनुल्लघनीय वैज्ञानिकता से नितान्त अनभिज्ञ था। अपने ज्ञान के उदयकाल मे उसने हवा की महत्ता का अनुभव करके उसे पचतत्वों मे स्थान दिया, लेकिन यह वर्गीकरण अपरिपक्व और उथले निरीक्षण पर निर्धारित था; सत्रहवी शताब्दी मे राबर्ट ब्वायल आदि चतुर पुरुषों ने इस प्रकार के अटकलों की व्यर्थता की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया, और इन्ही के द्वारा निर्धारित मार्ग पर अग्रसर होकर अठारहवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश मे रदरफर्ड, शीले, प्रीस्टले और लवॉयशिये आदि व्यक्तियों ने प्रयोगों द्वारा हवा के निष्क्रिय और क्रियाशील अवयवों के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया। अब तक के फ्लोजिस्टनवाद आदि अड-बड विचारो का भडाफोड लवॉयशिये ने जिस प्रकार किया था, वह विज्ञान के इतिहास मे एक अमर घटना रहेगी। इस प्रकार अठारहवी शताब्दी की आठवी दशाब्दी मे हवा के रहस्योद्घाटन का प्रारम्भ हुआ—वास्तव मे यह हवा का ही नहीं रसायन के ही रहस्य का उद्घाटन था। रसायन विज्ञान की नींव हवा के ही रहस्योद्घाटन द्वारा पडी, और बिना रसायन के क्रमबद्ध विकास के अन्य विज्ञानों का विकास भी सर्वथा असभव था। विज्ञान-मन्दिर के आदिकाल से जकडे हुए द्वार तक लोग ब्वायल के निर्देश द्वारा पहुँच सके, किन्तु उसे लवॉयशिये आदि वैज्ञानिक अपनी वायु-विद्या द्वारा ही खोल सके। उसके खुलते ही मनुष्य ने अपने आधुनिक वैज्ञानिक युग मे प्रवेश किया, और डेढ सौ वर्ष के इस अल्पकाल मे ही वह कहाँ से कहाँ आ पहुँचा है!

ध्यानपूर्वक विचार करने से हम देखते हैं कि संसार के प्रायः सभी रासायनिक परिवर्त्तन हवा के कारण ही सभव होते हैं। मै इस समय बैठा हुआ यह लेख लिख रहा हूँ। ज़रा देखिए कि मेरे चारो ओर हवा क्या-क्या कर रही है। मेरे फेफडे स्वय बार-बार हवा को खींच रहे हैं, और उसकी ऑक्सिजन कार्बन डाइऑक्साइड मे परिणत होकर निकलती जा रही है। नीचे सडक पर हवा मे ही साँस लेकर ताँगे मे जुता हुआ जा रहा घोडा अपने जीवन और कार्य का सचालन कर रहा है। सडक के उस ओर पल्लवित, पुष्पित और सुरभित होता हुआ वृक्ष हवा मे साँस लेकर ही अपनी जीवन-क्रियाओं को सभव कर रहा है। मेरे सामने जो कुछ भी लकडी, कपडे अथवा काग़ज़ का सामान है, उसे पेड-पौधो मे हवा ने ही श्वासरूप मे प्रविष्ट हो-होकर किसी समय मे बनाया था। इनमे स्थिर कार्बन के परमाणु किसी समय कार्बन डाइऑक्साइड के अणुओं के रूप मे हवा मे डोल रहे थे। ऊपर रसोई में अँगीठी मे कोयला और चूल्हे मे लकडी जल रही है, अर्थात् कार्बन हवा की क्रिया से कार्बन डाइऑक्साइड मे बदलकर फिर हवा में लौटा जा रहा है। नीचे, यह देखिए, सडक पर उधर से एक मोटरकार और इधर से मोटर साइकिल निकल गई। उन पर बैठे हुए व्यक्तियों को क्या यह ज्ञात है कि हवा की ही रासायनिक क्रिया द्वारा कार्बन व हाइड्रोजन का यौगिक पेट्रोल जलकर, अर्थात् कार्बन डाइऑक्साइड तथा पानी मे परिवर्त्तित होकर, मोटरो को शक्ति प्रदान कर रहा है? रसोई में रक्खी हुई लोहे की कढाई पर यह भूरे लाल रग की ज़ग हवा की क्रिया से ही लगी है। उधर सडक के उस पार वृक्ष के आगे पड़ी हुई गदगी हवा के ही ऑक्सिजन और कीटाणुओं द्वारा सड़ी जा रही है, और कल का दूध आज

हवा के ही कीटाणुओं द्वारा खट्टा हो गया है—उसकी शकर लैक्टिक एसिड में परिणत हो गई है। बहुत दिन से रक्खा हुआ पान का चूना अब मन्द पड़ गया है—हवा की ही कार्बन डाइऑक्साइड की क्रिया से चूना (कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड क्षार) खड़िया (कैल्शियम कार्बोनेट) नामक उदासीन यौगिक में बदलकर अपनी तेज़ी खो बैठा है। यही क्रिया तो दिवाल पर पुते हुए चूने पर भी हुई है। मैं यह लेख फाउंटेन पेन से लिख रहा हूँ। मैं देखता हूँ कि पहले के लिखे हुए अक्षर गहरे रंग के हो गए हैं, और अभी लिखे हुए हलके रंग के हैं। यह रंग-परिवर्त्तन हवा की ऑक्सीकारिणी क्रिया द्वारा ही हुआ है। केवल प्राकृतिक परिवर्तनों में ही नहीं, अनेक कृत्रिम विधियों में भी हवा महत्त्वपूर्ण भाग लिया करती है। भट्टियों का जलना, अमोनिया, नाइट्रिक एसिड, सल्फ्यूरिक एसिड आदि पदार्थों का निर्माण, तथा ताँबा, जस्ता, सीसा आदि धातुओं का निकालना बहुधा हवा के ही रासायनिक कार्य पर निर्भर रहता है। वास्तव में यदि हवा को संसार की रासायनिक सक्रियता की देवी कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

ऑक्सिजन और नाइट्रोजन

ऑक्सिजन और नाइट्रोजन के आविष्कार के साथ ही साथ एवं उसके बाद वैज्ञानिक लोग हवा के इन दो प्रमुख अवयवों के आयतनिक और भारीय अनुपातों को निर्धारित करने का प्रयत्न करने लगे। रदरफर्ड (१७७२) और शीले (१७७४) ने हवा में फास्फोरस जलाकर (पृ० ६३२), लवॉयशिये और प्रीस्टले (१७७४) ने पारा गर्म करके (दे० पृ० ४०४), लीबिग (१८५१) ने कॉस्टिक-क्षारयुक्त पाइरोगलॉल के घोल में तथा ड्यूमास (१८८१) और जॉली (१८७६) ने तप्त ताम्र-छीलनों में ऑक्सिजन शोषित करके, एवं कवेण्डिश (१७६०) आदि अन्य वैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रयोगों द्वारा इन अनुपातों को निर्धारित किया। सभी के प्रयोगों से यह निश्चित हुआ कि हवा का लगभग पाँचवाँ अंश ऑक्सिजन है और शेष चार अंश नाइट्रोजन के हैं। उनमें ड्यूमास और जॉली के प्रयोग सबसे अधिक शुद्ध थे। ड्यूमास ने ऑक्सिजन और नाइट्रोजन का भारीय अनुपात २३.७७ और जॉली और कुछ अन्य वैज्ञानिकों ने उनका आयतनिक अनुपात २१·७६ निकाला। पाठक इसी लेख में आगे देखेंगे कि इन वैज्ञानिकों के निष्कर्ष भी सर्वथा शुद्ध न थे। हवा के रहस्यों का उद्‌घाटन अभी बहुत-कुछ शेष था। उसके अनेकानेक अद्‌भुत अवयवों का आविष्कार इस बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक होता रहा है, और उसके विभिन्न अवयवों के परिमाणों पर तो अब भी प्रयोग होते जा रहे हैं।

यह जानकर कि हवा प्रधानतया दो मूलतत्त्वों से बनी है, लोगों को यह शंका हुई कि हवा में ये दोनों मूलतत्व स्वतन्त्र रूप से ही मिले हुए हैं अथवा परस्पर रासायनिक बंधन द्वारा संयुक्त हैं—अर्थात् हवा मिश्रण है या यौगिक? इस शंका के समाधान में निम्न तर्क किए गए और इसका मिश्रण होना स्पष्ट हो गया—

(१) रासायनिक यौगिकों में विभिन्न मूलतत्त्वों के परिमाणों का अनुपात सदैव वही रहता है। अमोनिया नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का एक यौगिक है; वह किसी भी विधि से कहीं भी उत्पादित की गई हो, उसमें इन मूलतत्त्वों का आयतनिक अनुपात सदैव २ : ३ और भारीय अनुपात १४ : ३ रहेगा। यदि हवा भी यौगिक है तो अनुपातों की यही स्थिरता इसमें भी मिलनी चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। बड़ी भीड़वाले कमरों तथा बेकार पड़े हुए कुओं, बंद मोरियों आदि स्थानों में खुली हवा की अपेक्षा ऑक्सिजन का परिमाण कम रहता है। वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में भी ऑक्सिजन के भारी होने के कारण उसका परिमाण कम होता जाता है।

(२) रासायनिक संयोग में प्रायः ताप का उत्पादन अथवा उसका शोषण होता है। ऑक्सिजन और नाइट्रोजन को वायु के इन्हीं अवयवों के अनुपात में मिलाने पर वायु-जैसे ही गुणोंवाला मिश्रण बन जाता है, लेकिन ताप का उत्पादन अथवा शोषण बिलकुल नहीं होता।

(३) यौगिकों के अवयव केवल रासायनिक साधनों द्वारा ही, लेकिन मिश्रणों के अवयव भौतिक अथवा यान्त्रिक साधनों द्वारा भी पृथक् किए जा सकते हैं। तरल हवा के आंशिक वाष्पीकरण द्वारा नाइट्रोजन और ऑक्सिजन का पृथक्करण (दे० पृ० ४०६ व ६३४) एक भौतिक विधि पर ही निर्भर है। पानी में घुली हवा में ऑक्सिजन का परिमाण उसके अधिक घुलनशील होने के कारण अधिक होता है। किसी यौगिक के अवयवों के परिमाण इस प्रकार घट-बढ़ नहीं सकते। फिर, जब हवा किसी रन्ध्रमय पात्र में रक्खी जाती है तो रन्ध्रों में से नाइट्रोजन, ऑक्सिजन से हलकी होने के कारण, अधिक तेजी से निस्सरित होने लगती है। यह बात मिश्रण में ही संभव है। यौगिकों के अवयव रन्ध्रों द्वारा इस प्रकार पृथक् नहीं किये जा सकते।

(४) यदि हम हवा को यौगिक मानें तो ऑक्सिजन और नाइट्रोजन के आयतनिक अनुपात में, रासायनिक सिद्धांतों

के अनुसार, उसका अणुसूत्र N_4O निकलता है, और इस सूत्र के अनुसार हवा को हाइड्रोजन से ३६ गुनी भारी होना चाहिये। लेकिन हवा हाइड्रोजन से केवल १४.३ गुनी ही भारी होती है, और उसका घनत्व इतना तभी हो सकता है, जब हम उसे ऑक्सिजन (घनत्व = १६) और नाइट्रोजन (घनत्व = १४) का मिश्रण माने।

निष्क्रिय अवयव

सन् १७८५ मे कवेण्डिश ने हवा की नाइट्रोजन को ऑक्सिजन के साथ बिजली की चिनगारियों द्वारा पूर्णतः सयुक्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार उत्पादित नाइट्रोजन पराक्साइड को कास्टिक पोटाश के घोल मे और शेष ऑक्सिजन को सोडियम सल्फाइड के घोल मे शोषित करके उसने देखा कि प्रत्येक बार एक रगहीन गैस का बुलबुला (जिसका आयतन ली हुई नाइट्रोजन का $\frac{1}{120}$ होता है) बच रहता है। कवेण्डिश ने इस बुलबुले को बिजली की चिनगारियो द्वारा ऑक्सिजन से सयुक्त कर देने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन वह सफल न हुआ। कवेण्डिश का यह निरीक्षण वास्तव मे, बडा ही महत्त्वपूर्ण था, किंतु उसके सौ वर्ष से भी अधिक बाद तक कोई उसे समझ लेने मे समर्थ न हो सका। इसी वर्ष लार्ड रेले ने प्रयोग द्वारा निश्चित किया कि हवा से निकाली हुई नाइट्रोजन के एक लीटर का भार १.२५७ ग्राम, किन्तु यौगिकों से बनाई हुई गैस का भार केवल १.२५१ ग्राम होता है। इस बात को लार्ड रैले ने एक पत्र के रूप मे 'नेचर' नामक सुविख्यात वैज्ञानिक पत्र मे प्रकाशित करवाया और अपने पाठकों से प्रार्थना की कि वे इसका कारण ढूंढ निकालने का प्रयत्न करे। 'नेचर' के जिस 'रासायनिक पाठक' का ध्यान तुरन्त इस समस्या की ओर आकर्षित हुआ, वह ग्लास्गो-निवासी विलियम रैमज़े था। उसने उत्साह और दृढता के साथ इस संबंध में अपनी खोज शुरू कर दी। अपनी

सर विलियम रैमज़े (१८५२—१९१६)
आर्गन, नियन आदि निष्क्रिय गैसों का आविष्कर्त्ता

विस्तृत विधि में उसने हवा की कार्बन डाइऑक्साइड को कास्टिक पोटाश के घोल मे, जल-वाष्प को सान्द्र सल्फ्यूरिक ऐसिड मे, और ऑक्सिजन को रक्त तप्त ताम्र-छीलनो मे शोषित करके पृथक् कर लिया, और बची हुई गैस को वह दस दिन तक रक्त-तप्त मैग्नेशियम पर प्रवाहित करता रहा। इतने समय मे प्रायः सभी नाइट्रोजन भी मैग्नेशियम से सयुक्त होकर (पृ० ९३६) पृथक् हो गई। इस प्रकार जो गैस बची उसका आयतन हवा के आयतन का लगभग १ प्रतिशत था। इसकी परीक्षा करने पर यह ज्ञात हुआ कि जहाँ हाइड्रोजन की अपेक्षा नाइट्रोजन १४ गुनी भारी होती है वहाँ यह गैस २० गुनी भारी है। रैमजे को सदेह हुआ कि यह कोई नया मूलतत्त्व तो नही है।

इसी बीच लॉर्ड रैले का ध्यान १०० वर्ष से भी अधिक पुराने कवेण्डिश के प्रयोगों की ओर गया। उसने उन्हें सावधानी के साथ दोहराया, और देखा कि बची हुई गैस रैमजे की ही बची हुई गैस के समान थी। इस बची हुई गैस के रासायनिक गुणों की परीक्षा करने का प्रयत्न अब किया गया। यह तो देखा ही जा चुका था कि ऑक्सिजन जैसी क्रियाशील गैस का उस पर कोई असर नहीं होता। अब अन्य क्रियाशील तत्त्वों, यथा हाइड्रोजन, क्लोरीन फ्लोरीन, फास्फोरस, गधक, सोडियम आदि से भी उसे सयुक्त करने का प्रयत्न किया गया, लेकिन किसी की भी कुछ न चली। तो क्या इस विलक्षण गैस में रासायनिक गुणों का सर्वथा अभाव था। अब बिजली की चाप-भट्टी का आविष्कर्त्ता तथा विद्युत्धारा के उपयोग से अत्यत क्रियाशील फ्लोरीन गैस को बनानेवाला मोइसॉ आगे आया। क्या प्रबल विद्युत्-स्फुलिंगों के प्रभाव में फ्लोरीन-जैसी महाक्रियाशील गैस से भी यह नई गैस संयुक्त न होगी? प्रबल चिनगारियाँ छोड़ी गई, लेकिन उनकी भी क्या मजाल! यह नई गैस जैसी की तैसी रही! सब हार मान गए! एक ऐसे तत्त्व का आवि-

-ष्कार हुआ था जिसमें कोई रासायनिक गुण होता ही नहीं, किसी भी अन्य मूलतत्त्व—क्रियाशील से क्रियाशील धातुओं और अधातुओं—की ओर खिंचाव का जिसमे नाम नहीं, जो एक ऐसे व्यक्ति के समान है जो सयोग के आकर्षणों से सर्वथा परे हो—अखड ब्रह्मचारी! यदि ऐसे ही सब मूलतत्त्व होते, तो रसायन ही न होता!! इस नए मूलतत्त्व के किरणचित्र की परीक्षा की गई, वह नाइट्रोजन से बिलकुल विभिन्न और एक नए तत्त्व का सूचक था। इसका नाम आर्गन रख दिया गया। 'आर्गन' एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ आलसी होता है।

यद्यपि हवा मे आर्गन का परिमाण एक प्रतिशत से भी कुछ कम है, तथापि वह उपेक्षणीय नहीं। पृथ्वी पर प्रति वर्गमील ८० करोड टन आर्गन का बोझ लदा रहता है। निष्क्रिय होने के कारण आर्गन बिजली की बत्तियों में भरने के लिए बडी ही उपयोगी गैस सिद्ध हुई। जब बल्ब मे कोई गैस नहीं रहती तो उसके ततु से, जो बहुधा टग्स्टन धातु के बने होते हैं, धातु वाष्पीभूत होकर शीशे पर जम जाती है और धुँधलापन आ जाता है। आर्गन भरने से ऐसा नहीं होता, और न केवल बल्ब की आयु ही, वरन् उसका उजाला भी बढ जाता है। उसके सर्वथा निष्क्रिय होने के कारण टग्स्टन ततु रासायनिक परिवर्त्तन से भी पूर्णतः मुक्त रहता है। इस उपयोग के लिए आर्गन आजकल द्रवीभूत हवा से आशिक स्रवण द्वारा पृथक् कर ली जाती है। तापक्रम बढने पर सबसे पहले नाइट्रोजन निकल जाती है, और फिर ऑक्सिजन मिली हुई आर्गन निकलती है। इस मिश्रण से ऑक्सिजन रक्ततप्त ताम्र-छीलनों द्वारा शोषित करके अलग कर ली जाती है और आर्गन बच रहती है। बल्बों मे जिस गैस का प्रयोग होता है उसमे प्रायः ८८ प्रतिशत आर्गन और शेष नाइट्रोजन रहती है।

इसके बाद वायुमडल मे आर्गन से मिलते-जुलते एक दूसरे गैसीय मूलतत्त्व का भी लघु मात्रा मे अस्तित्व प्रमाणित हुआ। इसका नाम हीलियम था। इसका आविष्कार, वास्तव मे, फ्रास के जैन्सेन और इग्लैंड के नार्मन लाक्यर नामक ज्योतिषियो द्वारा सन् १८६८ मे ही हो चुका था। इन्होंने इसका अस्तित्व पृथ्वी पर नहीं, वरन् सूर्य के वर्णमडल मे किरण-चित्रदर्शक द्वारा प्रमाणित किया था। ग्रीक मे हीलिऑस का अर्थ सूर्य होता है, अतएव इस गैस का नाम हीलियम पडा। सन् १८९४ मे रैमजे ने 'क्लीवेयाइट' नामक धातव खनिज को शून्य मे अथवा हलकी सल्फ्यूरिक ऐसिड के साथ गर्म करने से निकलनेवाली गैस की परीक्षा की। इस गैस में मिली हुई नाइट्रोजन को उसने शोषकों द्वारा पृथक् कर लिया, और शेष गैस के किरणचित्र की परीक्षा करने पर उसने उसे हीलियम पाया। इसके बाद हीलियम का अस्तित्व वायुमडल, अनेक अन्य विकिरणशील (radio-active) खनिजों, तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के कई दक्षिण-पश्चिमीय प्रातों की खनिज गैसों मे सिद्ध हुआ। हवा के २,५०,००० आयतनिक भागों में हीलियम का एक भाग रहता है, किंतु अमेरिका की खनिज गैसों मे प्रायः १ प्रतिशत से कुछ कम और कभी-कभी ८ प्रतिशत आयतनिक भाग हीलियम के पाये गए हैं। उन्हीं गैसों को खूब ठडा करने से हीलियम के अतिरिक्त अन्य सब गैसे द्रवीभूत हो जाती हैं। बडे परिमाणों मे इसी प्रकार इसे तैयार करते हैं। आर्गन की भाँति हीलियम में भी रासायनिकता का पूर्ण अभाव है। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि वह हाइड्रोजन को छोड अन्य सभी गैसो से हलकी होती है। हाइड्रोजन से वह केवल दुगुनी भारी होती है। इसके अतिरिक्त वह अज्वलनशील भी है, अतएव वह गुब्बारो और वायुयानों के लिए बडी ही उपयोगी प्रमाणित हुई। हाइड्रोजन से भारी होने के कारण वह थैलो से उतनी जल्दी छनकर निकल भी नहीं सकती। हीलियम और ऑक्सिजन का मिश्रण कभी-कभी पनडुब्बों के साँस लेने के काम मे लाया जाता है। अत्यधिक गहराई में पानी के बोझ के कारण शरीर पर दबाव बहुत बढ जाता है। वहाँ पनडुब्बे जिस हवा मे साँस लेते हैं उसका भी दबाव बहुत हो जाता है। इस दबी हुई हवा मे साँस लेने से नाइट्रोजन रुधिर मे अत्यधिक घुल जाती है। इसका फल यह होता है कि यदि आवश्यकता पड़ने पर पनडुब्बे को शीघ्र ही ऊपर उठा लिया जाता है, तो यह नाइट्रोजन रुधिर से बुलबुलो के रूप मे निकल पड़ती है जिससे, शरीर के कोष्ठों पर आघात के कारण, उस व्यक्ति की बहुधा मृत्यु तक हो जाती है। हीलियम नाइट्रोजन की अपेक्षा बहुत कम घुलती है, अतएव हीलियम-मिश्रित ऑक्सिजन का उपयोग पनडुब्बो के लिए अधिक निरापद सिद्ध हुआ है, और बहुत अधिक गहराई तक इसका उपयोग हो सकता है। हाल ही मे तीव्र दमा के रोग मे भी हीलियम-ऑक्सिजन के मिश्रण मे साँस लेना बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। हीलियम के सबध मे एक मनोरजक बात यह है कि उसके क्वथनाक (-२६९°C) से नीचा किसी भी वस्तु का क्वथनाक नहीं होता। तरल हीलियम के वाष्पीकरण द्वारा -२७२°C तक के तापक्रम पर पहुँचा जा चुका है। पाठकों को कदाचित् ज्ञात होगा कि -२७३°C से नीचा तापक्रम हो ही नहीं सकता। इस तापक्रम पर द्रव्य सर्वथा

तापविहीन हो जाता है, अर्थात् उसके अणु नितांत स्तब्ध हो जाते हैं। हीलियम के सहारे मनुष्य इस परम तापक्रम के बहुत ही निकट जा पहुँचा है। हीलियम की एक अन्य अत्यत मनोरजक बात यह है कि वह रेडियम, थोरियम, यूरेनियम आदि विकिरणशील धातुओ के परमाणुओं के स्वतः टूटते रहने से बना करता है, और ये मूलतत्त्व हीलियम निकल जाने के बाद अन्य मूलतत्त्वों मे परिणत होते रहते हैं। रेडियम धातु इस प्रकार खडित होते हुए सीसा मे बदल जाती है। विकिरणशील खनिजों के रध्रो मे हीलियम इसीलिए पाया जाता है। विकिरणशील धातुओ से निकलते हुए 'अलफा-कण' हीलियम के ही विद्युदाविष्ठ परमाणु होते हैं। इस प्रकार डाल्टन की प्रचलित धारणा कि परमाणु विभाजित हो ही नही सकते इन विकिरणात्मक अनुसधानो के बाद खडित हो गई। इन अनुसधानो द्वारा परमाणुओं की रचना के निर्धारित करने में भी बहुत बडी सहायता मिली।

हीलियम और आर्गन-जैसी अनोखी गैसों के आविष्कार से रैमजे ने वैज्ञानिक जगत् को आश्चर्य-चकित कर दिया था, लेकिन अभी उसका कार्य समाप्त नहीं हुआ था। मूलतत्त्वों की आवर्त्तसारिणी मे इन गैसों को स्थान देने के प्रयत्न मे उसे प्रतीत हुआ कि इसी प्रकार के कुछ अन्य मूलतत्वों का भी होना आवश्यक है, और वायुमडल मे ही इन गैसों का अस्तित्व हो सकता है। १२० टन द्रवीभूत वायु के आशिक स्रवण द्वारा रैमज़े और ट्रैवर्स ने १८९८ मे हीलियम और आर्गन जैसी तीन अन्य गैसो को ढूँढ निकाला। उनके नाम नियन (=नवीन), क्रिप्टन (=गुप्त), और ज़ीनन (=अपरिचित) रख दिए गए। हवा मे इन गैसों का अनुपात बहुत ही कम होता है, इसीलिए तो इनका पता लगाने के लिए १२० टन तरल वायु लेनी पड़ी। नियन, क्रिप्टन और ज़ीनन का एक-एक आयतनिक भाग हवा के क्रमशः ५५ हज़ार, दो करोड़ और सत्रह करोड भागों मे रहता है। इन अनुपातों का अनुमान दिलाने के लिए कहा गया है कि यदि हवा के अणु दिखाई दे सकते और आँखो के सामने एक-एक करके प्रति सेकड एक के हिसाब से चलते जाते, तो आर्गन के अणु दो-दो मिनट बाद, क्रिप्टन के आठ-आठ महीने बाद और ज़ीनन के छः-छः वर्ष बाद दिखाई देते। इतने कम परिमाणों मे होते हुए भी रैमज़े इन्हें ढूँढ सका, यह वास्तव मे आश्चर्य की बात है। उसके अद्भुत प्रयोगों को देखकर लोगों ने दाँतोतले उँगली दबाई। रेडन नामक एक अन्य मूल गैस की खोज के बाद रैमज़े के मूलतत्त्वो का कुटुंब पूरा हो गया। रैमज़े ने एक मूलतत्त्व की नही, मूलतत्त्वों के एक अद्भुत कुटुंब की खोज की थी। १९०२ मे उसे 'सर' की उपाधि मिली, १९०४ मे उसे नोबेल पुरस्कार दिया गया और १९११ मे वह ब्रिटिश असोसिएशन का सभापति चुना गया। १९१६ मे महायुद्ध के कठिन कार्य से उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और उसी वर्ष ६४ वर्ष की अवस्था मे उसका देहांत हो गया।

हीलियम का एक उपयोग

हीलियम और ऑक्सिजन का मिश्रण गहरे समुद्र में पैठनेवाले पनडुब्बों के साँस लेने के लिए उपयोगी और निरापद सिद्ध हुआ है।

नियन गैस का एक मनोरजक उपयोग नियन-प्रकाश के उत्पादन मे होता है। ऐसे प्रकाशो को आपने शहरो में बडी-बडी दूकानों, सिनेमा-भवनो आदि पर विज्ञापनों के रूप मे कदाचित् देखा होगा। इन विज्ञापनो के अक्षर आदि शीशे की नलियो के बने होते हैं, जिनमे बहुधा नियन गैस वायुमडल के लगभग ३५० गुने कम दबाव मे भरी रहती है। यह गैस बिजली द्वारा एक तेज़ लाल प्रकाश से चमक उठती है, और बिजली का ख़र्च भी बहुत कम होता है। कोहरे आदि मे लाल प्रकाश दूर तक दिखाई पड सकता है। रेलवे, मोटरकारों आदि के सिगनल

इसीलिए लाल बत्तियों के बनाए जाते हैं, और सध्या-सवेरे सूर्य लाल इसीलिए दिखाई पडता है कि अधिक वायु-मडल को भेदकर केवल लाल रश्मियाँ ही हम तक पहुँच सकती हैं। अतएव उन देशों में जहाँ कोहरे की अधिकता रहती है, नियन के प्रकाश का बहुत उपयोग होता है। प्रकाश-स्तभों तथा एअरोडोमों मे भी नियन-प्रकाश का उपयोग इसी कारण होने लगा है। लाल रग के अलावा आपने कुछ अन्य रगों के भी विज्ञापन देखे होंगे। रगीन शीशे की नलियों द्वारा अथवा उनमे कुछ अन्य गैसों को भरकर रगों मे परिवर्त्तन किया जा सकता है। नियन और हीलियम के मिश्रण से स्वर्ण के रग का प्रकाश, और आर्गन और पारद-वाष्प के मिश्रण से एक मनोहर नीला प्रकाश उत्पन्न होता है।

इन गैसों की एक विचित्र बात यह है कि इनके अणुओ में केवल एक ही एक परमाणु होता है। हमने देखा है कि हाइड्रोजन, ऑक्सिजन आदि गैसों के अणुओं मे दो-दो परमाणु रहा करते हैं। अतएव ये गैसे इस दृष्टि से भी निराली होती हैं। इन गैसों के परमाणु स्वय आपस में भी सयुक्त नहीं हो सकते। रासायनिक प्रीति का उनमे नाम तक नहीं होता।

कार्बन डाइऑक्साइड

खुली हुई हवा के १०,००० आयतनों मे कार्बन डाइ-ऑक्साइड के तीन भाग रहा करते हैं। सजीव जगत् के लिए हवा मे कार्बन डाइऑक्साइड का होना परमावश्यक है। वनस्पति पत्तियों के रध्रों द्वारा साँस लेकर इसी कार्बन डाइऑक्साइड से अपने कलेवर का कार्बन ग्रहण करते रहते हैं और यह कार्बन नाना प्रकार से पुन॰ आक्सीकृत होकर कार्बन डाइऑक्साइड के रूप में वायु मे लौटता रहता है। केहवादार कमरो, बद मोरियो, अधे कुओ आदि की हवा मे कार्बन डाइऑक्साइड का परिमाण अत्यधिक हो जाता है। शहरो की हवा मे भी कुछ अधिक कार्बन डाइऑक्साइड यानी ४ भाग प्रति दस हजार रहती है। जब तक दस हजार हवा के भागों मे ६ भाग तक कार्बन डाइऑक्साइड रहती है तब तक उसे साँस लेने के योग्य समझा जाता है। अधिक होने से स्वास्थ्य के लिए वह हानिकारक हो जाती है। जिन स्थानों मे भूविवरो अथवा ज्वालामुखी पर्वतों से कार्बन डाइऑक्साइड निकलती हैं, वहाँ वह बहुधा, हवा से भारी होने के कारण, भूपृष्ठ पर इकट्ठी हो जाती है। जावा की एक ऐसी ही घाटी को 'मृत्यु की घाटी' कहते हैं, क्योंकि उसमे पहुँच जाने पर ऑक्सिजन के अभाव से प्राणियो का दम घुट जाता है। एक यात्री का कहना है इस घाटी की तह पर सर्वत्र मनुष्यों, जानवरों तथा पक्षियों के अस्थिपजर बिखरे पडे हैं। कहते हैं कि नेपल्स (इटली) की एक गुफा का तल १८ इच तक कार्बन डाइऑक्साइड से आच्छादित रहता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य तो उसमे निरापद चल फिर सकते हैं, लेकिन कुत्तों का दम घुट जाता है।

जलवाष्प

नाइट्रोजन, ऑक्सिजन, निष्क्रिय गैसे तथा कार्बन डाइ-ऑक्साइड के अलावा हवा मे अन्य अनेकानेक पदार्थ भी रहते हैं, किन्तु वे अशुद्धियों के रूप मे माने जाते हैं, कारण हवा मे इनका अस्तित्व अस्थिर रहता और परिमाण बदलता रहता है। जलवाष्प भी इस प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। पृथ्वी के जलाशयों, जैसे समुद्रों, झीलों, नदियों, सोतों, तालाबों, आदि से तथा आर्द्र मिट्टी से वाष्पीभूत होकर जलवाष्प हवा मे मिलता रहता है। ज्वाला-मुखी पहाडो से भी भाप के रूप मे पानी निकलकर हवा मे मिलता रहता है। वनस्पति और प्राणी भी पृथ्वी के जलाशयों से जल ग्रहण करते और अपने कलेवरों पर से वाष्पीकरण द्वारा हवा को देते रहते हैं। तथापि प्रधानतः हवा को जलवाष्प सागर से ही प्राप्त होती है। इस जलवाष्प से वर्षा द्वारा पानी फिर उन्ही स्थानों मे लौट आता है, जहाँ से वह वाष्पीभूत हुआ था। धरती और वायुमडल के बीच मे यह जलचक्र निरतर चला करता है। जलवाष्प हवा से डेढ गुनी से भी अधिक हलकी होती है, अतएव जलवाष्प से लदी हुई हवा साधारण हवा की अपेक्षा हल्की हो जाती है। साधारण तापक्रमो पर जल-वाष्प से सपृक्त हवा मे लगभग एक आउस (आधा छटाँक) पानी रहता है। हवा वाष्प-रूप मे कितना जल ग्रहण कर सकती है, यह तापक्रम पर निर्भर रहता है। ऊँचे तापक्रम पर नीचे तापक्रम की अपेक्षा उसमे अधिक जल रह सकता है। राजपूताने के मरुस्थल की तप्त वायु मे प्रति घनफुट हिमशिखरो की वर्षा-वायु की अपेक्षा अधिक जलवाष्प हो सकती है, तब भी मरुस्थल की वायु बहुत ही रुखी और हिमालय पर की वर्षा-वायु सपृक्त कही जाती है। हवा की यही शुष्कता अथवा आर्द्रता हमारे स्वास्थ्य पर प्रभाव डालती है। इस आर्द्रता की माप के विषय मे हम भौतिक विज्ञान मे पढते हैं। अति आर्द्र वायु मे हानि-कारक कीटाणु अधिक समय तक रह सकते हैं, अतएव वह हमारे स्वास्थ्य के लिए अधिक अच्छी नहीं होती। गर्मी के दिनो मे आर्द्र वायु और भी कष्टदायक होती है, कारण हमारे फेफडो और शरीर से उतना पानी वाष्पीभूत

नही होता, जितना होना चाहिए। इसके विपरीत बहुत सूखी हवा मे गला, नाक आदि सूखने लगते हैं। वायुमडल मे जलवाष्प की उपस्थिति से हवा के ताप मे अधिक विषमता नही आने पाती। अधिक ठडक होने पर जलवाष्प घनीभूत होकर गर्मी देने लगती है और अधिक गर्मी पड़ने पर फिर वाष्पीभूत होकर गर्मी का शोषण करने लगती है।

धूलि-कण और कीटाणु

चट्टानो से अनेक मौसमी कारणो द्वारा धूलि-कण टूटकर धरती पर बिछ जाते हैं। यहाँ से हवा तथा अन्य गतिशील साधनो द्वारा उड़कर वे हवा मे मिल जाते हैं। आग्नेय पर्वतों, उल्काओ, कारखानो की चिमनियो आदि द्वारा भी हवा मे धूल मिला करती है। पाठको को यह जानकर आश्चर्य होगा कि सिगरेट की एक फूँक मे लगभग ४० अरब कण निकलकर हवा मे मिल जाते हैं, सब धूलि-कण एक ही प्रकार के नही होते। वे नाना प्रकार के अकार्बनिक और कार्बनिक पदार्थो तथा कोयले के बने होते हैं। शहरो की हवा मे प्रति घन इच ३ करोड से भी अधिक धूलि-कण रहा करते हैं। शहरो के बाहर इनकी सख्या इससे लगभग आधी हो जाती है। किसी भी स्थान की हवा धूलि-कणो से सर्वथा मुक्त नही होती, यहाँ तक कि महासागरो के ऊपर की हवा मे भी प्रति घन इच प्रायः ५ हज़ार से चालीस हज़ार तक धूलि-कण मिलते हैं। असाधारण अवस्थाओ मे हवा धूलि के बृहद् परिमाणो को अपनी गोद मे उठाकर चल सकती है। चीन की 'लोएस' नामक पीली मिट्टी, जो कहीं-कहीं पर हजारों फीट गहरी है, मध्य एशिया के मरुस्थलो से हवा द्वारा लाई गई थी। सन् १९३४ और १९३५ मे सयुक्तराज्य, अमेरिका, मे आँधियो द्वारा बृहद् कृषि-क्षेत्र धूलि से पटकर नष्ट हो गए थे। मरुस्थलो से हवा द्वारा न जाने कितनी धूलि हजारो मील तक इधर से उधर हुआ करती है।

निओन प्रकाश का उपयोग

रात्रि मे निओन-ज्योति द्वारा प्रकाशित एक सिनेमा-भवन

हवा मे धूलि-कणो का रहना अत्यंत आवश्यक है। वर्षा, हिम, कोहरा, ओस आदि के विंदु धूलि-कणो के ही आधार पर बनते हैं। गर्मी के दिनो मे वह बहुधा आकाश मे फैलकर सूर्य के ताप को कम कर देती है। दिन मे उजाले का सर्वत्र फैल जाना धूलि-कणों द्वारा ही संभव होता है। तथापि हवा मे अत्यधिक धूलि-कणो का रहना हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।
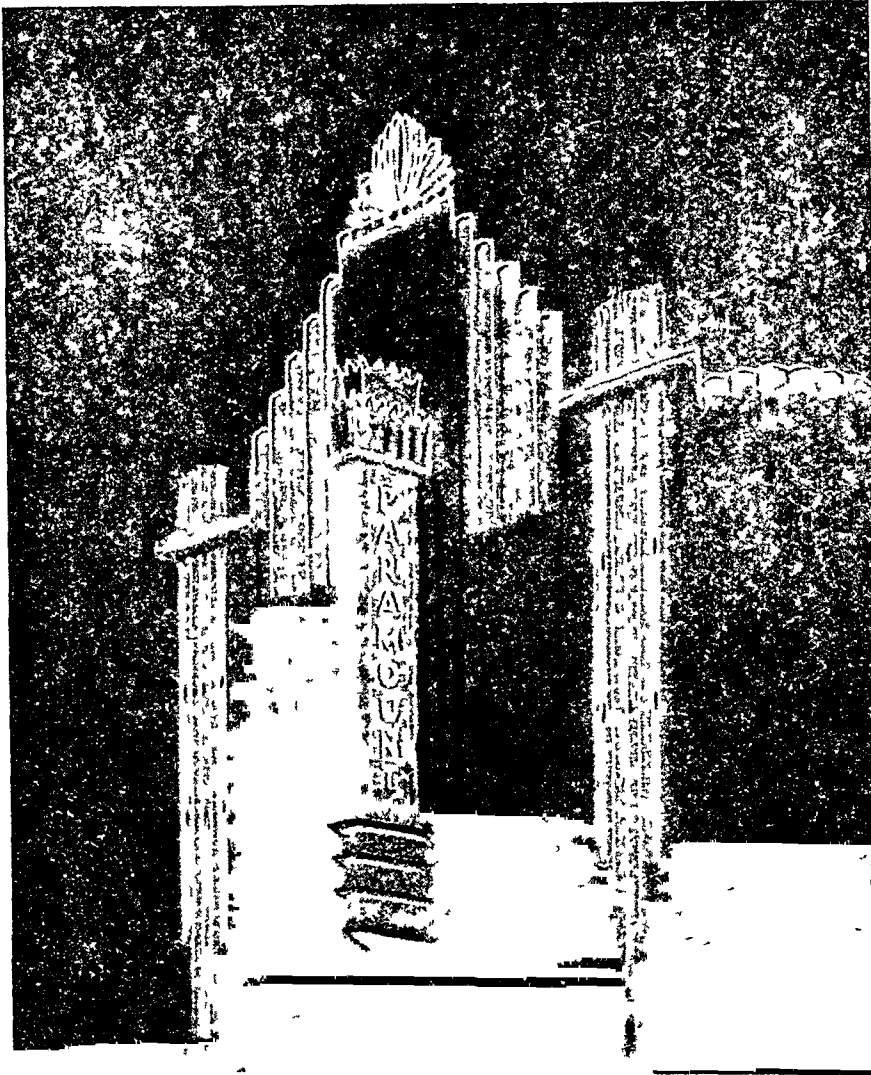
हवा मे सर्वत्र नाना प्रकार के कीटाणु भी बहुत बड़ी सख्या मे रहा करते हैं। सडना, सिरके का उठना, दूध का खट्टा होना, घाव या फोडे का पकना, तथा कुछ बीमारियो का फैलना हवा के कीटाणुओं द्वारा ही सभव होता है। खुली हुई प्रकाशमय हवा मे हानिकारक कीटाणु नही पाये जाते। वे गदी अति आर्द्र गर्म हवा मे ही अधिक रह सकते हैं।

अन्य अवयव

जलवाष्प, धूलि-कणों तथा कीटाणुओं के अलावा कुछ अन्य पदार्थ भी हवा में लेशांश में मिले रहते हैं। प्राय. इन सभी का अस्तित्व और परिमाण देश की परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। अमोनिया और हाइड्रोकार्बन जीव-पदार्थों के सड़ने अथवा विच्छिन्न होने से हवा में मिलते रहते हैं। ओजोन हाइड्रोजन परॉक्साइड, और नाइट्रोजन की ऑक्साइडें बिजली के विसर्जन के कारण हवा में बनती हैं। कहा जाता है कि धूप में पानी के तीव्र वाष्पीकरण द्वारा भी ओजोन का उत्पादन होता है। हवा के एक करोड़ आयतनिक भागों में ओजोन का एक भाग से अधिक नहीं होता, इससे अधिक होने पर हवा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और विषाक्त हो जाती है। वायुमंडल के नीचे स्तरों में ओज़ोन सल्फर डाइऑक्साइड, कार्बनिक यौगिक आदि पदार्थों से अवकृत होकर शीघ्र ही ऑक्सिजन में परिवर्तित हो जाती है। नाइट्रोजन की ऑक्साइडों के पानी में घुलने के कारण हवा में नाइट्रस और नाइट्रिक एसिड भी लेशांश में मिलती हैं। शहरों की हवा में सल्फर डाइऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड और सल्फ्यूरिक एसिड का भी पता लगता है। कारखानों में पत्थर के कोयले (जिसमें कुछ गंधक रहता है) और गंधक के खनिजों के जलाने से सल्फर डाइऑक्साइड हवा में मिल जाती है। समुद्र-तटों पर जलवर्षा में कुछ नमक भी मिला रहता है। यह नमक हवा द्वारा उड़ आए हुए समुद्र के जलबिंदुओं में होता है। जिन शहरों में हाइड्रोक्लोरिक एसिड बनाई जाती है उनकी हवा में वह भी मिश्रित होती है। इनके अतिरिक्त हवा में लघु मात्रा में कार्बन मोनोक्साइड (शहरों में) और हाइड्रोजन भी रहती हैं।

क्या और कहाँ तक?

समुद्रतल पर हवा के सौ आयतनिक भागों में उसके आरम्भिक अवयवों का परिमाण इस प्रकार होता है—

नाइट्रोजन	७८·०८	नियन	०·००१८
ऑक्सिजन	२०·९५	हीलियम	०·०००५
आर्गन	०·९३	क्रिप्टन	०·०००१
कार्बन डाइऑक्साइड	०·०३	जीनन	०·००००१

हमने अब तक धरातल के निकट की ही हवा तथा उसके अवयवों का वर्णन किया है। यह जानना भी अत्यंत मनोरंजक है कि ऊपर हवा का भार तथा उसके अवयवों का आनुपातिक परिमाण किस प्रकार बदलता है। पृथ्वी पर हवा का बोझ ३० इंच गहरे पारद अथवा ३४ फ़ीट गहरे पानी के बराबर रहता है। ३॥ मील ऊपर जाकर यह दबाव आधा हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि सारे वायुमंडल का आधा भार ३॥ मील के नीचे ही स्थित है। इसी प्रकार प्रत्येक ३॥ मील बाद दबाव आधा हो जाता है, अर्थात् ७ मील पर चौथाई, १०॥ मील पर, ⅛ हो जाना चाहिए। जो कुछ भी हो, २०० मील तक तो कुछ-न-कुछ हवा का पता तो लगता ही है। कम-से-कम १८८ मील पर तक तो उल्का देखे गए हैं। वायु की ही रगड़ से वेग से आते हुए उल्का तप्त होकर चमकने लगते हैं। उत्तरीय और दक्षिणीय ध्रुव प्रदेशों में ४००–५०० मील की ऊँचाई पर अरोरा बोरिआलिस और अरोरा आस्ट्रालिस नामक ज्योतियों का होना भी वहाँ बहुत ही कम दबाव पर वायव्य अणुओं का होना प्रमाणित करता है। सूर्य से आए हुए और भू-चुंबक द्वारा ध्रुवों की ओर विचलित इलैक्ट्रनों द्वारा यह अणु प्रकाशमान हो जाते हैं। बिना इन अणुओं के अस्तित्व के यह प्रकाश सम्भव नहीं हो सकता। छः लाख बीस हजार मील की ऊँचाई पर पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण इतना कम होता होगा कि वहाँ सबसे हल्की गैस हाइड्रोजन के जो अणु डोल जाते होंगे वे शून्य में विलीन हो जाते होंगे।

ऊपर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कम होते जाने के कारण हवा के अवयवों के आनुपातिक परिमाण भी बदलते जाते हैं। लगभग ७ मील ऊपर तक हवा का संगठन प्राय. वही रहता है। इसके ऊपर अधिक भारी गैसों, यथा आर्गन और ऑक्सिजन, का अंश घटने लगता है। लगभग २५ मील पर नाइट्रोजन और ऑक्सिजन का आयतनिक अनुपात ८७:१३ हो जाता है। और अधिक ऊँचाई पर नाइट्रोजन का अंश भी कम होने लगता है और हाइड्रोजन का बढ़ने लगता है। लगभग ५० मील पर आयतनिक प्रतिशतों में नाइट्रोजन का परिमाण ३०, हाइड्रोजन का ६७, ऑक्सिजन का २ और हीलियम का १ हो जाता है। लगभग ८० मील पर हीलियम का अंश भी कम हो जाता है और सारे वायुमंडल में प्राय. हाइड्रोजन ही हाइड्रोजन भरी होती है। इतनी दूरी पर वायुमंडल का दबाव पारा के केवल लगभग ०·००४ मिलीमीटर की ऊँचाई के बराबर होता है। और अधिक ऊँचाई पर हाइड्रोजन का दबाव और भी कम होता जाता है। पूरे वायुमंडल का भार लगभग ५१ हजार करोड़ करोड़ टन है। यह पृथ्वी के जलमंडल के भार का १२७० वाँ और धरामंडल के भार का बारह लाखवाँ भाग है।

ज्योति

प्रसिद्ध है कि जिस समय जर्मन देश का महाप्रज्ञावान् दार्शनिक गेटे इस लोक से अमृत-जगत् की यात्रा के लिए तैयार था उसका अन्तिम उद्गार यह था—'Light! More Light!' अर्थात् ज्योति, भूयसी ज्योति। गेटे ने जन्मपर्यन्त ज्ञान की आराधना की। उसने जीते जी अद्भुत चक्षुष्मत्ता प्राप्त कर ली थी। मनुष्य-जीवन के उच्चतम ध्येय की अनुभूति के लिए, जिस प्रकार मानवी शक्तियो को विकसित करने की आवश्यकता है उसके लिए गेटे ने सतत प्रयत्न किया। उस समस्त अनुभव का निचोड वह महापुरुष इसी एक शब्द मे हमारे लिए छोड गया है—ज्योति। मनुष्य ज्योति का पुत्र है। वह इस बात का इच्छुक रहता है कि उसको ऐसी आँख प्राप्त हो जिसकी दर्शन-शक्ति अप्रतिहत कही जा सके। यही सत्य का चक्षु है। चर्म-चक्षु दार्शनिक भाषा मे चक्षु नही है। वह तो अक्षिगोलक मात्र है। ज्ञान का नेत्र ही सच्चा चक्षु है। इस चक्षु की शक्ति कहाँ तक बढाई जा सकती है इसकी कोई इयत्ता नही है। प्रत्येक मनुष्य के समक्ष यह एक क्रियात्मक प्रश्न है कि वह अपनी चक्षुष्मत्ता को कितनी वीर्यवती बना सकता है। दर्शन के जगत् मे सफलता की यही सच्ची परख है। धन, यश, वैभव सबकी नाप परिमित है। मनुष्य की आँख मे जितनी शक्ति होती है वही उसके बड़प्पन की सच्ची माप है। लौकिक वैभव से सबध रखनेवाली प्रत्येक वस्तु कुठित हो सकती है, परन्तु ज्ञान का चक्षु कही कुठित नही होता। यही अकुटित दर्शन हम सबका ईप्सित है। हममे से प्रत्येक के भीतर ज्ञान की आँख किसी-न-किसी मात्रा मे विद्यमान है। परन्तु उस ज्योति पर निरन्तर तम का आक्रमण होता रहता है। आसुरी तमोभाव जान मे और अनजान मे हमारे ज्ञान के शुभ्र पट पर अपनी छाया डालता रहता है। यही वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र मे स्वर्भानु राहु का सूर्य पर आक्रमण है। इसी की छाया के कारण किसी देवयुग मे 'सूर्य' पर कल्मष का प्रभाव देवो को असह्य प्रतीत हुआ था। इस वैदिक उपाख्यान मे वैकुण्ठाधिपति (कुठनरहित) जो इन्द्र है उसको ही अकुंठित नेत्र प्राप्त हुआ था। इसीलिए इन्द्र ने कहा है कि चाहे जिस वस्तु की ओर मै आँख उठाकर देखूँ, चाहे जिससे मै आँख मिलाऊँ, मेरे नेत्रो मे तिल भर भी विकार उत्पन्न नही होता। मै जगत् के समस्त पदार्थों की ओर अप्रतिहत नेत्र से देख सकता हूँ। यह तो एक कथा है। पर यहाँ ऐसे व्यक्ति कितने हैं जिनके विषय मे यह यथार्थ रूप से कहा जा सके कि इनका नेत्र किसी भी विषय मे अवरुद्ध नहीं होता? सब अवस्थाओं मे जिनको प्रकाश की उपलब्धि हो सकती है उनका ही दर्शन वस्तुतः अकुठित है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से जो अन्तर है वह भी यही है। आर्यावर्त के इतिहास मे कितने वशिष्ठों के लिए कवि यह कह सकता है—

पुरुषस्य पदेष्वजन्मन. समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितय ज्ञानमयेन पश्यति ॥रघु०८।७८

अर्थात् पुराणपुरुष का जो भूत-भविष्य-वर्तमान मे यह अनन्त पटविस्तार फैला हुआ है, इसके प्रत्येक रहस्य को देखने के लिए किसके पास अप्रतिहत ज्ञान-नेत्र का साधन है? इस चक्षु की प्राप्ति ही दर्शन की साधना है। जिसके पास चक्षु नही, वही अन्धा है। वस्तुतः देखा जाय तो इस ससार मे तीन तरह के मनुष्य मिलते हैं—

दिवान्धाः प्राणिनः केचित् रात्रावन्धास्तथापरे।
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्य दृष्टयः ॥

'कोई दिन में अन्धे हैं, कोई रात मे अन्धे है, और किन्ही को दिन-रात मे एक-सा दिखाई पडता है।' दिन क्या है और रात क्या है? जीवन मे ज्योति का मार्ग दिन है, तम का मार्ग रात है। आत्मतत्त्व के विषय में जिनको दिखाई नहीं पडता वे दिन मे अन्धे है। सासारिक जीवन के विषय मे जो उदासीन हैं वे रात मे अन्धे हैं। सच्चे मनुष्य वे हैं जिनको रात और दिन मे, लोक और परलोक के सबध मे, विद्या और अविद्या के क्षेत्रों मे एक-सा दिखाई पडता है। वे तुल्यदृष्टि पुरुष ही धन्य हैं। उनके जीवन में ही सच्चा समन्वय पाया जाता है। चौथे प्रकार के ऐसे व्यक्ति भी हैं जिन्हे हम मूर्च्छित कह सकते हैं, जिन्होंने मस्तिष्क से काम लेने की कला का अभ्यास ही नहीं किया। वे न इस

लोक के साधन में निपुण हैं, न परलोक के साधन में संलग्न हैं। ऐसे दिन-रात में कभी भी न देख सकनेवाले व्यक्तियों का जीवन की हाट में कुछ मूल्य नहीं है।

देवयुग के आरम्भ में जिस दिन आकाश में पहली बार उषा का प्रकाश छिटका था (व्यौच्छत्), उस दिन देवों ने सर्वप्रथम जिस आश्चर्य के दर्शन किये वह यही चक्षु था—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत्।

देवों के सामने यह तेजस्वी ज्ञाननेत्र प्रकट हुआ। जिन्होंने इसको पहचान लिया वे ही देव हुए, जो इससे विमुख रहे वे ही तमसाभिभूत रह गए। क्या आज भी प्रतिदिन हमारे आकाश में ज्योति का यह चक्षु प्रकट होकर उस दिव्य कथा का पारायण नहीं करता? पर कब हमारे भीतर इसकी प्रकाश-किरणें दूर तक प्रविष्ट हो पाती हैं! हमारे जीवनक्रम में अहोरात्र के चक्र-परिवर्तन के साथ जीवन के आपेक्षिक मूल्य को समझने और उस पर आचरण करने में तनिक भी परिवर्तन नहीं देखा जाता। ऋषियों ने कहा है कि जब हम ज्योति के साथ मिलते हैं, तभी हम देवों की पङ्क्ति में बैठ जाते हैं—

सं ज्योतिषा अभूमेति सं देवैरभूमेत्येवैतदाह। (श० १।६।३।१४)

जान पड़ता है कि इस युग में मनुष्य को अपने देवत्व से ही विराग हो गया है। आध्यात्मिक जीवन को छोड़कर मनुष्य अन्य सब कार्यों के बोझ को अपने कंधों पर टिका हुआ समझता है। एक दार्शनिक ने कहा था कि यदि मैं अपने घर की छप्पर उठाने के लिए मनुष्यों को बुलाऊँ तो वे तुरन्त आ जाते हैं, पर यदि मैं उन्हें उच्च काव्यमय जीवन व्यतीत करने के लिए आमंत्रित करूँ तो इसके लिए कोई उद्यत नहीं होता। वस्तुतः मनुष्य ने विश्व के धंधे को जितनी कुशलता से सँभालने का अभ्यास कर लिया है, अपने विषय में वह उतना ही असावधान बन गया है। यह स्थिति क्यों है? प्रत्येक सारहीन वस्तु की उन्नति के लिए भी जो मनुष्य इतना व्याकुल है, अपनी प्रज्ञा के संबंध में वह इतना उपेक्षाभाव क्यों रखने लगा है? प्रशान्त महासागर की तलहटी में पड़े हुए घोंघों का भी जो कुशल-मवाद पूछता है, वही मानव-मस्तिष्क क्या अपने विषय में भी उतना ही सचेत कहा जा सकता है? मनुष्य को देव बनने का जो अधिकार था, हमने स्वयं ही उसे पैरों तले रौंद डाला है। हमने मनुष्य की महिमा को नापने के लिए, उसकी गुरुता को तौलने के लिए जो बाँट कल्पित किये हैं, उनमें प्रज्ञा या ज्ञान-चक्षु को छोड़कर अन्य सब चीजों का महत्त्व हम मानते हैं। इस विश्वव्यापी मकर ने हम सबके विचारों को किसी-न-किसी अंश में अपवित्र कर दिया है।

हम चारों ओर प्राकृतिक जगत् में ज्योति और तम का द्वन्द्व देखते हैं। रात और दिन में, कृष्ण और शुक्ल पक्ष में, दक्षिणायन और उत्तरायण में, तम और ज्योति का बटवारा हमारे सामने है। यही क्रम आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् में भी व्याप्त है। देव और असुरों के युद्ध की जो कथाएँ हैं, उनका सत्य जीवन का नित्य सत्य है। 'हे इन्द्र, न तुमने पहले कभी युद्ध किया, न आज तुम्हारा कोई वैरी है। वृत्र आदि असुरों के साथ तुम्हारे युद्ध की जो कथाएँ हैं, वे सब माया हैं। इतिहास में कभी देवासुर नहीं हुआ। प्रजापति ने जिनको पाप से बींध दिया वे ही असुर थे' (शतपथ ११।१।६।१७)। पाप और तम ही असुरों का रूप है। सत्य की अनुभूति से पहले का व्यक्ति तप का पुंज है। मनुष्य के भीतर जो ज्ञान है, वही तो प्रकाश का रूप है। मनुष्य से मनुष्य का जो भेद है, वह ज्ञानकृत ही है। हमारे शरीरों की रचना एक-सी ही है। यह हमारा मर्त्य या मानुषी भाग है। मन हमारा उच्च या अमृत भाग है। मन को दैवी ज्योति कहा जाता है। मन के द्वारा ही मनुष्य अपने आपको उच्च-से-उच्च देवासन पर प्रतिष्ठित कर सकता है। मन की साधना ज्ञान की साधना है। शरीर के क्षेत्र में हम देश-काल से बँधे हैं, एक-दूसरे से पृथक् हैं। मन के क्षेत्र में हम अपने आपको पूर्वजों के भी पूर्व ऋषियों के गोत्र में सम्मिलित कर सकते हैं। यह ज्ञान का कुटुम्ब सब देश और सब कालों में प्राप्त हो सकता है।

कारलाइल ने ज्ञान के प्रांगण में प्रवेश पाने के इच्छुक मनुष्य के लिए कहा है कि उसे रहस्यमय अग्नि से अपनी आत्मा का प्रोक्षण करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार अग्नि-दग्ध नहीं हुआ वह राख का ढेर है, उसमें जीवन की लौ का अभाव है। नचिकेता की कथा का भाव भी यही है। किसी एक क्षण में उसके मन में श्रद्धा ने प्रवेश किया (तस्मिन् श्रद्धा आविवेश)। जीवन के रहस्य को समझ लेने की जो अटूट अभिलाषा है, वही यह सात्त्विकी श्रद्धा है। इसी श्रद्धा की एक चिनगारी को पाकर हमारा सारा मनश्चक्र प्रतप्त हो उठता है। कब किस प्रकार यह ज्योति का संबंध मनुष्य को प्राप्त हो सकता है, यह कहना बहुत कठिन है। सत्य, तप, ब्रह्मचर्य आदि साधन इसी की प्राप्ति के लिए हैं। उपनिषदों ने कहा है कि ज्ञान की प्राप्ति कुछ-कुछ स्वयम्वर के ढंग से होती है। आत्मा जिसका वरण करती है, उसी के सामने अपना कृत्स्न रूप प्रकट करती है। कवि की प्रतिभा भी स्वयं ही उसको चुनती है। और यही नियम ज्ञानी के लिए भी सत्य है।

पृथ्वी की कहानी

सुदूर भूतकाल में हिमानी की प्रक्रिया द्वारा बहाकर दूर तक लाया गया एक विशाल शिलाखण्ड। (फो०—'जियालाजिकल म्यूजियम एण्ड सर्वे')
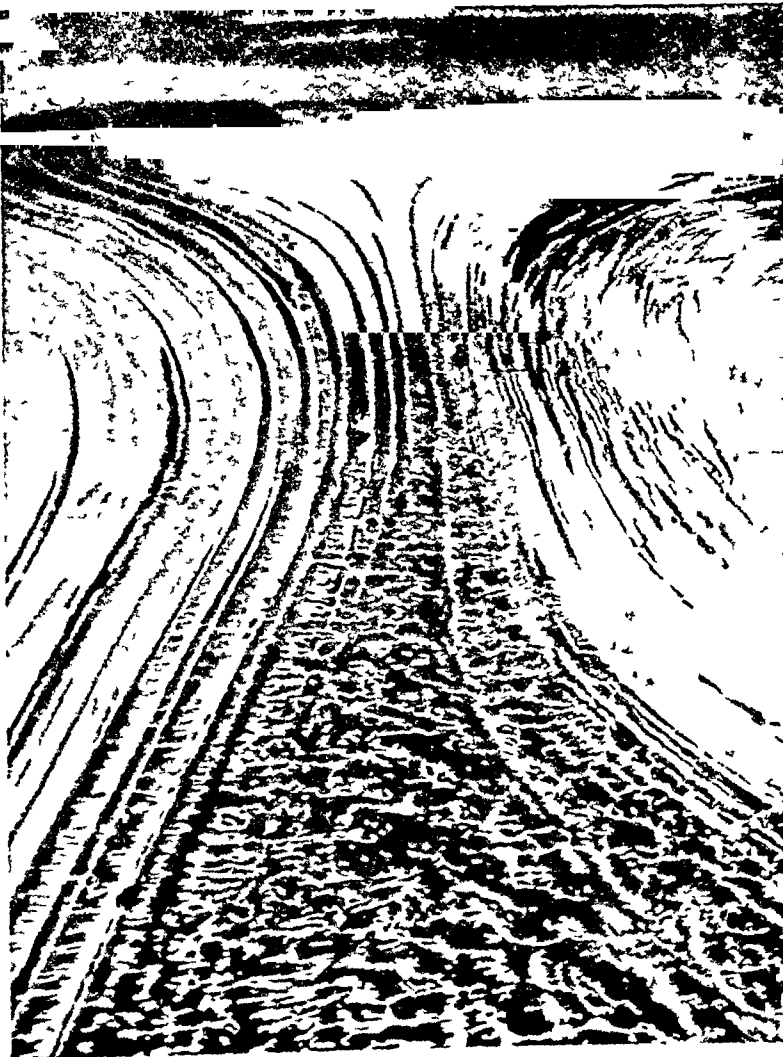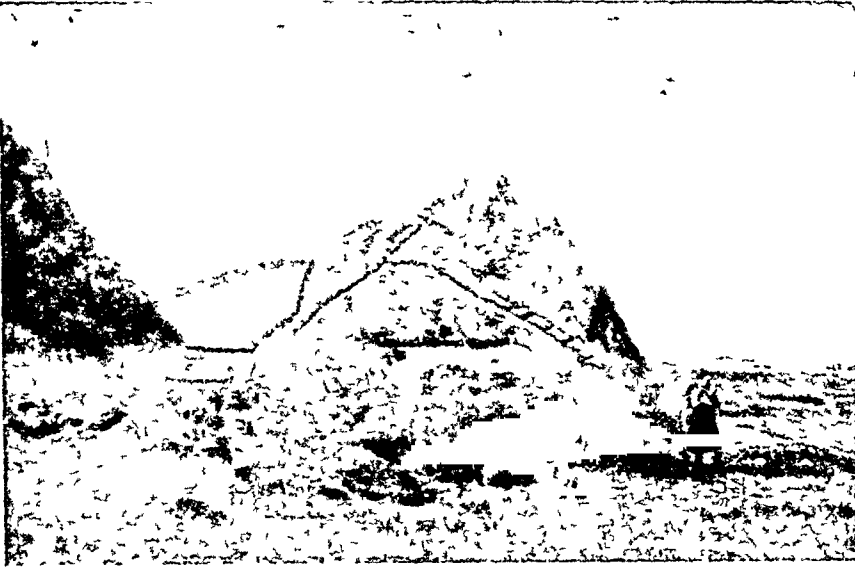
हिमानी के प्रवाह-मार्ग की घाटी का रूप बड़ा विचित्र हो जाता है। जलधारा के स्वभाव के विरुद्ध हिमानी बड़े-से-बड़े और नन्हे-से-नन्हे शिलाखण्डों, कंकड़-पत्थरों और रेणुका राशि को अपने साथ समान गति से बहाती हुई आगे बढ़ती है। इस चित्र में अलास्का की सबसे बड़ी हिमानी 'मालास्पिना ग्लेशियर' के 'लिब्बे ग्लेशियर' नामक एक अन्य हिमानी के साथ संगम का दृश्य है। हिमानी के प्रवाह को सूचित करनेवाली समानान्तर रेखाओं पर ध्यान दीजिए। यह फ़ोटो आकाश में १४००० फीट की ऊँचाई से उड़ते हुए हवाई जहाज़ द्वारा लिया गया था। वास्तव में हिमानी की धारा में दिखाई दे रहे काले या सफ़ेद छोटे-छोटे धब्बे सौ-डेढ़ सौ फ़ीट से भी अधिक ऊँचे और ऊबड़-खाबड़ मिट्टी और बर्फ़ के टीले हैं, जिन्हें हिमानी अपने साथ बहा ले जा रही है।
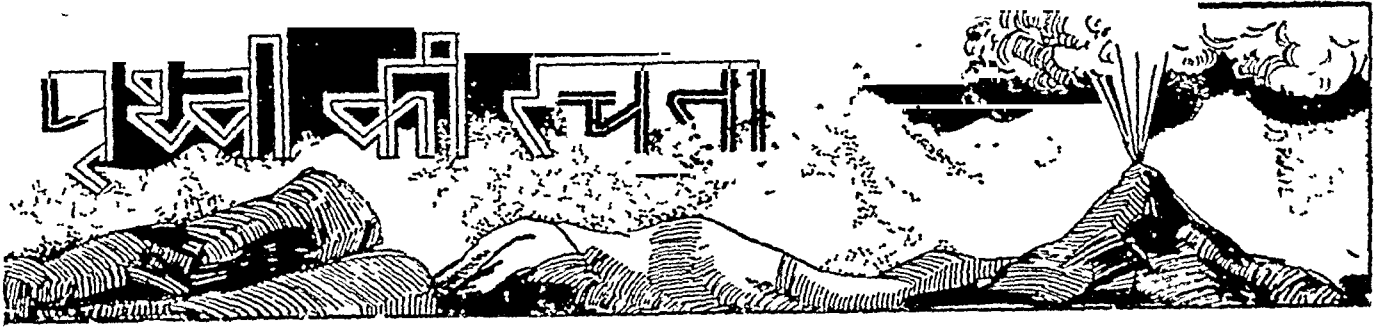
हिमानी और हिमावरण का भूतत्त्विक कार्य

प्रवाह-प्रदेश को घिस और छीलकर समतल बनाना, छीलन और शिलाखण्डों को स्थानान्तरित करना, तथा उन्हें स्थान-स्थान पर जमा करके नये-नये दृश्यों की रचना करना, ये भूतत्त्विक क्रियायें हिमानी और हिमावरण के द्वारा किस प्रकार होती हैं, आइए, इस लेख में देखें।

शीतकाल मे बहुत ही अधिक बर्फ गिरने और ग्रीष्म में बहुत थोड़ी मात्रा मे बर्फ पिघलने से कुछ प्रदेशों में हिम की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि वह वहाँ के पर्वत, घाटी और मैदान सभी पर मोटे लबादे की भाँति छा जाता है। इस प्रकार वहाँ चारों ओर हिम-ही-हिम दिखाई देता है, मानों सारी पृथ्वी हिम की ही बनी हो। इसी को 'हिमावरण' कहते हैं।

ग्रीनलैण्ड का अधिकांश भाग अखण्ड हिमावरण से मण्डित है। इस हिममण्डित प्रदेश का विस्तार ७००००० वर्गमील के क्षेत्रफल मे है। हिमावरण की मोटाई यद्यपि समस्त क्षेत्रफल मे एक ही नहीं है तथापि कहीं-कहीं वह हजारो फीट है। ग्रीनलैण्ड के केन्द्रीय हिमावरण के पपड़े की मोटाई ८८५० फीट है। सारे पर्वत, पठार, घाटी और मैदान इससे ढके पड़े हैं। समस्त हिममण्डित प्रदेश उजाड़ खण्ड हैं, जहाँ जीवन का नामनिशान भी नहीं है। यहाँ प्रायः भीषण आँधियाँ चला करती हैं, जो अपने साथ बर्फ भी ले आती हैं, जिससे इस हिमावरण की मोटाई कम नहीं हो पाती। अन्टार्कटिक महाद्वीप तो इससे भी अधिक विस्तारवाले हिमावरण से ढका है जिसका क्षेत्रफल ५०००००० वर्गमील से भी अधिक है।

हिमावरण और हिमानी मे आकार और विस्तार का अन्तर तो है ही, साथ ही एक अंतर यह भी है कि हिमावरण हिमानी की भाँति घाटियों मे ही परिमित रहनेवाला नहीं है, वरन् पर्वतों और घाटियों के ऊपर पर्त की भाँति समान रूप से चढ़ा रहता है, जिससे कहीं-कहीं ऊँचे पहाड़ों की चोटियाँ भी छिप जाती हैं। हिमावरण आजकल केवल ग्रीनलैण्ड, अन्टार्कटिका व आईसलैण्ड मे ही अधिकतर पाया जाता है। पूर्वकाल मे विशाल विस्तृत हिमावरण उत्तरीय अमेरिका, योरप तथा पैंटागोनिया आदि प्रदेशों को भी पूर्णतया ढके हुए था। यद्यपि इसको नष्ट हुए सहस्रों वर्ष बीत गये हैं तथापि उसकी भूतत्त्विक प्रतिक्रियाओं के चिह्न अभी तक बचे हुए हैं और उन्हें देखकर यह पता लगाया जा सकता है कि उक्त हिमावरण का विस्तार, व्यवहार और आकार-प्रकार कैसा रहा होगा। यही जानने के लिए भूतत्त्ववेत्ता आधुनिक हिमानी और हिमावरण के रहस्यो को खोजते फिरते हैं।

जो प्रदेश हिमावरण अथवा हिमानी के शिकार हो चुके हैं, उनके रंग-रूप और आकार से न केवल वहाँ पर हिम के प्रभाव का पता चलता है, वरन् विभिन्न और निश्चित चिह्नों से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि इन प्रदेशों पर हिमानी का प्रभुत्व था अथवा हिमावरण का, क्योंकि दोनों की प्रतिक्रियाएँ और भूतत्त्विक कार्य बहुत-कुछ विभिन्न होते हैं।

हिमानी का कार्य

विशाल शिलाखण्डों और पर्वतों के निकट चट्टानों, रोड़ों, पत्थरों और शिलाखण्डों का छितरा रहना स्वाभाविक ही है, क्योंकि विशाल चट्टानों के अंश क्षतविक्षत होकर गिरते रहते हैं और उनके आस-पास ही फैले रहते हैं। परन्तु यदि ये छोटे-छोटे खण्ड उन चट्टानों से दूर ऐसे स्थानों में पाये जाते हैं, जहाँ आस-पास दूर तक उस प्रकार की कोई चट्टान न हो, अथवा आस-पास की चट्टानें इन खण्डों से रचना मे सर्वथा विभिन्न हों, तब स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि ये यहाँ कैसे आ गए। बहुधा विशाल शिलाखण्ड ऐसे स्थानों में पाये जाते हैं, जहाँ चारों ओर दूर तक या तो कोई चट्टान, पर्वत या

पहाड़ी होती ही नहीं और यदि होती भी है तो उस शिलाखण्ड की चट्टान से विभिन्न चट्टानोंवाली। अपने विशाल आकार के कारण ये शिलाखण्ड जलधाराओं के द्वारा इतनी दूर तक बहकर आ सकते ही नहीं।

जलधारा द्वारा बहाकर लाए गये रोडों से ये न केवल आकार मे ही विशाल होते हैं, वरन् उनका स्वरूप भी विभिन्न होता है। इस प्रकार के सभी ढोंके कघी द्वारा बनाई गई धारियों के समान धारियों से युक्त धरातलवाले होते हैं। इनको देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मोटी रेती इनके ऊपर घिसी गई है और रेती की रगड के चिन्ह अभी तक मिट नही पाये हैं।

सन् १८३७ ई० मे लुई अगाशेज नामक एक स्विस वैज्ञानिक ने यह अनुभव किया कि आल्प्स पर्वतश्रेणियों की नीची घाटियों मे, जहाँ बर्फ नहीं जमती, पत्थरों, रोडों और शिलाखण्डों के बिल्कुल उसी आकार और स्वरूप के ढेर पाये जाते हैं जैसे कि ऊँची बर्फीली घाटियों मे बहनेवाली हिमानी अपने साथ बहाती और नीचे स्थानों मे जमा करती रहती है। इस अनुभव से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी समय मे अवश्य ही इन निचली हिमविहीन घाटियों मे भी हिमानी का आधिपत्य था और उसी के परिणामस्वरूप इन घाटियों मे पत्थरों और रोडों के ऐसे ढेर जमा हो गए हैं।

अगाशेज के इस विचार ने लोगों को हिमानी के कार्य का अध्ययन करने मे बड़ी सहायता पहुँचाई। ऊपर हमने जिन 'अनाथ' शिलाखण्डों का जिक्र किया है उनके विषय मे भी लोगों ने खोज निकाला कि ये भी उन पत्थरों से मिलते-जुलते हैं जो आजकल की हिमानी द्वारा बहाकर लाये जाते हैं और स्थान-स्थान पर 'अरक्षित' और अनाथ-से छोड दिये जाते हैं।

जिन घाटियों मे कभी हिमानी का प्रवाह होता था, उनकी दशा का अध्ययन करने पर वे इन घाटियों से सर्वथा विभिन्न प्रतीत होती हैं जिनमे कभी भी हिम का आधिपत्य नहीं रहा। यही विभिन्नता हिमानी के कार्यों का लेखा है, जो प्रकृति की पुस्तक के पृष्ठों पर स्वयं हिमानी द्वारा लिखा गया है। हिमानी के क्षयात्मक और निक्षेपात्मक कार्य साथ-ही-साथ होते हैं और भूपृष्ठ का परिवर्तन करने मे दोनों ही कार्य क्रियात्मक होते हैं।

हिमानी की प्रक्रिया घिसाई (Abrasion), खुदाई (Quarrying), तुषारपात द्वारा मौसमी क्षति (Frost-weathering) आदि क्षयात्मक प्रणाली द्वारा होती है। स्थानान्तरित करने की क्रिया द्वारा हिमानी क्षतविक्षत और तोड़े हुए शिलाखण्डों को दूर पहुँचाती है और उनको स्थान-स्थान पर जमा करने की क्रिया उसकी निर्माणकारी प्रणाली का द्योतक है।

विशुद्ध बर्फ की शिलाओं द्वारा चट्टानों को किसी प्रकार की भी क्षति नहीं पहुँच सकती। परन्तु यदि हिमपिण्डों की तली मे चट्टानों की चूरचार और रोडे भरे हों तो हिमपिण्डों मे चट्टानों का विदारण करने की अपूर्व क्षमता उत्पन्न हो जाती है। हिमानी की पेंदी मे चट्टानों की चूरचार और शिलाखण्डों के रोडे आदि का जमा होना स्वाभाविक ही है। मार्ग मे बिखरे हुए रोडे और शिलाखण्ड, हिमानी की शीतलता के प्रभाव से, शीघ्र ही हिममण्डित होकर हिमानी के पिण्ड में सम्मिलित हो उसके सहयात्री बन जाते हैं। नीचे की भूमि से भी हिमानी की रगड़ के प्रभाव से शिलाखण्ड उखड-उखडकर उसके साथ हो लेते हैं। पार्श्व की चट्टानों के बाहर निकले हुए अश भी हिमानी की रगड से टूटकर उसके साथ हो लेते हैं।

घाटी मे बहती हुई हिमानी के ऊपर पार्श्व की चोटियों और ढालों से शिलाखण्ड लुढ़क-लुढककर आते ही रहते हैं। छोटी चूरचार और बडे-बड़े शिलाखण्ड, जो हिमानी के ऊपर गिरते हैं, उस पर जम जाते हैं और उसी प्रकार हिमानी के ऊपर चढे हुए उस समय तक आगे बढते रहते हैं जब तक हिमानी का अन्त नहीं हो जाता। हिमानी के नष्ट हो जाने पर उसके ऊपर लदा हुआ पदार्थ जहाँ-तहाँ जमा हो जाता है।

परन्तु जो खण्ड हिमानी की तली मे दब जाते अथवा पार्श्व मे फँस जाते हैं उन पर पूरी मार पड़ती है। वे हिमानी से दबे हुए मार्ग की चट्टानों से घिसटते, रगड़ते और ठोकर खाते हुए आगे बढते हैं। निरन्तर घिसटते रहने और रगड खाने से वे क्षीण और चपटे हो जाते हैं। बर्फ की पकड मे तनिक भी ढील पड़ते ही उनको मुक्ति मिलती है और वे करवट बदल लेते हैं। परन्तु इससे उनके बचे हुए पहल भी रगड मे आ जाते हैं। फल यह होता है कि प्रत्येक शिलाखण्ड मे कई पहल बन जाते हैं और प्रत्येक पहल रगड के चिन्ह से युक्त हो जाता है। पहलों को विभाजित करनेवाली रेखा पतली धार के रूप मे नहीं रह पाती, वरन् गोल और चिकनी बन जाती है। इन शिलाखण्डों का कोई निश्चित रूप और आकार नहीं होता। परन्तु हिमानी के द्वारा घिसे गए गोल धारवाले, कई पहलवाले शिलाखण्ड अन्य किसी भी भूतात्त्विक क्रिया से उत्पन्न नहीं होते। इसीलिए अपने अनोखे आकार-प्रकार से वे सहज ही पहचाने जा सकते हैं।

हिमानी की क्षयात्मक प्रक्रिया-प्रणाली मुख्यतः शिलाखण्डों और चट्टानों को रगड़कर घिसने तथा उन्हें उखाड़कर अलग कर देने या दूर हटा देने की है। तली में जमे हुए रोड़े, कंकड़ और पत्थर चट्टानों को रगड़ते तो हैं ही, साथ ही उन्हें कहीं खोखला करते, कहीं घिसकर चमकाते और कहीं खरोंचते भी जाते हैं। मार्ग की समतल और ऊबड़-खाबड़ सभी चट्टानें इनकी रगड़ से घिसकर चिकनी होती जाती हैं। इस प्रकार से घिसी हुई चट्टानों का रूप विचित्र ही हो जाता है। इस तरह के दृश्यवाली चट्टानों को फ्रेंच-भाषा में 'Roches Mountonnees' कहते हैं।

अपने प्रवाह-मार्ग को रोकनेवाले तथा पार्श्व की ओर से आगे बढ़े हुए एवं निराधार शिलाखण्डों को उखाड़कर तथा अपने साथ लेकर हिमानी उन्हें दबाये हुए आगे बढ़ती है। इस क्रिया का अधिक प्रभाव जोड़ों और सन्धियों से युक्त चट्टानों पर ही अधिक पड़ता है। जोड़रहित चट्टानों से शिलाखण्ड सहज में मुक्त नहीं हो पाते। ऊर्ध्वाधर तथा अधिक झुके हुए जोड़ या पर्तों वाली चट्टानों से बड़े-बड़े खण्ड सरलतापूर्वक उखड़ जाते हैं।

तुषार द्वारा चट्टानों को नष्ट करने की प्रक्रिया का हाल हम पहले ही बता चुके हैं। यदाकदा हिमानी के हिम के पिघलने से उत्पन्न हुआ जल चट्टानों की दरारों और जोड़ों में भर जाता है, जिसके प्रभाव से विशाल शिलाखण्ड क्षतविक्षत और खण्ड-खण्ड होकर गिर जाते हैं। यह प्रक्रिया हिमानी के नीचेवाली चट्टानों में तो होती ही है, साथ ही उन चट्टानों में अधिक होती है, जो हिमानी से ऊँची होती हैं और खुली होती हैं। इनके क्षत-विक्षत अंशों को भी हिमानी अपने ऊपर लादकर ले जाती है।

हिमानी के शिलाखण्डों को स्थानान्तरित करने की क्रिया जलधाराओं की क्रिया से सर्वथा भिन्न होती है। हिमानी के ऊपरी धरातल पर जो शिलाखण्ड गिरते रहते हैं वे हिमतल पर सवारी करते हुए सरलता से दूर पहुँच जाते हैं। जलधाराओं द्वारा बहाए गए पत्थर और रोड़े जल से भारी होने के कारण शीघ्र ही तलहटी में पहुँच जाते हैं और फिर भ्रमरजाल में पड़कर ही ऊपर आ पाते और आगे बढ़ पाते हैं। हिमानी का बहुत कम बोझा मार्ग में छुट पाता है। अधिकांश को वह अपने साथ अपने अन्तिम ठौर तक घसीट ले जाती है। अन्त में जब हिमानी का ही अन्त हो जाता है, तब बोझा भी अपनी यात्रा समाप्त करके वहीं 'ढेर' हो जाता है। हिमानी के ऊपर और नीचे दोनों ही तल कंकड़, पत्थर और रोड़ों को स्थानान्तरित करने में काम आते हैं। इनके बीच में स्वच्छ हिमशिला रहती है। दोनों पार्श्व में भी शिलाखण्ड फँसे हुए आगे खिसकते हैं।
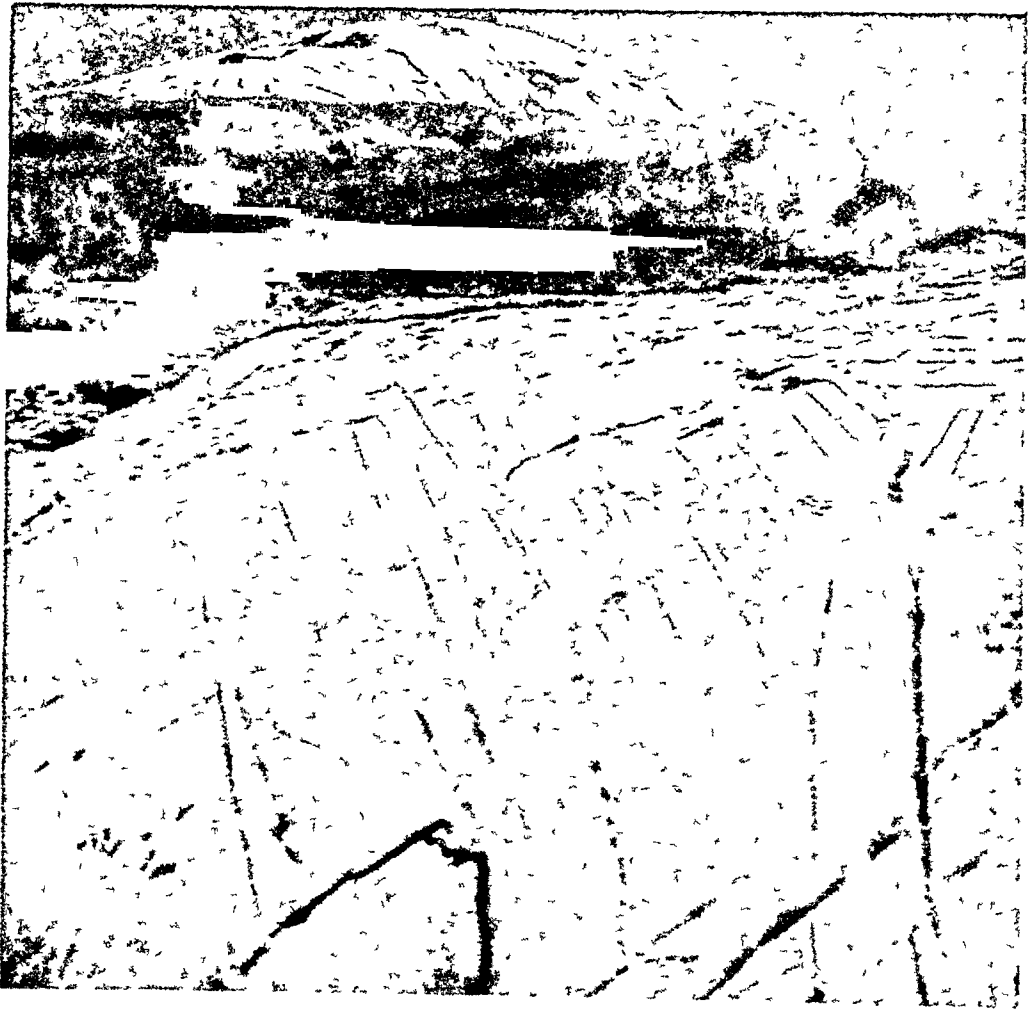
हिमानी की प्रक्रिया द्वारा रगड़े और घिसे गए चट्टानी धरातल का एक नमूना

जलधारा के स्वभाव के विपरीत, हिमानी बड़े-से-बड़े और नन्हे-से-नन्हें शिलाखण्ड और रेणुकाराशि, सभी को समान गति से अपने साथ लेकर आगे बढती है।

हिमानी के मूल के निकट का और उसके प्रवाह-मार्ग की घाटी का विचित्र और अनोखा रूप हो जाता है। जिन घाटियों मे हिमानी का अस्तित्त्व है अथवा कभी रह चुका है, उनको साधारण जलधाराओंवाली घाटियों से अलग पहचान लेना कठिन नहीं है। हिमानी के स्मारक चिह्न ऐसे गहरे और स्पष्ट होते हैं कि प्रकृति को भी उनके मिटा सकने मे बहुत समय की आवश्यकता पडती है। पृथ्वी के इतिहास मे एक समय ऐसा भी था जब पृथ्वी का अधिकाश भाग ठण्डा हो गया था और धरातल पर हिमावरण छा गया था। उस काल के चिह्न अनेकों स्थानों पर अब भी सुरक्षित हैं और उस महान् युग की याद दिलाते हैं।

हिमानी मे बहकर आनेवाले हिम का मूल स्रोत सदैव हिम-रेखा से ऊँचे स्थानों पर ही होता है, परन्तु हिमानी हिमरेखा से कई सहस्र फीट नीचे तक उतर आती है। आल्प्स पर्वत की हिमानी बहुधा समुद्र तल से २००० फीट ऊँची भूमि तक बहकर आती हैं। न्यूजीलैण्ड मे हिमानी का अन्तिम छोर उष्ण प्रदेशीय चीड के सघन वनों तक मे प्रवेश कर जाता है।

हिमानी जैसे ही हिमरेखा से नीचे उतरती है, उसके धरातल का हिम गलने लगता है। तली के हिम मे भी धरती की उष्णता के प्रभाव से सलिलता आ जाती है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे हिमानी नीचे उतरती है, उसके हिम की स्थूलता कम हो जाती है। अन्तिम छोर मे तो नाममात्र को ही हिम रह जाता है। हिम में फँसे हुए कक्ड, पत्थर और रोडे तथा बालुकाकण धीरे-धीरे अभिमुक्त होने लगते हैं। जब हिम की मात्रा बहुत कम हो जाती है और ये सब हिम के नीचे छिपे नहीं रह सकते, तब यहाँ तक होता है कि इस कक्ड-पत्थर के ढेर मे हिम के अश फँसे मालूम होने लगते हैं, अर्थात् हिम के स्थान पर अब उसके द्वारा बहाये गए कक्ड-पत्थर और रोडो की अधिकता हो जाती है और ऐसा मालूम होने लगता है कि रोडो और कक्ड-पत्थरों का यह ढेर हिमानी के अन्तिम छोर को आगे बढने मे बाधा दे रहा है।

उत्पत्ति, प्रवाह तथा प्रक्रिया के अनुसार हिमानी को विद्वानो ने कई श्रेणियो मे बाँटा है।

सबसे अधिक महत्व उस हिमानी का है जो घाटी के दोनों पार्श्वों की सीमा में ही रहती है। इसकी चाल-ढाल जलधाराओं और झीलों की भाँति होती है। घाटी के पार्श्व से लटकी हुई शैलबाहुओं के नीचे हिमानी का प्रवाह होता है। उद्गमस्थान हिमानी की प्रक्रिया से अर्द्धगोल मच के समान धँसा हुआ-सा प्रतीत होता है, जिसे 'सिरक' (Cirque) कहते हैं। हिमपिण्ड आ-आकर इसी धँसे हुए शैलखण्ड मे एकत्रित होते हैं। हिमपिण्डों की अधिकता होते ही हिम बन्धन तोड़कर आगे फिसलने लगता है। हिमालय पर्वत के उच्च स्थलों में इस प्रकार के हिमागार बहुधा देखने में आते हैं। यदाकदा हिमानी बुझे हुए ज्वालामुखी पर्वत के कटोरे-सरीखे मुख मे भर जानेवाले हिम से भी बह निकलती है। कहीं कहीं हिमानी पर्वतों के ऊपर से लटकी हुई-सी निकल पडती है।

'सिरक' की रचना किस प्रकार होती है, विद्वानों के लिए यह प्रश्न बहुत दिनों तक एक पहेली बना रहा। इसका रहस्योद्घाटन सर्वप्रथम सयुक्त राज्य (अमेरिका) के भूतत्त्विक पडताल विभाग के स्वर्गीय डब्ल्यू० डी० जानसन तथा एफ० ई० मालथेज ने किया था। उनका कहना था कि सिरक की रचना हिमानी की उत्पत्ति के पूर्व हिम के द्वारा ही होती है। पर्वतो के ढालो पर जो हिम एकत्रित हो जाता है उसकी प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप चट्टानो के धीरे-धीरे नष्ट होने से खोखली जगह बन जाती है जिसम धूप की तेजी से पिघले हुए हिम का जल इकट्ठा होता रहता है। छिद्रों और दरारो मे जल भर जाने पर जब शीतलता के कारण जमकर फिर हिम बनता है तो आयतन बढ जाने के कारण वह शिलाखण्डों को चूर-चूर कर देता है। जल की प्रतिक्रिया से इस प्रकार की क्षतविक्षत चट्टानों का चूर्ण अश हटता रहता है और नई चट्टानो पर प्रक्रिया जारी रहती है। इस प्रकार पर्वतो के ढालो मे स्वय खुदाई होती रहती है और ढाल मे बना हुआ छोटा-सा गर्त कालान्तर में विशाल हिमखड्ड का रूप धारण कर लेता है, जिससे हिमानी बह निकलती है।

जहाँ हिमानी हिमखण्ड से बाहर निकलती है उस स्थान पर हिम फट-सा जाता है और हिमानी और हिमखड्ड के बीच मे चौडी दरार दिखाई देने लगती है। सिरानिवेदा पर्वत की एक ऐसी ही खाई मे मि० जानसन १५० फीट की गहराई तक उतर गए। खाई का फर्श सादी चट्टान था। यह देखकर उनके आश्चर्य का पार न रहा। इस फर्श पर हिम के स्थान पर स्वच्छ जल बहता था। शरद् ऋतु मे इस खाई मे भी बर्फ भर जाता था और हिमानी हिम-खड्ड में हिम से सबधित जान पड़ती थी। परन्तु ग्रीष्म ऋतु मे फिर उसी स्थान पर दरार पड़ जाती थी।

हिमानी के द्वारा नई घाटियों की रचना नहीं होती, परन्तु पुरानी घाटियों का रूप-परिवर्त्तन अवश्य होता है। जितने अधिक दिन तक हिमानी किसी घाटी मे रहती है उतना ही अधिक व्यापक और प्रकट इस परिवर्त्तन का स्वरूप दिखाई देता है। हिमागार से निकलकर हिमानी अपने जन्म के पहले की जलधारा-निर्मित्त घाटी में बह निकलती है। हिमानी का स्थूल शरीर जलधारा-निर्मित्त वक्र, सर्पिल तथा सकीर्ण घाटियो मे समा नही पाता। फलस्वरूप सकीर्ण और सर्पिलाकार घाटी की तीव्र धारवाल शैलबाहुओ से हिमानी का सघर्ष आरम्भ हो जाता है। नित्यप्रति के सघर्ष से चट्टाने घिसती जाती है और शैलबाहुओ के अग्रभाग एव तीव्र धारे घिस-घिसकर चिकनी और सीधी हो जाती हैं। V आकार की घाटियाँ, जो जलधारा की प्रक्रिया से बनी थी, U आकार मे परिवर्त्तित हो जाती हैं। इनमे हिमानी बिना रुकावट बहती रहती है।

शैलबाहुओं के घिस जाने से उनके बीच की सहायक नदियो की घाटियो का रूप भी बदल जाता है। इन सहायक नदियो की घाटियो के मुख हिमानी के सघर्ष के फलस्वरूप घिसते जाते हैं और पीछे हटते जाते हैं। परन्तु उनमे बहनेवाली नदी इतनी शीघ्रता से अपना तल गहरा नहीं कर पाती। फल यह होता है कि धीरे-धीरे सहायक नदी के प्रवेश द्वार का ढाल नष्ट हो जाता है और उसको ऊँचाई से एकदम मुख्य घाटी मे गिरना पड़ता है। जब हिमानी नष्ट हो जाती है तब इन लटकती हुई नदियो का जल झरने के रूप मे मुख्य घाटी मे बहता है। जिन घाटियों मे इस प्रकार की झरनेवाली सहायक नदियाँ पाई जाती हैं उनमे किसी समय हिमानी का बहना सिद्ध होता है। हिमानी की प्रक्रिया से घाटी चौड़ी और गहरी भी होती है।

हिमानी की प्रक्रिया की याद दिलानेवाली एक घाटी—सुदूर भूतकाल में किसी समय एक हिमानी यहाँ बहती थी। उसके स्मारक के रूप में अब केवल यह झरना रह गया है।

जलधारा के स्वभाव के विपरीत, हिमानी बड़े-से-बड़े और नन्हें-से-नन्हें शिलाखण्ड और रेणुकाराशि, सभी को समान गति से अपने साथ लेकर आगे बढ़ती है।

हिमानी के मूल के निकट का और उसके प्रवाह-मार्ग की घाटी का विचित्र और अनोखा रूप हो जाता है। जिन घाटियों में हिमानी का अस्तित्व है अथवा कभी रह चुका है, उनको साधारण जलधाराओंवाली घाटियों से अलग पहचान लेना कठिन नही है। हिमानी के स्मारक चिह्न ऐसे गहरे और स्पष्ट होते हैं कि प्रकृति को भी उनके मिटा सकने मे बहुत समय की आवश्यकता पड़ती है। पृथ्वी के इतिहास मे एक समय ऐसा भी था जब पृथ्वी का अधिकाश भाग ठण्डा हो गया था और धरातल पर हिमावरण छा गया था। उस काल के चिह्न अनेकों स्थानों पर अब भी सुरक्षित हैं और उस महान् युग की याद दिलाते हैं।

हिमानी मे बहकर आनेवाले हिम का मूल स्रोत सदैव हिम-रेखा से ऊँचे स्थानों पर ही होता है, परन्तु हिमानी हिमरेखा से कई सहस्र फीट नीचे तक उतर आती है। आल्प्स पर्वत की हिमानी बहुधा समुद्र तल से २००० फीट ऊँची भूमि तक बढ़कर आती हैं। न्यूज़ीलैण्ड मे हिमानीं का अन्तिम छोर उष्ण प्रदेशीय चीड़ के सघन वनों तक मे प्रवेश कर जाता है।

हिमानी जैसे ही हिमरेखा से नीचे उतरती है, उसके धरातल का हिम गलने लगता है। तली के हिम मे भी धरती की उष्णता के प्रभाव से सलिलता आ जाती है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे हिमानी नीचे उतरती है, उसके हिम की स्थूलता कम हो जाती है। अन्तिम छोर मे तो नाममात्र को ही हिम रह जाता है। हिम मे फँसे हुए कड़्कड़, पत्थर और रोड़े तथा बालुकाकण धीरे-धीरे अभिमुक्त होने लगते हैं। जब हिम की मात्रा बहुत कम हो जाती है और ये सब हिम के नीचे छिपे नहीं रह सकते, तब यहाँ तक होता है कि इस कड़्कड़-पत्थर के ढेर मे हिम के अश फँसे मालूम होने लगते हैं, अर्थात् हिम के स्थान पर अब उसके द्वारा बहाये गए कङ्कड़-पत्थर और रोड़ो की अधिकता हो जाती है और ऐसा मालूम होने लगता है कि रोड़ो और कङ्कड़-पत्थरो का यह ढेर हिमानी के अन्तिम छोर को आगे बढ़ने मे बाधा दे रहा है।

उत्पत्ति, प्रवाह तथा प्रक्रिया के अनुसार हिमानी को विद्वानों ने कई श्रेणियों मे बाँटा है।

सबसे अधिक महत्व उस हिमानी का है जो घाटी के दोनों पार्श्वों की सीमा में ही रहती है। इसकी चाल-ढाल जलधाराओं और झीलो की भाँति होती है। घाटी के पार्श्व से लटकी हुई शैलबाहुओं के नीचे हिमानी का प्रवाह होता है। उद्गमस्थान हिमानी की प्रक्रिया से अर्द्धगोल मञ्च के समान धँसा हुआ-सा प्रतीत होता है, जिसे 'सिरक' (Cirque) कहते हैं। हिमपिण्ड आ-आकर इसी धँसे हुए शैलखण्ड मे एकत्रित होते हैं। हिमपिण्डों की अधिकता होते ही हिम बन्धन तोड़कर आगे फिसलने लगता है। हिमालय पर्वत के उच्च स्थलों मे इस प्रकार के हिमागार बहुधा देखने में आते हैं। यदाकदा हिमानी बुझे हुए ज्वालामुखी पर्वत के कटोरे-सरीखे मुख में भर जानेवाले हिम से भी वह निकलती है। कहीं कहीं हिमानी पर्वतो के ऊपर से लटकी हुई-सी निकल पड़ती है।

'सिरक' की रचना किस प्रकार होती है, विद्वानों के लिए यह प्रश्न बहुत दिनों तक एक पहेली बना रहा। इसका रहस्योद्घाटन सर्वप्रथम सयुक्त राज्य (अमेरिका) के भूतत्त्विक पड़ताल विभाग के स्वर्गीय डब्ल्यू० डी० जानसन तथा एफ० ई० मालथेज ने किया था। उनका कहना था कि सिरक की रचना हिमानी की उत्पत्ति के पूर्व हिम के द्वारा ही होती है। पर्वतों के ढालो पर जो हिम एकत्रित हो जाता है उसकी प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप चट्टानो के धीरे-धीरे नष्ट होने से खोखली जगह बन जाती है जिसम धूप की तेजी से पिघले हुए हिम का जल इकट्ठा होता रहता है। छिद्रों और दरारो मे जल भर जाने पर जब शीतलता के कारण जमकर फिर हिम बनता है तो आयतन बढ़ जाने के कारण वह शिलाखण्डों को चूर-चूर कर देता है। जल की प्रतिक्रिया से इस प्रकार की क्षतविक्षत चट्टानो का चूर्ण अश हटता रहता है और नई चट्टानो पर प्रक्रिया जारी रहती है। इस प्रकार पर्वतो के ढालो में स्वय खुदाई होती रहती है और ढाल मे बना हुआ छोटा-सा गर्त कालान्तर में विशाल हिमखड्ड का रूप धारण कर लेता है, जिससे हिमानी बह निकलती है।

जहाँ हिमानी हिमखण्ड से बाहर निकलती है उस स्थान पर हिम फट-सा जाता है और हिमानी और हिमखड्ड के बीच मे चौड़ी दरार दिखाई देने लगती है। सिरानिवेदा पर्वत की एक ऐसी ही खाई मे मि० जानसन १५० फीट की गहराई तक उतर गए। खाई का फर्श सादी चट्टान था। यह देखकर उनके आश्चर्य का पार न रहा। इस फर्श पर हिम के स्थान पर स्वच्छ जल बहता था। शरद् ऋतु में इस खाई मे भी बर्फ भर जाता था और हिमानी हिम-खड्ड मे हिम से सम्बधित जान पड़ती थी। परन्तु ग्रीष्म ऋतु मे फिर उसी स्थान पर दरार पड़ जाती थी।

हिमानी के द्वारा नई घाटियों की रचना नही होती, परन्तु पुरानी घाटियों का रूप-परिवर्त्तन अवश्य होता है। जितने अधिक दिन तक हिमानी किसी घाटी मे रहती है उतना ही अधिक व्यापक और प्रकट इस परिवर्त्तन का स्वरूप दिखाई देता है। हिमागार से निकलकर हिमानी अपने जन्म के पहले की जलधारा-निर्मित्त घाटी में बह निकलती है। हिमानी का स्थूल शरीर जलधारा-निर्मित्त वक्र, सर्पिल तथा सकीर्ण घाटियो मे समा नही पाता। फलस्वरूप सकीर्ण और सर्पिलाकार घाटी की तीव्र धारवाल शैलबाहुओ से हिमानी का सघर्ष आरम्भ हो जाता है। नित्यप्रति के सघर्ष से चट्टाने घिसती जाती हैं और शैलबाहुओं के अग्रभाग एव तीव्र धारें घिस-घिसकर चिकनी और सीधी हो जाती हैं। V आकार की घाटियाँ, जो जलधारा की प्रक्रिया से बनी थी, U आकार मे परिवर्त्तित हो जाती हैं। इनमे हिमानी बिना रुकावट बहती रहती है।

शैलबाहुओं के घिस जाने से उनके बीच की सहायक नदियो की घाटियो का रूप भी बदल जाता है। इन सहायक नदियो की घाटियो के मुख हिमानी के सघर्ष के फलस्वरूप घिसते जाते हैं और पीछे हटते जाते हैं। परन्तु उनमे बहनेवाली नदी इतनी शीघ्रता से अपना तल गहरा नहीं कर पाती। फल यह होता है कि धीरे-धीरे सहायक नदी के प्रवेश द्वार का ढाल नष्ट हो जाता है और उसको ऊँचाई से एकदम मुख्य घाटी मे गिरना पड़ता है। जब हिमानी नष्ट हो जाती है तब इन लटकती हुई नदियों का जल झरने के रूप मे मुख्य घाटी मे बहता है। जिन घाटियों मे इस प्रकार की झरनेवाली सहायक नदियॉ पाई जाती हैं उनमे किसी समय हिमानी का बहना सिद्ध होता है। हिमानी की प्रक्रिया से घाटी चौड़ी और गहरी भी होती है।

हिमानी की प्रक्रिया की याद दिलानेवाली एक घाटी—सुदूर भूतकाल में किसी समय एक हिमानी यहाँ बहती थी। उसके स्मारक के रूप में अब केवल यह झरना रह गया है।

कहीं-कहीं प्रधान घाटी के ढाल में भी हिमानी की प्रतिक्रिया से अपूर्व परिवर्त्तन हो जाता है। नतोदर कटाववाली घाटियों के समतलीय ढाल के स्थान पर सकीर्ण सीढियों की पक्ति बन जाती है, जिनका ऊपरी तल पीछे की ओर झुका होता है। हिमानी की रगड़ खाई हुई शिलाएँ चिकनी और गोल धारवाली होती हैं, साथ ही उनके तल हिमानी मे फँसे हुए नुकीले शिलाखण्डों की रगड़ से उत्पन्न खरोंचों से भरे होते हैं। हिमानी के मार्ग की शिलाओं में इन विचित्र खरोंचों का होना आवश्यक ही है। इसीलिए इस प्रकार के खरोंचों को 'हिमचिन्ह' के नाम से पुकारा जाता है। इन खरोंचों की प्रवृत्ति से यह जाना जा सकता है कि हिमानी का प्रवाह किस दिशा की ओर था।

जिस घाटी मे हिमानी प्रवाहित हो चुकी है उसको सरलता से पहचाना जा सकता है। इस प्रकार की घाटियो के आदि छोर पर (हिमानी के मूल की ओर) हिमागार (सिरक) बना होगा। घाटी मे तीक्ष्ण मोड न होंगे। परस्पर सलग्न शिलाबाहुओं का अभाव होगा। घिसकर क्षीण हो गई शिलाबाहुओं मे ढलुवाँ त्रिकोण-तल बने होंगे। स्निग्ध शिलापट होंगे। घाटी का कटाव U आकार का होगा। धरातल की भूमि ढालू तो होगी, परन्तु समतल न होकर सीढियों की पक्ति के रूप में होगी। सहायक घाटियों के प्रवेश-द्वार प्रमुख घाटी के तल से ऊँचे 'टँगे'-से होंगे। अलास्का, लब्राडर, ग्रीनलैण्ड, स्केन्डिनेविया और चिली आदि प्रदेशों के तटवर्त्ती फियर्ड हिमानी की घाटी के अन्तिम छोर हैं।

शिलाओं की चूरचार हिम घुल जाने पर जल के नीचे बैठ जाती है। हिम के ऊपर लदा हुआ बोझा हिमानी के अन्तिम छोर पर जमा हो जाता है। इस ढेर मे छोटे-बडे कक्ड-पत्थर और रोडे बड़ी विशृङ्खल रीति से जमा रहते हैं। लगभग सभी शिलाखण्ड खुरदरे और क्षत होते हैं। परन्तु थोडे-से—लगभग ५ प्रतिशत—चिकने और चमकदार तथा सुन्दर पहलवाले भी होते हैं। इनका ऐसा रूप धीरे-धीरे घिसते रहने से हो जाता है। हिमानी द्वारा एकत्रित किये गये ऐसे शिलाखण्डों की राशि को 'मोरेन' (Moraine) कहते हैं, यह हम पहले ही बता चुके हैं। इन टीलों के तीन रूप होते हैं, 'पार्श्ववर्त्ती', 'मध्यवर्त्ती' और 'अन्तिम'। पार्श्ववर्त्ती और मध्यवर्त्ती टीलों की खण्डराशि बिखरी हुई रहती है, परन्तु अन्तिम टीला शिलाखण्डों की घनी राशि के ढेर के रूप मे होता है, जिसमे छोटे-बडे खण्ड एक-दूसरे से सटे हुए जमा रहते हैं। इनकी ऊँचाई दो-चार फीट से ५०-६० फ़ीट तक और कहीं-कहीं सैकड़ों फीट तक होती है। परन्तु इतने ऊँचे टीले बहुत कम पाये जाते हैं। फैलाव इनका अधिक नहीं होता। अधिक-से-अधिक ये घाटी की चौडाई के बराबर फैलाववाले होते हैं। मध्यवर्त्ती भाग आगे की ओर उन्नतोदर होता है, जिससे ज्ञात होता है कि हिमानी का मध्य भाग पार्श्व की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील होता है। मध्य भाग जितनी तेज़ी से बढ़ता है उन्नतोदर भाग उतना ही अधिक आगे की ओर बढ़ा होता है।

जिन स्थानों पर हिम नष्ट होते ही जल का प्रवाह रोड़े, ककड़, पत्थर आदि को तेजी से आगे बहा ले जाता है, वहाँ की घाटियों मे अन्तिम टीलों का एकदम अभाव-सा होता है। अधिकतर ऐसा सकीर्ण और ढालू घाटियो मे ही होता है।

ग्रीष्म ऋतु के दिनों मे हिमानी पर चढ़नेवाले देखते हैं कि हिमानी के अन्तिम छोर के निकट के भाग का हिम पिघल-पिघलकर जल के रूप मे बहता जाता है। जल का प्रवाह हिमानी के धरातल मे बनी छोटी छोटी नालियों मे तो होता ही है, साथ ही हिमराशि के अन्तराल मे भी जलधाराएँ और जलप्रपात बहते हैं। इनकी गम्भीर घुटी हुई ध्वनि हिमानी के आस-पास बराबर सुनाई देती है। हिमानी के भीतर-भीतर सुरगों के समान मार्ग बनाती हुई ये धाराएँ अन्त में हिमानी के बाहर निकल पड़ती हैं। हिमालय-सरीखी हिमाच्छादित पर्वतमालाओं मे इस प्रकार की सहस्रों धाराएँ देखने मे आती हैं। इन धाराओं मे छोटे-छोटे शिलाखण्ड, बालुकण, मिट्टी और कीचड़ आदि भरे रहते हैं। ये सब पदार्थ हिमानी से ही बहकर आते हैं। धवल शिलाखण्डों के सघर्ष से उत्पन्न बालुकाराशि मैदे के सदृश हो जाती है। यह जल मे मिलकर जल को इतना गँदला बना देती है कि जल दुग्ध-जैसा श्वेत प्रतीत होता है। हिमालय की लगभग सभी नदियो का जल उद्गम के समीप दुग्ध के समान दिखलाई पड़ता है और कहीं-कहीं लोग इन जलधाराओ को दुग्धधाराओं के नाम से पुकारते हैं।

हिमानी से मुक्त होते ही इन धाराओ मे इस भार का तलहटी मे बैठना और मार्ग मे एकत्रित होकर रुक जाना आरम्भ हो जाता है। बडे शिलाखण्ड और ढोके थोड़ी दूर तक लुढकते चलते हैं, परन्तु शीघ्र ही वे भी छूट जाते हैं। इसके बाद बडे रोडे और फिर महीन खण्ड, मिट्टी, बालू, रेणु आदि क्रमशः छूटते जाते हैं। केवल मिट्टी के सूक्ष्म कण जल मे घुले हुए-से बहकर दूर चले जाते हैं और कभी-कभी सीधे सागर तक की यात्रा पर जाते हैं। धारा के बीच-बीच मे भी महीन बालू और मिट्टी के फैले

हुए ढेर जम जाते हैं। इससे धारा कई अंशों में बँटकर वेणी के समान गुँधी हुई-सी लगती है। वेणी के समान रूप इस कारण हो जाता है कि ये धाराएँ अपना मार्ग शीघ्र ही बालू, मिट्टी और कीचड से भर देती हैं और उफनाकर दूसरा मार्ग ग्रहण कर लेती हैं। बार-बार मार्ग बदलने से अपनी जमाई हुई गाद और बालुकाराशि को वे काट-काटकर बहा ले जाती है। महीन कण बह जाते हैं, परन्तु भारी कण रुक जाते हैं। साधारण जलधाराओं के द्वारा बहाकर लाये गए शिलाखण्डों के कण गोलमटोल और बिना धारवाले चिकने तल के होते हैं, परन्तु हिमानी से उत्पन्न जलधाराओं द्वारा जमा किये गये कण अपने अनेक पहलों, खरोंचोदार तल तथा मोटी धार के कारण अलग पहचाने जा सकते हैं।

हिमानी का जीवनचक्र

पृथ्वी की वर्तमान और भूतकालिक अवस्था के सम्बन्ध में हम जो कुछ भी जान पाये हैं, उससे यही प्रतीत होता है कि किसी प्रदेश में हिमानी का होना उसी प्रकार स्थानीय और अल्पकालिक होता है, जैसे झीलों और सरोवरों का। एक ऐसे पहाड़ी प्रदेश की कल्पना कीजिए, जहाँ पर प्रचुर मात्रा में वर्षा का जल गिरकर सरिताओं द्वारा बह जाता है और जहाँ की जलवायु परिवर्तित होकर धीरे-धीरे शीतप्रधान होती जाती है। शीतकालीन तुषार धीरे-धीरे ग्रीष्म काल में भी जमा रहने लगता है। छोटे-छोटे हिमक्षेत्र बनने लगते हैं। तुषार और हिम की प्रक्रिया से चट्टानें स्वयं ही फटती हैं और नष्ट होने लगती हैं। धीरे-धीरे हिमागारों की रचना होती है। हिमागार का विस्तार बढते ही उससे निकलकर छोटी-छोटी हिमानी आगे बढने लगती हैं और शीघ्र ही ये जलधाराओं के द्वारा रचित घाटियों में उतर आती हैं। इन सकीर्ण घाटियों को क्षतविक्षत करती हुई वे उन्हें चौड़ी और गहरी बनाती चलती हैं। इन घाटियों में आनेवाली छोटी सकीर्ण सहायक घाटियाँ, जो हिमानीयुक्त हों या हिमानीरहित, टँगी हुई रह जाती हैं। शिलाबाहु घिसते-घिसते क्षीण होते जाते हैं और प्रधान घाटी अपनी वक्रता और सर्पिल आकार को छोड़कर बहुत कुछ सीधी बन जाती है। चट्टानों के सघर्ष से उत्पन्न चूरचार कुछ तो हिमानी के पार्श्वों में जमा हो जाता है और कुछ तली में फँस जाता है। कुछ को हिमानी से उत्पन्न जलधाराएँ बहा ले जाती हैं।

घाटियों के गहरी और चौडी होने के साथ-साथ पर्वत
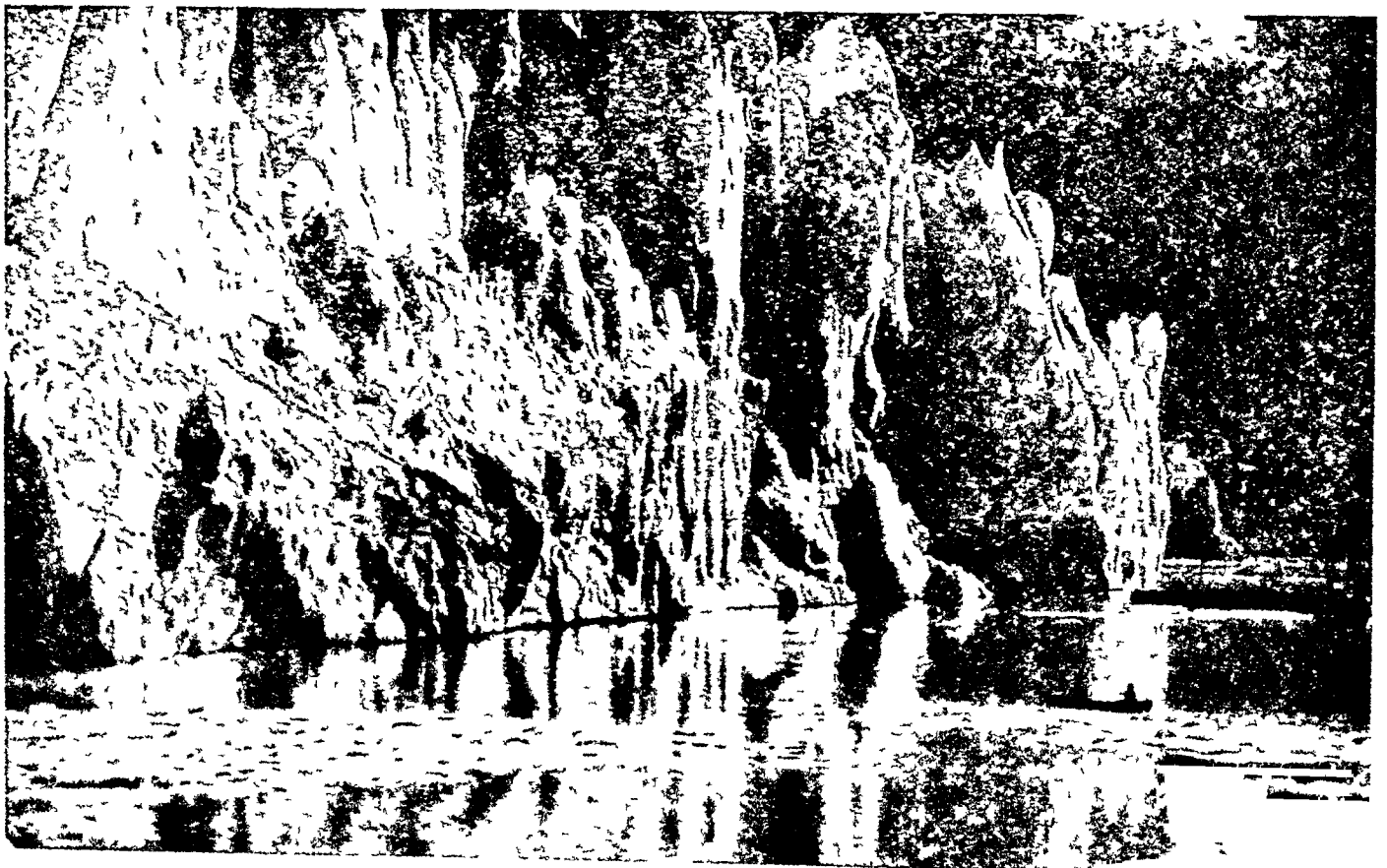
अलास्का की 'क्लिान ग्लेशियर' नामक हिमानी का अंतिम छोर जहाँ यह हिमानी समाप्त होकर क्लिान झील में मिलती है। हिमानी के अंतिम छोर की यह बर्फीली दीवार पानी से १६० फीट ऊँची है और प्रति दिन दो फ़ीट आगे को खिसकती है। इसमें से धँसकर विशाल हिमखण्ड जल में गिरते रहते हैं।

के ऊँचे शिखर तुषारपात के कारण क्षत होते जाते हैं, और क्षीणकाय हो जाते हैं। साथ ही तुषार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उनके ढालों पर उत्पन्न हुए हिमागार विस्तृत और विशाल रूप धारण कर लेते हैं। शिखर के दोनो ओर के ढालों पर यदि हिमागार बन जाते हैं तो दोनो का विस्तार बडी शीघ्रता से ऊपर की ओर बढता है और थोडे ही समय मे बीच का जल-विभाजक छुरे की तीक्ष्ण धार के समान पतला पड जाता है। निरन्तर तुषार की प्रक्रिया से क्षतविक्षत होते रहने के कारण इस पतली श्रेणी की तीक्ष्णता बढती ही जाती है। धीरे-धीरे दोनों दलोंवाले खड्ड इतने ऊपर तक विस्तृत हो जाते हैं और इतने गहरे हो जाते हैं कि उनके बीच की शिलाएँ भी नष्टभ्रष्ट हो जाती हैं और उस स्थान मे पर्वत-श्रेणी खाली हो जाती है, जो कालान्तर मे अधिक चौडी और गहरी होने तथा हिम नष्ट हो जाने पर दर्रे का रूप धारण कर लेती है। ऊँचे-ऊँचे पर्वतों के बीच-बीच मे पाये जानेवाले दर्रों की रचना इसी प्रकार होती है।

कभी-कभी पर्वत-श्रेणी के तीन या चारों ओर हिमागार बनने आरम्भ होते हैं। स्थूल पर्वत-शिखर इन हिमखड्डों की प्रक्रिया से शीघ्र ही कई पहलयुक्त क्षीण पिरामिड के आकार मे परिणत हो जाता है। आल्प्स पर्वत की श्रेणियो मे मैटर्नहार्न और जग फ्राउ नामक शिखर इसी प्रक्रिया के उदाहरण हैं।

अब यदि जलवायु मे फिर परिवर्त्तन हुआ और धीरे-धीरे शीतलता कम होती रही तो जलवायु ग्रीष्मप्रधान हो जाती है। तुषारपात कम हो जायगा और हिमक्षेत्र मे भी हिम की राशि घटती जायगी। हिमराशि के कम हो जाने से हिमानी की चाल मन्द हो जायगी और हिम पिघलने लगेगा। हिमानी के अन्तिम छोर पर अन्तिम टीले की मेहराबदार रेखा बनने लगेगी और उसके पीछे हिमानी से निकली हुई दुग्धधाराएँ अपने मार्ग को वेणी के समान गूँथती हुई बहने लगेंगी। अब अन्तिम टीला छोडकर हिमानी मूल की ओर हटने लगती है। प्रत्येक अस्थायी छोर पर छोटे-छोटे 'अन्तिम टीले' जमा होते जाते हैं और हिमानी के ऊपर हटते ही छूट जाते हैं। इन टीलों की असख्य पक्तियाँ घाटी के धरातल पर कण्ठहार की लडियो के समान सुशोभित होती हैं। कभी-कभी इनके पीछे जल आबद्ध हो जाने से सुन्दर सरोवरों की रचना हो जाती है। यदाकदा इन सरोवरो का जल जब टीले की दीवाल को तोडकर फूट निकलता है तो घाटी के निचले प्रदेश मे अस्थायी बाढ आ जाती है।

कुछ वर्षों के उपरान्त हिमानी क्षीणकाय होते-होते एकदम विलुप्त हो जाती है और केवल हिमागार मे छितरे हुए हिमाश टोपियों के रूप में जमा दिखाई देते हैं। हिमानी के नष्ट होते ही वर्षा का जल फिर अपनी घाटियो मे आधिपत्य जमा लेता है और घाटी को अपनी इच्छानुसार गढना आरम्भ कर देता है। कालान्तर मे घाटी पर जलधाराओं और सरिताओं का आधिपत्य हुए इतने अधिक दिन बीत जाते हैं कि उनके अपने चिन्हो मे हिमानी के अवशेष चिन्ह विलुप्त हो जाते हैं और कोई उस घाटी को देखकर कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसमे कभी हिमानी का भी आधिपत्य रहा होगा।

हिमानी और हिमावरण की उत्पत्ति का रहस्य

वैज्ञानिकों के बहुत माथापच्ची करने पर भी हिमानी और हिमावरण के रहस्य का सन्तोषजनक उद्घाटन नहीं हो पाया है। यह सभी वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है कि हिमावरण की उत्पत्ति किसी एक कारण विशेष से नहीं होती वरन् कतिपय कारणो के सम्मिलित प्रभाव से ही वे परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनमे हिमानी और हिमावरण उत्पन्न हो जाते हैं। जलवायु के परिवर्त्तन, सूर्य से पृथ्वी पर आनेवाली शक्ति मे न्यूनाधिक्ता होना, स्थलखण्डों के विस्तार का घटना और बढना, जलमण्डल की धाराओं का मार्ग परिवर्त्तन, वायु का प्रकोप, वायुमण्डल मे कार्बन डाइऑक्साइड गैस तथा ज्वालामुखी की मात्राओं मे न्यूनाधिक्ता होना आदि ऐसे कारण हैं, जिनका प्रभाव हिमावरण की उत्पत्ति पर पड़ता है।

पृथ्वी की रचना के इतिहास की खोज करनेवालो ने यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी के इतिहास मे अनेको बार ऐसे अवसर आए हैं, जब समस्त भूमण्डल हिमावरण से ढक गया है। धीरे-धीरे परिस्थितियों के परिवर्त्तन से हिमावरण के बाद पुन. उष्ण जलवायु का प्रभुत्व होता रहा है और फिर उष्णता कम होते-होते कालान्तर मे हिमप्रधान जलवायु का प्रभुत्व होता रहा है। इस प्रकार हिमावरण का चक्र आदि काल ही से चलता रहा है। हिमावरण के नष्ट होने पर जो चिह्न पाये जाते हैं उनको देखकर यह प्रतीत होता है कि (भूतत्त्विक भाषा के अनुसार) थोडे समय पूर्व ही उत्तरीय अमेरिका, ग्रीनलैण्ड, स्केन्डिनेविया, स्कॉटलैण्ड, आईर्सलैण्ड, हालैण्ड, जर्मनी, पोलैण्ड और रूस के साईबेरिया प्रान्त तक इसका विस्तार रहा होगा। ग्रीनलैण्ड आदि मे पाया जानेवाला हिमावरण इसी का अंश है जो कतिपय कारणो से नष्ट होने से बच

गया है। इसी प्रकार हमारे देश के उत्तरीय भाग में भी हिमावरण का आधिपत्य था, जिसका विस्तार हिमालय और तिब्बत तक था। इस हिमावरण के चिह्न अभी तक अवशेष हैं। कुछ वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस हिमावरण का आधिपत्य पंजाब, काश्मीर तथा उत्तरीय युक्तप्रांत तक था।

पूर्वकालीन हिमावरण की मोटाई भी सहस्रों फीट तक रही होगी। समस्त भूखण्ड का पाँचवाँ भाग एक समय हिममण्डित अवश्य रहा होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। बहुत-से प्रदेशों में चट्टानों के अध्ययन से सिद्ध हुआ है कि कई पर्तें ऐसे पदार्थ के बने हैं जिनकी उत्पत्ति हिमावरण के द्वारा ही हो सकती है। इन तहों के बीच-बीच में ऐसी तहें भी पाई जाती हैं, जिनकी रचना उष्ण जलवायु का होना सिद्ध करती है। इस सम्बन्ध में अधिक हम आगे किसी अध्याय में बतावेंगे।

हिमचिह्न से युक्त एक शिलाखण्ड, जिस पर अंकित खरोंचे किसी सुदूर भूतकाल में उस पर हिमानी की रगड़ की याद दिलाते हैं।

हिमावरण का प्रभाव धरातल के चिह्नों की रचना पर तो पड़ता ही है, साथ ही जलमण्डल पर भी इसका प्रभाव बहुत गहरा होता है। वायुमण्डल के जल के हिम में परिणत होने से हिमावरण की रचना होती है। वायुमण्डल में पाया जानेवाला जल किसी न-किसी रूप में सागर से ही आता है। जब जल की बहुत अधिक मात्रा स्थल पर हिमावरण के रूप में बन्दी हो जाती है तब सागर में जल कम हो जाना स्वाभाविक ही है। यदि आज ध्रुवप्रदेशों का समस्त हिम जल बनकर सागर में मिल जाय तो सागर का तल ८० फीट ऊँचा होकर बहुत से स्थलमण्डल को जलमग्न कर ले। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि पूर्वकाल में, जब पृथ्वी के अधिकांश भाग हिममण्डित होंगे, सागर का जलतल बहुत ही नीचा रहा होगा। समस्त हिम पिघलकर जब सागर में पहुँचा होगा, तब सागर का जल-तल कम-से-कम १५० से ३०० फीट ऊँचा उठ गया होगा।

इस प्रकार हिमावरण के द्वारा स्थल-मण्डल का रूप-परिवर्त्तन तो होता ही है, साथ ही सागर के तल में भी परिवर्त्तन होता है, जिससे सागर के द्वारा स्थल को क्षय करने का क्षेत्रफल बढ़ जाता है और स्थल के क्षय में दो अस्त्रों का एक साथ ही प्रयोग होता है। इस तरह हम देखते हैं कि भूमण्डल की रूपरेखा के निर्माण और क्षय के कार्य में हिमानी और हिमावरण का भी बहुत बड़ा हाथ है। हिमानी की गति जैसी धीमी होती है, उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया भी उसी प्रकार धीरे-धीरे प्रकट होती है। परंतु मंद गति से होने पर भी इसका प्रभाव बहुत गहरा और व्यापक होता है।

आज भी पृथ्वी का एक बहुत बड़ा भूभाग हिममण्डित है। ऊपर दक्षिणी ध्रुव पर स्थित अन्टार्कटिक महाद्वीप के एक भाग का दृश्य है, जिससे ५०००००० वर्गमील में फैले हुए इस विस्तृत हिमावरणवाले प्रदेश की अवस्था का कुछ अनुमान हो सकता है। इसी तरह उत्तर में ग्रीनलैण्ड का विशाल द्वीप भी हिममण्डित है।
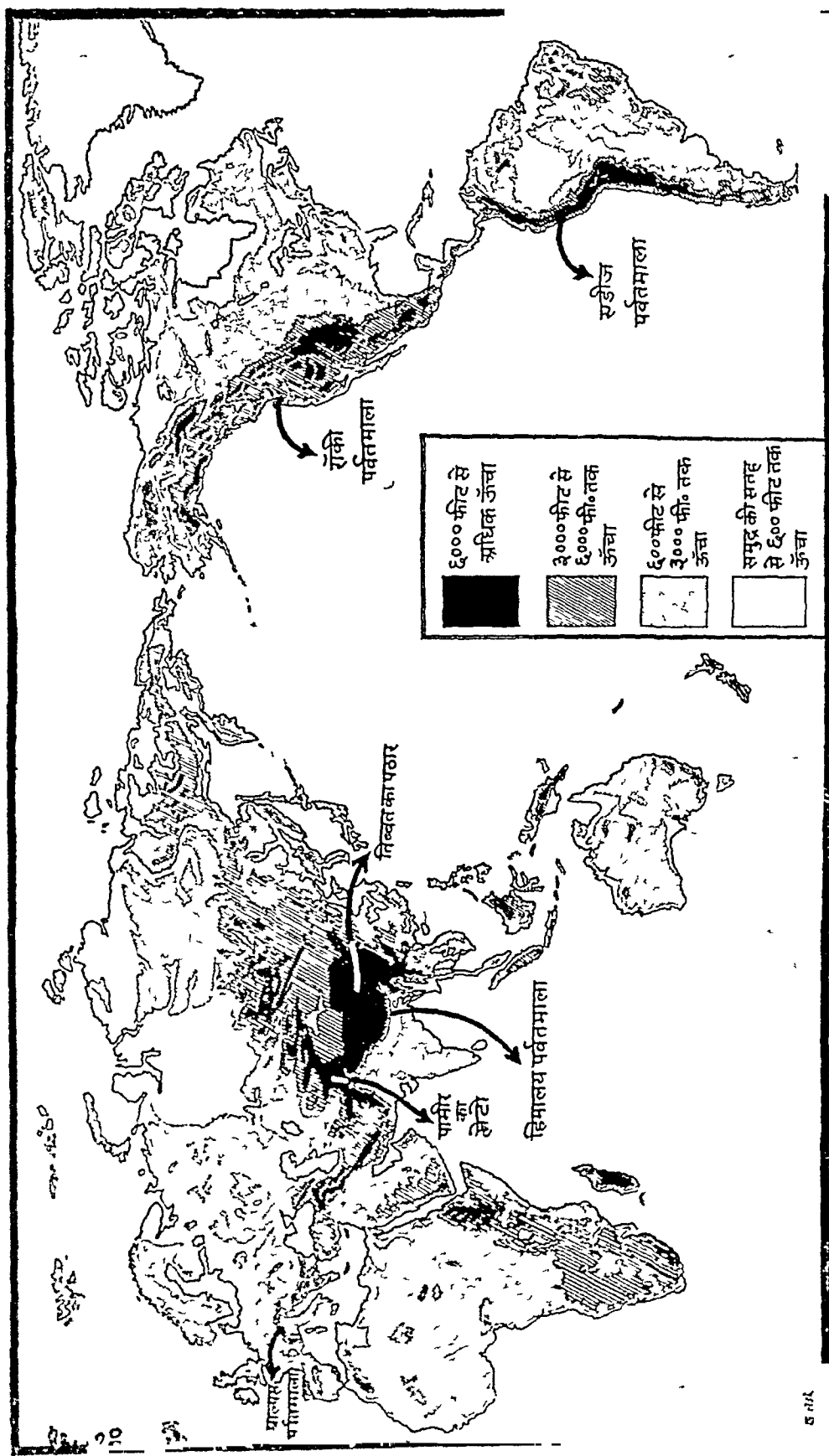
--स्थलमण्डल की ऊँचाई-नीचाई का नक़शा

संपूर्ण स्थल का बहुत कम भाग ऐसा है जो सागर की सतह (Sea-level) से ६०० फ़ीट की ऊँचाई से कम है। १० प्रतिशत भाग की औसत ऊँचाई ६००० फ़ीट से अधिक है। ४० प्रतिशत भाग ६०० से ३००० फ़ीट तक ऊँचा है। शेष भाग ३००० फीट से ६००० फ़ीट तक ऊँचा है। यदि समस्त स्थलखण्ड को सपाट कर दिया जाय तो उसकी ऊँचाई सागर की सतह से २३०० फ़ीट होगी। नक़शे मे विभिन्न संकेत-चिह्नों द्वारा भिन्न-भिन्न ऊँचाई दिखाई गई है।

स्थलमण्डल—पुरानी और नई दुनिया

२—पहाड़ और पठार या धरती के उच्च प्रदेश

पिछले अध्याय में हमने पृथ्वी के स्थलखण्ड की सीमा की बनावट का अध्ययन किया है। परंतु किसी देश की सीमा से ही हम उस देश का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। हमें यह जानना भी आवश्यक है कि उस देश की भूमि की बनावट कैसी है। इस अध्याय में हम पृथ्वी के स्थलमण्डल की ऊँचाई-नीचाई की जाँच करेंगे और देखेंगे कि स्थल पर कहाँ गगनचुम्बी पर्वतमालाएँ हैं और कहाँ पर सपाट मैदान और नीची भूमि है तथा इनमें आपस में क्या सम्बन्ध है।

स्थल की ऊँचाई का आधार सागर का जलतल (Sea-level) माना जाता है। सागर के जलतल की रेखा से यदि हम स्थल के आकारों की ऊँचाई की तुलना करें तो हमको इन आकारों की पारस्परिक ऊँचाई का ज्ञान हो जाता है। पृथ्वी के स्थलतल की बनावट सब स्थानों पर एक ही समान नहीं है। कहीं की भूमि सागरतल से कई मील ऊँची है और कुछ स्थल केवल कई सौ फीट की ऊँचाई पर ही हैं। कहीं-कहीं स्थल सपाट है और कहीं पर ऊँचे-ऊँचे ढाल। कहीं पर स्थल अपने आस-पास की भूमि से सहस्रों फीट ऊपर उठा हुआ आकाश से बातें करने की चेष्टा करता है तो कहीं पर गहरी घाटियों के रूप में पाताललोक के दर्शन कराता है।

सम्पूर्ण स्थलखण्ड का पाँचवाँ भाग ऐसा है जो सागर-तल से ६०० फीट की ऊँचाई से भी कम है। केवल १० प्रतिशत स्थल भाग की औसत ऊँचाई सागरतल की अपेक्षा ६००० फीट से अधिक है। २० प्रतिशत भाग (या दूसरा पाँचवाँ भाग) ६०० से १५०० फीट तक ऊँचा है। लगभग इतना ही भाग ऐसा है, जिसकी ऊँचाई १५०० से ३००० फीट तक है। शेष भाग (अर्थात् ६००० फीट ऊँचे १० प्रतिशत स्थल को छोड़कर) ३००० फीट से ६००० फीट की ऊँचाई तक का है। यदि किसी आकस्मिक घटना के फलस्वरूप सागर के जल में बाढ़ आ जाय तो स्थल का बहुत-सा अंश जलमग्न हो जायगा। परन्तु सागर का जलतल ६००० फीट नीचा हो जाने पर भी स्थल की सीमा का विस्तार अधिक नहीं होगा। इसका कारण यह है कि सागरतल का ८० प्रतिशत क्षेत्रफल, अर्थात् ११४०००००० वर्गमील के लगभग स्थल, ६००० फ़ीट से भी अधिक गहरा है।

यदि समस्त स्थलखण्ड को सपाट कर दिया जाय, अर्थात् ऊँची-ऊँची पर्वतश्रेणियों को नष्टभ्रष्ट करके समस्त स्थलखण्ड के नीचे स्थानों में भर दिया जाय, तो इस सपाट स्थलखण्ड की ऊँचाई सागरतल से केवल २३०० फीट होगी। उसी प्रकार यदि समस्त जलमण्डल की तलहटी को समतल किया जाय तो उसकी गहराई सागरतल से १२०००—१३००० फीट होगी। अर्थात् सागर के जलतल से स्थलतल की औसत ऊँचाई केवल आधा मील के लगभग है और सागर की तली की गहराई लगभग ढाई मील है। इसी को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि पृथ्वी-मण्डल का द्वितीयाश उसके शेष तृतीयाश से तीन मील गहरे गर्त्त में है।

स्थलमण्डल का सर्वोच्च स्थान हिमालय पर्वत का एवरेस्ट शिखर है। इसकी ऊँचाई सागरतल से २९१४२ फीट अर्थात् साढ़े पाँच मील के लगभग मानी जाती है।

स्थल के प्रधान आकार धरती के धँसने अथवा ऊपर उठने से बनते हैं, परन्तु भूपटल का कोई भाग ज्योंही समुद्र के ऊपर उठता है त्योंही कई प्राकृतिक शक्तियाँ उसके रूप को बदलने में लग जाती हैं। इसी से पृथ्वी के भिन्न-भिन्न अंगों का जो रूप आदि में था वह आज नहीं है,

और जो रूप आज है वह भविष्य में बहुत-कुछ बदल जायगा। इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ 'पृथ्वी की रचना' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत लिखा जा चुका है। उसी स्तम्भ में यह भी बताया जा रहा है कि पृथ्वी की रचना में आज-कल क्या परिवर्त्तन हो रहे हैं। इन परिवर्त्तनों के होते हुए भी स्थल के प्रधान आकार बने ही रहते हैं। यह सम्भव है कि जहाँ आज पर्वत-श्रेणियाँ हैं वहाँ कल को मैदान हो जायँ और जहाँ आज मरुस्थल हैं वहाँ हरे-भरे मैदान बन जायँ, परन्तु स्थल के आकार बने ही रहेंगे—एक स्थान पर नहीं तो दूसरे स्थान पर ही सही। स्थल के प्रधान आकार, जो नष्ट नहीं होते चाहे उनका स्थान परिवर्तित हो जाय, मैदान, पठार और पर्वत तथा पर्वतों में पाई जानेवाली घाटियाँ हैं। सभी स्थलखण्ड इन चार प्रकार के आकारों से बने हैं। मैदान स्थल के नीचे भाग हैं और पठार तथा पर्वत उठे हुए भाग। घाटियाँ पर्वत-श्रेणियों या पठारों के अन्तर्गत अकस्मात् नीचे हो जानेवाले भाग हैं और ये बहुधा पर्वत-खण्डों की दो समानान्तर श्रेणियों के बीच में पाई जाती हैं। मैदानों, पठारों तथा पर्वतों की ऊँचाई नीचाई की कोई निश्चित माप नहीं है। सागरतल से समान ऊँचाईवाले प्रदेश मैदान भी हो सकते हैं और पठार या पर्वत भी। वास्तव में इन आकारों की विभिन्नता उनकी बनावट (रचना) में है, ऊँचाई के कारण नहीं।

कुछ मैदानों की ऊँचाई सागरतल से कुछ ही फीट ऊपर है और बहुत-से मैदानों की ऊँचाई सहस्रों फीट है। अधिक ऊँचाई पर जो मैदान हैं वे बहुधा सागर-तट से दूर हटे हुए स्थल में हैं। यह सम्भव है कि मैदानों की ऊँचाई पठारों और पर्वतों से भी अधिक हो, परन्तु ऐसे मैदान भी अपने निकटतम पठारों और पर्वत-श्रेणियों से नीचे ही होंगे। इसका कारण यह है कि मैदान पर्वतों और पठारों के नष्टभ्रष्ट होकर घिसे हुए अंशों का ही नाम है। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से 'पृथ्वी की रचना' शीर्षक स्तम्भ में बताया गया है कि जलधाराओं के द्वारा मैदान कैसे बनते हैं। सागर के द्वारा भी मैदानों की रचना होती है। ऐसे मैदान सागर-तट के निकट के स्थलखण्डों में पाये जाते हैं।

सागर तटीय मैदानों की रचना दो प्रकार से होती है। या तो वे उस मिट्टी, बालू और कंकड़ के निरन्तर जमते जाने से बन गए हैं जिसको नदियों ने हजारों वर्षों से ला-लाकर छिछले सागर (या महाद्वीपीय ढाल) पर इकट्ठा किया है, या वे महाद्वीपीय ढाल पर से सागर-जल के हट जाने से बन गए हैं।

अन्तर्स्थलीय मैदान जल, वायु आदि के प्रकोप से नष्ट हुए पर्वतों और पठारों के कणों के समतल रूप से बिखर जाने से बने हैं। मैदान स्थल के अधिकांश भाग में पाये जाते हैं और ये स्थल के महत्त्वपूर्ण आकार हैं। पृथ्वी की अधिकांश जनता मैदानों में ही रहती है। मनुष्य की क्रीड़ाभूमि वास्तव में पृथ्वी के मैदान ही रहे हैं और आज भी हैं। इसका कारण यह है कि मैदानों में आवागमन सरलतापूर्वक होता है, खेती आदि में रुकावट नहीं पड़ती, तथा प्राकृतिक कठिनाइयाँ कम होती हैं। स्थलखण्ड में होनेवाली खेती का अधिकांश मैदानों में ही होता है। नदियों को भी मैदानों में बहने में सरलता होती है और इसीलिए मैदानों में जल की कमी नहीं होती। संसार भर की घनी आबादी उपजाऊ मैदानों में ही पाई जाती है।

अब हम यह देखेंगे कि हमारे प्रधान स्थलखण्डों में कितना और कौन-सा भाग मैदान और कौन-सा पठार है तथा कितने भाग को पर्वत घेरे हुए हैं। हम अपना अध्ययन पुरानी दुनिया के स्थल-आकारों से आरम्भ करेंगे और सर्व-प्रथम इस दुनिया के सर्वप्रधान महाखण्ड यूरेशिया को जाँचेंगे।

यूरेशिया की ऊँची भूमि का विस्तार योरप के दक्षिणी-पश्चिमी छोर से अटलांटिक महासागर के तट से आरम्भ होकर एशिया के उत्तरी-पूर्वी छोर पर पैसिफिक महासागर के तट पर समाप्त होता है। इस ऊँची भूमि की पट्टी यूरेशिया के मध्य भाग से कुछ दक्षिण की ओर फैली है। यूरेशिया के जितने भी प्रायद्वीप दक्षिण की ओर हैं, उन सभी में इस ऊँची भूमि की शाखाएँ चली गई हैं।

एशिया की पर्वतश्रेणियाँ

सिकुड़े हुए पर्वतों की एक लम्बी-चौड़ी श्रेणी इस महाद्वीप की बनावट की विशेषता है। इस पर्वतश्रेणी का केन्द्र पामीर-पठार है। परन्तु इस ऊँचे पर्वतीय प्रदेश का अधिकांश भाग भारत और बर्मा के उत्तर में फैला है। यदि हम हिन्दूकुश के पश्चिमी छोर और हिमालय पर्वत के एकदम पूर्वी छोर को मिलाती हुई एक रेखा खींचें और इस रेखा के दोनों छोरों को एशिया के उत्तरी पूर्वी किनारे के अन्तिम सिरे से मिला दें तो जो विशाल त्रिभुज बनेगा उसी के भीतर एशिया का ऊँचा प्रदेश—पर्वत और पठार भाग—फैला है। इस त्रिभुज की भुजाओं से ढालू धरातल आरम्भ होकर नदियों के मैदान अथवा सागरतटीय मैदानों में समाप्त होता है।

सर्वोच्च प्रदेश भारत के उत्तर में हिमालय की गगन-चुम्बी श्रेणियों के अन्तर्गत है। पामीर-पठार से पर्वतों की श्रेणियाँ पश्चिम की ओर हिन्दूकुश, एलबुर्ज और काकेशश

इत्यादि पर्वतों से होती हुई योरप की पर्वतश्रेणियों से जा मिलती है। पूर्व में, एक ओर तो यह श्रेणी संसार में सर्वोच्च पर्वत हिमालय को उठाती हुई आस्ट्रेलिया की ओर निकल जाती है और दूसरी ओर यह क्यूनलून, किंघन और स्टैनोवोई पर्वतों से होती हुई उत्तरी अमेरिका की पर्वतश्रेणी से जा मिलती है। इस प्रकार एशिया की पर्वतश्रेणी का सम्बन्ध संसार की अन्य सभी पर्वतश्रेणियों से है।

एशिया की पर्वतश्रेणियों की एक विशेषता यह है कि इनसे घिरा हुआ सभी स्थल ऊँचा है, नीचा नहीं। एशिया के मानचित्र को देखने से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। समस्त पर्वत-प्रदेश एशिया के लगभग आधे भाग को घेरे है और एशिया के स्थलखण्ड में एक महाविशाल चट्टान के रूप में उभरा हुआ है। इस उभरे हुए प्रदेश के धरातल पर (इस धरातल की ऊँचाई पृथ्वी के बहुत-से पर्वतों से भी ऊँची है, विशेषकर योरप के) बहुत-से पर्वतों की ऊँची चोटियाँ हैं जो सदैव हिमाच्छादित रहती हैं। इन हिमाच्छादित पर्वतश्रेणियों के अन्तर्गत अनेकों घाटियाँ (जिनका धरातल योरप के ऊँचे-ऊँचे पर्वतों से भी ऊँचा है) तथा अगणित ऊँचे-ऊँचे पठार हैं।

हिमालय और क्यूनलून पर्वत-श्रेणियों के बीच में तिब्बत का विस्तृत पठार है जो सागरतल से तीन मील की ऊँचाई पर है। इतनी ऊँचाई को भारत के प्रायद्वीप के अन्य ऊँचे-से-ऊँचे पर्वत भी नहीं पहुँचते। क्यूनलून के पार फिर पठार-प्रदेश है, जो तिब्बत की अपेक्षा बहुत नीचा है। इस पठार को तारिम बेसिन कहते हैं, क्योंकि इस पर तारिम नाम की नदी बहती हुई लाबनार झील में गिरती है। इस पठार का विस्तार इस झील के बहुत आगे पूर्व में किंघन पर्वत-श्रेणियों तक चला गया है। यह विस्तार मंगोलिया का पठार है जिसका एक भाग प्रसिद्ध गोबी का रेगिस्तान है, जहाँ कभी भूलकर भी वर्षा नहीं होती।

तिब्बत और हिमालय के पूर्वी छोर पर पर्वत-श्रेणियाँ घूमती हुई एक दूसरे के समानान्तर इन्डोचाईना के प्रायद्वीप में घुस गई हैं।

यदि हम कैस्पियन सागर के दक्षिणी छोर से एक रेखा एशिया के उत्तरी-पूर्वी छोर तक खींचें तो यह रेखा पर्वत-श्रेणियों की उत्तरी सीमा पर स्थित होगी।

एशिया के पश्चिमी प्रदेश में भी दूर तक ऊँची भूमि का विस्तार है। उत्तर में काले सागर और कैस्पियन सागर से लेकर दक्षिण में अरब सागर तक यह फैली है। यद्यपि यह स्थलखण्ड उच्च प्रदेश कहलाता है, तथापि इसकी ऊँचाई न तिब्बत के सदृश है और न पामीर के पठार के समान ही है, जिसे 'संसार की छत' (Roof of the World) कहते हैं। इस उच्च प्रदेश के तीन अलग-अलग खण्ड हो गए हैं। एक 'ईरान का पठार' कहलाता है। यह अरब सागर के उत्तर में और कैस्पियन सागर के दक्षिण के प्रदेश में फैला है। पूर्व में सुलेमान पर्वत की श्रेणियाँ इसको सिन्धु की घाटी से पृथक् करती हैं और उत्तर में इसके सिरे पर हिन्दूकुश और एलबुर्ज़ श्रेणियाँ हैं। दूसरा 'एशिया माइनर का पठार' है जो एशिया के एकदम पश्चिमी भाग में है। इसका विस्तार काले सागर और भूमध्य सागर के बीच में है। तीसरा पश्चिमी पठार 'अरब का पठार' है जो लालसागर के पूर्व में फैला है। यह एकदम सूखा और उजाड़ है।

योरप के उच्च प्रदेश

योरप की पर्वत-श्रेणियों की स्थिति एशिया के ही समान है। जिस प्रकार एशिया का दक्षिणी प्रदेश अधिकांश पहाड़ी है, उसी प्रकार योरप का भी है। हिमालय जिस प्रकार एशिया का सर्वोच्च पर्वत-खण्ड है, उसी प्रकार योरप का आल्प्स पर्वत है। आल्प्स पर्वत पुटीकृत श्रेणियों के समानान्तर विस्तार से बना है। इन श्रेणियों के बीच में गहरी और ढालू घाटियाँ हैं। आल्प्स पर्वत-श्रेणियों की ऊँचाई योरप भर के पर्वतों से अधिक है। इन श्रेणियों का सैकड़ों मील लम्बा भाग हिमाच्छादित है और इन हिमाच्छादित श्रेणियों के बीच-बीच में स्वच्छ जल की झीलें भरी हैं, जिनसे योरप की बहुत-सी प्रमुख नदियों का जन्म होता है।

आल्प्स पर्वत-श्रेणियों से कई शाखाएँ निकलकर इधर उधर फैल जाती हैं। कारपैथियन पर्वत-श्रेणियाँ पूर्व की ओर धनुषाकार फैली हैं। दक्षिणी योरप के तीनों प्रायद्वीप भी पहाड़ी प्रदेश के अंग हैं। पश्चिम में चौकोर 'आइबेरियन पठार' स्पेन और पुर्तगाल में फैला है और अटलांटिक महासागर के तट को छूता है। इस पठार में कहीं-कहीं ऊँची-ऊँची पर्वतमालाएँ हैं, जिनमें पिरेनीज की श्रेणियाँ प्रमुख हैं। ये श्रेणियाँ इस पठार प्रदेश को योरप के प्रधान खण्ड से अलग करती प्रतीत होती हैं।

आल्प्स से एक अन्य शाखा दक्षिण की ओर पैर के आकारवाले इटली के प्रायद्वीप की हड्डी के समान जाती है। सिसिली का पहाड़ी टापू इसके अँगूठे के समान स्थित है। पूर्व में आल्प्स की श्रेणियाँ बाल्कन प्रायद्वीप के पठार को लाँघती हुई भूमध्यसागर तक पहुँच जाती हैं, जहाँ इनका अन्त छोटे-छोटे पहाड़ी टापुओं की शृंखला में होता है। योरप के दक्षिणी भाग के प्रायद्वीप सभी उच्चप्रदेशीय हैं।

अफ्रीका का पठार

अफ्रीका महाद्वीप की बनावट यूरेशिया से सर्वथा भिन्न है। इस विशाल स्थलखण्ड में बहुत-सी छोटी पर्वत-श्रेणियाँ हैं। और सब महाद्वीपों मे लम्बे-चौड़े नीचे मैदान पाये जाते हैं, परन्तु अफ्रीका नीचे मैदानों से रहित है। यह सारा-का-सारा भूखण्ड दक्षिण भारत के पठार से ऊँचा है। वास्तव में, सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप एक विस्तृत पठार है, जिसकी सीमा और इस महाद्वीप की सीमा एक ही हैं। केवल कहीं-कहीं समुद्रतटीय प्रदेश ही नीची भूमि के उदाहरण हैं। परन्तु इनकी चौड़ाई बहुत कम है और इनके ऊपर एकाएक ही पठार की ऊँचाई आरम्भ हो जाती है। यहाँ की नदियाँ भी, यद्यपि उनमें से कई ससार की बहुत बड़ी नदियों में से हैं, अपनी घाटियो मे नीचे मैदान नही बना पातीं। केवल नील नदी के डेल्टे की भूमि ही नीची है।

इस विस्तीर्ण पठार की ऊँचाई सभी जगह एक-सी नहीं है। पूर्व और दक्षिण की ओर अन्य भागों की अपेक्षा ऊँचाई अधिक है। इस ऊँचे भाग मे चट्टानों के भ्रष्ट हो जाने और धँस जाने के कारण एक बहुत लम्बी और गहरी घाटी (Rift Valley) बन गई है, जिसमे अफ्रीका की प्रमुख झीलें पाई जाती हैं। इन झीलों मे से रूडाल्फ झील प्रसिद्ध है। अन्य झीलें एलबर्ट, एडवर्ड, टैंगानिका और नियासा हैं।

यदि हम लालसागर के मध्य से एक रेखा नाइगर नदी के उद्गम-स्थान तक खींचें तो इस रेखा के उत्तर का प्रदेश नीचा पठार और दक्षिण का प्रदेश, कागो की घाटी को छोड़कर, ऊँचा पठार कहा जा सकता है। यह ऊँचा पठार-प्रदेश सपाट नही है, वरन् इधर-उधर कहीं बहुत ऊँचा भी हो जाता है। इसी प्रकार यदि एक रेखा लाल सागर के मध्य से अफ्रीका के दक्षिणी छोर तक खींची जाय तो यह ऊँची भूमि की द्योतक मानी जा सकती है। यह पर्वतश्रेणी हिमालय की भाँति बहुत विस्तीर्ण नहीं है, वरन् आसपास के पठार से अधिक ऊँची हो गई है और इसको पठार का सबसे अधिक उभरा हुआ भाग कहा जा सकता है। अबीसीनिया के पहाड़ इन्हीं श्रेणियों के अंग माने जा सकते हैं। अबीसीनिया के पहाड़ पुराने ज्वालामुखी पहाड़ हैं और लावा से ढके हुए हैं।

इस उच्च प्रदेश के अन्य छोर पूर्वीय और दक्षिणी तट तक चले गए है। यहाँ पर उनको ड्रेकनबर्ग पुकारा जाता है। मध्य में, विक्टोरिया झील के आसपास, इस उच्च प्रदेश की ऊँचाई सबसे अधिक हो गई है। यहीं पर अफ्रीका के सर्वोच्च शिखर केनया, किलिमाजारो और रूएन-जोरी पाये जाते हैं। यद्यपि केनयाँ पहाड़ भूमध्य रेखा पर हैं, तथापि उसकी चोटी पर सदा बर्फ ही जमी रहती है।

हमने ऊपर जो पहली रेखा की कल्पना की थी उसके उत्तर का प्रदेश यद्यपि पठार ही है तथापि नीचा है। इसमे केवल एक भाग ऊँचा है और दक्षिण-पूर्व से उत्तर की दिशा में फैला है। इसको तिबस्ती का पठार कहते हैं। दूसरा अग वह है जो गिनी की खाड़ी के उत्तरी तट पर फैला है। इसी की ऊँचाई के कारण नाइगर नदी को बड़ा भारी चक्कर लगाना पड़ता है। उत्तर-पश्चिम के कोने मे एटलस पहाड़ है जो स्पेन के सामने पड़ता है। भारत के पश्चिमी घाट से इस पहाड़ की ऊँचाई तिगुनी है। यह भी बर्फ से ढका रहता है। एट-लस पहाड़ की दो श्रेणियाँ हैं और उनके बीच मे पठार है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप के उच्च प्रदेश

यह महाद्वीप भी अफ्रीका की भाँति एक पठारखण्ड है। इसके पश्चिमी और पूर्वीय भाग उभरे हुए हैं। पूर्वीय भाग अन्य भागों की अपेक्षा अधिक ऊँचा है और उत्तर से दक्षिण की ओर एक कोने से दूसरे कोने तक पहाड़ के रूप मे फैला हुआ है। भिन्न-भिन्न स्थानों में इस पहाड़ के भिन्न-भिन्न नाम हैं। पठार का ढाल अधिकाश भागों में स्थल की ओर ही है। पूर्वीय पहाड़ों में पश्चिम की ओर उत्तर से दक्षिण तक एक मैदान है जिसके दक्षिणी भाग में नदियाँ बहती हैं।

न्यूजीलैंड के दोनों द्वीप पहाड़ी हैं। पश्चिमी भाग अधिकांश पहाड़ी ही है, परन्तु पूर्वी भाग नीचा मैदान है। पर्वत-श्रेणी दक्षिण-पश्चिम के छोर से उत्तर-पूर्व के छोर तक टापुओं की मध्यवर्ती रेखा के समान फैली है। दक्षिणी द्वीप मे ये पहाड़ ऊँचे हैं और पश्चिमी तट को छूते हैं। इनको दक्षिणी आल्प्स के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि योरप के आल्प्स पर्वत की भाँति इस पहाड़ के उच्च शिखर भी हिमाच्छादित रहते हैं। घाटियो मे हिमानी बहती हैं। उत्तरी टापू मे तीन-चार ऊँचे ज्वालामुखी पर्वत हैं। इनकी ऊँचाई हमारे पश्चिमी घाट से अधिक है। इनके आस-पास का प्रदेश लावा और राख से आच्छादित है। यहाँ की पहाड़ियों की दरारों से गरम जल के फौव्वारे निकलते रहते हैं।

उत्तरी अमेरिका के पर्वत और पठार

उत्तरी अमरीका का पश्चिमी भाग ऊँचा और पहाड़ी है। पश्चिमी भाग के उत्तरी छोर से दक्षिणी छोर तक पर्वत-श्रेणियाँ फैली हैं। इन श्रेणियों का आरम्भ एशिया

के पामीर-पठार से हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि पर्वत-श्रेणियों की जो शाखा एशिया के उत्तरी-पूर्वी छोर की ओर आई है वही उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग मे दौड़ती चली गई प्रतीत होती है। बेयरिंग का जलडमरूमध्य इस पर्वत-श्रेणी में एक विशाल दर्रे की भाँति है, जिसमे सागर का जल भर गया है। इस महाद्वीप के उत्तर में स्थित ग्रीनलैंड का विशाल टापू एकदम पहाड़ी है, जिस पर सदैव बर्फ जमी रहती है।

पश्चिमी पर्वत-श्रेणियो की बनावट उत्तर और दक्षिण के छोरों पर पतली और बीच मे अधिक फैली हुई है। सारा-का-सारा पश्चिमी भाग इन्हीं पर्वत-श्रेणियों मे भरा हुआ है। पश्चिम मे इनकी पहुँच एकदम महासागर के तट तक हो गई है और बहुत कम चौड़ी भूमि नीची या मैदान कहाने योग्य बची है।

इस पश्चिमी पठार का सबसे अधिक उभरा हुआ भाग राकी पर्वत कहलाता है। यह यहाँ की सबसे ऊँची पर्वत-श्रेणी है और इस लम्बे पठार की रीढ़ के समान ठीक उसके मध्य में उत्तर से दक्षिण तक फैली है। राकी पर्वत के पश्चिम में और कई पर्वत-श्रेणियाँ हैं। उत्तर मे इनका नाम कास्केड है और दक्षिण मे इनको सिरानिवादा कहते हैं। दोनों का संयुक्त नाम पैसिफिक पर्वत-श्रेणी है, क्योकि यह एकदम पैसिफिक महासागर के तट को छूती है और कहीं-कहीं सागर के भीतर तक चली गई है। उत्तर की ओर अलास्का मे राकी पर्वत-श्रेणियाँ और पैसिफिक पर्वत-श्रेणियाँ दोनो मिल गई हैं। यहीं पर इनकी ऊँचाई भी अधिक हो जाती है। उत्तरी अमेरिका के सर्वोच्च पर्वत शिखर माउट लोगान और मैकक्लिले इसी भाग मे हैं। इन दोनों पर्वत-श्रेणियों के बीच मे ऊँचे-ऊँचे पठार हैं, जिनमे कहीं-कहीं पर लावा भी फैला हुआ है, क्योंकि इन पहाड़ों में थोड़े दिनो पहले तक बड़े-बड़े ज्वालामुखी अग्निवर्षा करते रहते थे। आजकल ये शान्त हैं। कहीं-कही पर इनके पठारों में गहरे खड्ड भी बन गए हैं जिनमें बड़ी-बड़ी जलधाराएँ बह निकली हैं। कोलम्बिया, फ्रेज़र और कोलरैडो नामक नदियों के खड्ड इनमे से मुख्य हैं। इन पठारों मे कई स्थान, विशेषकर दक्षिण की ओर, ऐसे हैं जहाँ से पानी का निकास बाहर को नहीं है। ये स्थान प्रायः सूखे अर्द्ध-मरुप्रान्त ही हैं।

पश्चिमी पठार का दक्षिणी भाग 'मेक्सिको का उच्च पठार' कहलाता है। इस पठार के दोनों ओर पश्चिमी और पूर्वी सिरामादरी पहाड़ उसी प्रकार फैले हैं, जैसे हमारे दक्षिण के पठार के दोनों ओर पूर्वी और पश्चिमी घाट हैं। एकदम दक्षिणी छोर भी उत्तरी भाग की भाँति ऊँचा हो गया है। 'मेक्सिको के पठार' के अन्त मे ओरिज़ावा और पोपोकेटीपेल नामक ऊँचे ज्वालामुखी पर्वत हैं।

उत्तरी अमेरिका की बनावट मे उसके उत्तरस्थित

(दाहिनी ओर)
संसार के प्रमुख उच्च शिखरों का एक तुलनात्मक मानचित्र

पुरानी चट्टानों का प्लेटफार्म भी महत्त्व का है। इस प्लेटफार्म को 'कनाडा की ढाल' (Canadian Shield) कहते हैं। यही अमेरिका का सबसे पुराना भाग है और इस महाद्वीप का शेष भाग इसी 'ढाल' के सहारे पर बना है। पूर्व और दक्षिण की ओर तो इसका अधिकांश नई मिट्टी से ढक गया है, किन्तु उत्तर-पूर्व की ओर, जहाँ इसकी ऊँचाई कुछ अधिक है, यह पुरानी ही चट्टानों का बना है। यह भाग 'लब्राडर का पठार' कहलाता है। सन्ट लारेन्स नदी से दक्षिण की ओर नीची पहाड़ियों का आरम्भ हो जाता है। ये पहाड़ियाँ दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ती हुई अपालेशियन पहाड़ कहलाने लगती हैं। इस पूर्वीय पहाड़ी भाग का अन्त दक्षिण-पश्चिम में स्थित ओज़ार्क पठार में होता है।

मध्य अमेरिका का प्रदेश लगभग सब पहाड़ी है। ज्वालामुखी पर्वतों की इसमें प्रधानता है। इस प्रदेश के सबसे ऊँचे पहाड़ स्थलडमरूमध्य के चौड़े भाग में हैं। पश्चिम में पेसिफिक महासागर के तट पर ऊँचे ज्वालामुखी पर्वतों की श्रेणियाँ हैं। इनकी राख से घाटियाँ भरी पड़ी हैं। पश्चिमी द्वीपसमूह उन पहाड़ों की चोटियों का बना है जो जल में घुस गए प्रतीत होते हैं। यहाँ भी ज्वालामुखी पर्वत पाये जाते हैं, जिनमें कुछ सजीव हैं।

दक्षिणी अमेरिका का पहाड़ी भाग

दक्षिणी अमेरिका का पश्चिमी भाग एण्डीज पर्वतमाला से भरा है। ये पहाड़ पश्चिमी भाग के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए हैं और राकी पर्वतों की भाँति नवीन और पुटीकृत हैं। इनमें भी ज्वालामुखी पर्वतों की अधिकता है। दक्षिण की अपेक्षा ये उत्तर में अधिक चौड़े हैं। उत्तरी भाग में बड़े-बड़े सूखे पठार भी हैं।

एण्डीज़ पर्वतमाला का मध्य भाग सबसे अधिक चौड़ा और सबसे ऊँची चोटियोंवाला है। इस भाग की ऊँचाई हिमालय पर्वत के सर्वोच्च शिखरों को छोड़कर अन्य ऊँचे शिखरों से की जा सकती है। भूमध्यरेखा के समीप एण्डीज में दो बड़े ज्वालामुखी पर्वत हैं, जिनके नाम कोटोपेक्सी और चिम्बोराजो हैं। कोटोपेक्सी अभी तक प्रज्वलित है, परन्तु चिम्बोराजो सुषुप्त हो गया है और इसके मुख पर अधिक ऊँचाई के कारण बर्फ जम गई है। दक्षिण में एकानकागुआ नामक सुषुप्त ज्वालामुखी है। यही नई दुनिया की सर्वोच्च चोटी है। और अधिक दक्षिण में पर्वतों की ऊँचाई कम हो गई है और छोटी-छोटी पहाड़ियों के खण्ड सागर में टापू की भाँति चमकते हैं। एण्डीज पर सदैव बर्फ जमी रहती है और भूमध्यरेखा के स्थान पर भी हिमानी और बर्फ की कमी नहीं है। बीच-बीच में ऊँचे पठार-प्रदेश भी हैं।

दक्षिणी अमेरिका का पूर्वीय भाग पश्चिमी भाग की भाँति सब-का-सब तो पहाड़ी नहीं है, परन्तु उत्तर का प्रदेश पहाड़ों से ढका है। यह प्रदेश 'ब्रेजील का पठार' कहलाता है। यह पठार बहुत ही पुरानी चट्टानों का बना है। ब्रेजील के पहाड़ बहुत ऊँचे तो नहीं हैं किन्तु समुद्र की ओर लगभग ये दीवाल की भाँति सीधे खड़े हैं, जिससे उस ओर बहुत ऊँचे दिखाई पड़ते हैं। पूर्वीय भाग के पहाड़ों को अमेज़न की खाड़ी दो भागों में विभक्त करती है। उत्तरीय भाग गाईना का उच्च प्रदेश है और दक्षिण का भाग ब्रेजील का उच्च प्रदेश। ये पर्वतीय देश वास्तव में पठार प्रदेश हैं और घने वनों से ढके हैं।

दुनिया का सर्वोच्च शिखर—हिमालय की एवरेस्ट चोटी

अन्नपूर्णा-भंडार पत्ती की कहानी—३

वाष्प-त्याग की रोक और जलसंचय के साधन

पिछले परिच्छेद मे आप देख चुके हैं कि पेड-पौधों से प्रतिदिन न जाने कितना जल निकलकर वायु में जाया करता है। इन्हें यह जल भूमि से ही मिलता है, परन्तु सभी जगह जल की समान सुविधा नही रहती। मिट्टी के गुण अथवा ताप आदि के अनुसार स्थान-स्थान पर इस अवस्था मे बडा अन्तर रहता है और प्रायः समान जल-पात होने पर भी पौधों को इस जल से समान लाभ नही हो पाता। यदि कही इनमे सदैव ही पानी का अधाधुध खर्च बना रहे तो अवश्य ही संकट पैदा हो जाय क्योकि एक तो वैसे ही जल के लिए हर समय व स्थान पर समान सुविधा नही रहती, दूसरे जितना जल वर्षा से एक अवधि मे भूमि को मिलता है प्रायः इससे कही अधिक वहाँ के पौधों से साधारण अवस्था में वाष्प-त्याग के कारण वायु मे चला जाता है। इस तरह इगलैण्ड के लिए हिसाब लगाकर देखा गया है कि जुलाई के महीने मे—जो वहाँ का सबसे अधिक वर्षा का समय है और जबकि वहाँ ३ इच या प्रति एकड ८४०० मन पानी गिर जाता है—केवल चौबीस घटे में ही चरी की एक एकड घास से २६६८ मन जल इस क्रिया के प्रभाव से निकलकर वायु मे चला जाता है और पूरे महीने मे तो इस हिसाब से ८४००० मन से अधिक जल (अर्थात् जितना इस अवधि में भूमि को मिलता है उससे दस गुना) इस भाँति निकल जाता है। अगर ऐसा ही आय-व्यय का हिसाब रहता तो काम कैसे चलता।

चि० १—एक जाति का बबूल। नालपत्र पर ध्यान दीजिए। (चि० मि० श० अहमद)

इसलिए पौधो मे वाष्प-त्याग की रोक और जल-सचय के साधन होना भी परम आवश्यक है। साथ ही साथ भूमि मे भी वर्षा से आया जल बडी युक्ति से सचित रहता है, जिससे वह, उन दिनों भी जब वर्षा नहीं होती, पौधो को किसी-न-किसी अश मे मिलता रहता है। फिर भी पौधों के सम्मुख एक प्रकार से जल-सचय की विकट समस्या बनी ही रहती है। यथार्थ मे आजकल पृथ्वी पर वही पेड-पौधे सरसब्ज हैं, जिनमे यह जटिल प्रश्न किसी-न-किसी युक्ति से हल हो गया है। जल की आमद के ही अनुसार इनमे काम-काज का फैलाव रहता है और जलाभाव के दिन किसी-न-किसी विशेष ढंग से ही पार होते हैं।

वाष्प-त्याग से बाहर जानेवाले जल की रोक

सबसे उत्तम जलसंचय का साधन तो यह है कि जो जल पौधों मे जडों से आए उसकी छीज कम हो। आप देख चुके हैं कि पत्तियाँ ही वाष्प-त्याग का मार्ग हैं और जल का बाहर जाना बहुत-कुछ इन्ही के अधीन है। इनकी सख्या, आकार, रचना तथा इन पर रध्रों की सख्या व आकृति का वाष्प-त्याग पर बहुत बड़ा प्रभाव पडता है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार से वाष्प-त्याग मे अन्तर पड सकता है। इस परिच्छेद मे हम इन्हीं बातो पर विचार करेंगे।

नागफनी वर्ग के पौधों मे प्रायः पत्तियाँ नहीं होतीं। यथार्थ में इस समूह के पौधों में एक पेरेस्किया (*Pereskia*) को छोड अन्य किसी में भी साधारण पत्तियाँ नहीं होतीं।

पुरानी चट्टानों का प्लेटफार्म भी महत्त्व का है। इस प्लेटफार्म को 'कनाडा की ढाल' (Canadian Shield) कहते हैं। यही अमेरिका का सबसे पुराना भाग है और इस महाद्वीप का शेष भाग इसी 'ढाल' के सहारे पर बना है। पूर्व और दक्षिण की ओर तो इसका अधिकांश नई मिट्टी से ढक गया है, किन्तु उत्तर-पूर्व की ओर, जहाँ इसकी ऊँचाई कुछ अधिक है, यह पुरानी ही चट्टानों का बना है। यह भाग 'लब्राडर का पठार' कहलाता है। सेन्ट लारेन्स नदी से दक्षिण की ओर नीची पहाड़ियों का आरम्भ हो जाता है। ये पहाड़ियाँ दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ती हुई अपालेशियन पहाड़ कहलाने लगती हैं। इस पूर्वीय पहाड़ी भाग का अन्त दक्षिण-पश्चिम में स्थित ओजार्क पठार में होता है।

मध्य अमेरिका का प्रदेश लगभग सब पहाड़ी है। ज्वालामुखी पर्वतों की इसमें प्रधानता है। इस प्रदेश के सबसे ऊँचे पहाड़ स्थलडमरूमध्य के चौड़े भाग में हैं। पश्चिम में पैसिफिक महासागर के तट पर ऊँचे ज्वालामुखी पर्वतों की श्रेणियाँ हैं। इनकी राख से घाटियाँ भरी पड़ी हैं। पश्चिमी द्वीपसमूह उन पहाड़ों की चोटियों का बना है जो जल में घुस गए प्रतीत होते हैं। यहाँ भी ज्वालामुखी पर्वत पाये जाते हैं, जिनमें कुछ सजीव हैं।

दक्षिणी अमेरिका का पहाड़ी भाग

दक्षिणी अमेरिका का पश्चिमी भाग एण्डीज पर्वतमाला से भरा है। ये पहाड़ पश्चिमी भाग के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए हैं और राकी पर्वतों की भाँति नवीन और पुटीकृत हैं। इनमें भी ज्वालामुखी पर्वतों की अधिकता है। दक्षिण की अपेक्षा ये उत्तर में अधिक चौड़े हैं। उत्तरी भाग में बड़े-बड़े सूखे पठार भी हैं।

एण्डीज पर्वतमाला का मध्य भाग सबसे अधिक चौड़ा और सबसे ऊँची चोटियोंवाला है। इस भाग की ऊँचाई हिमालय पर्वत के सर्वोच्च शिखरों को छोड़कर अन्य ऊँचे शिखरों से की जा सकती है। भूमध्यरेखा के समीप एण्डीज में दो बड़े ज्वालामुखी पर्वत हैं, जिनके नाम कोटोपेक्सी और चिम्बोराजो हैं। कोटोपेक्सी अभी तक प्रज्वलित है, परन्तु चिम्बोराजो सुषुप्त हो गया है और इसके मुख पर अधिक ऊँचाई के कारण बर्फ जम गई है। दक्षिण में एकानकागुआ नामक सुषुप्त ज्वालामुखी है। यही नई दुनिया की सर्वोच्च चोटी है। और अधिक दक्षिण में पर्वतों की ऊँचाई कम हो गई है और छोटी-छोटी पहाड़ियों के खण्ड सागर में टापू की भाँति चमकते हैं। एण्डीज पर सदैव बर्फ जमी रहती है और भूमध्यरेखा के स्थान पर भी हिमानी और बर्फ की कमी नहीं है। बीच-बीच में ऊँचे पठार-प्रदेश भी हैं।

दक्षिणी अमेरिका का पूर्वीय भाग पश्चिमी भाग की भाँति सब-का-सब तो पहाड़ी नहीं है, परन्तु उत्तर का प्रदेश पहाड़ों से ढका है। यह प्रदेश 'ब्रेजील का पठार' कहलाता है। यह पठार बहुत ही पुरानी चट्टानों का बना है। ब्रेजील के पहाड़ बहुत ऊँचे तो नहीं हैं किन्तु समुद्र की ओर लगभग ये दीवाल की भाँति सीधे खड़े हैं, जिससे उस ओर बहुत ऊँचे दिखाई पड़ते हैं। पूर्वीय भाग के पहाड़ों को अमेजन की खाड़ी दो भागों में विभक्त करती है। उत्तरीय भाग गाइना का उच्च प्रदेश है और दक्षिण का भाग ब्रेजील का उच्च प्रदेश। ये पर्वतीय देश वास्तव में पठार प्रदेश हैं और घने वनों से ढके हैं।

दुनिया का सर्वोच्च शिखर—हिमालय की एवरेस्ट चोटी

अन्नपूर्णा-भंडार पत्ती की कहानी—३

वाष्प-त्याग की रोक और जलसंचय के साधन

पिछले परिच्छेद मे आप देख चुके हैं कि पेड-पौधो से प्रतिदिन न जाने कितना जल निकलकर वायु मे जाया करता है। इन्हें यह जल भूमि से ही मिलता है परन्तु सभी जगह जल की समान सुविधा नही रहती। मिट्टी के गुण अथवा ताप आदि के अनुसार स्थान-स्थान पर इस अवस्था मे बडा अन्तर रहता है और प्रायः समान जल-पात होने पर भी पौधों को इस जल से समान लाभ नही हो पाता। यदि कहीं इनमें सदैव ही पानी का अधाधुध ख़र्च बना रहे तो अवश्य ही सकट पैदा हो जाय क्योकि एक तो वैसे ही जल के लिए हर समय व स्थान पर समान सुविधा नही रहती, दूसरे जितना जल वर्षा से एक अवधि मे भूमि को मिलता है प्रायः इससे कही अधिक वहॉ के पौधों से साधारण अवस्था में वाष्प-त्याग के कारण वायु मे चला जाता है। इस तरह इगलैंड के लिए हिसाब लगाकर देखा गया है कि जुलाई के महीने मे—जो वहॉ का सबसे अधिक वर्षा का समय है और जबकि वहॉ ३ इच या प्रति एकड ८४०० मन पानी गिर जाता है—केवल चौबीस घटे में ही चरी की एक एकड घास से २९६८ मन जल इस क्रिया के प्रभाव से निकलकर वायु मे चला जाता है और पूरे महीने मे तो इस हिसाब से ८४००० मन से अधिक जल (अर्थात् जितना इस अवधि मे भूमि को मिलता है उसका दस गुना) इस भॉति निकल जाता है। अगर ऐसा ही आय-व्यय का हिसाब रहता तो काम कैसे चलता।

चि० १—एक जाति का बबूल। नालपत्र पर ध्यान दीजिए। (चि० मि० श० अहमद)

इसलिए पौधो मे वाष्प-त्याग की रोक और जल-सचय के साधन होना भी परम आवश्यक है। साथ ही साथ भूमि में भी वर्षा से आया जल बडी युक्ति से सचित रहता है, जिससे वह, उन दिनों भी जब वर्षा नही होती, पौधो को किसी-न-किसी अश मे मिलता रहता है। फिर भी पौधो के सम्मुख एक प्रकार से जल-संचय की विकट समस्या बनी ही रहती है। यथार्थ मे आजकल पृथ्वी पर वही पेड-पौधे सरसब्ज हैं, जिनमें यह जटिल प्रश्न किसी-न-किसी युक्ति से हल हो गया है। जल की आमद के ही अनुसार इनमे काम-काज का फैलाव रहता है और जलाभाव के दिन किसी-न-किसी विशेष ढंग से ही पार होते हैं।

वाष्प-त्याग से बाहर जानेवाले जल की रोक

सबसे उत्तम जलसचय का साधन तो यह है कि जो जल पौधो मे जडों से आए उसकी छीज कम हो। आप देख चुके हैं कि पत्तियॉ ही वाष्प-त्याग का मार्ग हैं और जल का बाहर जाना बहुत-कुछ इन्ही के अधीन है। इनकी सख्या, आकार, रचना तथा इन पर रध्रों की सख्या व आकृति का वाष्प-त्याग पर बहुत बडा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार से वाष्प-त्याग मे अन्तर पड सकता है। इस परिच्छेद मे हम इन्हीं बातों पर विचार करेंगे।

नागफनी वर्ग के पौधों मे प्रायः पत्तियॉ नहीं होती। यथार्थ में इस समूह के पौधों मे एक पेरेस्किया (*Pereskia*) को छोड अन्य किसी मे भी साधारण पत्तियॉ नहीं होतीं।

ऐसे पौधों में वाष्प-त्याग की अच्छी रोक रहती है। इन पौधों के तनों मे पर्णहरित होता है इसलिए स्टार्च-सश्लेषण मे बाधा नहीं पड़ती। कितने ही थूहड़ के समूह के पेड़ों में भी पत्तियाँ नहीं होतीं। करीर और झाऊ मे भी पत्तियाँ कम और छोटी होती हैं। इन सारे ही पौधों में वाष्प-त्याग से जल कम बाहर जाता है। इन पौधों मे और भी कितनी ही विशेषताएँ हैं, जिनसे वाष्प-त्याग की रोक रहती है।

पत्तियों की सख्या और आकार के अतिरिक्त इनमें और भी अनेक बातें वाष्प-त्याग को कम करनेवाली हैं।

चि० २—चीड की पत्ती के आडे कत्तल का चित्र। इस समूह के वृक्षों मे रंध्र अंदर को घुसे रहते हैं।

किसी-किसी पेड की पत्तियाँ अति शीत के प्रभाव से मुड़ जाती हैं, जिससे उनकी सतह कम पड जाती है और इसलिए वाष्प-त्याग कम पड़ जाता है। यह अवस्था रोडोडेंड्रन (*Rhododendron*) में मिलती है।

पत्तियों के एक दूसरे से मिल जाने से भी वाष्प-त्याग के लिए सतह कम पड जाती है, जिससे यह क्रिया धीमी पड़ जाती है। ऐसी अवस्था प्रायः रात के समय अधिक पेड़-पौधों में देखी जाती है। चकवँड़ (अ० १ चि० चकवँड़), सिरिस, लाजवन्ती और कितने ही दूसरे पौधों की पत्तियाँ सूर्य अस्त होने पर ऐसी अवस्था मे आ जाती हैं। किसी-किसी पौधे मे पत्रदल प्रधान नलिका के दोनो ओर से पलटकर मिल जाता है। ऐसी हालत मे वाष्प-त्याग की सतह केवल आधी रह जाती है। इसके अतिरिक्त जब पत्तियाँ एक दूसरी से जुट जाती हैं तो जो जल वाष्प-रूप मे पत्ती से बाहर आता है, उसका बहुत-सा अंश इनके बीच में ही फँसा रह जाता है, जिससे वाष्प-त्याग और भी धीमा पड़ जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जब कभी पत्तियाँ इस प्रकार एक दूसरी से जा मिलती हैं तो उनसे वाष्प-त्याग धीमा पड जाता है; परन्तु धूप की अपेक्षा रात के प्रभाव से अधिक पेड़ों की पत्तियाँ इस भाँति बन्द हो जाया करती हैं, जिससे पत्तियों की इस हरकत का कोई विशेष अर्थ नहीं समझ में आता। किसी-किसी का मत है कि ऐसी दशा में पत्तियों पर ओस कम जम पाता है, जिससे वाष्प-त्याग मे बाधा नहीं पड़ती, परन्तु यह बात भली भाँति समझ मे नहीं आती।

चि० ३—कनेर की पत्ती के आडे कत्तल का चित्र। इस पौधे में रंध्र गहराई पर गड्ढे में होते हैं और गड्ढों के भीतर और द्वार पर अनेक रोम होते हैं।

किसी-किसी पेड़ की पत्तियों में साधारण पत्रदल नहीं होते, परन्तु पत्रनाल चौड़ा और पत्ती-जैसा हरा होता है (चि० १)। यह अवस्था प्रायः बबूल की जाति के वृक्षों मे मिलती है।

प्रारम्भ मे इन वृक्षों मे भी साधारण बबूल की जाति के पेड़ों की भाँति सयोजित पिच्छाकार पत्तियाँ होती हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों पौधे बढते हैं उनमे साधारण पत्तियों का निकलना बद हो जाता है। साथ-ही-साथ पत्तियों के डठल हरे और चौडे होने लगते हैं। इस भाँति के हरे पत्ती सरीखे डठल को 'नाल-पत्र' (Phyllode) कहते हैं। इन रचनाओं द्वारा पत्ती के सभी काम-काज होते रहते हैं, परन्तु वाष्प-त्याग साधारण पत्तियों की अपेक्षा कम होता है।

तरह-तरह के सुगन्धित द्रव्य, गोंद, लोबान, मोम, तारपीन आदि भी वाष्प-त्याग को धीमा कर देते हैं। ये पदार्थ जिन वृक्षों की पत्तियों में होते हैं उनसे वाष्प-त्याग कम होता है। जिन वृक्षों में दूधिया रस होता है उनसे भी वाष्प-त्याग प्रायः कम होता है। मदार, अजीर, थूहड़, पोस्ता, पपीता, कटहल, गूलर जैसे अनेक वृक्षो मे ऐसा दूधिया रस रहता है। दूधवाले पौधों मे एक और भाँति से भी जल-त्याग की कमी रहती है। इनके अग कटते ही दूध बह चलता है जो धूप और हवा के लगते ही सूख जाता है और जमकर घाव को बन्द कर देता है, जिससे वहाँ से जल की छीज कम होती है।

जिन पौधो की पत्तियों पर मोम-सरीखा पदार्थ जमा रहता है उनसे भी वाष्प-त्याग धीमा होता है। करमकल्लो के ऊपर की सफेद-मायल और लौकी के ऊपर की चमकदार वस्तु इसी भॉति की हैं।

पत्तियों के ऊपर वर्तमान रोम और स्केल भी वाष्प-त्याग को धीमा कर देते हैं, परन्तु इनका प्रभाव उसी दशा मे अधिक होता है जब वे ख़ूब घने हों। इधर-उधर बिखरे रहने पर विशेष असर नही पडता। जिन पत्तियो पर रोमों के कारण नमदे या कम्बल जैसी तह जमी रहती है उनमे वाष्प त्याग की बड़ी रोक रहती है। एक विशेष जाति के पेड़ की पत्तियो से ऐसे रोमों को उतार देने पर देखा गया है कि वाष्प-त्याग २५ से ५० फीसदी तक अधिक हो जाता है। किसी-किसी पत्ती पर रोमों के कारण वाष्प-त्याग द्वारा रध्रों से निकला जल इनके बीच में ही फॅसा रह जाता है, जिससे यह क्रिया और भी धीमी पड जाती है।

चि० ४—पतझडी वृक्षों की पत्तियाँ गिर जाने से वे बिल्कुल पत्रहीन हो जाते हैं। यह इन वृक्षों मे जल की कठिनाई की समस्या को हल करने का साधन है।

रोमों की भॉति स्केल भी वाष्प-त्याग को रोकते हैं। प्रायः ये दोनों ही उन्हीं अंगों पर विशेषता से होते हैं, जिनकी अधिक वाष्प-त्याग से रक्षा करना आवश्यक होता है। अधिकतर ये रचनाऍ नवीन कोमल पत्तियो और रध्रो पर ही होती है।

रोम और स्केल पत्ती को ताप, तुषार तथा अधिक प्रकाश से भी बचाते है, परन्तु यह बात विशेषकर उन्ही पत्तियों के लिए कही जा सकती है जिनमे ये रचनाये घनी और ऊपरी सतह पर होती है। प्रयोगों से पता चलता है कि ऐसी पत्तियो पर साधारण पत्ती की अपेक्षा ताप अथवा प्रकाश का प्रभाव देर मे पड़ता है।

सूखे के प्रभाव से किसी-किसी घास की पत्तियॉ मुड़ जाया करती हैं। इस प्रकार भी वाष्प-त्याग की सतह कम पड जाती है। किसी-किसी सिलैजीनेला (*Selaginella*) और कितने ही लिवरवर्ट्स और मासेज मे भी ऐसा होता है।

पालीट्राइकम मॉस मे जल कम मिलने पर पत्तियॉ ऊपर को झुक शाख से जा लगती हैं, परन्तु जब जल की कमी के दिन निकल जाते हैं तो वे फिर फैलकर खुल जाती हैं। जिस अवस्था मे पत्तियॉ शाखों से चिपटी रहती

हैं, उस दशा में उनसे वाष्प-त्याग कम होता है।

पत्तियों की सजावट के ढंग का भी वाष्प-त्याग पर प्रभाव पड़ता है। यदि ढंग ऐसा हो कि पूरी पत्ती पर सूरज की किरणें सीधी पड़ें तो वाष्प-त्याग अधिक होगा परन्तु यदि वे इस ढंग से लटकी रहें कि ऐसा न हो पाए तो वाष्प-त्याग कम होगा। बहुधा पेड़ों की पत्तियाँ एक दूसरी को कुछ-न-कुछ ढके रहती हैं। इस दशा में भी वाष्प त्याग कुछ धीमा रहता है।

रंध्रों की संख्या का भी वाष्प-त्याग पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो एक ही जाति के पौधों में स्थान-भेद से रंध्रों की संख्या में अन्तर पड़ जाता है। जब ऐसे पौधे उन स्थानों पर उगते हैं जहाँ जल अधिक मिलता रहता है तो इनकी पत्तियों पर अधिक रंध्र होते हैं, परन्तु जब वे ऐसे स्थानों पर उगते हैं जहाँ जल की कठिनाई रहती है तो रंध्र कम होते हैं।

रेगिस्तानी भूमि में उगनेवाले कुछ पौधों में रंध्र अन्दर को घुसे रहते हैं। ऐसी अवस्था कुछ चीड़ की जाति के पौधों में भी मिलती है (चि० २)। ऐसे रंध्रों से निकला जल वायु में बहुत धीरे-धीरे निस्सरित होता है, जिससे वाष्प-त्याग धीमा पड़ जाता है। कभी-कभी ऐसे रंध्रों के द्वार पर रोम भी होते हैं (चि० ३)। इनसे और भी वाष्प-त्याग की रोक रहती है। कभी कभी पत्ती की अधित्वक् की बाहरी भित्तिकाओं पर चर्मोज की तह विशेष मोटी होती है (चि० ३)। इससे भी वाष्प त्याग धीमा रहता है।

चि० ४

वाष्प त्याग को रोकनेवाली विशेषताएँ प्रायः रेगिस्तानी पेड़-पौधों में अधिक होती हैं, क्योंकि ऐसी दशा में जलाभाव की सम्भावना अधिक रहती है।

पतझड़

कितने ही वृक्ष और झाड़ ऐसे हैं, जिनमें किसी-न-किसी समय सारी पत्तियाँ झड़ जाया करती हैं। ऐसे पेड़ों को पतझड़ी पेड़ कहते हैं।

जैसा ऊपर कह चुके हैं पत्तियाँ पौधों से जलत्याग का मार्ग हैं। इन्हीं की राह पौधों से सैकड़ों मन पानी निकलकर बराबर वायु में आता रहता है। यदि हम किसी साधारण वृक्ष की भी पत्तियों को एक दूसरी से मिलाकर बिछा सकते तो ये बीघों जगह घेर लेतीं। जब तक ये पेड़ में लगी रहती हैं इनसे होकर बराबर हवा में जल आता रहता है।

अब अगर मान लीजिए कि किसी स्थान पर ठंढक (जैसा कि प्रायः शीतप्रधान देशों में होता है) या अन्य किसी कारण से पेड़ों में शोषण-क्रिया धीमी पड़ जाय, परन्तु वाष्प-त्याग से बाहर जानेवाले जल की यथेष्ट रोक न हो तो पेड़ों के लिए बड़ी कठिन समस्या हो जाय। पतझड़ ऐसी कठिनाई की अवधि पार करने का एक उत्तम साधन समझा जाता है।

पतझड़ क्यों होता है, इसमें भले ही मतभेद हो, परन्तु पत्तियाँ झड़ जाने से वाष्प-त्याग बहुत कम पड़ जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

पत्तियों का जीवनकाल थोड़े या बहुत दिन का होता है। अनेक रेगिस्तानी और पतझड़ी वृक्षों में पत्तियाँ निकलने के कुछ हफ्ते अथवा महीने बाद गिर जाती हैं; परन्तु सदापत्री वृक्षों में वे साल दो साल या इससे भी अधिक दिनों तक लगी रहती हैं। इन वृक्षों की एक विशेषता यह भी है कि इनकी सारी पत्तियाँ एक साथ नहीं गिरतीं, जिससे हमारा विशेष ध्यान इनकी ओर नहीं जाता; परन्तु पतझड़ी वृक्षों की सारी पत्तियाँ एक साथ गिर जाती हैं और वे बिल्कुल पत्रहीन हो जाते हैं, जिससे इनकी यह दशा हमारी निगाहों में खटकने लगती है (चि० ४)।

वैसे तो पतझड़ कई बातों पर निर्भर है, परन्तु शीतप्रधान देशों में, जहाँ ठंढक के कारण सर्दी के दिनों में पेड़ों में जल-शोषण की अड़चन रहती है, यह जल-कठिनाई की समस्या को हल करने का सबसे उत्तम साधन समझा जाता है। ऐसे समय में बहुत-से पेड़ और झाड़ पत्तियाँ उतार देते हैं। जब पत्तियाँ ही नहीं होंगी तो वाष्प-त्याग कहाँ से होगा। पतझड़ के और भी कई कारण हैं।

जैसा हम पूर्व ही कह चुके हैं, पत्तियाँ पेड़ों के यह

कारखाने हैं जहाँ अमूल्य पदार्थ बना करते हैं। इनके कोश ही वे इंजिन हैं जिन पर इन वस्तुओं का बनना निर्भर है। एक समय तक चालू रहने के पश्चात् लोहे की मशीनों के भी पुर्ज़े घिस-घिसाकर बेकाम हो जाते हैं और उनकी सफाई, मरम्मत तथा बदलने तक की आवश्यकता रहती है। पत्तियों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। ज्यों-ज्यों ये पुरानी हो चलती हैं, इनमें काम-काज के लिए पहले-जैसी शक्ति नहीं रह जाती। उधर अनेक इन्द्रिय-व्यापारक क्रियाओं के कारण अनेक मलोत्सर्जित वस्तुएँ जमा हो जाती हैं तथा रंध्रों पर गर्द-गुबार जम जाता है जिससे काम-काज और भी धीमे पड़ने लगते हैं। इन कारणों से भी कुछ समय पश्चात् पत्तियों को अलग कर देने की आवश्यकता होती है। फिर साल के बारहों महीने तो सभी जगह काम-काज के लिए समान सुविधा रहती नहीं है। प्रायः बसंत के दिन और गर्मी का प्रारम्भ काल ही इन्द्रिय-व्यापारिक क्रियाओं के लिए सर्वोत्तम समय है। इन दिनों प्रकाश और ताप अनुकूल रहता है। इसलिए इन दिनों नवीन पत्तियों का होना पेड़ों के लिए हितकर समझना चाहिए। यदि विचार से देखा जाय तो अधिकतर पतझड़ी पेड़ों में प्रायः ऐसी ही अवस्था मिलेगी। इनमें पत्तियाँ तभी गिरने लगती हैं जब काम-काज में अड़चन उपस्थित होने लगती हैं और नवीन पत्तियाँ तभी निकलती मिलेगी जब इसके लिए अधिक सुविधा रहती है।

जिस समय पत्ती गिरने को होती है उसके आधार के नीचे, जहाँ वह टहनी में लगी रहती है, एक विशेष प्रकार का तन्तु बनने लगता है। इस तन्तु को ऐब्सिस (*Abscis*) पर्त कहते हैं। काग की भाँति इस तन्तु की कोश-भित्तिकाओं पर भी कागजन जमा रहता है, जिससे पत्ती में जल पहुँचना रुक जाता है और वह पीली पड़कर मुर्झाने लगती है। इधर इस तन्तु के कोश नाज़ुक होते हैं और धीरे-धीरे उनकी भित्तिकायें गलने लगती हैं जिससे पत्ती का बोझ सँभलना कठिन हो जाता है और स्वयं अपने भार से हवा का तनिक झोंका लगते ही वह अलग जा गिरती है (चि० ५)। इस प्रकार सारी पत्तियाँ गिर जाती हैं और वृक्ष सूखे ठूँठ-जैसे दिखाई देते हैं। अब पत्तियाँ न रहने से वाष्प-त्याग का भय जाता रहता है, परन्तु शायद आप विस्मय में होंगे कि पत्तियों अलग हो जाने के कारण जो करोड़ों घाव पेड़ों में हो जाते

चि० ६—वृक्ष-पर्णाङ्गों का एक समूह
ये पेड़ सदापत्री होते हैं।

हैं, उस दशा में उनसे वाष्प-त्याग कम होता है।

पत्तियों की सजावट के ढंग का भी वाष्प-त्याग पर प्रभाव पड़ता है। यदि ढंग ऐसा हो कि पूरी पत्ती पर सूरज की किरणें सीधी पड़ें तो वाष्प-त्याग अधिक होगा परन्तु यदि वे इस ढंग से लटकी रहें कि ऐसा न हो पाए तो वाष्प-त्याग कम होगा। बहुधा पेड़ों की पत्तियाँ एक दूसरी को कुछ न-कुछ ढके रहती हैं। इस दशा में भी वाष्प त्याग कुछ धीमा रहता है।

रन्ध्रों की सख्या का भी वाष्प-त्याग पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो एक ही जाति के पौधों में स्थान-भेद से रन्ध्रों की सख्या में अन्तर पड जाता है। जब ऐसे पौधे उन स्थानों पर उगते हैं जहाँ जल अधिक मिलता रहता है तो उनकी पत्तियों पर अधिक रन्ध्र होते हैं, परन्तु जब वे ऐसे स्थानों पर उगते हैं जहाँ जल की कठिनाई रहती है तो रन्ध्र कम होते हैं।

रेगिस्तानी भूमि में उगने-वाले कुछ पौधों में रन्ध्र अन्दर को घुसे रहते हैं। ऐसी अवस्था कुछ चीड की जाति के पौधों में भी मिलती है (चि० २)। ऐसे रन्ध्रों से निकला जल वायु में बहुत धीरे-धीरे निस्सरित होता है, जिससे वाष्प-त्याग धीमा पड जाता है। कभी-कभी ऐसे रन्ध्रों के द्वार पर रोम भी होते हैं (चि० ३)। इनसे और भी वाष्प-त्याग की रोक रहती है। कभी कभी पत्ती की अधित्वक् की बाहरी भित्तिकाओं पर चर्मोज की तह विशेष मोटी होती है (चि० ३)। इससे भी वाष्प त्याग धीमा रहता है।

वाष्प-त्याग को रोकनेवाली विशेषताएँ प्रायः रेगिस्तानी पेड़-पौधों में अधिक होती हैं, क्योंकि ऐसी दशा में जलाभाव की सम्भावना अधिक रहती है।

पतझड

कितने ही वृक्ष और झाड ऐसे हैं, जिनमें किसी-न-किसी समय सारी पत्तियाँ झड जाया करती हैं। ऐसे पेड़ों को पतझड़ी पेड कहते हैं।

जैसा ऊपर कह चुके हैं पत्तियाँ पौधों से जलत्याग का मार्ग हैं। इन्हीं की राह पौधों से रोज़ कितना मन पानी निकलकर बराबर वायु में आता रहता है। यदि हम किसी साधारण वृक्ष की भी पत्तियों को एक दूसरी से मिलाकर बिछा सकते तो ये बीघों जगह घेर लेतीं। जब तक ये पेड़ में लगी रहती हैं इनसे होकर बराबर हवा में जल आता रहता है।

अब अगर मान लीजिए कि किसी स्थान पर ठटक (जैसा कि प्रायः शीतप्रधान देशों में होता है) या अन्य किसी कारण से पेडों में शोषण-क्रिया धीमी पड़ जाय, परन्तु वाष्प-त्याग से बाहर जानेवाले जल की यथेष्ट रोक न हो तो पेड़ों के लिए बड़ी कठिन समस्या हो जाय। पतझड ऐसी कठिनाई की अवधि पार करने का एक उत्तम साधन समझा जाता है।

पतझड क्यों होता है, इसमें भले ही मतभेद हो, परन्तु पत्तियाँ झड़ जाने से वाष्प-त्याग बहुत कम पड जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

चि० ४

पत्तियों का जीवनकाल थोडे या बहुत दिन का होता है। अनेक रेगिस्तानी और पतझड़ी वृक्षों में पत्तियाँ निकलने के कुछ हफ्ते अथवा महीने बाद गिर जाती हैं, परन्तु सदापत्री वृक्षों में वे साल दो साल या इससे भी अधिक दिनों तक लगी रहती हैं। इन वृक्षों की एक विशेषता यह भी है कि इनकी सारी पत्तियाँ एक साथ नहीं गिरतीं, जिससे हमारा विशेष ध्यान इनकी ओर नहीं जाता, परन्तु पतझड़ी वृक्षों की सारी पत्तियाँ एक साथ गिर जाती हैं और वे बिल्कुल पत्रहीन हो जाते हैं, जिससे इनकी यह दशा हमारी निगाहों में खटकने लगती है (चि० ४)।

वैसे तो पतझड़ कई बातों पर निर्भर है, परन्तु शीत-प्रधान देशों में, जहाँ ठढक के कारण सर्दी के दिनों में पेड़ों में जल-शोषण की अड़चन रहती है, यह जल-कठिनाई की समस्या को हल करने का सबसे उत्तम साधन समझा जाता है। ऐसे समय में बहुत-से पेड़ और झाड़ पत्तियाँ उतार देते हैं। जब पत्तियाँ ही नहीं होंगी तो वाष्प-त्याग कहाँ से होगा! पतझड़ के और भी कई कारण हैं।

जैसा हम पूर्व ही कह चुके हैं, पत्तियाँ पेड़ों के यह

कारखाने हैं जहाँ अमूल्य पदार्थ बना करते हैं। इनके कोश ही वे इंजिन हैं जिन पर इन वस्तुओं का बनना निर्भर है। एक समय तक चालू रहने के पश्चात् लोहे की मशीनों के भी पुर्जे घिस-घिसाकर बेकाम हो जाते हैं और उनकी सफाई, मरम्मत तथा बदलने तक की आवश्यकता रहती है। पत्तियों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। ज्यों-ज्यों ये पुरानी हो चलती हैं, इनमें काम-काज के लिए पहले-जैसी शक्ति नहीं रह जाती। उधर अनेक इन्द्रिय-व्यापारक क्रियाओं के कारण अनेक मलोत्सर्जित वस्तुएँ जमा हो जाती हैं तथा रध्रों पर गर्द-गुबार जम जाता है जिससे काम-काज और भी धीमे पड़ने लगते हैं। इन कारणों से भी कुछ समय पश्चात् पत्तियों को अलग कर देने की आवश्यकता होती है। फिर साल के बारहो महीने तो सभी जगह काम-काज के लिए समान सुविधा रहती नहीं है। प्रायः वसंत के दिन और गर्मी का प्रारम्भ काल ही इन्द्रिय-व्यापारिक क्रियाओं के लिए सर्वोत्तम समय है। इन दिनों प्रकाश और ताप अनुकूल रहता है। इसलिए इन दिनों नवीन पत्तियों का होना पेड़ों के लिए हितकर समझना चाहिए। यदि विचार से देखा जाय तो अधिकतर पतझड़ी पेड़ों में प्रायः ऐसी ही अवस्था मिलेगी। इनमें पत्तियाँ तभी गिरने लगती हैं जब काम-काज में अड़चन उपस्थित होने लगती हैं और नवीन पत्तियाँ तभी निकलती मिलेंगी जब इसके लिए अधिक सुविधा रहती है।

जिस समय पत्ती गिरने को होती है उसके आधार के नीचे, जहाँ वह टहनी में लगी रहती है, एक विशेष प्रकार का तन्तु बनने लगता है। इस तन्तु को ऐब्सिस (*Abscis*) पर्त कहते हैं। काग की भाँति इस तन्तु की कोश-भित्तिकाओं पर भी कागजन जमा रहता है, जिससे पत्ती में जल पहुँचना रुक जाता है और वह पीली पड़कर मुर्झाने लगती है। इधर इस तन्तु के कोश नाज़ुक होते हैं और धीरे-धीरे उनकी भित्तिकायें गलने लगती हैं जिससे पत्ती का बोझ सँभलना कठिन हो जाता है और स्वयं अपने भार से हवा का तनिक झोंका लगते ही वह अलग जा गिरती है (चि० ५)। इस प्रकार सारी पत्तियाँ गिर जाती हैं और वृक्ष सूखे ठूँठ-जैसे दिखाई देते हैं। अब पत्तियाँ न रहने से वाष्प-त्याग का भय जाता रहता है, परन्तु शायद आप विस्मय में होंगे कि पत्तियाँ अलग हो जाने के कारण जो करोड़ों घाव पेड़ों में हो जाते

चि० ६—वृक्ष-पर्णाङ्गों का एक समूह
ये पेड़ सदापत्री होते हैं।

हैं, उनसे होकर बहुत सारा जल पेड़ों से निकल जाता होगा। किंतु ऐसी अवस्था नहीं आने पाती, क्योंकि जैसा ऊपर कह चुके हैं, ऐब्सिस पर्त के कोशों में कागजन रहता है, जिसके प्रभाव से उसके नीचे के कोशों से जल-त्याग का भय नहीं रहता और पत्ती गिर जाने पर भी उस स्थान से वाष्पी-भवन द्वारा जल नहीं निकल पाता।

कितने ही पेड़ों मे अलग-अलग पत्तियाँ न गिरकर छोटी-छोटी टहनियाँ गिर जाया करती हैं। बात एक ही है और पेड़ो पर दोनों का ही एक सरीखा प्रभाव पड़ता है।

पतझड़ से इस प्रकृतिवाले पेड़ों मे वाष्प-त्याग बहुत धीमा पड़ जाता है और एक तरह से ऐसी वनस्पतियों के लिए हम कह सकते हैं कि जल की कठिनाई के दिनो में इन्होंने मानो अपने अगो मे स्थित जल को वायु मे जाने से रोकने के लिए काग चढ़ा लिया है। इस स्वभाव के ही कारण किसी-किसी वृक्ष मे इतना अधिक काग बन जाता है कि इसका अच्छा खासा व्यापार खड़ा हो गया है। इस काग से ही बोतल की टट्टियाँ, जूतों के तले तथा और कितनी ही दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ बनती हैं।

सदापत्री वृक्षों मे, जैसा पहले कह चुके हैं, सारी पत्तियाँ इकट्ठी नहीं गिरतीं। इन वृक्षों के कई भेद हैं। इनमे से कदली और वृक्ष-पर्णाङ्ग (चि० ६) की भाँति कोई-कोई कोमल पत्तीवाले होते हैं, किसी-किसी मे पत्तियाँ बड़ी परन्तु चिमड़ी होती हैं, किसी-किसी मे चीड़ और देवदार की तरह पत्तियाँ सख्त और सुई-जैसी होती हैं और किसी-किसी मे, नागफनी और करील की भाँति, पत्तियाँ तो नहीं होतीं परन्तु इनके अग हरे बने रहते हैं।

वाष्प त्याग की रोक के लिए पत्रहीन दशा सर्वश्रेष्ठ साधन है, क्योंकि इस अवस्था मे छाल तथा त्वचापत्र द्वारा प्रायः वृक्षो के समस्त अग रक्षित रहते हैं।

सर्दी के प्रारम्भ मे पत्तियाँ गिर जाने से विशेषकर कोमल पत्तीवाले वृक्षो को अधिक लाभ पहुँचता है, क्योंकि इससे वाष्प-त्याग बहुत धीमा पड़ जाता है।

सर्दी के दिनो मे सदापत्री पेड़ो ने पतझड़ी पेड़ो की अपेक्षा वाष्प त्याग का अधिक भय रहता है, परन्तु इनमे स्टार्च-सश्लेषण की सुविधा सदैव बनी रहती है।

बड़ी और चिमड़ी पत्तीवाले सदापत्री वृक्ष केवल उन्हीं स्थानों पर अधिकता से उगते हैं, जहाँ सर्दी के दिनो मे जल गिरता रहता है। जिन प्रदेशो मे तमाम साल बराबर वर्षा होती रहती है और साथ-ही-साथ ताप भी करीब-करीब समान रहता है वहाँ कोमल पत्तीवाली सदापत्री वनस्पतियों के लिए विशेष सुविधा रहती है।

वाष्प-त्याग पर कलियों का प्रभाव

कितने ही वृक्षों और झाड़ों मे सर्दी के दिनों मे कलियाँ बन जाती हैं। इससे भी वाष्प-त्याग धीमा पड़ जाता है, और जल-कठिनाई की अड़चन नहीं रहती। कलियो मे पत्तियों के बीच के पोर बहुत छोटे होते हैं, जिससे वे दूर-दूर न होकर एक दूसरी को ढके रहती हैं (चि० ७)। कलियो के बाहर वल्क-पत्र, स्केल या रोम होते हैं। प्रायः इन पर मोम या गोंद-सरीखा पदार्थ भी रहता है। ये सारी ही बातें वाष्प-त्याग को धीमा करनेवाली हैं और इसलिए कलियाँ बन जाने से वाष्प-त्याग का भय कम पड़ जाता है।

कली की अवस्था मे पत्तियाँ बहुत छोटी और आपस म ऐसी लिपटी रहती हैं कि इनकी भीतरी कोमल सतह बिलकुल ढकी रहती है। इससे भी वाष्प-त्याग कम पड़ जाता है।

कलियों में नन्हीं-नन्हीं नवल पत्तियों के मध्य मे शाखा का कोमल अकुर छिपा रहता है। समय आने पर पत्तियों के बीच के पोर बढ़ने लगते हैं, जिससे वे अलग-अलग हो फैलने लगती हैं। धीरे-धीरे वे छोटी से बड़ी और कोमल से पोढ़ी हो जाती हैं। कठिनाई की अवधि पार होते ही वृक्ष हरी-हरी नवल पत्तियों से लहलहा उठता है और ताप और प्रकाश यथेष्ट होने के कारण पेड़ो मे काम-काज बड़ी धूम से होने लगते हैं।

भूम्यन्तरवास का जल-कठिनाई से सम्बन्ध

कुछ ऐसी प्रकृति के पेड़-पौधे हैं, जो जल-कठिनाई की नौबत आने पर उन दिनों अपने काम-काज धीमे कर पृथ्वी के अन्दर छिपे पड़े रहते हैं। ऐसे पौधों के लिए यह कहना अनुचित न होगा कि जल की अड़चन देखकर ये शयन करने लगते हैं। इन्हें हम भूम्यन्तरवासी पौधे कह सकते हैं।

कितने ही पौधो मे यह क्रिया सम्मूलनी शाखा, मासल जड़ो अथवा अन्य किसी अग के सहारे होती है। ऐसे अंगो मे जल और खाद्य रस सचित रहते हैं। इन्हीं अगो के सहारे ऐसी प्रकृतिवाले पौधे जलाभाव की अवधि पृथ्वी के नीचे पड़े-पड़े काट देते हैं। आलू, शकरकन्द, कैना, हल्दी आदि ऐसे पौधो के उदाहरण हैं। प्रतिकूल समय आने पर इनकी पत्तियाँ तथा भूमि के ऊपरवाले अन्य अग सूखने लगते हैं, परन्तु भूमि के नीचे के भाग मासल और मोटे हो जाते हैं। इन्हीं अगो मे सचित जल और खाद्य पदार्थ रहते हैं और इन्हीं पर कलियाँ होती हैं, जिनसे समय लौटने पर नवीन पौधे पैदा होते हैं।

द्विवर्षीय जीवन

कितने ही घास-फूस तथा बगीचे के पौधे एक मौसम मे उगते हैं और दूसरे मे इनमे बीज बनते हैं। ऐसी प्रकृति के पौधो मे पहली मौसम मे प्रायः बड़ी-बड़ी पत्तियों का गुच्छा या अग्रस्थ कलियाँ बनती हैं या मासल तने अथवा जड़ें उत्पन्न होती हैं, और दूसरी मे फूल-फल और बीज आते हैं। प्रायः पत्तियों के गुच्छे और कलियाँ पृथ्वी से चिपटी रहती हैं। बहुधा इन पर स्केल्स और रोम भी होते हैं, जिससे वाष्प-त्याग धीमा रहता है। करमकल्ला इस श्रेणी के ऐसे पौधो मे है जिनमे पहली मौसम मे बड़ी अग्रस्थ कली बनती है। इसकी पत्तियों के आपस मे लिपटे रहने के कारण वाष्प-त्याग की रोक रहती है। गाँठगोभी मे मासल तने के सहारे जल-कठिनाई के दिन पार होते हैं। ऐसे पौधों मे जल-कठिनाई के दिन निकल जाने पर फिर बाढ शुरू होती है और फूल-फल आते हैं।

जल-संचय

अभी तक हमने विशेषकर उन्हीं बातो पर विचार किया है, जिनके प्रभाव से पौधों से बाहर जानेवाले जल की रोक रहती है। अब हम आपका ध्यान इनमे जल-सचय की ओर ले जाना चाहते हैं। इस सगृहीत जल के सहारे ही इनमे जल-कठिनाई के दिनों मे काम-काज होते रहते हैं। अनेक पौधों मे जल-सचय के साथ-ही-साथ जल-त्याग की भी रोक रहती है और इसलिए कुछ ऐसे पौधों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। नागफनी, चौधारा (चि० ८), थूहड़, पथरचूक (अजूबा) आदि कितने ही ऐसी प्रकृति के पौधे हैं।

चि० ७—(दाहिनी ओर) पत्रकलिका, (बाईं ओर) कलियाँ खिल गई हैं। (फो०—मि० श० अहमद)

न्यूयार्क बौटैनिक गार्डेंस मे आइबरविलिया सोनोरी *(Ibervillea sonorae)* नामक एक कद्दूवर्ग के पौधे का ग्रथिकन्द है, जो यहाँ सन् १९०२ ई० में लाया गया था। यहाँ पहुँचने पर यह पत्थर-जैसा सूखा-साखा कन्द एक अल्मारी मे बन्द कर दिया गया, परन्तु आप सुनकर आश्चर्य करेंगे कि ऐसी परिस्थिति मे भी इससे प्रतिवर्ष सात साल तक एक-न एक हरी टहनी निकलती रही! इस बाढ के लिए भला अल्मारी के अन्दर इस कन्द को पानी कहाँ से मिला? अगर इसका कोई सहारा था तो बस वही जल था जो इसमे मरुभूमि से, जहाँ वह यहाँ आने के पूर्व उगा था, समय-समय पर सचित हो गया था। एक सूरन की गाँठ से योंही गोदाम मे रक्खे-रक्खे फूल निकलते मिले हैं (चि० ९)।

सन् १९२१ की बात है, बनारस के श्री राय किशनचन्द्र-जी ने साधारण व्यवहार के लिए कुछ ज़मींक़न्द की गाँठें

चि० ८—चौधारा (फ़ो०—श्री० वि० सा० शर्मा)

हैं, उनसे होकर बहुत सारा जल पेड़ों से निकल जाता होगा। किंतु ऐसी अवस्था नहीं आने पाती ; क्योंकि जैसा ऊपर कह चुके हैं, ऐब्सिस पर्त के कोशों में कागजन रहता है, जिसके प्रभाव से उसके नीचे के कोशों से जल-त्याग का भय नहीं रहता और पत्ती गिर जाने पर भी उस स्थान से वाष्पी-भवन द्वारा जल नहीं निकल पाता।

कितने ही पेड़ों में अलग-अलग पत्तियाँ न गिरकर छोटी-छोटी टहनियाँ गिर जाया करती हैं। बात एक ही है और पेड़ों पर दोनों का ही एक सरीखा प्रभाव पड़ता है।

पतझड़ से इस प्रकृतिवाले पेड़ों में वाष्प-त्याग बहुत धीमा पड़ जाता है और एक तरह से ऐसी वनस्पतियों के लिए हम कह सकते हैं कि जल की कठिनाई के दिनों में इन्होंने मानो अपने अंगों में स्थित जल को वायु में जाने से रोकने के लिए काग चढ़ा लिया है। इस स्वभाव के ही कारण किसी-किसी वृक्ष में इतना अधिक काग बन जाता है कि इसका अच्छा खासा व्यापार खड़ा हो गया है। इस काग से ही बोतल की टट्टियाँ, जूतों के तले तथा और कितनी ही दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ बनती हैं।

सदापत्री वृक्षों में, जैसा पहले कह चुके हैं, सारी पत्तियाँ इकट्ठी नहीं गिरतीं। इन वृक्षों के कई भेद हैं। इनमें से कदली और वृक्ष-पर्णाङ्ग (चि० ६) की भाँति कोई-कोई कोमल पत्तीवाले होते हैं, किसी-किसी में पत्तियाँ बड़ी परन्तु चिमड़ी होती हैं, किसी-किसी में चीड़ और देवदार की तरह पत्तियाँ सख्त और सुई-जैसी होती हैं और किसी-किसी में, नागफनी और करीर की भाँति, पत्तियाँ तो नहीं होतीं परन्तु इनके अंग हरे बने रहते हैं।

वाष्प त्याग की रोक के लिए पत्रहीन दशा सर्वश्रेष्ठ साधन है, क्योंकि इस अवस्था में छाल तथा त्वचापत्र द्वारा प्रायः वृक्षों के समस्त अंग रक्षित रहते हैं।

सर्दी के प्रारम्भ में पत्तियाँ गिर जाने से विशेषकर कोमल पत्तीवाले वृक्षों को अधिक लाभ पहुँचता है, क्योंकि इससे वाष्प-त्याग बहुत धीमा पड़ जाता है।

सर्दी के दिनों में सदापत्री पेड़ों में पतझड़ी पेड़ों की अपेक्षा वाष्प त्याग का अधिक भय रहता है, परन्तु इनमें स्टार्च-सश्लेषण की सुविधा सदैव बनी रहती है।

बड़ी और चिमड़ी पत्तीवाले सदापत्री वृक्ष केवल उन्हीं स्थानों पर अधिकता से उगते हैं, जहाँ सर्दी के दिनों में जल मिलता रहता है। जिन प्रदेशों में तमाम साल बराबर वर्षा होती रहती है और साथ-ही-साथ ताप भी करीब-करीब समान रहता है वहाँ कोमल पत्तीवाली सदापत्री वनस्पतियों के लिए विशेष सुविधा रहती है।

वाष्प-त्याग पर कलियों का प्रभाव

कितने ही वृक्षों और झाड़ों में सर्दी के दिनों में कलियाँ बन जाती हैं। इससे भी वाष्प-त्याग धीमा पड़ जाता है, और जल-कठिनाई की अड़चन नहीं रहती। कलियों में पत्तियों के बीच के पोर बहुत छोटे होते हैं, जिससे वे दूर-दूर न होकर एक दूसरी को ढके रहती हैं (चि० ७)। कलियों के बाहर वल्क-पत्र, स्केल या रोम होते हैं। प्रायः इन पर मोम या गोंद-सरीखा पदार्थ भी रहता है। ये सारी ही बातें वाष्प-त्याग को धीमा करनेवाली हैं और इसलिए कलियाँ बन जाने से वाष्प-त्याग का भय कम पड़ जाता है।

कली की अवस्था में पत्तियाँ बहुत छोटी और आपस में ऐसी लिपटी रहती हैं कि इनकी भीतरी कोमल सतह बिलकुल ढकी रहती है। इससे भी वाष्प-त्याग कम पड़ जाता है।

कलियों में नन्हीं-नन्हीं नवल पत्तियों के मध्य में शाख का कोमल अंकुर छिपा रहता है। समय आने पर पत्तियों के बीच के पोर बढ़ने लगते हैं, जिससे वे अलग-अलग हो फैलने लगती हैं। धीरे-धीरे वे छोटी से बड़ी और कोमल से पोढ़ी हो जाती हैं। कठिनाई की अवधि पार होते ही वृक्ष हरी-हरी नवल पत्तियों से लहलहा उठता है और ताप और प्रकाश यथेष्ट होने के कारण पेड़ों में काम-काज बड़ी धूम से होने लगते हैं।

भूम्यन्तरवास का जल-कठिनाई से सम्बन्ध

कुछ ऐसी प्रकृति के पेड़-पौधे हैं, जो जल-कठिनाई की नौबत आने पर उन दिनों अपने काम-काज धीमे कर पृथ्वी के अन्दर छिपे पड़े रहते हैं। ऐसे पौधों के लिए यह कहना अनुचित न होगा कि जल की अड़चन देखकर ये शयन करने लगते हैं। इन्हें हम भूम्यन्तरवासी पौधे कह सकते हैं।

कितने ही पौधों में यह क्रिया सम्पूलनी शाखा, मांसल जड़ों अथवा अन्य किसी अंग के सहारे होती है। ऐसे अंगों में जल और खाद्य रस सञ्चित रहते हैं। इन्हीं अंगों के सहारे ऐसी प्रकृतिवाले पौधे जलाभाव की अवधि पृथ्वी के नीचे पड़े-पड़े काट देते हैं। आलू, शकरकन्द, केना, हल्दी आदि ऐसे पौधों के उदाहरण हैं। प्रतिकूल समय आने पर इनकी पत्तियाँ तथा भूमि के ऊपरवाले अन्य अंग सूखने लगते हैं, परन्तु भूमि के नीचे के भाग मांसल और मोटे हो जाते हैं। इन्हीं अंगों में संचित जल और खाद्य पदार्थ रहते हैं और इन्हीं पर कलियाँ होती हैं, जिनसे समय लौटने पर नवीन पौधे पैदा होते हैं।

द्विवर्षीय जीवन

कितने ही घास-फूस तथा बगीचे के पौधे एक मौसम मे उगते हैं और दूसरे मे इनमे बीज बनते हैं। ऐसी प्रकृति के पौधो मे पहली मौसम मे प्रायः बड़ी-बड़ी पत्तियों का गुच्छा या अग्रस्थ कलियाँ बनती हैं या मासल तने अथवा जड़े उत्पन्न होती हैं, और दूसरी मे फूल-फल और बीज आते हैं। प्रायः पत्तियों के गुच्छे और कलियाँ पृथ्वी से चिपटी रहती हैं। बहुधा इन पर स्केल्स और रोम भी होते हैं, जिससे वाष्प-त्याग धीमा रहता है। करमकल्ला इस श्रेणी के ऐसे पौधों मे है जिनमे पहली मौसम मे बड़ी अग्रस्थ कली बनती है। इसकी पत्तियों के आपस मे लिपटे रहने के कारण वाष्प-त्याग की रोक रहती है। गाँठगोभी मे मासल तने के सहारे जल-कठिनाई के दिन पार होते हैं। ऐसे पौधों मे जल-कठिनाई के दिन निकल जाने पर फिर बाढ शुरू होती है और फूल-फल आते हैं।

जल-संचय

अभी तक हमने विशेषकर उन्ही बातो पर विचार किया है, जिनके प्रभाव से पौधों से बाहर जानेवाले जल की रोक रहती है। अब हम आपका ध्यान इनमे जल-सचय की ओर ले जाना चाहते हैं। इस सगृहीत जल के सहारे ही इनमे जल-कठिनाई के दिनों मे काम-काज होते रहते हैं। अनेक पौधो मे जल-सचय के साथ-ही-साथ जल-त्याग की भी रोक रहती है और इसलिए कुछ ऐसे पौधो का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। नागफनी, चौधारा (चि० ८), थूहड, पथरचूक (अजूबा) आदि कितने ही ऐसी प्रकृति के पौधे हैं।

न्यूयार्क बौटैनिक गार्डेंस मे आइबरविलिया सोनोरी *(Ibervillea sonorae)* नामक एक कद्दूवर्ग के पौधे का ग्रंथिकन्द है, जो यहाँ सन् १९०२ ई० मे लाया गया था। यहाँ पहुँचने पर यह पत्थर-जैसा सूखा-साखा कन्द एक अल्मारी मे बन्द कर दिया गया, परन्तु आप सुनकर आश्चर्य करेंगे कि ऐसी परिस्थिति मे भी इससे प्रतिवर्ष सात साल तक एक-न एक हरी टहनी निकलती रही। इस बाढ के लिए भला अल्मारी के अन्दर इस कन्द को पानी कहाँ से मिला? अगर इसका कोई सहारा था तो बस वही जल था जो इसमे मरुभूमि से, जहाँ वह यहाँ आने के पूर्व उगा था, समय-समय पर सचित हो गया था। एक सूरन की गाँठ से योंही गोदाम मे रक्खे-रक्खे फूल निकलते मिले हैं (चि० ९)।

सन् १९२१ की बात है, बनारस के श्री राय किशनचन्द्र-जी ने साधारण व्यवहार के लिए कुछ जमींकन्द की गाँठ

चि० ७—(दाहिनी ओर) पत्रकलिका; (बाईं ओर) कलियाँ खिल गई हैं। (फ़ो० — मि० श० अहमद)

चि० ८—चौ

चि० ९—सूरन की एक गाँठ जिसमें यों ही पडे-पड़े फूल निकल आए थे (फो०—श्रीमान् प्रो० वीरवल साहनी, एफ० आर० एस०, के सौजन्य से)

एक बोरी मे बन्द कर एक कोठरी मे रख दी थीं। समय-समय पर वे इनसे एक-आध गाँठ निकलवाकर भाजी के काम मे लाते रहे। इस प्रकार कई महीने निकल गए। एक दिन जब उन्होंने फिर इस बोरे को सूरन निकालने के लिए खोला तो यह कन्द फूला हुआ मिला। बाद मे इसका फूलो का गुच्छा काट लिया गया, जो आज भी लखनऊ-विश्वविद्यालय मे सुरक्षित है, और गाँठ वहाँ के बोटेनिक गार्डेन मे लगा दी गई थी, जिसमे कई साल तक बराबर शाखें निकलती रहीं।

नागफनी, चौधारा, घीकुवाँर जैसे कितने ही पौधों को आपने कंकरीली-पथरीली भूमि पर भी उगते देखा होगा। प्राय इनकी नहाँ-तहाँ पड़ी डालों से भी जड़े फूट आती हैं। कभी-कभी तो ये ऊँचे-ऊँचे खपरैलों और चहारदीवारी पर भी, जहाँ साल की अधिक अवधि बिना बाहर के जल के सहारे पार करनी पड़ती है, हरे-भरे बने रहते हैं। ऐसी परिस्थिति मे इनमे काम-काज साल मे अधिक दिन उसी जल के सहारे चलते हैं जो वर्षा के दिनों मे इनमे सञ्चित हो जाता है।

कितने ही नागफनी और थूहड़ की जाति के पौधो की अधित्वक् चिमडी और मोटी होती है, जिससे जलसचय के साथ-साथ वाष्प-त्याग भी कम होता है। ऐसे कितने ही पौधों मे प्रायः पत्तियाँ छोटी अथवा बिल्कुल नही होतीं (अ० ६, चि० १०-११)। यह सारी ही बाते जल-कठिनाई की समस्या सरल करने के प्रयोजन से होती हैं।

बहुतेरे पेडो की पत्तियों मे जल सचित रहता है। घीकुवाँर, पथरचूक, हाथीचिंघार अथवा कितने ही पर्णांग ऐसी सुविधावाले पौधे हैं। प्राय. ऐसे पौधो की अधित्वक् भी ऐसी होती है कि उससे जल बाहर जाना कठिन रहता है। बहुधा ऐसे पौधो मे जलसचय के लिए एक विशेष तन्तु होता है। कभी-कभी जलसग्रह-तन्तु के कोश धौंकनी के समान होते हैं, जिससे ये आसानी से फैलते और सिकुड़ते रहते हैं (चि० १०)। जल-सुविधा के समय इस तन्तु के कोश जल से भर जाते हैं, जिससे वे तन जाते हैं और पत्ती फूली रहती है, परन्तु जब जल कम पड़ने लगता है तो भित्तिकायें सिमट जाती हैं और कोश पिचक जाते हैं। किसी-किसी जाति के पर्णांग मे दो भाँति की पत्तियाँ होती हैं—साधारण पत्तियाँ, जिनमे जलसग्रह की विशेष सुविधा
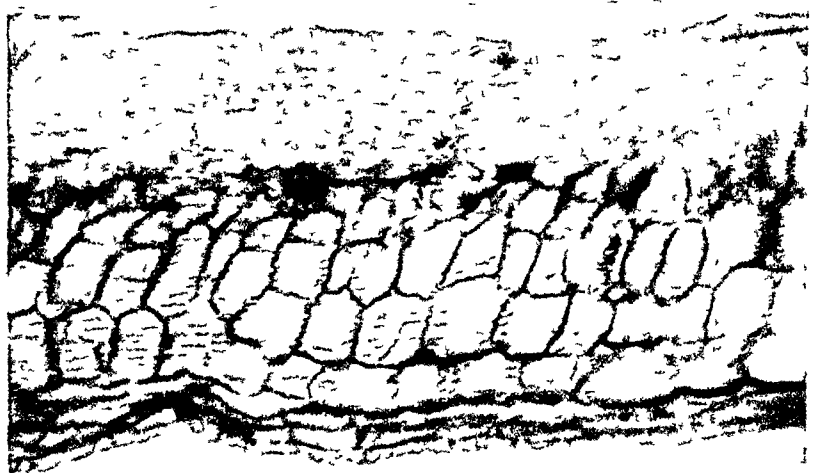
चि० १०—यह एक विशेष जाति के पर्णांग निफोबोलस की साधारण पत्ती के आड़े कतल का चित्र है। इसमे जलसग्रह के लिए विशेष तंतु रहता है, जिसकी भित्तिकाएँ धौंकनी की तरह सिकुड़ती और खुलती रहती हैं।

रहती है, और रेणुपत्र (Sporophyl) (चि० ११)। किसी-किसी पौधे मे पत्तियो के परिवर्त्तन से तूँबिकाकार या कूँडे-जैसी रचनाये बन जाती है जिन्हे तूँबी (pitcher) कहते है। तूँबियो के कई भेद है और प्राय: इनमे जल-सरीखा रस भरा रहता है। तूँबिलता (*Nepenthes*) (अं० १ चि० तूँबिलता), सैरासीनिया (*Sarracenia*) आदि कीटाशी पौधो की तूँबियाँ ऐसी ही रचनाएँ है। इन पौधों की तूँबियो मे तो एकत्रित रस के जडो द्वारा शोषण का कोई विशेष साधन नही रहता, परन्तु डिस्किडिया रैफ्लीजियाना (*Dischidia Rafflesiana*) नामक मदार के समूह के एक उपरिजात मूल पौधे की तूँबियों मे सगृहीत जल का उसकी अनियमित जडो द्वारा बडी सुन्दरता से शोषण होता है। इस पौधे मे साधारण पत्तियो के अतिरिक्त कुछ तूँबिकाकार पत्तियाँ भी होती हैं जिनमे जल सचित रहता है। ये पत्तियाँ मासल होती है और अधित्वक् चिमडी होती है, जिससे वाष्प-त्याग की रोक रहती है। पौधे की
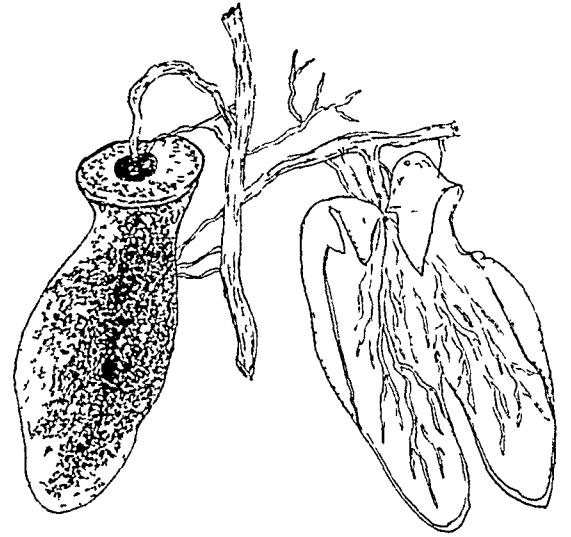
चि० १२—डिस्किडिया रैफ्लीजियाना — दाहिनी ओर तूँबी खोलकर उसके अंदर अनियमित जडे दिखलाई गई हैं।

तूँबियों के पास की टहनी या पत्ती के डठल से अनियमित जडे निकलकर तूँबी मे जा फैलती है और वहाँ से जल-शोषण करती हैं (चि० १२)। प्राय: इस जल मे सडी-गली चीज़े भी पडी रहती हैं, जिससे किसी अंश मे खाद्य रस भी मिलते रहते है। ये पदार्थ प्राय: चिउँटियो की बदौलत ही यहाँ पहुँचते हैं।

चि० ११—निफोबोलस— यह एक उपरिजात मूल पर्णाङ्ग है।

जल का महत्त्व

पौधो की जीवनी मे जल का बहुत बड़ा महत्त्व है। यथार्थ मे जल एक ऐसी वस्तु है कि इसके अनुसार ही नदी, तालाब, समुद्र तथा अन्य जलाशय, रेगिस्तान, चरागाह, चट्टान, पर्वत अथवा दूसरे स्थानो की वनस्पतियो की रचना होती है। जल का ही बहुत बडा अश पौधो की ख़ूराक है। इसी के अधिक सयोग से पौधो के तन्तु और अग बनते है। इस पर ही इनके जीवन की सारी क्रियाये निर्भर है। इससे स्पष्ट है कि पेड-पौधो मे पानी की बहुत बडी आवश्यकता रहती है, मगर आमदनी की बहुधा कमी ही बनी रहती है। फिर भी वाष्प-त्याग के प्रभाव से इसकी बहुत बडी छीज होती रहती है। पौधों मे इस छीज को रोकने के कुछ उपायो तथा जलसचय के कुछ साधनो का हमने इस परिच्छेद मे उल्लेख करने का प्रयत्न किया है, परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, भूमि मे भी जलसचय के अनेक साधन वर्त्तमान हैं और चतुर किसान तथा निपुण बागवान का भी बहुत-कुछ हाथ रहता है। आगे चलकर फिर कभी प्रसग आने पर हम इन बातो पर विचार करेंगे।

स्तनधारी पशुओं के मुख्य समूहों का सरसरी तौर पर एक दृश्य

इसमें चित्रकार ने कहीं पहाड़ों पर रहनेवाले, कहीं मैदानों में विचरनेवाले, खुरदार और बिना खुरवाले पशु दिखाए हैं तो कहीं मोटी खालवाले शाकाहारी या मांसाहारी जीव दिखाए हैं। साथ ही कहीं वृक्ष पर रहनेवाले तो कहीं पानी में या धरती के भीतर बिलों में रहनेवाले कुछ जीव भी प्रदर्शित हैं। (चित्र—लेखक के आदेशानुसार)

भारतवर्ष तथा अन्य देशों के स्तनधारी जीव और उनकी रहन-सहन—१

"यह अद्‌भुत वैचित्र्यपूर्ण जगत् सहस्रों प्रकार के जीव-जन्तुओं की जीवन-लीला का क्षेत्र है। सब अपने-अपने ढग के निराले हैं। सभी की रचना अनोखी है।" कही विशाल हाथी और भीमकाय ह्वेल मिलती है तो कही नन्ही-सी चुहिया। आज हम आपको जन्तु-जगत् के इन्ही जीवो मे से कुछ का हाल बतलायेगे जिनमे से कई एक से आप परिचित हैं। कौन सा ऐसा भारतवासी है जो गाय, घोडा, कुत्ता, बिल्ली, शेर, चीता, हिरन, खरगोश, छछूँदर आदि जीवो को न जानता हो? किन्तु इस समूह के कितने ही जीव ऐसे हैं जो बडे ही विचित्र और अद्‌भुत हें और जिनसे साधारण लोग परिचित नही हैं। ये सभी स्तनधारी समुदाय के सदस्य हैं और इनकी लगभग ४००० उपजातियाँ पृथ्वी पर इस समय विद्यमान हे। अतः हम यहाँ कुछ चुनी हुई उपजातियो का ही उल्लेख कर सकते हैं, क्योकि इतनी अधिक उपजातियों का यहाँ वर्णन करना नितान्त असम्भव है।

नाना प्रकार के स्तनधारी और उनकी विशेषताएँ

स्तनपोषियो मे इतनी अधिक विचित्रता तथा भिन्नता पाई जाने का मुख्य कारण यही है कि उनकी रहन-सहन के ढग बिल्कुल भिन्न-भिन्न ह। उनमे से अधिकतर स्थल पर वास करते हैं, परन्तु कुछ वृक्ष पर जीवन बितानेवाले भी हैं, जैसे बन्दर, गिलहरी, स्लौथ (Sloth) इत्यादि; तथा कुछ वायु मे विचरण करनेवाले भी हें, जैसे चमगादड, जिनके चिडियो के समान पख होते हैं। कुछ गिलहरियाँ ऐसी भी हैं जो वृक्षों से धीरे-धीरे हवा मे फिसलती हुई जमीन पर उड़ आती हे। बहुत-से स्तनपोषी जानवर जल-वासी भी हैं, जैसे ह्वेल, समुद्री गाय, सूँस, दरियाई घोड़ा आदि। कुछ ऐसी उपजातियाँ भी हें, जो चूहे और छछूँदर की तरह क़रीब-क़रीब अपनी सारी जिन्दगी धरती के भीतर ही बिता देती हे, तथा कुछ पशु ऐसे भी हे जो अपने जीवन का कुछ समय बाहर तथा कुछ ज़मीन के भीतर भिटो मे गुजारते हैं, जैसे भेडिया, सेही और घास के कुत्ते सिनोमिस (Cynomys) इत्यादि। बहुतेरे ठडे-ठडे पहाड़ो और बर्फ़ पर रहने के आदी हो गए हैं और कुछ को अत्यन्त गर्म बालुकामय प्रदेशो मे ही रहना अच्छा लगता है।

ये सब नाना प्रकार के स्तनधारी अपने शरीर के बालो द्वारा अन्य समूह के जीवों से सहज मे ही पृथक् किए जा सकते हैं। इनके मुख्य लक्षण "जन्तु जगत् का सक्षिप्त दृश्य" (भाग ६) वाले लेख मे हम आपको पहले ही बतला चुके हैं। यहाँ हम इतनी ही याद दिला देना चाहते हैं कि इनकी दूसरी विशेषता यह है कि सब मादाओ के स्तन होते हें, जिनके द्वारा दूध पिलाकर वे अपने बच्चों का पालन करती हैं। तीसरी विशेषता यह भी है कि इनमे से एक कक्षा के जीवो के अतिरिक्त सभी के बच्चे पैदा होते हैं, अण्डे नही।

किसी-किसी के शरीर पर बालों की जगह सेही और एकिडना (Echidna) की भाँति मोटे-मोटे काँटे होते हैं। किसी के शरीर पर कडे छिलके की तहे या सिन्ने जैसे मोटे पर्त मढे रहते हैं, उदाहरणार्थ साल या पैंगोलिन तथा आर्मेडिल्लो (Armadillo) के ऊपर। ये कडे काँटे और पर्त भी उन्ही पदार्थों के बने होते हैं, जिनसे बाल बनते हैं। शत्रुओ से सुरक्षित रहने के लिए और उनसे युद्ध करने के लिए इनमे नाना प्रकार की युक्तियाँ देखने मे आती है। दाँत, चगुल, नख, सींग और खुर आदि ही इनके शस्त्र हैं, जो समय पर इनके काम आते हैं। गैंडे और मवेशियो के सीग के ऊपर चढा रहनेवाला खोल खुर और चगुल की तरह चर्म की ऊपरी तह से ही बनता है।

बहुत-से दूसरे जानवरों के सींग हड्डियो के बने होते हैं और मवेशियों के सींग में भी बीच का भाग हड्डी का ही होता है। हिरन की तरह के कुछ जीवो के सींग हर साल गिर जाते हैं और उनकी जगह नए बन जाते हैं, परन्तु भेड़, बकरी और गाय मे साधारणतया एक ही जोड़ा सींग जीवन भर बना रहता है। बहुत-सी उपजातियो मे सींग केवल नरो के ही होते हैं, मादा के नहीं।

भोजन और दाँत का सम्बन्ध

स्तनधारियों के दाँत उनकी रोचक सम्पत्तियों मे से एक हैं, जो भिन्न-भिन्न उपजातियों मे विभिन्न प्रकार के होते हैं और जिनसे पता चलता है कि वे किस प्रकार का भोजन करते हैं। अधिकांश जीवों मे तो दाँत होते ही हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनके दाँत बिल्कुल ही नहीं होते। कुछ ऐसे हैं जिनमें युवावस्था मे दाँत नहीं पाये जाते, जैसे बिना बालवाली ह्वेल और अंडे देनेवाले एकछिद्रीय स्तनपोषी तथा लम्बी चोंच का चींटी खानेवाला जानवर। आम तौर से चार प्रकार के दाँत हर एक जबड़े मे होते हैं:—(१) सामने की ओर छेनी जैसे तेज कुतरनेवाले कृन्तक, (२) उनके इधर-उधर एक-एक नोकीले रदनक दाँत या कीले, (३) कीलों के पीछे गालो मे अगले चबानेवाले दाँत, जिन्हे अग्रचर्वणक या दूध डाढे भी कहते है, (४) सबसे पीछे असली डाढे या चबानेवाले दाँत। अधिकांश स्तनधारियों मे बचपन मे निकलनेवाले दाँत—जो दूध के दाँत कहलाते हैं—गिर जाते हैं और उनकी जगह मजबूत दाँत निकल आते हैं।

दाँतो की शक्ल और जन्तु के भोजन की आदत मे क्या सम्बन्ध है, यह बात आप आगे के दृष्टान्तों से भली भाँति समझ सकेंगे। ह्वेल और सूँस से मिलते-जुलते एक समुद्री जल-निवासी जीव डालफिन (Dolphin) मे, जो विशेषकर मछलियाँ ही खाता है, बहुत-से तेज और नोकीले दाँत पाये जाते हैं। कुत्तो के सदृश मासाहारी जानवरों के रदनक दाँत या कीले बड़ी-बड़ी होती हैं, जिससे कि वे शिकार को पकड़कर चीर डालें। उनके कुतरनेवाले दाँत छोटे और क़रीब-क़रीब बेकार होते हैं और डाढो मे काटने या कुचलने के लिए पैने किनारे होते हैं। गाय-बैल आदि घास खानेवालों के सामने के दाँत चौड़े होते हैं, जिनसे वे सहज मे पौधो को काट या कुतर सकें। उनमे कीले होती ही नहीं, किन्तु चबाने के लिए डाढे चौड़ी होती हैं। खरगोश की तरह के कुतरनेवाले प्राणियों के कृन्तक दन्त जीवन भर बढ़ते रहते हैं, और लगातार कुतरने से वे घिसते रहते हैं, जिससे उनकी तीक्ष्ण धार और लम्बाई काम के योग्य बनी रहती है। छछूँदर जैसे कीड़े-मकोड़े खानेवाले प्राणी अपने निकले हुए कृन्तक दाँतों से कीड़ो को पकड़ते और अगली तथा पिछली डाढों के नोकीले भागो से उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते है। सर्व-भक्षक जन्तुओं के दाँत ऐसे होते हैं कि वे मास और साग-पात दोनों ही को अच्छी तरह खा और चबा सकते है।

स्तनपोषियो के मुख्य समूहों पर एक सरसरी नजर

रचना और भोजन के अनुसार वैज्ञानिको ने इन जीवों को कई कक्षाओं मे बाँटा है। नीचे दी हुई सूची से आपको सारे वर्ग का एक सरसरी तौर पर ज्ञान हो सकता है:—

(१) अंडे देनेवाले एकछिद्रीय जन्तु, जिनमे आस्ट्रेलिया-निवासी बतखचोंचा या डकबिल (Duckbill) तथा कँटीला चींटाहारी या एन्टईटर (Spiny Anteater) सम्मिलित हैं।

(२) थैलीवाले स्तनपोषी या मार्सूपियल्स (Marsupials), जो अपने बच्चो को जन्म के बाद कुछ दिनो तक पेट के ऊपर एक थैली मे रखकर उनका पालन करते हैं। ये भी विशेषकर आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमेरिका मे मिलते है, उदाहरणार्थ—कगारू, ओपोसुम (Opossum), वलाबी (Wallaby) आदि।

(३) कृन्तक दन्त-विहीन या ईडेनटेट्स (Edentates), जिनके दाँतो पर ऊपरी चमकदार ऐनेमेलवाला पर्त नहीं होता। इनमे से अधिकतर बड़े अजीब शक्ल के जीव हैं जैसे—भारतीय साल, आर्मेडिल्लो, स्लौथ आदि।

(४) कीड़े-मकोड़े खानेवाले कीटाणु-भक्षक अथवा इन्सेक्टीवोर्स (Insectivores), जो सभी छोटे होते हैं और धरती मे बिल खोदकर रहते हैं। इनमे से झाऊ चूहा (Hedge hog), छछूँदर और श्रू (Shrew) प्रसिद्ध हैं।

(५) कुतरनेवाले जीव या रोडेन्ट्स (Rodents), जिनमे कुतरनेवाले दाँत सदा बढ़ा करते हैं। इनकी साधारण उपजातियाँ गिलहरी, सेही, खरगोश, चूहे, बीवर आदि हैं।

(६) उड़नेवाले स्तनपोषियों मे चमगादड़ वर्ग (Cheiroptera) के अतिरिक्त और कोई स्तनपोषी वास्तव मे उड़नेवाले नहीं कहे जा सकते।

(७) खुरवाले या अंगुलेट्स (Ungulates), जो अधिकतर बड़े डील के होते हैं और जिनमे नख के बजाय खुर मिलते हैं। इनमे से कुछ ऐसे हैं, जिनके पैरो की उँगलियों की संख्या विषम (odd) होती है, जैसे घोड़ा, गधा, जेबरा, गैंडा और टपीर (Tapir), तथा कुछ ऐसे हैं जिनकी

उँगलियाँ सम (even) होती है, जैसे ऊँट, जिराफ, हिप्पोपोटैमस, सुअर, हिरन, भेड, बकरी आदि।

(८) मासाहारी या कार्नीवोर्स (Carnivores), जो अपने तीक्ष्ण दाँतो और सुदृढ चगुलो के द्वारा अन्य पशुओं को फाडकर खा जाते है—जैसे शेर, लोमडी, कुत्ता, बिल्ली, भालू, सील, वालरस इत्यादि।

(६) विशाल जल-निवासी स्तनपोषी, जैसे समुद्री गाय अथवा साइरीनिया (Sirenia) तथा ह्वेल सिटेसिया (Cetacea), जो जल मे ही निवास करते है तथा जिनमे से कुछ इस ससार के सबसे बडे प्राणी है।

(१०) अन्त मे, सबसे उच्च श्रेणी के प्रधान-भागीय (Primates), जिनके हाथ-पैरो मे नख होते है और जो अपने अँगूठे को मोडकर उँगलियो से मिला सकते है। उनकी सब से मुख्य विशेषता उनका बडा मस्तिष्क है। इन्ही मे दुनिया के सारे वानर, वनमानुष, और हम आप अर्थात् समस्त मानव भी सम्मिलित है। इनकी रोचक कहानी हम आपको पिछले कई लेखो मे सुना चुके है।

मनुष्य का सबसे पहला मित्र कुत्ता

अलास्का-निवासी एस्किमो और उनकी बर्फ पर फिसलनेवाली गाडी, जिसमे ११ कुत्ते जुते हुए हैं। अगले कुत्ते के सिवा शेष सब ५ जोडियो मे लगे रहते हैं। बिना लगाम के ही आगेवाला कुत्ता अथवा नेता अपने मालिक की आवाज़ के संकेत पर गाडी को ठीक राह पर ले जाता है। क्या यह इनकी चतुराई का उदाहरण नही?

ऊपर बतलाए हुए विभिन्न प्रकार के जानवरो मे से बहुतेरे ऐसे है जो मनुष्य के लिए उपयोगी सिद्ध हुए है। इनको मनुष्य ने पालतू भी बना लिया है। गाय, कुत्ता, घोडा, बकरी इत्यादि इसी प्रकार के पशु है, जिनको मनुष्य अत्यन्त प्राचीन काल से अपना चुका है। कुछ ऐसे भी है जो अब तक पूर्ण रीति से घरेलू नही बन पाये है, किन्तु आशा है कि धीरे-धीरे कुछ समय मे वे भी पालतू बन जायँगे। जो पशु मनुष्य के लिए सबसे ज़रूरी हैं, उनमे से कुछ हमारी बस्तियो के आस-पास ही इकट्ठे रहते है। वे किसानो के प्रति दिन के साथी हैं और सदा उनकी रखवाली मे रहते है। उनकी स्वतन्त्रता सीमित है। उनका खाना भी उन्हे उनके मालिक ही देते है। उनका जीवन भी मानव-जीवन के समान ही बहुत-कुछ कृत्रिम और सभ्य बन गया है।

मनुष्य और उसके सहायक पालतू जीव

सच तो यह है कि इन घरेलू जानवरो ने मनुष्य की सभ्यता की उन्नति मे बहुत बडा भाग लिया है। यदि प्राचीन मनुष्य कुत्ते के समान वफादार तथा घोडे, बैल, गाय और बकरी की तरह लाभदायक जन्तुओ को सिखाने तथा अपने अधीन रखने मे सफल न होता तो आज हमारा जीवन इतना सुगम और सरल न होता। हम सभी जानते है कि प्रागैतिहासिक काल मे हमारे पूर्वज जगली थे। वे देश-देश मे भटका करते थे। अपने भोजन और वस्त्र के लिए उन्हे अपनी शिकारी कुशलता का ही सहारा लेना पडता था। समय बीतने पर जब उन्होंने आवारागर्दी की ज़िन्दगी छोडी और इकट्ठे होकर छोटी-छोटी बस्तियो मे रहना शुरू किया तो कभी-कभी वे जानवरो के नन्हे-नन्हे बच्चो को पकडकर अवश्य अपने दिल-बहलाव के लिए अपने साथ रखते रहे होगे। धीरे-धीरे जब ये पालतू बच्चे बडे हुए होंगे तो उनके भी बच्चे हुए होगे और इसी तरह घरेलू जानवरो की पहली नस्ले बनी होगी।

मनोरजन के लिए पाले हुए इन जानवरो से मनुष्य ने शीघ्र ही नाना प्रकार के लाभ उठाना सीख लिया। शिकार न मिलने पर उसे भूखा रहने की भी जरूरत न रह गई, क्योंकि पाले हुए बैल, बकरी या भेड को ही काटकर वह अपनी हाँडी गरम कर सकता था। पकडकर रक्खी हुई गाय से उसे

मिस्र देश में ऊँटों से हल चलाने का काम लिया जाता है।

इच्छानुसार दूध भी मिलने लगा और ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र बनाने के लिए भेड़ों से ऊन तथा बकरों से बाल भी अब प्राप्त होने लगे। इस प्रकार मनुष्य और पशुओं का पारस्परिक सम्बन्ध लगातार घनिष्ट होता गया। बहुत-से लाभदायक जानवरों को मनुष्य ने पालतू बना लिया और उसका यह कार्य अब भी जारी है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य का सबसे पहला मित्र कुत्ता ही था। अब भी कुत्ता और बिल्ली ही दुनिया भर में सबसे प्रसिद्ध घरेलू जानवर हैं। बिल्ली तो केवल हमारे मनोरंजन का ही एक साधन है, यद्यपि वह चूहे और चुहियों को कम करने में भी सहायक होती है, किन्तु कुत्ता मनुष्य का विश्वसनीय मित्र तथा उसकी सम्पत्ति का पहरुआ ही नहीं है वरन् उसको और भी बहुत-से काम सिखा लिये गये हैं। उसकी बहुत-सी चतुराइयाँ आपने सरकसों में देखी होंगी। कहीं-कहीं आजकल कुत्तों से बर्फ की गाड़ी खींचने का काम लिया जाता है। पाश्चात्य देशों की पुलिस उनसे अपराधी को घेरने और पकड़ने का कार्य कराती है। भाँति-भाँति के शिकारों को घेरना तथा मरने पर उन्हें उठाकर अपने मालिक के पास ले आना तो उसके लिए एक मामूली-सी बात है।
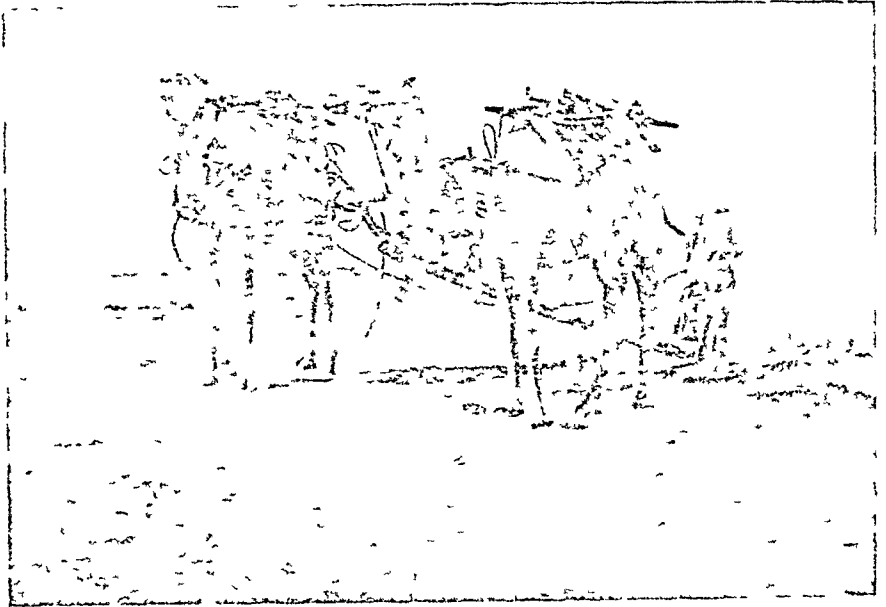
स्तनपोषी इन चार मुख्य रीतियों से हमारी सेवा करते हैं—

(१) भोजन-सामग्री देकर	(२) वस्त्र के लिए सामग्री देकर
(अ) मांस	(अ) ऊन और बाल
(आ) दूध	(आ) खाल और समूर
(३) सहायता देकर	(४) अन्य उपयोगी वस्तुएँ देकर
(अ) शिकार में	(अ) हड्डी, हाथीदाँत, सींग
(आ) एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में अथवा सवारी ढोने में	(आ) सरेस
	(इ) तेल, चर्बी आदि पदार्थ
	(ई) बोझा ढोने में

इससे यह न समझना चाहिये कि अधिकतर पशु हमारे लिए गुणकारी ही हैं। बहुतेरे ऐसे भयङ्कर जीव भी पृथ्वी पर अभी हैं जो हमारे प्राणों के घातक हैं। अवसर प्राप्त होने पर वे हम पर आक्रमण करने से कभी नहीं चूकते। यह अवश्य है कि दुनिया की आबादी बढ़ जाने तथा जंगलों के नष्ट हो जाने से मनुष्य के इन शत्रुओं की संख्या बहुत कम हो गई है। वनों में भी बन्दूक लिये हुए मनुष्य उनका मुक़ाबला करता है। अनेकों पशु ऐसे हैं, जिन्हें मनुष्य ने शिकार के शौक़ में, अहानिकारक होते हुए भी, इतनी संख्या में नष्ट कर डाला है कि कई एक का तो इस जगतीतल से नाम-निशान भी मिट गया है और कई केवल नाममात्र के लिए बच रहे हैं। उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका में बिसन, कैनाडा में बीवर और भारतवर्ष में नीलगाय और शेर बहुत थोड़ी-सी संख्या में शेष रह गए हैं। अगर इनके मारने के लिए क़ानूनी रोक-टोक न कर दी गई होती तो ये सब भी अपना अस्तित्व न जाने कब के खो बैठते। इससे स्पष्ट होता है कि अन्य जन्तुओं की तरह इन पशुओं के ऊपर भी सदा से ही मनुष्य अपना आधिपत्य जमाता आया है और जमाता जा रहा है।

ऊपर हम जिन विभिन्न प्रकार की कक्षाओं के पशुओं का उल्लेख कर आए हैं, उन्हीं में से अब कुछ चुने हुए उदाहरण हम आपके सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं।

आस्ट्रेलिया के विचित्र अंडे देनेवाले स्तनपोषी

सबसे प्राचीन और निम्न श्रेणी के स्तनपोषी जीव आस्ट्रेलिया तथा उसके निकटवर्ती द्वीपों के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाये जाते। आस्ट्रेलिया ही ऐसा देश है कि जहाँ दुनिया में सबसे प्राचीन और निराले जन्तु बचे-खुचे रह

गए हैं। वे सारी दुनिया से अलग छुटके हुए इन द्वीपों में उस पुरातन काल के स्मारक-चिह्न के रूप में बचे रह गए हैं जब पृथ्वी पर उरगम-समुदाय के प्राणियों से पक्षी और पशुओं का विकास हो रहा था। वे विकास के मार्ग पर थोड़ी ही दूर चलकर रह गए। कुछ लक्षण उन्होंने अवश्य स्तनधारी जीवों के प्राप्त कर लिये, किन्तु उरंगम और पक्षियों के भी कुछ गुण उनमें अब भी दिखलाई पड़ते हैं। इन एकछिद्रीय जीवों की रचना एक रहस्यपूर्ण समस्या है। स्थान की कमी के कारण हम इस विषय पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सकते। यहाँ इतना ही कह देना यथेष्ट है कि वे चिड़ियों और उरगमों की तरह अंडे देते हैं, लेकिन जब अंडों से बच्चे निकल आते हैं तो वे माता के दुग्ध-पान पर कुछ समय तक निर्वाह करते हैं। दूध निकलने के लिए इस कक्षा के अन्य जीवों के समान इनके स्तन नहीं होते, वरन् माताओं के पेट की खाल पर सूक्ष्म छिद्र होते हैं जिनसे दूध निकला करता है। इनके चित्र को देखिए—इनके मुँह की रचना चिड़ियों की चोंच के समान है। शरीर से मल और मूत्र बाहर निकालने के लिए इनके शरीर में एक ही मार्ग रहता है, इसलिए ये एक-छिद्रीय कहलाते हैं। युवावस्था में ये दन्तविहीन होते हैं और इनके नरों की पिछली टाँगों में अंकुश होते हैं।

इन अंडा देनेवाले स्तनधारियों की दो जातियाँ मिलती हैं—एक बतखचोंचा (Platypus) और द्वितीय काँटेवाला चींटाहारी (Echidna)।

बतखचोंचा या डकबिल

डकबिल पूर्वी आस्ट्रेलिया और टस्मानिया में नदियों, झीलों और तालाबों के किनारे बिलों में रहते हैं। इनके कोई-कोई बिल ५० फीट तक चले जाते हैं। बिल के छोर पर एक फुट चौड़ी एक छोटी-सी कोठरी होती है, जिसमें वह घास बिछा लेता है और उसी में १–२ तक अंडे देता है। अधिकतर इस बिलनुमा घर के दो दरवाज़े होते हैं—एक जमीन के ऊपर बना रहता है और घास पत्तों से ढका रहता है और दूसरा पानी के भीतर होता है, जिससे यह जीव अँधेरे में निकलकर पानी के जानवरों को बतख की तरह पकड़कर खाता है।

इसका शरीर क़रीब १४ इंच लम्बा तथा दुम ५ इंच लम्बी होती है। चोंच की चौड़ाई २ इंच और लम्बाई २½ इंच होती है। पैर की उँगलियों के बीच में तैरने के लिए झिल्ली होती है और सिरे पर खोदने के लिए मज़बूत और तीक्ष्ण चंगुल रहते हैं। बच्चे जब अंडे से निकलते हैं तो माता उनको अपनी दुम से पेट पर चिपकाकर दूध पिलाती है। बाल्यावस्था में ही उनके छोटे-छोटे दाँत होते हैं, जो जवान होने से पहले ही गिर जाते हैं। पक्षी, उरमग और स्तनपोषी तीनों समुदायों में समन्वय रखनेवाला यह विचित्र प्राणी जब प्रथम बार योरप लाया गया

'एकिडना' (कँटीला चींटाहारी) जो आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा उनके निकट के द्वीपों में रहता है। इसकी पीठ पर पीले काँटे होते हैं, जिनके छोर काले होते हैं। इन कड़े काँटों को देखकर इसके शत्रु हिम्मत हार जाते हैं। खटका होने पर एकिडना लिपटकर गोल गेंद-सा हो जाता है और उस समय जान नहीं पड़ता कि यह कँटीला पौधा है या पशु, जैसा नीचे के चित्र में आप देख रहे हैं।
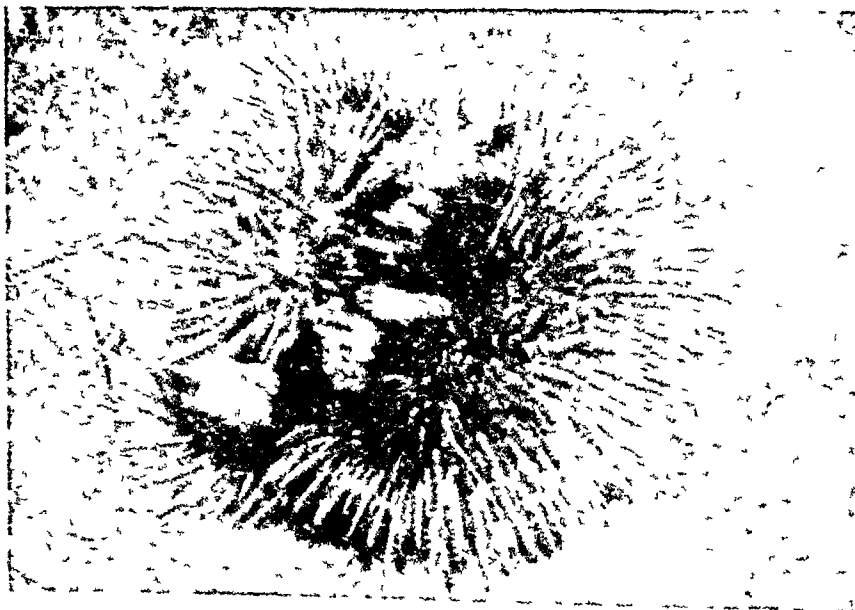
था तो लोग समझते थे कि "किसी मसख़रे ने किसी अपरिचित जन्तु के मुँह में चतुराई के साथ बतख़ की चोंच ठूँस दी है।"

काँटेवाला चींटाहारी या एकिडना

एकिडना या चींटाहारी विशेषकर चींटियों से ही अपना पेट पालता है, परन्तु वह अन्य छोटे-छोटे कीटाणु भी खा लेता है। उसकी लम्बी जीभ पर चिपकदार लस होता है, इसलिए जहाँ उसने जीभ निकाली नहीं कि सैकड़ों चींटियाँ उस पर लिपटी चली आती हैं। सेही की भाँति वह शत्रु के सामने गेंद सा गोल बनकर काँटों को खड़ा कर लेता है, जिससे शत्रु डरकर उसको छोड़ देता है। उसका शरीर चौड़ा और चपटा होता है। काँटों के अतिरिक्त उसकी पीठ पर बीच-बीच में बाल भी होते हैं, किन्तु नीचे की ओर, अर्थात् पेट पर, केवल बाल ही होते हैं। उसकी दुम भी बड़ी नहीं होती तथा डकबिल के समान उसके बाहरी कान भी नहीं होते। टाँगें छोटी-छोटी और तेज तथा मजबूत नाख़ूनवाली होती हैं। खोदने की उसमें अद्वितीय शक्ति होती है। कड़ी-से-कड़ी भूमि को वह देखते-ही-देखते बालू की तरह खोद डालता है और उसमें घुस जाता है। उसे खोदते देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वह दलदल में घुसा चला जा रहा हो। यह जीव भी अंडे ही देता है, परन्तु वह इन अंडों को अपनी थैली में—जो उसके शरीर पर होती है—रख लेता है। वहीं उसका बच्चा निकलता है और कई सप्ताह तक थैली में बन्द रहता है। इसके उपरान्त माता उसको किसी सुरक्षित स्थान में रख देती है और थोड़े ही समय में वह स्वावलम्बी हो जाता है।

यह २० इंच लम्बा आस्ट्रेलिया और टस्मानिया में मिलनेवाला दूसरा अजीब प्राचीन जन्तु है, जो बतख़चोंचा—प्लेटीपस—कहा जाता है। अपनी चौड़ी चोंच से नदी की मिट्टी को कुरेदकर वह उसमें से बतख़ के समान कीड़े-मकोड़े और सीपी, घोंघा इत्यादि को खाया करता है। अपने रहने के लिए वह नदी के किनारे बिल बना लेता है। घोंसले की खोज में आनेवाले दुश्मनों को धोखा देने के लिए वह झूठी सुरंगें भी बना देता है।

इसकी अनोखी उँगलियाँ ही इसकी सबसे विचित्र निधि हैं। पिछली टाँग की उँगलियाँ चलते समय उल्टी बाहर की ओर मुड़ी रहती हैं और अगले पैर की सामने को। आस्ट्रेलिया और टस्मानिया में मिलनेवाली जाति के पैर में पाँच उँगलियाँ होती हैं, किन्तु न्यूगिनी में मिलनेवाली एक उपजाति में केवल तीन ही उँगलियाँ रहती हैं और दूसरी में पाँच। एक जानवर ऐसा भी मिला है, जिसमें अगले पैरों में पाँच-पाँच तथा पिछले में चार-चार उँगलियाँ हुआ करती हैं। उँगलियों के इस अन्तर के ही कारण एक लेखक ने उसको "वह जानवर जिसकी उँगलियों की संख्या निश्चित नहीं है" कहकर संबोधित किया है।

थैलीवाले स्तनपोषी अथवा मार्सूपियल्स

थैलीवाले जन्तुओं का स्थान इतना नीची कोटि का तो नहीं है कि उनके अंडे हों, किन्तु उनके बच्चे अपूर्ण अवस्था में माता के गर्भ से जन्म लेते हैं। वे बहुत ही छोटे और निस्सहाय होते हैं। भेड़ के बराबर कँगारू का बच्चा जन्म के समय १ इंच का रहता है। बड़े-से-बड़े कँगारू का बच्चा गर्भ में केवल चार-पाँच सप्ताह रहता है और सात-आठ मास तक अपनी माता के पेट की थैली में ही उसका लालन पालन होता है।

थैली का होना ही इनकी मुख्य विशेषता है। इस थैली को सहारा देने के लिए कूल्हे की हड्डी से दो लम्बी-लम्बी पतली हड्डियाँ आगे को 'V' की शक्ल में निकली रहती हैं। ये हड्डियाँ नरों के शरीर में भी होती हैं। इस कक्षा के कुछ प्राणी थैलीविहीन भी होते हैं। इसी थैली के अन्दर मादाओं में स्तन होते हैं। बच्चा पैदा होते ही माताएँ उन्हें थैली के अन्दर रख लेती हैं। वे बहुत समय तक अपने चूसनेवाले होंठ इन स्तनों से लगाये चिपटे रहते हैं। जब तक बच्चों के अंगों की पूरी वृद्धि नहीं हो जाती वे स्तनों को मुँह में दबाये पड़े रहते हैं। जन्म के समय वे स्तनों से दूध स्वयं नहीं खींच सकते, परन्तु प्रकृति ने ऐसा सुप्रबन्ध कर दिया है कि स्तन बच्चे के मुँह में सहज ही घुसकर फूल जाते हैं और मुँह से नहीं निकलते। इतना ही नहीं, उनमें से दूध अपने आप बच्चों के मुँह में टपकने लगता है। आठवें महीने में बच्चे थैली के बाहर सिर निकालकर बाह्य जगत का दृश्य देखने लगते हैं। तत्पश्चात थैली के बाहर कूदकर माँ के

आस-पास खेलते-खाते हुए फिरने लगते हैं। परंतु ज़रा-सा भी खटका होते ही चट् उछलकर फिर माँ की थैली में घुस जाते हैं।

मार्सूपियल्स के कई वंश आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा निकटवर्त्ती द्वीपों में पाये जाते हैं। एक वंश अमेरिका अथवा नई दुनिया में मिलता है। इनकी साठ के लगभग उपजातियाँ हैं, जो १ से ५ फीट तक लम्बे कद की होती हैं। उनकी शक्लें भी तरह-तरह की होती हैं। ये सब शाकाहारी ही होते हैं। लोग इनका मांस खाते हैं, और चमड़े का प्रयोग विविध रीतियों से करते हैं। आस्ट्रेलिया के थैलीवाले जीवों में सर्व-विख्यात कँगारू नामक मार्सूपियल है। यह लखनऊ, कलकत्ता आदि की जन्तुशालाओं में देखा जा सकता है।

कँगारू

कंगारू को देखते ही उसके विचित्र और बेडौल शरीर की ओर ध्यान आकर्षित हो जाता है। प्रकृति ने उसके साथ एक निराला ही उपहास किया है। उसको उछलने में कुशल बनाने के लिए अगले और पिछले शरीर में बहुत अन्तर रक्खा है। आगे का धड़ क़रीब बड़े कुत्ते के डौल का होता है और पिछला धड़ खच्चर के समान भारी होता है। इसकी मोटी-सी, लम्बी और भारी दुम पीछे पड़ी रहती है और बैठने में तीसरी टाँग का काम देती है। यदि आप उसको बैठा हुआ देखें तो यही कहेंगे कि वह तिपाई पर बैठा है। अगली टाँगें कमजोर और छोटी होती हैं, जो अगले शरीर को ज़मीन पर चरते या चलते समय साधे रहती हैं। आस्ट्रेलिया और टस्मानिया का बड़ा और भूरा कँगारू ५ फीट ऊँचा और वज़न में २½ मन के लगभग तक भारी होता है। उसके दुम की लम्बाई ४ फीट से भी अधिक होती है।

आस्ट्रेलिया का थैलीवाला भूरा कँगारू। इसका बच्चा थैली में से मुँह निकाले दिखलाई पड़ रहा है। इस जानवर का अगला धड़ और आगे की टाँगें पीछे के धड़ और पिछली टाँगों से बहुत कमजोर होते हैं। बैठने के लिए यह अपनी दुम से तीसरी टाँग का काम लेता है। यह कँगारू दुम सहित ६॥ फ़ीट लम्बा होता है। इसका वजन भी २०० पौंड या लगभग १०० सेर के होता है, लेकिन इसका बच्चा जन्म के समय केवल १ इंच के बराबर होता है।

साधारणतः वह धीरे धीरे चलता है। यदि उसे जल्दी होती है तो दौड़ने के बजाय वह अजीब तरह से अपनी दुम के सहारे उछलता-कूदता, छलाँगें मारता हुआ निकल जाता है। ९ या १० फीट ऊँची झाड़ियाँ वह आसानी से फाँद जाता है। ५ फीट की छलाँग मारना तो उसके बाएँ हाथ का खेल है। पीछा किये जाने पर २५-३० फीट धरती पार कर जाना उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं। पत्थर, चट्टानें, गिरे हुए पेड़ और ऊँची-ऊँची झाड़ियाँ पार करते उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता।

स्वभाव में कँगारू भेड़-बकरी की तरह डरपोक होता है। जान पड़ता है कि ख़रगोश की तरह वह भी ठीक अपने सामने की चीज को नहीं देख पाता। उसकी देखने, सूँघने और सुनने की शक्तियाँ तीक्ष्ण होती हैं।

औपौसुम

उत्तरी अमेरिका में जो थैलीवाला प्राणी मिलता है वह औपौसुम कहलाता है। वर्जीनिया का औपौसुम ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह ज्यादातर वृक्षों ही पर रहता है और अपनी दुम से भी डालों को पकड़ सकता है। कद में वह घरेलू बिल्ली के ही बराबर होता है। दुम की लम्बाई फुट भर होती है। उसके बाल नर्म और लम्बे होते हैं तथा कपड़ा बुनने के काम में आते हैं। कुछ लोग इसका मांस भी खाते हैं। इसकी दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि इसके भी बच्चे ऐसी अपूर्ण अवस्था में पैदा होते हैं कि रेंगकर अपनी माता की थैली में घुस जाते हैं। इसके एक बार में पाँच से चौदह तक बच्चे पैदा होते हैं और मादाएँ साल में दो या तीन बार बच्चा देती हैं। दूसरी बात यह है कि जब इसको पकड़े जाने का भय या अन्य किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका होती है तो यह ऐसा चुपचाप पड़ जाता है मानो मर गया हो। इसका शत्रु या पकड़नेवाला उसकी यह आदत न जानने पर उसको मरा जानकर उसकी तरफ से अपना ध्यान हटा लेता है। इस प्रकार मरने का बहाना किये पड़ा औपौसुम अवसर पाते ही चट से जी जाता है और खतरे से दूर भाग जाता है। औपौसुम दिन में अधिकतर छिपा

रहता है और सूर्यास्त के पश्चात् बाहर निकलकर रात भर इधर-उधर कीड़े-मकोड़े तथा अन्य भोजन सामग्री की खोज में घूमता फिरता है।

ओपोसुम की दुम उसके लिए बड़ी ही उपयोगी वस्तु है। छोटे बच्चे अपनी पकड़नेवाली दुम से एक बहुत ही अच्छा काम लेते हैं। वे अपनी माँ की पीठ पर लद जाते हैं तथा अपनी छोटी दुमों को माँ की दुम के चारों ओर लपेट लेते हैं। माता अपनी दुम को पीठ के ऊपर मोड़ लेती है, जिससे कि बच्चे मजबूती से उसे यथास्थान पकड़े रहें। माँ जो बोझ अपने साथ लादे फिरती है उसे जानकर हमको अचम्भा होता है। छोटी-सी बिल्ली के बराबर का ओपोसुम कभी-कभी चूहे के बराबरवाले १०-१२ बच्चे अपनी पीठ पर चिपटाये रहता है।

पेड़ों पर रहनेवाले कोला या भालू मार्सूपियल और वायुयान के समान उड़नेवाले फैलेन्जर मार्सूपियल भी जन्तु-जगत् के उत्कृष्ट और निराले उदाहरण हैं।

कृन्तक-दन्त-विहीन या ईडेनटेट्स

ये प्राणी भी नीची कोटि के स्तनपोषी हैं, लेकिन उपरोक्त दोनों कक्षाओं के जन्तुओं से ये बिल्कुल ही भिन्न हैं। इनके बच्चे और सब स्तनधारियों की तरह अपनी माताओं के गर्भ में जरायु (नार) द्वारा जुड़े रहते हैं। इनको दन्त-विहीन या बिना दाँतवाले इसलिए कहते हैं कि इनके जबड़ों में सामने के दाँत नहीं होते। प्रायः इनके जबड़ों में डाढ़ें होती हैं। चींटाहारी और पैंगोलिन ही ऐसे प्राणी हैं जिनमें किसी भी प्रकार का कोई भी दाँत नहीं होता। इनके सिर और मस्तिष्क छोटे होते हैं—कुछ स्लौथ और चींटाहारी की तरह बालों से ढके होते हैं। आर्मेडिल्लो की तरह के कुछ प्राणियों के शरीर पर कड़ी जोड़दार हड्डियों की ढाल मढ़ी होती है। पैंगोलिन या साल के शरीर कड़े सिल्लों की प्लेटों से सुरक्षित रहते हैं। इन पाँचो वंश के प्राणी या तो स्थलचर होते हैं अथवा वृक्ष-वासी। स्लौथ, चींटाहारी और आर्मेडिल्लो सब ही नई दुनिया के रहनेवाले हैं। सिल्लेवाले चींटाहारी एशिया और अफ्रीका में मिलते हैं और आर्डवार्क (Aardvark) केवल अफ्रीका में ही पाये जाते हैं। स्लौथ को छोड़कर इस वर्ग के शेष सब जीव मांसाहारी या कीटाहारी ही हैं। चींटाहारी, पैंगोलिन और आर्डवार्क अधिकतर दीमक पर ही निर्भर रहते हैं।

छलाँगें मारते हुए तीन कंगारुओं का एक सुन्दर चित्र। कंगारू अपनी मज़बूत दुम के सहारे कूद-कूदकर चलता है। वह और जानवरों की तरह दौड़ नहीं सकता, परन्तु २५-३० फीट लम्बी छलाँग मारना और ऊँची-ऊँची झाड़ियाँ कूद जाना उसके लिए एक मामूली-सी बात है।

स्लौथ

दक्षिणी और मध्य अमेरिका के जंगलों में बहुतेरे अजीब जानवर बसे हुए हैं, किन्तु उनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो शक्ल सूरत तथा स्वभाव

ने स्लौथ से अधिक अनूठा हो । ये आलसी जीव वृक्षों पर ही अपना सारा जीवन व्यतीत करते हैं। डालों पर उलटे लटकते हुए वे एक जगह से दूसरी जगह चले जाते हैं। दिन मे तो ये वृक्ष की घनी पत्तियों की ओट मे छिपे रहते हैं और रात होने पर यही पत्तियाँ उनका आहार बन जाती हैं। जमीन पर वे पानी पीने के लिए भी नहीं उतरते। रसीले फल-फूल और पत्तियो से ही उनकी तृष्णा शान्त हो जाती है। यदि कोई उन्हे पेड पर से उतारकर जमीन पर डाल दे तो वे हाथ-पॉव फैलाकर चित लेट जाते हैं और उनके लिए उठना असम्भव हो जाता है। उनकी वह दशा देखकर बड़ी ही हॅसी आती है! उल्टे लटकने के अतिरिक्त इनमे और भी अनोखे गुण हैं। उनके लम्बे, मोटे, घने बालो मे हरी सी चमक होती है, जिससे वे पत्तियो मे ऐसे छिप जाते हैं कि उनके शत्रु उन्हे जल्दी देख नहीं पाते। उनके बाल अन्य स्तनपोषियो से भिन्न रीति से शरीर पर इस तरह सधे रहते हे कि जब वे पेड पर उल्टे लटके रहे तो वर्षा का पानी जल्दी से नीचे बह जाय। इतना ही नहीं, इन बालो मे हज़ारो नन्हीं नन्ही हरे रंग की वनस्पतियाँ उग आती हैं और ये ही इनके बालो की हरी चमक का कारण होती हैं। इसीलिए कहा जाता है कि यह एक ऐसा जानवर है, जो अपने शरीरपर बग़ीचा लगाये रहता है!

यह उत्तरी तथा मध्य अमेरिका का अद्भुत उलटा लटकनेवाला स्लौथ है। अपना सिर नीचे किये हुए और टॉगों को डाल पर लपेटकर यह आगे सरकता चला जाता है। इसके अगले पैर मे दो और पिछले मे तीन उँगलियाँ होती हैं। बालो का घुमाव ऐसा होता है कि वर्षा का जल शरीर पर ठहरने नहीं पाता। इस औंधे पशु की सारी दुनिया ही उलटी है!
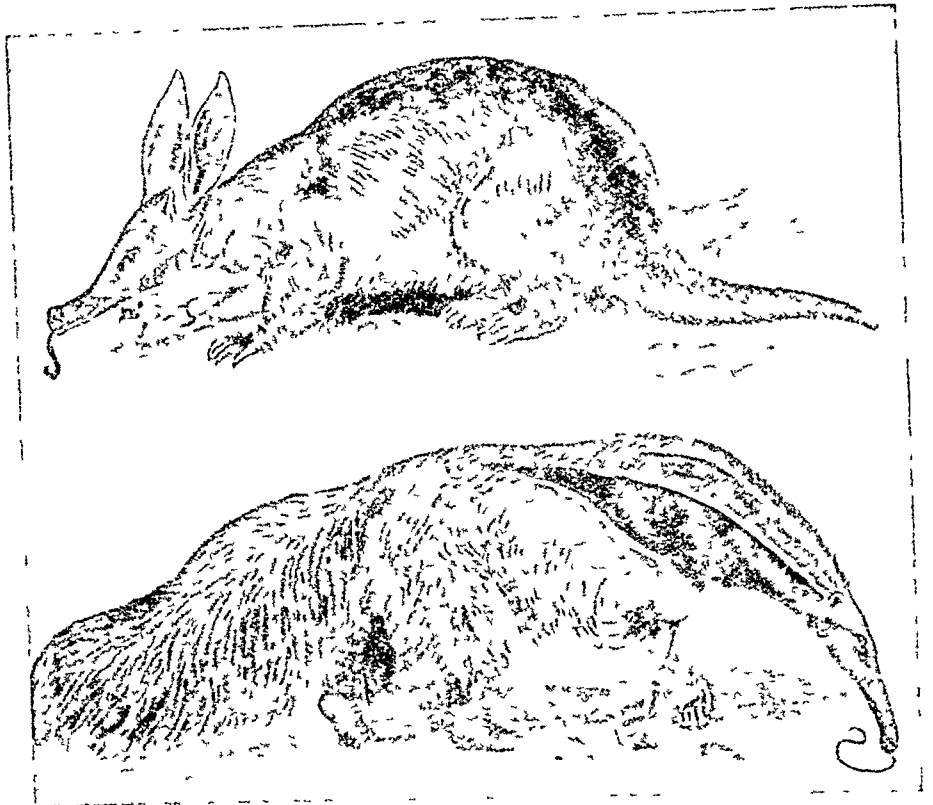
दो प्रकार के विचित्र रूपधारी दन्तविहीन प्राणी—(ऊपर) बडा चींटाहारी (मिरमैकोफैगा) और (नीचे) चींटी खानेवाला भालू (आर्डवार्क)। मिरमैकोफैगा मे, धरती को खोदकर दीमक निकालने के लिए, आगे के पैर की बीच की उँगली मे अन्य नखो की अपेक्षा आगे को निकला हुआ एक बडा नख होता है। आर्डवार्क भी अपना निर्वाह दीमक और चींटियों के ही द्वारा करता है।

स्थानाभाव के कारण न हम यहाँ इसके साथी आर्मेडिल्लो का ही परिचय आपको करा सकेंगे और न अफ्रीका-निवासी आर्डवार्क की ही रोचक कहानी सुना सकेंगे किन्तु हम इसी कक्षा के एक जन्तु—भारतीय साल—का हाल लिखकर इस लेख को समाप्त कर देंगे।

भारतीय साल या सिल्लू

साल या पंगोलिन वंश के जन्तु भी आर्मेडिल्लो के भाई-बन्धु हैं और भारतवर्ष के अलावा जावा, बोर्नियो, फिलिप्पाइन्स तथा पास-पड़ोस के द्वीपों, दक्षिणी चीन और अफ्रीका में भी पाये जाते हैं। इनके सारे शरीर और दुम के ऊपर दुर्भेद्य कड़ी प्लेटें या सिन्ने, एक पर एक खपरैल के समान, लगी रहती हैं। ये प्लेटें इतनी कड़ी होती हैं कि कहा जाता है कि ये पिस्तौल की गोली भी सह लेती हैं। आक्रमण होने पर पैंगोलिन या साल अपने मुँह और दुम को धड़ के नीचे टाँगों के बीच लपेटकर गोल गेंद-सा बन जाता है और प्लेटों के तीक्ष्ण छोर ऊपर को उठ जाते हैं। फिर किस शत्रु का इतना साहस हो सकता है कि उस पर मुँह मारे!

भारतवर्ष के पर्वतीय प्रदेशों में साल सब जगह मिलते हैं, किन्तु संख्या में अधिक नहीं। उत्तरी भारत में उसे 'सिल्लू', दक्षिणी भागों में 'साल' और 'बनरोहू' और बंगाल में 'काठपोह' कहा जाता है। साल केवल रात्रि में ही बाहर निकलता है तथा विशेषकर अपनी लम्बी और चिपचिपी जबान से दीमक और चीटी पकड़कर खाता है। दिन भर वह अपने बिल या भिटे में छिपा रहता है। भिटे में ८—१० फीट की गहराई पर कोई ६ फीट परिधि की कोठरी होती है, जिसमें एक जोड़ा रहता है। कहा जाता है कि बिल में घुस जाने पर वह द्वार को मिट्टी से बन्द कर लेता है। मादाएँ जाड़े में एक या दो बच्चे देती हैं।

लंका तथा भारत का साल दुम को लेकर ३½ फीट के लगभग लम्बे होते हैं, किन्तु मलाया का पंगोलिन भारत के मुकाबिले में पतली और लम्बी दुमवाला होता है। इनकी आँख और बाहरी कान बिलकुल छोटे होते हैं। टाँगें छोटी, पर नाखून अत्यन्त मजबूत और खोदने योग्य होते हैं, जिनकी सहायता से वह अपना भिटा बड़ी ही सुविधापूर्वक खोद लेता है। साल भी आर्मेडिल्लो की तरह अगले पैरों के नखों को मोड़कर नीचे दबाकर चलता है।

अगले लेख में हम स्तनधारियों की अन्य कक्षाओं के कुछ मनोरंजक जीवों से आपका परिचय कराएँगे।

भारतीय साल (पैंगोलिन), जो कभी-कभी रात में वन के पथिकों को दिखलाई पड़ जाता है। इसके शरीर के ऊपर बड़े सिन्नों की पंक्तियाँ कैसी सुन्दर प्रतीत होती हैं! ये ही इसकी रक्षा के प्रमुख साधन हैं। आक्रमण होने पर वह लिपटकर गोल हो जाता है और सिन्नों की नोकें ऊपर को खड़ी हो जाती हैं।
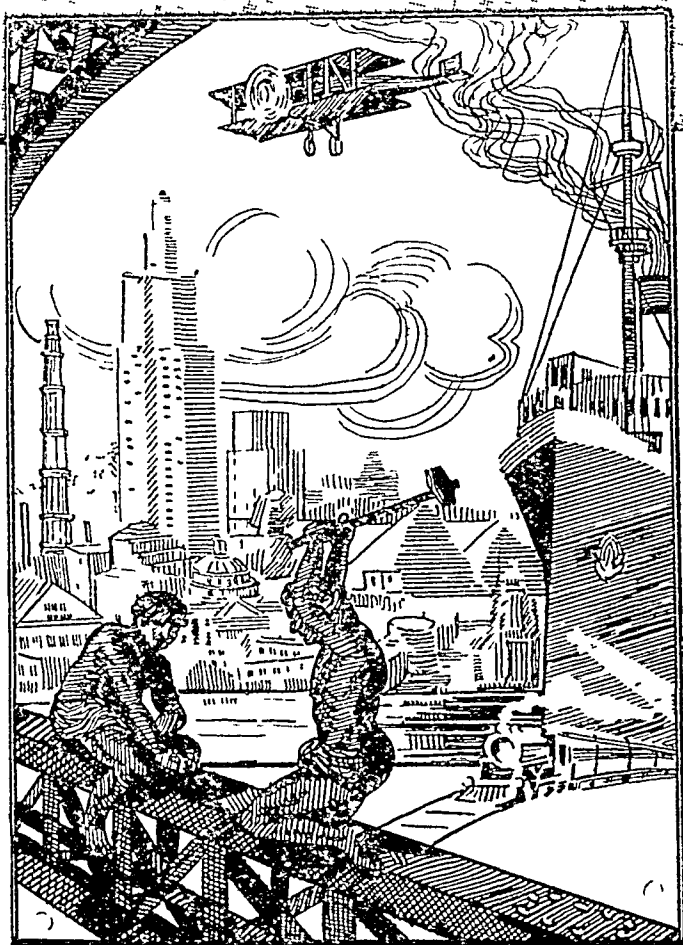
मनुष्य की कहानी
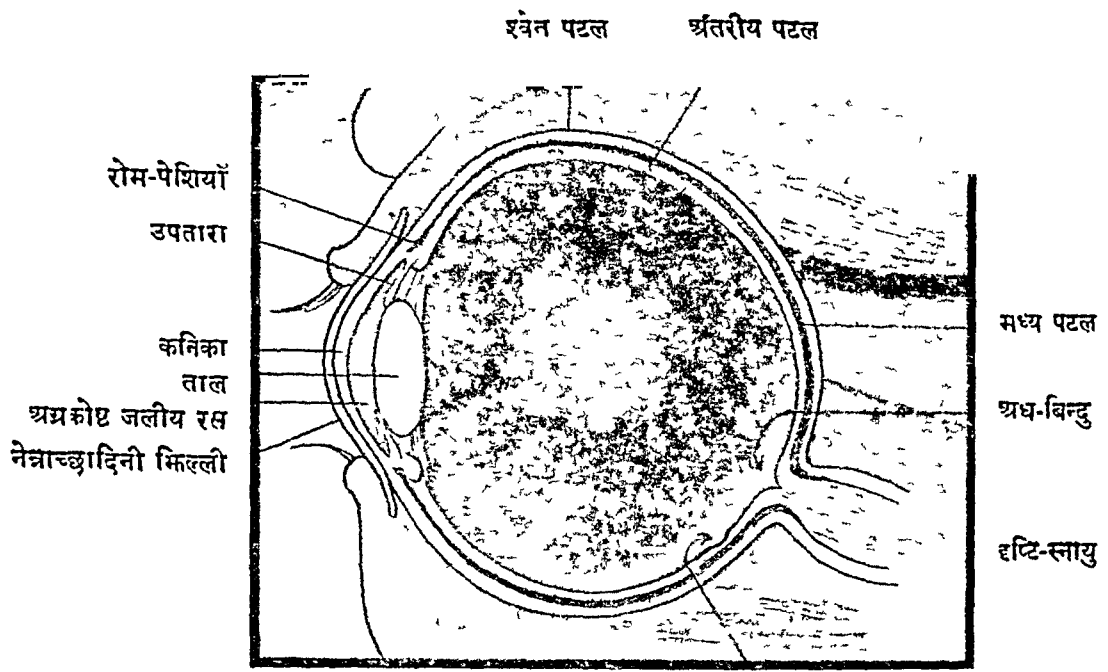
आँख या नेत्र गोलक का कैमरा—जिसके द्वारा मनुष्य देखते हैं—अपने मुख्य भागों को दिखलाने के लिए बीच से काट दिया गया है। प्रकाश की किरणें कनिका में से होकर नेत्र-गोलक अथवा अक्ष के अन्दर प्रवेश करती हैं। वे अग्रकोष्ठ, ताल और पीछे के कोष्ठ में भरे हुए स्वच्छ द्रव्य को पार करके इन सब भागों के झुकाव और पदार्थ से मुड़कर पीछेवाले अन्तरीय पटल पर केन्द्रीभूत होती हैं। वहाँ से नाड़ी-सूत्रों द्वारा उसकी उत्तेजना जब मस्तिष्क तक पहुँचती है, तब हमको दृष्टि का बोध होता है। वास्तव में, आँख नहीं देखती वरन् मस्तिष्क ही देखता है। वह तो बाह्य पदार्थों की प्रतिमूर्ति को मस्तिष्क तक पहुँचाने का साधन-मात्र है।
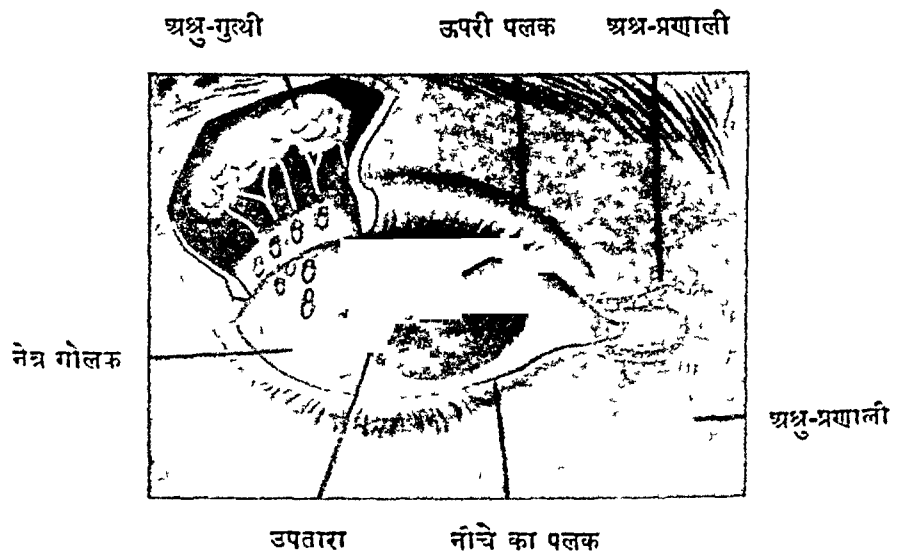
आँसू कैसे बनते हैं और रोते समय हम सिसकते क्यों हैं और नाक क्यों सिकोड़ते हैं? इस प्रश्न का उत्तर चित्र से मिल जाता है। अश्रु-गुत्थी से आँसू बनकर ऊपरी पलक के पीछे नेत्र गोलक पर बहने लगते हैं और आँख को धोते और साफ़ करते हुए नेत्र के भीतरी कोने में इकट्ठे हो जाते हैं। वहाँ पर एक सूराख़ होता है, जिसमें होकर वे अश्रु-प्रणाली के मार्ग से नाक में जा पहुँचते हैं। इस पानी का उद्देश्य आँख को साफ़ और तर रखना है।

शरीर के द्वार अथवा ज्ञानेन्द्रियाँ

१—सर्वोत्तम ज्ञानेन्द्रिय—आँख और दृष्टि

शरीर मे कुछ अग ऐसे हैं, जिनके द्वारा वह बाह्य जगत् से सम्बन्धित हो जाता है। यदि ये अग न हों तो शरीर बाहरी दुनिया से बिल्कुल ही पृथक् हो जाय। यह सम्भव है कि अँधेरे से अँधेरे कारागार का बन्दी भी कभी कुछ शब्द सुन ले, प्रकाश की दो-एक किरणें देख ले या कोई भूलती-भटकती हुई सुगन्ध उसके पास जा पहुँचे, किन्तु एक स्वतन्त्र मनुष्य के यदि आँखे न हों तो वह अपने सामने की भी चीज़ को नही देख सकता, कान न हों तो ज़ोर-से-ज़ोर की आवाज भी नही सुन सकता और यदि नाक न हो तो चाहे कैसी ही मधुर और भीनी सुगन्ध हो वह कदापि उसका अनुभव नहीं कर सकता। वास्तव में आँख, नाक, कान और मुँह ही वे खिडकियाँ हैं, जिनसे शरीर के बाहर की वस्तुओं का ज्ञान हमे होता है। प्रस्तुत और अगले लेखों मे हम इन्ही ज्ञानेन्द्रियो की रचना तथा उनसे सम्बन्धित अन्य बातों का उल्लेख करेगे।

हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

हमारी चेतना-उत्पादक इन्द्रियो की सख्या परिमित है। सारे शरीर को ढकनेवाली ज्ञानेन्द्रिय—त्वचा—का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त जो अन्य इन्द्रियाँ हैं वे स्थायी हैं अर्थात् उनके स्थान निश्चित हैं। आप पढ़ चुके हैं कि खाल मे स्पर्श के अलावा गर्मी, ठडक, दबाव और पीड़ा के भी सावेदनिक कण हैं। सभी प्रकार के सावेदनिक कण विशेष कोषो से बने होते हैं। इनमे सावेदनिक स्नायु-तार के रेशे समाप्त होते हैं। इनके उत्तेजित होने से ही मस्तिष्क मे सवेदना का अनुभव होता है। इसी तरह आँख, कान, नाक और जीभ मे भी अलग-अलग चेतना-उत्पादक कोष होते हैं। शरीर में पाँच मुख्य ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। प्रथम खाल, जिसका सम्बन्ध स्पर्श आदि से है; द्वितीय आँख, जिससे हम देखते हैं, तृतीय कान, जिनके द्वारा हम सुन सकते हैं, चौथी नाक, जिससे हम सूँघ सकते हैं, और पाँचवी जीभ, जिससे हम चीज़ों का स्वाद लेते हैं। इनके अलावा और भी कई साधारण चेतनाएँ होती हैं। भूख, थकान, कमजोरी, घबराहट आदि का अनुभव हमे शरीर मे फैले हुए स्नायु-जाल की सहायता से होता है। यह जरूर है कि ऐसे अनुभव किसी ख़ास भीतरी अवयव मे ही होते हैं और उनका प्रभाव सारे शरीर पर पडता है।

सावेदनिक स्नायुओ के उत्तेजित होने से मस्तिष्क मे जो अनुभव होता है, उसे सवेदना या चेतना कहते हैं। जो विशेष अग इस उत्तेजना से प्रभावित होकर उसे एक स्नायु-सम्बन्धी प्रेरणा मे बदल देते हैं, वे अग ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाते हैं। ऊपर के कथनानुसार ऐसी इन्द्रियाँ पाँच हैं और वे शरीर के भिन्न-भिन्न भागों मे स्थित हैं। इनमे से आँख या दृष्टि की इन्द्रिय बहुत-सी बातों मे अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा मुख्य और श्रेष्ठ है। हमारे हृदय मे और किसी को देखकर कभी भी इतनी जल्दी दया-भाव उत्पन्न नही होता और न इतने जल्द कुछ दान देने की ही इच्छा होती है जितना कि एक अन्धे मनुष्य को देखने पर होता है। दृष्टि का न होना या चला जाना जीवन के लिए सबसे भयकर कष्टों या आपत्तियों मे गिना जाता है। फिर भी अत्यन्त खेद का विषय है कि बहुत कम लोग ऐसे हैं जो आँख की बहुमूल्यता को समझते और उसकी उचित रीति से रक्षा करते हैं।

आँख की रचना

यह तो सर्वविदित है कि आँखे खोपडी के गड्ढों में बडी ख़ूबी के साथ सुरक्षित हैं। बाहर की ओर से उनको साफ रखने और ढँकने के लिए दो पलक होते हैं।

पलक

पलक में मास-पेशियाँ इस प्रकार की होती हैं कि जिनसे वे खुलते और बन्द होते हैं, इधर-उधर घूम-फिर सकते हैं और ऊपर नीचे उठ भी सकते हैं। पलकों के किनारों पर बाल या बरौनी होती है, जो आँख के अन्दर गर्द-धूल, कूड़ा-कर्कट आदि को जाने से रोकती है। बरौनी के बाल मोटे या जल्दी बढ़नेवाले होते है। जब एक बाल गिर जाता है या उखड़ जाता है तो उसकी जगह दूसरा जल्दी से निकल आता है। पलकों के किनारों पर भीतर की ओर गुत्थियों की एक पंक्ति होती है जो बाहरी किनारे पर खुलती हैं। जब इनमें से कोई गुत्थी बन्द हो जाती है और उनमें बननेवाला द्रव्य बाहर नहीं निकल पाता तो वह फूल जाती है। इसी तरह बिलनी या गुहेरी बन जाती है। पलक की भीतरी तह एक पतली चिकनी सी झिल्ली है, जो ख़ून की महीन नसों और नाड़ियों से भरी रहती है। इसको **नेत्राच्छादिनी झिल्ली** (Conjunctiva) कहते हैं। यह झिल्ली बाहर की ओर पलक की खाल से मिली रहती है और पलक के भीतरी किनारे पर से होती हुई यही आँख के गोले के ऊपर चली जाती है। यही झिल्ली है जो आँख आ जाने पर सूज जाती है। उस समय इसमें भरी हुई ख़ून की रगें फूल जाती हैं जिससे आँखें लाल दिखाई देने लगती हैं।

अश्रु-गुत्थियाँ और आँसू

नेत्राच्छादिनी झिल्ली के लिए भीगा रहना आवश्यक है। यह झिल्ली कुछ तो अपने ही मल से और कुछ उस खारे पानी से भीगी रहती है जो आँसुओं की गुत्थियों से निकलता है। अश्रु गुत्थियाँ, अक्ष-घेरों के ऊपरी ओर, नेत्र-गोलकों के बाहर चर्बीदार तत्त्वों में होती हैं। इन गुत्थियों में रक्त से एक स्वच्छ खारी जल बनता है, जो सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा ऊपरी पलक के भीतरी किनारे पर आ निकलता है और आँख के गोले पर बहकर उसे साफ रखता है। यह जल पलक के भीतरी कोने में नाक की तरफ इकट्ठा हो जाता है। इस जगह ऊपर और नीचे के दोनों पलकों में एक सूराख़ रहता है, जिससे यह पानी भीतर-ही-भीतर अश्रु-प्रणाली द्वारा नाक में जा पहुँचता है। साधारणतः यह पानी इतना ही बनता है कि पलकों और आँख के गोलों को तर रक्खे और उन्हें धूल-गर्द से साफ रक्खे। इसलिए जब आँखों का कोई काम किया जाय तब पलक जल्दी जल्दी मारते रहना चाहिए जिससे कि पानी गुत्थियों से निकलकर आँख भर में फैलता रहे और उन्हें गीला रक्खे। जब कभी आँसू अधिक बनते हैं या जब आँख में सूजन आने से अश्रु-नलिकाएँ बन्द हो जाती हैं तब नाक में न जाकर आँसू गालों पर टपकने लगते हैं।

अश्रु-गुत्थियों में पानी का बनना नाड़ी-संस्थान के अधीन है। जब कोई धूलिकण या तिनका आँख में पड़ जाता है तो उसकी करकन से सावेदनिक स्नायु प्रभावित हो जाते हैं और उसकी संवेदना मस्तिष्क तक पहुँच जाती है। वहाँ से नाड़ी द्वारा गुत्थी के लिए हुक्म आता है और वह तेजी से जल बनाने लगती है। इस क्रिया से धूलिकण या तिनका पानी में बहकर निकल जाता है। जब हृदय को कोई भारी दुःख होता है या अत्यन्त हर्ष होता है तब भी वही नाड़ीकेन्द्र उत्तेजित हो जाता है और आँसू तेज़ी से बहने लगते हैं। यही हमारे रोने का कारण है। गहरा रंज या अधिक खुशी होने पर भी कुछ लोगों की आँखों में पानी नहीं आता, बल्कि इसके विपरीत उनकी आँखें उस समय और भी सूख जाती हैं, क्योंकि उन पर उल्टा प्रभाव पड़ता है और नाड़ी-प्रभाव गुत्थी के कार्य को रोक देता है। यह बात भी वैसी ही है, जैसे कि डर में किसी का तो चेहरा एकदम लाल हो जाता है और किसी का पीला पड़ जाता है। अचानक विपत्ति आने पर या कोई शोक समाचार सुनने पर कोई व्यक्ति फूट-फूट कर रोने लगता है और कोई बिलकुल चुप हो जाता है।

अक्ष या नेत्र-गोलक के भिन्न भिन्न भाग

अक्ष एक प्रकार का गोल कैमरा या कोष्ठ है, जिसका व्यास लगभग १ इंच होता है। किन्तु नेत्र-गोलक गेंद के समान बिलकुल गोल नहीं होता। अगला भाग कुछ उभरा हुआ होता है जैसा कि १४७२ पृष्ठ का चित्र देखने से साफ पता चलता है। इस उभरे हुए पारदर्शक भाग को छोड़कर शेष सब गोला खोपड़ी के अन्दर अक्ष-घेरे में घुसा हुआ रहता है। अक्ष-घेरे के चारों ओर खोपड़ी की हड्डी उभरी रहने के कारण आँख हर तरह की चोटों से बची रहती है। सामने की ओर पलक, बरौनी और भौंहें उसकी रक्षा करती हैं। माथे के पसीने को भौंहें आँखों में नहीं जाने देतीं, बल्कि बाहर की ओर गिरा देती हैं। बिजली की तेज चमक या और कोई ऐसा ही खटका होने से पलक बन्द हो जाते हैं और आँखों को कोई हानि नहीं पहुँचने पाती। अक्ष की दीवार में तीन तहें होती हैं। सबसे बाहरी पर्त कड़ी, चीमड़ और रेशेदार होती है, जो गोलार्द्ध को स्थिर रखती है और भीतरी भागों की रक्षा करती है। यही तह है जो आँख में सामने सफ़ेद नज़र आती है। सामने के उभरे हुए पारदर्शक भाग को छोड़कर बाकी जगह में वह पारदर्शक नहीं होती। इस

बाहरी तह को हम 'श्वेत पटल' और उसके सामनेवाली पारदर्शक खिड़की को 'कनिका' के नाम से पुकारते हैं। ऊपर हम बतला चुके हैं कि श्वेत पटल के सामनेवाले भाग और कनिका नेत्राच्छादिनी झिल्ली से ढके रहते हैं; किन्तु यह झिल्ली कनिका के ऊपर बहुत ही पतली और पारदर्शक होती है। कनिका के लिए बिलकुल पारदर्शक और रग-विहीन होना ज़रूरी है, इसलिए कनिका मे रक्त-नलिकाएँ बिलकुल ही नही होती।

श्वेत पटल के अन्दर उससे चिपटी हुई दूसरी काली भूरी झिल्ली होती है। इसमे ख़ून की पतली-पतली नलिकाओ का घना जाल बिंधा होता है और बीच-बीच मे रग देनेवाले कोष रहते हैं, जिनकी वजह से यह तह काली नज़र आती है। इस पटल का काम आँख की कोठरी को अन्धकारमय बनाए रखना है, जिससे कि अन्दर आनेवाले प्रकाश द्वारा उसमे चमक पैदा न हो। सामने की ओर यह तह जो 'मध्य पटल' कहलाती है, लगभग उस जगह समाप्त हो जाती है, जहाँ श्वेत पटल कनिका से मिलता है। इसके छोर पर उभरी हुई मासपेशियाँ होती हैं, जिन्हे **रोम-पेशी** (Ciliary Muscle) कहा जाता है। ये पेशियाँ श्वेत-पटल और कनिका के मिलने के स्थान से निकलकर पीछे की ओर जाती हैं और मध्य पटल के सामने-वाले छोर से मिली रहती हैं। कनिका की गोल खिड़की के पीछे एक घटने-बढनेवाला घेरेदार पर्दा है, जो आँख मे सामने नज़र आता है। इसका रग भिन्न-भिन्न जातियों मे अलग-अलग होता है—किसी मे काला, किसी मे नीला और किसी मे भूरा। यह पर्दा मध्य पटल का ही एक भाग है और 'उपतारा' कहलाता है। इसके बीचोबीच एक गोल छेद होता है, जो 'पुतली' या 'तारा' के नाम से पुकारा जाता है। देखने मे यह शून्य काला स्थान-सा मालूम होता है। उपतारे का बाहरी किनारा नेत्र-गोलक मे उस जगह मज़बूती से जुड़ा रहता है, जहाँ श्वेत पटल और कनिका मिलते हैं। दूसरा किनारा पर्दे की भाँति कनिका से कुछ पीछे आँख के गोले के भीतर लटकता रहता है। उपतारे मे दो प्रकार की रेशेदार मास-पेशियाँ होती हैं। एक वे जो पुतली के चारो ओर गोलाई मे रहती हैं और जिनके सिकुड़ने से पुतली छोटी हो जाती है। दूसरी वे जो बीच से निकलकर पहिए के आरे की तरह बाहर को फैली रहती हैं और जिनके सिकुड़ने से पुतली फैल जाती है। उपतारा के तन्तुओं मे रंग के कोष होते हैं और उसका पीछे का भाग मध्य पटल की भाँति प्रकाशहीन होता है।
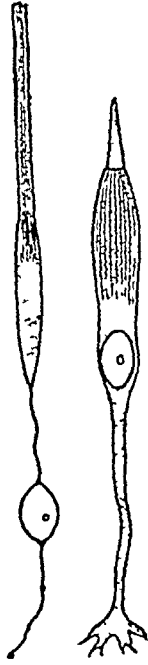
अन्तरीय पटल की मोटाई से काटा गया एक महीन पर्त सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में देखने से ऐसा दिखलाई पड़ता है। बगल में पूरे छड़-कोष और सूची-कोष भी बने हुए हैं। सबसे ऊपर की ओर रंग के दानो से भरे कोष दिखलाई पड़ते हैं। ये मध्य पटल से सटे रहते हैं। इनके नीचे छड़ो और सूचियों की तह है। सबसे नीचे नाड़ी-कोष और उनके केन्द्रों का पर्त है जो ताल की ओर रहता है। अन्तरीय पटल पर जो प्रतिबिम्ब बनता है वह १/८ सेकेंड तक बना रहता है।
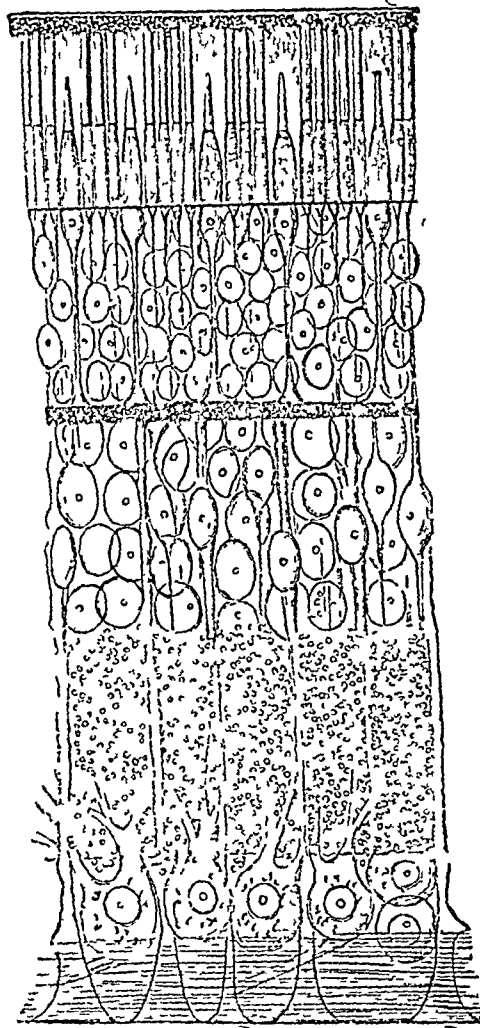
उपतारा से आँख या अक्ष का भीतरी स्थान दो भागो मे विभक्त हो जाता है और उसके पीछे रोम-पेशियों से लगा हुआ एक पारदर्शक गोल 'ताल' (lens) होता है। यह ताल आतशी शीशे की तरह दोनों ओर उभरा हुआ होता है और तन्दु-रुस्ती की हालत मे नितान्त स्वच्छ और पूर्ण पारदर्शक रहता है। मोतियाबिन्द के रोग मे यह ताल धुँधला हो जाता है, जिससे दृष्टि क्षीण हो जाती है। ऑप-रेशन करके ताल को निकाल देते हैं और उसकी जगह एक मोटा चश्मा लगा देते हैं जो ताल का

काम देता है। यह ताल आँख की भीतरी दीवाल से एक कड़ी और चीमड़ पट्टी द्वारा बँधा रहता है, जिससे वह अपनी जगह से हिल-डुल न सके। ताल लचीला होता है और उसको यह पट्टी उसे अपनी जगह पर स्थिर ही नहीं रखती, बल्कि उसका आकार भी बदल सकती है। रोम-पेशियाँ ताल-पट्टी से लगी रहती हैं और जब वे सिकुड़ती हैं तो मध्य पटल आगे की ओर बढ़ जाता है और ताल का बाहरी उभार अधिक हो जाता है। उपतारा और ताल के सामनेवाले भीतरी भाग को अगला कोष्ठ कहते हैं और उसके पीछेवाला बड़ा भाग पिछला कोष्ठ कहलाता है। अगले कोष्ठ में स्वच्छ और निर्मल पानी की तरह कुछ खारी पदार्थ भरा रहता है जिसे हम 'जलीय रस' कहते हैं। पीछे के कोष्ठ में एक गाढ़ा लसीला स्वच्छ अर्द्ध-तरल द्रव्य भरा होता है जो रंग-विहीन और पारदर्शक होता है। इसको 'स्वच्छ द्रव्य' कहते हैं। यह ताल को पीछे से साधे रहता है। जलीय रस, ताल और स्वच्छ जल मिलकर आँख के भीतर एक ऐसा माध्यम बनाते हैं जिससे बाहर से घुसनेवाले प्रकाश की किरणें तिरछी होकर आँख के भीतरी पर्दे पर केन्द्रीभूत होती हैं। ऐसा होने के ही कारण हम अच्छी तरह देख सकते हैं।

नेत्र-गोलक का सबसे भीतरी या तीसरा पर्त 'अन्तरीय पटल या दृष्टि-पटल' (Retina) कहलाता है। ताल को छोड़कर यह पटल सारे पिछले कोष्ठ में फैला हुआ है (दे० १४७२ का चित्र)। यह पर्त एक बहुत पतली, नर्म और सफ़ेद झिल्ली है जो मध्य पटल के साथ हल्के से लगी रहती है। यदि भेड़ या बकरी की ताज़ी आँख लेकर उसमें से स्वच्छ द्रव्य दबाकर निकाल दिया जाय तो अन्तरीय पटल काले मध्य-पटल से सहज में ही बिलकुल अलग हो जाता है, किन्तु एक जगह पर, जहाँ दृष्टि-स्नायु आँख के गोले में प्रवेश करता है, वह अलग नहीं हो पाता। दृष्टि-स्नायु मस्तिष्क से आकर पीछे की तरफ़ से आँख के गोले की दीवाल को पार करता हुआ अपने रेशों को अन्तरीय पटल में फैला देता है। इन नाड़ी-सूत्रों ही के कारण अन्तरीय पटल फोटोग्राफ़ी की प्लेट की भाँति प्रकाश से सचेत होता है।

रंग कैसे दिखलाई पड़ते हैं ?

यद्यपि अन्तरीय पटल अत्यन्त नाज़ुक वस्तु है, परन्तु उसकी बनावट बड़ी ही पेचीदा है। इंच का १/८० वाँ भाग मोटा होने पर भी उसमें १० से भी अधिक पर्त होते हैं। अन्तरीय पटल की मोटाई से कटे हुए एक टुकड़े का एक दृश्य पिछले पृष्ठ के चित्र में दिखाया गया है, जैसा कि वह सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में दिखलाई पड़ता है। मध्य पटल की सबसे निकटवाली तह में गहरे रंग से भरे हुए षट्कोण कोष होते हैं। इनके कारण प्रकाश इधर-उधर फैल नहीं पाता। इसके पश्चात् विशेष कोषों की एक तह होती है, जिसमें दो प्रकार के अपूर्व कोष होते हैं जो पिछले पृष्ठ के चित्र में बने हुए हैं। यह छड़ और सूचियों की तह विशेष उल्लेखनीय है। छड़ और सूचियाँ दोनों ही जीवित कोष हैं। उनके केन्द्र अन्तरीय पटल की भीतरी सतह पर दबे रहते हैं। दृष्टि-स्नायु के फैले हुए छोरों और बहुत-से नाड़ी-कोषों से उनका घना मेल रहता है, मानों वे हमारे मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र से कोषीय ज़ंजीर के द्वारा मिले हों। प्रत्येक छड़ के बाहरी हिस्से में छोटी-छोटी टिकियों का एक ढेर होता है, जिसमें दृष्टि-सम्बन्धी बैंजनी रंग के दाने-से भरे रहते हैं। फोटोग्राफ़ी के प्लेट पर लगे हुए मसाले की झिल्ली (Film) की तरह ये टिकियाँ प्रकाश के लिए अत्यन्त चैतन्य होती हैं, विशेषकर नीली और बैंजनी किरणों के लिए। रोशनी पड़ने पर इन छड़ों के रंगदार दाने तेज़ी से बदलकर पहले पीले और बाद में सफ़ेद हो जाते हैं। रोशनी की तेज़ी का ज्ञान भी हमको इन्हीं छड़ों द्वारा होता है। कहा जाता है कि इन छड़ों के ही द्वारा हम धीमी रोशनी में भी देख पाते हैं। लेकिन उनसे हमको रंगों की पहचान नहीं हो पाती। रंगों का ज्ञान हमको सूचियों से होता है। जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है, सूची की शक्ल भिन्न-भिन्न होती है और उनका बाहरी सिरा क़रीब-क़रीब रंग-विहीन होता है। छड़ और सूचियाँ दोनों ही के सहयोग से हम चीज़ों को देखते हैं और उनके रंगों को पहचानते हैं।

छड़ सूचियों की अपेक्षा प्रकाश के लिए अधिक चैतन्य होते हैं। मामूली रोशनी में दृष्टि-सम्बन्धी संवेदना सूचियों से ही चैतन्य होती है। छड़ें तो साधारण प्रकाश से भी थकी हुई बेकार सी पड़ी रहती हैं, क्योंकि ऊपर कहने के अनुसार उनका बैंजनी रंग धुलकर सफ़ेद हो जाता है। लेकिन कुछ मिनट ही आँख को तेज रोशनी से बचाये रहने पर छड़ों में फिर अपनी उत्तेजना वापस आ जाती है। यही कारण है कि जब हम धूप से किसी हल्के प्रकाशवाले कमरे में या बिजली की तेज रोशनी द्वारा प्रकाशित कमरे से निकलकर बाहर धीमी रोशनी में आते हैं तो पहले पहल बहुत ही कम या कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता है, क्योंकि उतनी धीमी रोशनी में सूचियाँ देख नहीं पातीं और छड़ें अक्सर बेकार हो जाती हैं। कुछ मिनटों के ही बाद छड़ें अपनी चेतना को पुनः प्राप्त कर लेती हैं और हमको चीज़ों की शक्लें दिख-

लाई पड़ने लगती हैं, और छाया तथा प्रकाश मे अन्तर मालूम होने लगता है। किन्तु हम रग नहीं देख पाते, क्योंकि छड़ें हमको केवल भूरे रग की ही सवेदना दे पाती हैं और सो भी थोड़ी दूर से। ये बाते अत्यन्त रोचक हैं।

रगों के अन्धे कौन है ?

शायद आप यह जानते हों कि प्रकाश या सफेद रोशनी इन्द्रधनुप के सात रगों के सम्मिश्रण से बनती है। जहाँ तक नेत्रों का सम्बन्ध है, सब रंग बँटकर केवल मुख्य तीन ही—लाल, हरे और बैंजनी—रह जाते हैं। इसलिए माना जाता है कि अन्तरीय पटल मे तीन प्रकार की सूचियाँ हैं। कुछ लाल रग से प्रभावित होती हैं, कुछ हरे से और कुछ बैंजनी से। इन तीन रगो मे से कोई दो या तीन के उत्तेजित हो जाने से ही अन्य रंग बन जाते हैं। हरित और बैंजनी वर्ण-ग्रहणकारी छड़े यदि एक साथ उत्तेजित हो जाती हैं तो नीले रग का बोध होता है। कुछ लोगों का मत है कि तीन के बजाय चार मूल रंग हैं, अर्थात् लाल, हरा, पीला और नीला। दो ही प्रकार की रंग ग्रहण करनेवाली छड़े होती हैं। एक वे जो लाल और हरे दोनों विरोधी रगों से सचेतन होती हैं और दूसरी वे जो पीले और नीले से सचेतन होती हैं। दोनो मे से चाहे कोई-सा भी सिद्धान्त ठीक हो, यह तो निश्चय है कि रगों के पहचानने की योग्यता अन्तरीय पटल मे विशेष वर्ण-ग्रहणकारी छड़ों की उपस्थिति पर ही निर्भर है। यदि किसी की आँख मे वर्ण-ग्रहणकारियों का एक सेट न हो तो उस रग के दिखाई देने की सम्भावना न रहेगी। यह बात केवल थोड़े-से ही लोगों मे पाई जाती है, किन्तु स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषों मे अधिक होती है और यह खराबी मौरूसी होती है। इसी को हम रगों का अधापन कहते हैं। कुछ लोगो को रगों की पहचान बिलकुल ही नहीं होती। वे रग के विषय में पूरे अंधे कहे जाते हैं। रंग के पूर्ण अंधे होने की खराबी बहुत ही कम लोगों मे पाई जाती है। एक १२ वर्ष के लड़के का हाल सन् १६३६ मे स्कॉटलैंड के दो डाक्टरों ने 'लैन्सेट' अखबार मे छापा था। उसको रंगीन किरण-चित्र (Spectrum) मे कोई भी रंग नही जान पड़ता था, प्रत्युत् रोशनी मे सिर्फ चढ़ाव-उतार ही मालूम होता था। यद्यपि उसको रंग का कुछ भी अन्दाज़ नहीं था, किन्तु उसको छाया की बड़ी तेज़ पहचान थी। वह रगों की पहचान उनकी हल्की और तेज़ चमक से कर लेता था। गहरे लाल रग उसको भूरे नज़र आते थे और बहुत गहरे लाल रग का काले से धोखा हो जाता था। बहुत हल्के हरे और पीले रगों को वह सफ़ेद ही कहता था।

कोई मनुष्य किसी-किसी रंग के ही लिए अधे होते हैं, अधिकतर लाल और नीले के लिए। जो लोग लाल रंग के लिए अधे होते हे, उन्हे लाल चीज़े भूरी-सी दिखाई पड़ती हैं। इस खराबी का कोई इलाज नहीं है। कभी-कभी सूचियों के रहते हुए भी यह बीमारी अन्य दोषों के कारण भी हो जाती है।

● +

इस चित्र को देखकर अपनी आँख के अन्ध बिन्दु का पता लगाइए। बाईं आँख को बन्द करके दाहिनी से + चिह्न को टकटकी लगाकर देखिए। तस्वीर आँख से १० इंच या १ फुट दूर रहे। तस्वीर को और पास लाइए या और दूर रखिए। ऐसा करने से एक जगह ऐसी आएगी जब आपको गोला बिलकुल ही न दिखाई देगा, क्योंकि उस स्थान पर गोले की प्रतिमूर्त्ति आपके अन्ध बिन्दु पर पड़ती है।

आँख के दो विचित्र स्थान—एक जहाँ से सबसे साफ़ दिखाई पड़ता है और दूसरा जहाँ से बिलकुल नहीं दिखाई पड़ता

छड़ों की संख्या सूचियों की सख्या से कहीं अधिक होती है, लेकिन अन्तरीय पटल के बीच मे पीछे की ओर एक जगह (दृष्टि-स्नायु के प्रवेश-स्थान से $\frac{1}{10}$ इच हटकर) ऐसी है जहाँ छड़े क़रीब-क़रीब बिलकुल ही नहीं होतीं और सूचियाँ बहुत पास-पास और अधिक संख्या मे होती हे। इस अडाकार स्थान मे अन्तरीय पटल की अन्य सब तहें बहुत महीन होती हैं। अतः इस स्थान पर दृष्टि सबसे ज़्यादा तेज़ होती है। इस जगह को 'पीला बिन्दु' कहते हैं, क्योंकि मृत्यु के बाद वह पीला पड जाता है। यह पीला बिन्दु मनुष्य, कपि, और बन्दरों में ही पाया जाता है। हम किसी चीज़ को बिलकुल साफ-साफ तभी देख पाते हैं जब उसका प्रतिबिम्ब इसी बिन्दु पर केन्द्रीभूत होता है। इसका परिणाम यह होता है कि और सब जानवर—गाय, घोड़ा, कुत्ता आदि—उसी सफ़ाई से नहीं देख सकते होंगे जैसी कि मानव-जाति और उसकी निकट सम्बन्धी वानर-जाति। अन्तरीय पटल

रहता है। यह ताल आँख की भीतरी दीवाल से एक कड़ी और चौड़ी पट्टी द्वारा बँधा रहता है, जिससे वह अपनी जगह से हिल-डुल न सके। ताल लचीला होता है और उसका यह पट्टी उसे अपनी जगह पर स्थिर ही नहीं रखती, बल्कि उसका आकार भी बदल सकती है। नेत्र-पेशियाँ ताल-पट्टी से लगी रहती हैं और जब वे सिकुड़ती हैं तो मध्य पटल आगे की ओर बढ़ जाता है और ताल का बाहरी उभार अधिक हो जाता है। उपतारा और ताल के सामनेवाले भीतरी भाग को अगला कोष्ठ कहते हैं और उसके पीछेवाला बड़ा भाग पिछला कोष्ठ कहलाता है। अगले कोष्ठ में स्वच्छ और निर्मल पानी की तरह कुछ खारी पदार्थ भरा रहता है जिसे हम 'जलीय रस' कहते हैं। पीछे के कोष्ठ में एक गाढ़ा लसीला स्वच्छ अर्द्ध-तरल द्रव्य भरा होता है जो रंग-विहीन और पारदर्शक होता है। इसको 'स्वच्छ द्रव्य' कहते हैं। यह ताल को पीछे से साधे रहता है। जलीय रस, ताल और स्वच्छ द्रव्य मिलकर आँख के भीतर एक ऐसा माध्यम बनाते हैं जिससे बाहर से घुसनेवाले प्रकाश की किरणें तिरछी होकर आँख के भीतरी पर्दे पर केन्द्रीभूत होती हैं। ऐसा होने के ही कारण हम अच्छी तरह देख सकते हैं।

नेत्र-गोलक का सबसे भीतरी या तीसरा पर्त 'अन्तरीय पटल या दृष्टि-पटल' (Retina) कहलाता है। ताल को छोड़कर यह पटल सारे पिछले कोष्ठ में फैला हुआ है (दे० [illegible] का चित्र)। यह पर्त एक बहुत पतली, नर्म और सफेद झिल्ली है जो मध्य पटल के साथ हलके से लगी रहती है। यदि भेड़ या बकरी की ताजी आँख लेकर उसमें से स्वच्छ द्रव्य दबाकर निकाल दिया जाय तो अन्तरीय पटल [illegible] सहज में ही बिलकुल अलग हो जाता है, किन्तु एक स्थान पर, जहाँ दृष्टि-स्नायु आँख के गोले में प्रवेश करता है, वह अलग नहीं हो पाता। दृष्टि-स्नायु [illegible] आँख के गोले की [illegible] रेशों को अन्तरीय पटल [illegible]। इन नाड़ी-[illegible] के कारण अन्तरीय पटल [illegible] की भाँति प्रकाश से सचेत [illegible]।

रंग कैसे दिखलाई पड़ते हैं?

[illegible] वस्तु है, परन्तु [illegible] भाग [illegible] होते हैं। [illegible] एक दूसरे का एक [illegible] गया है, जैसा कि यह

सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में दिखलाई पड़ता है। मध्य पटल की सबसे निकटवाली तह में गहरे रंग से भरे हुए षट्कोण कोष होते हैं। इनके कारण प्रकाश इधर-उधर फैल नहीं पाता। इसके पश्चात् विशेष कोषों की एक तह होती है, जिसमें दो प्रकार के अपूर्व कोष होते हैं जो पिछले पृष्ठ के चित्र में बने हुए हैं। यह छड़ और सूचियों की तह विशेष उल्लेखनीय है। छड़ और सूचियाँ दोनों ही जीवित कोष हैं। उनके केन्द्र अन्तरीय पटल की भीतरी सतह पर दबे रहते हैं। दृष्टि-स्नायु के फैले हुए छोरों और बहुत-से नाड़ी-कोषों से उनका घना मेल रहता है, मानो वे हमारे मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र से कोषीय जंजीर के द्वारा मिले हों। प्रत्येक छड़ के बाहरी हिस्से में छोटी-छोटी टिकियों का एक ढेर होता है, जिसमें दृष्टि-सम्बन्धी बैंजनी रंग के दाने-से भरे रहते हैं। फोटोग्राफी के प्लेट पर लगे हुए मसाले की झिल्ली (Film) की तरह ये टिकियाँ प्रकाश के लिए अत्यन्त चैतन्य होती हैं, विशेषकर नीली और बैंजनी किरणों के लिए। रोशनी पड़ने पर इन छड़ों के रंगदार दाने तेजी से बदलकर पहले पीले और बाद में सफेद हो जाते हैं। रोशनी की तेज़ी का ज्ञान भी हमको इन्हीं छड़ों द्वारा होता है। कहा जाता है कि इन छड़ों के ही द्वारा हम धीमी रोशनी में भी देख पाते हैं। लेकिन उनसे हमको रंगों की पहचान नहीं हो पाती। रंगों का ज्ञान हमको सूचियों से होता है। जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है, सूची की शक्ल भिन्न-भिन्न होती है और उनका बाहरी सिरा क़रीब-क़रीब रंग-विहीन होता है। छड़ और सूचियाँ दोनों ही के सम्योग से हम चीज़ों को देखते हैं और उनके रंगों को पहचानते हैं।

छड़ सूचियों की अपेक्षा प्रकाश के लिए अधिक चैतन्य होते हैं। मामूली रोशनी में दृष्टि-सम्बन्धी संवेदना सूचियों से ही चैतन्य होती है। छड़ें तो साधारण प्रकाश से भी थकी हुई बेकार सी पड़ी रहती हैं, क्योंकि ऊपर कहने के अनुसार उनका बैंजनी रंग धुलकर सफेद हो जाता है। लेकिन कुछ मिनट ही आँख को तेज रोशनी से बचाये रहने पर छड़ों में फिर अपनी उत्तेजना वापस आ जाती है। यही कारण है कि जब हम धूप में किसी हलके प्रकाशवाले कमरे में या बिजली की तेज रोशनी द्वारा प्रकाशित कमरे से निकलकर बाहर धीमी रोशनी में आते हैं तो पहले-पहल बहुत ही कम या कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता है, क्योंकि उतनी धीमी रोशनी में सूचियाँ देख नहीं पातीं और छड़ें अक्सर बेकार हो जाती हैं। कुछ मिनटों के ही बाद छड़ें अपनी चेतना को पुनः प्राप्त कर लेती हैं और हमको चीज़ों की शक्ल दिख-

लाई पड़ने लगती हैं, और छाया तथा प्रकाश मे अन्तर मालूम होने लगता है। किन्तु हम रंग नही देख पाते, क्योकि छड़े हमको केवल भूरे रग की ही सवेदना दे पाती हैं और सो भी थोड़ी दूर से। ये बातें अत्यन्त रोचक हैं।

रगों के अन्धे कौन है ?

शायद आप यह जानते हों कि प्रकाश या सफ़ेद रोशनी इन्द्रधनुष के सात रगों के सम्मिश्रण से बनती है। जहॉ तक नेत्रों का सम्बन्ध है, सब रंग बॅटकर केवल मुख्य तीन ही—लाल, हरे और बैंजनी—रह जाते हैं। इसलिए माना जाता है कि अन्तरीय पटल मे तीन प्रकार की सूचियॉ हैं। कुछ लाल रग से प्रभावित होती हैं, कुछ हरे से और कुछ बैंजनी से। इन तीन रगो मे से कोई दो या तीन के उत्तेजित हो जाने से ही अन्य रंग बन जाते हैं। हरित और बैंजनी वर्ण-ग्रहणकारी छड़े यदि एक साथ उत्तेजित हो जाती हैं तो नीले रंग का बोध होता है। कुछ लोगों का मत है कि तीन के बजाय चार मूल रंग हैं, अर्थात् लाल, हरा, पीला और नीला। दो ही प्रकार की रग ग्रहण करनेवाली छड़े होती हैं। एक वे जो लाल और हरे दोनों विरोधी रगों से सचेतन होती हैं और दूसरी वे जो पीले और नीले से सचेतन होती है। दोनो मे से चाहे कोई-सा भी सिद्धान्त ठीक हो, यह तो निश्चय है कि रगों के पहचानने की योग्यता अन्तरीय पटल मे विशेष वर्ण-ग्रहणकारी छड़ों की उपस्थिति पर ही निर्भर है। यदि किसी की ऑख में वर्ण-ग्रहणकारियों का एक सेट न हो तो उस रग के दिखाई देने की सम्भावना न रहेगी। यह बात केवल थोडे-से ही लोगों मे पाई जाती है, किन्तु स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषों मे अधिक होती है और यह ख़राबी मौरूसी होती है। इसी को हम रगों का अंधापन कहते हैं। कुछ लोगो को रगों की पहचान बिलकुल ही नहीं होती। वे रंग के विषय मे पूरे अधे कहे जाते हैं। रग के पूर्ण अधे होने की ख़राबी बहुत ही कम लोगों मे पाई जाती है। एक १२ वर्ष के लड़के का हाल सन् १६३६ मे स्कॉटलैंड के दो डाक्टरों ने 'लैन्सेट' अख़बार में छापा था। उसको रगीन किरण-चित्र (Spectrum) मे कोई भी रग नहीं जान पडता था, प्रत्युत् रोशनी मे सिर्फ चढाव-उतार ही मालूम होता था। यद्यपि उसको रंग का कुछ भी अन्दाज़ नहीं था, किन्तु उसको छाया की बड़ी तेज़ पहचान थी। वह रगों की पहचान उनकी हल्की और तेज़ चमक से कर लेता था। गहरे लाल रग उसको भूरे नज़र आते थे और बहुत गहरे लाल रंग का काले से धोखा हो जाता था। बहुत हल्के हरे और पीले रगों को वह सफ़ेद ही कहता था।

कोई मनुष्य किसी-किसी रंग के ही लिए अधे होते हैं, अधिकतर लाल और नीले के लिए। जो लोग लाल रंग के लिए अधे होते हैं, उन्हे लाल चीज़े भूरी-सी दिखाई पडती हैं। इस ख़राबी का कोई इलाज नहीं है। कभी-कभी सूचियों के रहते हुए भी यह बीमारी अन्य दोषों के कारण भी हो जाती है।

●   +

इस चित्र को देखकर अपनी ऑख के अन्ध बिन्दु का पता लगाइए। बाईं ऑख को बन्द करके दाहिनी से + चिह्न को टकटकी लगाकर देखिए। तस्वीर ऑख से १० इंच या १ फुट दूर रहे। तस्वीर को और पास लाइए या और दूर रखिए। ऐसा करने से एक जगह ऐसी आएगी जब आपको गोला बिलकुल ही न दिखाई देगा, क्योंकि उस स्थान पर गोले की प्रतिमूर्त्ति आपके अन्ध बिन्दु पर पडती है।

ऑख के दो विचित्र स्थान—एक जहॉ से सबसे साफ़ दिखाई पड़ता है और दूसरा जहॉ से बिलकुल नहीं दिखाई पड़ता

छड़ों की संख्या सूचियों की सख्या से कही अधिक होती है, लेकिन अन्तरीय पटल के बीच मे पीछे की ओर एक जगह (दृष्टि-स्नायु के प्रवेश-स्थान से $\frac{1}{10}$ इंच हटकर) ऐसी है जहॉ छड़े क़रीब-क़रीब बिलकुल ही नहीं होतीं और सूचियॉ बहुत पास-पास और अधिक सख्या मे होती हैं। इस अडाकार स्थान मे अन्तरीय पटल की अन्य सब तहें बहुत महीन होती हैं। अतः इस स्थान पर दृष्टि सबसे ज़्यादा तेज़ होती है। इस जगह को 'पीला बिन्दु' कहते हैं, क्योंकि मृत्यु के बाद यह पीला पड जाता है। यह पीला बिन्दु मनुष्य, कपि, और बन्दरो में ही पाया जाता है। हम किसी चीज को बिलकुल साफ़-साफ़ तभी देख पाते हैं जब उसका प्रतिबिम्ब इसी बिन्दु पर केन्द्रीभूत होता है। इसका परिणाम यह होता है कि और सब जानवर—गाय, घोडा, कुत्ता आदि—उसी सफ़ाई से नहीं देख सकते होंगे जैसी कि मानव-जाति और उसकी निकट सम्बन्धी वानर-जाति। अन्तरीय पटल

[illegible] और उसे [illegible] है। यह स्थान पीत बिन्दु [illegible], क्योंकि यहाँ प्रकाश का तनिक भी [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] भी [illegible]! क्योंकि यहाँ पर दोनों [illegible] भी चैतन्य-कोष नहीं होते। इस स्थान को 'अन्ध बिन्दु' [illegible] जाता है और पृ० १४७२ [illegible] के अनुसार यह उस जगह होता है जहाँ पर दृष्टि-स्नायु नेत्र-गोलक में प्रवेश करता है। इस जगह अन्तरीय पटल के [illegible] नदारद होते हैं।

इस तरह [illegible] आँख का अन्ध बिन्दु दूसरी आँख के [illegible] भाग से ढक जाता है, इस-लिए उसका पता नहीं चलता। लेकिन [illegible] [illegible] आँख में भी [illegible] बिन्दु है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

चश्मेद्वारा दृष्टि-दोष कैसे दूर होता है?

(१) साधारण स्वस्थ आँख जिसमें दूर की वस्तु की परछाँहीं ठीक दृष्टि पटल पर पड़ती है। (२) आँख का ताल अधिक उन्नतोदर है जिससे परछाँहीं दृष्टि-पटल के आगे पड़ जाती है। नतोदर ताल का चश्मा उसे पुन ठीक कर देता है। (३) ताल बहुत चपटा और (४) नेत्र गोलक बहुत छोटा है। (६) नेत्रगोलक बहुत लम्बा है। (५) और (७) से विदित होता है कि ये दोष कैसे चश्मे के ताल द्वारा ठीक होते हैं।

आँख कैसे काम करती है?

[illegible] [illegible] कि [illegible] तस्वीर खींचने- [illegible]। जिस प्रकार कैमरे का [illegible] [illegible] प्लेट पर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], जिस प्रकार [illegible] तस्वीर उल्टी आती है, उसी तरह अन्तरीय पटल पर ताल द्वारा पड़नेवाली छाया भी उल्टी ही होती है। फिर भी हम चीज़ों को सीधा ही देखते हैं! कैसे? प्लेट से जब तस्वीर कागज पर उतारी जाती है तो वह सीधी होती है, उल्टी नहीं। इसी तरह जब अन्तरीय पटल पर पड़ा हुआ प्रभाव नाड़ीसूत्रों द्वारा हमारे मस्तिष्क के पर्दे पर पहुँचता है तो छाया फिर सीधी हो जाती है और हम वस्तुओं को सीधा-का-सीधा ही देखते हैं। वास्तव में देखनेवाली चीज आँख नहीं, बल्कि मस्तिष्क है। आँख तो बाहर की चीज़ों के चित्र को मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र तक पहुँचाने का एक साधन मात्र है। जिस तरह कैमरे के अन्दर ज्योति केवल ताल में ही होकर जा सकती है वैसे ही नेत्र-गोलक भी ठोस दीवालवाली एक कोठरी है जिसमें रोशनी का प्रवेश सिर्फ सामने की पारदर्शक कनिका में ही हो सकता है। कैमरे की तरह अन्त में भी एक काली तह (मध्य पटल) होती है जिससे रोशनी का परावर्त्तन न हो सके। कैमरे के [illegible] की जगह आँख में रोशनी को घटाने और बढ़ाने के लिए उपतारा होता है। अँधेरे कमरे में धीमी रोशनी में उपतारा खुल-कर चौड़ा हो जाता है, जिससे कि अधिक-से-अधिक रोशनी भीतर घुस जाय। जब रोशनी बहुत तेज होती है तो यह पर्दा बन्द हो जाता है और छेद नन्हा-सा रह जाता है। इस तरह उपतारा के छोटे और बड़े होने से प्रकाश उचित मात्रा में ही अन्दर जाने पाता है। कैमरे में एक पुर्ज़ी होती है, जिससे छोटी खींचनेवाला ताल को आगे या पीछे हटा सकता है और तस्वीर की प्रतिमूर्ति को फिर ठीक प्लेट पर गिरा देता है। आँख के कैमरे में यह बात नहीं है।

उसमे तो ताल और अन्तरीय पटल दोनो ही स्थायी हैं। इसलिए नज़दीक और दूर की वस्तुओ का प्रतिबिम्ब ठीक अन्तरीय पटल पर डालने के लिए ऑख की यन्त्र-रचना कैमरे से भी पेचीदा है। ताल के काम मे सहायता देने के लिए ऑख मे कनिका, जलीय रस और स्वच्छ द्रव्य हैं। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, ऑख के ताल की शक्ल बदली जा सकती है। जब हम किसी दूर की चीज़ पर निगाह डालते हैं तो जो रोशनी की किरणे हमारी ऑख के समानान्तर पडती हे वे कनिका, जलीय रस, ताल तथा स्वच्छ द्रव्य की सहायता से तिरछी होकर अन्तरीय पटल पर केन्द्रीभूत हो जाती हैं और हम उस चीज़ को देख लेते हैं। अगर चीज ऑख के निकट आ जाय और ताल जैसा-का-तैसा ही बना रहे तो छाया उसी स्थान पर न पडेगी बल्कि नेत्र-गोलक की दीवाल के पीछे पहुँच जायगी और हमे साफ दिखाई न पडेगा। छाया को अन्तरीय पटल पर ही डालने के लिए इन तीन मे से एक बात का होना आवश्यक है—या तो पटल पीछे हट जाय, या ताल आगे बढे, या कोई ऐसी तरकीब हो जिससे ताल के केन्द्रीभूत करने की शक्ति बढ जाय और किरणे अधिक टेढी होकर ठीक पर्दे पर आ पडे। पहली दो बाते तो ऑख मे हो ही नहीं सकती, किन्तु ताल का उभार बढ सकता है, जैसा ऊपर हम बतला चुके हैं। इस तरह उसके उभार को घटा और बढाकर हम दूर और पास की चीज ठीक ठीक देख सकते हैं।

नेत्र-गोलक को घुमाने-फिरानेवाली मांस-पेशियाँ
ऑख को ऊपर, नीचे, इधर, उधर मोडने के लिए चार सीधी मांस-पेशियाँ होती हैं, जो गोले के बाहरी ओर से खोपडी की हड्डी मे लगी रहती हैं। दो तिरछी मांस-पेशियाँ होती हैं जिनसे ऑख इधर-उधर घूमती है। कटावदार रेखाओ से पेशियों की ओर संकेत किया गया है।

दिखाई पडनेवाली वस्तुएँ ऑखों से भिन्न-भिन्न दूरी पर रहती हैं। हम सदा दृष्टि बदलते रहते हैं। कभी पास की चीज़ कभी दूर की, कभी और भी दूर की और फिर फौरन पास की चीज पर हम निगाह डालते हैं तथा ताल और अन्तरीय पटल के बीच की दूरी एक-सी रहते हुए भी निकट और दूर की वस्तुओ को एक-सा देखते हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न दूरी की चीज़ों को देखने के लिए ऑख के ताल को अपनी मोटाई बदलनी पडती है। इस शक्ति को 'सयोजक शक्ति' कहते हैं। साधारणतः मनुष्य की ऑख दूर की चीज़ देखने के लिए केन्द्रीभूत की हुई है। अतः दूर की वस्तुओं को देखने के लिए उसको सयोजन की विशेष आवश्यकता नही होती, लेकिन जब २० फीट से कम दूर की वस्तुओ को देखना पडता है तो हमे रोम-पेशियो को सिकोडकर ताल का उन्नतोदरत्व बढाना पडता है। रोम-पेशियो के सिकुडने से मध्य पटल आगे की ओर खिंचता है और उससे लगे हुए ताल का बन्धन ढीला पड जाता है, जिसके कारण ताल आगे की ओर और भी उभर आता है। जितने ही पास की चीज़ देखी जाती है उतना ही रोम-पेशियों को सिकुडना पडता है और ताल का पीछेवाला बन्धन ढीला पडता है, जिससे वह आवश्यकतानुसार आगे को उभर आए। यही कारण है कि बहुत नजदीक से लिखने और पढने मे ऑखों पर बहुत ज़ोर पडता है, जिससे वे कमज़ोर हो जाती है। इतना ही नही, ऑख का प्रयोग लगातार नजदीक की ही चीजो पर करने से तथा रोम-पेशियो के लगावो पर बराबर खिंचाव पडने से सारे नेत्र-गोलक का आकार परिवर्तित हो जाता है। उसकी लम्बाई पीछे से आगे को बढ जाती है और ऑख नज़दीक की ही वस्तुओं को देखने के अधिक योग्य हो जाती है। तब हमे दूर की चीज़ो को देखने के लिए चश्मा लगाना पडता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रकृति ने हमारी ऑखे कमरो मे ही बन्द रहने और सदा किताबे पढते रहने के लिए नही बनाई हैं, बल्कि खुले मैदानों मे रहने तथा दूर की चीजो—आसमान, चॉद, सितारो—को ही देखने के योग्य वे बनाई गई हैं। नजदीक की चीज़े देखने मे ऑखो पर ज़ोर पडता है और दूर की चीजे देखने से उन्हे आराम मिलता है।

दृष्टि-दोष

साधारण ऑख मे दूर की चीज़ो की छाया ठीक अन्तरीय पटल पर पडती है, लेकिन नेत्र-गोलक, ताल और कनिका ऐसी शक्ल और डील के हो सकते हैं कि परछाँही ठीक अन्तरीय पटल पर न पडे। इस तरह की तीन ख़रा-

मल्लाहों को, जिन्हें जहाज़ों की छत पर चन्द्रमा की पूर्ण ज्योति में सोना पड़ता है, कभी-कभी 'चाँदनी का अंधापन' हो जाता है। कहा जाता है कि रतौंधी में भी किसी अत्यन्त तेज़ खुजली या खरोचन की वजह से दृष्टि-पटल की सचेतनता में अन्तर आ जाता है। आँख पर बहुत समय तक लगातार तेज़ रोशनी का पड़ना तथा नाड़ी-संस्थान का निर्बल हो जाना भी उसके कारण हैं।

दो आँखें होते हुए भी चीज़ एक ही क्यों दिखाई देती है?

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो दोनों ही आँखों से देखते हैं, लेकिन फिर भी वस्तु एक ही दिखाई देती है। यह प्रश्न उठता है कि दोनों आँखों में जो दो अलग-अलग प्रतिबिम्ब बनते हैं वे मस्तिष्क में जाकर एक ही कैसे हो जाते हैं। इसके कई कारण हैं। प्रत्येक अक्ष बाहर से ६ मांस-पेशियों द्वारा वश में रक्खा जाता है। इनमें से चार सीधी और दो तिरछी होती हैं। सीधी पेशियों में से एक ऊपर, एक नीचे और एक-एक दोनों ओर बग़ल में होती हैं। इनके संकोच से आँख का गोलक ऊपर, नीचे, भीतर और बाहर की ओर घूमता है। तिरछी पेशियाँ (दे० पृ० १४७६ का चित्र) मुड़ी रहती हैं और जब वे सिकुड़ती हैं तो नेत्र-गोलक इधर-उधर उनकी ओर तिरछा घूम जाता है। ये पेशियाँ एक दूसरे के साथ मिलकर और कभी अलग-अलग नेत्र-गोलकों को प्रत्येक दिशा में घूमने में सहायता देती हैं। उन्हीं के कारण आँख सुविधापूर्वक घूम जाती है। अतः जब हम कोई चीज़ देखते हैं तो दोनों आँखों की दृष्टि एक ही सीध में पड़ती है और उसकी प्रतिमूर्ति दोनों आँखों के अन्तरीय पटल पर एक समान बनती है। दोनों आँखों की पेशियाँ एक साथ—क़ायदे के अनुसार—काम करती हैं, जिससे दोनों के दृष्टि-पटलों में एक ही तरह संगति-भाग पर ही परछाईं पड़ती है और वस्तु साफ
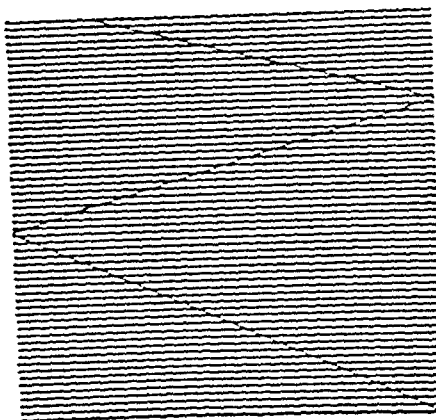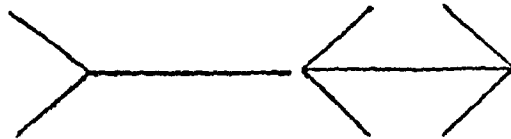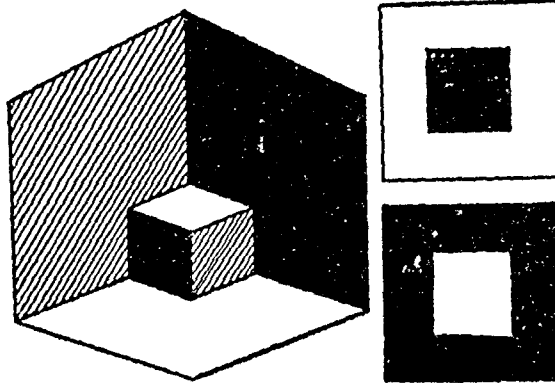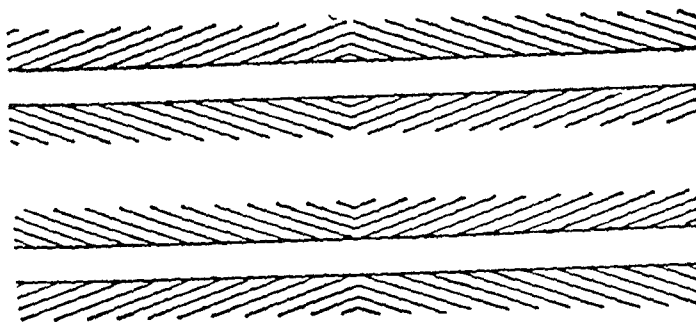
इन चित्रों को देखिए कि आपके नेत्र और दृष्टि-केन्द्र आपको किस प्रकार धोखा देते हैं। सबसे ऊपर की दोनों रेखाएँ समानान्तर हैं, किन्तु क्या आपको एक में दोनों रेखाओं के बीच का अन्तर बीच में कम और किनारों की ओर अधिक नहीं जान पड़ता और दूसरी में इसका उलटा? बीच के षट्कोण को घुमा-फिराकर देखने से नई-नई बातें दिखती हैं। कभी ठोस चीज़ का एक कोना कटा हुआ प्रतीत होता है, कभी लगता है कि दो पर्दों के बीच में एक छोटा चौकोर टुकड़ा रक्खा हुआ है, कभी जान पड़ता है कि बड़े चौकोर टुकड़े के कोने में एक छोटा टुकड़ा लगा हुआ है। दाहिनी ओर बीच में काले और सफ़ेद समचतुर्भुज बराबर होते हुए भी छोटे-बड़े लगते हैं। उसके नीचे दोनों सीधी रेखाएँ बराबर हैं, लेकिन बाईं बड़ी और दाहिनी छोटी दिखलाई दे रही है। सबसे नीचे समानान्तर रेखाओं को काटनेवाली तिरछी रेखा को क्या आप लहरदार के बजाय सीधी मानेंगे?

साफ तथा एक ही दिखलाई पडती है। अपनी आँख को एक उँगली से एक ओर को दबाकर किसी चीज को देखिए । वह चीज या सभी वस्तुएँ, जिन पर आपकी दृष्टि जायगी, दोहरी दिखलाई देगी। उँगली हटा लेने पर फिर एक की एक ही नजर आने लगेगी। कुछ लोगों की दोनो आँखो की पेशियो की लम्बाई, स्थान और बल मे इतना अन्तर आ जाता है कि वे दोनो आँखों को एक साथ किसी चीज पर नही डाल सकते। आँख मे भौड़ापन इसी कारण से होता है। कुछ लोगों मे एक आँख जन्म से ही हटी रहती है और उन्हे चीजे दोहरी दिखलाई देती हैं। कभी-कभी आँख-सम्बन्धी किसी पेशी को लकवा मार जाने से भी यह बात हो जाती है।

दूसरी रीति जो हमे दोनो आँखों की दृष्टि एक ही करने मे सहायता करती है दृष्टि-स्नायु के नाडी-सूत्रों का एक अनूठा प्रबन्ध है। आँखों से मस्तिष्क के रास्ते मे दोनों दृष्टि-स्नायु एक जगह एक-दूसरे से मिल जाते हैं और इस जगह दाहिनी आँख के कुछ सूत्र पार करके मस्तिष्क के बायी ओर और बायी आँख के दाहिनी ओर चले जाते हैं। ऐसा प्रबन्ध रहता है कि प्रत्येक आँख के दाहिने आधे सूत्र मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र के दाहिने आधे भाग मे जाते हैं और बाये आधे सूत्र दृष्टि-केन्द्र की बाईं ओर । इसलिए मस्तिष्क के दोनों बगल दो भाग मे प्रतिबिम्ब पड़ता है और चूँकि प्रतिबिम्ब बिल्कुल एक-सॉ होते हैं, इसलिए दृष्टि मे कोई भी गडबडी नही होने पाती। दो आँखों से देखे जाने के कारण ही वस्तु का आकार-प्रकार और उसके ठोस होने का ठीक अनुमान हमको होता है। दोनो आँखों पर पडनेवाली छाया बिलकुल एक-सी ही नही होती, क्योंकि प्रत्येक आँख वस्तु को किसी क़दर भिन्न दृष्टिकोण से देखती है। इन दोनों परछाईयों की—जो नाममात्र के लिए एक-दूसरे से विभिन्नता रखती हैं—हमको साथ-साथ चेतना होती है। परिणाम यह होता है कि हमारे ऊपर एक विशेष प्रभाव पडता है, जिससे पदार्थ की ऊँचाई-नीचाई और ठोसपन का बोध होता है।

चीजों की दूरी, आकार-प्रकार, ऊँचाई-नीचाई का अन्दाज करने की शक्ति मनुष्य मे धीरे-धीरे अनुभव से ही आती है। निस्सन्देह हमको इन सब बातों का अन्दाज लगाना सीखने से ही आता है। यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी इन विषयो पर हम कभी-कभी बिलकुल पक्का निश्चय नही कर पाते। हमे अक्सर ही आँख का धोखा हो जाता है। पिछले पृष्ठ पर दिए गए चित्र मे देखिए कि आपकी आँख आपको किस प्रकार धोखा देती है! उक्त चित्र मे सबसे ऊपर अंकित रेखाएँ समानान्तर हैं, किंतु क्या आपको वे रेखाएँ असमानान्तर नही जान पडती? यह क्यों? क्या यह हमारा दृष्टि-भ्रम ही नहीं है? इसी प्रकार के और भी विभिन्न प्रकार के दृष्टिभ्रम हमे नित्य प्रति होते रहते हैं। वास्तव मे इस प्रकार का दृष्टिभ्रम हमारी आँखो की किसी प्रकार की खराबी को सूचित नही करता, बल्कि उस विडम्बना के ही कारण ऐसा होता है जो किसी विशेष परिस्थिति मे किसी वस्तु को देखने से हमे हो सकती है। एक जन्म से अन्धे, मोतियाबिन्द के रोगी के विषय में लिखा है कि जब एक डाक्टर ने चीरा लगाकर उसकी दृष्टि ठीक कर दी तो उसको ऐसा प्रतीत होता था कि जो चीज वह देख रहा है वह उसकी आँखों से छू जाती है। धीरे-धीरे उसकी अन्य ज्ञानेन्द्रियों ने उसके इस भ्रम को दूर कर दिया। जब उसने अपना हाथ बढाया तो विदित हुआ कि वह पदार्थ उससे दूर है और उसको उस तक पहुँचने के लिए वहाँ तक चलना पडेगा, इत्यादि-इत्यादि। इस प्रकार उसने अपनी अन्य ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्य रीतियों से चीजो की दूरी का आँख से अन्दाज लगाना धीरे-धीरे सीख लिया।

आँखों का महत्त्व और उनको स्वस्थ रखने की आवश्यकता

क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि नेत्रों की सुकुमार रचना का ख्याल रखते हुए तथा यह जानते हुए कि दृष्टि मे तनिक-सी भी त्रुटि आ जाने पर हमारे कार्यों मे कैसी बाधा पडती है, जनता इस अमूल्य अवयव की रक्षा के विषय मे कैसी लापरवाह है! सभी को अपनी आँखों को चोट से बचाने, उन पर जोर न पडने देने और उनको बीमारियों से बचाने का सदा ध्यान रखना चाहिए। बाल्यावस्था से ही आँखों की सफाई और उनका उचित उपयोग का ध्यान रहना चाहिए। बच्चो की आँखों पर तेज रोशनी न पड़नी चाहिए और उन्हें देर तक आग या चमकदार चीजे भी न देखने देना चाहिए। पढनेवाले बच्चों के लिए यह आवश्यक है कि वे बहुत तेज या मद रोशनी मे न पढे। उनके लिए लेटकर तथा चलती हुई सवारी मे भी पढना हानिकारक है। सीने-पिरोने या पढने मे बराबर पलक मारते रहना चाहिए, जिससे आँख को आराम मिलता रहे। पढने या सीने की चीज आँखों से डेढ फुट दूर रखना चाहिए और रोशनी का प्रबन्ध ऐसा हो कि वह ऊपर बाईं ओर से आकर कागज या कपडे पर पडे।

बैंक और बैंक-प्रणाली का विकास

सिक्के के इतिहास के सम्बन्ध मे 'बैंक' नाम की सस्था का परिचय दिया गया था। बैंक द्वारा ही सिक्के के चलन मे सुविधा तथा कम ख़र्च होने की युक्ति की गई है। बैंक का काग़ज़ी सिक्का, जिसे नोट कहते हैं, तथा बैंक की साख पर निर्भर व्यक्ति द्वारा सचालित पत्र, जिसे चेक तथा हुण्डी कहते है, हमारे व्यापारिक ससार मे बडी महत्त्वपूर्ण चीजे हैं। इस लेख मे बैंकों के विकास तथा आज की आर्थिक व्यवस्था मे उनके महत्त्वपूर्ण स्थान की कहानी हम सुनाने जा रहे हैं।

आर्थिक उन्नति के आदिकाल मे मनुष्य आज-जैसा दूरदर्शी नही था। प्रति दिन भोजन की तलाश मे जाना और पेट भर भोजन पाने पर सन्तुष्ट होकर विश्राम करना ही उसके आर्थिक जीवन का ध्येय था। दिन प्रतिदिन पर्याप्त भोजन मिलने की अनिश्चितता ने मनुष्य को बचे हुए भोजन का सचय करने का पाठ पढाया। इसके साथ ही मनुष्य ने भोजन प्राप्त करने मे शरीर के अतिरिक्त औज़ारो से सहायता लेना भी प्रारम्भ किया। भोजन बचाकर रखने और औज़ारो से सहायता लेने मे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। भोजन तब ही बचाया जा सकता है जब वह आवश्यकता से अधिक हो। प्रकृति द्वारा प्राप्त शरीर से साधारण परिश्रम द्वारा बडी मात्रा में भोजन एकत्रित नही हो पाता था। उदाहरण के लिए, केवल दौडकर हाथ से पशुओं को पकडकर बन्दी करने से बहुत कम संख्या मे पशु पकडे जा सकते हैं। इसके विपरीत धनुष-बाण द्वारा अथवा बन्दूक़ द्वारा कितने ही पशु एक दिन मे मारे जा सकते हैं। खेती के उद्यम मे हाथ अथवा नाख़ून से पृथ्वी खोदना दुष्कर था। इसके लिए हल से काम लेना पडा। कुछ समय तक तो मनुष्य को अपने काम के औजार स्वय बनाने पडे, परन्तु बहुत शीघ्र ही समाज की व्यवस्था ऐसी बनी कि पृथक्-पृथक् मनुष्य-समूहो ने विशेष वस्तुएँ बनाने मे निपुणता प्राप्त की और पदार्थ-विनिमय के द्वारा औजार तथा सामग्री की बदली होने लगी। इसका वर्णन विस्तारपूर्वक पिछले लेखो मे दिया जा चुका है। क्रमशः पदार्थ-विनिमय की प्रथा का स्थान सिक्के द्वारा विनिमय ने ले लिया। पिछले लेख मे इसी कहानी का वर्णन किया गया था। इस अवस्था मे मनुष्य भोजन तथा सामग्री का सचय करने के बजाय धन एकत्रित करने लगे, जिसके द्वारा किसी भविष्यकाल मे वे भोजन अथवा कोई भी वाञ्छित पदार्थ मोल ले सकते थे, और इस प्रकार सचित धन उन मनुष्यो अथवा उनके परिवार की निजी सम्पत्ति समझा जाने लगा।

धन सचय करने के बाद सचित धन की रक्षा का प्रश्न उठा। दूसरे मनुष्य सचित धन छीन न लें, इसलिए उसकी रक्षा का प्रबन्ध आवश्यक हुआ। आज-जैसी जटिल तथा दृढ राष्ट्र-शक्ति का उन दिनो मे अभाव था। छोटे-छोटे राज्य, मनुष्यो के सगठित समूह अथवा बलवान् तथा प्रभावशाली पुरुष ही शान्तिस्थापन, सम्पत्तिरक्षा तथा नियमित सामाजिक जीवन के स्तम्भ थे। छोटे-छोटे गॉवों मे चिर सचित थोडा-थोड़ा धन या तो मनुष्य पृथ्वी माता की गोद मे छिपा देते थे, जिससे चोर तथा डाकू को उसका पता न चले, या गॉव के बलवान् तथा विश्वासपात्र सज्जन के पास धरोहर-स्वरूप रख देते थे। बडे-बडे शहरो से दूर गॉवो मे आज भी यह प्रथा ठीक पुराने समय-जैसी ही पाई जाती है। धरोहर रखनेवाले व्यक्ति पर उसकी रक्षा का भार होता था और उसे महाजन, साहूकार इत्यादि के नाम से पुकारते थे। इस रक्षा-भार के उपलक्ष मे महाजन को धरोहर की मात्रा का एक अश पुरस्कार-स्वरूप दिया जाता था। बहुत पुराने काल मे महाजन प्रत्येक व्यक्ति के धन को रखने के लिए एक मिट्टी का बर्तन (घडा) तथा कोई विशेष पात्र बना लेता था। आया हुआ धन उसी मे रखता और उसी से निकालकर आवश्यकता पडने पर उसे वापस कर देता था। सारा व्यापार केवल विश्वास और महाजन की

धर्मपरायणता पर ही निर्भर था। न लिखा-पढ़ी थी और न विशेष हिसाब-किताब। इस प्रकार प्रत्येक गाँव मे एक-एक दो-दो व्यक्ति ऐसे हो गए थे, जिनके पास बाक़ी लोग अपना धन रख देते थे। महाजनगण अथवा महाजनवर्ग की उत्पत्ति का यही श्रीगणेश है। इस प्रकार के कार्य को 'महाजनी' के नाम से पुकारा गया। क्रमशः इस वर्ग का विकास हुआ और महाजनी परिवार बनने लगे, जिनका कार्य केवल धरोहर रखना और धन-सम्पत्ति का लेन देन था। कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर महाजन निजी सम्पत्ति से लोगों को धन उधार भी दे देते थे, और उसके बदले मे वे सूद लेते थे जिसे धन के उधार देने का किराया कह सकते हैं। इस प्रकार मनुष्यों में एक वर्ग ऐसा बना, जिसकी जीविका धरोहर की रक्षा द्वारा प्राप्त पुरस्कार पर निर्भर थी। कहीं-कहीं कई परिवारों का जीवन इसी कार्य पर निर्भर था और ऐसी दशा मे उन परिवारों मे रुपया रखने मे प्रतिद्वन्द्विता के भाव का उदय हुआ। प्रत्येक परिवार अधिक-से अधिक धन रखने की चेष्टा करने लगा। धन आकर्षित करने के लिए उन्होंने धरोहर रखनेवालों को प्रलोभन देना प्रारम्भ किया। पहले तो इस प्रलोभन का रूप धरोहर रखने के पुरस्कार की कमी तक ही सीमित रहा। परन्तु प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने पर धरोहर रखने के पुरस्कार की जगह महाजनों ने धरोहर रखानेवालों को कुछ धन देने का भी प्रलोभन देना शुरू किया। इस प्रकार धरोहर की रक़म पर सूद देने की प्रथा प्रारम्भ हुई, जो आज तक प्रचलित है। धरोहर रखने मे महाजन की साख तथा मान-मर्यादा विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि इनका धरोहर के सुरक्षित रहने से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए बड़े-बड़े महाजनों को धरोहर का रुपया कम सूद पर अथवा बिना सूद के ही मिल जाता था। यही कारण है कि आज भी बैंकों के सूद के दर भिन्न-भिन्न हैं। बड़े-बड़े बैंकों मे बिना सूद के भी काफी रुपया जमा होता है और छोटे अथवा नये बैंक अधिक सूद देने पर भी उतना धन नहीं आकर्षित कर पाते। सूद देने की प्रथा के बाद यह आवश्यक हुआ कि महाजन इस धरोहर के धन से इतना अधिक रुपया पैदा कर ले कि वह धरोहरवाले को निश्चित सूद देने के बाद भी कुछ निजी लाभ पा सके। इस प्रकार महाजनों ने धरोहर के रुपए को सुरक्षित स्थान में रखने की अपेक्षा व्यापार मे लगाना आरम्भ किया और इस प्रकार लगाये हुए धन से सूद देकर निजी आय का सम्बन्ध स्थापित किया। कहीं तो महाजन स्वयं व्यापार करते थे, जैसा कि आजकल भी भारतवर्ष के ग्रामों में पाया जाता है। यहाँ ग्राम का व्यापारी रुपए का लेन-देन, वाणिज्य-व्यापार तथा धरोहर का काम करता है। लेकिन बहुत-से महाजनों ने व्यापार स्वयं न करके अन्य व्यापारियों तथा व्यक्तियों को धन उधार देने का कार्य किया और इस उधार दिए हुए धन पर उनसे उनकी साख तथा धन नष्ट होने के भय को ध्यान मे रखते हुए सूद लेना निश्चय किया। इस प्रकार धरोहर लेना तथा उधार देना महाजनों का मुख्य कार्य हुआ। इसी कार्य को करनेवाली संस्थाएँ आज 'बैंक' कहलाती हैं। क्रमशः बैंकों ने व्यापार-वृद्धि के लिए अन्य प्रकार की सुविधाएँ देने की भी चेष्टा की।

धरोहर का रुपया उधार देने के सम्बन्ध मे कुछ बातें विशेष महत्त्वपूर्ण थीं। पहली यह कि धरोहर दो प्रकार की होती हैं—एक तो निश्चित काल के लिए और दूसरी अनिश्चित काल की। पहले प्रकार की धरोहर का रुपया धरोहर रखानेवाला केवल निश्चित समय के बाद ही और कुछ समय पूर्व सूचना देने पर भी वापस ले सकता है। इनको बैंक 'स्थिर धरोहर' (fixed deposit) कहते हैं। इन पर सूद का दर अधिक इसलिए होता है कि बैंक को इस धरोहर के फेरने की चिन्ता निश्चित काल के भीतर नहीं रहती और इस प्रकार यह रुपया उस समय तक के लिए किसी व्यापार मे लगाया जा सकता है। दूसरी प्रकार की धरोहर अनिश्चित काल के लिए होती है। इसमे धरोहर का रुपया किसी समय भी बिना सूचना के निकाला जा सकता है। आजकल के नियमानुसार यदि कोई बैंक इस प्रकार की धरोहर का रुपया माँगने के समय न दे सके तो वह बैंक दिवालिया हो जाता है और फिर उसको अपना व्यापार स्थगित करना पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक है कि बैंक अथवा महाजन अपने पास इतना रुपया अवश्य रखे जिससे इस प्रकार की अनिश्चित धरोहर की माँग पूरी हो सके। इसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार की धरोहर का केवल एक भाग ही व्यापार मे लगाया जा सकता है, जिससे धन पैदा हो सके। परन्तु सूद पूरी रक़म पर ही देना होता है। यही कारण है कि बैंक ऐसी रक़म पर जो 'चालू हिसाब' (current account) कहलाता है, या तो सूद देते ही नहीं और यदि देते हैं तो बहुत छोटी दर से। अनिश्चित काल की धरोहर की वापसी के लिए पर्याप्त धन की मात्रा का निश्चय करना बड़े निपुण महाजनों का कार्य है। आजकल के महाजनी व्यापार का आधार इसी पर है।

महाजनों ने इन धरोहरों के आधार पर एक और नये प्रकार का कार्य प्रारम्भ किया। धरोहर रखनेवालों को एक

स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने की सुविधा भी बैंक तथा महाजनों ने दी। इसका व्यौरा इस प्रकार है। पहले यदि किसी धरोहर रखनेवाले को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजना होता तो महाजन अपने किसी परिचित महाजन अथवा अपने सम्बन्धी को एक पत्र लिख देता कि वह उसकी ओर से निर्दिष्ट धन चिट्ठी ले जानेवाले को दे दे। इस चिट्ठी को धरोहर रखनेवाला दूसरे स्थान मे इच्छित व्यक्ति को भेज देता और वह रुपया ले लेता था। इस सुविधा के प्रचलित होने के बाद बड़े-बड़े महाजन बेनामी पत्र भी लिखने लगे, जिसे कोई भी दूसरा महाजन, जिसे लिखनेवाले महाजन पर विश्वास हो, रुपया दे देता था। इन महाजनों का परस्पर हिसाब किसी निश्चित तिथि पर चुकता हो जाता था। इसको 'हुण्डी देना' कहते हैं। इसके ही आधार पर आजकल के बैंकों ने "नोट" चलाए, जिनके द्वारा धातु का रुपया कम होने पर भी केवल बैंक के विश्वास के आधार पर करोड़ों रुपए का लेन-देन केवल नोट द्वारा होता है। अगणित बैंकों द्वारा चलाए गए नोटों मे भय होने से यह अच्छा समझा गया कि सर्वसम्मति से राष्ट्र अथवा देश का सबसे बड़ा बैंक ही नोट छापे और सरकारी घोषणा द्वारा उसे मानने के लिए जन-साधारण बाध्य किये जायँ। भारतवर्ष मे यह काम बहुत समय तक राष्ट्र ने किया, परन्तु १९३५ से नोट छापने का काम 'रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया' करता है।

बैंकों के विस्तार मे एक महत्त्वपूर्ण बात और भी हुई कि कई महाजनों ने अपना रुपया मिलाकर सामूहिक रूप से महाजनी का कार्य प्रारम्भ किया। इस प्रकार की सस्थाओं की साख व्यक्तिगत महाजनों से कही अधिक थी और इनके अधीनस्थ धन की मात्रा अधिक होने से ऐसी सस्थाएँ कम सूद पर रुपया जमा कर लेती थीं। कुछ काल के बाद महाजनों की और भी जटिल सस्थाएँ स्थापित हुई, जो जन-साधारण से रुपया पूँजी के रूप मे लेकर "सम्मिलित पूँजी" (Joint Stock) के आधार पर पूँजी संग्रह करने लगीं। इन्हे 'ज्वाइट स्टॉक बैंक' कहते हैं। इस प्रकार एकत्रित किया हुआ धन भिन्न-भिन्न उद्योगो मे लगाने से बैंकों के नाम उद्योगसूचक होने लगे, जैसे खेती का बैंक (Agricultural Bank), अर्थात् वह बैंक जो किसानों और ज़मींदारों को खेती के लिए रुपया उधार दे; औद्योगिक बैंक (Industrial Bank) जो उद्योग में सलग्न व्यापारियों को रुपया उधार दे और अन्य युक्तियों से उद्योग को सहायता दे। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन साधारण देश के अन्दर रुपया भेजने की अपेक्षा अधिक कठिन है और उसमें भिन्न-भिन्न देशों के सिक्के का पारस्परिक दर इत्यादि के प्रश्न उठ पड़ते हैं। इस प्रकार के व्यापार को 'अन्तर्राष्ट्रीय सकलन' (Foreign Exchange) कहते हैं और इस कार्य को करनेवाले बैंक सकलन बैंक (Exchange Bank) कहलाते हैं। इन विशेषताओं के साथ-साथ साधारण रुपया जमा करने और उधार देने का प्रमुख कार्य तो सब बैंक करते ही हैं।

किसी देश के निवासियों का चिरसचित धन सुरक्षित रखने का कार्य करने से बैंको का उत्तरदायित्व अन्य औद्योगिक सस्थाओं से कही अधिक है। बैंक के दिवालिया हो जाने से सहस्रों धरोहरवालों का सर्वनाश हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक हुआ कि राष्ट्र इन सस्थाओं के लिए नियम बनाये, जिससे अविश्वासपात्र व्यक्ति ऐसा कार्य न करने पाएँ और योग्यता की कमी से विश्वासपात्र व्यक्ति त्रुटि न करे। इन बातों को ध्यान मे रखते हुए राष्ट्र ने बैंक-सचालन के नियम बनाए हैं, जिनका उल्लघन करने से दण्ड दिया जाता है। भारतवर्ष मे भी वर्तमान नियमों के अतिरिक्त एक नया बैंक-विधान केन्द्रीय ऐसेम्बली मे पेश है। इसके पूर्व १९३४ के 'रिज़र्व बैंक ऐक्ट' नाम के विधान मे भी सर्वसाधारण बैंकों पर निषेध लगाये गए हैं, जिनके द्वारा प्रत्येक बैंक को अपनी पूर्ण धरोहर का एक अश रिज़र्व बैंक मे रखना पडता है, जो एकाएक धरोहर की माँग होने के समय बैंक को दिवालिया होने से बचाता है। यह रिज़र्व बैंक अन्य बैंकों का बैंक है। जैसे व्यक्ति अपनी धरोहर किसी एक बैंक मे धराते हैं, उसी प्रकार अन्य बैंक अपनी धरोहर रिज़र्व बैंक के पास रखाते हैं। यही रिज़र्व बैंक, अन्य बैंकों के पारस्परिक लेन-देन तथा हुण्डी, चेक इत्यादि के रुपये का व्यौरा चुकाने के लिए 'व्यौरा चुकान-गृह' (Cleaning House) का प्रबन्ध करता है; अन्य बैंको के पालन के निमित्त नियम बनाना तथा आदेश देना भी इसी बैंक का कर्त्तव्य है। इस प्रकार की आयोजना को केन्द्रीय बैंकिङ्ग (Central Banking) कहते हैं। देश के बैंकों का निरीक्षण तथा संरक्षण केन्द्रीय बैंक के अधीन होता है।

केन्द्रीय बैंक का महत्व इसलिए और भी है कि वह अन्य बैंकों को रुपया उधार देता है। यह बतलाया जा चुका है कि बैंक धरोहर के रूप में जमा किया हुआ रुपया दूसरे व्यक्तियों को उधार दे देते हैं। इस प्रकार धरोहर के रुपये की जगह उनके पास क़र्ज़ा लेनेवालों के कर-

बन्धक-पत्र (Pronotes) इत्यादि आ जाते हैं। सुरक्षित कर्ज में कर्ज लेनेवाला अपनी सम्पत्ति को बैंक के अधीन बन्धक (Mortgage) कर देता है, जिसका तात्पर्य यह है कि यदि कर्जदार अपना ऋण समयानुसार न चुका सके तो बैंक उस सम्पत्ति को बेचकर अपना पैसा पूरा कर ले। व्यापारीगण व्यापारिक वस्तुओं अथवा उत्पादित पदार्थ (Manufactured Goods) के आधार पर ऋण लेते हैं। इन पत्रों का महत्त्व यह है कि बैंक को यदि अधिक धन की आवश्यकता हो तो वह इन पत्रों के आधार पर केन्द्रीय बैंक से रुपया उधार ले सकता है। इस प्रकार निजी धन से कहीं अधिक मात्रा में बैंक रुपए का लेन-देन कर सकता है। साधारणतया तो इस क्रम में कोई विशेषता नहीं, क्योंकि पर्याप्त धन होने से बैंक अथवा केन्द्रीय बैंक को रुपया उधार देने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। परन्तु प्रत्येक देश की व्यापारिक दुनिया में कई अवसर ऐसे आ जाते हैं जब मुद्रित धन से अधिक धन की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष में ऐसा अवसर शरद् ऋतु में आता है जब किसान को रुपये की आवश्यकता होती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए भी धन की आवश्यकता होती है। ऐसे समय में केन्द्रीय बैंक की अनुपस्थिति में रुपए की माँग अधिक और मुद्रित धन कम होने से बैंक के उधार देने के सूद-दर में वृद्धि होने का भय है। बैंक का सूद-दर बढ़ना व्यापारिक तथा औद्योगिक उन्नति के लिए हानिकारक होता है, क्योंकि धन महँगा हो जाने से उत्पादित पदार्थ का मूल्य भी बढ़ जायगा। व्यापारी तो पदार्थ को पूर्ण खर्च निकालने के बाद कुछ लाभ पर ही बेचेगा। पदार्थ महँगे होने से व्यापार में शिथिलता होने का भय है। ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक व्यापार-रक्षा के लिए निर्दिष्ट मात्रा में नये नोट छापता है, जिनका आधार धातु न होकर केवल व्यापारिक पत्र होते हैं। इस क्रम को हम इस प्रकार समझ सकते हैं। साधारण बैंकों ने अपना सञ्चित धन व्यापारियों को दे दिया और उसके बदले में उनके लिखित व्यापारिक ऋण-पत्र ले लिये। इन ऋणपत्रों को वे केन्द्रीय बैंक के पास भेजकर अपने निजी उत्तरदायित्व पर बैंक से निश्चित समय के लिए रुपया उधार ले लेते हैं। बैंक के पास यदि पर्याप्त मात्रा में मुद्रित धन न हुआ तो बैंक नये नोट छापकर दे देता है। इस प्रकार धातु के सिक्के और कागज का रुपया मिलाकर व्यापार का कार्य चल जाता है और पदार्थों का विनिमय-मूल्य बढ़ने नहीं पाता। पदार्थ का मूल्य बढ़ना देश की समस्त आर्थिक दशा पर प्रभाव डालता है। मजदूरों का रहन-सहन का खर्च बढ़ जाता है। बाहरी देशवाले महँगा माल मोल नहीं लेंगे। व्यापारी का व्यापार स्थगित होने लगता है। उत्पादन की तीव्रता घटानी पड़ती है। अन्य देश ऐसे समय में अपना बनाया हुआ माल बेचने को भेजते हैं, जो स्वदेशी माल से सस्ता पड़ जाता है। इस प्रकार देश के कल-कारखानों को हानि पहुँचती है। इसका परिणाम यह होता है कि अपने देश का माल बाहर न जाने से और दूसरे देशों का माल स्वदेश में अधिक मात्रा में आने से अपने देश का धन दूसरे देश को चला जाता है। पदार्थ-विनिमय की कमी को सोना-चाँदी देकर पूरा करना पड़ता है। बहुमूल्य धातुओं का समुचित कोष न रहने से देश की आर्थिक स्थिति दुर्बल हो जाती है। सारांश यह कि देश आर्थिक संकट की ओर खिंचने लगता है। ऐसी दशा को बचाने के लिए केन्द्रीय बैंक नोट द्वारा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रक्षा का कार्य करता है। इसको अँगरेजी में वस्तुमूल्य की स्थिरता (Stability of Price-level) बनाए रखना कहते हैं।

जिस प्रकार देश के भीतर सिक्के का विनिमय-मूल्य स्थिर रखना देश के भिन्न-भिन्न आर्थिक वर्गों के हित तथा देश की आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार सिक्के का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य भी स्थिर रखना आवश्यक है। देश के भीतर सिक्के का विनिमय-मूल्य घटने अथवा बढ़ने से पदार्थों का मूल्य भी बढ़ अथवा घट जाता है। पदार्थों के मूल्य का घटना-बढ़ना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भारी प्रभाव डालता है। यदि पदार्थ महँगे हो गए तो उनका निर्यात (export) स्वभावतः कम हो जायगा। यही नहीं, वरन् अन्य देशों का बना हुआ माल स्वदेशी पदार्थों की अपेक्षा बाजार में सस्ता हो जायगा और इसके फलस्वरूप आयात (import) की मात्रा बढ़ेगी। किसी देश के सिक्के का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य, राष्ट्र का विशेष हस्तक्षेप न होने पर अथवा यों कहिए कि केवल आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर, आयात-निर्यात के अधीनस्थ घटता बढ़ता रहता है। यदि आयात निर्यात से अधिक है तो हमारे व्यापारियों को दूसरे देश के सिक्कों के खरीदने की अधिक आवश्यकता होगी, जिसका परिणाम यह होगा कि हमें पूर्व विनिमय दर से अधिक रुपए उसी निश्चित धन के लिए देना पड़ेंगे। इस प्रकार हमारे सिक्के का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय-दर घट जाता है। इसके विपरीत देश में पदार्थ का मूल्य घटने से निर्यात बढ़ता है और इस प्रकार सिक्के की माँग अन्य देशों से ज्यादा होने पर सिक्के

का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय-दर बढ जाता है। केन्द्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात पर ध्यान रक्खे कि देश के पदार्थो का मूल्य, अन्तर्राष्ट्रीय सिक्के का विनिमय-दर इत्यादि की अस्थिरता इतनी न होने पाए कि देश के व्यापार को हानि हो। सिक्के के दर के बढने से न केवल निर्यात ही घट जाता है, वरन् आयात-निर्यात के अन्तर को सोना इत्यादि बहुमूल्य धातुएँ भेजकर पूरा करना पडता है, जिसका सरल शब्दों मे अर्थ यह है कि देश लाभ तथा परिश्रम के अतिरिक्त अपनी चिरसञ्चित पूँजी पर जीवित रह रहा है। ठीक ऐसी ही परिस्थिति भारतवर्ष के आर्थिक इतिहास मे १९३०—३५ के काल मे आ गई थी, जब हमारे देश का लगभग ३०० करोड से अधिक रुपए का सोना विदेशो को भेजना पडा था। ऐसी अवस्था को रोकने के लिए बैंक अपने सूद-दर के घटाव तथा बढाव से काम लेता है। जब केन्द्रीय बैंक यह देखता है कि देश का सोना विदेशो को जा रहा है, तब बैंक अपना सूद-दर बढा देता है, जिसका प्रभाव यह होता है कि देश मे रुपया उधार लेना महँगा हो जाता है। कारण यह है कि अन्य बैंक, जिनसे व्यापारी रुपया उधार लेते हैं, इसी केन्द्रीय बैंक से उन व्यापारियो के हस्त-पत्र के आधार पर ऋण लेते हैं। इसलिए वे बैंक केन्द्रीय बैंक के सूद-दर से कम दर पर तो रुपया दे ही नहीं सकते। वास्तव मे केन्द्रीय बैंक के सूद-दर के ऊपर अपना खर्च तथा लाभ-अश जोडने के बाद ही अन्य बैंक व्यापारियों को रुपया उधार दे सकते हैं। इस प्रकार अन्य बैंकों का दर केन्द्रीय बैंक के सूद-दर से सदैव अधिक ही होता है। बैंक-सूद-दर बढने से व्यापारी रुपया कम उधार लेते हैं, क्योंकि सूद-दर बढने से और पदार्थ-मूल्य स्थिर रहने से उनके लाभ का अश कम हो जाता है अथवा पदार्थ-मूल्य बढाने से बिक्री कम हो जाती है। दोनो का अन्तिम परिणाम व्यापारी के लाभ का घटाव ही है। इस प्रकार सिक्के की सख्या बाजार मे कम हो जाती है। यों भी कह सकते हैं कि रुपए का मूल्य बढ जाता है। अन्य शब्दों मे इसका अर्थ यह हुआ कि पदार्थों का मूल्य घट जाता है। दूसरा प्रभाव यह होता है कि अन्य देशों से सोना देश मे आने लगता है, क्योंकि सूद-दर ज्यादा होने से धन पर लाभ अच्छा होता है। इस प्रकार इधर सोने का आयात बढ जाता है और उधर सिक्के का मूल्य बढने से और पदार्थों का मूल्य घटने से पदार्थों का निर्यात बढ जाता है, जिसके फलस्वरूप भी देश मे अधिक बहुमूल्य धातु आ जाती है। देश पुनः धनवान होने लगता है। स्वर्ण तथा चाँदी का सचय साधारण समय मे तो इतना महत्वपूर्ण नही होता, लेकिन युद्ध-जैसे समय मे किसी देश की आर्थिक परिस्थिति तथा साख केवल सञ्चित स्वर्ण के ढेर पर ही निर्भर है। इन्हीं कारणो से केन्द्रीय बैंक का सूद-दर महत्त्वपूर्ण होता है तथा देश के लिए जीवन-मरण की सत्ता रखता है।

सूद दर को छोडकर पदार्थों को महँगा तथा सस्ता करने के लिए केन्द्रीय बैंक एक युक्ति और काम मे लाते हैं। वे राष्ट्र की तथा माननीय व्यापार-सस्थाओं की ऋण-हुण्डियो (securities) को खुले बाज़ार मे बेचकर प्रचलित सिक्के तथा बैंक द्वारा मुद्रित नोट को बाज़ार से घसीटकर अपने कोष मे रख लेते हैं। इससे प्रचलित सिक्के बाजार मे कम हो जाते हैं और सिक्के का मूल्य बढ जाता है, अर्थात् पदार्थ सिक्के के विनिमय रूप मे सस्ते हो जाते हैं। इसके विपरीत बैंक ऋण-हुण्डियाँ मोल लेकर प्रचलित सिक्के की मात्रा बढा भी देता है, जिससे पदार्थ विनिमय रूप से महँगे हो जाते हैं। इस प्रकार के खुले बाजार मे ऋण-हुण्डियाँ मोल लेने और बेचने को 'open market operations' कहते हैं। प्रचलित सिक्के बढाने की नीति को मुद्राप्रसार (inflation) तथा घटाने को मुद्रासकीर्णता (deflation) कहते हैं। प्रसार तथा सकीर्णता की नीति से देश के समस्त आथिक संगठन को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। यही कारण है कि केन्द्रीय बैंक की नीति की तीव्र आलोचना होती रहती है। बहुत-से देशों मे तो केन्द्रीय बैंक पर राष्ट्र का पूर्ण अधिकार होता है अथवा बैंक राज्य का ही एक अश होता है। इसमे किसी मनुष्य के व्यक्तिगत लाभ उठाने की मनादी रहती है। दूसरे देशो मे केन्द्रीय बैंक मे व्यक्ति अपने रुपया लगा सकते हैं, परन्तु उनके लाभ उठाने की मात्रा पर राष्ट्रीय रोक रहती है, जिसका अभिप्राय यह है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा जनसाधारण अथवा देश के अहित की नीति चलाकर व्यक्तिगत लाभ उठाने की चेष्टा सफलीभूत न हो सके। कुछ देशो मे केन्द्रीय बैंकों पर व्यक्तिगत तथा राष्ट्र की कडी दृष्टि रहती है और राष्ट्र केन्द्रीय बैंक के लिए नियम बना देता है।

इतिहास के आरम्भकाल के धरोहरवाले महाजनो के विकास का यह विराट् रूप है, जिसकी सीमा यहाँ तक पहुँच गई है कि हमारा समस्त आर्थिक संगठन, जिस पर देश तथा व्यक्ति का जीवन निर्भर है, इन्हीं महाजनों के पुत्रपौत्रादि के, जो बढकर केन्द्रीय बैंक तक का रूप धारण करते हैं, अधीन है। यही महाजनी प्रथा की जीवन-कहानी है।
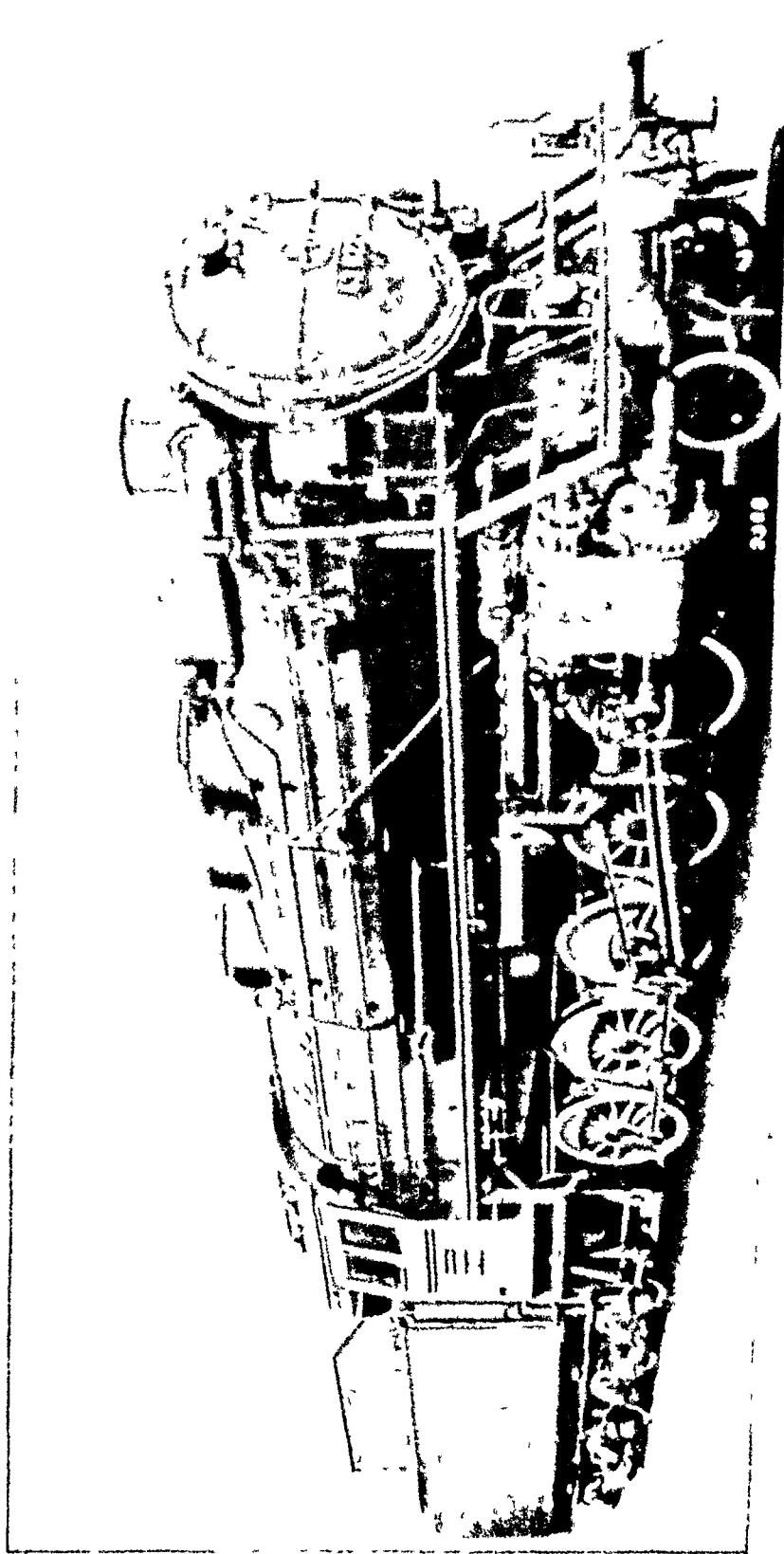
श्याम का एक भीमकाय रेल का इंजिन

इसमें ५ जोड़े चालक पहिए लगे हैं। रेल-इंजिन की भीतरी रचना और विभिन्न कल-पुर्जों की जानकारी के लिए देखिए पृष्ठ १५१२ १५१३ के मानचित्र।
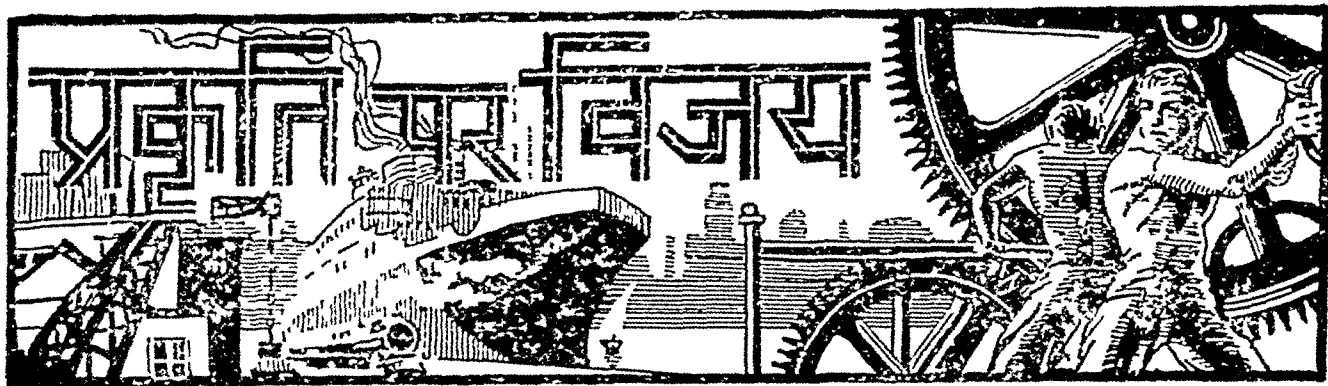
धरती पर विजय—(४) रेलवे का विकास

सड़कें, पुल और सुरंगें बनाकर आज दिन पृथ्वी पर एक भाग से दूसरे भाग को जाने के लिए स्थल-मार्ग कितने सुगम बना लिये गए हैं, इसका हाल पिछले तीन प्रकरणों में आप जान चुके हैं। इन मार्गों पर यातायात के जो मुख्य दो वाहन सबसे अधिक काम में लाये जाते हैं वे हैं रेल और मोटरकार। दोनों का आज के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आइए, इस लेख में पहले रेलवे की ही कुछ बातें आपको बताएँ।

कच्ची सड़क पर इक्का या ताँगा हाँकने में बड़ी मुश्किल पड़ती है। पक्की सड़क पर पहिए जमीन में नहीं धँसते, अतएव ऐसी सड़कों पर इक्के-ताँगे आदि तेज़ रफ्तार से आ-जा सकते हैं। किन्तु पक्की सड़कों के निर्माण में तथा निरन्तर उनकी मरम्मत करते रहने में खर्च अधिक पड़ता है। इसी कारण जब कभी कम खर्च में मोटर, इक्के और ताँगे के लिए रेत और धूल से भरी सड़क पर रास्ता बनाना होता है तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक लगभग एक फुट चौड़ी लोहे की चद्दरें सड़क पर दो समानान्तर रेखाओं में बिछा देते हैं—ताकि मोटर के पहिए रेत में न धँसकर लोहे की चद्दर पर ही चलें। इलाहाबाद में बरसात के बाद गंगा नदी पर प्रति वर्ष नावों का पुल तैयार किया जाता है। वहाँ पुल और रेती पर ऐसे ही लोहे की चद्दर के टुकड़े इस पार से उस पार तक बिछा दिये जाते हैं। ऐसा करने में खर्च भी कुछ अधिक नहीं बैठता।

इङ्गलैण्ड की खानों में लगभग १०० वर्ष पूर्व कोयला ढोनेवाली गाड़ियों के लिए एक कुशाग्र-बुद्धि व्यक्ति ने भी इसी प्रकार सड़कों पर लकड़ी के तख्ते बिछाए थे—फिर तख्ते के स्थान पर लोहे की मज़बूत चद्दरें बिछाई गईं। इन गाड़ियों को घोड़े खींचते थे, अतः गाड़ी के पहिए इन चौड़ी पटरियों से उतरकर नीचे धूल और कीचड़ में आ फँसते थे। इस दोष को दूर करने के लिए इन चद्दरों के दोनों किनारे ऊपर की ओर मुड़े हुए बनाए गए, ताकि पहिए चद्दरों पर से नीचे न उतर सकें।

कुछ काल पश्चात यह तय हुआ कि चद्दरों की जगह लोहे की ठोस सपाट पटरियाँ बिछायी जायँ और गाड़ी के पहियों का एक हाशिया बढ़ा दिया जाय ताकि वे पटरियों पर से उतर न सकें। ऐसा करने से खर्च में और भी बचत हुई।

तदुपरान्त भाप के इंजिनों और रेलगाड़ियों के विकास के साथ संसार के भिन्न-भिन्न देशों में चारों ओर रेल की पटरियों का धीरे-धीरे एक जाल-सा बिछ गया। आज तो ऊँचे-ऊँचे अभेद्य पहाड़ों में से गुजरती हुई हजारों मील लम्बी रेल की लाइनों ने धरती को जैसे बाँध रक्खा है। रेल की लाइन बिछाने में इञ्जीनियर को अनेक सावधानियाँ बरतनी पड़ती हैं। लाइन बिछाते समय इस बात का सदैव ध्यान रखना पड़ता है कि लाइन में कहीं पर चढ़ाव ज्यादा न आ जाय, अन्यथा रेलगाड़ी को खींचने में इंजिन को अत्यधिक शक्ति व्यय करनी पड़ेगी। इसी कारण जगह-जगह पहाड़ों को काटकर उसमें से समतल रास्ता निकालना पड़ता है। मीलों लम्बी सुरंगें इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए काटनी पड़ती हैं। कभी-कभी जब लाइन को किसी गहरी घाटी से गुज़रना होता है तो समूची लाइन को ऊँचे खम्भों पर से ले जाते हैं, ताकि लाइन में गहरा ढाल न आने पाए। पहाड़ी प्रान्तों में लाइन बिछाने का खर्च इतना अधिक बैठ जाता है कि अक्सर देश के अन्य भागों की अपेक्षा इस प्रदेश में रेलभाड़े की दर ऊँची रखनी पड़ती है। कलकत्ते से हरद्वार तक रेल के भाड़े की जो दर है, उससे कहीं ऊँची दर हरद्वार से देहरादून तक की लाइन पर लागू है, क्योंकि हरद्वार से देहरादून तक रेल की लाइन पहाड़ों को काटकर बिछाई गई है।

निर्जन प्रान्त, रेगिस्तान, तथा दलदल आदि से भरे स्थानों में तो हथेली में जान लेकर इञ्जीनियरों और कारीगरों ने रेल की पटरियाँ बिछाई हैं। कनाडा के जंगली भागों में जब रेल की लाइन बिछाई जा रही थी तब अनेक बार रेड इण्डियन लोगों ने रेलवे इञ्जीनियरों और मजदूरों पर हमला किया था, ताकि वे इस प्रान्त में रेल की लाइन बिछाने का प्रयत्न ही त्याग दें। दक्षिण अफ्रीका में नेटाल प्रान्त के दुर्गम और मलेरियाग्रस्त स्थानों में रेल की लाइनें बिछाने के पीछे सहस्रों भारतीय कुलियों को तरह-तरह की यातनाएँ भोगनी पड़ी थीं, और उनमें से सैकड़ों की तो जानें भी इसी प्रयत्न में गईं।

हम देख चुके हैं कि आरम्भ में भाप के इंजिन किस ढंग के बने थे। उन दिनों की रेलगाड़ियाँ भी कुछ कम बेढंगी न थीं। थर्ड क्लास के डिब्बों के ऊपर किसी प्रकार की छत न होती थी। मवेशी ढोनेवाली गाड़ियों की तरह ये डिब्बे एकदम खुले हुए होते। सेकण्ड क्लास के डिब्बों में भी बगल में कोई आड़ न थी, ऊपर मोटे कपड़े की एक छत अवश्य थी, जो तेज हवा के झोंके से कभी-कभी उखड़कर अलग भी जा गिरती। फर्स्ट क्लास की गाड़ियाँ चारों ओर से ढकी रहती थी। इनकी बेञ्चों पर गद्दियाँ भी बिछी थीं। मालगाड़ियों के तो और भी बुरे हाल थे—खुले ठेलों की तरह केवल एक मजबूत फर्श इन गाड़ियों में होती थी। इसी पर रस्सियों से कसकर सामान बाँध दिया जाता था।

धीरे-धीरे रेलगाड़ियों की उपयोगिता जनता ने आँकी। जनता की ओर से रेल-कम्पनियों को प्रोत्साहन भी प्रचुर मात्रा में मिला। फलस्वरूप पैसेंजर और मालगाड़ियों के रूप में भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई। उन दिनों की रेलगाड़ियों के डिब्बों में प्रायः चार पहिये लगे होते थे। इन डिब्बों की लम्बाई भी बीस-पचीस फीट से अधिक नहीं हुआ करती थी। फिर ये डिब्बे धीरे-धीरे और भी लम्बे बनाये जाने लगे। चार से छ: पहिए, और फिर आठ पहियेवाले डिब्बे बनने लगे। लम्बे डिब्बों में अड़चन यह होती है कि तेज रफ्तार में वे घुमाव पर आसानी से मुड़ नहीं सकते। इस मुश्किल को दूर करने के लिए बोगीवाले डिब्बे बनाये गये। लम्बे डिब्बे के दोनों सिरे चार-चार पहियोंवाली दो बोगियों पर टिके रहते हैं। प्रत्येक बोगी में एक लम्बवत् कीली के चारों ओर ये पहिये घूम सकते हैं। अतः लाइन के मोड़ पर बिना किसी अड़चन के बोगी के पहिये घूम जाते हैं। डिब्बे में बैठनेवालों को किसी प्रकार का झटका नहीं लगता। इन दिनों अब एक नये ढंग की बोगी का प्रयोग हो रहा है। तीन डिब्बों को चार बोगियों पर फिट करते हैं। प्रत्येक बोगी पर दो डिब्बों के सिरे आकर मिलते हैं। इस प्रकार रेलगाड़ी के कुल वजन में भारी कमी हो जाती है, तथा गाड़ी की फिटिंग करने में खर्च भी कम बैठता है।

स्टीफेन्सन का सुप्रसिद्ध 'राकेट' नामक रेल का इंजिन, जो १८३० में बना था। आज के इंजिनों से तुलना कीजिए।

डिब्बो को एक-दूसरे से जोडने के लिए हमारे देश मे अभी पुराना तरीका ही काम मे लाया जाता है। एक डिब्बा जब दूसरे डिब्बे को धक्का देता है तो डिब्बे के छोर पर लगे हुए हुक एक-दूसरे से गुँथ जाते हैं। फिर पैंटमैन ज़जीर से इन हुको को खूब जकड देता है, ताकि ये एक-दूसरे से अलग न हो जायँ। इस रीति से डिब्बो को जोडने मे देर बहुत लगती है, साथ ही पैंटमैनो के लिए यह काम खतरनाक भी बहुत है। जरा-सी गफलत की कि जान से हाथ धोना पड़ा! योरप और अमेरिका मे डिब्बो के सिरे पर अब इस ढग के हुक फिट किये जाते हैं कि जरा-सा धक्का लगते ही ये एक-दूसरे से मज़बूती के साथ गुँथ जाते हैं। जजीर से इन्हे बाँधने की जरूरत नही होती। कमानीदार 'बफर' भी डिब्बे के दोनो ओर लगे रहते हैं, अतः डिब्बो को जोडते समय कुछ अधिक झटका भी नही लगने पाता।

जाडे के दिनो मे डिब्बों को गर्म रखने के लिए योरप और अमेरिका की ट्रेनो मे इजिन से नली द्वारा डिब्बो मे भाप पहुँचाई जाती है। भारत मे इसी ढग के कुछ डिब्बे बने ह, जो 'एयर कन्डिशन्ड' हैं। बाहर जेठ की लू चल रही हो, किन्तु एयर कन्डिशन्ड डिब्बो के अन्दर शीतल वायु ही चलती रहती है। इस तरह के एयर कन्डिशन्ड डिब्बे अभी गिनती के दो-चार ही बन पाये हैं, किन्तु आशा की जाती है कि शीघ्र ही इनकी सख्या मे भी काफी वृद्धि हो जायगी।

एयर कन्डिशन्ड गाडियो के अन्दर स्वास्थ्य के अनुकूल किसी भी तापक्रम को सदैव एक-सा बनाये रखने का प्रबन्ध रहता है। साथ ही इन डिब्बो के अन्दर निरन्तर शुद्ध और साफ की हुई वायु भी पहुँचती रहती है। जाडे के दिनो मे यदि वायु शुष्क हुई तो उसमें एक नियत परिमाण मे आर्द्रता का भी समावेश कर दिया जाता है, क्योकि एकदम शुष्क हवा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है। इन डिब्बों के अन्दर बाहर के शोर की आवाज़ भी नही पहुँच पाती। दूर दूर तक की यात्रा करनेवाली रेलगाडियो मे सोने के लिए भी समुचित प्रबन्ध किया जाता है। जलपान और भोजन का प्रबन्ध करने के लिए ट्रेन मे ही एक रेस्ट्रॉकार भी जोड देते हैं। ५०-६० मील की रफ्तार से ट्रेन भागती जा रही है और रेस्ट्रॉकार मे यात्रियो के भोजन की सामग्री नवीन वैज्ञानिक तरीको से तैयार होती रहती है। चलती ट्रेन मे डाइनिगकार मे बैठकर यात्री गर्म-गर्म ताज़ा भोजन करते हैं, मानो किसी फर्स्ट क्लास के होटल मे बैठे खाना खा रहे हो।
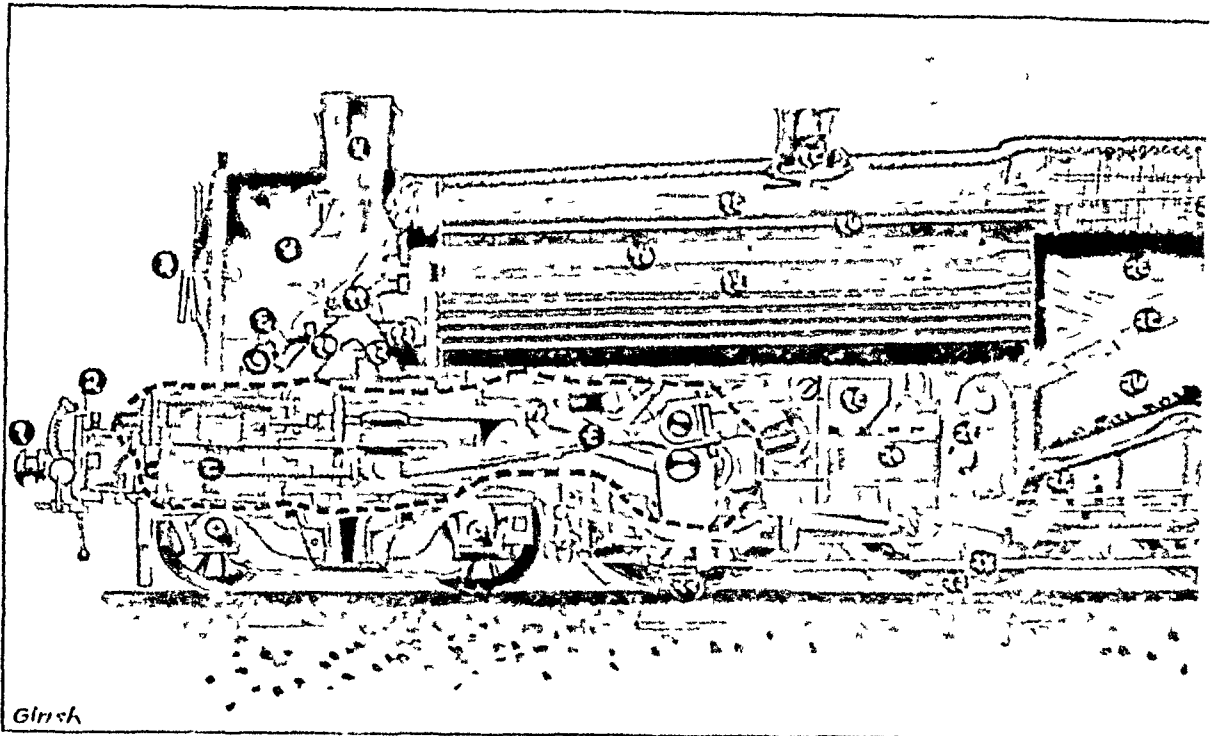
ज़ंज़ीर खींचकर मुसाफिर गाड़ी रोक रहा है

डिब्बे के नीचे वैकुअम ब्रेक लगा है। जंजीर खीचने से एक वाल्व खुल जाती है और नीचे के सिलिडर में हवा घुस जाती है, जिससे पहिए मे ब्रेक लग जाते हैं। ऊपर कोने मे, पहिए मे ब्रेक लगते समय का परिवर्द्धित चित्र है।

रोशनी पैदा करने के लिए पहले तो गैस-लैम्प ट्रेनो के अन्दर जलते थे। उन दिनो लैम्प को दियासलाई से जलाना पडता था। अब सभी ट्रेनो मे विद्युत्-लैम्प जलते है। इन लैम्पो के लिए विद्युत्धारा पहियो के पास लगे

बड़े आकार के आधुनिक रेलवे-इंजिन की भीतरी रचना और कल-पुर्जे—(१)

१. दाहिना बफ़र, २. वैकुअम पाइप, ३. धुँए के बक्स का दरवाज़ा, ४ धुँए का बक्स, ५ धुँए की चिमनी, ६. बाएँ सिलिंडर को जा रहा भाप का पाइप, ७ दाहिने सिलिंडर को जा रहा भाप का पाइप, ८. बायाँ सिलिंडर, ९. बाएँ सिलिंडर का डंडा, १०. भीतरी सिलिंडर का निकास पाइप, ११. ब्लास्ट पाइप, १२ बाहरी सिलिंडर का निकास पाइप, १३ दाहिने बाहरी सिलिंडर को भाप का पाइप, १४. सुपर हीटर, अर्थात् भाप गरमानेवाली नलियाँ, १५ ब्वॉयलर की नलियाँ, १६ रेगूलेटर रॉड, १७. ब्वॉयलर का प्रधान भाग, १८ सेफ्टी वाल्व, १९. बालू की पेटी, २०. वैकुअम ब्रेक सिलिंडर, २१ वैकुअम ब्रेक की टंकी, २२-२३-२५ चालक पहिए, २४ ब्रेक लगाने का डंडा, २६ राख-निकास,

हुए डायनमो से ली जाती है। घूमते हुए पहिए डायनमो का परिचालन करते हैं। डायनमो की विद्युत्-धारा डिब्बे के पेंदे में रक्खी हुई स्टोरेज बैटरी को चार्ज कर देती है, ठीक उसी तरह जैसे दौड़ती हुई मोटरकार में स्टोरेज बैटरी अपने आप चार्ज होती रहती है। इसी से विद्युत-लैम्प में विद्युत्धारा प्रवाहित होती है।
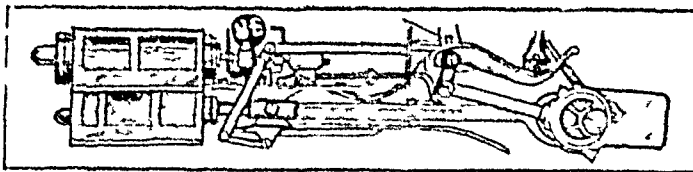
पैसेंजर ट्रेन में एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक लम्बा पाइप लगा रहता है। डिब्बों को जोड़ते समय उनके पाइप भी एक दूसरे से जोड़ दिये जाते हैं। इस पाइप का जोड़ डिब्बे के नीचे लगे हुए वैकुअम ब्रेक से रहता है। ड्राइवर इस लम्बे पाइप के सिरे पर वेग के साथ भाप फेंकता है। इस भाप के संग खिंचकर पाइप की हवा भी बाहर निकल जाती है, और समूचे पाइप में लगभग पूर्ण वैकुअम उत्पन्न हो जाता है। जब तक पूर्ण वैकुअम इस पाइप में बना रहता है, हर पहिए के ब्रेक उससे अलग रहते हैं। सीट के ऊपर की जंजीर खींचने से एक वाल्व हटाकर बाहर की हवा इस पाइप के अन्दर प्रवेश कर जाती है। वैकुअम पाइप में हवा ने ज्यों ही प्रवेश किया, उसके धक्के से ब्रेक पहियों पर जा दबते हैं।

ड्राइवर या गार्ड भी इस पाइप का वाल्व खोलकर समूची ट्रेन में ब्रेक लगा सकता है। वैकुअम ब्रेक की मदद से ही भागती हुई एक्सप्रेस ट्रेन डेढ़ फर्लांग की दूरी के अन्दर-अन्दर रोककर एकदम खड़ी कर ली जा सकती है। वैकुअम ब्रेक पूर्ण रूप से स्वयंक्रिय होते हैं।
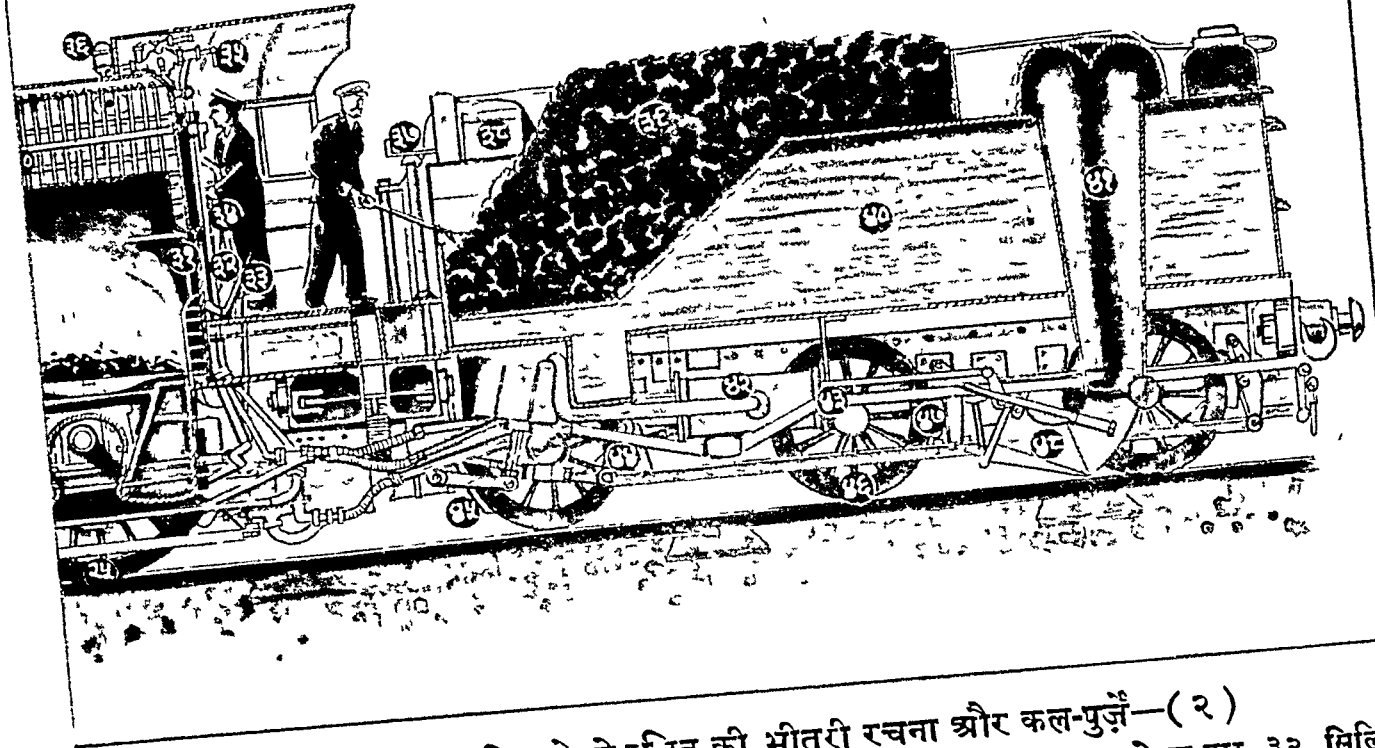
बड़े आकार के आधुनिक रेलवे-इंजिन की भीतरी रचना और कल-पुर्ज़े—(२)

२७ भट्ठा, २८. फायरब्रिक की मेहराब, २९. फायर-बक्स, ३० ब्वॉयलर के स्टे-राडस् ३१ भट्ठे का द्वार, ३२. सिलिंडर के पानी का नियंत्रक हैंडिल, ३३. राख गिराने का हैंडिल, ३४ इंजिन को पीछे की ओर उलटे चलाने का हैंडिल, ३५. भाप छोड़ने का हैंडिल, ३६. सीटी, ३७. पानी लेने का नियंत्रण करनेवाला लीवर, ३८. औज़ार-बक्स, ३९. कोयला, ४० पानी की टंकी, ४१. ज़मीन से पानी लेने का यंत्र, ४२. वैकुअम टंकी, ४३. टैंडर ट्रेन पाइप, ४४ ब्रेक के ब्लॉक, ४५ बालू गिराने का नल, ४६ टैंडर के पहिए, ४७ ब्रेक ब्लॉक, ४८ बिना कहीं रुके रास्ते ही से चलते-चलते इंजिन के लिए पानी लेनेवाले पाइप का मुँह, ४९. सिलिंडर के भीतर का दृश्य।

यदि संयोगवश गाड़ी के कुछ डिब्बे ट्रेन के शेष हिस्से से अलग हो जायँ तो वैकुअम पाइप के खुल जाने से अपने आप ट्रेन के अगले-पिछले हिस्सों मे ब्रेक लग जायँगे।

अमेरिका की कुछ ट्रेनों मे वैकुअम ब्रेक के स्थान पर संकुचित वायु के ब्रेक काम में लाये जाते हैं। इजिन मे ही भाप से परिचालित होनेवाले संकुचित वायु के पम्प से एक बड़े पीपे मे खूब कसकर हवा भर ली जाती है। इस पीपे का सम्बन्ध एक लम्बे पाइप से रहता है, जो समूची ट्रेन मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाता है। इस पाइप में हवा का दबाव भरपूर बना रहता है। ऐसी हालत मे इस पाइप का जोड़ एक गौण पीपे द्वारा हर डिब्बे के ब्रेक से रहता है। जब तक पाइप मे हवा का दबाव भरपूर बना रहता है, ब्रेक पट्टियों से अलग रहता है। किन्तु ड्राइवर ने जहाँ पाइप की हवा का दबाव घटाया कि प्रत्येक गौण पीपे की हवा वेग के साथ ब्रेक पर धक्का देती है, और पहियों पर ब्रेक आ जमते हैं।

इजिनो के निर्माण मे भी पिछले बीस-पचीस वर्षों मे आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। स्टीफेन्सन का 'राकेट' १८३० मे तैयार हुआ था। अपने युग के इंजिनो का यह प्रतीक माना जा सकता है। अतः इस इजिन का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करना कुछ अनुपयुक्त न होगा। यह भाप का सर्वप्रथम इजिन था, जिसका सिलिण्डर इजिन के बाहर लगाया गया था। इसमे दो बड़े आकार के पहिए लगे थे, जिनका सम्बन्ध सिलिण्डर के पिस्टन से था। ट्रेन खीचने का काम ये ही पहिए करते थे। इन पहियों का व्यास ४ फीट ८॥ इंच था। इनके अतिरिक्त दो छोटे पहिए भी पीछे लगे थे, जिन पर इजिन का पिछला भाग टिका हुआ था। ये पहिए ट्रेन खीचने मे स्वयं मदद नहीं करते थे। इस इजिन के सिलिण्डर का व्यास ८ इंच और लम्बाई १८ इंच थी। ब्वॉयलर ६ फीट लम्बा और ३ फीट ४ इंच

ऊँचा था। समूचे इजिन का वजन केवल ४१ टन था, जिसमे पानी और कोयला लादनेवाले टेन्डर का ३। टन वजन भी शामिल था (दे० १४६० पृ० का चित्र)।

थोडे ही दिनों पश्चात् यह अनुभव किया गया कि बोझ से लदी हुई लम्बी ट्रेनों को खीचने के लिए रॉकेट के अकेले दो चालक पहिये काफी नहीं हैं। ऐसी दशा मे इन चालक पहियों की पकड रेल की पटरियो पर ठीक नही बैठती थी। इस मुश्किल को दूर करने के लिए यह निश्चय हुआ कि एक जोडे की जगह कई जोडे चालक पहिए इजिन मे इस प्रकार फिट किए जायॅ कि इस्पात के मजबूत डण्डे द्वारा वे एक दूसरे से सम्बद्ध रहे। ऐसी हालत मे रेल की लाइन पर उनकी पकड अच्छी हो सकेगी तथा इजिन भारी और लम्बी ट्रेनो को आसानी के साथ खींच सकेगा। पहियो की पकड इस बात पर निर्भर करती है कि उन पर ऊपर से कितना दबाव पड रहा है। यह दबाव जितना अधिक होगा उनकी पकड भी उतनी ही ज्यादा होगी। इसी कारण इजिन साधारणतः भारी-भरकम बनते हैं। किन्तु इजिन का समूचा वजन यदि एक ही जोडे चालक पहियों पर डाल दिया जाय तो दो बातों का डर हो सकता है—एक यह कि स्वय पहिया ही अत्यधिक बोझ के कारण टूटकर नीचे बैठ सकता है और दूसरा यह कि उसके नीचे की रेल की पटरी ही जमीन मे धॅस सकती है। इन खतरो से बचने के लिए इजिन का बोझ दो या दो से अधिक जोडे पहियों पर बॉट दिया जाता है। ये पहिए इस्पात के मजबूत डण्डों द्वारा एक दूसरे से जुडे होते हैं। अतएव ट्रेन को खीचने के लिए इनका सम्मिलित जोर काम मे आता है।

आधुनिक युग के प्रत्येक इजिन मे साधारणतः तीन प्रकार के पहिए लगे रहते हैं। सामनेवाले पहिए, चालक पहिए, और फिर पीछेवाले पहिए। सामने और पीछेवाले पहिए ट्रेन खीचने का काम नही करते, क्योंकि इनका सम्बन्ध इजिन के पिस्टन से नही होता। इजिनो का वर्गीकरण भी इन्ही पहियो की सख्या के अनुसार किया जाता है। जैसे २—४—२ से हम समझते हैं कि इजिन मे सामने दो पहियों का एक जोडा है, फिर दो जोडे चालक पहियों के हैं, और सबसे पीछे छोटे निष्क्रिय पहियो का एक जोडा और है। नीचे की तालिका द्वारा कुछ इजिनों की जातियॉ व्यक्त की जाती हैं :—

इंजिन का नाम	पहियों का क्रम (सख्या मे)
अटलाण्टिक	४—४—२
पैसिफिक	४—६—२
मोगल	२—६—०
मिकाडो	२—८—२
सेन्टीपीड	०–१२—०

मालगाडियों के खीचने के लिए कभी-कभी ६ जोडे चालक पहियोंवाले इजिन सेन्टीपीड भी काम मे लाये जाते हैं। किन्तु पैसेन्जर और डाक-गाड़ियों के लिए अधिक-से-अधिक दो या तीन जोडे चालक पहियोंवाले इजिन काम मे लाये जाते हैं, क्योंकि चालक पहियो की सख्या अधिक होने से इनको मिलानेवाले डण्डे तेज रफ्तार से हरकत नही कर पाते और इसी कारण ऐसे इजिनों की रफ्तार भी तेज नही होने पाती। हॉ, पहाडी प्रान्तों मे, जहॉ लम्बी एक्सप्रेस ट्रेनो को ऊँचाई पर खीचना पडता है, इजिनों मे चार जोडे चालक पहिए फिट किए जाते हैं। इन लम्बी ट्रेनों का वजन कभी-कभी ३० हजार मन तक भी पहुँच जाता है।

चालक पहिए का आकार जितना बडा होगा उतनी ही अधिक उस इजिन की रफ्तार भी होगी, किन्तु बोझ खीचने की उसकी शक्ति भी उसी अनुपात मे कम हो जायगी। इसीलिए एक्सप्रेस ट्रेन के इजिन के चालक पहियो का आकार अपेक्षाकृत बड़ा रक्खा जाता है। इन पहियो का व्यास लगभग ७ फीट होता है। मालगाडी के इजिनो मे चालक पहियों का व्यास अधिक-से-अधिक ५ फीट रखते हैं ताकि भारी बोझ खीचने मे ये समर्थ हो सकें।

तेज रफ्तार से दौडनेवाले इजिन, जिन्हे लम्बी यात्राएँ नही करनी होती, अपने साथ 'टेन्डर' मे बहुत सारा कोयला-पानी लादकर ले जाना नहीं चाहते। ऐसे इजिन अन्य इजिनों की अपेक्षा थोड़ा ही पानी लेकर चलते हैं। यह पानी सामने ब्वॉयलर की बगल मे बने हुए आयताकार हौज मे रक्खा जाता है। ऐसे इजिन को 'टैङ्क इजिन' के नाम से पुकारते हैं। इजिन के पिछले भाग मे ही तीन-चार टन कोयला भी लाद लेते हैं। इन इजिनों में टेण्डर वाला भाग जोडा ही नहीं जाता। अतएव आगे-पीछे दोनों ही दिशाओं मे ये इजिन आसानी से दौड लगा लेते हैं। कम फासले की लोकल ट्रेनों के लिए इस श्रेणी के इजिन बडे काम के साबित होते हैं। ये इजिन इसके मुहताज नही रहते कि लौटने के पहले घुमाकर इनका मुँह फेर लिया जाय।

इसके प्रतिकूल कनाडियन रेलवे के कुछ इजिनो को ५०० मील लम्बा सफर करना पड़ता है। ऐसे इजिनो के अकेले

'वेस्टिङ्गहाउस', ब्रेक नामक हवा के दबाव से काम करनेवाला ब्रेक कैसे लगाया जाता है?
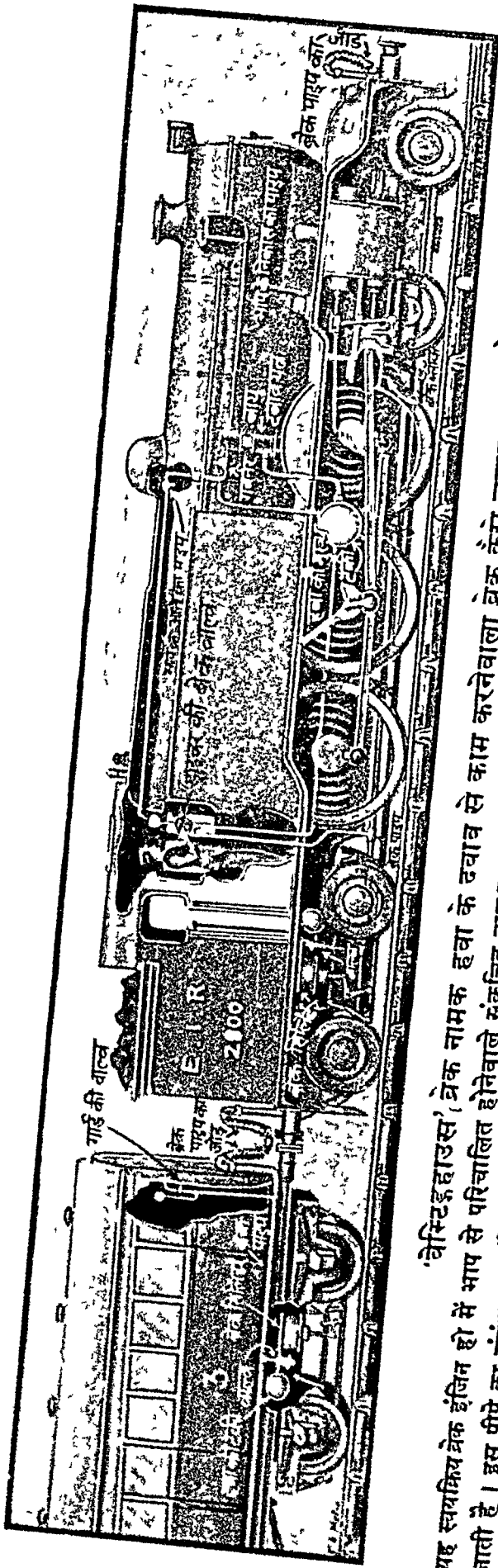
यह स्वयक्रिय ब्रेक इंजिन ही में भाप से परिचालित होनेवाले संकुचित वायु दबाव यंत्र द्वारा काम करता है। इसकी सहायता से एक बडी टंकी मे खूब कसकर हवा भर ली जाती है। इस पीपे का संबंध एक लंबे पाइप से रहता है जो समूची ट्रेन मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाता है। इस पाइप मे हवा का दबाव भरपूर बना रहता है। इस पाइप का संबंध एक गौण हवा की टंकी द्वारा हर डिब्बे के ब्रेक से रहता है। जब तक हवा का दबाव पाइप मे भरपूर रहता है, ब्रेक पहियों से अलग रहता है, परंतु ड्राइवर या गार्ड ने जहां पाइप की हवा का दबाव घटाया कि प्रत्येक गौण टंकी की हवा वेग से ब्रेक पर धक्का देती है और पहिए पर ब्रेक लग जाता है।

(बाईं ओर) पटरी पर जमा बर्फ़ को चीर-कर आगे बढ़ती हुई रेलगाडी। इसके लिए इंजिन के आगे एक यंत्र लगाया जाता है जो 'स्नो प्लो' कहलाता है। (दाहिनी ओर) लदन की ट्यूब

रेलवे के इंजिनों में लगा 'डेड मैन का हैंडिल,' जिस पर से ड्राइवर का हाथ उठते ही ट्रेन रुक जाती है।
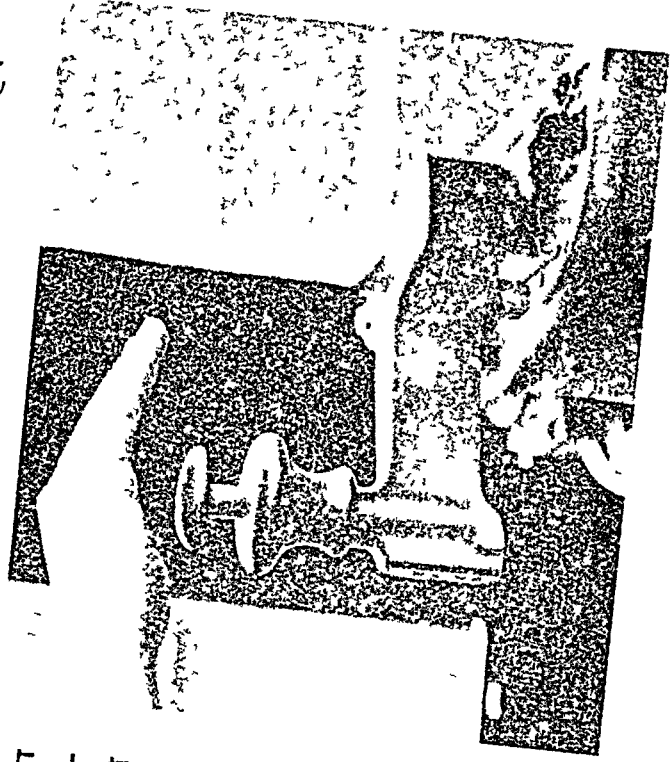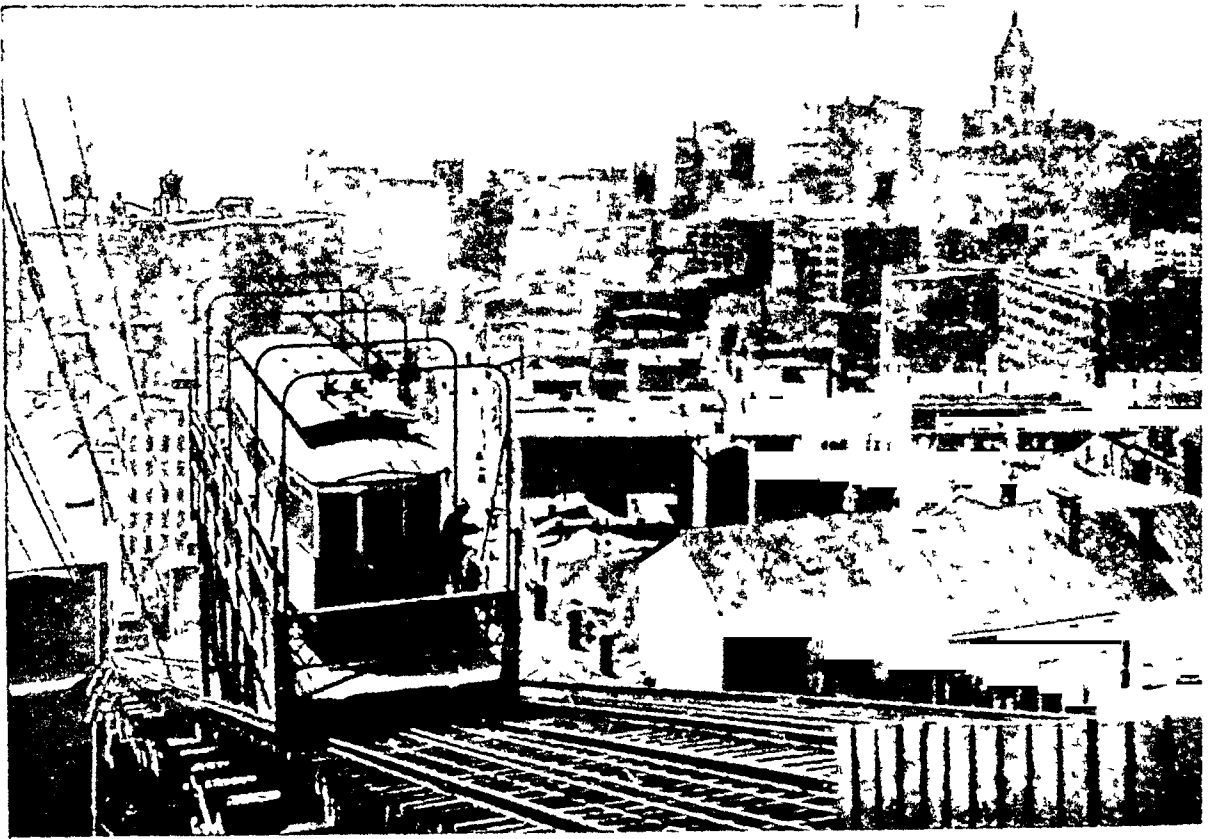
बेहद ढालू रास्ते पर चढ़ने-उतरनेवाली एक रेलगाड़ी का दृश्य
यह अमेरिका के एक शहर के निचले भाग से ऊँचे भाग को जाने के लिए काम में लाई जा रही एक प्रकार की रेलगाड़ी का दृश्य है, जिसमे नीचे का पेंदा समतल न होकर पटरियों की तरह ढालू होता है।

टेन्डर के पहियों की सख्या १२ तक पहुँच जाती है। इस विशालकाय टेन्डर मे १४ हजार गैलन पानी समा सकता है। इङ्गलैण्ड की ट्रेनो के इजिनो के टेन्डर इतने बड़े नहीं होते। अतः लम्बी यात्रा पर जानेवाले इजिनों को पानी लेने के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है, ताकि रास्ते मे बिना रुके ही वे आवश्यकतानुसार पानी खींच सके। इसके लिए रास्ते के स्टेशनों पर लाइन के बीच मे दो-ढाई फर्लाङ्ग लम्बे गड्ढे बने रहते हैं। ये गड्ढे १८ इच चौड़े और ६ इच गहरे होते हैं। इन गड्ढों मे साफ पानी भरा रहता है। तेज रफ्तार मे जिस समय इजिन इनके ऊपर से होकर गुजरता है, ड्राइवर एक पाइप को नीचे बढा देता है ताकि पाइप का मुँह पानी की सतह छू ले। झटका खाकर पानी अपने आप इस नली में टेन्डर के रास्ते चढ जाता है। किंग्स क्रास से एडिनबरा को जानेवाली एक्सप्रेस ट्रेन रास्ते मे कही भी नही रुकती, फिर भी ४०० मील की इस लम्बी यात्रा मे सात स्टेशनो पर लाइन के गड्ढो से इस ट्रेन का इजिन अपने लिए पानी खीचता है। इस तरकीब से समय की काफी बचत हो जाती है और इजिन का डील भी नहीं बढता।

कुछ एक्सप्रेस ट्रेने अपने सग ऐसे डिब्बे लेकर चलती हैं, जिन्हे रास्ते के स्टेशनों पर छोड़ना होता है। समूची ट्रेन उस स्टेशन पर नहीं रुकती। जिस डिब्बे को अगले स्टेशन पर छोड़ना होता है, उसे स्टेशन पर पहुँचने के एकाध मील पहले ही ट्रेन से अलग कर देते हैं। आगे-आगे ट्रेन दौड़ती जाती है, और पीछे यह डिब्बा भी भागता चला आता है। इस डिब्बे मे एक गार्ड भी रहता है, जो स्टेशन पर ब्रेक लगाकर अपने डिब्बे को खडा कर देता है।

इजिनो मे दो-तीन और कभी-कभी चार सिलिण्डर काम मे आते हैं। दो सिलिण्डरवाले इजिन मे या तो दोनों सिलिण्डर इजिन के फ्रेम के बाहर रहते हैं या दोनों ही भीतर। जब तीन सिलिण्डर काम मे आते हैं तो दो सिलिण्डर बाहर होते है और एक अन्दर। चार सिलिण्डर वाले इजिन मे भी दो सिलिण्डर इजिन के बाहरी हिस्से मे फिट किये होते हैं।

इजिन को सामने के बजाय पीछे की ओर ले जाने के

लोक-रश्मियाँ दर्पण पर जाकर गिरती हैं। परावर्त्तन के नियमानुसार ये भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रक्षालित होती हैं। ये परावर्त्तित किरणें जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी काल्पनिक बिन्दु 'क' से आ रही हैं। चूँकि ये सभी किरणें प्रारम्भ में बिन्दु 'अ' से चली थीं, अतः हमारी आँखों में प्रवेश करके ये हमें बिन्दु 'अ' का ही बोध कराएँगी। हमें ऐसा जान पड़ेगा कि 'क' बिन्दु ही 'अ' पर स्थित है। 'क' बिन्दु ही 'अ' बिन्दु का प्रतिबिम्ब है। साधारण रेखागणित के नियमों की सहायता से हम देखते हैं कि 'क' बिन्दु 'अ' की ठीक लम्बवत् सीध में दर्पण के पीछे उतनी ही दूरी पर स्थित है जितनी दूरी पर 'अ' दर्पण के सामने है। (दे० १५२६ पृ० का चित्र)

(ऊपर) समतल दर्पण में आलोक रश्मियों का परावर्तन। (नीचे) बाईं ओर, समतल दर्पण के बिम्ब में पार्श्विक उलट-फेर। दाहिनी ओर, दो दर्पणों को ९०° के कोण पर रखने पर तीन बिंबों का निर्माण।

चमकदार क़लईवाले धरातल से आलोक-रश्मियों का सदैव नियमित परावर्त्तन ही होता है। किसी बिन्दु विशेष से चली हुई किरणें परावर्त्तन के बाद एक ही बिन्दु से आती हुई जान पड़ती है। अतः इन किरणों द्वारा परावर्त्तन करनेवाले धरातल को हम देख नहीं पाते। चिकने समतल धरातल के बजाय जब आलोक रश्मियाँ किसी खुरदरे धरातल पर पड़ती हैं तो आलोक रश्मियों का परावर्त्तन उपर्युक्त ढंग से नहीं होता। इस अनियमित परावर्त्तन में एक ही बिन्दु से चली हुई किरणें परावर्त्तन के बाद किसी विशेष बिन्दु से आती हुई नहीं जान पड़ती हैं। नियमित रूप से परावर्त्तित होने के बजाय ये रश्मियाँ धरातल पर प्रक्षालित होकर बिखर-सी जाती हैं। यह बिखरा हुआ प्रकाश जब हमारी आँखों में प्रवेश करता है तो हमें धरातल में कोई खास प्रतिबिम्ब नजर नहीं आता, बल्कि स्वयं धरातल ही दीखने लगता है। इसी बिखरे हुए प्रकाश की मदद से हम तमाम अप्रदीप्त वस्तुओं को देखने में समर्थ होते हैं।

बिखरे हुए प्रकाश की किरणें चकाचौंध नहीं उत्पन्न करतीं। लैम्प के प्रकाश में पढ़ते समय पुस्तक इस प्रकार रखनी चाहिए कि लैम्प से आनेवाली किरणें पुस्तक के पृष्ठ से प्रक्षालित होकर सीधी हमारी आँखों में न पहुँचे, अन्यथा पृष्ठ पर छपे हुए अक्षरों के बजाय हमें लैम्प का धुँधला प्रतिबिम्ब दीखेगा और आँखों में व्यर्थ की चकाचौंध पहुँचेगी। पुस्तक को सामने इस तरह रखना चाहिए कि पृष्ठ से केवल बिखरा हुआ प्रकाश हमारी आँखों में पहुँचे। अब पृष्ठ के अक्षर स्पष्ट दिखाई देंगे और चमक से आँखों को तनिक भी कष्ट न पहुँचेगा।

सन्ध्या के समय जब क्षितिज के नीचे सूर्य डूब जाता है तब भी ऊर्ध्वाकाश के वायुस्तरों द्वारा सूर्य का प्रकाश बिखरकर नीचे पृथ्वी पर पहुँचता है। अतः सूर्यास्त के उपरान्त कुछ देर तक आकाश में धुँधला-धुँधला प्रकाश बना रहता है। प्रातः सूर्योदय से कुछ देर पहले भी वायुस्तरों द्वारा बिखरा हुआ सूर्य का प्रकाश आसमान से

पृथ्वी पर पहुँचता है। वायु के अन्दर उडते हुए नन्हे-नन्हे रजकणों से ही टकराकर आलोक बिखरता है। यदि हवा मे धूलिकण या पानी की नन्ही-नन्हीं बूँदे न होतीं तो सूर्य डूबते ही सर्वत्र घटाटोप अँधेरा छा जाता। ऊर्ध्वाकाश मे, जहाँ हवा मे न तो बादल होते हैं और न धूलिकण, दिन की दुपहरी मे भी आसमान मे घना अन्धकार छाया रहता है, केवल सूर्यपिण्ड प्रकाशमान दीखता है—क्योंकि शुद्ध वायु मे अन्य कोई पदार्थ ही मौजूद नहीं, जिससे प्रक्षालित होकर आलोक-रश्मियाँ हमारी आँखों मे पहुँच सके।

पढ़ने के लिए तेज़ रोशनीवाले लैम्प मे चकाचौंध से आँखों की रक्षा करने के लिए दूधिया शीशे का ग्लोब काम मे लाते हैं। इस ग्लोब के अन्दर से आलोक-रश्मियाँ बिखरकर हर दिशा मे विकीरित होती हैं।

बिखरे हुए प्रकाश के गुणों की जाँच के लिए एक शुद्ध बर्फ की शिला लीजिए। यह एकदम पारदर्शक होगी। बहुत ही कम प्रकाश इस हिमशिला से बिखरता है। अतः स्वय बर्फ की शिला बहुत स्पष्ट हमे नहीं दीखती। अब बर्फ को छोटे-छोटे टुकडों में तोड डालिए। फौरन् ही इसकी पारदर्शिकता नष्ट हो जाती है। अब भी यह पहले-जैसा शुद्ध बर्फ है, किन्तु इसके ऊबड़-खाबड़ पडे हुए सहस्रों धरातलों से आलोक-रश्मियों का नियमित परावर्त्तन नही हो पाता। अब प्रकाश का बहुत बडा अंश इन टुकड़ों द्वारा बिखरा जा रहा है। इसी कारण तोडे हुए बर्फ के टुकडों का ढेर रुई-जैसा सफेद दिखाई देता है। जलप्रपात से गिरने पर नन्हीं-नन्हीं असख्य बूँदो मे जब जल परिवर्त्तित हो जाता है तो दूध के फेन की भाँति इनका रंग भी सफेद हो जाता है, क्योंकि इस दशा मे बहुत सारा प्रकाश ये बिखेर सकती हैं।

समतल दर्पणों मे किसी वस्तु का बिम्ब सीधा और उतना ही बड़ा बनता है जितनी बड़ी स्वयं वह वस्तु होती है। किन्तु यह बिम्ब एक बात मे मूल वस्तु से भिन्न होता है। मूल वस्तु का दाहिना अग बिम्ब मे बायाँ अग दिखाई देता है। शीशे के सामने आप दाहिने हाथ से कघी करते हैं तो बिम्ब में बायाँ हाथ कघी करता हुआ दिखलाई पडता है।

कागज़ पर लिखे हुए शब्दों का बिम्ब भी दर्पण मे ठीक ऐसा उभरता है मानों स्याही-सोख पर सुखाने से ये शब्द स्याही-सोख पर उलटे आए हों (दे० पृष्ठ १५२८ के चित्र मे नीचे बाईं ओर का चित्र)।

यदि दो दर्पण इस तरह खडे किये जायँ कि उनके बीच ६० अंश का कोण बने तो इनके बीच मे रखे हुए पदार्थ के तीन बिम्ब बनेगे। समकोण बनाती हुई दो रेखाओं के अन्दर कोई सुन्दर डिज़ाइन बनाइए। इन्हीं दोनों रेखाओं पर दो काँच के दर्पण खडे कर दीजिए—आप देखेंगे कि आपकी डिज़ाइन अपने तीन प्रतिबिम्बों के साथ मिलकर

१. वस्तु 'क'-'ख' से चली हुई किरणें नतोदर दर्पण से परावर्त्तित होकर दर्पण के सामने उसी वस्तु का उलटा और छोटे आकार का बिम्ब 'ख'-'क' बनाती हैं। २. यदि हम वस्तु को हटाकर केन्द्रबिन्दु और दर्पण के दर्मियान रक्खे तो दर्पण के पीछे जो काल्पनिक बिम्ब बनेगा वह अभिवर्द्धित होगा, साथ ही सीधा भी। ३. यह उन्नतोदर दर्पण में बिम्ब के निर्माण का चित्र है। 'आ' और 'इ' पदार्थ से गोले के मध्यबिंदु को जा रही किरणें हैं। 'अ' और 'ई' दर्पण की धुरी के समानांतर दौडनेवाली किरणें हैं। किरणें मुड जाती हैं और ऐसा मालूम होता है मानो दर्पण के पीछे से आ रही हों। इस दशा में भी दर्पण के पीछे एक काल्पनिक सीधे और छोटे बिंब का निर्माण होता है।

वृत्ताकार ढंग का एक रोमन देवालय—रोम में वेस्टा का मंदिर।

इटालियन 'प्लाज़ा', अंग्रेज़ी 'मार्केट-प्लेस' अथवा हिन्दुस्तानी 'चौक' की भाँति नगर का एक खुला केन्द्रीय भाग होता था, जहाँ लोग आपस में मिलने, सौदा खरीदने या राजनीतिक प्रदर्शनों के लिए एकत्रित होते थे। रोम नगर में कई फोरम थे, जो रोमन नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाए गए थे। इनके चारों ओर बने भवनों के द्वारा वे न केवल नगर-निवासियों के धर्म, क़ानून और व्यापार की ही झलक देते बल्कि नगर के उस सामूहिक जीवन पर भी प्रकाश डालते हैं, जिसका स्वरूप वहाँ राजतंत्र, गणतंत्र और साम्राज्य सभी प्रकार के शासनों के अन्तर्गत एक-सा ही रहा है।

रोमन फोरमों में सबसे प्राचीन "फोरम रोमेनम" था, जो कि अमर-पुरी रोम की सात पहाड़ियों के बीच की घाटी में स्थित था और जो पहले यहाँ और घोड़ों के दौड़ने के लिए और उन प्रतिद्वन्द्विताओं के काम में आता था जो आगे चलकर विशालकाय 'एम्फ़ीथिएटरों' या रंगशालाओं में हुआ करते थे। मुख्य-मुख्य सार्वजनिक भवन इसी स्थान के चारों ओर बने हुए थे। रोमन वैभव के गौरवपूर्ण दिनों में विजय-स्तंभों और मूर्तियों से सुसज्जित तथा बरामदों, स्तम्भपंक्तियों, मन्दिरों, बैसिलिकाओं और दूकानों से घिरा हुआ यह स्थान सचमुच ही बड़ा शानदार मालूम पड़ता होगा। रोम के दूसरे फोरमों का नाम ट्राजान (यही फोरम सबसे बड़ा था), जूलियस सीज़र, ऑगस्टस, वेस्पैसियन और नर्वा नामक रोम के महान् योद्धाओं के नाम पर रखा गया था। इनके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के फोरम भी रोम में थे, जो "फोरम वीएरियम" कहलाते थे और जहाँ विशेष प्रकार के बाज़ार लगते थे। रोम और रोम-राज्य के प्रान्तों में पाये जानेवाले फोरम वहाँ की सुनिश्चित नगर-योजना के आरम्भिक उदाहरण हैं और वे रोम-साम्राज्य के इतने दूरवर्ती सीमान्त भागों में भी पाए गए हैं, जैसे कि सीरिया में पामाइरा, सामारिया, ऐण्टीओक और डमस्कस में, एशिया माइनर में पर-गामॉन में, उत्तरी अफ्रीका में टिमगाड और टेबेस्सा में, और

कालान्तर में, जिन प्राकृतिक बाधाओं के कारण आरम्भिक रोमवासी कष्ट पा रहे थे उन्हें बाद की शताब्दियों के रोमन इन्जीनियरों की रचनात्मक प्रतिभा ने दूर कर दिया। रोमन लोग एकदम व्यावहारिक प्राणी थे और फलस्वरूप रोमन स्थापत्य-कला आदि से अन्त तक मुख्यत: उपयोगितासूचक ही रही है। ग्रीक लोगों की स्थापत्य-कला की भाँति वह उन बन्धनों को तोड़कर, जिन्होंने उसे माँ धरिनी से बाँध रक्खा था, उच्च अनुभूतियों के गगन प्रदेश में अपने पंख नहीं फैला सकी। रोमन फोरम, देवालय, बसिलिका, स्नानगृह, रंगशालाएँ, कौतुकगृह, विजय-द्वार, स्तम्भ-पंक्तियाँ और प्रासाद आदि, बावजूद इसके कि उन पर मूर्ति-कला और सजाव-सम्बन्धी कारीगरी का एक मुलम्मा चढ़ाया गया है, प्रमुख रूप से उपयोगितावादी ही दृष्टिगोचर होते हैं—उनका निर्माण किसी-न-किसी राजनीतिक या नागरिक आवश्यकता के कारण ही हुआ था।

फोरम, जो स्पष्टत: उसी शब्द से निकला है जिससे संस्कृत के 'पुरम्' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, फ्रेंच 'प्लास',

इङ्गलैण्ड में सिल्वेस्टर तथा अन्य स्थानों में। इन सभी फोरमों में राहगीरों को सूर्य के ताप से बचाने के लिए स्तभ-पंक्तियों से युक्त गलियाँ होने के चिह्न पाए जाते हैं।

रोमन देवालय इट्रस्कन और ग्रीक देवालयों के ढाँचों को मिलाकर बनाए गए हैं। वे साधारणतया चतुष्कोण आकार के हैं, साथ ही ग्रीक मन्दिरों की भाँति उनके चारों ओर स्तम्भ-पंक्तियाँ भी पाई जाती हैं। मन्दिर के मुख्य प्रवेश-द्वार की सीढ़ियाँ आजू में ठोस पत्थर की मजबूत नीची दीवालों से आबद्ध हैं, जिनके सिरे पर प्रायः अनेक मूर्त्तियाँ लगी रहती हैं। इस प्रकार के सबसे प्रसिद्ध देवालय रोम के 'फारचूना विराइलिस' और 'मार्स अल्टोर', नीम्स के 'मेजो कारे', सीरिया, के बालबेक नामक स्थान का महान् देवालय, पामीरा का सूर्य का मन्दिर और स्पलाटो का एस्कूलेपियस का विख्यात मन्दिर है।

एक दूसरे प्रकार के देवालय भी पाये जाते हैं, जो वृत्ताकार या बहुकोणीय ढाँचे पर बने होते थे। बहुत सम्भव है कि ये देवालय इट्रूरियावासियों के प्राचीन देवालयों के नमूनों पर बनाए गए हों। इस प्रकार के मन्दिरों के प्रमुख उदाहरण रोम के वेस्टा और मेटर मेट्टा के मन्दिर तथा सुप्रसिद्ध पैन्थियन, स्पलाटो का जुपिटर का मन्दिर तथा बालबेक का वीनस, टिवोली का वेस्टा और नीम्स का डायना देवी का मन्दिर एवं अन्य वे अनेक देवालय हैं जो कि स्थापत्य-कला की दृष्टि से इनसे कम महत्त्व के हैं। इन सबमें रोम का "पेन्थियन" निस्सन्देह सबसे अधिक प्रभावशाली है और आज भी उत्तम सुरक्षित अवस्था में है। इस देवालय का आकार भीमकाय है। उसकी भव्यता तथा रहस्य-भावना से मानव-हृदय अभिभूत हो जाता है। बहुत

(दाहिनी ओर) वेरोना के विशाल एम्फीथिएटर के बाहरी पृष्ठ-भाग की स्तंभ-पंक्तियों का एक दृश्य

वृत्ताकार ढग का एक रोमन देवालय—रोम मे वेस्टा का मंदिर।

इटालियन 'प्लाजा', अग्रेजी 'मार्केट-प्लेस' अथवा हिन्दुस्तानी 'चौक' की भॉति नगर का एक खुला केन्द्रीय भाग होता था, जहॉ लोग आपस मे मिलते, सौदा खरीदते या राजनीतिक प्रदर्शनो के लिए एकत्रित होते थे। रोम नगर मे कई फोरम थे, जो रोमन नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए वनाए गए थे। अपने चारो ओर बने भवनों के द्वारा वे न केवल नगर-निवासियों के धर्म, क़ानून और व्यापार की ही झलक देते वल्कि नगर के उस सामूहिक जीवन पर भी प्रकाश डालते हैं, जिसका स्वरूप वहॉ राजतत्र, गणतत्र और साम्राज्य सभी प्रकार के शासनों के अन्तर्गत एक-सा ही रहा है।

रोमन फोरमों मे सबसे प्राचीन "फोरस रोमेनम" था, जो कि अमर-पुरी रोम की सात पहाड़ियों के बीच की घाटी मे स्थित था और जो पहले रथो और घोडो के दौड़ने के लिए

कालान्तर मे, जिन प्राकृतिक बाधाओ के कारण आरम्भिक रोमवासी कष्ट पा रहे थे उन्हे बाद की शताब्दियों के रोमन इञ्जीनियरों की रचनात्मक प्रतिभा ने दूर कर दिया। रोमन लोग एकदम व्यावहारिक प्राणी थे और फलस्वरूप रोमन स्थापत्य-कला आदि से अन्त तक मुख्यतः उपयोगितासूचक हो रही है। ग्रीक लोगो की स्थापत्य-कला की भॉति वह उन बन्धनो को तोड़कर, जिन्होने उसे मॉ धरित्री से बॉध रक्खा था, उच्च अनुभूतियो के गगन प्रदेश मे अपने पख नही फैला सकी। रोमन फोरम, देवालय, वैसिलिका, स्नानगृह, रगशालाएँ, कौतुकगृह, विजय-द्वार, स्तम्भ-पक्तियॉ और प्रासाद आदि, बावजूद इसके कि उन पर मूर्त्ति-कला और सजाव-सम्बन्धी कारीगरी का एक मुलम्मा चढाया गया है, प्रमुख रूप से उपयोगितावादी ही दृष्टिगोचर होते हैं—उनका निर्माण किसी-न-किसी राजनीतिक या नागरिक आवश्यकता के कारण ही हुआ था।

फोरम, जो स्पष्टत उसी शब्द से निकला है जिससे सस्कृत के 'पुरम्' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, फ्रेंच 'प्लास',

और उन प्रतिद्वन्द्विताओं के काम मे आता था जो आगे चलकर विशालकाय 'एम्फीथिएटरों' या रगशालाओं मे हुआ करते थे। मुख्य-मुख्य सार्वजनिक भवन इसी स्थान के चारो ओर बने हुए थे। रोमन वैभव के गौरवपूर्ण दिनों मे विजय-स्तभो और मूर्त्तियो से सुसज्जित तथा बरामदो, स्तम्भपक्तियों, मन्दिरो, बैसिलिकाओ और दूकानो से घिरा हुआ यह स्थान सचमुच ही बडा शानदार मालूम पडता होगा। रोम के दूसरे फोरमो का नाम ट्राजान (यही फोरम सबसे बडा था), जूलियस सीजर, ऑगस्टस, वेस्पैसियन और नर्वा नामक रोम के महान् योद्धाओ के नाम पर रखा गया था। इनके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के फोरम भी रोम मे थे, जो "फोरम बोएरियम" कहलाते थे और जहॉ विशेष प्रकार के बाजार लगते थे। रोम और रोम-राज्य के प्रान्तो मे पाये जानेवाले फोरम वहॉ की सुनिश्चित नगर-योजना के आरम्भिक उदाहरण है और वे रोम-साम्राज्य के इतने दूरवर्त्ती सीमान्त भागों मे भी पाए गए हैं, जैसे कि सीरिया मे पामाइरा, सामारिया, ऐण्टीओक और डमस्कस मे, एशिया माइनर मे परगामॉन में, उत्तरी अफ्रीका मे टिमगाड और टेबेस्सा मे, और

इङ्गलैण्ड मे सिल्वेस्टर तथा अन्य स्थानों में। इन सभी फोरमो में राहगीरों को सूर्य के ताप से बचाने के लिए स्तभ-पक्तियों से युक्त गलियाँ होने के चिह्न पाए जाते हैं।

रोमन देवालय इट्रस्कन और ग्रीक देवालयों के ढाँचो को मिलाकर बनाए गए हैं। वे साधारणतया चतुष्कोण आकार के हैं, साथ ही ग्रीक मन्दिरों की भाँति उनके चारों ओर स्तम्भ-पंक्तियाँ भी पाई जाती हैं। मन्दिर के मुख्य प्रवेश-द्वार की सीढ़ियाँ बाज़ू मे ठोस पत्थर की मज़बूत नीची दीवालों से आबद्ध हैं, जिनके सिरे पर प्रायः अनेक मूर्त्तियाँ लगी रहती हैं। इस प्रकार के सबसे प्रसिद्ध देवालय रोम के 'फार-चूना विराइलिस' और 'मार्स अल्टोर', नीम्स के 'मेजों कारे', मीरिया, के बालबेक नामक स्थान का महान् देवालय, पामीरा का सूर्य का मन्दिर और स्पलाटो का एस्कूलेपियस का विख्यात मन्दिर है।

एक दूसरे प्रकार के देवालय भी पाये जाते हैं, जो वृत्ताकार या बहुकोणीय ढाँचे पर बने होते थे। बहुत सम्भव है कि ये देवालय इट्रूरियावासियों के प्राचीन देवालयों के नमूनो पर बनाए गए हो। इस प्रकार के मन्दिरो के प्रमुख उदाहरण रोम के वेस्टा और मेटर मेट्टा के मन्दिर तथा सुप्रसिद्ध पैन्थियन, स्पलाटो का जुपिटर का मन्दिर तथा बालबेक का वीनस, टिवोली का वेस्टा और नीम्स का डायना देवी का मन्दिर एव अन्य वे अनेक देवालय हैं जो कि स्थापत्य-कला की दृष्टि से इनसे कम महत्त्व के हैं। इन सबमे रोम का "पैन्थियन" निस्सन्देह सबसे अधिक प्रभावशाली है और आज भी उत्तम सुरक्षित अवस्था मे है। इस देवालय का आकार भीमकाय है। उसकी भव्यता तथा रहस्य-भावना से मानव-हृदय अभिभूत हो जाता है। बहुत

(दाहिनी ओर)
वेरोना के विशाल एम्फी-थिएटर के बाहरी पृष्ठ-भाग की स्तंभ-पंक्तियों का एक दृश्य

सम्भव है कि यह विशाल देवालय जूलिया-वंश के पारिवारिक देवताओं को उत्सर्ग किया गया हो। इस देवालय का विशाल गुम्बद आकाश के सम्पुटित छत्र के सदृश जान पड़ता है। यह मंदिर नाना प्रकार की लाखों स्थापत्य-कृतियों से जी भरकर सजाया गया है और समूची इमारत का दृश्य बड़ा ही भव्य है। पैन्थियन में रोशनी के लिए जो अद्भुत व्यवस्था की गई है उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध अंग्रेज स्थापत्य-विशारद सर बैनिस्टर फ्लेचर अत्यन्त उल्लासपूर्वक लिखते हैं—"यह बहुत ही प्रभावशाली और गम्भीर असर डालता है। इस विशाल नेत्र (केन्द्रीय गुम्बद के सिरे पर गोलाकार खुला झरोखा) के निर्माण का लाक्षणिक अर्थ यह हो सकता है कि सब देवताओं के इस देवालय में पूजा ऐसे भवन में हो जिस पर स्वर्ग का वितान खुला हुआ हो। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इस अकेले वातायन से ही इस इमारत के सभी भाग उस समय भी पर्याप्त रूप से प्रकाशित रहते हैं जबकि इसके काँसे के विशाल द्वार बाहर छा रही धूप के प्रकाश का प्रवेश होने देने के लिए खुले नहीं रहते।"

रोमन सम्राट् हैड्रियान के काल में पैन्थियन की निचली मंजिल में बाहर की ओर सफेद चमकनेवाले पैंटीलिया के संगमर्मर के टुकड़े लगे हुए थे और ऊपर की दोनों मंजिलों की दीवालों पर एक प्रकार का पलस्तर लगा था। मन्दिर का गुम्बद, जिसके निचले हिस्से में सीढ़ियों-सी बनी हुई थी, मुलम्मा किये हुए काँसे की चद्दरों से मढ़ा हुआ था। ६५५ ई० में ये चद्दरें हटाकर कुस्तुन्तुनियाँ भेज दी गईं और उनके स्थान पर सीसे की चद्दरें लगा दी गईं। पैन्थियन के अग्र-गृह में जो अष्टकोण अलिन्द बना हुआ है, उसमें नक्काशी करके काँसे का 'दैत्य-मर्दन' अथवा टाइटन्स (दैत्यों) एवं दूसरे देवताओं के युद्ध का एक भव्य मूर्त्ति चित्र अंकित किया गया था और उसके पीछे चौड़ी अटारी में काँसे की भव्य मूर्त्तियों के समूह आश्रित थे। राज्यशक्ति और धार्मिक शक्ति में कितने ही परिवर्त्तनों के बावजूद इतनी शताब्दियों बाद भी यह देवालय अभी तक सुरक्षित बच रहा है और आज भी धार्मिक उपासना के काम में आता है। किन्तु आज उसमें जिस धर्म की उपासना की जाती है वह तथाकथित "मूर्त्तिपूजक विधर्मियों की देवमण्डली" के अधिक आकर्षक और चित्र विचित्र धर्म के बजाय ईसाइयों के एक ईश्वर की उपासना का धर्म है।
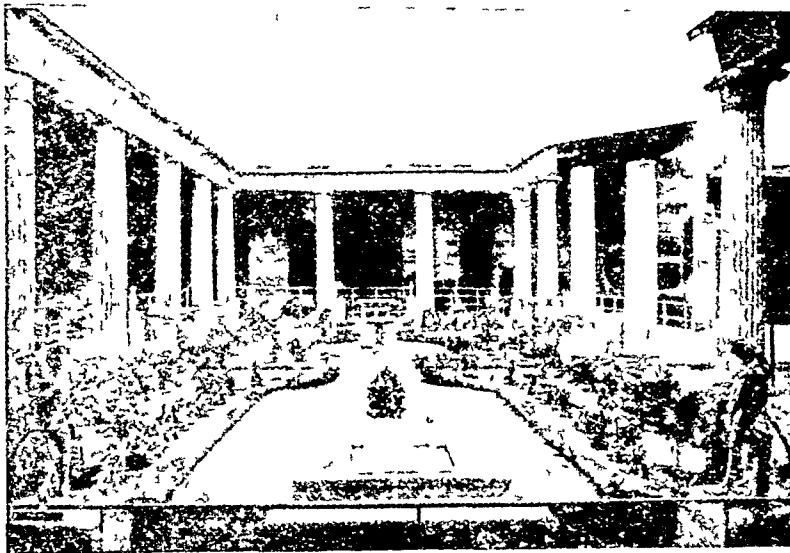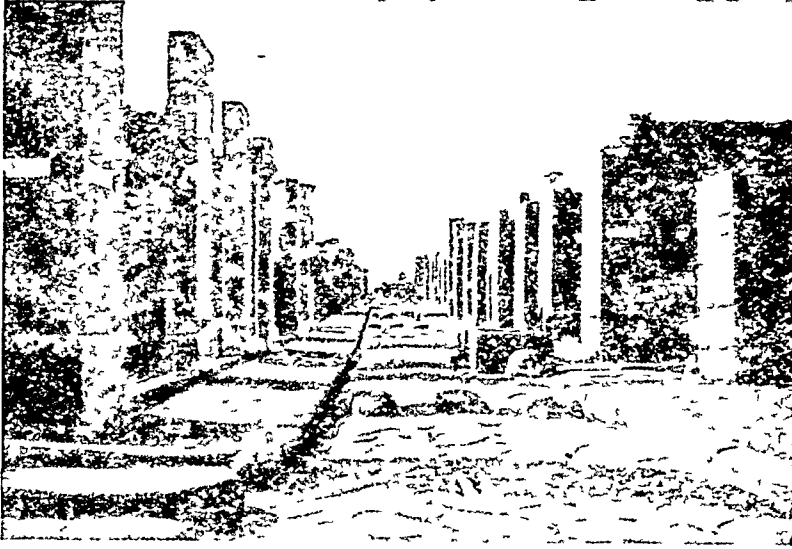
(ऊपर) पाम्पिआई नगर की एक गली का भग्नावशेष।
(नीचे) खुदाई में निकला वहीं का एक मकान (पुनर्निर्मित)।
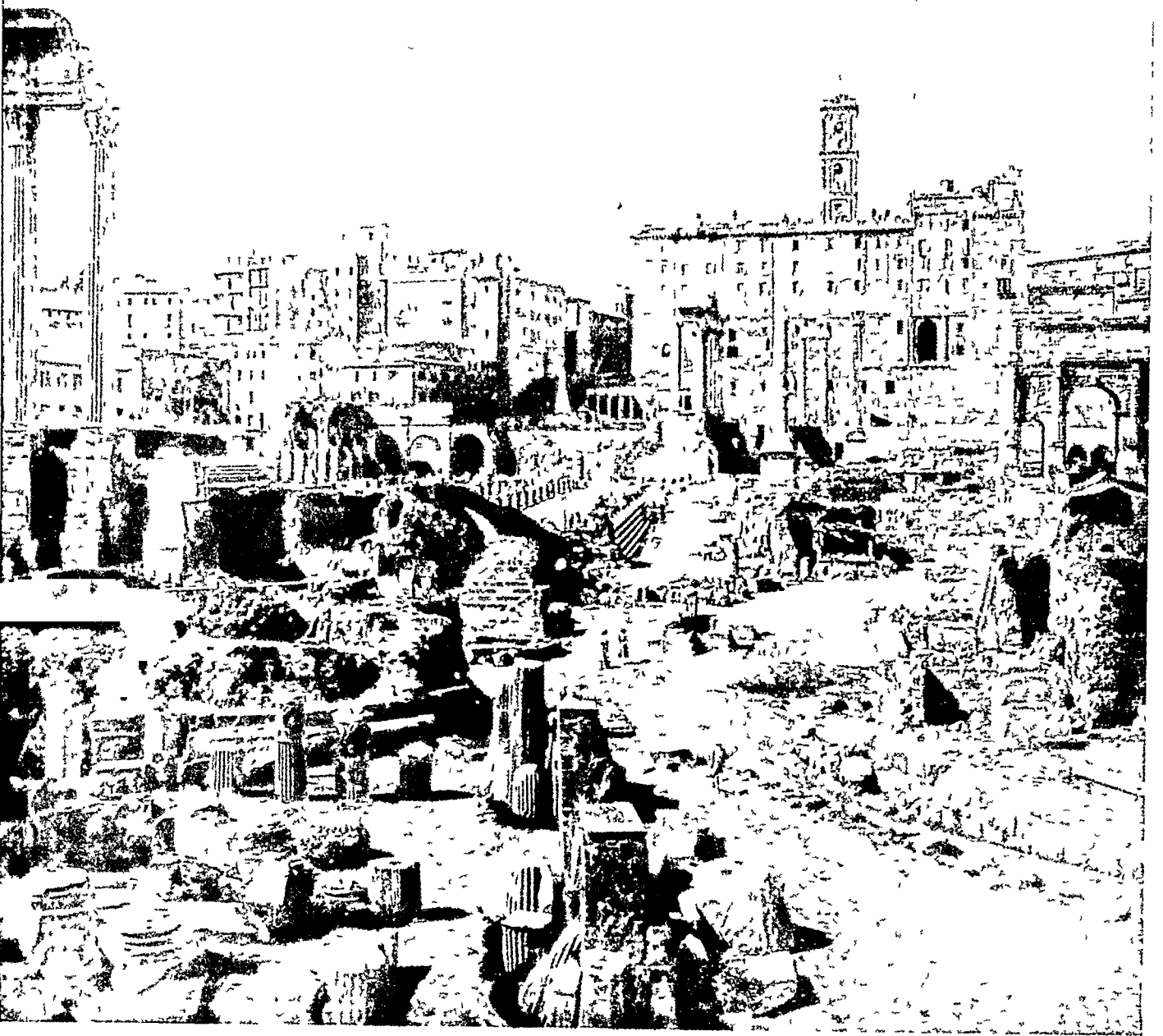
रोम के सुप्रसिद्ध 'फोरम रोमेनम' नामक चौक के खँडहर

१८७० में खुदाई करने पर इस फोरम की सुंदर इमारतों के यही टूटे-फूटे अंश निकले थे, जो रोम के भव्य अतीत की याद दिलाते हैं। अपनी असली दशा में यह स्थान कैसा दिखता रहा होगा इसका एक कल्पना-चित्र अगले पृष्ठ पर दिया गया है।
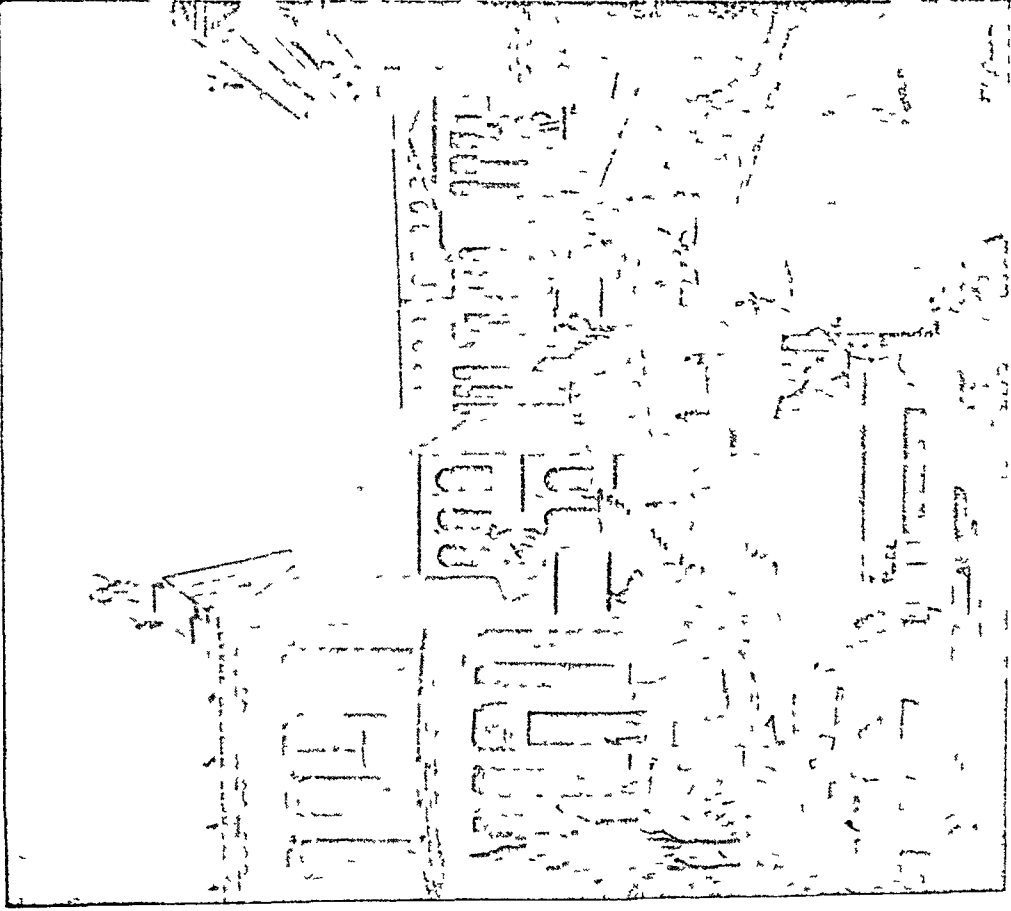
'फोरम रोमेनम' अपने गौरव के दिनों में कैसा दिखता रहा होगा इसकी एक कल्पना। इसी फोरम का एक और काल्पनिक दृश्य अगले पृष्ठ पर देखिए।
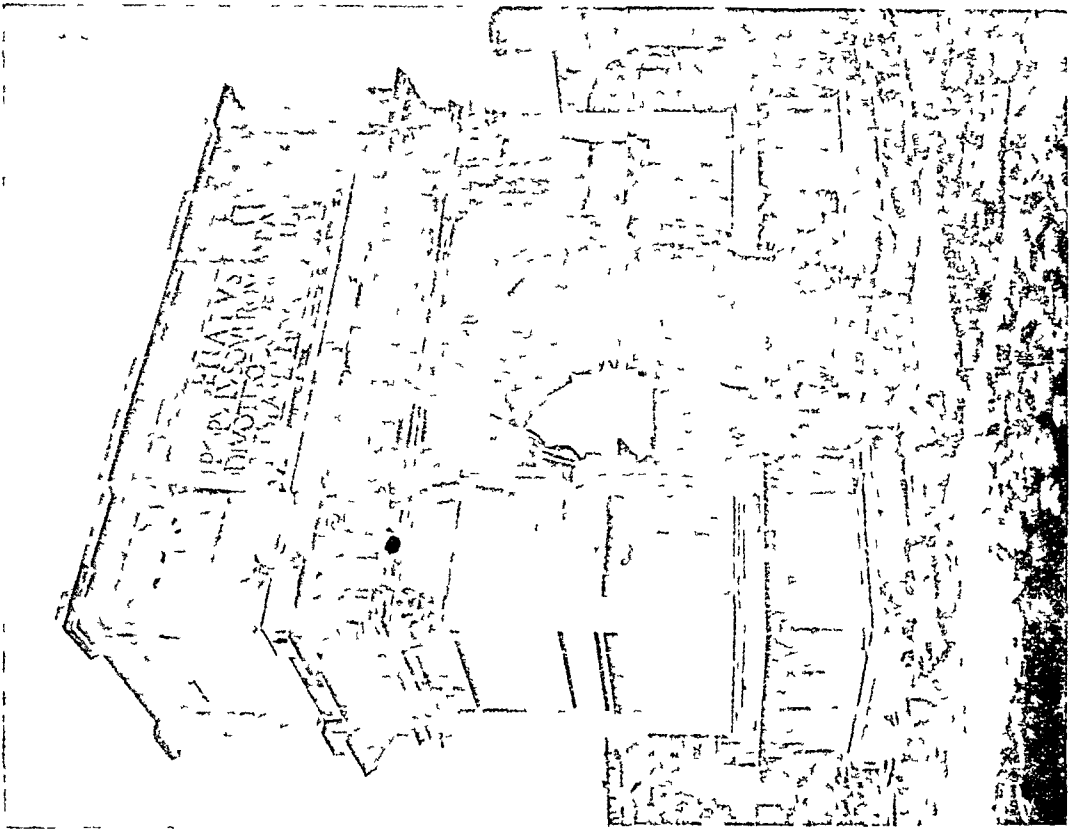
'फोरम रोमेनम' में स्थित टाइटस का स्मारक विजय-द्वार।
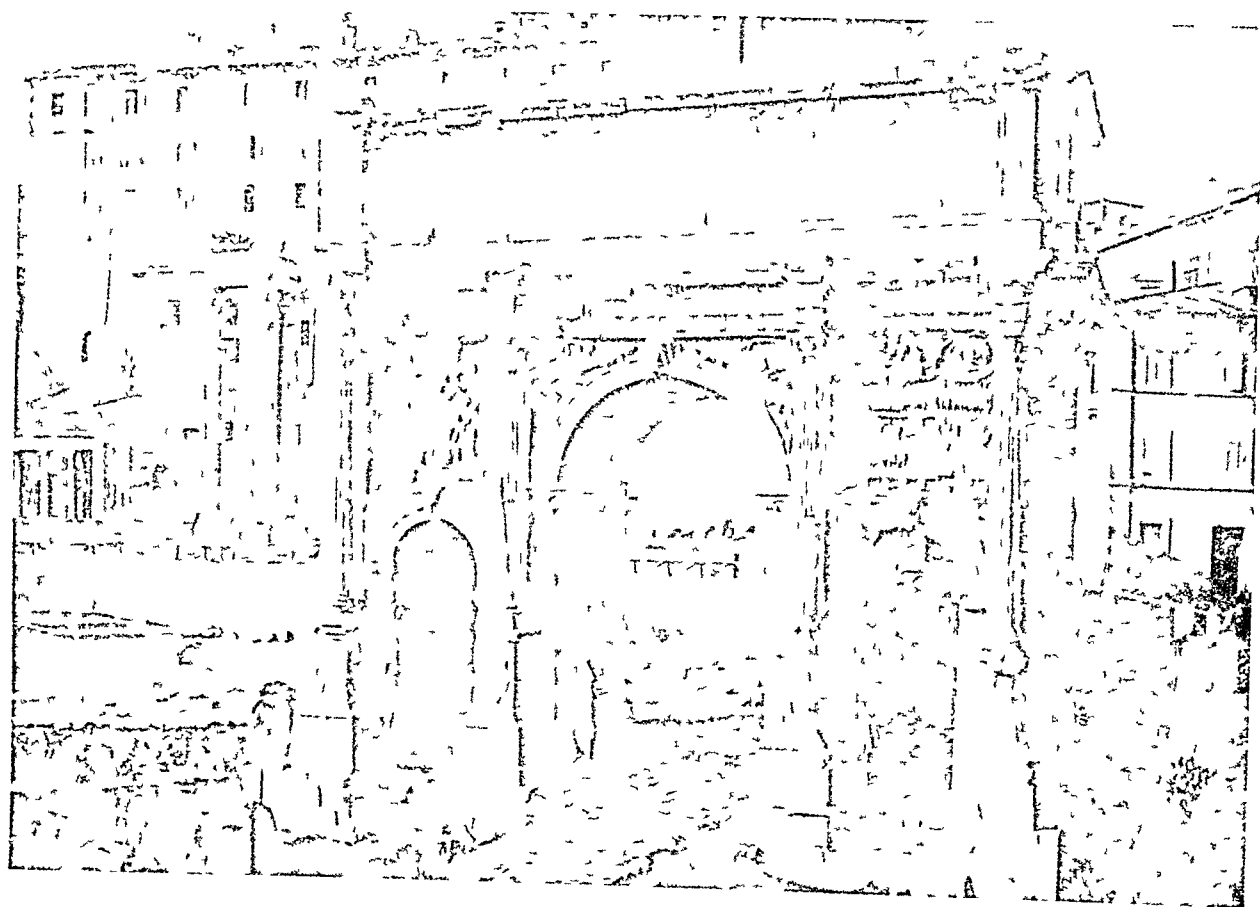
(ऊपर) 'फोरम रोमेनम' नामक रोम के सुप्रसिद्ध चौक का दक्षिणी भाग अपनी असली हालत में ऐसा ही भव्य दिखता रहा होगा। यह रोम के नागरिक जीवन का प्रधान केन्द्र-स्थान था। इसकी अनेक इमारतों के खण्डहर आज भी खड़े हैं। (नीचे) रोम की एक और सुंदर इमारत—'सेप्टीमियस सेवेरस का विजय-द्वार'।
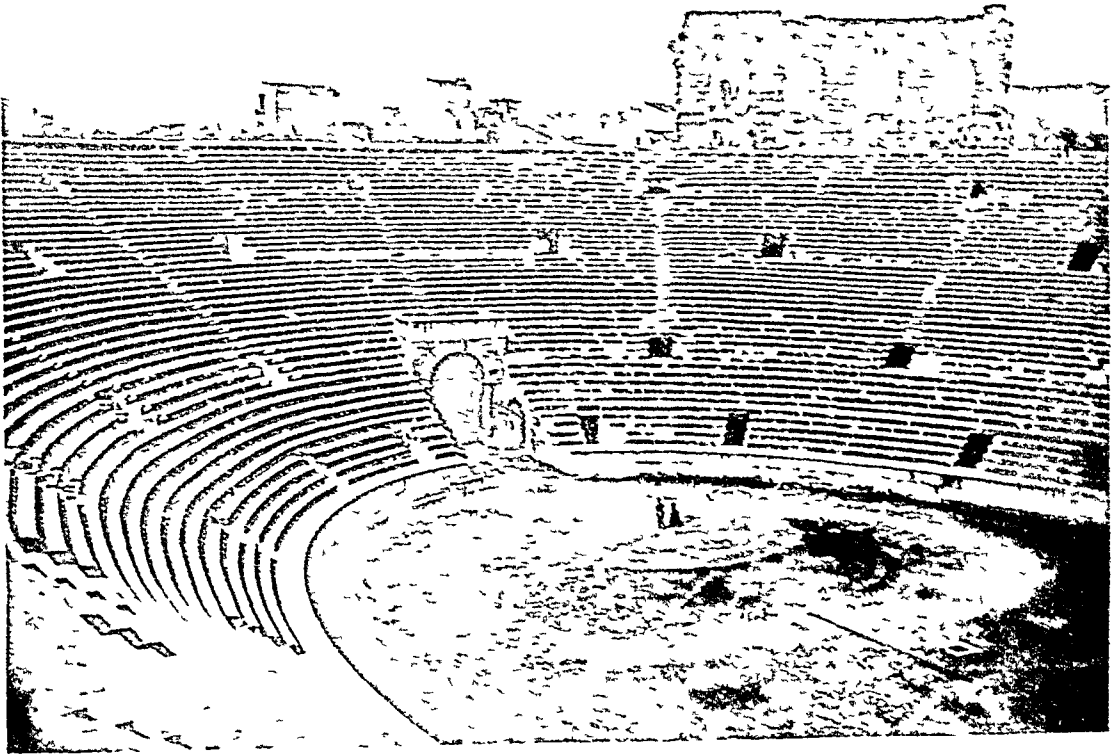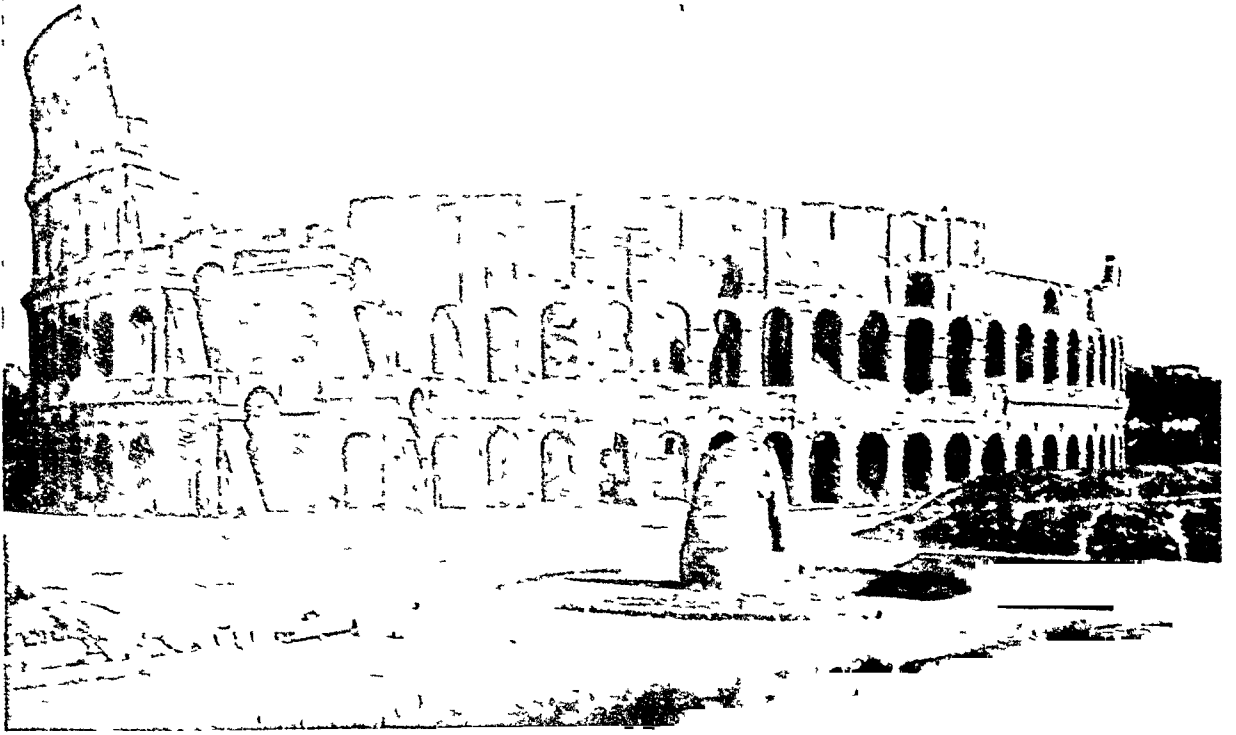
(ऊपर) रोम के संसार-प्रसिद्ध एम्फ़ थिएटर 'कलीशियम' के भग्नावशेषों का बाहरी दृश्य। (नीचे) वेरोना के प्रसिद्ध एम्फीथिएटर के भीतर का दृश्य, जिससे यह जाना जा सकता है कि इन रंगशालाओं में दर्शकों के बैठने के लिए कैसी बैठकें बनी रहती थीं।

६०८ ई० मे पोप बोनीफेस चतुर्थ ने इसे शहीदों की मडली की प्रसिद्ध वीर आत्मा सान्ता मारिया की स्मृति मे उत्सर्ग कर दिया था और कैटेकुम्ब नामक समाधिगृहो से शहीदो की अस्थियों के ढेर लाकर यहाँ रखवाए गए थे। अब देवालय का यह भाग सान्ता मारिया रोटुण्डा के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी विधर्मी प्रतिमाएँ, सगमर्मर का बाह्य आवरण, इन्द्र-धनुष की चमकवाला काँसे का पत्तर और आँखो में चका-चौध उत्पन्न करनेवाला सोने का मुलम्मा अब वहाँ से हटा दिया गया है। किन्तु फिर भी इसकी नितान्त सरल रचना और गठन के सामजस्य के कारण सारा ससार बरबस इस इमारत की प्रशसा करता है।

बेसिलिका, जो न्यायालय और क्रयविक्रय के केन्द्रो का काम देते थे, अपनी केन्द्रीय स्थिति से इस बात को स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं कि प्राचीन रोम मे क़ानून और व्यापार को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ये इमारतें, जो एक विशेष प्रकार की हैं, प्राचीन काल के और ईसाई स्थापत्य के बीच की कड़ियाँ हैं। बेसिलिका, जो सम्भवतः ग्रीक मन्दिर का रोम मे विकसित रूप था, सामान्यतया एक ऐसे ढाँचे के अनुसार बनाया जाता था जिसका आकार एक असम चतुर्भुज का होता था। इसकी लम्बाई चौडाई से दूनी होती थी। इसकी लम्बाई के एक सिरे से दूसरे सिरे तक खम्भों की दो या चार क़तारें बनी हुई होती थीं, जिनके द्वारा तीन या पाँच गलियाँ बन जाती थीं। ऊपरी भाग मे गैलरियाँ और स्तभपक्तियाँ बनी रहती थीं, जिन पर छत टिकी होती थी। अन्दर आने का फाटक बग़ल मे होता था या एक सिरे पर बना रहता था। न्यायाधीशों के बैठने का स्थान दूसरे सिरे पर एक चबूतरे पर होता था, जो साधारण-तया अर्द्ध-वृत्ताकार होता था और कभी-कभी स्तम्भपक्तियो या नीचे झुके हुए छज्जे के द्वारा मुख्य भवन से अलग होता था। मच के चारो ओर असेसरों के बैठने के लिए आसन होते थे। बीचोबीच मे कुछ ऊँचाई पर 'प्रीटर' या न्यायपति का आसन होता था और सामने की ओर वेदी होती थी, जहाँ पर कार्यारम्भ के पूर्व बलि चढाई जाती थी। यह इमारत, जो साधारणतया लकडी की छत से ढकी होती थी, कभी-कभी अगल-बगल खुली भी रहती थी और उसका बाहरी भाग भीतरी भाग की अपेक्षा सादा और बिना सजावट का होता था। रोम के सबसे प्रसिद्ध बेसिलिका ट्राजान और कान्स्टेन्टाइन के थे। उनके क्षेत्रफल क्रमशः ३८५×८७ फीट तथा २६५×८३ फीट थे। अन्य बेसिलिका उन सभी स्थानों पर मिलते हैं, जहाँ-जहाँ रोमन साम्राज्य का झण्डा गडा था—उदाहरणार्थ ट्रेव्स, टिमगाड और सिल्चेस्टर (इंग्लैण्ड) में, क्योंकि जहाँ-कहीं रोमनो ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था वहाँ पर न्याय की व्यवस्था के लिए बेसिलिका बनाना उनकी नगर-निर्माण-योजना का एक महत्त्वपूर्ण अग होता था।

साम्राज्यवादी रोम द्वारा विशाल सार्वजनिक 'थर्मा' या स्नानागारो का निर्माण सम्भवतः ग्रीक-व्यायामशालाओं के विकास की ही नैसर्गिक पराकाष्ठा का रूप था और वे आज अपनी भग्नावस्था मे भी प्रमोदप्रिय रोमन जनता की दिनचर्या और प्रथाओं की स्पष्ट झलक देते हैं। एम्फीथिएटरो की भाँति वे रोमन सभ्यता की विशेषताओं मे से हैं। इन स्नानागारों के प्रमुख भग्नावशेष रोम और पाम्पिआई में मिलते हैं। १६ वीं शताब्दी मे, जबकि वे आज की अपेक्षा अधिक सुरक्षित थे, पैलेडिओ द्वारा तैयार किए गए रेखाचित्रो से उनकी प्राचीन महानता के विषय मे बहुत-कुछ जाना जा सकता है। ये स्नानागार केवल विलासपूर्ण स्नान और जलक्रीडा के लिए ही नहीं बनाए गए थे, बल्कि समाचार-सकलन और गपशप के लिए भी उनका उपयोग होता था। वे उन दिनों आजकल के एक क्लब का काम देते थे। वे सार्वजनिक जीवन के एक मिलन-स्थान के समान थे। इसके अतिरिक्त वे भाषण, शारी-रिक व्यायाम, खेल-कूद के लिए भी काम आते थे। वास्तव मे वे साम्राज्यवादी रोम के दैनिक जीवन के एक प्रमुख अंग बन गए थे। उनके भीतर जाने के लिए कभी-कभी लगभग आधा पैसा प्रवेश-शुल्क देना पड़ता था, लेकिन आगे चलकर उन सम्राटो ने, जो कि लोकप्रिय होना चाहते थे, साधारण जनता के लिए उनमें निःशुल्क प्रवेश की आज्ञा दे दी थी।

इन सार्वजनिक स्नानगृहों के प्रबन्ध के लिए एक सचा-लक, एक प्रवेश-शुल्क एकत्र करनेवाला और एक दरवाज़ों की रक्षा करने के लिए प्रहरी होता था। दूसरे कामो के लिए सेवको का एक बडा दल होता था, जिसमे उबटन लगाने या मालिश करनेवाले, नाखून काटने और रँगनेवाले, पानी गर्म करनेवाले, नाई, रोशनी जलानेवाले तथा ऐसे सैकड़ो गुलाम जुटे रहते थे, जिनके द्वारा स्नान अत्यधिक विलासपूर्ण मनबहलाव का साधन बन जाता था।

आम तौर पर ये स्नानागार एक ऊँचे मच पर बनाए जाते थे और उनके चारो तरफ एक चहारदीवारी होती थी। उसके नीचे प्रबन्ध-विभाग के लिए भट्टे और कमरे होते थे। इसके तीन प्रमुख विभाग इस प्रकार थे—

(क) विशाल मध्यवर्ती भवन—इसमे 'टेपीडेरियम' या उष्ण विश्रामगृह, 'कैलिडेरियम' या गर्म जल से स्नान के लिए गर्म कमरा, 'सुडेटोरियम' या सबसे गर्म कमरा,

'फ्रिजिडेरियम' या ठडा कमरा (जिसमे 'पिसाइना' या तैरने के लिए जलाशय भी बना रहता था) आदि हिस्से होते थे। ये सब नहाने से सबध रखते थे और आज के तुर्की हम्माम के आयोजन से कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे। इनके अलावा इनमे 'एपोडाइटेरिया' या वस्त्रागार तथा 'अङ्कटोरिया' या तेल तथा उबटन लगाने के कमरे भी थे, जहॉ कि 'अलिप्टोर' स्नान करनेवालों की देह मलता, उबटन लगाता और 'स्ट्राइजिलस' से रगडकर उनके शरीर का मैल छुडाता था। कभी-कभी इस केन्द्रीय भवन के साथ 'स्फीयरीस्टेरियम' या गेद खेलने का कमरा, एक पुस्तकालय और एक छोटा-सा नाट्यगृह भी जुडा रहता था।

(ख) एक विस्तृत खुला ऑगन—यह केन्द्रीय भवन के चारों तरफ पार्क की तरह का एक घेरा होता था, जिसमे वृक्ष लगे रहते थे। यह मूर्त्तियों तथा फौवारों से सजाया रहता था। इसका एक भाग व्यायामशाला के उपयोग मे आता था, जिसके अगल-बगल मे ऊँचाई पर दर्शकों के लिए बैठने के आसन होते थे। यहॉ पर कुश्ती, दौड, उछल-कूद, घूँसेबाजी जैसे व्यायाम के खेल होते थे।

(ग) कमरों की बाहरी शृ खला—इस भाग मे व्याख्यान के कमरे तथा दार्शनिकों, कवियो एव राजनीतिज्ञों के एकत्रित होने के लिए कमरे बने रहते थे। साथ ही इनसे सटे हुए स्तभों की पक्तियोवाले बरामदे, जो कि रोम के सभी खुले हुए स्थानों की एक विशेषता थे, लोगों की धूप से रक्षा करने का काम देते थे। कृत्रिम नहर के जल से भरे जानेवाले एक बहुत बडे जल के बॉधद्वारा ऊपर बताए गए स्नानागार के गर्म और ठडे हम्मामों को जल पहुँचाया जाता था। दूसरे कमरे दूकानदारों को किराये पर उठा दिये जाते थे, या स्नानागार के विशाल प्रबन्ध-विभाग म काम करनेवाले असख्य दासों के काम मे आते थे।

रोम के सबसे प्रसिद्ध स्नानागार काराकाला और डायोक्लीटियन के थे। पहले स्नानागार मे १६०० स्नान करनेवालो के लिए प्रबन्ध था और यद्यपि वह इस समय भग्नावस्था मे है फिर भी उसके विभिन्न भागों की स्थिति का अब भी पता लगता है। यह स्नानागार २० फीट ऊँचे एक चबूतरे पर बना था, जो कि लम्बाई मे हर दिशा मे १ मील के पॉचवे भाग से अधिक था। इसका केन्द्रीय भवन, जो कि केवल स्नान के लिए ही उपयोग मे आता था, ७५० फीट लम्बा और ३८० फीट चौडा था, अर्थात् लन्दन के वेस्टमिन्स्टर पैलेस के बराबर अथवा वहॉ के सुप्रसिद्ध ब्रिटिश म्यूज़ियम या ब्रिटिश न्यायालय की इमारत के आकार से कही बड़ा था। इसका सारा फर्श नक्काशी के चित्रों से भरा था और दीवाले एक विशेष प्रकार के प्लास्टर को रॅगकर बनाए गए चित्रों से सजाई गई थीं। स्नानागार के विशालकाय स्तम्भ ग्रैनाइट, पोरफायरी, अलैबस्टर तथा ईजियन द्वीपसमूह मे पाये जानेवाले अन्य दुष्प्राप्य सगमरमर से बनाए गए थे। इन मण्डपो मे प्राचीन-काल की कई सर्वोत्तम कृतियॉ प्रतिष्ठापित थी, जो ग्रीस से लाई गई थीं अथवा रोम में ग्रीक कलाकारो द्वारा निर्मित्त हुई थी। पद्रहवीं शताब्दी मे योरप मे पुनरुज्जीवन-काल मे इन सार्वजनिक स्नानागारों की खुदाई होने पर उनमे से बहुत-सी प्राचीन काल की सर्वोत्तम कृतियो के नमूने खोद निकाले गये थे और वे हटाकर रोम के वेटिकन अथवा दूसरे सग्रहालयों मे पहुँचा दिए गए थे, जहॉ से बाद मे वे योरप के दूसरे सग्रहालयो मे पहुँचा दिए गए। डायोक्लीटियन के स्नानागार की साधारण रचना काराकाला के स्नानागार से मिलती-जुलती है। उसमे ३ हजार व्यक्तियो के स्नान का प्रबन्ध था।

इन सार्वजनिक स्नानागारों के, जहॉ कि लोग प्रत्येक प्रकार के व्यसन के लिए एकत्रित होते थे, अबाध स्वच्छन्दता और कामुकता से युक्त जीवन के परिणामस्वरूप आरम्भिक ईसाइयों के ज़माने में उन पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। ५ वीं शताब्दी मे हूणो द्वारा रोम मे जल लानेवाली कृत्रिम नहरों के नष्ट-भ्रष्ट कर दिए जाने तथा जनसख्या घट जाने के कारण उनका इस्तेमाल दिनोदिन कम होता गया और उनकी उपयोगिता जाती रही। आगे चलकर तो ये स्नानागार मध्ययुग और पुनरुज्जीवन-काल के शिल्पियो के लिए पत्थर की खदानो का काम देने लगे।

रोमन नाट्यगृहो का ढॉचा ग्रीक नमूनो के ढग पर ही बनाया गया था। उन्हे रोमन रुचि के अनुकूल बनाने के लिए उनमे केवल साधारण परिवर्त्तन कर दिए गए थे। इस प्रकार दर्शको के बैठने का स्थान, जिसमे एक के ऊपर दूसरी गैलरियॉ बनी रहती थी, केवल अर्द्धवृत्त का ही रहने दिया गया। ग्रीक नाट्यगृहो का केन्द्रीय भाग, जो कि नर्त्तक और गायक पात्रो के लिए निश्चित रहता था, दर्शको के बैठने के स्थान का ही एक अग हो गया। यह रोमन व्यवस्थापकों तथा उच्च श्रेणी के लोगो के बैठने लिए सुरक्षित रहता था। स्टेज अब चौडा और ऊँचा हो गया। रोमन नाट्यगृह केवल पहाड़ियो को काटकर ही नही बनते थे, बल्कि ककरीट की मेहराबे खड़ी करके भी उनकी रचना होती थी। ये मेहराबे अपने ऊपर टिकी हुई बैठने के आसनों की पक्तियों को थामे रहती थी। इन पंक्तियों के नीचे अनेक बरामदे होते
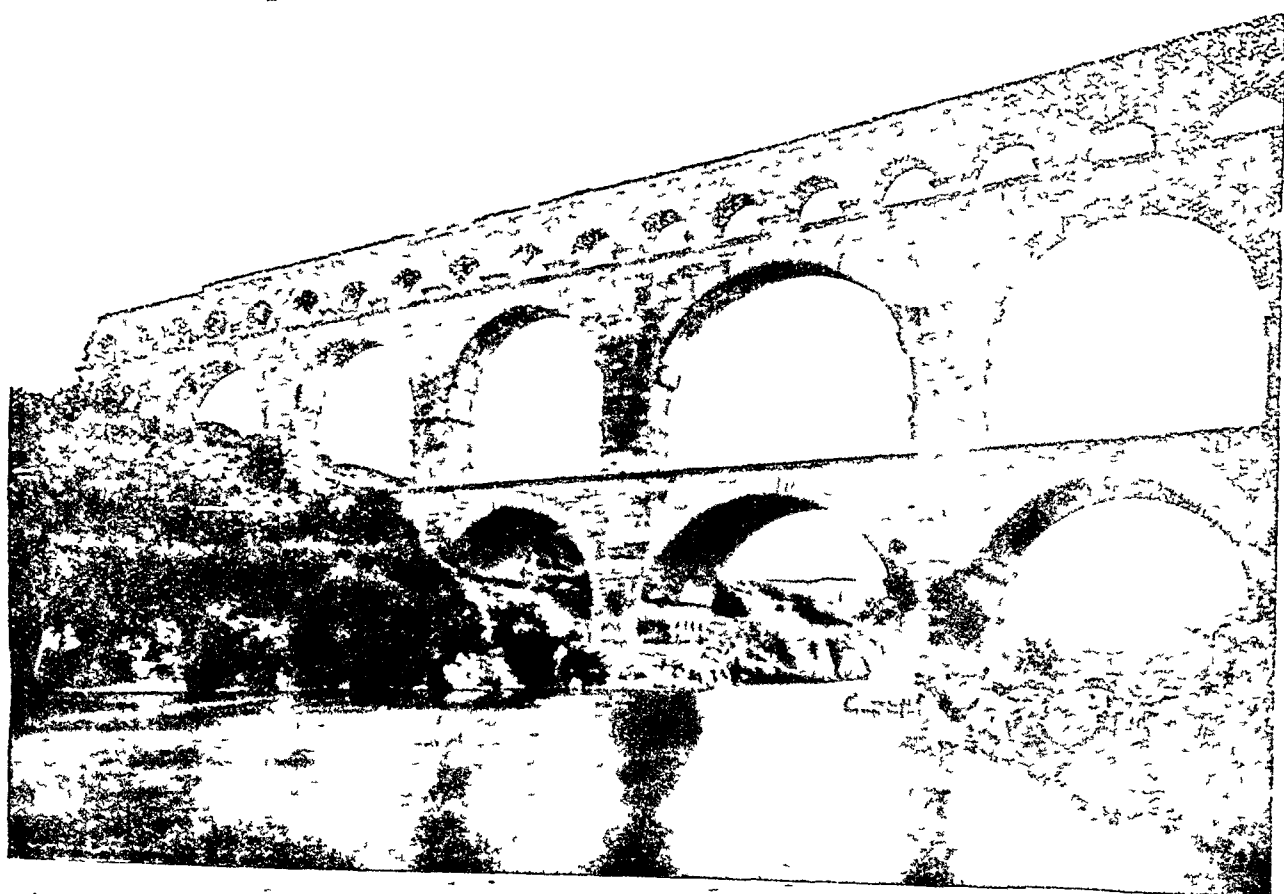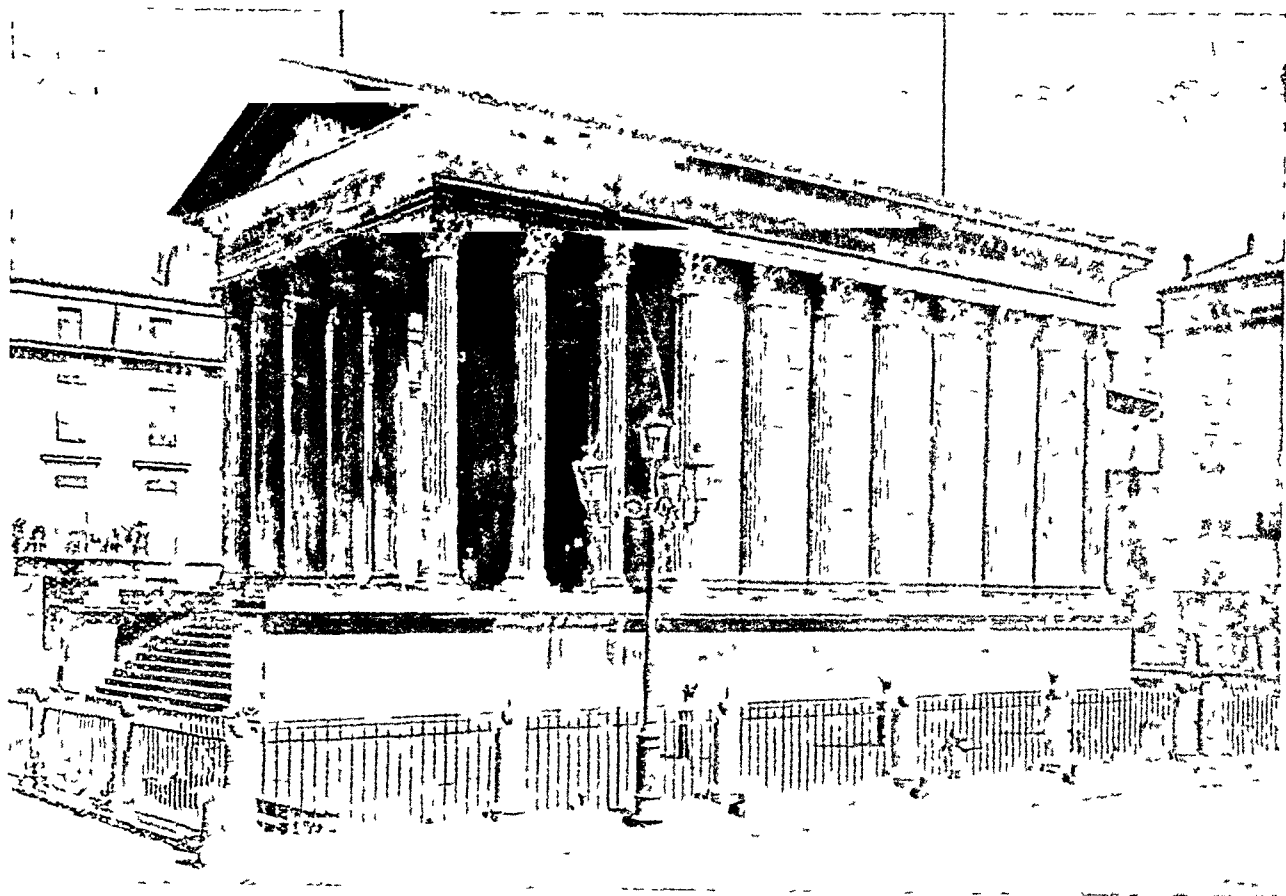
(ऊपर) फ्रान्स मे नीम्स नामक स्थान मे स्थित रोमन युग की एक भव्य इमारत—'मेजों कारे' । यह सबसे उत्तम रूप से सुरक्षित रोमन इमारतो मे है । (नीचे) नीम्स के समीप रोमन लोगों द्वारा बनाया गया एक तिमंज़िला जलवाहक सेतु या एक्वेडक्ट । ऐसे सेतु बनाने मे रोमन लोग बड़े पटु थे ।
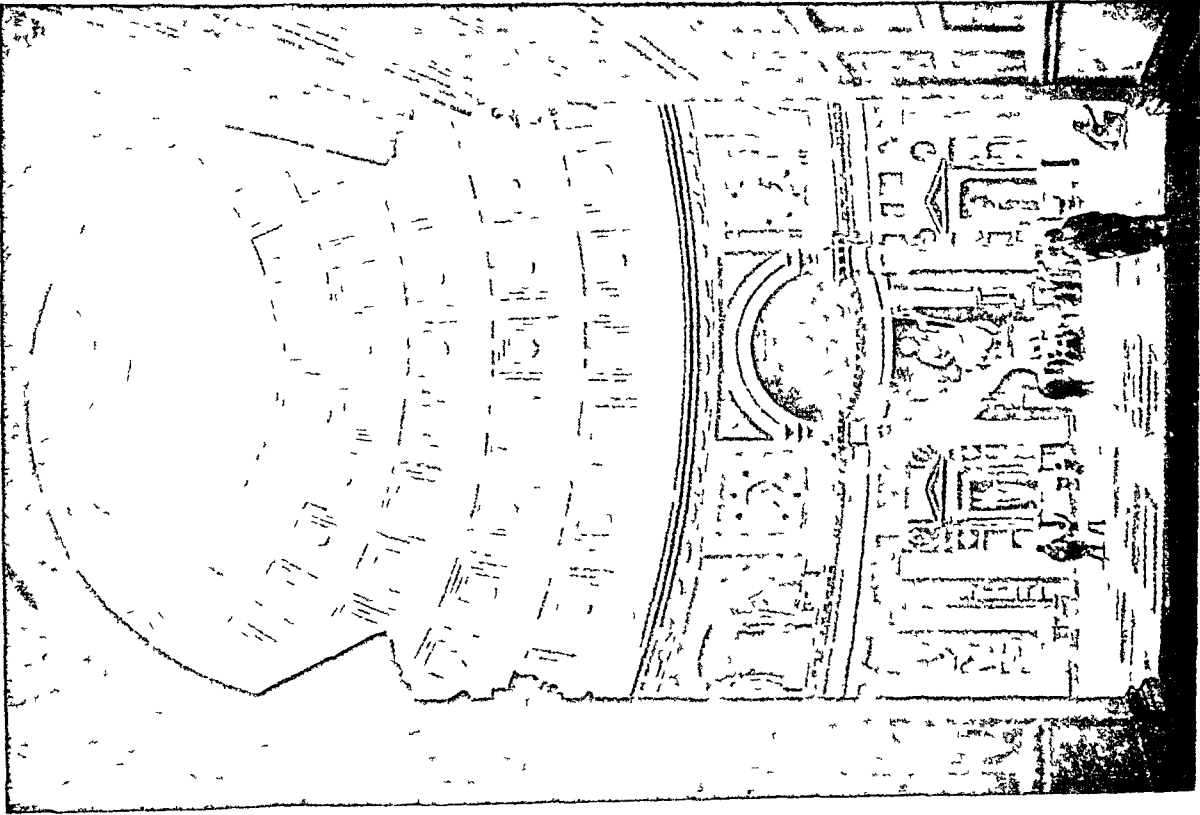
ईसाई प्रभाव में आने के पहले रोमन काल में रोम का प्रसिद्ध पैंथियन नामक मंदिर भीतर से कैसा दिखता रहा होगा इसका एक काल्पनिक चित्र। प्रकाश आने के लिए छत में बनाए गए खुला झरोखा भी दिखाई पड़ रहा है।
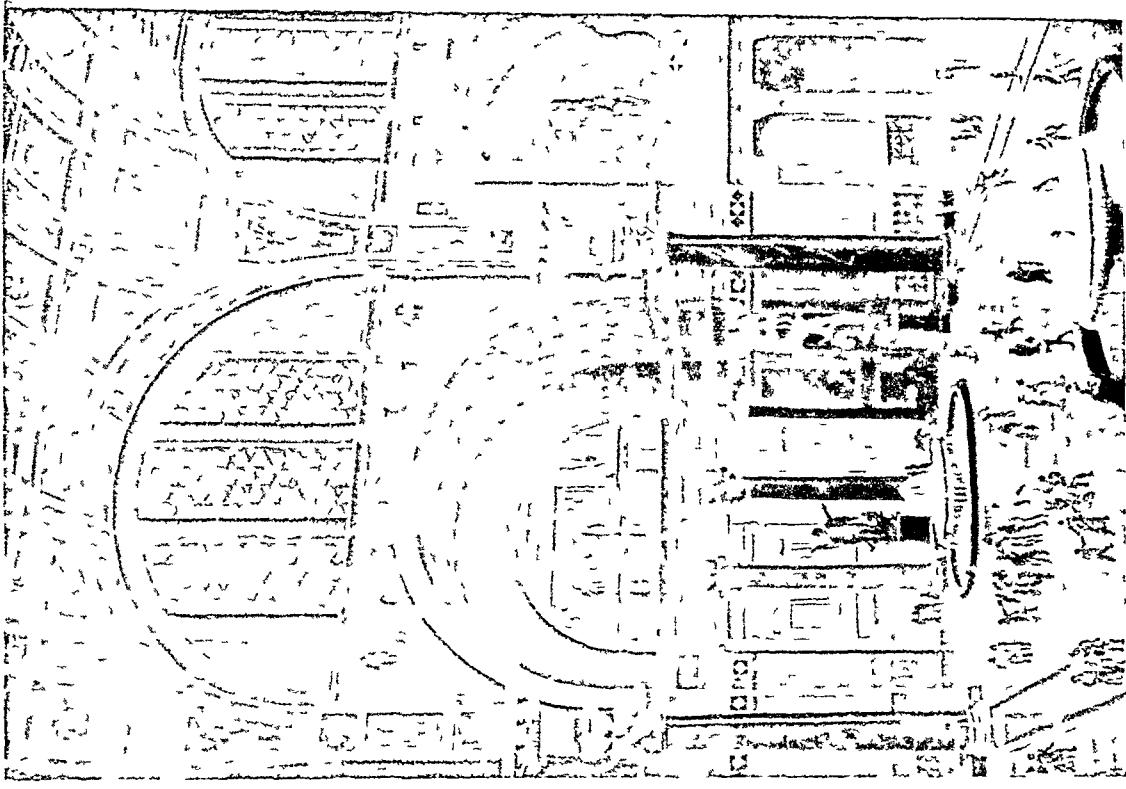
रोम में स्थापित काराकाला का सुप्रसिद्ध स्नानागार या हमाम अपनी असली हालत में कैसा दिखता रहा होगा इसकी एक कल्पना। यह हमाम के भीतर का दृश्य है।

थे, जो कि एकाएक वर्षा होने पर बचाव का काम देते थे।

फ्रान्स के दक्षिण मे ऑरेन्ज नामक स्थान मे बना हुआ रोमन नाट्यगृह, जो कि अब भी पूर्ववत् बना हुआ है, कुछ अशो मे पहाड़ो के भीतर काटकर बनाया गया है और कुछ अशो मे बाहर से उठाया गया है। इसका व्यास ३४० फीट है। इसमे ७ हज़ार दर्शक बैठ सकते हैं। स्टेज २०३ फीट चौड़ा और ४५ फीट ऊँचा है। रोमनो के दूसरे नाट्यगृहो के उदाहरण रोम का मार्सेलस, एथेन्स मे हीरोड्स एटिकस का ओडियन, तथा आस्टिया, पाम्पिआई, टाओ-रमीना, टिमगाड और वेरूलैमियम (बॉथ) के नाट्यगृह हैं।

ऐम्फीथिएटर रोम की अपनी विशेषता थी, यहाँ तक कि ग्रीक भाषा मे इसके लिए कोई शब्द ही न था। वे समूचे रोमन साम्राज्य के क्षेत्र मे पाये जाते हैं और उनसे रोमनो के चरित्र और जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—जो कि नाट्यमच पर होनेवाले स्वाँग की अपेक्षा शस्त्रधारी वीरो के प्राणघातक मल्लयुद्ध को अधिक पसन्द करते थे। सैनिको के राष्ट्र के लिए यह शिक्षण देने की प्रथा रोमन लोगो द्वारा अच्छी समझी जाती थी। शस्त्रधारी योद्धाओ का द्वद्वयुद्ध सम्भवतः मृत व्यक्ति की आत्मा के लिए मनुष्य की बलि देने से सम्बन्ध रखनेवाले धार्मिक श्राद्ध-सस्कारो का परिणाम था। जिस दीर्घवृत्ताकार रगशाला मे ये युद्ध होते थे वह वास्तव मे आमने-सामने बनी हुई दो रगशालाओं को एक मे मिलाकर बनाई गई थी। योद्धाओ के मल्लयुद्ध के अति-रिक्त यह स्थान नौ-सैनिक प्रदर्शनो के लिए भी काम आता था और ऐसे अवसर पर समूचा स्थान पानी से भर दिया जाता था, ताकि उस पर जहाज़ उसी तरह तैर सके जिस तरह वे समुद्रो मे तैरते हैं। साँडो की लड़ाई के काम मे आनेवाले स्पेन के आधुनिक अखाड़े या 'एरिना' रोमनो के शानदार एम्फीथिएटरो के ही क्षुद्र वशज हैं। उनकी बनावट वही है और उनका प्रयोग भी उसी उद्देश्य के लिए होता है। लैटिन भाषा मे 'एरिना' शब्द का अर्थ रेत अथवा बलुआ समुद्र-तट है और इन अखाड़ो का यह नाम इसलिए पड़ा कि उनमे रेत बिछी रहती थी, ताकि मल्लयुद्ध करनेवालो के रक्त को वह सोख ले और उसका चिह्न आसानी से मिटाया जा सके।

ससार का सबसे प्रसिद्ध एम्फीथिएटर रोम का 'कली-शियम' है, जिसको रोमन सम्राट् वैस्पेसियन ने बनवाना शुरू किया था और ऊपरी मजिल को छोड़कर (जो तीसरी शताब्दी मे जोड़ी गई थी) सम्राट् डोमीशियन द्वारा पूरा किया गया था। यह इमारत मनुष्य के रचना-कौशल द्वारा निर्मित अब तक की सबसे आश्चर्यजनक कृतियों मे से एक है और रोमवासियो के चरित्र मे निर्दयता और तड़क-भड़क का जो अश है उसकी सजीव प्रतीक है। यह रोम की शक्ति का साकार रूप है। भविष्यवक्ताओ ने यह भविष्यवाणी की थी कि "जब कलीशियम का विनाश होगा तब रोम का भी विनाश हो जायगा।" आकार मे यह ६२० फीट लम्बा और ५१३ फीट चौड़ा विस्तृत दीर्घवृत्त है। हर मज़िल मे ८० मेहराबदार दरवाज़े बने हैं और निचली मज़िल के दरवाज़ों से होकर तमाशा देखने के लिए बैठने की जगहो पर जाने का रास्ता है। अखाड़े का मुख्य भाग २८७ फीट लम्बा और १८० फीट चौड़ा एक अण्डाकार स्थान है, जिसके चारो ओर १५ फीट ऊँची दीवाल है। इस दीवाल के पीछे सम्राट् तथा अग्रपुरोहित, ब्रह्मचारिणियो, सभासदो, न्याया-धीशो तथा राज्य के दूसरे उच्च राज्याधिकारियो के बैठने का स्थान था। पदाधिकारियो के इन आसनो के पीछे, जो 'पोडियम' कहलाते थे, ८० हजार दर्शको के बैठने के लिए बृहत् स्थान बनाया गया था, जिसके नीचे बरामदे और सीढ़ियाँ बनी हुई थी। भवन के सबसे नीचे के भाग मे, जो रगभूमि के धरातल के समतल होता था, जगली जानवर रखे जाते थे। बैठने के आसन, जो अब अपनी जगह से हटा दिए गए है, चार मुख्य भागो मे बँटे हुए थे। नीचे के दो भाग या विशाल घेरे अश्वारोहियो और रोमन नागरिको के लिए थे। एक घेरेदार दीवाल तीसरे भाग से इस हिस्से को अलग करती थी। तीसरे भाग के ऊपर सबसे ऊपरी बैठक की पंक्तियाँ थीं, जिनमे जाने का रास्ता चारो ओर बने हुए बरामदो से होकर था।

कलीशियम प्राचीन इमारतो मे अपने ढग की अनोखी इमारत है। उसके बनाने मे स्थापत्य-कला की बारीकियों से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक कठिनाइयाँ पड़ती थी, विशेषकर इस कारण कि रोमन लोगों ने इस सारी की सारी दैत्या-कार इमारत को नीचे से ऊपर तक चुनकर बनाया था और इस विशाल इमारत मे उस प्रकार के किसी बाहरी सहारे का उपयोग नही किया गया था जैसा कि ग्रीक लोग, दर्शक-मण्डली के बैठने के स्थान को धरती के भीतर खोदकर, नाट्यशालाओं के निर्माण मे काम मे लाते थे। इससे छोटे अन्य एम्फीथिएटर वेरोना, पाम्पिआई, पोजिओली, कैपुआ, साइरेक्यूज, नीम्स, आर्ल, तथा (कारथेज के पास) एल जेम मे पाए जाते हैं। वेरोना के एम्फीथिएटर के अवशेष लगभग पूर्णतया सुरक्षित हैं, यद्यपि उसका अधिकाश नष्ट हो चुका है। हाल मे इंगलैण्ड के डॉरचेस्टर तथा कर्लीन नामक स्थानों मे दो एम्फीथिएटरो की खुदाई हुई है।

रोमन सरकस का ढॉचा ग्रीसवासियो के 'हिप्पोड्रोम' की तरह ग्रीक व्यायामशालाओं पर आश्रित था, जो मुख्यतया साधारण दौड तथा अन्य व्यायाम के खेलो के प्रयोग मे आता था। रोमन सरकस घुडदौड तथा रथो की दौड के लिए बनाया जाता था। सबसे प्रसिद्ध सरकस मैक्सिमस, मैक्सेशियस, डोमिशियन, हेड्रियान तथा नीरो के थे। मैक्सिमस का जूलियस सीजर ने पुनर्निर्माण कराया था। यह २००० फीट लम्बा और ६५० फीट चौडा था। इसमे २५०,००० आदमी बैठ सकते थे।

रोमन समाधियो के रूप मे काल का प्रवाह अपने अनेक स्मृति-चिह्न छोड गया है। ये समाधियॉ यहॉ ग्रीस की अपेक्षा कही अधिक मात्रा मे पायी जाती हैं। रोमन लोगों मे शव को जलाने और जमीन मे गाड़ने ये दोनों प्रकार के दाहसस्कार प्रचलित थे। इस प्रकार एक ही समाधि-भवन मे मृत शरीर के लिए शवाधार और शवभस्म के लिए भस्मपात्र दोनों ही साथ-साथ पाये जाते हैं। ईसाई सम्वत् की पहली तीन शताब्दियों तक प्राय: प्रत्येक रोमन सम्राट् का शव एक शानदार चिता पर रखकर जलाया जाता था, और शव को जलाने के साथ मृत शरीर से निकलकर जानेवाली आत्मा के प्रतीक के रूप मे चितास्थान से एक गरुड़ पक्षी उडने के लिए छोड़ दिया जाता था। दूसरी शताब्दी मे मृत शरीर को जलाने की प्रथा कम होने लगी और धनी नागरिकों के शरीर को उनकी मृत्यु के उपरान्त मसालो से लेपकर सुदृढ और बहुमूल्य शवाधारों मे रखा जाने लगा। रोमन लोगों की शव-समाधियॉ पॉच प्रकार की होती थीं—शव की अस्थि को सुरक्षित रखनेवाली, स्मृति-चिह्नवाली, पिरामिड के आकार की, मन्दिर के आकार की और पूर्वीय ढग की, जिनका वर्गीकरण नहीं किया गया है। पहले प्रकार की समाधियॉ जमीन के नीचे छोटे मेहराबदार कमरों मे होती थी। ये 'कोलम्ब्रिया' और 'लोकुली' इन दो प्रकार की होती थी। 'कोलम्ब्रिया' का अर्थ कबूतर का दरबा है। यह नाम इसलिए पडा कि उसकी शक्ल कबूतर के दरबे से मिलती-जुलती थी। इस ढग की समाधियॉ चट्टानों मे इस प्रकार के आले तराशकर बनायी जाती थी, जिनमे मृत व्यक्तियों के भस्म-पात्र रखे जा सके। इन भस्म-पात्रो पर मृत व्यक्तियों के नाम खुदे हुए होते थे। 'लोकुली' में शव को रखकर उसके मुँह पर पत्थर की एक पटिया जड़ दी जाती थी, जिस पर मृत व्यक्ति का नाम अङ्कित कर दिया जाता था। आगे चलकर ये मेहराबे रोम के "कैटेकुम्ब्स" ज़िले के नाम पर, जहॉ ये अधिकता से पायी गई हैं, "कैटेकुम्ब" (Catacombs) कहलाने लगी।

स्मृति चिह्नोवाली कब्रों मे सबसे प्रसिद्ध क़ब्रे सीसीलिया मेटेल्ला, ऑगस्टस सीजर (जिसे हाल मे ही मुसोलिनी ने नये सिरे से बनवाया है) और हैड्रियान की हैं। पिरामिड की शक्ल की क़ब्रे रोम के मिस्र-विजय के बाद बनाई जाने लगी। इनमे सबसे प्रसिद्ध रोम मे सीस्टिअस की क़ब्र है।

विजयी सम्राटों और सेनापतियों के सम्मान मे मेहराबदार विजय-द्वारों का निर्माण किया जाता था। यह रोमन कला की एक प्रमुख विशेषता थी, जिसके दर्शन हमे आज के जमाने मे भी होते हैं। पेरिस का 'आर्क द त्रिऑफ', बर्लिन का 'ब्रेडेनबर्गर टार', लन्दन का 'सगमरमर का फाटक', ये सभी प्राचीन रोमन प्रथा की याद दिलाते हैं। टाइटस, ट्राजान, सेवेरस, कान्स्टैण्टाइन तथा दूसरे कितने ही म्रमाओं के सम्मान मे बनाये गये विजय-द्वार इटली भर मे फैले हुए हैं और जेरूसलेम, पार्थिया तथा अन्य स्थानां पर रोम की प्राचीन काल की विजय की साक्षी देते हें। रोमन विजय-स्तम्भों मे इतनी प्रसिद्धि किसी दूसरे की नहीं है, जितनी सम्राट् ट्राजान के स्तम्भ की, जो कि डेसिया पर उसके विजय प्राप्त करने के उपरान्त बनाया गया था। इसकी कुल ऊँचाई ११५ फीट और घेरा १२ फीट है। डेसिया के युद्ध की घटनाऍ उभरे हुए चित्रों के रूप मे स्तम्भ के चारो ओर इस तरह उत्कीर्ण की गई हैं मानो उन्हें किसी पत्र पर लिपिबद्ध करके स्तम्भ के उपर मढ दिया गया हो। यह चित्राकन ८०० फीट लम्बे और ३॥ फीट चौडे भाग मे किया गया है और इस पर लगभग २५०० नाटकीय दृश्यों के चित्र खीचे गए हैं। मध्ययुग के ईसाई धर्मान्धों ने स्तम्भ के शिरोभाग पर बने हुए सम्राट् की गरुड-सिंहासन पर बैठी हुई मूर्त्ति को गिरा दिया और उसके स्थान पर सन्त पीटर की मूर्त्ति बिठा दी गई है।

यही दशा 'मेडिटेशन्स' (मनन) के प्रसिद्ध लेखक दार्शनिक सम्राट् मारकस ऑरेलियस की मूर्त्ति की भी हुई। डैन्यूब की विजय के उपलक्ष मे बनाये गये स्तम्भ पर बनी उसकी मूर्त्ति पोप सिक्स्टस पचम की आज्ञा से हटा दी गई, और उसके स्थान पर सन्त पॉल की मूर्त्ति स्थापित कर दी गई। यह स्तम्भ ६७ फीट ऊँचा है और उसका घेरा १३ फीट है। स्तम्भ के चारों ओर उभाडकर चित्र बनाये गये हें।

रोमन काल के अन्य अवशेषों मे रोम, स्पलाटो और दूसरे स्थानों के सम्राटों के विभिन्न प्रासाद, रोमन पुले, एक्वेडक्ट और फव्वारे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, पर इस लेखमाला में उन सबका वर्णन देना सम्भव नही है।

विश्व
की कहानी
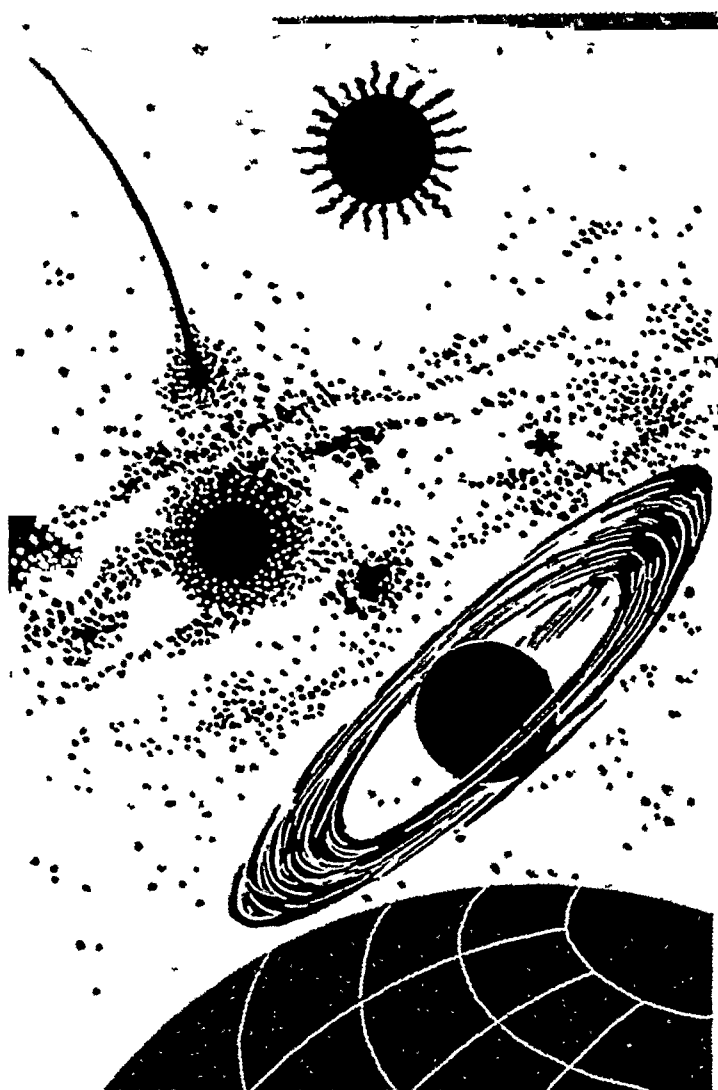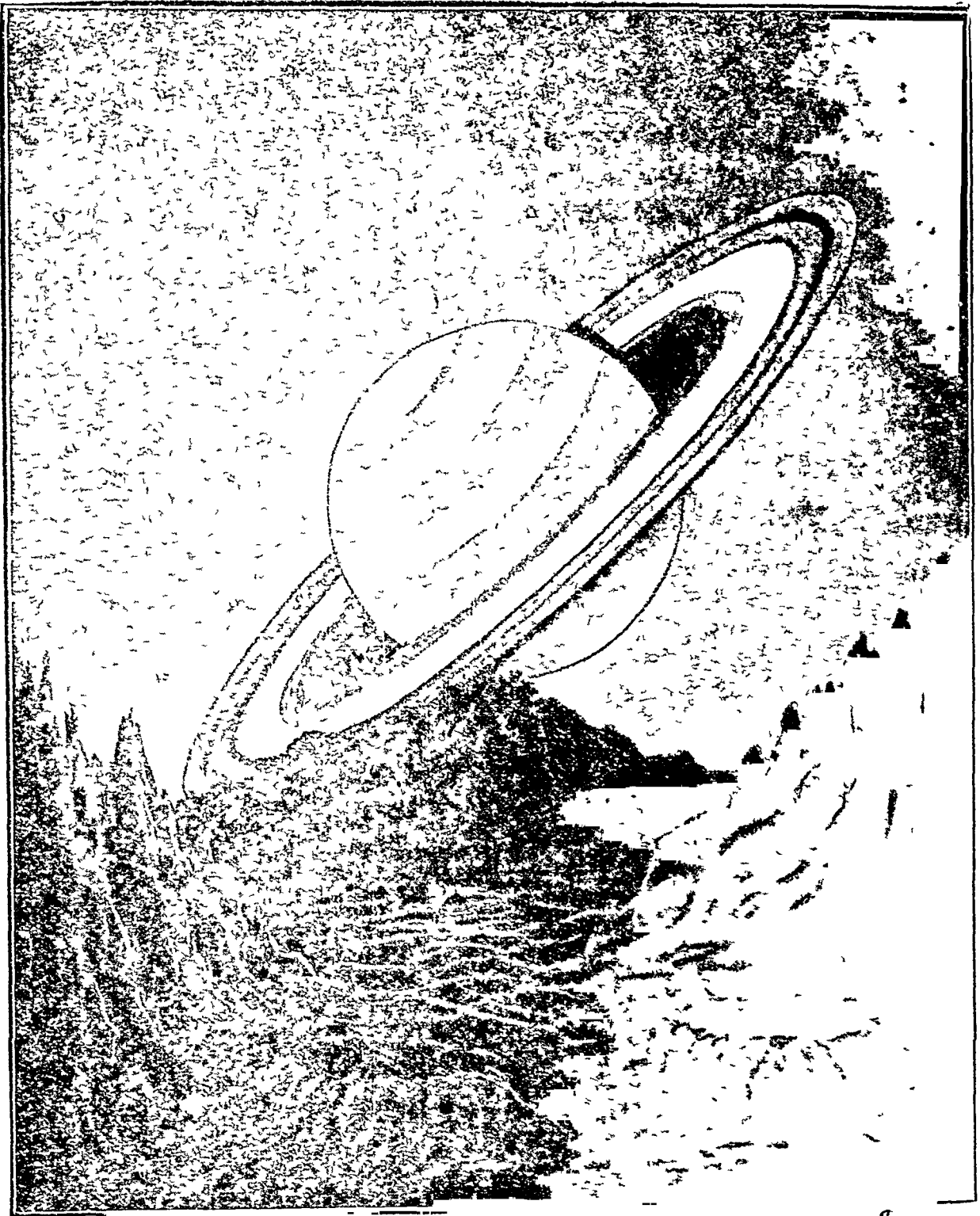
अपने एक उपग्रह मिमास से शनि का दृश्य

निस्संदेह यह चित्र कोरी कल्पना के आधार पर ही बनाया गया है, परन्तु ज्योतिषियो की धारणा है कि अपने उपग्रहो से शनि ऐसा ही भव्य और सुदर दिखाई पडता होगा। सूर्य से शनि की औसत दूरी ८८६,७७१,६०० मील है। यह अपनी धुरी पर लगभग १० घंटे मे एक बार घूम जाता है।

शनि

सूर्य से दूरी के हिसाब से सौर जगत में बृहस्पति के बाद शनि की बारी आती है। अपने विचित्र वलय के कारण शनि सौर परिवार में सबसे निराला ग्रह है। दूरदर्शक द्वारा देखने पर यह एक अनुपम दृश्य आँखों के आगे प्रस्तुत करता है। इस लेख में इसी आकाशीय पिण्ड की कहानी आपको सुनाई जा रही है।

अन्य ग्रह दूरदर्शक से देखने पर गोल या प्रायः गोल दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु शनि के रूप में अद्वितीय विशेषता दिखलाई पड़ती है। इसको चारों ओर से घेरे हुए एक करधनी है, जिसे वलय (अंग्रेजी में 'रिंग') कहते हैं। स्त्रियों की करधनी उनके शरीर से चिपकी रहती है, परंतु शनि के वलय का धरातल शनि की सतह से समकोण बनाता है। इसलिए शनि के वलय की उपमा नर्तकी के लँहगे से देना अधिक उपयुक्त होगा जो वेग से नाचने के कारण फहराकर एक धरातल में फैल गया हो। शनि नाचता भी खूब तेज़ी से है। हमारी पृथ्वी के एक बार नाचने में चौबीस घंटे लगते हैं, परंतु शनि के एक बार घूमने में केवल साढ़े दस घंटे, जिस पर इतना और यह भी है कि शनि पृथ्वी की अपेक्षा अत्यंत स्थूलकाय है—शनि का व्यास पृथ्वी के व्यास का लगभग साढ़े नौ गुना है। फिर शनि का वलय बहुत पतला भी है। यदि हम शनि की मूर्ति पैमाने के अनुसार बनायें और इसके वलय को एक हाथ के व्यास का रखें तो वलय की मोटाई दाढ़ी-के-बाल रेशमी धागे से भी कम होगी!

दूरदर्शक से शनि कैसा दिखाई पड़ता है। ये दोनों फोटो भिन्न-भिन्न समय पर लिये गए थे। वलय स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि शनि का वलय शनि की कमर से बँधा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वलय शनि को कहीं भी नहीं छूता! शनि और वलय के निकटतम छोर के बीच कोई ८००० मील का अंतर है॥

आरंभ से ही वलय ने ज्योतिषियों को अनेक उलझनों में डाला है। दूरदर्शक के आविष्कारकर्त्ता गैलीलियो ने अपने नवीन दूरदर्शक से पहली बार देखा कि शनि का आकार असाधारण है; परंतु दूरदर्शक के छोटा होने के कारण वह ठीक-ठीक न जान सका कि शनि का सच्चा स्वरूप कैसा है। उसने समझा कि शनि स्वयं अन्य ग्रहों की तरह एक गोल पिंड है, परंतु इसके अगल-बगल दो अन्य गोल पिंड भी हैं। यहाँ दिये गये चित्रों को बहुत दूर से कोरी आँख से देखने पर अवश्य दर्शक को ऐसा भ्रम हो सकता है, जैसा गैलीलियो को हुआ था, विशेष कर यदि उसने पहले से इन चित्रों को समीप से न देखा हो।

अपने बच्चों को ही खा डाला?

वलय का रूप हमें सदा एक-सा नहीं दिखलाई पड़ता। बात यह है कि हम वलय के हिसाब से सदा एक ही दिशा में नहीं रहते। सूर्य के चारों ओर शनि के एक बार घूमने में हम आधे समय तक वलय की उत्तरी सतह को देखते हैं और आधे समय तक वलय की दूसरी सतह को।

शनि का व्यास (वलय को छोड़कर) ७६,५०० मील है। पृथ्वी के आकार से तुलना कीजिए। न जाने कितनी पृथ्वियाँ इस ग्रह की परिधि में समा जायँगी!

कि वलय सर्वत्र अटूट नहीं है। यह बीच से कटा है, जिससे वस्तुतः यह कहना ठीक होगा कि शनि के दो वलय हैं। इन वलयों को विभाजित करनेवाली रेखा आज भी आविष्कर्त्ता के नाम पर 'कैसिनी की चीर' (Cassini's Division) कहलाती है। फिर इसके लगभग पचहत्तर वर्ष बाद, अमेरिका के ज्योतिषी बॉण्ड ने एक तीसरे वलय का पता लगाया जो शनि से निकटतम दूरी पर है। यह बहुत फीका और प्रायः पूर्णतया पारदर्शक है। इसी से यह छोटे और मझोले दूरदर्शकों मे नहीं दिखलाई पड़ता।

एक से अधिक होने के कारण शनि के वलयों की चर्चा प्रायः बहुवचन में ही की जाती है।

इसलिए अवश्य ही शनि के एक चक्कर मे दो बार ऐसा समय भी आता है, जब हम ठीक वलय के धरातल में रहते हैं। उस समय हम न तो वलय की उत्तरवाली सतह को देख सकते हैं और न दक्षिणवाली, हम केवल उसकी कोर को ही देख सकते हैं। परतु वलय, जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, बहुत पतला है। परिणाम यह होता है कि उस समय वलय पूर्णतया अदृश्य हो जाता है। शनि के एक चक्कर मे लगभग तीस वर्ष समय लगता है। इसलिए महत्तम चौड़ाई के दिखलाई पड़ने के साढे सात वर्ष बाद शनि का वलय अदृश्य होता है। इसलिए जब गैलीलियो ने कुछ समय बाद शनि को फिर देखा तो उसे अगल-बगल के दोनों पिंड नही दिखलाई पडे। उसे इससे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। 'क्या', वह बोल उठा, 'शनि ने अपने बच्चों को ही खा डाला ?' परतु कुछ वर्ष बाद पार्श्ववर्त्ती पिंड फिर दिखलाई पडे। तब से लेकर पचास वर्षों तक ज्योतिषियों ने छोटे छोटे और अनेक दोषों से युक्त दूरदर्शकों से शनि को देखा और तरह-तरह के चित्र खींचे। अत मे असली बात का अदाज़ हालैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक हॉयगेन्स को लगा। उसने पहले पहल बतलाया कि शनि पतले समतल वलय से घिरा हुआ है। यह शनि को कहीं नहीं छूता और इसका धरातल पृथ्वी-कक्षा के धरातल के हिसाब से तिरछा है।

इसके बीस वर्ष बाद फ्रास के ज्योतिषी कैसिनी ने देखा

वलय क्या है ?

क्रियात्मक ज्योतिष की कठिनाइयों को अच्छे दूरदर्शकों ने हल कर दिया, परतु गणितज्ञों की उलझने आज भी पूर्णतया मिट नहीं पाई हैं। पहले लोगों का विश्वास था कि वलय ठोस हैं। दो सौ वर्षों तक यही विश्वास बना रहा। तब प्रश्न उठा कि वलय क्या वस्तुतः ठोस हैं या वे छोटे-छोटे टुकड़ों के समूह हैं ? अट्ठारहवी शताब्दी के अत के लगभग प्रसिद्ध लाप्लास ने गणित द्वारा सिद्ध किया कि ठोस वलय टिकाऊ हो ही नही सकता। ठोस वलय चाहे कितना भी अच्छी तरह समतुलित हो—कोई अश किसी ओर जरा-सा भी भारी न हो—और चाहे कितनी भी सचाई से यह ठीक शनि के चारों ओर समान दूरीवाली स्थिति मे रख दिया जाय, कभी-न-कभी वलय जाकर ग्रह से लड़ जायगा। बात यह है कि यह स्थिति 'अस्थायी साम्य' (unstable equilibrium) की है। नाम-मात्र भी बाहरी शक्ति—किसी उपग्रह या दूरस्थ ग्रह का एक-अलगा आकर्षण—वलय की निश्चलता को भग कर देगा। वलय की परिस्थिति वैसी ही होगी, जैसे कोई नोकीली छड़ी को नोक के बल पत्थर पर खड़ी कर देने से होगी। इस स्थिति मे छड़ी आसानी से खड़ी होगी ही नहीं, और यदि होगी भी तो जरा-सी फूँक लगते ही गिर पडेगी। इसलिए लाप्लास की धारणा थी कि यह वलय वस्तुतः चूड़ियों के समान पतले

असख्य वलयो का समूह होगा, वह एक वलय नहीं हो सकता। इसके बहुत समय पीछे, १८५७ में, भौतिक विज्ञानवेत्ता मैक्सवेल ने सिद्ध किया कि वलय न ठोस ही हो सकता है और न तरल। वह असंख्य चूड़ियों का समूह भी नही हो सकता। वह केवल असख्य छोटे-छोटे रोड़ों का समूह हो सकता है। ठोस (या तरल) वलय मे, ग्रह के समीप रहने के कारण, ऐसे ज़ोर का ज्वार-भाटा आएगा कि वह चकनाचूर हो जायगा, चाहे वलय मे इस्पात की मज़बूती ही क्यो न हो।

एक फ्रेंच गणितज्ञ रोशे (Roche) ने अपनी गणना से यह भी सिद्ध किया कि शनि से एक विशिष्ट दूरी के भीतर कोई भी उपग्रह बिना टूटे रह नही सकता। उस दूरी तक ज्वार-भाटा-उत्पादक शक्ति इतनी प्रबल होगी कि केवल छोटे-ही-छोटे पिंड बच सकते है। शनि के सब वलय रोशे की बतलाई हुई दूरी के भीतर ही हैं।

ये सब गणनाएँ अवश्य एक सीमा तक संतोषजनक हैं। परतु प्रश्न यह उठता है कि क्यों केवल शनि के ही वलय हैं, अन्य उपग्रहों के नहीं? वलय इतना पतला और समतल क्यों है? इसके रोड़े किस प्रकार इतने नियमबद्ध होकर चलते है? इत्यादि।

कोरी आँख से

बिना दूरदर्शक के शनि ख़ूब चमकीले तारे की तरह दिखलाई पड़ता है। परतु शनि की चमक बहुत घटा बढ़ा करती है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, वलय हमे कभी ख़ूब चौड़े दिखलाई पड़ते हैं और कभी वे अदृश्य हो जाते हैं। जब वलय हमे ख़ूब चौड़े दिखलाई पड़ते है और सूर्य हमारी पीठ-पीछे रहता है तो शनि हमे बहुत चमकीला दिखलाई पड़ता है। उस समय सबसे अधिक चमकीले तारे लुब्धक (सीरियस Sirius) को छोड़ अन्य सब तारो से शनि अधिक चमकीला रहता है। जब वलय अदृश्य हो जाते हैं तो शनि की चमक लगभग तिहाई ही रह जाती है, परतु उस समय भी इसमें इतनी चमक रहती है कि इसकी गणना प्रथम श्रेणी के तारों मे की जा सकती है। देखने मे इसका रंग कुछ मैला पीला जान पड़ता है।

भिन्न-भिन्न समय में शनि के वलय का आकार भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखाई पड़ता है। कारण यह है कि हम वलय के हिसाब से सदा एक ही दिशा मे नही रहते। सूर्य के चारो ओर शनि के घूमने से कभी हम वलय की ऊपर सतह को देखते हैं कभी निचली को। कभी ठीक वलय के धरातल की सीध मे आ जाने से केवल उसकी कोर ही नज़र आती है।

प्राचीन समय मे सब ज्ञात ग्रहों मे शनि ही सूर्य से महत्तम दूरी पर था। इसलिए इसका ही वेग सब ज्ञात ग्रहों मे न्यूनतम था। इसी से इसका नाम 'शनैश्चर'—धीरे-धीरे चलनेवाला—पडा। परन्तु अब तो शनि के उस पार तीन और ग्रहों का पता चला है, इनमे से सबसे दूरवाला और इसलिए धीरे-धीरे चलनेवाला ग्रह प्लूटो है। धीरे चलने मे वह शनि को आसानी से मात करता है।

शनि को सूर्य की एक परिक्रमा करने मे लगभग साढे उनतिस वर्ष समय लगता है। फलित ज्योतिष मे विश्वास रखनेवाले जब 'साढे-साती सनीचर' की बात करते हैं तब उनका अभिप्राय यह रहता है कि शनि को अपने चक्कर का चौथाई भाग पूरा करने में साढे सात वर्ष लगेगा और इतने समय तक ग्रह-दशा रहेगी।

दूरदर्शक मे

दूरदर्शक मे (उन समयों को छोड़कर जब वलय अदृश्य रहते हैं) बीच मे प्रायः गोल पिंड और इसको घेरे हुए वलय बडे सुन्दर लगते हैं। बीचवाला पिड नारगी-सा चिपटा है और यह चिपटापन अन्य ग्रहो की अपेक्षा अधिक है। इसके लघुतम और महत्तम व्यासों का अनुपात लगभग ६ और १० का है। बडे दूरदर्शकों मे बृहस्पति की तरह शनि पर भी धारियाँ दिखलाई पडती हैं, परन्तु ये बहुत फीकी हैं। शनि पर धब्बे ऐसे ही कभी देखे गए हैं। वे जब-जब देखे गए हैं तब-तब शनि के अक्षभ्रमण-काल के नापने की चेष्टा की गई है, जिससे पता चला है कि बृहस्पति की तरह शनि पर भी मध्यरेखा से विभिन्न दूरियों पर अक्षभ्रमण-काल भिन्न-भिन्न है। बृहस्पति की तरह शनि के भी बिंब के किनारेवाले भाग केन्द्र की अपेक्षा कम चमकीले हैं। इसके अतिरिक्त मध्यरेखा की अपेक्षा शनि के ध्रुवप्रदेश कम चमकीले दिखाई पडते हैं।

शनि के कुछ पुराने चित्र
पहले वलय स्पष्ट नहीं दिखाई पडता था। धीरे धीरे उसका वास्तविक रूप प्रकट हुआ।

बडे दूरदर्शकों मे तीन वलय दिखलाई देते हैं। बीचवाला वलय सबसे अधिक चमकीला है। यह शनि के केन्द्रीय भागों से चमक में किसी प्रकार कम नहीं है। बाहरी वलय इससे बहुत कम चमकीला है। भीतरवाला वलय बहुत ही मन्द प्रकाश देता है और यह प्रायः पारदर्शक है। इसीलिए इसे 'जालीनुमा वलय' (क्रेप रिंग, crepe ring) कहते हैं। इसके आर-पार शनि का किनारा स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

बाहरी वलय दस हजार मील चौड़ा है। बीचवाला वलय सोलह हजार मील चौडा है। इन दोनों के बीच जो रिक्त स्थान—कैसिनी की चीर—है वह तीन हजार मील चौडा है। भीतरी (जालीनुमा) वलय साढे ग्यारह हजार मील चौडा है। भीतरी और मध्य वलयों के बीच लगभग तीन हज़ार मील चौड़ी जगह ख़ाली है। बाहरी वलय के बाहरी किनारे का व्यास क़रीब १,७१,००० मील है।

तीनों वलय बहुत पतले हैं। उनकी मोटाई शायद १० मील से अधिक न होगी। जब हम वलयों के धरातल मे आ जाते हैं तो वे बडे-से-बडे दूरदर्शकों मे नहीं दिखलाई पडते और कई दिन तक पूर्णतया अदृश्य रहते हैं। अदृश्य होने के कुछ समय पहले और पीछे वलय हमे सुई की तरह पतले दिखलाई पडते हैं। उस समय कभी-कभी शनि के उपग्रह इस सुई पर मोती के समान बिंधे हुए अत्यन्त मनोहर लगते हैं।

बाहरी वलय शायद स्वय चिरा है। इस चीर को 'एनके की चीर' कहते हैं, परन्तु यह कभी ही कभी, और सो भी अस्पष्ट, दिखलाई पड़ती है। बीचवाले चटक वलय मे भी कभी-कभी दो तीन धारियाँ दिखलाई पडती हैं जिससे सम्भवतः वह भी कई जगहों पर चिरा मालूम होता है।

जब सूर्य हमारे ठीक पीछे होने के बदले कुछ दायें या बायें रहता है तो शनि की परछाईं वलयो पर स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। वलय की भी परछाईं ग्रह पर अक्सर देखी जाती है, परन्तु सँकरी होने के कारण मझोले दूरदर्शकों मे बहुत स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ती।

१९५१ मे वलय अदृश्य होंगे। १९४३ मे वलय महत्तम चौडाई के दिखलाई पडेंगे। उस समय छोटे दूरदर्शकों से भी वलय देखे जा सकेंगे।

उपग्रह

वलयों के अतिरिक्त शनि के नौ उपग्रह हैं, इनमे जो सबसे बडा है वह ३ इंच के व्यास के दूरदर्शक से देखा जा सकता है। परन्तु दूसरो को देखना इतना सरल नही है। जो उपग्रह शनि से निकटतम दूरी पर है वह एक चक्कर कुल साढे बाईस घंटे मे ही लगा लेता है। इसके बाद चार उपग्रह हैं, जिनके परिक्रमण-काल सवा दिन से लेकर साढे चार दिन तक है। इसके बाद सबसे बडा उपग्रह पडता है। यह लगभग १६ दिन मे एक चक्कर लगाता है और हमारे चंद्रमा से बडा है। इस उपग्रह का नाम टाइटन है। इसके बादवाला उपग्रह २१ दिन ७ घंटे मे एक चक्कर लगाता है। तब बहुत-सा रिक्त स्थान पड़ता है, जिसके बाद एक छोटा-सा उपग्रह है, जिसे एक चक्कर लगाने मे लगभग ८० दिन लगते हैं। अन्त मे एक बहुत ही नन्हा उपग्रह है, जिसे एक चक्कर लगाने में लगभग डेढ वर्ष लगता है और जो उल्टी दिशा मे चलता है। जिस समय इस उपग्रह का पहले-पहल पता चला उस समय कोई भी दूसरा ग्रह या उपग्रह उल्टी दिशा में चलता हुआ नही देखा गया था। इससे गणितज्ञ बहुत आश्चर्य मे पड गए, क्योंकि लाप्लास के प्रसिद्ध नीहा-

यदि शनि के धरातल पर हम पहुँच पाते तो हमें शनि के क्षितिज पर वलय का अंश और उस पर पड रही शनि की छाया कुछ ऐसी ही विचित्र और मनोरम दिखाई पडती जैसी ऊपर के चित्रो में कल्पित की गई है।

रिका-सिद्धान्त के अनुसार सब ग्रहों और उपग्रहों को एक ही दिशा मे चलना चाहिए था। पीछे बृहस्पति के दो बाहरी उपग्रह भी उल्टी दिशा मे चलते देखे गए। उनके उल्टी दिशा मे चलने का क्या कारण है इस पर बृहस्पति के उपग्रहो के सबध मे विचार किया जा चुका है (देखो पृष्ठ १४१५)।

वलयो की बनावट

वलय अवश्य असख्य छोटे-बडे और पृथक्-पृथक् रहनेवाले ढोकों, रोड़ो और धूलिकणो से बने होंगे। इसका प्रमाण केवल गणित से ही नही, अन्य बातो से भी मिलता है। भीतरी वलय की पारदर्शकता से स्पष्ट है कि वहाँ रोडे इतने दूर-दूर पर होंगे कि प्रकाश बिना विशेष रुकावट के पार जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब सूर्य वलय के एक पृष्ठ पर चमकता है और हम दूसरे पृष्ठ की ओर रहते हैं तो हम देखते हैं कि वलय को पार करके सूर्य का प्रकाश दूसरी ओर भी पहुँच जाता है। यदि वलय ठोस होते तो ऐसा न हो सकता। फिर, बाहरी और भीतरी वलयो के पार से तारे देखे गए हैं।

जब सूर्य हमारे ठीक पीछे रहता है, तब वलय की ऊपरी सतह मे स्थित रोड़ों की जो परछाई नीचेवाले रोड़ो पर पड़ती है, वह ऊपरवाले रोड़ों से छिपी रहती है। इसलिए कोई परछाई हमको नही दिखलाई पड़ती और वलय हमको बहुत चमकीला दिखलाई पड़ता है। परतु सूर्य ज्यों-ज्यों एक बगल हटता है, त्यो-त्यों परछाइयाँ तिरछी पड़ती हैं, जिससे उत्तरोत्तर अधिक मात्रा मे हमे परछाई दिखलाई पडने लगती है, इससे वलय की चमक बहुत कम हो जाती है। यदि वलय ठोस होता तो सूर्य के तिरछी दिशा से चमकने पर प्रकाश इतना न घटता। प्रकाश के घटने के नियम की गणना करने पर इस बात का समर्थन अच्छी तरह हो जाता है कि वलय पृथक्-पृथक् स्थित छोटे-छोटे पिंडों से बना है और यह भी पता चलता है कि दोनों चमकीले वलयों मे लगभग कुल सोलहवाँ भाग ही ठोस पदार्थो से भरा होगा। शेष रिक्त स्थान होगा। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि रोडे ही नही, वहाँ धूल के कणों की मात्रा भी काफी होगी। उपरोक्त बातों का पता जर्मन ज्योतिषी जेलिगर ने लगाया। इसके वर्षों पहले वलयों के ठोस न होने का प्रमाण इस बात से भी मिला था कि वलयों का भीतरी किनारा अधिक तेजी से चल रहा है, बाहरी किनारा कम तेजी से। यदि वलय ठोस होता तो अवश्य ही बाहरी किनारे का वेग अधिक होता और भीतरी का कम। इसलिए प्रत्यक्ष है कि वलय ठोस नही है।

शनि संवंधी कुछ महत्त्वपूर्ण आँकड़े

पृथ्वी से शनि की महत्तम दूरी	१,०२०,९१२,००० मी०
,, ,, ,, न्यूनतम ,,	७४२,६४६,००० ,,
सूर्य से शनि की महत्तम दूरी	९३६,३८८,००० ,,
,, ,, ,, न्यूनतम ,,	८३७,१७०,००० ,,
शनि की परिक्रमा का काल	१०,७५९ दिन ५ घंटे १६ मि०
गति	६ २ मील प्रति सैकंड
व्यास (वलय को छोडकर)	७६,५०० मी०
बाहरी वलय का बाह्य व्यास	१७१,००० मी०
,, ,, ,, आंतरिक व्यास	१४७,६७० मी०

शनि पर

शनि पर अनुपम दृश्य दिखलाई पड़ता होगा। मध्य रेखा से कुछ उत्तर या दक्षिण स्थित प्रदेशों मे रात्रि के समय वलय चद्रमा की तरह शीतल प्रकाश से चमकता हुआ और धनुष के समान एक ओर से दूसरी ओर तक तना हुआ दिखलाई पड़ता होगा। छोटे-बडे नौ चद्रमा भी दिखलाई पड़ते होंगे, कोई द्वितीया के चद्रमा की तरह शृ गाकार, कोई नतोदर, कोई उन्नतोदर और कोई पूर्णिमा के चद्रमा की तरह पूर्ण गोलाकार। परतु वलय की काति के सामने ये सब फीके लगते होंगे। वलय स्वय एक ओर कटा-सा दिखलाई पड़ता होगा, क्योंकि एक ओर इस पर ग्रह की परछाई पड़ती होगी। वलय मे चौडी और पतली कई एक काली और किनारे से समानातर धारियाँ दिखलाई पडती होंगी, जिनसे वलय की शोभा और बढ जाती होगी। दिन मे सूर्य बहुत नन्हा-सा दिखलाई पड़ता होगा, जान पडता होगा जैसे उससे कुछ गरमी आ ही नहीं रही है।

शनि का धरातल प्रायः सपाट होगा, वहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड या पहाड़ियाँ न होंगी। वहाँ घना वायुमडल होगा। शनि पानी से भी हलका है, यदि कहीं काफी बड़ा समुद्र मिल सकता और उसमे हम शनि को डाल सकते तो यह उतराता, डूबता नही। शनि की भी बनावट बृहस्पति की-सी होगी, ठोस केंद्र, फिर बरफ और तब घने बादल। ये बादल जलवाष्पवाले बादल न होंगे, वे शायद किसी गैस के बादल होगे। वहाँ ऐसी सरदी पडती होगी, जिसका अनुमान करना कठिन है। नापने से पता चलता है कि वहाँ का तापक्रम शून्य से १५० डिग्री सेंटीग्रेड नीचे होगा। इससे कुछ ही कम तापक्रम पर ऑक्सिजन गैस जमकर तरल हो जाती है।
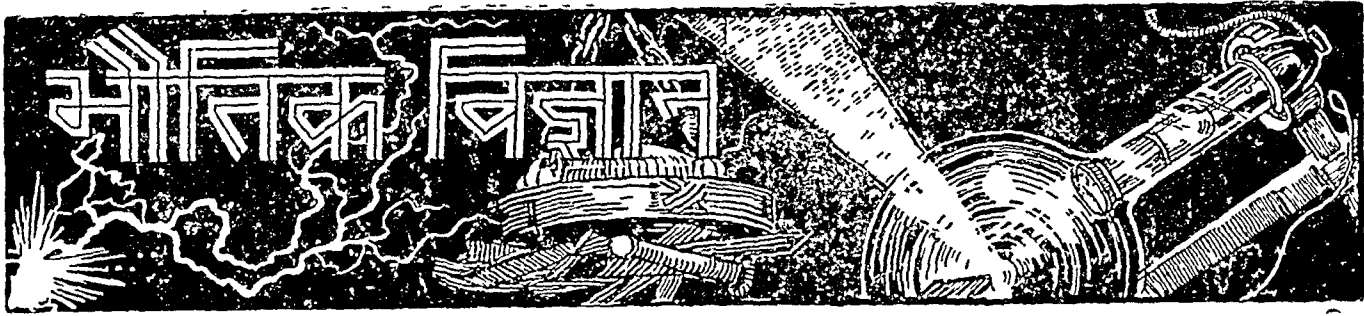
आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन

आलोक-रश्मियों में परावर्त्तित होने का जो गुण है, उसकी ही यह खूबी है कि हम विभिन्न वस्तुओं को देख पाते हैं। आइए, इस लेख में भौतिक जगत् के इस महत्त्वपूर्ण नियम का अध्ययन करें।

छोटे बच्चों को रबर की गेंद के साथ खेलते हुए आपने अक्सर देखा होगा। प्रायः वे बाज़ी लगाते हैं कि लगातार बिना सिलसिला टूटे हुए वे गेंद को फर्श और अपनी हथेली के बीच कितनी बार उछाल सकते हैं। इस खेल मे बराबर सतर्क रहना पड़ता है। गेंद को फर्श पर यदि लम्बवत् फेका जाय तभी वह ठीक ऊपर वापस आएगी। असावधानी के कारण गेंद यदि ज़रा भी तिरछी फर्श पर पहुँची कि फिर वह सीधी ऊपर हथेली के पास वापस न आएगी। नीचे जाते समय गेंद का मार्ग लम्ब से जितना एक ओर झुका था, लौटती बेर इसका मार्ग लम्ब की दूसरी ओर उतना ही झुका हुआ होगा। कमरे के कोने पर यदि एक व्यक्ति खड़ा हो और दूसरे कोने पर दूसरा व्यक्ति, तो वे एक दूसरे के पास उछाल-कर गेंद उसी दशा मे फेंक सकते हैं जब कि वे गेंद को बीच की दूरी के ठीक मध्यबिन्दु पर दे मारें।

गेंद की उछाल द्वारा परावर्त्तन के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण

परावर्त्तन से सदैव आपतित मार्ग और लम्ब के बीच का कोण लौटने के मार्ग और लम्ब के बीच के कोण के बराबर होता है, यह नियम इस चित्र से स्पष्ट है। ऊपर दाहिने कोने मे कैरम के खेल मे परावर्त्तन के सिद्धान्त के प्रयोग का चित्र दिया गया है।

रबर की गेंद किसी धरातल से धक्का खाकर जब लौटती है तो इस क्रिया को हम परावर्त्तन (Reflection) कहते हैं। परावर्त्तन मे सदैव आपतित मार्ग और लम्ब के बीच का कोण लौटने के मार्ग और लम्ब के बीच के कोण के बराबर होता है।

कैरम के खेल मे भी परावर्त्तन के इस नियम का पूरा फायदा हम उठाते हैं। जब कभी गोट को स्ट्राइकर द्वारा मारकर सीधे पाकेट मे नही डाल सकते, तब इस नियम की मदद लेते हैं। स्ट्राइकर को बोर्ड की दीवाल पर ताक-कर ऐसे कोण पर मारते हैं कि धक्का खाकर जब स्ट्राइकर वापस लौटे तो वह उस गोट से सीधा जा टकराए।

आलोक-रश्मियों के सम्बन्ध मे भी परावर्त्तन का ठीक यही नियम लागू होता है। चिकने धरातल पर आलोक-रश्मियाँ जब लम्ब-वत दिशा मे आपतित होती हैं तो

परावर्त्तन होने पर ठीक उसी रास्ते उलटी दिशा मे लौटती भी हैं। आपतित किरणें यदि लम्ब से एक ओर कुछ झुकी हुई हों तो परावर्त्तित किरणें भी लम्ब की दूसरी ओर ठीक उतनी ही झुकी हुई होंगी। अनगिनत प्रयोगों द्वारा यह बात भली भाँति सिद्ध हो चुकी है कि हर प्रकार के परावर्त्तन मे आपतित किरण, लम्ब और परावर्त्तित किरण तीनों एक ही धरातल में होते हैं।

दर्पण के ठीक सामने जब आप खडे होते हैं केवल तभी आपको अपना प्रतिबिम्ब नजर आता है। सामने से जरा एक ओर हटकर यदि आप खडे हो तो स्वय आपको अपना प्रतिबिम्ब उस दर्पण मे दिखलाई न देगा। अवश्य अन्य कोई व्यक्ति जब दर्पण के सामने से दूसरी ओर हटकर ऐसी जगह खडा होता है कि आपके चेहरे से आलोक-रश्मियाँ चलकर दर्पण से परावर्त्तित होने पर उसी जगह से गुजरें तो उस व्यक्ति को आपका प्रतिबिम्ब दर्पण मे दिखलाई पडेगा, साथ ही उस व्यक्ति के भी चेहरे का प्रतिबिम्ब आपको दीखेगा।

(१) समतल दर्पण में विंब का निर्माण
किरणें आँखों में प्रवेश करने पर बिंदु 'अ' का बोध 'क' पर कराती हैं।

(२) नियमित और अनियमित परावर्त्तन
अ से ब तक धरातल चिकना है। ब से स तक ऊबड़-खाबड़ है। टूटी रेखाओं द्वारा परावर्त्तन का मार्ग दिखाया गया है।

सभी तरह के धरातलो से रबर की गेंद समान रूप से नही उछलती। ठीक इसी प्रकार आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन भी भिन्न-भिन्न धरातलों से एक-सा नही होता। श्वेत वर्ण के चिकने चमकीले धरातल से आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन सर्वोत्तम होता है। किन्तु चिकने-से-चिकने धरातल से भी आलोक-रश्मियों का पूर्ण परावर्त्तन कभी नहीं हो पाता। चाँदी की क़लई किए हुए दर्पण से आपतित आलोक का केवल ८० प्रतिशत भाग परावर्त्तित हो पाता है, शेष २० प्रतिशत दर्पण में ही विलीन हो जाता है। सभी कलईदार धरातल आलोक के उत्तम परावर्त्तक होते हैं।

इसके प्रतिकूल कुछ ऐसे पदार्थ भी होते हैं जिनमें से होकर लगभग समूचा प्रकाश आसानी से गुज़र सकता है। इनके आरपार हम वस्तुओं को स्पष्ट देख सकते हैं। शीशा, बर्फ का टुकड़ा, स्वच्छ पानी इसी श्रेणी के पदार्थ हैं। ये पदार्थ पारदर्शक कहलाते हैं। रेशमी कपड़ा, धुँधला काँच, मटमैला पानी और दूध आदि उन पदार्थों की श्रेणी मे आते हैं जिनमे से होकर आलोक थोड़ा-बहुत गुज़र सकता है। इन पदार्थों में से गुजरते समय आलोक का काफी भाग उनके अन्दर ही विलीन हो जाता है। ऐसे पदार्थ अल्पपारदर्शी कहलाते हैं। इन पदार्थों के आरपार प्रकाश तो चला जाता है किन्तु उस ओर की वस्तुएँ स्पष्ट नहीं दीखतीं।

अनेक पदार्थों मे से प्रकाश का तनिक-सा अंश भी गुजर नहीं सकता। लकडी, दफ्ती आदि इसी श्रेणी में पीतल की मोटी चद्दरें, आती हैं। इन्हे अपारदर्शी कहते हैं। अवश्य ही इन पदार्थों के धरातल से आपतित आलोक का कुछ अंश परावर्त्तित होता है और शेष उसी में विलीन हो जाता है। किन्तु कजली जैसी नितान्त काली वस्तुओं में से होकर न तो प्रकाश इस पार से उस पार जा सकता है और न उसका कोई अंश परावर्त्तित होकर वापस ही लौटता है। जो कुछ आलोक ऐसी वस्तुओं पर पडता है, वह समूचा ही उस धरातल मे विलीन हो जाता है। इसी कारण

फ़ोटो धोनेवाले अँधेरे कमरे की समूची दीवालों पर गाढे तारकोल की काली पालिश चढ़ा दी जाती है, ताकि बाहर से प्रकाश की एकाध रश्मियाँ यदि इस अँधेरे कमरे मे कहीं से आ भी जायँ तो वे सब-की-सब दीवाल में ही विलीन हो जायँ। किसी भी हालत मे ये रश्मियाँ फोटोवाली फ़िल्म तक न पहुँच पायँगी।

प्राचीन काल मे आजकल-जैसे बढ़िया ढग के दर्पण लभ्य न थे। फिर भी तत्कालीन सभ्य समाज प्रकाश के परावर्त्तन से एकदम अपरिचित न था। पानी तथा तेल-जैसे तरल पदार्थों मे बिम्ब देखना वे जानते थे। पुराणों के अनुसार नारदजी का अपने रूप के बारे मे मोह उस समय भंग हुआ जब उन्होंने नाले के जल में अपना प्रतिबिम्ब देखा। द्रौपदी के स्वयम्बर मे प्रतियोगियों को स्तम्भ से लटकती हुई मछली का बिम्ब नीचे रखे हुए कड़ाह के तेल में देखकर उस मछली को तीर से वेधना था।

क़लईवाले दर्पणों का आविष्कार बहुत बाद मे हुआ। प्रारम्भ में धातुओं पर बढ़िया पालिश करके दर्पण तैय्यार किए गए। किन्तु ऐसे दर्पणों का धरातल वायु के स्पर्श से जल्द गन्दा हो जाता था। १४वींशताब्दी मे वेनिशियन लोगों ने आधुनिक ढंग के काँच के दर्पणों का सर्वप्रथम निर्माण किया था। दर्पण के लिए पूर्णतया समतल धरातलवाले काँच का टुकड़ा लेना होता है। फिर इस काँच के ऊपर पारे और टिन की एक पतली तह जमा देते हैं। धातु के चमकीले धरातल को काँच का परदा हवा के स्पर्श से अलग रखता है। इस कारण दर्पणों की चमक मन्द नहीं पड़ने पाती। किन्तु पारे की क़लईवाले दर्पण पर सूर्य की प्रखर किरणे जब कुछ दिनो तक पड़ती हैं तो दर्पण पीला पड़ जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए दर्पण की क़लई के लिए अब पारे के स्थान पर चाँदी का प्रयोग करते हैं। समतल काँच को एक छिछले थाल मे नीचे की ओर मुँह करके रख देते हैं और चाँदी के घोल को काँच के ऊपर फैला देते हैं। अब एक रासायनिक पदार्थ इस घोल मे डालते हैं, फलस्वरूप घोल के अन्दर से शुद्ध चाँदी निकल आती है, और काँच के धरातल पर इसकी एक पतली तह समान रूप से बैठ जाती है। क़लई करने के लिए बहुत थोड़ी-सी चाँदी की आवश्यकता पड़ती है। चाँदी की तह को हवा के स्पर्श से बचाने के लिए इसके ऊपर गाढे रंग का लेप चढा देते हैं। चाँदी की क़लईवाले दर्पण दस-बीस वर्ष तक ख़राब नहीं होते।
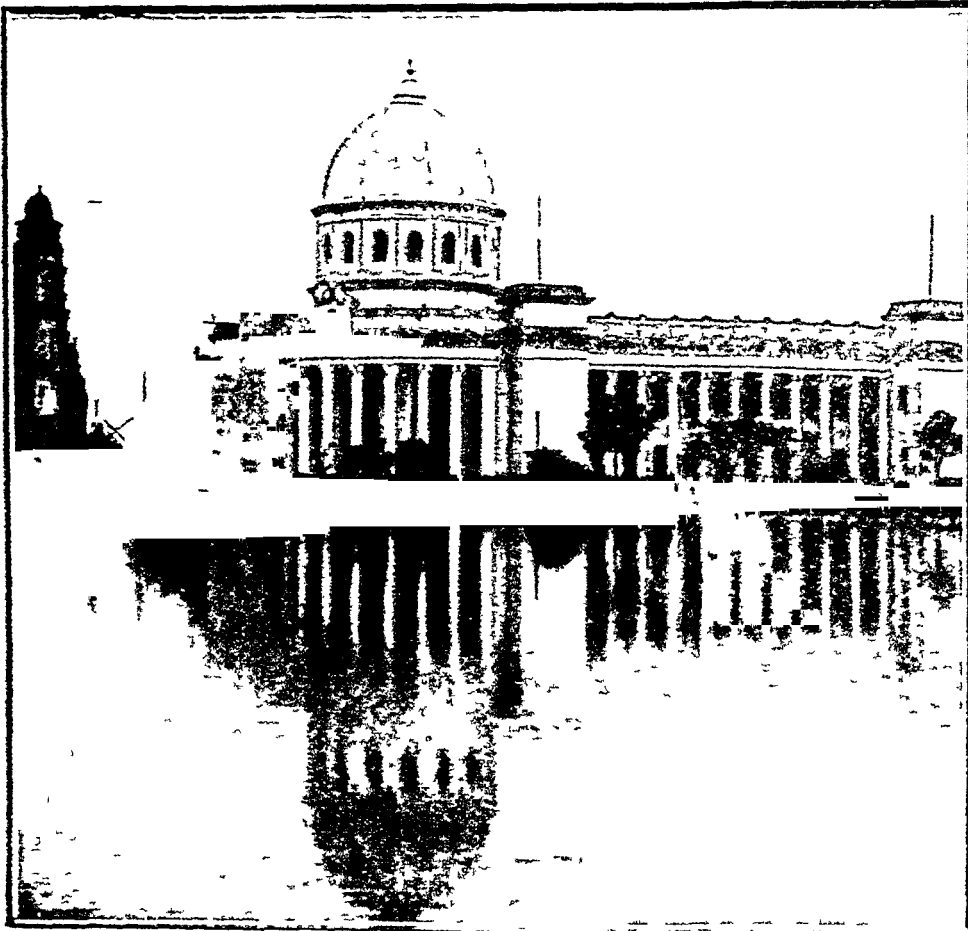
जल मे प्रतिबिम्ब—देखिए किनारे की इमारत पानी में किस तरह उल्टी प्रतिबिम्बित दिखाई दे रही है। यह आलोक-रश्मियो के परावर्त्तन की ही करामात है।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि हम दर्पण या किसी अन्य चिकने धरातल मे बाह्य वस्तुओं का बिम्ब कैसे देख पाते हैं। कमरे में रखे हुए दर्पण पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हमे स्वय दर्पण नहीं दीखता, वरन् उस दर्पण में अन्य वस्तुओं का बिम्ब दिखलाई पड़ता है। आलोक-बिन्दु 'अ' से अनेक आ-

लोक-रश्मियाँ दर्पण पर जाकर गिरती हैं। परावर्त्तन के नियमानुसार ये भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रक्षालित होती हैं। ये परावर्त्तित किरणें जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं तो हमे ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी काल्पनिक बिन्दु 'क' से आ रही हैं। चूँकि ये सभी किरणें प्रारम्भ मे बिन्दु 'अ' से चली थीं, अतः हमारी आँखों मे प्रवेश करके ये हमें बिन्दु 'अ' का ही बोध कराएँगी। हमे ऐसा जान पडेगा कि 'क' बिन्दु ही 'अ' पर स्थित है। 'क' बिन्दु ही 'अ' बिन्दु का प्रतिबिम्ब है। साधारण रेखागणित के नियमों की सहायता से हम देखते हैं कि 'क' बिन्दु 'अ' की ठीक लम्बवत् सीध में दर्पण के पीछे उतनी ही दूरी पर स्थित है जितनी दूरी पर 'अ' दर्पण के सामने है। (दे० १५२६पृ०काचित्र)

(ऊपर) समतल दर्पण मे आलोक-रश्मियों का परावर्तन। (नीचे) बाईं ओर, समतल दर्पण के बिम्ब में पार्श्विक उलट-फेर। दाहिनी ओर, दो दर्पणों को ९०° के कोण पर रखने पर तीन बिंबों का निर्माण।

चमकदार क़लईवाले धरातल से आलोक-रश्मियों का सदैव नियमित परावर्त्तन ही होता है। किसी बिन्दु विशेष से चली हुई किरणें परावर्त्तन के बाद एक ही बिन्दु से आती हुई जान पडती है। अत: इन किरणों द्वारा परावर्त्तन करनेवाले धरातल को हम देख नहीं पाते। चिकने समतल धरातल के बजाय जब आलोक रश्मियाँ किसी खुरदरे धरातल पर पडती हैं तो आलोक-रश्मियो का परावर्त्तन उपर्युक्त ढंग से नहीं होता। इस अनियमित परावर्त्तन मे एक ही बिन्दु से चली हुई किरणें परावर्त्तन के बाद किसी विशेष बिन्दु से आती हुई नहीं जान पडती हैं। नियमित रूप से परावर्त्तित होने के बजाय ये रश्मियाँ धरातल पर प्रक्षालित होकर बिखर-सी जाती हैं। यह बिखरा हुआ प्रकाश जब हमारी आँखों में प्रवेश करता है तो हमें धरातल में कोई खास प्रतिबिम्ब नज़र नहीं आता, बल्कि स्वयं धरातल ही दीखने लगता है। इसी बिखरे हुए प्रकाश की मदद से हम तमाम अप्रदीप्त वस्तुओं को देखने में समर्थ होते हैं।

बिखरे हुए प्रकाश की किरणें चकाचौंध नहीं उत्पन्न करतीं। लैम्प के प्रकाश में पढ़ते समय पुस्तक इस प्रकार रखनी चाहिए कि लैम्प से आनेवाली किरणें पुस्तक के पृष्ठ से प्रक्षालित होकर सीधी हमारी आँखों में न पहुँचे, अन्यथा पृष्ठ पर छपे हुए अक्षरों के बजाय हमें लैम्प का धुँधला प्रतिबिम्ब दीखेगा और आँखों में व्यर्थ की चकाचौंध पहुँचेगी। पुस्तक को सामने इस तरह रखना चाहिए कि पृष्ठ से केवल बिखरा हुआ प्रकाश हमारी आँखों में पहुँचे। अब पृष्ठ के अक्षर स्पष्ट दिखाई देंगे और चमक से आँखों को तनिक भी कष्ट न पहुँचेगा।

सन्ध्या के समय जब क्षितिज के नीचे सूर्य डूब जाता है तब भी ऊर्ध्वाकाश के वायुस्तरों द्वारा सूर्य का प्रकाश बिखरकर नीचे पृथ्वी पर पहुँचता है। अतः सूर्यास्त के उपरान्त कुछ देर तक आकाश में धुँधला-धुँधला प्रकाश बना रहता है। प्रात: सूर्योदय से कुछ देर पहले भी वायुस्तरों द्वारा बिखरा हुआ सूर्य का प्रकाश आसमान से

पृथ्वी पर पहुँचता है। वायु के अन्दर उडते हुए नन्हे-नन्हे रजकणों से ही टकराकर आलोक बिखरता है। यदि हवा मे धूलिकण या पानी की नन्ही-नन्हीं बूँदे न होती तो सूर्य डूबते ही सर्वत्र घटाटोप अँधेरा छा जाता। ऊर्ध्वाकाश मे, जहाँ हवा मे न तो बादल होते हैं और न धूलिकण, दिन की दुपहरी मे भी आसमान मे घना अन्धकार छाया रहता है, केवल सूर्यपिण्ड प्रकाशमान दीखता है—क्योंकि शुद्ध वायु मे अन्य कोई पदार्थ ही मौजूद नहीं, जिससे प्रक्षालित होकर आलोक-रश्मियाँ हमारी आँखों मे पहुँच सके।

पढ़ने के लिए तेज रोशनीवाले लैम्प मे चकाचौंध से आँखों की रक्षा करने के लिए दूधिया शीशे का ग्लोब काम मे लाते हैं। इस ग्लोब के अन्दर से आलोक-रश्मियाँ बिखरकर हर दिशा मे विकीरित होती हैं।

बिखरे हुए प्रकाश के गुणों की जाँच के लिए एक शुद्ध बर्फ की शिला लीजिए। यह एकदम पारदर्शक होगी। बहुत ही कम प्रकाश इस हिमशिला से बिखरता है। अतः स्वय बर्फ की शिला बहुत स्पष्ट हमे नहीं दीखती। अब बर्फ को छोटे-छोटे टुकडो में तोड डालिए। फौरन् ही इसकी पारदर्शिकता नष्ट हो जाती है। अब भी यह पहले-जैसा शुद्ध बर्फ है, किन्तु इसके ऊबड़-खाबड़ पडे हुए सहस्रो धरातलो से आलोक-रश्मियों का नियमित परावर्त्तन नही हो पाता। अब प्रकाश का बहुत बडा अंश इन टुकड़ों द्वारा बिखरा जा रहा है। इसी कारण तोडे हुए बर्फ के टुकड़ो का ढेर रुई-जैसा सफेद दिखाई देता है। जलप्रपात से गिरने पर नन्हीं-नन्हीं असख्य बूँदो मे जब जल परिवर्त्तित हो जाता है तो दूध के फेन की भाँति इनका रग भी सफेद हो जाता है, क्योंकि इस दशा मे बहुत सारा प्रकाश ये बिखेर सकती हैं।

समतल दर्पणों मे किसी वस्तु का बिम्ब सीधा और उतना ही बड़ा बनता है जितनी बड़ी स्वय वह वस्तु होती है। किन्तु यह विम्ब एक बात मे मूल वस्तु से भिन्न होता है। मूल वस्तु का दाहिना अग बिम्ब मे बायाँ अग दिखाई देता है। शीशे के सामने आप दाहिने हाथ से कघी करते हैं तो बिम्ब मे बायाँ हाथ कघी करता हुआ दिखलाई पड़ता है।

कागज पर लिखे हुए शब्दों का बिम्ब भी दर्पण मे ठीक ऐसा उभरता है मानों स्याही-सोख पर सुखाने से ये शब्द स्याही-सोख पर उलटे आए हों (दे० पृष्ठ १५२८ के चित्र मे नीचे बाईं ओर का चित्र)।

यदि दो दर्पण इस तरह खडे किये जायँ कि उनके बीच ६० अश का कोण बने तो इनके बीच मे रखे हुए पदार्थ के तीन बिम्ब बनेंगे। समकोण बनाती हुई दो रेखाओं के अन्दर कोई सुन्दर डिज़ाइन बनाइए। इन्ही दोनों रेखाओं पर दो काँच के दर्पण खडे कर दीजिए—आप देखेंगे कि आपकी डिज़ाइन अपने तीन प्रतिबिम्बों के साथ मिलकर

१. वस्तु 'क'-'ख' से चली हुई किरणें नतोदर दर्पण से परावर्त्तित होकर दर्पण के सामने उसी वस्तु का उलटा और छोटे आकार का बिम्ब 'ख'-'क' बनाती हैं। २. यदि हम वस्तु को हटाकर केन्द्रबिन्दु और दर्पण के दर्मियान रक्खें तो दर्पण के पीछे जो काल्पनिक बिम्ब बनेगा वह अभिवर्द्धित होगा, साथ ही सीधा भी। ३. यह उन्नतोदर दर्पण में बिम्ब के निर्माण का चित्र है। 'आ' और 'इ' पदार्थ से गोले के मध्यबिंदु को जा रही किरणें हैं। 'अ' और 'ई' दर्पण की धुरी के समानांतर दौडनेवाली किरणें हैं। किरणें मुड जाती हैं और ऐसा मालूम होता है मानो दर्पण के पीछे से आ रही हो। इस दशा मे भी दर्पण के पीछे एक काल्पनिक सीधे और छोटे बिंब का निर्माण होता है।

एक सुन्दर और पूर्ण डिजाइन का प्रदर्शन करती है। यदि दोनों दर्पणों के बीच ४५ अंश का कोण हो तो उनके बीच रखी हुई वस्तु के सात बिम्ब बनेंगे। ६० अंश के कोण से ५ बिम्ब मिलेंगे। दो समानान्तर दर्पणों के बीच रखी हुई वस्तु के अनेक बिम्ब इन दर्पणों मे बनेंगे। बड़े-बड़े नगरों मे भोजनालयों के अन्दर कमरे की आमने-सामने की दीवालों के समूचे धरातल को समतल दर्पण से ढक देते है। ऐसा करने से छोटा-सा कमरा भी लम्बाई में बहुत बड़ा जान पड़ता है।

कार्निवाल तथा मनोरंजन-पार्क मे बिना धड़ के बोलते हुए सिर का तमाशा भी दर्पणों की सहायता से ही दिखलाते हैं। तीन टॉगवाली मेज को इस तरह रखते हैं कि एक पैर सामने रहे, शेष दो पीछे। सामनेवाले पैर से पिछले दोनों पैरो तक दो दर्पण मेज के नीचे लगे रहते हैं—इन दोनो दर्पणो का मुँह बाहर स्टेज की ओर रहता है। दोनों दर्पणो के पीछे मेज के नीचे एक आदमी बैठा रहता है। मेज मे बने एक झरोखे के रास्ते से इस आदमी का सिर बाहर निकला रहता है। आइनों के सामने काले रग का पर्दा स्टेज की आड़ मे टॉग देते हैं। अत. दर्पण पर दृष्टि डालने से दर्पण तो स्वय नही दिखाई पड़ता बल्कि उसमे काले रग के पर्दे का प्रतिबिम्ब देखकर ऐसा जान पड़ता है कि जहाँ दर्पण लगा हुआ है वह जगह एकदम खाली है, अर्थात् टेबुल के नीचे की समूची जगह एकदम खाली जान पड़ती है, यद्यपि शीशे के पीछे ही वह व्यक्ति बैठा हुआ है। साधारण दर्शक समझते हैं कि बिना धड का सिर मेज पर रखा हुआ है।

दर्पण की मदद से सूर्य्य-रश्मियों को इच्छित दिशा मे भेजकर स्काउट तथा सैनिक परस्पर सांकेतिक भाषा मे बातचीत कर लेते हैं। ऐसे यत्र का नाम हीलियोग्राफ है। एक त्रिपाद पर दर्पण लगा रहता है, जिसका मुँह सूर्य की ओर रहता है। एक बटन दबाकर सकेत करनेवाला सूर्य-रश्मियों को इच्छित स्थान पर सामने की ओर भेज सकता है। देर तक बटन दबाए रखने पर 'डैश' का बोध होता है और कम देर तक बटन दबाने पर 'डॉट' का बोध होता है। इस प्रकार मोर्स-संकेत प्रणाली द्वारा सदेश भेजा जा सकता है। इस रीति से १०० मील के फासले पर सीधे सकेत भेजे जाने का भी दृष्टान्त मौजूद है।

नतोदर और उन्नतोदर दर्पण मे आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन

विवरण के लिए अगले पृष्ठ का मैटर देखिए।

साधारण पेरिस्कोप में भी आलोक-रश्मियो के परावर्त्तन का प्रयोग करते हैं। पेरिस्कोप मे साधारणतः दो दर्पण एक लम्बी नली के दोनों सिरों पर लगे रहते हैं। नली को सीधी खड़ी करने पर दूर की वस्तुओ से चलकर आलोक रश्मियाँ ऊपरवाले दर्पण से परावर्त्तित होकर नीचे नली के अन्दर जाती हैं, और तब दूसरे दर्पण से परावर्त्तित होकर वे हमारी आँखों मे पहुँचती हैं। पनडुब्बियों मे लगे हुए पेरिस्कोप का ऊपरी भाग जरा-सा पानी के बाहर निकला रहता है। इस प्रकार पानी के अन्दर बैठे-बैठे ही पनडुब्बी सचालक मालूम कर लेता है कि शत्रु का जहाज किस ओर और कितनी दूरी पर है। आधुनिक पेरिस्कोप में समतल दर्पणों के स्थान पर समपार्श्व (Prism) और लेन्स का प्रयोग करते हैं ताकि दूर की वस्तुओं का बिम्ब स्पष्ट और आलोकमय बन सके।

सभी दर्पण समतल धरातल के नही हुआ करते। गोले के धरातल के एक टुकडे को लेकर यदि उसके बाहरी भाग पर क़लई करें तो हमे उन्नतोदर दर्पण मिलते हैं। यदि भीतरी भाग पर क़लई करें तो नतोदर दर्पण मिलेगा। वक्र धरातलवाले इन दर्पणों मे विचित्र ढग के प्रतिबिम्ब बनते हैं, यद्यपि परावर्त्तन के वे ही नियम इनमे भी लागू होते हैं। इसी पृष्ठ का चित्र देखिए। नतोदर दर्पण के बीचोबीच से गुज़रनेवाली त्रिज्या 'क ध' मुख्य अक्ष कहलाती है।

'ध' दर्पण का ध्रुव कहलाता है। 'क' उस गोले का केन्द्र है जिसके धरातल में से दर्पण का टुकड़ा काटा गया है। जैसा कि चित्र मे न० ३ से प्रकट है, वे तमाम किरणे जो मुख्य अक्ष के समानान्तर चलकर दर्पण पर आपतित होती हैं परावर्त्तन के बाद मुख्य अक्ष को बिन्दु 'न' पर काटती हैं। 'न' को मुख्य नाभि (Focus) कहते हैं। वक्र धरातल-वाले गोल दर्पणो के परावर्त्तन के सिलसिले मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि धरातल के किसी बिन्दु पर खींची गई लम्बरेखा केन्द्र 'क' से गुज़रनेवाली त्रिज्या होगी।

स्पष्ट है कि 'क' पर रखे हुए बिन्दु से चलकर आलोक-रश्मियाँ दर्पण से परावर्त्तित होने पर पुनः उसी रास्ते लौटेंगी और 'क' पर ही मिलेंगी। अतः इस बिन्दु का बिम्ब भी 'क' पर ही बनेगा। यदि प्रदीप्त बिन्दु 'ख' पर रखा जाय तो परावर्त्तन के उपरान्त 'ख' से चली हुई किरणे 'क' और 'न' के दर्मियान बिन्दु 'ग' पर मिलेंगी। अतः 'ख' का बिम्ब 'ग' पर बनेगा। इसके प्रति-कूल यदि प्रदीप्त बिन्दु 'ग' पर रखा जाय तो इसका बिम्ब 'ख' पर बनेगा। यदि प्रदीप्त बिन्दु दर्पण के सामने एकाध मील की दूरी पर रखा जाय तो इस बिन्दु से चली हुई किरणे, जो दर्पण पर आपतित होंगी, लगभग एक दूसरे के समानान्तर ही होंगी, अतः परावर्त्तन के बाद वे सभी 'न' पर मिलेंगी—उस प्रदीप्त बिन्दु का बिम्ब 'न' पर बनेगा (दे० चित्र मे न० १, २, ३)। सूर्य का बिम्ब नतोदर दर्पण मे उसके नाभिबिन्दु पर बनता है।

ये सभी बिम्ब दर्पण के सामने वास्तव मे बनते हैं—धुँधले कॉच के परदे पर ये बिम्ब स्पष्ट उभर आते हैं। सभी वास्तविक बिम्ब उलटे बनते हैं। यदि बिम्ब 'क' और 'न' के बीच बनता है, तो वह मुख्य पदार्थ की अपेक्षा छोटा होता है, और जब बिम्ब 'क' 'ध' के बाहर बनता है, तो वह मुख्य पदार्थ से बड़ा होता है। जब वस्तु 'व' को हम 'न' और 'ध' के बीच ले आते हैं तो उस वस्तु से चली हुई किरणे परावर्त्तन के उपरान्त दर्पण के सामने नहीं मिलती, वरन् वे दर्पण के पीछे 'व' पर मिलती हुई जान पड़ती हैं। अतः इस दशा मे बिम्ब काल्पनिक बनता है और यह बिम्ब सीधा तथा उस वस्तु की अपेक्षा आकार मे बड़ा होता है (दे० चित्र मे न० ४)।

उन्नतोदर दर्पण मे बिन्दु 'क' और 'न' दोनों ही दर्पण के पीछे होते हैं। जैसा कि चित्र मे न० ५ से प्रकट है, दर्पण के सामने किसी वस्तु को कहीं भी रखिए, इसका बिम्ब दर्पण के पीछे ही बनेगा—बिम्ब का-ल्पनिक, सीधा तथा आकार मे उस वस्तु से छोटा होगा। उन्नतोदर दर्पण मे बिम्ब सदैव दर्पण के पीछे बिन्दु 'ध' और 'क' के बीच बनेगा। यह काल्पनिक बिम्ब 'क' से आगे कभी निकल ही नही सकता।

कार्निवाल और मेलो मे उन्नतोदर तथा नतोदर और अन्य इसी प्रकार के वक्र दर्पणों को एक दूसरे से सटाकर इस तरह रखते हैं कि दर्शक-गण बड़े वीभत्स तथा विचित्र प्रतिबिम्ब इनमे देखते हैं। किसी दर्पण मे सिर चिपटा तथा टॉगे पतली दीखती हैं तो किसी मे हाथी-जैसी मोटी टॉगे दिखलाई देती है।

एक वक्र दर्पण में दिखाई देनेवाला विकृत प्रतिबिंब

मोटरकार के लैम्प के भीतर बल्ब के पीछे ही नतोदर दर्पण लगा रहता है। बल्ब की किरणे इस नतोदर दर्पण से परावर्त्तित होकर उस बल्ब का एक वास्तविक बिम्ब कुछ दूर सामने बनाती हैं—यह बिम्ब अभिवर्द्धित रूप मे सड़क पर पड़ता है जिससे ड्राइ-वर को अँधेरे मे दूर तक रास्ता दिखलाई पड़ता है। वास्त-विक अभिवर्द्धित बिम्ब प्राप्त करने के लिए बल्ब को दर्पण के मुख्य नाभिबिन्दु और उसके केन्द्र के बीच मे रखना ज़रूरी होता है। सर्चलाइट मे भी यही प्रबन्ध रहता है।

हाइड्रोजन के एक आयतन — और — क्लोरीन के एक आयतन — के सयोग से — हाइड्रोजन क्लोराइड गैस के दो आयतन बनते हैं।
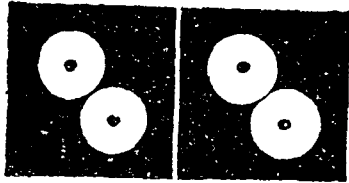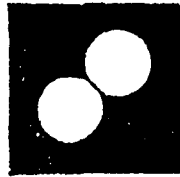
हाइड्रोजन के दो आयतन — और — ऑक्सिजन के एक आयतन — के सयोग से — भाप के दो आयतन बनते हैं।
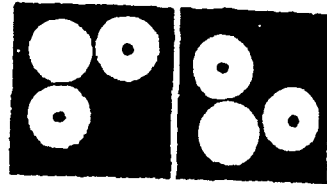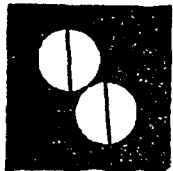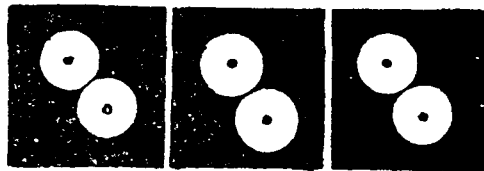
नाइट्रोजन के एक आयतन — और — हाइड्रोजन के तीन आयतनों — के सयोग से — अमोनिया के दो आयतन उत्पन्न होते हैं।
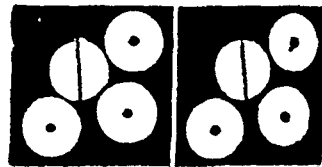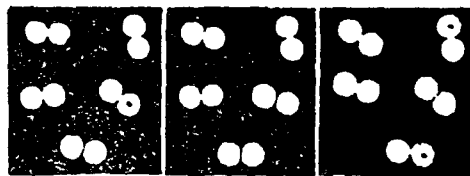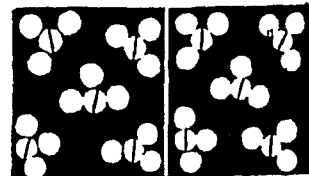
जो बात एक अणु के लिए सत्य है वही अणुओं की किसी सख्या के लिए भी सत्य है, यह इस चित्र से स्पष्ट है।

एवोगैड्रो के सिद्धान्त के आधार पर गे-लूजक के सरल आयतनिक अनुपातों के सिद्धान्त का प्रतीकों द्वारा स्पष्टीकरण

(इन चित्रों को अणुओं के वास्तविक चित्र न समझना चाहिए। केवल सिद्धान्तों के प्रदर्शन के लिए ही ये बनाए गए हैं। अधिक विवरण के लिए लेख का मैटर देखिए।)

सूक्ष्म जगत् की ओर

परमाणुओं और अणुओं के अन्वेषण तथा रासायनिक संयोग के नियमों की कथा

परमाणुवाद

हमारे पुरातन मनीषियों का विचार-क्षेत्र प्रत्यक्ष और ज्ञात तक ही सीमित न था; वे अदृश्य और अनंत के विषय में भी अनेक महान् सत्यों तक पहुँच चुके थे। उन्होंने जहाँ सृष्टि की अनंत महानता को अपने ज्ञान की परिधि में समेटना चाहा, वहाँ उसकी अनंत सूक्ष्मता की समस्या को सुलझाने का भी भरसक प्रयत्न किया। जब हम किसी वस्तु को तोड़ते अथवा विभाजित करते हैं तो वह लघुतर भागों में खंडित हो जाती है। इस विभाजन की कोई हद भी है? द्रव्य के कणों की लघुता सीमित है अथवा असीम? इन विचारों ने ढाई हज़ार वर्ष पहले के भारतीय विद्वानों में पहलेपहल* मानसिक उथल-पुथल मचाई थी। कपिल ने अपने सांख्य और कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में द्रव्य को परमाणुओं का बना हुआ माना, अर्थात् ऐसे लघुतम कणों का, जो आगे खंडित नहीं हो सकते। कणाद ने परमाणु को अक्षय माना और इनके विभिन्न प्रकार से मिलने से पंचतत्वों के निर्मित होने की कल्पना की। विस्तार में, इन मुनियों के अनुमान ठीक न थे, किंतु उनकी परमाणुओं की सत्ता की कल्पना मात्र ही बड़े भारी महत्त्व की थी। वास्तव में, अर्वाचीन विज्ञान परमाणुवाद पर ही टिका हुआ है। भारतवर्ष में परमाणुवाद ईसा से लगभग छः सौ वर्ष पहले प्रचलित था। यहाँ से फारस होकर वह ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी में यूनान पहुँचा, और वहाँ भी डेमाक्रिटस, ल्यूकिप्पस आदि बड़े-बड़े दार्शनिकों द्वारा उसका प्रचार हुआ। यूनान में परमाणुवाद का विरोध भी हुआ, और इस विरोधी दल में अग्रगण्य अरस्तू (३८४—३२२ ई० पूर्व) था। अरस्तू यूनान का एक बड़ा प्रभावशाली दार्शनिक था, अतएव परमाणुवाद में यूनानियों की श्रद्धा बहुत-कुछ घट गई और तब से दो हजार वर्ष तक, यद्यपि लोग उसे सर्वथा भूले नहीं, उसे किसी ने न उठाया। अनेक योरपियन विद्वान् फ्रांसिस बेकन, रेने डेकार्ट, पियर गैसेण्डी, राबर्ट ब्वॉयल, राबर्ट हुक, जॉन मेयो, आइज़क न्यूटन (१६७५), एम० डब्ल्यू० लोमनोसॉफ़(१७४८), ब्रायन हिगिंस (१७७६) और विलियम हिगिंस (१७८९) आदि परमाणुवाद के पक्ष में विचार प्रकट करते रहे, लेकिन कोई उसमें जीवन न डाल सका। अब तक

जॉन डाल्टन

* देखो (१) 'हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री', लेखक, सर पी० सी० राय प्रथम अध्याय; (२) 'माडर्न इनआर्गेनिक केमिस्ट्री'; लेखक, डॉ० जे० डब्ल्यू० मेलर, पृ० ४६।

ब्वॉयल, प्रीस्टले, लवॉयशिये आदि वैज्ञानिक रसायन को ठीक रास्ते पर ला चुके थे, और प्रयोगों द्वारा कई रासायनिक नियमों का आविष्कार भी हो चुका था। इसी समय, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारभ मे, इग्लैंड के एक साधारण स्कूल मास्टर जॉन डाल्टन ने परमाणुवाद के विषय को फिर उठाया। न्यूटन के परमाणु-सबधी कथनों से विशेषतः प्रभावित होकर इसने अपने अनुमान-बल द्वारा परमाणुवाद को एक ऐसा रूप दे दिया जिसके सहारे रासायनिक सयोग के नवाविष्कृत भारात्मक सिद्धात पूर्णतः सिद्ध कर दिए जा सके। अपने परमाणुवाद के लिए कोई सीधा प्रमाण उसके पास न था, किंतु विभिन्न रासायनिक घटनाएँ उसके द्वारा इतनी सरलता से सिद्ध होती चली गई कि विज्ञान-जगत् को उसे मान ही लेना पड़ा। यदि लवॉयशिये ने अर्वाचीन रसायन की नीव डाली तो डाल्टन ने अपने परमाणुवाद के ऐसे दृढ स्तभ निर्मित किए जिन पर आज का विज्ञान निरापद खडा हुआ है। डाल्टन के परमाणु-सबधी सिद्धात इस प्रकार थे—

(१) द्रव्य बहुत ही छोटे-छोटे कणों अर्थात् परमाणुओं से मिलकर बना होता है। ये किसी भी क्रिया द्वारा आगे खडित नहीं हो सकते।

(२) परमाणुओं का नाश नहीं हो सकता, और न वे रचे ही जा सकते हैं।

(३) एक ही मूलतत्त्व के परमाणु बिल्कुल एक-से होते हैं और उनका भार भी बराबर होता है।

(४) विभिन्न तत्त्वों के परमाणु गुणों मे एक-दूसरे से भिन्न होते हैं और इनके भार भी बराबर नही होते।

(५) यौगिक "यौगिक परमाणुओं" के बने होते हैं, और एक ही यौगिक के 'यौगिक परमाणु' समान और भिन्न-भिन्न यौगिकों के असमान होते हैं।

(६) विभिन्न मूलतत्त्वो के परमाणु सरल सख्यात्मक निष्पत्तियों, यथा १:१, १:२, २:१, २:३, ३:१, आदि में ही संयुक्त होकर यौगिक बनाते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि दो तत्त्व क और ख सयुक्त होते हैं तो इस प्रकार बने हुए यौगिक मे इनके परमाणुओं की सख्या इस प्रकार होगी —१ परमाणु क और १ परमाणु ख, अथवा १ परमाणु क और २ परमाणु ख, अथवा २ परमाणु क और ३ परमाणु ख, आदि।

(७) जिस भार-सम्बन्धी अनुपात मे तत्त्व सयुक्त होकर यौगिक बनाते हैं, वही अनुपात उस यौगिक के परमाणु-भारों मे भी होता है, अतएव प्रयोगों द्वारा यौगिकों के तत्त्वों के भारीय अनुपातों को निकालकर परमाणुओं के भी आपेक्षिक भार निकाले जा सकते हैं।

डाल्टन ने 'यौगिक परमाणुओं' मे विभिन्न परमाणुओं की सख्या निकालने के लिए जो सिद्धान्त बनाए वे ठीक न थे, अतएव वह न तो यौगिकों का सगठन ही और न परमाणुओं के ठीक-ठीक आपेक्षिक भारों को ही निश्चित कर सका।

रासायनिक सयोग के भार-सम्बन्धी सिद्धांत और परमाणुवाद

हम आगे देखेंगे कि डाल्टन के परमाणुवाद मे क्या-क्या दोष थे और उसमे क्या-क्या सशोधन किए गए, फिर भी अनेकानेक रासायनिक प्रयोग और घटनाएँ, तथा रासायनिक सयोग के भारात्मक सिद्धान्त उसके सहारे स्पष्टतः समझा दिए जा सके—वास्तव मे उनके रहस्यों का उद्घाटन ही हो गया। लोगों की आँखे खुली और डाल्टन के अनुमान सर्वत्र स्वीकृत कर लिये गए। तभी से वे रासायनिक चर्चा के आधार बन गए। आज हम देखते हैं कि एक भी रासायनिक घटना परमाणुओं की भाषा के बिना स्पष्टत. समझाई नही जा सकती।

रासायनिक सयोग के भार सबधी सिद्धान्त चार हैं:—

(१) द्रव्य की अविनाशिता का सिद्धान्त—जब हम बढते हुए पेड़-पौधों अथवा प्राणिकलेवरों, चटकती हुई कलियो, मुरझाते हुए फूलों, जलती हुई वस्तुओं आदि को ऊपरी दृष्टि से देखते हैं तो हमे प्रत्यक्षत. यही भासित होता है कि द्रव्य का जन्म और विनाश दोनो होता है। जादू मे विश्वास करनेवाले भी बहुधा समझते हैं कि मत्रों द्वारा द्रव्य गायब कर दिया जा सकता है, अथवा बना भी लिया जा सकता है। तथापि प्राचीन काल से ही कणाद, डेमाक्रिटस आदि ज्ञानियों ने द्रव्य की अविनाशिता को ही सत्य माना। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा इस नियम की परीक्षा सबसे पहले लवॉयशिये ने १७७४ ई० मे की। उसने बद पात्र मे रॉगा (टीन) जलाकर देखा कि भार मे कोई भी परिवर्त्तन नही होता, अर्थात् रासायनिक परिवर्त्तन के बाद भी द्रव्य जितना पहले था उतना ही बना रहता है। यही प्रयोग अन्य ज्वलनशील पदार्थों के साथ भी किया जा सकता है। १८९३ मे लैण्डोल्ट और १९०१ में हीडवीलर ने इस नियम की परीक्षा अधिक सावधानी से अनेक अन्य प्रयोगों द्वारा की। उन्होंने पहले दो ऐसे घोलों को साथ-साथ तौला जिनमे रासायनिक क्रिया सरलता से हो सकती है। फिर सावधानी से मिलाकर जब उन्होंने उन्हे फिर तौला तो

भार मे कोई परिवर्त्तन न पाया। सिल्वर नाइट्रेट, पोटैशियम क्रोनेट, लेड एसेटेट और पोटैशियम आयडाइड, बेरियम क्लोराइड और सल्फ्यूरिक ऐसिड, आदि मिलाकर ये प्रयोग सरलता से किये जा सकते हैं। डाल्टन के परमाणुवाद से यह नियम स्पष्ट हो जाता है, कारण डाल्टन के अनुसार जो परमाणु एक दूसरे पर क्रिया करते हैं, वही और उतने ही परमाणु उत्पन्न पदार्थों मे भी रहते हैं, और इन परमाणुओ का न तो भार ही घट सकता है और न उनका विनाश अथवा सृजन ही हो सकता है। अतएव उत्पन्न पदार्थों का भार वही रहता है जो क्रियाशील पदार्थों का होता है। पदार्थों के नाश और सृजन का सदेह हम इसीलिए करते हैं कि या तो हम पदार्थो से वस्तुओ को और विशेषतः अदृश्य गैसों को निकलते हुए नही देख सकते, अथवा उनमे उन्हे मिलते हुए नहीं देख सकते (दे० पृ० १६)।

(२) **निश्चित अनुपात का नियम**—इस नियम के अनुसार कोई भी रासायनिक यौगिक, वह चाहे कही भी मिले अथवा किसी भी प्रकार से तैयार किया जाय, सदैव उन्ही तत्वो के उन्ही भार-संबंधी अनुपातो मे सयुक्त होने से बना होता है। यथा, पानी चाहे जहाँ से लिया जाय या किसी प्रकार से बनाया जाय, उसमे सदैव हाइड्रोजन और ऑक्सिजन तत्त्व १:२ के भारीय अनुपात में सयुक्त रहते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध तक विभिन्न वैज्ञानिकों के प्रयोगात्मक प्रयासों द्वारा इस नियम का विकास होता रहा। इन वैज्ञानिकों मे जीन रे (१६३०), आइजक न्यूटन (१७०६), जी० ई० स्टाल (१७२०), एफ० जी० रुएल (१७६४), सी० एफ० वेन्जेल (१७७०) और टी० बर्गमन (१७८३), विशेषतः उल्लेखनीय हैं। अततः उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे जे० एल० प्राउस्ट ने इस नियम का ज़ोरों से समर्थन किया—

"लोहे की ऑक्साइडों मे, चाहे वे उत्तर से लाई गई हों अथवा दक्षिण से, अभी तक कोई अंतर नहीं देखा गया है; जापान के सिनाबार (रक्त हिंगुल) का संगठन वही होता है जो स्पेन के सिनाबार का; सिल्वर क्लोराइड, चाहे वह पेरू से लाई गई हो या साइबेरिया से, हूबहू एक ही होती है; ससार भर में केवल एक ही सोडियम क्लोराइड, एक ही शोरा, एक ही कैल्शियम सल्फेट, और एक ही बेरियम सल्फेट होता है। विश्लेषण इन तथ्यों का पग-पग पर समर्थन करता है।"

प्राउस्ट का विरोधी बर्थोले चुप हो गया, और यह नियम अटल सत्य की भाँति सदा के लिए स्थापित हो गया। इसी लिए बहुधा इस नियम को 'प्राउस्ट का नियम' कहते है।

डाल्टन का परमाणुवाद इस नियम की कसौटी पर भी खरा उतरा, कारण, यह नियम डाल्टन के अनुमानों द्वारा पूर्णतः प्रमाणित किया जा सकता है। डाल्टन के अनुमान कि (१) किसी विशेष यौगिक का चरम कण सदैव उन्ही परमाणुओं की उन्हीं सख्याओं से बना होता है और (२) एक ही तत्त्व के परमाणुओं का भार वही रहता है इस नियम की व्याख्या पूर्णतः कर देते हैं। उदाहरणार्थ, कार्बन डाइऑक्साइड के चरम कण में सदैव एक कार्बन का परमाणु और दो ऑक्सिजन के परमाणु रहते हैं; और इन दोनो परमाणुओं के भार भी स्थिर रहते हैं। अतएव कार्बन डाइऑक्साइड मे इन दोनों तत्त्वों का भारात्मक अनुपात सदैव वही रहेगा।

गे-लूज़क

(३) **अपवर्त्य अनुपातों का नियम**—जब कार्बन-कार्बन मोनाक्साइड मे परिणत होता है तो हम प्रयोगों द्वारा देखते हैं कि कार्बन के १२ भारांश ऑक्सिजन के १६ भारांशों से सयुक्त होते हैं। फिर कार्बन के कार्बन डाइऑक्साइड मे परिणत होने मे हम देखते हैं कि कार्बन के १२ भाग ऑक्सिजन के ३२ भागों से सयुक्त होते हैं। अतएव कार्बन के उसी भार से ऑक्सिजन के जो परिमाण सयुक्त होते हैं, उसमे एक सरल निष्पत्ति अर्थात् १:२ है, और दोनों किसी सख्या के अपवर्त्य हैं। इसी प्रकार यदि हम ऑक्सिजन का भार दोनों क्रियाओं मे एक ही, यथा १६, लें तो पहली क्रिया मे कार्बन का भार १२ और दूसरी क्रिया में ६ हो जायगा और ऑक्सिजन के उसी भार से संयुक्त होनेवाले कार्बन के परिमाणों मे एक सरल निष्पत्ति

अर्थात् २:१ होगी। जब कभी दो तत्त्व संयुक्त होकर एक से अधिक यौगिक बनाते हैं तो इनमें से किसी एक तत्त्व के निश्चित भार से दूसरे तत्त्व के जो विभिन्न भार संयुक्त होते हैं उनमें एक सरल निष्पत्ति पाई जाती है, और ये भारात्मक सख्याएँ किसी संख्या की अपवर्त्य होती हैं। यही 'अपवर्त्य अनुपातों का नियम' कहलाता है। नाइट्रोजन और ऑक्सिजन सयुक्त होकर पॉच ऑक्साइडे बनाती हैं, अतएव प्रयोगों द्वारा इनमे दोनों तत्त्वों के भारात्मक अनुपातों को निकालकर इस नियम का एक बड़ा अच्छा उदाहरण दिया जा सका। नाइट्रोजन का निश्चित भार १४ लेकर विभिन्न ऑक्साइडों में ऑक्सिजन के निम्नाकित भार पाए गए:—

नाइट्रस ऑक्साइड	८
नाइट्रिक ऑक्साइड	१६
नाइट्रोजन ट्राइऑक्साइड	२४
नाइट्रोजन परॉक्साइड	३२
नाइट्रोजन पेंटाक्साइड	४०

अतएव ऑक्सिजन के विभिन्न भारों में १:२:३:४:५ की सरल निष्पत्ति हुई और सभी सख्याएँ ८ की अपवर्त्य हुईं। सबसे पहले लगभग १८०२ मे डाल्टन ही अपने प्रयोगात्मक निरीक्षणों की सहायता से इस नियम पर पहुँचा। इस नियम से उसके परमाणुवाद के अथवा परमाणुवाद से इस नियम के बनने मे अवश्य सहायता मिली होगी। परमाणुवाद के ऊपर दिए हुए अनुमान न० ६ से इस नियम की व्याख्या सरलता से हो जाती है। मान लीजिए कि क तत्त्व और ख तत्त्व के एक यौगिक में १ परमाणु क और २ परमाणु ख के हैं, और दूसरे यौगिक में २ परमाणु क और ३ परमाणु ख के हैं, तो पहली दशा मे क के २ परमाणुओं से ख के ४ परमाणु और दूसरी में क के परमाणुओं की उसी सख्या से ख के ३ परमाणु सयुक्त होते हैं। अतः क ख के परमाणुओं मे ४:३ की सरल निष्पत्ति हुई। सरल निष्पत्ति से मतलब यह है कि उसकी सरलतम पूर्ण सख्याएँ छोटी अर्थात् प्रायः ५ से अधिक न हों।

१८०८ मे टामसन ने और १८१२ में स्वीडेन के विख्यात रासायनिक बर्जीलियस ने प्रयोगों द्वारा इस नियम को पूर्णतः स्थापित कर दिया, और लोगों का डाल्टन के परमाणुवाद मे विश्वास और भी बढ गया।

(४) पारस्परिक अनुपातों अथवा तुल्य भारों का नियम—उदाहरणार्थ, तीन मूलतत्त्वों हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और कार्बन को ले लीजिए। हाइड्रोजन और ऑक्सिजन दोनों पृथक्-पृथक् कार्बन से सयुक्त होती हैं। प्रयोगों द्वारा यह निकाला जा चुका है कि हाइड्रोजन के १ भाराश और कार्बन के ३ भाराशों के सयोग से मीथेन नामक गैस का उत्पादन होता है, और ऑक्सिजन के आठ भाराश और कार्बन के उतने ही भाराशों के सयोग से कार्बन डाइ-ऑक्साइड उत्पन्न होती है। अतएव उतने ही कार्बन से सयुक्त होनेवाले हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के भाराशों मे १/८ का अनुपात हुआ। अब हाइड्रोजन और ऑक्सिजन जब स्वय आपस मे सयुक्त होकर पानी बनाती हैं तो उनके भाराशो में १/८ का अनुपात रहता है। अतएव प्रथम अनुपात और इस अनुपात मे १/८ : १/८ अथवा १:१ की सरल निष्पत्ति हुई। फिर हाइड्रोजन और ऑक्सिजन जब १/१६ के भारात्मक अनुपात में सयुक्त होती हैं तो हाइ-ड्रोजन परॉक्साइड बनता है। अतएव प्रथम अनुपात और इस अनुपात मे भी १/८ : १/१६ अर्थात् २:१ की सरल निष्पत्ति हुई। यही नही, अब एक ऐसी क्रिया सोचिए जिसमे हाइड्रोजन और ऑक्सिजन पृथकतः एक किसी अन्य तत्त्व से सयुक्त हों। गधक का उदाहरण ले लीजिए। हम प्रयोगो द्वारा यह देखते हैं कि हाइड्रोजन का एक भाराश गधक के १६ भाराशों से सयुक्त होकर हाइड्रोजन सल्फाइड (रसायनशाला की बदबूदार गैस) बनाता है, और ऑक्सिजन के १६ भाराश गधक के १६ भाराशों से जब सयुक्त होते हैं तो सल्फर डाइऑक्साइड गैस उत्पन्न होती है, अतएव यहाँ गधक के उसी भार से सयुक्त होते हुए भारों मे १/१६ का अनुपात हुआ। प्रथम अनुपात और इस अनुपात मे भी १/८ : १/१६ अर्थात् २:१ की सरल निष्पत्ति हुई। इसी प्रकार के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। हम देखते हैं कि उस अनुपात का जिसमे दो तत्त्व **किसी तीसरे तत्त्व के एक निश्चित भार से संयुक्त होते हैं, उस अनुपात से, जिसके स्वयं परस्पर अथवा पृथक्त. किसी अन्य तत्त्व के निश्चित भार से संयुक्त होते हैं, एक सरल निष्पत्ति होती है।** यही पारस्परिक अनुपातों का नियम है। ऊपर दी हुई क्रियाओं मे हम देखते हैं कि हाइड्रोजन का १, ऑक्सिजन के ८ अथवा १६, कार्बन के ३, और गधक के ८ अथवा १६ भाराश एक दूसरे से सयुक्त हो सकते हैं, अतएव इन सख्याओं को तुल्य भार*

* **तुल्य भार की आधुनिक परिभाषा इस प्रकार है—किसी तत्त्व का तुल्य भार उसके उतने भारांशो की संख्या है जो हाइड्रोजन के एक भाराश से ऑक्सिजन के ८ भाराशो से अथवा क्लोरीन के ३५.५ भाराशो से संयुक्त हो सके, अथवा उन्हे यौगिकों से हटा दे सके।**

कहते हैं, अतः यह नियम तुल्य-भारों का नियम भी कहा जाता है। जे० बी० रिक्टर महोदय ने लगभग १७६० में अपने कुछ प्रयोगों के आधार पर इस नियम की ओर पहले-पहल संकेत किया था, अतएव यह नियम बहुधा 'रिक्टर का नियम' कहलाता है। १८१०—१८१२ तक बर्ज़ीलियस ने बड़ी ही सावधानी से अनेकानेक प्रयोगों द्वारा इस नियम को पूर्णतः स्थापित कर दिया। इस नियम की व्याख्या भी परमाणुवाद के आधार पर स्पष्टतः की जा सकी। मान लीजिए क तत्त्व ग तत्त्व से संयुक्त होता है, तो डाल्टन के परमाणुवाद के छठे अनुमान के अनुसार क और ग के यौगिक के चरमकण में उसके परमाणुओं की संख्याएँ किसी सरल निष्पत्ति में ही होंगी। मान लीजिए कि यह निष्पत्ति १ : ३ है। अब मान लीजिए कि ख तत्त्व और ग तत्त्व में इसी प्रकार की निष्पत्ति १ : १ है। अतएव क और ख के उन परमाणुओं में जो ग के उतने ही परमाणुओं से संयुक्त होते हैं ⅓ का अनुपात हुआ। अब चूँकि डाल्टन के अनुमान (३) के अनुसार किसी तत्व के परमाणु का भार सदैव वही होता है, अतएव क और ख के उन भारों में, जो ग के एक निश्चित भार से संयुक्त होते हैं,

$$\frac{\text{१ × क का परमाणुभार}}{\text{३ × ख का परमाणुभार}}$$ का अनुपात हुआ। अब मान लीजिए

एवोगैड्रो

कि जब क और ख स्वयं परस्पर अथवा किसी अन्य तत्व से मिलते हैं तो उनके संयुक्त होते हुए परमाणुओं में १ : २ की निष्पत्ति हुई, अर्थात् इन दोनों में भार संबंधी अनुपात $\frac{\text{२ × क का परमाणुभार}}{\text{१ × ख का परमाणुभार}}$ होता है। अतएव पहले और दूसरे अनुपात में

$$\frac{\text{१ × क का परमाणुभार}}{\text{३ × ख का परमाणुभार}} : \frac{\text{१ × क का परमाणुभार}}{\text{२ × ख का परमाणुभार}}$$
$$= \text{२ : ३}$$

की निष्पति हुई, और यह निष्पत्ति सरल है।

इस प्रकार प्रत्येक बार डाल्टन का परमाणुवाद विभिन्न कसौटियों पर कसा जाने पर खरा ही उतरा। अपने परमाणुवाद को सर्वत्र स्वीकृत देखकर ७८ वर्ष की आयु में २७ जुलाई, १८४४, के दिन डाल्टन इस संसार से चल बसा। कौन जानता था कि कम्बरलैण्ड का वह छोटा-सा बेढंगा स्कूल-मास्टर, जिसका पिता एक जुलाहा था, कणाद के परमाणुवाद को आगे बढ़ाकर उसे एक युगप्रवर्त्तक रूप प्रदान कर सकेगा?

गे-लूज़क का गैसीय आयतनों के संयोग का सिद्धांत

जिस समय डाल्टन अपने परमाणुवाद के निरूपण में व्यस्त था, उसी समय (लगभग १८०५ में) फ्रांस में गे-लूज़क हवा के संगठन पर प्रयोग कर रहा था। उसका साथी ए० वान हम्बोल्ट संसार के विभिन्न भागों से हवा के नमूने यह देखने के लिए ले आया था कि हवा का संगठन सर्वत्र वही होता है अथवा नहीं। इन दोनों वैज्ञानिकों ने हवा से ऑक्सिजन पृथक् करने के लिए उसे हाइड्रोजन के साथ बार-बार विस्फुटित किया, और देखा कि प्रत्येक बार ऑक्सिजन का एक आयतन हाइड्रोजन के पूरे दो आयतनों से संयुक्त होता है। इस आयतनिक अनुपात की सरलता की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हुआ। उसने सोचा, संभव है गैसों की अन्य क्रियाओं में भी यही सरलता मिले। अब तक अनेक गैसों का आविष्कार हो चुका था। उसने इस संबंध में बहुत-से प्रयोग कर डाले, और सर्वत्र उसी अनुपातों की सरलता से

उसकी भेंट हुई। उदाहरणार्थ, तापक्रम और दबाव वही रखने पर हाइड्रोजन का एक आयतन क्लोरीन के एक आयतन से संयुक्त होकर हाइड्रोजन क्लोराइड गैस के दो आयतन बनाता है; हाइड्रोजन के दो आयतन ऑक्सिजन के एक आयतन से संयुक्त होकर भाप के दो आयतनों में परिणत हो जाते हैं; हाइड्रोजन के तीन आयतन और नाइट्रोजन के एक आयतन के संयोग से अमोनिया के दो आयतन उत्पन्न होते हैं। उसने देखा कि तापक्रम और दबाव की दशाएँ वही रहते हुए जब गैसों में परस्पर कोई प्रतिक्रिया होती है, तो उनके क्रियाशील आयतनों में एक सरल निष्पत्ति रहती है, और उत्पन्न पदार्थ भी गैसीय हुआ तो क्रियाशील गैसों और उत्पन्न गैस के आयतनों में भी एक सरल निष्पत्ति रहती है। गे-लूज़क ने १८०८ में अपने इस महत्वपूर्ण

नियम को विज्ञान-जगत् के भेंट कर दिया। स्वीडन के विख्यात रसायनज्ञ बर्ज़ीलियस ने इस नियम की व्याख्या इस अनुमान द्वारा करनी चाही कि एक ही दबाव और तापक्रम पर गैसों के बराबर आयतनों में परमाणुओं की संख्या बराबर होती है, अर्थात् सभी गैसों के परमाणु बराबर-बराबर जगह घेरते हैं। अतएव चूँकि डाल्टन के अनुसार परमाणु भी सरल अनुपात में संयुक्त होते हैं, इसलिए उनके आयतनों में भी सरल अनुपात होना चाहिए। बर्ज़ीलियस ने इस प्रकार गे-लूज़क और डाल्टन के नियमों में सामंजस्य स्थापित करना चाहा, लेकिन डाल्टन स्वयं बर्ज़ीलियस से सहमत न हो सका। डाल्टन की कठिनाई एक उदाहरण द्वारा आप भली प्रकार समझ सकते हैं। हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस के दो आयतन हाइड्रोजन के एक आयतन और क्लोरीन के एक आयतन के संयोग से बनते हैं, अर्थात् बर्ज़ीलियस के अनुसार हाइड्रोजन क्लोराइड के दो परमाणु हाइड्रोजन और क्लोरीन के एक-एक परमाणु के संयुक्त होने से बनने चाहिएँ, अतएव हाइड्रोजन क्लोराइड का एक परमाणु हाइड्रोजन के आधे परमाणु और क्लोरीन के आधे परमाणु के संयोग से बनना चाहिए! ये आधे परमाणु कैसे? डाल्टन के मत के अनुसार तो परमाणु खंडित ही नहीं हो सकते! फिर इन आधे-आधे परमाणुओं का अस्तित्व कैसा? यही कठिनाई अन्य क्रियाओं में भी पड़ी। डाल्टन के अनेकों परीक्षाओं द्वारा समर्थित परमाणुवाद के सामने बर्ज़ीलियस की व्याख्या को किसी ने स्वीकार न किया। १८११ में इटली के प्रतिभाशाली वैज्ञानिक एवोगैड्रो को यह सूझा कि यह आवश्यक नहीं कि हाइड्रोजन, क्लोरीन आदि गैसों के चरम कणों में एक-ही एक परमाणु रहता हो। उसने अनुमान किया कि हाइड्रोजन, क्लोरीन आदि गैसों के कणों में कम से कम दो परमाणु अवश्य होने चाहिए। तत्वों अथवा यौगिकों के एक से अधिक परमाणुवाले कणों का नाम उसने 'मालीक्यूल' (Molecule) रक्खा। हम इन कणों को अणु कहते हैं। उसने कहा कि परमाणु तो द्रव्य का वह सूक्ष्मतम कण है जो रासायनिक क्रियाओं में भाग लिया करता है, किंतु अणु द्रव्य का वह सूक्ष्मतम कण है जो मुक्त अवस्था में रह सकता है और जिसमें द्रव्य के सभी गुण पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, ऑक्सिजन गैस मुक्तावस्था में अपने अणुओं के रूप में ही रहा करती है। इन अणुओं में उसके दो-दो परमाणु रहते हैं और इनके ही गुण ऑक्सिजन गैस के गुण होते हैं। लेकिन रासायनिक क्रियाओं में भाग लेनेवाले ऑक्सिजन के चरम कण उसके परमाणु होते हैं। मैग्नेशियम के एक परमाणु से ऑक्सिजन का एक परमाणु ही संयुक्त होकर मैग्नेशियम ऑक्साइड बनाता है। इस प्रकार एवोगैड्रो की दिव्य दृष्टि द्वारा अणुओं का भी भेद खुला और वे अपने वास्तविक रूप में विचार-जगत् में आ पहुँचे।

इन विचारों के आधार पर एवोगैड्रो ने बर्ज़ीलियस के अनुमान को सुधारा और स्वयं अपने महान् सिद्धान्त की घोषणा की—**तापक्रम और दबाव की उन्हीं अवस्थाओं में गैसों के बराबर आयतनों में अणुओं की संख्या एक ही होती है।** अर्थात् उन्हीं दशाओं में प्रत्येक गैसीय अणु एक ही जगह घेरता है। सुनता हूँ कि समाजवादी देशों में प्रत्येक व्यक्ति को भोजन एक ही प्रकार का मिलता है, किन्तु अणुओं के देश में प्रत्येक अणु को रहने के लिए उतनी ही जगह दी जाती है, चाहे उस 'अणु' नामक समूह में कितने ही परमाणु क्यों न हों। एवोगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार ऊपर दी हुई हाइड्रोजन और क्लोरीन की क्रिया में हाइड्रोजन क्लोराइड के दो अणु हाइड्रोजन के एक अणु और क्लोरीन के एक अणु के संयोग से बनते हैं, अतएव हाइड्रोजन क्लोराइड का एक अणु हाइड्रोजन के आधे अणु और क्लोरीन के आधे अणु के संयोग से बनता है। एवोगैड्रो ने अनुमान किया कि हाइड्रोजन और क्लोरीन के अणुओं में दो दो परमाणु होने चाहिएँ, जिससे यह निष्कर्ष निकला कि हाइड्रोजन क्लोराइड के एक अणु में हाइड्रोजन का एक परमाणु (आधा अणु) और क्लोरीन का एक परमाणु (आधा अणु) होने चाहिए। प्रयोगात्मक निरीक्षणों द्वारा उसके ये अनुमान अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुए। यही नहीं, गैसों की सभी रासायनिक क्रियाओं में उसके सरल आयतनिक अनुपातों की व्याख्या एवोगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार सरलता से हो सकी। ऊपर गे-लूज़क के नियम के सम्बन्ध में दिए हुए तीनों उदाहरण एवोगैड्रो के सिद्धान्त के आधार पर पृ० १५३२ पर चित्रों द्वारा समझाए गए हैं। यह जानते हुए कि गैसों का प्रत्येक अणु उतनी ही (चित्र में एक कोठे द्वारा प्रदर्शित) जगह लेता है, गे लूज़क का सरल आयतनिक अनुपातों के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कितनी सुन्दरता से हो जाता है। उसी पृष्ठ के सबसे नीचे के चित्र में यह दिखाया गया है कि जो बात एक अणु के लिए सत्य है, वही अणुओं की किसी भी संख्या के लिए भी सत्य है।

हम फिर कभी देखेंगे कि एवोगैड्रो के सिद्धान्त के द्वारा अणुओं का संगठन और परमाणुओं और अणुओं के आपेक्षिक भार सरलता से कैसे निकाल लिये जा सके।

पूर्ण कुम्भ

पुरुष सृष्टि की सबसे चमत्कारपूर्ण रचना है। सृष्टि का रहस्य एक ओर और मनुष्य-शरीर का रहस्य दूसरी ओर, ये दोनों एक समान अज्ञात और दुस्तर हैं। विश्व और शरीर इन दो किनारों के बीच मे मानवी ज्ञान-सरिता का प्रवाह बहता आया है। ये दोनों एक दूसरे से अत्यन्त दूर और साथ ही अत्यन्त सन्निकट भी हैं। जिस प्रकार बीच मे बहनेवाले जल के द्वारा नदी के दोनों तीर परस्पर अहर्निश चञ्चल विद्युत्-धारा से मिले रहते हैं उसी प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड को नित्य जागरणशील प्राणधारा परस्पर सयुक्त रखती है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का यह सम्बन्ध केवल देशकृत एकसूत्रता मे ही नहीं है, वरन् पिण्डरूपी मनुष्य-शरीर एक बहुत सच्चे अर्थों में विश्व का प्रतिबिम्ब भी है। ईसाइयों के धर्मग्रन्थ के अनुसार मनुष्य को ईश्वर ने अपनी प्रतिमा के रूप मे रचा है। यज्ञीय परिभाषा में पुरुष यज्ञ की प्रतिमा है। ब्रह्माण्ड-व्यापी सृष्टि-प्रक्रिया को यदि यज्ञ कहा जाय तो मनुष्य-शरीर उस महान् यज्ञ को समझने के लिए एक सूक्ष्म मानचित्र के समान है। दूर अथवा निकट विश्व मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के पारस्परिक मिश्रण और विश्लेषण से घटित होनेवाले जिन कार्यों के साथ हमारा परिचय है, उन सबका साक्षात् अस्तित्व मनुष्य के शरीर मे विद्यमान रहता है। आर्य दर्शन का यह सिद्धान्त कि जिन पञ्च महाभूतो से सृष्टि की रचना हुई है उनके ही उपादान से विधाता ने मनुष्य-शरीर के सम्भार को प्रस्तुत किया है अक्षरशः सत्य है और एक सार्वभौम तत्त्व को ग्रहण करने का सरल उपक्रम है।

विश्व के सम्बन्ध से मनुष्य की महिमा को इस प्रकार जानने का फल भारतीय दर्शन मे अत्युत्तम हुआ है। अनन्त ब्रह्माण्ड की तुलना में एक मनुष्य कितना स्वल्प है! परन्तु इस स्वल्पता अथवा "क्षुद्रता" का अनुभव मनुष्य के मन को कातर नहीं बना सका, अर्थात् मानव ने विश्व की दुर्धर्ष महत्ता के समक्ष अपने को रखकर भी दीनता को अङ्गीकार नही किया। सच पूछिए तो विश्व की तुलना मे एक मनुष्य का अस्तित्व ही क्या, जहाँ कोटानुकोटि मनुष्यों के जीवन मरण का चक्र अनन्त काल की दृष्टि से कीट-पतङ्गों के जीवन के समान अस्थिर है, जहाँ देश और काल के अनन्त प्राङ्गण मे एक मानव रजकण के समान भी दृष्टिगोचर नही होता, वहाँ यदि मनुष्य की जीवनगाथा एक क्षुद्र और हेय कहानी के रूप में प्रकट होकर रह जाती तो भी कुछ आश्चर्य न था। परन्तु यहीं पर भारतीय दर्शन की विजय है। ज्ञानरूपी तराजू के जिस एक पलड़े मे यहाँ मनुष्यो ने महान् विश्व को तौलने का उपक्रम किया था उसी के दूसरे पलडे मे उन्हीं बट्टो के समकक्ष उन्होंने मनुष्य को ला बिठाया। उन्होंने अपने ज्ञानचक्षु से मनुष्य मे विराट् देवत्व के दर्शन किए। उनकी दृष्टि में ब्रह्माण्ड के समस्त देव इस मनुष्य-शरीर मे उसी प्रकार निवास करते हैं जिस प्रकार गौएँ गोष्ठ मे वास करती हैं। इसलिए जो ज्ञानी है उसकी दृष्टि मे यह पुरुष ब्रह्म का रूप है—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।

[अथर्व० ११।८।३२]

कवि के शब्दों मे

चौदह भुवन जो तर उपराही।
ते सब मानुप के घट माही॥ [जायसी]

यह मनुष्य-शरीर चौदहों लोकों का प्रतिबिम्ब है। अथवा जिसको कवियों ने केवल साढे तीन हाथ का सरोवर (अहुठ हाथ तन सरवर) कहा है उसमे मानो समस्त ब्रह्माण्ड को तृप्त करनेवाला अमृत-जल भरा हुआ है। मनुष्य की महिमा को व्यक्त करनेवाली यह वीर्यवती वाक् भारतीय दर्शन मे बारम्बार सुनाई पड़ती है। भगवान् वेद-व्यास ने कहा है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि।
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्॥

[शान्ति-पर्व १८०।१२]

अर्थात्, यह रहस्य ज्ञान तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। इस दृष्टि को लेकर हम मनुष्य को प्रत्येक सत्यान के मध्यवर्त्ती बिन्दु के रूप में देखने लग जाते हैं। समाज और राष्ट्र के क्षेत्र में होनेवाले जो अनेकविध आयोजन हैं, जिन कार्यों का सूत्रपात्र कल्याण-मयी अभिलाषाओं के साथ हमारे चारों ओर होता रहता है, उन सबकी कसौटी मनुष्य है। जब कभी मनुष्य अपने इस गौरवपूर्ण आसन से पदच्युत् कर दिया जाता है तभी वह मानवी उद्योगों का अधिपति न रहकर उनका दास बन जाता है। सच तो यह है कि जिस प्रश्न के उत्तर का नाता मनुष्य से टूट जाता है वही प्रश्न मनुष्य को अत्यन्त क्षुद्र बन्दी के रूप में हमारे सामने ला खड़ा करता है। दुर्भाग्य से मानों इस समय मनुष्य को स्वयं अपने देवत्व से वैर हो गया है। विश्व की पूर्णता और चमत्कारों की खोज निकालने की जैसी उत्कट अभिलाषा इस समय प्रकट की जा रही है उसका एक अंश भी यदि मनुष्य की अतुल दैवी शक्तियों को प्रकट करने में व्यय किया जाता तो हमारे मानसिक जगत् में इस प्रकार की दरिद्रता देखने में न आती। इस युग की जो मनुष्य-सम्बन्धी परिभाषा है वह उस वैदिक कल्पना के सामने कितनी हीन है जिसमें पुरुष को अमृत आनन्द से परिपूर्ण, इससे परितृप्त और समस्त न्यूनताओं से हीन कहा गया है—

अकामो धीरोऽमृत स्वयम्भू
रसेन तृप्त न कुतश्चनोन [अथर्व० १०।८।४४]

वस्तुत आत्मा की इस प्रकार की पूर्ण कल्पना के प्रति आस्था प्रकट करते हुए वर्त्तमान युग के द्विपाद प्राणी को सकोच प्रतीत होता है।

भारतीय विचारकों ने मनुष्य शरीर की विचित्रता को प्रकट करने के लिए कई प्रकार की सज्ञाओं का प्रयोग किया है। 'हे अर्जुन यह शरीर एक क्षेत्र है। इस क्षेत्र के व्यवहार को जो भली भाँति समझता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।' बुद्ध ने कहा—हे भारद्वाज! यह जो आत्मा की खेती है इसका बीज श्रद्धा है, वृष्टि तप है और फल प्रज्ञा है। शरीर का सयम, वाणी का सयम और आहार का सयम ये इस क्षेत्र की मर्यादाएँ हैं। मनुष्य का पुरुषार्थ बैल है और उसका मन जोत है। जो इस प्रकार की खेती करता है वह अमृत की फसल उत्पन्न करता है और दुःखों से छूट जाता है—

एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला।
एत कसी कसित्वान सब्ब दुक्खा पमुच्चति॥

अथवा यह शरीर एक देवरथ है जिसमें इन्द्रियरूपी घोड़ों को मन की रास से बुद्धिरूपी सारथी मार्ग में नियन्त्रित करता रहता है। यह रथ उस रथी की महिमा को प्रकट करता है जो इसका अधिष्ठाता है। जिन घोड़ों की बागडोरों को दृढ सकल्पवान् मन प्रेरित करता है, उस रथ की अद्भुत महिमा को लोक में कौन नहीं जानता। एक सफल रथी समस्त मानव-जाति का पथ-प्रदर्शन करता है। हर एक मनुष्य-समुदाय यह अभिलाषा करता है कि हमारे मध्य में इस प्रकार के अध्यात्म-रथ पर बैठनेवाले महारथी विजयशील हों। अथवा यह शरीर एक दैवी नाव है जिसमें उत्तम इन्द्रियरूपी पतवार लगे हुए हैं, जिस पर आरूढ होकर हम भवसागर के पार स्वस्ति-प्रद लोक को प्राप्त कर सकते हैं (दैवीं नाव स्वरित्रां . . अस्रवन्तीमारुहेम स्वस्तये)।

घट

इसी प्रकार की एक मधुर कल्पना यह है कि यह शरीर पूर्ण घट के समान है जिसमें आयुरूपी जल अपने उन रहस्य-पूर्ण चमत्कारों के साथ भरा हुआ है जिनके द्वारा सृष्टि और प्रजनन के कार्य प्रवृत्त हो रहे हैं। अपनी भाषा में जब हम भगवान् को घट-घटव्यापी कहते हैं, तब अनजान में ही एक बड़े दार्शनिक तत्त्व को स्वीकार कर लेते हैं। यह शरीर घट है या मिट्टी का बना एक भाँडा है, परन्तु चैतन्य के अधिष्ठान से यह पूर्णातिपूर्ण सुवर्णकलश से भी अधिक मूल्यवान् और महिमाशाली है। जायसी ने कहा है—

माटी कर तन भाँडा, माटी महँ नव खड।
जे केहु खेलै माटि कहँ, माटी प्रेम प्रचंड॥

अर्थात् शरीररूपी बर्तन मिट्टी का बना हुआ है। इस मिट्टी की रचना में अपूर्व कारीगरी है, जिसमें पृथ्वी के नौओं द्वीपों का चमत्कार भरा हुआ है। जो इस (मिट्टी के) शरीर को लेकर इसके साथ ठीक खेल खेलता है, उसकी मिट्टी में से प्रचड प्रेम की आग प्रकट हो जाती है। कवि की दृष्टि में प्रेम ही मानवी चेतना का सर्वोत्तम प्रतीक है। प्रेम अपने उदात्त अर्थों में आत्मा की अमर विभूति है, जो एक शरीर में प्रकट होकर विश्व को अपने उदार अक में भर लेना चाहती है। सीमित घट को असीम विभूति का वरदान प्रेम के सकल्प से ही प्राप्त होता है। इस उच्च भूमिका में आत्मदर्शन से जनित मानसिक स्थिति को प्रेम की सज्ञा दी जाती है। इस प्रकार की दिव्य भावना का अधिष्ठान यह शरीर है। यही पूर्ण मानव की पूर्णता के आविर्भाव का रंग मच है। महाकवि उमर ख़ैय्याम ने मानव-देह को एक मिट्टी का कूज़ा मानकर अपने कूज़ेनामे में

इसकी अमरता का वर्णन किया है—यह भाँड़ा क्या है और इसको गढनेवाला कुम्हार कौन है ? क्या यह कभी सम्भव है कि जिसने इस कूजे को इतने मनोयोग से रचा है, वही इसे नाशवान् कल्पित करेगा ।

भारतीय कलाकारों ने पूर्ण कुम्भ या पूर्ण कलश के रूप में मनुष्य-विषयक इस मधुर कल्पना को चित्रित किया है । पूर्ण कुम्भ के उद्ग्रीव मुख पर प्रकट होनेवाले पुष्प और पल्लव जीवन-समृद्धि के द्योतक हैं ।

इस कलश की पूर्णता ध्यान देने योग्य है । स्वर्ग और पृथ्वी के बीच मे ऐसा कुछ भी नहीं है जो इसमें न हो । पाप और पुण्य, गुण और दोष एक साथ यहाँ रहते हैं । कहा जाता है कि एक ही समुद्र के मन्थन से विष और अमृत का जन्म साथ-साथ हुआ था । दैवी सकल्पों से युक्त मन का निवास इसी शरीर में है । साथ ही दैवी सृष्टि को क्षण भर मे छिन्न भिन्न कर देनेवाले आसुरी भावों की अभिव्यक्ति भी इसी पूर्ण घट से होती है । कौमार काल का मनोहर सौन्दर्य इसी पूर्ण घट के जल में प्रकट होता है । इसी में यौवन को लुप्त करनेवाली जरा का बीज भी विद्यमान है, जिसके कारण यह शरीर समस्त अवयवों के साथ पके फल की भाँति जीर्ण हो जाता है । अथर्ववेद के ऋषि की दृष्टि में स्वप्न और तन्द्रा ने, पाप और निर्ऋति ने इस मर्त्य शरीर में उसी प्रकार अपना निवास कल्पित किया है जिस प्रकार पुण्यात्मा देवों ने । स्तेय और दुष्कृत यहाँ उसी प्रकार अपना अधिकार जमा कर बैठे हैं जिस प्रकार सत्य और यश । विद्या और अविद्या, निन्दा और अनिन्दा, श्रद्धा और अश्रद्धा, सब ने शरीर मे प्रवेश किया है । आनन्द और प्रमोद, हँसी और खुशी, नृत्य और गीत सभी शरीर में उपस्थित हैं । अनेक प्रकार के मधुर आलाप और विषम प्रलाप इस शरीर मे प्रविष्ट हुए हैं । प्राण और अपान, व्यान और उदान, चक्षु और श्रोत्र, वाक् और मन, सब का समवाय शरीर मे है । अनेक प्रकार के आशीर्वाद और विविध अभिलाषाएँ, विविध प्रकार के चित्तज सकल्प इस शरीर के आश्रय से ठहरे हैं—

चित्तानि सर्वे सकल्पा : शरीरमनु प्राविशन् ।
क्षुधश्य सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥
[अथर्व० ११।८]

इस प्रकार समस्त सृष्टिमूलक प्रवृत्तियों का एकत्र समवाय इस पुरुष में है । क्षुधा और तृष्णा सब भूतों मे एक समान है । दुर्गासप्तशती के मनीषी लेखक ने मनुष्य मात्र की इस मौलिक एकता को भली प्रकार समझ लिया था । यदि सृष्टि की मूलधारा को, जिसके वशवर्त्ती हम सब हैं, एक देवी कहा जाय तो मनुष्य का विश्लेषण करते हुए हम उसके विविध रूपों का सर्वत्र दर्शन कर सकते हैं—

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम. ॥
या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण सस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम. ॥
या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥
या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम· ॥

इस प्रकार के वर्णन का क्रम दूर तक चला गया है । इनमे से प्रत्येक श्लोक एक एक फोटो-चित्र के समान मानव की मूलभूत विशेषताओं को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है । जो देवी सब भूतों मे बुद्धि, स्मृति, दया, तुष्टि, शक्ति, भ्रान्ति, क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, चेतना आदि अनेक रूपों में स्थित है वही इस सृष्टि की प्रेरक माया शक्ति है । वह प्रत्येक चेतन प्राणी मे अपने विविध रूपों से प्रकट हो रही है ।

मनुष्य की समस्त शक्तियाँ देवी के स्वरूप को तरह अनन्त हैं । इस पूर्ण घट के कृत्स्न माहात्म्य को किसी पुस्तक के आवरणपृष्ठों मे सीमित नहीं किया जा सकता । इसलिए समस्त ज्ञान-विज्ञान पर अधिकार प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ी पहेली बना हुआ है । मनुष्य के प्रकट और अन्तर्हित मन की शक्तियों की, उसकी प्रज्ञा और कल्पना की कोई इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती । मनुष्य के लिए यथार्थतः कहा जा सकता है कि उसका स्वरूप 'पूर्ण' है, जिसका प्रादुर्भाव भी पूर्ण तत्त्व से हुआ है—

पूर्णमद. पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अर्वाचीन विज्ञान की उपासना मे हम मनुष्य की इस पूर्णता और श्रेष्ठता को भौतिक जगत् की श्रेष्ठता की कल्पना करते हुए प्रायः भूल गए हैं । मनुष्य का अनुसन्धान हमे अन्तर्मुखी बनने की ओर प्रेरित करता है, जड़ जगत् का अनुसधान करते हुए हम बाह्य प्रकृति मे भ्रान्त होते रहते हैं । आज समस्त मानव-जाति को ही इस विषय मे अपना दृष्टिकोण परिष्कृत करने की आवश्यकता पड़ गई है । मानवी श्रेष्ठता और पूर्णता की उपासना किए बिना अन्य किसी प्रकार के विधानों से मनुष्य का कल्याण नही हो सकता । मनुष्य क्या है ? यह प्रश्न प्रत्येक युग मे हमारे द्वार पर टकराता है । इसके समीचीन समाधान पर ही सभ्यता

पृथ्वी की कहानी
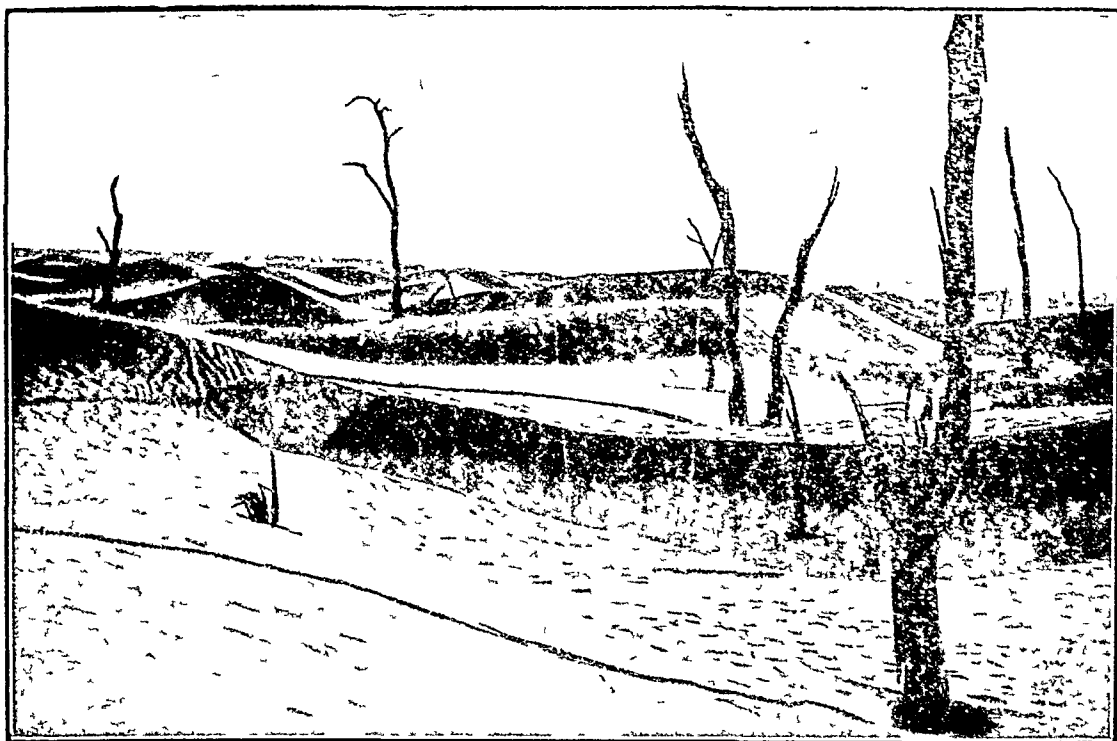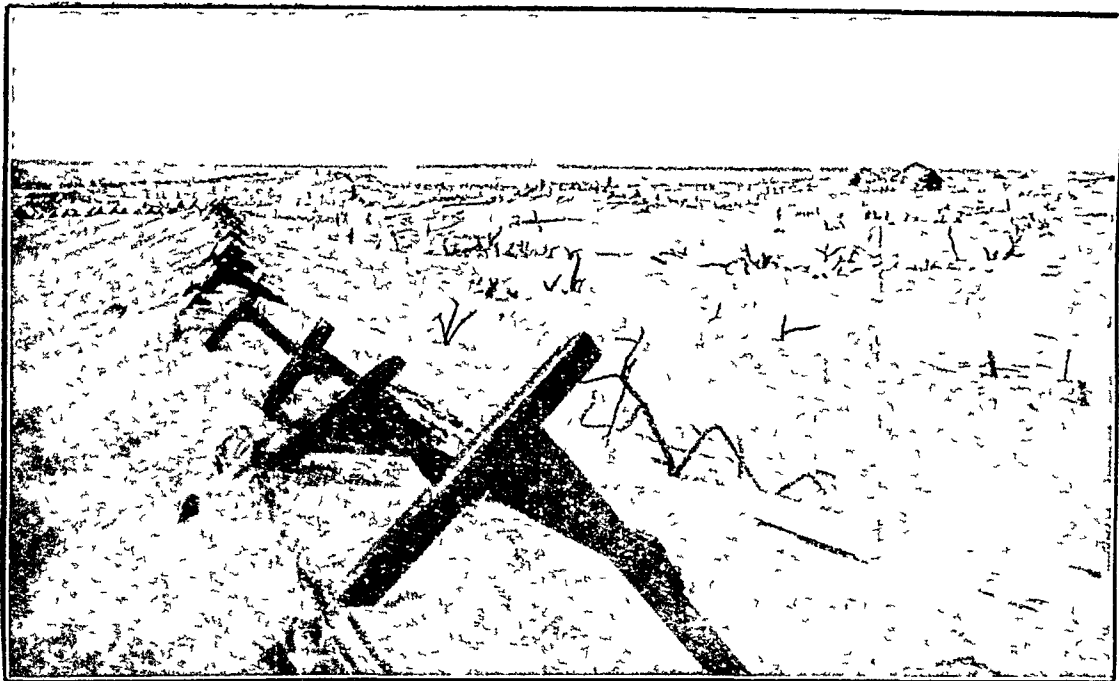
वायु की प्रतिक्रिया से धरातल के उलटफेर के दो दृश्य

(ऊपर) समुद्र की लहरों द्वारा किनारे जमा की हुई बालू को उड़ा-उड़ाकर वायु ने मीलों तक किनारे की भूमि को पाट दिया है। (नीचे) पवन की मार से सारा जंगल ख़त्म हो गया है और उसकी यादगार में कुछ पुराने पेड़ों के नंगे ठूँठ ही रह गए हैं। बालुका-स्तूपों और बालू की लहरों पर ध्यान दीजिए।
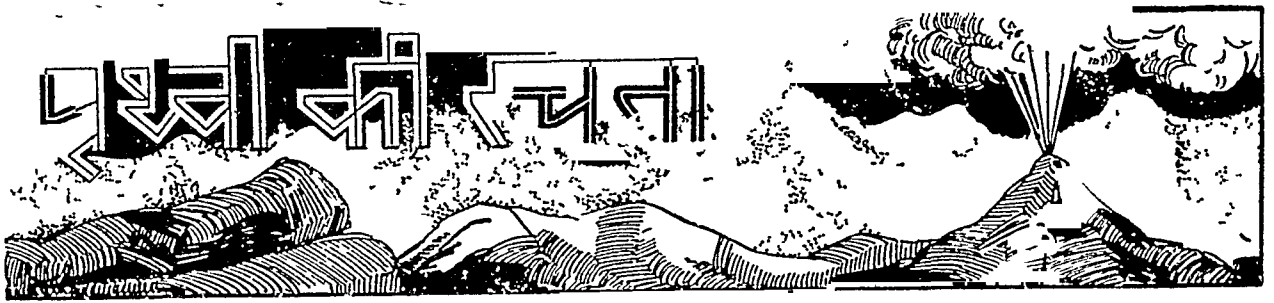
वायु के प्रभाव से चट्टानों का विखण्डन और क्षय

बालुका-स्तूपों और लोयस मिट्टी की रचना

वायु की तरगों का पृथ्वी की रचना पर सीधा और परोक्ष दोनों ही प्रकार से भूतत्त्विक प्रभाव पड़ता है। मौसम और जलवायु के परिवर्त्तन मे वायु का प्रमुख भाग रहता है, और मौसम और जलवायु के परिवर्त्तन से न केवल चट्टानों की मौसमी क्षति ही होती है वरन् जलधाराओं द्वारा स्थल की क्षति भी इसी के प्रभाव से होती है। वायु के कारण ही जलमण्डल मे तरगें और धारायें उत्पन्न होती हैं जिनके कारण तटवर्त्तीय स्थल की क्षति होती रहती है और नदियों और जलधाराओं के द्वारा बहाकर लाया गया सूक्ष्मकणीय पदार्थ जलमण्डल की तली मे समरूप से वितरित होता रहता है। यदि वायु का केवल इतना ही प्रभाव होता तब भी उसका महत्त्व काफी होता। परन्तु इसके अतिरिक्त भी वायु स्वय स्थलीय चट्टानों को विखण्डित और चूर्ण करता हुआ उनके कणों का वितरण करता रहता है।

वायु के द्वारा विखण्डन की क्रिया दो प्रकार से होती हैं। धरती के असगत कण (धूल, मिट्टी और बालू) वायु के झोंकों की मार से उखड-उखड़कर कोसों दूर जा पहुँचते हैं। इस प्रक्रिया के साथ-साथ दूसरी क्रिया भी होती है। वायु की झोंक मे उडे हुए कण परस्पर सघर्ष करते, मार्ग की धरती पर बिछे रोड़ों और पत्थरों से टकराते, उनको रगड़ते और खरोंचते हुए जब आँधी के वेग से आगे बढते हैं तब धरातल की चट्टानों से तथा बिखरे हुए शिलाखण्डों से नये-नये कण भी उखाड़कर अपने साथ लेते जाते हैं। यह प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार जलधारा के द्वारा मार्ग की चट्टानों के क्षय की होती है।

संसार के सबसे विशाल मरुप्रदेश सहारा के बालूका-स्तूपो का वायुयान द्वारा ऊँचाई से लिया गया एक फोटो। ये वायु की ही प्रतिक्रिया से बनते बिगड़ते रहते हैं। इनमें से कई सौ-डेढ़सौ फीट तक ऊँचे हैं।

वायु के द्वारा मिट्टी और धूल उन स्थानों पर बहुत कम उड़ती हैं जहाँ पर वर्षा प्रचुर मात्रा मे होती है या अति वृष्टि होती है। इस कारण ऐसे प्रदेशों में धूल और मिट्टी उड़ने का प्रभाव अदृश्य-सा होता है। वहाँ घास तथा अन्य वनस्पतियाँ धरती को ढाँपे हुए उसकी रक्षा करती हैं। जहाँ पर घास और पेड़-पौधे नहीं होते, उन प्रदेशों

के मिट्टी के कणों तथा बालुकणों की रक्षा जल के द्वारा होती है, जो इन कणों को सगठित किये रहता है। परन्तु सूखे प्रदेशों मे मार्ग, सडक और खेतों तथा मैदानों से धूल के उठते हुए घने बादलों के कारण घरों मे गर्द की जो मोटी-मोटी तहे जम जाती हैं, उनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि वायु के प्रकोप से किस प्रकार धरातल का प्रचुर अश उड़कर स्थानान्तरित हो जाता है। समुद्र-तट की बालुकाराशि भाटा होने पर सूखने लगती है। वायु इन सूखे कणों को शनैः-शनैः उडा-उड़ाकर किनारों की सूखी भूमि पर दूर तक फैला देती है, और ज्वार की पहुँच के बाहर होने के कारण ये कण लौटकर सागर मे नहीं पहुँच पाते, वरन् स्थल की ओर ही बढते रहते हैं। तूफान आने पर भी बालुकाराशि की मोटी तह किनारों के ऊँचे स्थलों पर जम जाती है। सूख जाने पर इसके महीन कण उड़ते हुए स्थल की ओर बढ जाते हैं। नदियों के किनारे वैशाख-जेठ की दोपहर मे चलनेवाली लू किस प्रकार बालू के बादल उडाती है, जिससे कि मार्ग मे चलना तक दूभर हो जाता है, यह हमारे युक्तप्रान्त निवासी भली भाँति जानते हैं।

पश्चिमी युक्तप्रान्त मे ग्रीष्म ऋतु मे आनेवाली आँधियों से न केवल वायुमण्डल किरकिरा हो जाता है, वरन् सैकड़ों मील के क्षेत्रफल मे बालू और मिट्टी की महीन तह जम जाती है। ये आँधियाँ सिन्ध, बलूचिस्तान और राजपूताने के मरुस्थलों तथा पजाब के उन प्रदेशों से आती हैं जहाँ वर्षा का अभाव रहता है। राजपूताने के अधिकाश भाग वर्षाविहीन रहते हैं। वहाँ भूमि पर न घास-पात होती है न जल ही रहता है, जो सूक्ष्म कणों को उड़ने से बचाएँ। फलस्वरूप जब मौसम के प्रभाव से चट्टानों के क्षत विक्षत खण्ड उडते हैं तब वे धरातल को भी खरोंचते जाते हैं और खरोंचे हुए कणों को बटोरकर आँधी के रूप मे धूल के गुब्बार उडाते हुए तब तक दूर तक चले जाते हैं जब तक वायुमण्डल के जल से उनके कण भीगकर भारी हो जाने के कारण गिर नहीं पडते।

नदियों के द्वारा कछारों मे जमा किया हुआ पदार्थ (महीन मिट्टी और बालू) आँधियों के द्वारा उड़ाकर कहीं का कहीं पहुँचा दिया जाता है। धूल और मिट्टी के स्थानान्तरित होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वेग-पूर्ण आँधी ही चले। शात वातावरण के समय भी गर्मी की अधिकता से धरातल के पास की वायु तपकर ऊपर उठती है और जोरों से घूमती हुई भँवर के रूप में धूल को स्तम्भ-रूप मे नचाती हुई मैदान मे दूर तक बटा ले जाती है। सूखे प्रदेशों में इस प्रकार के नाचते हुए धूलि-स्तम्भ किसी भी ग्रीष्म ऋतु की दोपहर के समय अनेकों देखने मे आते हैं। मध्य एशिया, अफ्रीका और राजपूताने के मरुस्थलों मे चलनेवाली आँधियों के कारण ग्रीष्म ऋतु में लोग यात्रा करना पसन्द नहीं करते।

सहारा मरुस्थल की आँधियों द्वारा उडाई गई धूल भूमध्य-सागर को पार करती हुई बहुधा योरप के दक्षिणी तट तक पहुँच जाती है। मार्ग के सागर मे चलनेवाले जलयानों के डेक इस धूल से भर जाते हैं। अफ्रीका के लीबिया के विशाल मरुस्थल का अधिकाश क्षेत्रफल बडे-बडे रोड़ो और शिलाखण्डो से पटा पडा है। एक समय ये रोडे और पत्थर महीन बालू के पर्त मे छिपे हुए थे। परन्तु आँधियो के वेग ने महीन कणों को उडाकर दूर पहुँचा दिया और बडे-बडे खण्ड भूमि पर जमे हुए रह गए हैं। भूतत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि राजपूताने के मरुस्थल से आनेवाली धूल और बालू की मात्रा प्रति वर्ष बढती ही जाती है और इसकी पतली तह प्रति वर्ष युक्तप्रान्त के उपजाऊ मैदानों पर जम जाती है। भय यह है कि यदि इसी प्रकार मरुस्थल से आनेवाली धूल की मात्रा निरन्तर बढती रही तो इस धूल की तह की मोटाई भी बढती जायगी और एक दिन ऐसा आ सकता है कि युक्तप्रान्त के उपजाऊ मैदान धूल से भरकर स्वय ही मरुस्थल प्रदेश-से हो जायँगे। यह असम्भव नहीं है। गोबी के मरुस्थल से उडनेवाली धूल का अधिकाश उत्तरी चीन की पहाड़ियों और मैदानो पर छा जाता है। सहस्रों वर्षों से इस धूल के उडकर जमा होने से उत्तरी चीन के मैदानों पर बालुका-राशि की मोटी तह जमा हो गई है।

प्रति वर्ष मरुस्थल से उड़नेवाली धूल की मात्रा का ठीक-ठीक परिमाण निकालना असम्भव-सा है, तथापि यह विश्वास किया जाता है कि प्रचुर वर्षा के प्रान्तों मे जल-धाराओं द्वारा की गई क्षति की अपेक्षा मरुस्थल में होने-वाली क्षति की मात्रा बहुत ही कम होती है। सूखे प्रदेशों में भी आँधी की अपेक्षा जलधारा द्वारा अधिक क्षय होता है। जल और वायु के द्वारा प्रदेशों के क्षत होने मे एक मुख्य अन्तर यह है कि जलधारा ऊँचे प्रदेशो से काटकर लाया हुआ पदार्थ निचले प्रदेशों मे जमा कर देती है, परन्तु यह सब पदार्थ उसके कछार और प्रभुत्व के प्रदेश ही मे रहता है। वायु इसके विपरीत धूल को उडाकर मरुस्थल की सीमा से बहुत परे पहुँचा देती है।

वायु के द्वारा उड़ाए गए धूलिकणों की मार से चट्टानों के पर्त उसी प्रकार घिस जाते हैं जिस प्रकार रेती की धार से लकड़ी घिसती है। वायुविताड़ित धूल के प्रभाव से समुद्र-तट के मकानों की खिड़कियों के काँच एक ही आँधी के पश्चात् धुँधले पड़ जाते हैं। धूलिकणों के झोंकों से काँच पर असंख्य खरोंचों के चिह्न बन जाते हैं, जिससे काँच धुँधला हो जाता है। बहुत-से मरुस्थलों में वायु के थपेड़ों की मार इतनी प्रचण्ड होती है कि टेलीग्राफ के लकड़ी के खम्भे लगाना असम्भव हो जाता है। काठ के खम्भों के धूल की मार से कटकर नष्ट हो जाने से भी अधिक आश्चर्यजनक इस्पात की रेल की पटरी का क्षीण हो जाना है, जो कतिपय रेगिस्तानों में बहुधा देखा गया है। आँधी की धूल में घिसने और खरोंचने की इतनी प्रचण्ड शक्ति का कारण उसमें स्फटिक (Quartz) नामक प्रस्तर के कणों का पाया जाना है। स्फटिक-कण बहुत कठोर तथा तीक्ष्ण धारवाले होते हैं।

एकदम शुष्क प्रदेशों में, जहाँ वनस्पति और घास-पात का नितान्त अभाव हो और जहाँ आँधी का प्रकोप नित्य ही रहता हो तथा धूल में कठोर स्फटिक कणों की प्रचुरता हो, अधिकतर वायु के झोंकों के प्रभाव से चट्टानों का क्षय और विखण्डन होता है। ऐसी परिस्थितियाँ लीबिया के मरुस्थल में पूर्णतया पाई जाती हैं। इस प्रदेश में लगातार ग्यारह वर्ष तक वर्षा की एक बूँद भी नहीं पड़ी। दो-चार नख़लिस्तानों को छोड़कर, जो प्राकृतिक सोतों के पास बन गये हैं, शेष सम्पूर्ण प्रदेश बिना घास पात का एकदम उजाड़ खण्ड है। उत्तर-पश्चिम से सदैव प्रचण्ड आँधी चला करती है, जिसके वेग को रोकने के लिए कोई पहाड़ भी नहीं है। उत्तरी भाग में बालू की कुछ चट्टानें (Sandstones) धरती के ऊपर निकली हुई पाई जाती हैं, जो शीघ्र ही विखण्डित होकर चूर-चूर हो जाती हैं और विखण्डित कण आँधी के साथ मिलकर उसे और भी तीक्ष्ण और प्रचण्ड कर देते हैं। इस प्रदेश के दक्षिणी भाग में चिकनी और ठोस चूने की चट्टानें हैं। इस आँधी के प्रकोप से इन चट्टानों के ऊपर का धरातल बराबर घिसता और रगड़ खाता रहता है। फलस्वरूप चट्टानों का ऊपरी भाग चिकना और नालीदार बन जाता है। इन चट्टानों में यदि कोई प्रस्तर-विकल्प-जैसी कठोर वस्तु हुई तो चारों ओर की चट्टानों के नष्ट हो जाने पर भी वह कुछ काल तक अपना अस्तित्व बनाए रखती है।

वायु या आँधी की मार से घिस और रगड़कर बनाई गई एक विशाल प्राकृतिक खंभानुमा चट्टान का दृश्य

कहीं-कहीं चट्टानों पर आँधी की मार से विचित्र आकृतियाँ गढ़ जाती हैं। आँधी का सबसे अधिक प्रभाव धरती के निकट के स्थलों पर होता है। फलस्वरूप बहुत-सी चट्टानों का ऊपर का अंश आँधी की मार से बचा रहता है। परन्तु धरती के निकटवाला निचला भाग क्षीण हो जाता है। इस प्रकार के प्राकृतिक स्तम्भ बहुधा उन चट्टानों में बनते हैं, जिनका ऊपरी पर्त कड़ा और नीचे कोमल होता है। धीरे-धीरे नीचे जड़ का अंश क्षीण होकर नष्ट हो जाता है और तब सम्पूर्ण स्तम्भ लुढक पड़ता है। परन्तु

इस क्रिया मे बहुत अधिक समय लगा करता है।

सभ्यता के आदि युग मे मनुष्य पाषाण-खण्डों को घिसकर विविध प्रकार के नोकीले गोल और धारवाले शस्त्र बनाते थे। ठीक उसी प्रकार के पाषाण-खण्डों की रचना वायु के द्वारा कहीं-कहीं स्वयमेव होती रहती है। सूखे प्रदेशों में और कहीं-कहीं वर्षावाले प्रदेशों के बालुकामय समुद्रतटों पर इस प्रकार के चमकदार और निश्चित स्वरूपवाले पाषाण-खण्ड पाये जाते हैं। आँधी के वेग से उड़े हुए बालू के कण धरती पर बिखरे पाषाण-खण्डों से टकरा-टकराकर उनको क्षत विक्षत करते रहते हैं। इसी के परिणाम से पाषाण-खण्ड ऐसे हो जाते हैं जैसे किसी ने छेनी से काँट छाँट और घिसकर रख दिए हों। इन पाषाण-खण्डों का ऊपरी तल चिकना और कई पहलवाला हो जाता है। जहाँ दो पहल मिलते हैं वहाँ तीक्ष्ण धार बन जाती है। जिस पहल पर वायु का प्रकोप होता है उसका आकार नीचे धरती के पास चौड़ा और ऊपर की ओर पतला होता है। यदि रोड़े का रुख पलट गया तो दूसरा पहल भी इसी आकार का बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक पाषाण-खण्ड मे कई पहल और कई धारे बन जाती हैं। परन्तु अधिकतर इस प्रकार के पाषाण-खण्ड लम्बे, दोनों सिरों पर नोकीले और तीन पहलवाले होते हैं। देखने में ये खण्ड बड़े सुन्दर और ग्रहणीय लगते हैं, क्योंकि इनके पहल पर अपूर्व चमक उत्पन्न हो जाती है। इन पाषाण-खण्डों को 'वायु-विरचित पाषाण' कहते हैं।

वायु-विरचित पाषाणों का भूतत्त्विक महत्त्व उनकी आकृति या चमक नही है, वरन् यह है कि उनके द्वारा किसी प्रदेश की पूर्व परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त होता है। मान लीजिए, उत्तरी-पश्चिमी स्कॉटलैण्ड मे जहाँ रोड़ों और शिलाखण्डों की चूर-चार की मोटी तह बिछी पाई जाती है, वायु विरचित पाषाणों की भी तह मिलती है। उत्तरी-पश्चिमी स्कॉटलैण्ड में आजकल प्रचुर मात्रा मे वर्षा होती है और वनस्पतियों का कोई अभाव नहीं है, जिससे आजकल वायु के द्वारा इन पाषाणों की रचना असम्भव होगी। परन्तु इसके पूर्व किसी समय इस प्रदेश में अवश्य ही सूखी आँधियाँ आती रही होंगी, जिनके कारण पाषाणों की ऐसी आकृति गढ गई है।

जल की भाँति पवन भी अपने उड़ाये हुए बोझे को अधिक वहन नहीं कर पाता और स्थान-स्थान पर पटकता जाता है। इस प्रकार से जो शिलाखण्डों की महीन चूर-चार जमा हो जाती है वह कभी अस्थायी और कभी स्थायी रहती है। अस्थायी पदार्थ को आँधी का दूसरा झोंका उड़ाकर आगे बढा देता है। स्थायी पदार्थ का सचय होता जाता है और धीरे धीरे उनके पर्त पर पर्त जमा होते जाते हैं। बालुका-कणों के ये पर्त धीरे-धीरे कड़े होकर जम जाते हैं और परतीली चट्टानों का रूप धारण कर लेते हैं। बालुका-प्रस्तर (Sandstone) नामक परतीली शिलाओं की रचना अनेकों स्थानों पर इसी प्रकार हुई है।

वायु के द्वारा उड़ाये हुए बालुकण, रोड़े और कक्कड़, धूल आदि गोल अथवा अनिश्चित आकार के स्तूपों के रूप मे एकत्रित हो जाते हैं, जिन्हें बालुकास्तूप (Sand dunes) कहते हैं। बालुकास्तूपों की रचना की नींव मार्ग-अवरोध करनेवाली किसी वस्तु से पड़ती है। अवरोधक पदार्थ चाहे शिलाखण्ड हो, वृक्षादि या झाड़ हो, अथवा ऊँची-नीची भूमि, ये पदार्थ आँधी के मार्ग में खड़े होकर उसके वेग को रोक देते हैं जिससे वायु में उड़नेवाला पदार्थ गिरकर जमा हो जाता है। जब बालू का ढेर पर्याप्त रूप से उन्नत हो जाता है तब वह स्वय मार्ग-अवरोधक बन जाता है और नित्य अधिकाधिक पदार्थ अपने ऊपर जमा करता जाता है। जिन प्रदेशों में आँधी का प्रकोप बहुत अधिक होता है और आँधी में उड़नेवाली बालू की अधिकता होती है, वहाँ पर बालुकास्तूपों की ऊँचाई साधारणतः १०० फीट तक हो जाती है और कहीं-कहीं (जैसे उत्तरी अफ्रीका में) ४०० फीट ऊँचे बालुकास्तूप भी पाये जाते हैं।

यदि सागर तट पर बहुत अधिक बालू जमा होती है और आँधी का वेग प्रचुर होता है तो इस बालुकाराशि को स्थल की ओर उड़ा ले जाकर आँधी बालुकास्तूपों की पक्ति-की-पक्ति जमा कर देती है। मिचिगन झील के पूर्वीय तट पर इस प्रकार के असख्य स्तूप बने हुए हैं। मरुस्थलों में बालुकास्तूपों की रचना साधारण-सी घटना है, क्योंकि यहाँ पर बालुकणों को उड़ने से रोकने के लिए न जल ही है और न घास-पात ही। फलस्वरूप मरुस्थलों में विशाल बालुकास्तूपों की रचना होती रहती है। परन्तु यह विश्वास कर लेना कि समस्त मरुस्थल बालुकास्तूपों अथवा बालुकणों से ही ढका है, ठीक नहीं है। बालुकास्तूपों का सबसे अधिक विस्तार अरब प्रदेश में है, तथापि यहाँ भी सम्पूर्ण क्षेत्रफल का तृतीयाश ही बालुकामण्डित है। सहारा मरुस्थल का भी नवाँ भाग ही अस्थायी बालू से ढका रहता है। मरुस्थलों के विस्तृत क्षेत्रफल या तो धराखण्डों (bed rock) से मण्डित रहते हैं अथवा पाषाणकणों, रोड़ों और शिलाखण्डों से। इन स्थानों में जैसे

ही सूक्ष्म कणीय पदार्थ उत्पन्न होता है आँधी उसको उड़ा ले जाती है। धूल तो उड़ती हुई बहुत दूर निकल जाती है परन्तु बालू के भारी कण नीची भूमि पर एकत्रित हो जाते हैं। बालू का एकत्रीकरण उन्हीं स्थलों मे होता है जो किसी बाधक की आड मे होते हैं। या तो बालू नीचे बाधक के परे जमा होती है अथवा ऊँची बाधाओ के कारण जिस ओर से आँधी आती है उसी ओर की भूमि पर गिर पड़ती है।

अत्यन्त शुष्क प्रदेशो में भी बालुकास्तूपों की रचना के लिए जो बालूकण एकत्रित होते हैं उनकी मात्रा की प्रचुरता उन प्रदेशों के धरातल की चट्टानों पर निर्भर होती है। दक्षिणी निवेदा के मरुस्थल के धरातल की चट्टान अधिकाश चूना-पाषाण (Limestone) और शेल (Shale) मिट्टी की बनी है और यहाँ पर बालुकास्तूपों का एकदम अभाव जैसा है। जिस स्थान पर बलुआ-पाषाण की तहों का धरातल बना होता है वहाँ पर बालुकणों के विखण्डन से शीघ्र ही स्तूपों की रचना हो जाने की सम्भावना रहती है। यूटा और अरीजोना प्रदेशों की बलुई चट्टानें इतनी शीघ्रता से विखण्डित होती हैं कि आँधी उन बालुकाकणों को उड़ा ले जाने मे असमर्थ हो जाती है। इन प्रदेशों मे बालुकास्तूप असख्य और प्रत्येक स्थान पर पाये जाते हैं, यहाँ तक कि सुरक्षित नीची भूमि भी इन स्तूपों से भर जाती है।

बालुकास्तूपों के आकार भी विचित्र और अस्थायी होते हैं। कही वे पूर्ण स्तूपाकार चपटे, फैले हुए, अर्द्धचन्द्राकार और कही सूक्ष्म पर्वत-श्रेणियों के आकार मे एक दूसरे से सटे हुए रहते हैं। जिस ओर से आँधी चलती है उस ओर का ढाल लम्बा और कम उठा हुआ होता है, परन्तु इसके दूसरी ओर का ढाल छोटा और सीधा खड़ा होता है। *आँधी की दिशा की ओर वाले ढाल पर बालू आकर जमा* होती है और दूसरी ओर खिसक जाती है। इससे दूसरी ओर के कण 'विश्राम-कोण' (Angle of Repose) की अवस्था मे रहते हैं। यदि आँधी लगातार एक ही दिशा मे चलती रहती है तो स्तूपों के दोनों पार्श्वो से आँधी
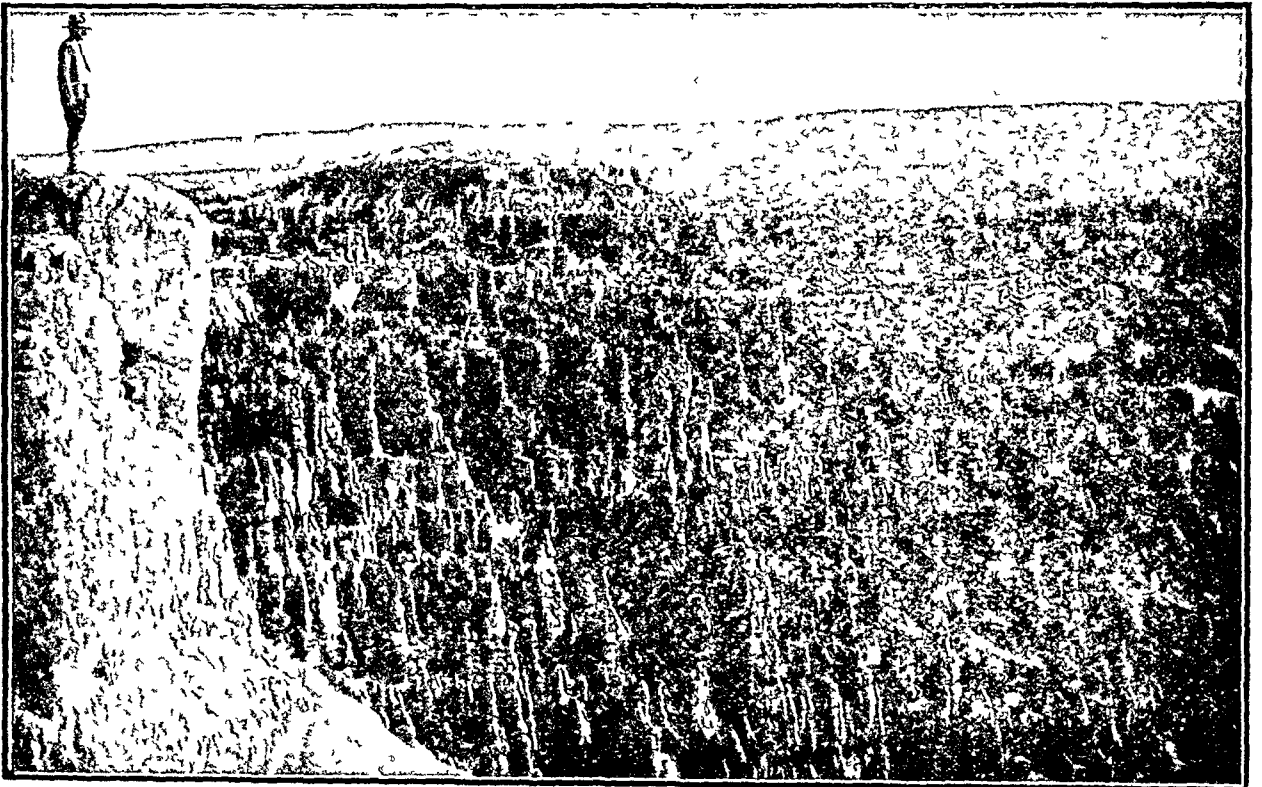
उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी सूखे प्रदेश मे स्थित 'ग्राण्ड केनयन' नामक गहरी पहाड़ी घाटी का दृश्य कहते हैं, इन चट्टानो का यह विचित्र रूप वायु और जल की संमिलित क्रिया से बन गया है। अब तो इस प्रदेश में जल की एक बूँद भी नही बरसती। वायु ने खरोचकर चट्टानो का नरम भाग उड़ा दिया है।

की दिशा मे दो बालुका-बाहु-से बढ जाते हैं और इससे स्तूप का आकार आँधी की विपरीत दिशा की ओर अर्द्ध-चन्द्राकार-सा प्रतीत होने लगता है। जहाँ आँधी चलने की दिशा बदलती रहती है उस प्रदेश के स्तूपों का कोई निश्चित आकार नहीं रह पाता है। बालू के टीलों या स्तूपों का धरातल जल की हिलोरों की भाँति पतली-पतली नालियों से युक्त होता है। देखने मे यह बिलकुल ऐसा ही प्रतीत होता है जैसा वायु-समीरण-काल मे किसी सरोवर का जल। बालुकास्तूपों के धरातल की यह विशेषता सब जगह पाई जाती है। ऐसे ही चिह्न उन जल मग्न स्थलों मे बन जाते हैं जहाँ पानी छिछला होता है और जल में निरन्तर हिलोरें आती रहती हैं। हिलोर-चिह्नयुक्त बालुका-स्तूपों का धरातल देखने मे ऐसा ही प्रतीत होता है मानों थोड़े ही समय पूर्व यह जलमग्न रहा होगा। गगा आदि नदियों के बालुकामय तट पर ऐसे चिह्न ग्रीष्म ऋतु में (जब जल कम हो जाता है) कहीं भी देखे जा सकते हैं। जिन स्थानों पर आँधी की दिशा बदलती रहती है वहाँ बालुकास्तूपों के धरातल के हिलोरचिह्न भी निश्चित नहीं रहते और आड़े-तिरछे एक दूसरे को काटते रहते हैं।

बालुकास्तूपों की बालू जब तक स्वतत्रतापूर्वक उड़ सकती है तब तक स्तूप कभी भी स्थिर नहीं रह पाते। आँधी के वेग से न केवल नये धूलिकण ही उड़ते हैं वरन् स्तूपों के ढाल की बालू भी सरक-सरककर आगे बढती जाती है और शिखर पर पहुँचकर दूसरी ओर के ढाल पर गिर जाती है। इस प्रकार स्तूप के एक ओर का पदार्थ शनैः-शनैः दूसरी ओर पहुँचकर जमा हो जाता है। साथ ही साथ आँधी के वेग के साथ शिखर भी आँधी चलने की दिशा में थोड़ा आगे बढ जाता है। धीरे-धीरे सम्पूर्ण स्तूप ही अपने स्थान से आगे बढ जाता है। सारी क्रिया इतनी धीरे-धीरे और क्रमानुसार होती है कि यदि आँधी का वेग और मार्ग निश्चित रहा तो स्तूप का आगे बढना मालूम भी नहीं पड़ता। परन्तु किसी प्रदेश का निरन्तर निरीक्षण करने से तुरन्त ज्ञात हो जाता है कि बालुकास्तूप कितनी शीघ्रता से कितने आगे बढ गए हैं।

स्तूपों की यात्रा तभी समाप्त होती है जब उनके पथ मे कोई ऐसी बाधा उपस्थित हो जो आँधी के वेग को रोक सके और इस प्रकार बालू को गतिविहीन करके आगे बढने से रोके। ऐसी बाधाएँ अधिकतर वृक्षादि की पक्तियाँ तथा वनस्पतियों से ढकी भूमि होती हैं। समुद्र-तट से बालुकास्तूपों की पक्तियाँ स्थल की ओर बढते-बढते नीची भूमि को पाटते चली जाती हैं। जब इन टीलों की बालू में घास आदि उगकर बालू को स्थिर कर देती है तभी उनकी यात्रा समाप्त होती है। अन्यथा बालू के ये टीले खेत, मैदान, जगल और गाँव तक को टाँपते आगे बढते चले जाते हैं। इनका प्रकोप जलधाराओं की बाढ से किसी प्रकार भी कम नहीं होता। केवल इतना अन्तर होता है कि इनकी यात्रा की गति मन्द होती है। फ्रान्स तथा अन्य योरपीय प्रदेशों में समुद्र-तट की ओर से बढनेवाले बालुकास्तूपों की पक्तियों से अनेकों बार खेती-बारी तो नष्ट हो ही चुकी है, साथ-ही साथ सहस्रों गाँव और घने वन भी बालूमग्न हो गए हैं। बिस्के की खाड़ी के तट तथा बाल्टिक सागर के तटवर्ती प्रदेशों मे इस प्रकोप से रक्षा करने के लिए घने और ऊँचे वृक्षों की पक्तियाँ लगाई गई हैं। भारतवर्ष में भी इस प्रकार की बालू की बाढ से सिन्ध और राजपूताने के लोग भली भाँति परिचित हैं। मोहेनजो-दड़ो की सभ्यता के नष्ट हो जाने का कारण बालू की बाढ भी हो सकती है। कहना न होगा कि बालू की बाढ जल से भी अधिक भयानक होती है। जो प्रदेश जलधाराओं की बाढ से मग्न हो जाते हैं, थोड़े समय पश्चात् वे फिर स्वतत्र हो जाते हैं और बाढ की मिट्टी से अधिक उपजाऊ बन जाते हैं। परन्तु बालू के प्रकोप से नष्ट होनेवाले प्रदेश की भूमि सदैव के लिए नष्ट हो जाती है। बालुका-स्तूपों की बाढ बहुत ही धीमी होती है। बिस्के की खाडी इस प्रकार की बाढ के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर लगभग १५० मील लम्बी और ६ मील चौड़ी भूमि की पट्टी बालुका-मय है। इस प्रदेश से टीलों की यात्रा आरम्भ होती है और स्थल की ओर चलती है। इसकी गति अधिक से-अधिक १०० फीट प्रतिवर्ष तक होती है। टीलों के आने के पूर्व ही बालू के कण आकर भूमि को ढकना आरम्भ कर देते हैं जिससे खेती-बारी नष्ट होना आरम्भ हो जाती है। टीलों के आने के पूर्व ही भूमि पर बालू की मोटी तह जम जाती है। युक्तप्रान्त के पश्चिमी प्रदेश में आजकल प्रति-वर्ष आँधियाँ राजपूताने के मरुस्थलों से बालू ला-लाकर जमा कर रही हैं। यह अँदेशा है कि कालान्तर मे पश्चिमी युक्तप्रान्त की भूमि पर बालू की इतनी मोटी तह जमा हो जायगी कि धीरे-धीरे यह भूमि भी मरुस्थलीय हो जायगी।

फ्रास के लाडीस (Lande.) प्रदेश में बालूकास्तूपों की बाढ से अनेकों गाँव नष्ट हो चुके हैं। यहाँ के लेज (Lege) नामक स्थान पर बालू का प्रकोप होने से लोगों

ने एक गिरजाघर को नष्ट होने से बचाने के लिए सत्रहवीं शताब्दी मे उसे पुराने स्थान से हटाकर ढाई मील स्थल की ओर बनाया। सौ वर्ष उपरान्त उनको उसे यहाँ से भी हटाना पड़ा, क्योंकि बालू यहाँ पर अपने टीले बनाने लगी थी। इस प्रकार प्रत्येक सौ वर्ष मे उनका चर्च ढाई तीन मील आगे बढता है।

बालुकास्तूप यद्यपि अधिकाश क्षयात्मक कार्य करनेवाले ही हैं और उजाड़ होते हैं तथापि उनसे भी मनुष्य को कुछ-न कुछ लाभ होता ही है। मरुस्थलों में कहीं-कहीं बालुका-स्तूपों ही के कारण लोगों को जल नसीब होता है। बालू मे वर्षा का जल (जो भी थोड़ा-बहुत गिरता है) समा जाता है। बालू मे सोखे हुए जल के कारण 'जलरेखा' स्तूपो के नीचे ऊपर उठ जाती है और स्तूपों के आकार की रेखा के समानान्तर नीची-ऊँची रहती है। फलस्वरूप कही कहीं थोड़ी-सी भूमि खोदने पर जल प्रचुर मात्रा में निकलने लगता है। इन स्थानों पर नख़लिस्तान बन जाते हैं और खजूर आदि वृक्षों के झुण्ड उग आते हैं। मिस्र के मरुस्थलों मे ऐसे नख़लिस्तान अधिक पाये जाते हैं।

धरातल से उडी हुई महीन धूल भी स्थान-स्थान पर एकत्रित होती रहती है। एशिया, योरप तथा उत्तरीय और दक्षिणीय अमेरिका मे एक प्रकार की पीली, महीन कण-वाली मिट्टी की सैकडों फीट गहरी तह जमी हुई पाई जाती है। इस मिट्टी को लोयस (Loess) कहते हैं। इसकी तहे पथरीली चट्टानों के समान पतली एक के ऊपर एक बिछी हुई-सी नही होती, वरन् २०—४० या इससे भी मोटी लगभग १०० फीट की तहे ढेर के रूप मे जमा होती हैं। इसमे लम्बी खड़ी नलिकायें-सी बनी होती हैं, जिससे इसके ऊँचे-ऊँचे कगार घाटियों के पार्श्व मे बन जाते ह। यद्यपि इस मिट्टी के कण अत्यन्त ही महीन होते हैं तथापि इन कणो की रचना में कोई विश्लेषण नही होता। जिन खनिजो के कण इसमे मिले होते हैं वे सब सुरक्षित रहते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि चट्टानो के विखण्डन से उत्पन्न यह धूल रासायनिक विश्लेषण होने के पूर्व ही उड़कर जमा हो गई है।

इस मिट्टी की तहों मे असख्य स्थलचर जीवों के अवशेष पाये जाते हैं। इसके ढेर ऊँची-नीची सभी जगहो मे बने हैं और आँधी को छोड़कर अन्य किसी उपाय या क्रिया के फलस्वरूप जमा नहीं हो सकते। खड़ी पतली नलिकाएँ इस मिट्टी के ढेर मे समय-समय पर दब जानेवाले वृक्षादि के तनों और जड़ों मे चिह्न-सी लगती हैं।

चीन मे पवन द्वारा उडाकर लाई गई 'लोयस' मिट्टी का एक दृश्य। इसकी पर्त्त कितनी मोटी है, यह इसके बीच काट कर बनाए गए दर्रे की दीवारो से अनुमान किया जा सकता है।

मध्य योरप और मिसीसिपी नदी की उपत्यका मे जमी हुई लोयस मिट्टी सम्भवतः अस्थायी सरोवरों और झीलो के सूखे धरातलों से उडकर आई होगी।

उत्तरीय चीन मे फ्रास से भी अधिक विस्तार का प्रदेश लोयस से ढका हुआ है। इसकी तहे सैकडों फीट गहरी हैं। जलधाराओ द्वारा इसमे सैकड़ो गहरे दर्रों की रचना हो गई है। इसी मिट्टी को बहाने के कारण चीन की एक नदी का नाम पीली नदी पडा है और जिस सागर मे यह पीली नदी अपना पीला बोझा जमा करती है, उसका नाम पीला सागर है।

मध्य एशिया के मरुस्थलों से चलनेवाली आँधियाँ शताब्दियो से इस धूल को अपने साथ उड़ा-उड़ाकर लाती

रही है और इस प्रदेश को पाटती रही है। चीन की लोयस मिट्टी और योरप तथा अमेरिका की लोयस मिट्टी के मूल स्थानों में भिन्नता होते हुए भी रचना-विधि की अपूर्व समानता ध्यान देने योग्य है। चीन की बहुत-सी उपजाऊ धरती इसी लोयस मिट्टी के द्वारा बनी है। इस मिट्टी में कगारों के कटाव में नैसर्गिक कन्दराओं की अपूर्व रचना हो गई है। चीन के बहुतेरे निर्धन कृषक इन्हीं कन्दराओं में अपना घर बनाकर रहते हैं।

पवन की प्रतिक्रिया से चट्टानों का विखण्डन होकर क्षय होता है। विखण्डन की क्रिया से जो नन्हे कण बनते हैं, वे भी उस समय तक सक्रिय रहते हैं, जब तक वनस्पति और जल के प्रभाव से वे दबकर भूमि के अंग नहीं हो जाते। आँधी के झकोरे के साथ उड़नेवाले बालू के कण चट्टानों पर बड़ी तीव्रता से प्रहार करते हैं जिससे चट्टानों के अंश टूटकर तथा खुरचकर गिर जाते हैं और चट्टान खुरचकर घिसती जाती है। बालू की मार बड़ी तीव्र होती है। उसके वेग से धरातल की मिट्टी आदि भी खुरचती जाती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई झाड़ू से धरती साफ की जा रही है। यह बालू और धूल अन्त में न केवल बालुकास्तूपों और लोयस के टीलों के रूप में जमा होती है, वरन् सारे भूमण्डल पर इसकी तह के रूप में जमा हो जाती है। कोहरे भी इसी के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं और उनके द्वारा वायुमण्डल में कैसे-कैसे परिवर्तन उत्पन्न होते हैं इसका हाल आप पढ़ ही चुके हैं।

भारत के ऊँचे पर्वत-शिखरों पर जहाँ आँधी प्रचण्डता से चलती है और शीत के कारण पेड़-पौधों का जीवित रहना असम्भव है, विखण्डित चट्टानों को चूर-चार करके उड़ाकर ले जाने का कार्य आँधी के द्वारा अधिक होता है।

भारत के सुप्रसिद्ध थर मरुस्थल के ४०००० वर्ग-मील के विस्तार में जाने से हमको प्रतीत होता है कि धरातल के रूप को आँधी किस प्रकार बदल देती है। इस भू-भाग पर असंख्य दिनों से वर्षा की एक-आध बूँद भी नहीं पहुँच पाई, फलस्वरूप आँधी को मनमानी करने का सुअवसर मिला। आज हमको इस प्रान्त में चारों ओर बालू के प्रचुर ढेर और उनमें से झाँकती कहीं-कहीं सूखी चट्टानें ही दिखाई पड़ती हैं। समुद्री लहरों के समान बालू का धरातल भी ऊँचा-नीचा लहरदार है। बालुका-सागर की ये लहरें नित्य-प्रति धीमे-धीमे भूमि की ओर आती जा रही हैं। रेगिस्तानों में पड़नेवाली दिन की कड़ी धूप और रात्रि की शीतलता ने चट्टानों को विखण्डित कर दिया है। ऋतु-क्रिया के फलस्वरूप चट्टानें खुरदुरी हो गई हैं और आँधी के वेग की तनिक-सी भी ठेस लगते ही ढेर के ढेर बालू इन खुरदुरी चट्टानों से गिर जाती है और धूल के बादल बनाती हुई उड़ने लगती है।

मरुभूमि का एक और दृश्य

समुद्र की लहर के समान बालू का धरातल भी कैसा लहरदार हो जाता है! इस बालुका-सागर की ये लहरें नित्य-प्रति अपना रूप बदलती रहती हैं।

स्थलमण्डल—पुरानी और नई दुनिया

३—मैदान और उनमें बहनेवाली नदियाँ

हम बता चुके है कि समस्त स्थलमण्डल समधरातलीय नहीं हैं। पिछले प्रकरण मे हमने स्थल के उन भागो का सिंहावलोकन किया था जो साधारणतः समुद्र तल से बहुत ऊँचे और असमतल हैं और जिनको पर्वत और पठार-प्रदेशों के नाम से पुकारा जाता है। इन प्रदेशों की भूमि अधिकाश ढालू होती है और कहीं-कही इनकी चोटियाँ बहुत ही ऊँची हो गई हैं। इन प्रदेशों की भूमि पथरीली और ढालू होने के कारण जितनी वर्षा यहाँ होती है उसका अधिकाश भाग नीची भूमि की ओर बह आता है। इस जल के बह आने के मार्ग जलधारा, सरिता या नदियाँ कहलाते हैं। ये जलधाराएँ और सरिताये जब ऊँचे प्रदेशो पर होनेवाली वर्षा के जल को नीचे भूभाग की ओर लेकर दौड़ती हैं तब इनमे बड़ा वेग होता है और इसके बल से ये अपने मार्ग को अधिक सरल और सीधा बनाती हुई आगे बढती हैं। इसी के कारण इनके मार्ग का स्थल चौरस भूमि मे परिणत होता जाता है। प्रत्येक नदी अपनी 'उपत्यका' को, अर्थात् उस भूमि को जिसका जल बहकर नदी मे आता है, चौरस भूमि अर्थात् मैदान मे परिणत करने के प्रयत्न मे रहती है। 'पृथ्वी की रचना' शीर्षक स्तम्भ मे 'नदियों की कहानी' (अक ८ पृष्ठ ६४३) के प्रकरण में बताया जा चुका है कि नदियाँ किस प्रकार भूतल पर मैदानों की रचना करती रहती हैं।

धरातल के स्थल-भाग की वह भूमि जो पर्वत और पठारो से नहीं ढकी है नीची है, और मैदान कहलाती है। आइए देखे, स्थलमण्डल के मैदानो का कहाँ कितना विस्तार है और उनमे कौन-सी नदियाँ अपना आधिपत्य बनाए हुए हैं।

स्थल के विशाल खण्ड यूरेशिया के उच्चस्थलीय प्रदेश के विषय मे हम जान चुके हैं कि इसका विस्तार इस भूखण्ड के दक्षिणीय भाग मे है। अतः यूरेशिया का उत्तरीय भाग अवश्य ही निचला मैदान होना चाहिए। वास्तव मे स्कैन्डिनेविया और कमचटका के प्रायद्वीपो को छोड़कर योरप का तथा एशिया का उत्तरी भाग एक विस्तृत ढालू मैदान है। इस मैदान का ढाल समुद्र की ओर पश्चिम या उत्तर की ओर है। पश्चिमी योरप की पिरेनीज पर्वत श्रेणियो के पास से यह मैदान आरम्भ होकर पूर्व की ओर फैलता चला गया है। 'नार्थ सी' या उत्तरी सागर की ओर इस मैदान का ढाल कम चौड़ा है, परन्तु पूर्व मे अधिक चौड़ा हो गया है और उत्तर मे बाल्टिक और श्वेत सागर से लेकर दक्षिण मे काले और कैस्पियन सागर तक फैला है। योरप का पूर्वीय अर्ध भाग इसी विस्तृत मैदान का अग है। यही मैदान यूराल पर्वत की नीची श्रेणियो को पार करता हुआ एशिया के उत्तरी भाग तक फैला है। पूर्व की ओर यह फिर सकीर्ण हो गया है। इस मैदान के पश्चिमी भाग का ढाल अटलाण्टिक महासागर की ओर है और इस भाग की नदियाँ अपना जल अटलाण्टिक महासागर मे बहाती हैं। कुछ उत्तरी सागर मे मिलती हैं और कुछ बाल्टिक मे। पूर्व मे चलने पर इस मैदान का ढाल आर्कटिक महासागर की ओर हो जाता है और कुछ भाग का काले और कैस्पियन सागर की ओर।

इस मैदान की प्रमुख नदियाँ गारोन, ल्वायर, सीन, राइन, एल्बा, विस्चुला और वोल्गा योरप के खण्ड मे बहती हैं और ओबी, येनिसी, तथा लीना नदियाँ एशिया महाद्वीप मे। योरप मे बहनेवाली पहली तीन नदियाँ फ्रास, दूसरी दो जर्मनी, विस्चुला पोलैण्ड और वोल्गा रूस मे होकर बहती हैं। ये नदियाँ इन प्रदेशों के लिए व्यापार-मार्ग का काम देती हैं और बहुत ही उपयोगी हैं। इनमे बडी-बडी नौकाये और छोटे-छोटे स्टीमर चलते रहते हैं। इन नदियों की उपत्यकाएँ बहुत उपजाऊ हैं। राइन योरप की सबसे बड़ी

नदी न होते हुए भी सबसे अधिक महत्त्व की है। आल्प्स पर्वत-श्रेणियों से निकलकर यह उत्तरी सागर की ओर बहती है। इसकी आधी दूरी तक सागर से छोटे-छोटे स्टीमर इसमें चले आते हैं।

रूस के मैदान में बहनेवाली अनेकों नदियाँ ध्रुव और श्वेत सागरों में गिरती हैं। इनमें से अधिकांश बर्फ से ढकी रहती हैं। इन नदियों का अधिक महत्त्व नहीं है। वोल्गा नदी अपनी अनेकों शाखाओं और उपनदियों से जल ग्रहण करती हुई, लम्बी दौड़ के बाद कैस्पियन सागर में मिलती है। यह नदी व्यापारिक मार्ग की दृष्टि से बहुत उपयोग की है। काले सागर में तीन महत्त्वपूर्ण नदियाँ आकर अपना जल गिराती हैं। इनमें से डैन्यूब नदी सबसे अधिक लम्बी और उपयोगी है। दूसरी नदियाँ नाइपर और नाइस्टर भी बड़े काम की हैं। ये नदियाँ अधिकांश में चौरस मैदान में बहती हैं और इनमें स्टीमर चलने की सुविधा है। शीत ऋतु में इनमें बर्फ जम जाती है और तब इनके द्वारा आवागमन बन्द हो जाता है। डैन्यूब नदी काले सागर के पश्चिमी तट पर गिरती है। इसके द्वारा आल्प्स पर्वत से आनेवाली जलधाराओं का जल समुद्र में पहुँचता है। हंगरी के चौरस और उपजाऊ मैदान में यह इठलाती हुई बहती है। मध्य योरप का बहुत-कुछ व्यापारिक जीवन डैन्यूब नदी के किनारे ही पाया जाता है। परन्तु इस नदी पर व्यापार अधिक नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस नदी में कई स्थानों पर पानी का बहाव इसके पहाड़ी मार्गों से निकलने के कारण बहुत ही तेज़ है। इसके अतिरिक्त शीत काल में यह नदी भी अधिकतर जम जाती है, जिससे उन दिनों इसमें नावें नहीं चल सकतीं।

पूर्वीय योरप एक बहुत ही बड़ा स्थल-भाग है और प्रायः एक बड़ा मैदान है। जिसकी ऊँचाई समुद्र-तट से लगभग ६०० फ़ीट के ऊपर है अर्थात् हमारे देश के हिंदुस्तान के मध्य भाग की-सी ऊँचाई यहाँ मिलती है। इसकी बनावट बहुत सादी और लगभग एक ही सी है। इस मैदान के बीच केवल वल्डाई (Valdai) की पहाड़ी ही एक ऊँची भूमि है। काकेशस और यूराल पर्वत इस मैदान की सीमा बनाते हैं। इसका दक्षिणी भाग यूक्रेन अपनी काली मिट्टी के लिए प्रसिद्ध है। जिसका काला रंग उसमें मिली हुई बहुत-सी सड़ी हुई वनस्पतियों के मिल जाने के कारण हो गया है। पूर्वीय योरप के उत्तर-पश्चिमीय भाग में झीलों की संख्या अधिक है जो प्राचीन समय के हिमागार के द्वारा बन गई हैं।

एशिया खण्ड के उत्तरीय भाग में साइबेरिया का मैदान है। इस मैदान में ओबी, येनिसी और लीना नदियाँ एशिया के ऊँचे प्रदेश से निकलकर ध्रुव महासागर (Arctic Ocean) में मिलती हैं। साइबेरिया का मैदान येनिसी नदी तक तो समतल है परन्तु उसके आगे ऐसी समतल भूमि केवल समुद्र के किनारे ही मिलती है। समुद्र से हटकर स्थल की ओर ये मैदान ऊँचे-नीचे हैं और इनमें पहाड़ियाँ अधिक हैं। पश्चिमी साइबेरिया का मुख्य जलमार्ग ओबी नदी है। येनिसी का मार्ग लगभग सीधा है। इसकी एक मुख्य सहायक नदी एशिया की सबसे बड़ी मीठे पानी की झील बैकाल से निकलकर इसमें मिलती है। ये तीनों नदियाँ बहुत लम्बी हैं और समतल मैदान में धीमे वेग से बहती हैं। इनकी सहायक नदियाँ एक दूसरे से दूर हटी हुई बहती हैं। इन नदियों और इनकी सहायक धाराओं के द्वारा नावें उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सभी दिशाओं में चलाई जा सकती हैं। ग्रीष्म ऋतु में इनका उपयोग बहुत अधिक होता है। नावें और स्टीमर दोनों ही इनमें चलते हैं। परन्तु शीत ऋतु में इनमें बर्फ जम जाती है। दक्षिण में इनका उद्गम होने के कारण ग्रीष्म ऋतु आते ही वहाँ का बर्फ गल जाता है, परन्तु उत्तरी भाग में कड़ा बर्फ जमा रहता है। गले हुए बर्फ का पानी जब समुद्र की ओर बहता है तो कड़ा बर्फ उसे रोक देता है और किनारों की भूमि पर बाढ़ आ जाती है। यह भूमि कई मास तक जलमग्न रहने के कारण दलदल सरीखी हो जाती है। इस कारण इन नदियों का उतना महत्त्व नहीं है और न उतना उपयोग ही हो पाता है, जितना नक्शे में इनकी स्थिति देखने से प्रतीत होता है।

साइबेरिया के मैदान के दक्षिण-पश्चिम की ओर अरल सागर के चारों ओर एक और मैदान है, जिसे तूरान (Turan) का मैदान कहते हैं। यह मैदान अधिकतर सूखा है और स्टेप (Steppe) कहलाता है। यह मैदान कास्पियन सागर की ओर बढ़कर योरप के मैदान में मिल जाता है। साइबेरिया और तूरान के मैदानों के मध्य में किरगीज़ नामक एक छोटा-सा पठार है।

यूरेशिया का दक्षिणी भाग अधिकांश ऊँचा और पहाड़ी होने के कारण यहाँ पर मैदान अधिक नहीं है। दक्षिणी खण्ड अधिकांश प्रायद्वीपों से बना है, जिनमें आइबेरिया, बालकन, अरब और दक्खिन के पठार हैं या इटली और मलाया सरीखे पहाड़ी भाग हैं। पठारों और पहाड़ों के बीच-बीच में कहीं-कहीं मैदान हैं या सँकरे समुद्रतटीय मैदान दिखाई देते हैं।
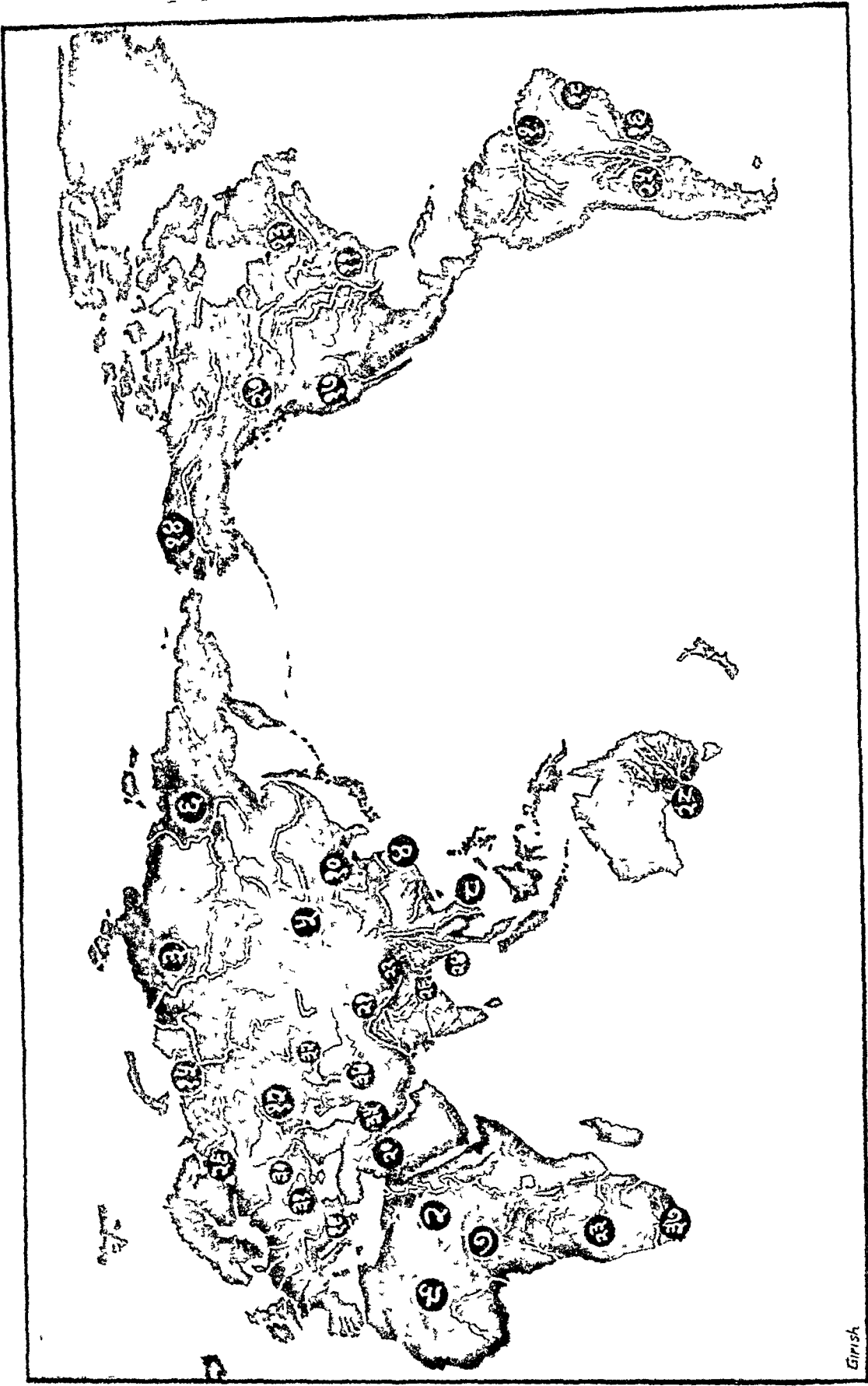
१. अमेज़न, २. नील, ३ येनिसी, ४. यागसीक्याङ्ग, ५ आमूर, ६ लीना, ७ कांगो, ८ मेकाङ्ग, ९. नाइजर, १० ह्वागहो, ११. मिसिसिपी, १२ वोल्गा, १३. सेंट लारेन्स, १४. यूकॉन, १५. ओबी, १६. पराना, १७ कोलोरेडो, १८. सेंट फ्रांसिस्को, १९ डेन्यूब, २० फरात, २१ सिंधु, २२. ब्रह्मपुत्र, २३. ज़ंबेसी, २४. इरावदी, २५. पेरेग्वे, २६. गंगा, २७. सास्केचवान, २८. मरे, २९. ड्वीना, ३० नाइपर, ३१. एल्ब, ३२ सर दरिया, ३४. आमू दरिया, ३५. दज़ला, ३७ आरेंज ।

की घाटी है। चीन के इस भाग मे जीवन का साधन यही नदी है और इसलिए यह भाग एक कोने से दूसरे कोने तक बहुत ही घना बसा हुआ है। यह नदी तिब्बत के पठार से अज्ञात स्थल से निकलकर पूर्व की ओर बहती है और चीन को लगभग दो सम भागों में विभाजित करती है। इस नदी का मध्य भाग एक चौड़ा मैदान है। इस भाग से समुद्र के तट तक नावों के द्वारा अच्छा मार्ग है। हाकाऊ से नीचे नदी चौड़ी हो जाती है और उसके डेल्टे का आरम्भ हो जाता है। यह डेल्टा ससार के बहुत उपजाऊ और उन्नत डेल्टों मे से है।

दक्षिणी चीन मे सीक्याग नदी की घाटी महत्त्व की है। यह नदी पूर्व दिशा की ओर बहती है। इस नदी की लम्बाई यागसीक्याग और ह्वागहो नदियों के समान नहीं है और न यह उन नदियों के समान उपजाऊ भूमि मे ही बहती है।

मेकाग नदी तिब्बत के पठार के पूर्वीय भाग से निकलकर एशिया महाद्वीप के दक्षिणी-पूर्वीय कोने की ओर बहकर समुद्र मे मिल जाती है। बर्मा की सालवीन नदी की भाँति इसमे नाव चलाना असम्भव-सा है। इसका कारणों यह है कि इसकी धारा मार्ग में भँवर से पूर्ण रहती है। मिनाम नदी छोटी है। यह स्याम की खाड़ी में मिलती है। इसके डेल्टे की भूमि अत्यन्त उपजाऊ है।

चीन की यह विशेषता है कि यहाँ पर नदियो और नहरों से ससार भर मे सबसे अधिक मार्ग का काम लिया जाता है।

जापान एक छोटा-सा सँकरा देश है। इसी के कारण न तो यहाँ नदियाँ अपने मैदान ही बना सकती हैं और न समुद्र के तट पर ही चौडे मैदान बन सके हैं। यहाँ पर समतल भूमि का बहुत अभाव है। दक्षिण-पूर्वीय भाग में बहुत-सी छोटी-छोटी नदियाँ हैं, जो अपने साथ बहुत-सी मिट्टी लाकर समुद्र-तट पर डेल्टे बनाती हैं।
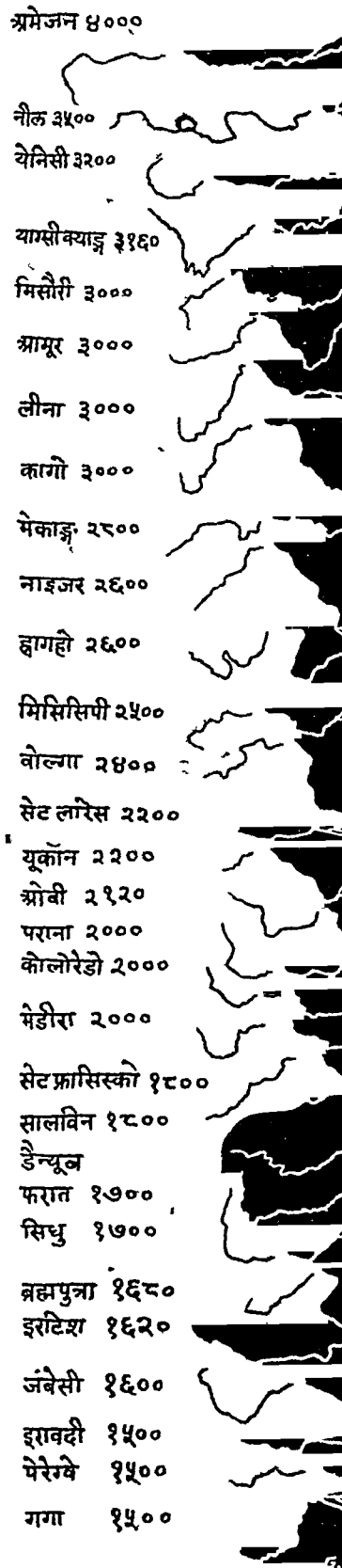
इण्डोचीन प्रदेश में बहनेवाली इरावदी और सालवीन नदियाँ मुख्य हैं। इस प्रदेश मे भी मैदानों का अभाव है। लगभग सभी प्रात पहाड़ी हैं। नदियों के डेल्टों की भूमि ही खेती के योग्य है। केवल इरावदी नदी मे ही नावे ऊपर तक जा सकती हैं। शेष सब नदियाँ भँवरों के कारण काम में नहीं आ सकतीं।

अफ्रीका महाद्वीप के विषय मे हम पहले ही कह चुके हैं कि यह सारा-का-सारा भूखण्ड एक ऊँचा पठार है, जिसकी बनावट अपने दक्षिणी भारत के पठार से मिलती-जुलती है। इसमे नीची भूमि का लगभग अभाव ही है। यहाँ की नदियाँ भी अपनी घाटियों में नीचे मैदान नहीं बना पातीं। समुद्र-तट के मैदान भी बहुत ही पतले-पतले हैं, जिनके ऊपर अचानक ही पठार की ऊँचाई आरम्भ हो जाती है, जिससे उत्तरीय भाग को छोड़कर, जहाँ पर नील नदी के डेल्टे के कारण नीची भूमि अधिक है, कहीं भी कोई अच्छा बन्दरगाह नहीं पाया जाता।

नील नदी अफ्रीका की सबसे महत्व-पूर्ण और उपयोगी नदी है। इस नदी की लम्बाई ३५०० मील है। लम्बाई के अनुसार यह ससार की नदियों मे दूसरा स्थान लेती है। विक्टोरिया झील से निकलकर यह नदी लगभग १००० मील तक एक बड़े मैदान में से बहुत ही धीरे-धीरे बहती है, जिससे इसमे सिवार घास बहुत उगती है और फलस्वरूप उसमे नावों के चलाने मे भी कठिनाई पड़ती है। नदी के इस भाग मे पानी भी अधिक नहीं रहता और कहीं-कहीं तो झीलें और दलदलें बन जाती हैं।

ससार की कुछ बड़ी नदियाँ

खारतूम नामक स्थान से आगे नदी की धारा तेज हो जाती है। इस भाग में अबीसीनिया की ओर से आकर कई नदियाँ गरमी में बहुत-सा जल इसमें डालती हैं जिसके कारण नील नदी में मई और अक्तूबर के महीनों के बीच में अधिक बाढ़ आ जाती है। ताना झील से आनेवाली मुख्य नदियाँ नीली नील और काली नील या अतबारा हैं।

नील नदी की ऊपरी घाटी का अधिकांश भाग सूडान में है। इस भाग में नीली नील और श्वेत नील के बीच का दोआबा, जिसे जज़ीरा (Gezira) कहते हैं, अधिक महत्व-पूर्ण भाग है।

कांगो नदी अफ्रीका की दूसरी प्रसिद्ध नदी है। इस नदी की घाटी भी उपयोगी है। इस नदी में नावें चलाने की भी सुविधा है।

दक्षिणी अफ्रीका में ज़बेसी और लिमपोपो नामक प्रमुख नदियाँ हैं। इन नदियों के मुखों के निकट समुद्र-तट पर काफ़ी चौड़े मैदान बन गए हैं। ये मैदान अपने उत्तरस्थित पूर्वीय अफ्रीका के मैदानों से अधिक चौड़े हैं। पश्चिम की ओर अन्य भागों की भाँति यह पठार भी भीतर ही की ओर धीरे-धीरे नीचा होकर कलाहारी का मरुप्रान्त बन जाता है। यह भाग लगभग वैसा ही नीचा है जैसा कांगो नदी का बेसिन। केवल जलवर्षा के प्रचुर मात्रा में न होने के कारण यहाँ की कोई भी नदी समुद्र तक नहीं पहुँचती। दक्षिण की ओर यह पठार ज़ीने की भाँति नीचे को उतर आया है, जिससे दक्षिण की ओर से देखने पर वह एक ऊँचा पहाड़-सा दिखलाई देता है, किन्तु उत्तर की ओर से आने पर उसका ढाल बहुत ही थोड़ा मालूम पड़ता है। ऊँचे उत्तरीय भाग को वेल्ड (Veld) कहते हैं। इससे नीचे के पठार के भाग को बड़ा कारू (Great Karroo) और उससे नीचे की घाटी को छोटा कारू (Small Karroo) कहते हैं। इसके बाद समुद्र तट का मैदान मिलता है, जो दक्षिण-पश्चिम की ओर दक्षिण पूर्व की अपेक्षा अधिक चौड़ा है। पश्चिमी समुद्र-तट का मैदान बहुत ही कम चौड़ा है।

अफ्रीका को छोड़कर अब हम नई दुनिया की ओर चलते हैं। नई दुनिया की बनावट यूरेशिया से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। उत्तरीय अमेरिका में अपेलेशियन और राकी नामक पहाड़ों के मध्य में एक बहुत बड़ा मैदान है, जिसका ढाल दोनों पहाड़ों के मध्य की ओर होता है। इसी विस्तृत मैदान मे मिसिसिपी नदी बहती है। राकी पहाड़ के पड़ोस में यह मैदान बहुत ही ऊँचा है, किन्तु वहाँ से पूर्व की ओर जाने पर इसके ढाल में विशेषतया उत्तरीय भाग से चढ़ाव-उतार आरम्भ हो जाता है। इन सभी मैदानों का ढाल इतना थोड़ा है कि देखने में ये बिल्कुल ही समतल-से लगते हैं। ये मध्य के मैदान आगे जाकर दक्षिणीय समुद्र-तट और पूर्वीय समुद्र-तट के मैदानों से मिल गए हैं। समुद्र-तट के मैदानों की चौड़ाई काफ़ी है। ये मैदान नदियों के द्वारा बहाकर लाई गई मिट्टी से बने हैं।

उत्तरीय समुद्र-तट पर 'कनाडा की ढाल' के उत्तर में भूमि का अधिकांश नीचे को धँस गया है। इसी के कारण समुद्र के किनारे-किनारे नीची भूमि पाई जाती है। पश्चिमी समुद्र-तट पर मैदान का अभाव-सा है।

राकी-पर्वत और बड़ी झीलों के बीच में प्रसिद्ध प्रेरी का मैदान है। इस मैदान में पहाड़ बिल्कुल ही नहीं पाये जाते। इसकी भूमि उपजाऊ काली मिट्टी से बनी है। इस मिट्टी का काला रंग सड़ी-गली घास-फूस की अधिकता के ही कारण काला हो गया है। प्रेरी के मैदान में किसी समय एक विशाल मीठे पानी का जलाशय था, जिसके अवशेष अंग अब बड़ी झीलों के रूप में रह गए हैं। मैदान की भूमि इसी विशाल जलखण्ड की तली रही होगी।

कनाडा के दक्षिण पहुँचने पर हमको संयुक्त राष्ट्र का दक्षिणीय और पूर्वीय मैदान मिलता है। हडसन नदी को पारकर दक्षिण की ओर जाने पर यह मैदान अधिक चौड़ा होता जाता है और पूर्वीय पहाड़ी भाग के नीचे से आरम्भ होकर अटलांटिक महासागर के तट तक फैल जाता है। फ्लोरिडा का प्रायद्वीप भी इसी मैदान में सम्मिलित है। यह मैदान काफ़ी उपजाऊ है।

उत्तरीय अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के मध्य में अपेलेशियन और राकी पहाड़ों के बीच में बहुत विस्तृत मैदान है। इसका पश्चिमी भाग काफ़ी ऊँचाई पर है। यह ऊँचाई मिसौरी नदी के निकट से आरम्भ हो जाती है और शनैः-शनैः राकी पहाड़ तक चली जाती है।

पैसिफ़िक तट पर कोलम्बिया नदी की घाटी में नीची भूमि पाई जाती है, परन्तु इसकी चौड़ाई ५० मील से अधिक नहीं है।

उत्तरी अमेरिका में अनेकों बड़ी बड़ी नदियाँ बहती हैं। मिसिसिपी और मिसौरी की लम्बाई मिलकर संसार में सबसे अधिक है। कुछ नदियाँ पैसिफ़िक महासागर में गिरती हैं और कुछ अटलांटिक महासागर में। पैसिफ़िक में

गिरनेवाली नदियों की अपेक्षा अटलाण्टिक मे गिरनेवाली नदियॉ अधिक महत्व की हैं। नक़्शा देखने से ही इसका कारण समझ मे आ जाता है। पैसिफिक महासागर में जानेवाली नदियों को पश्चिमी पहाड़ी ढालों से बहकर समुद्र-तट की पतली समतल भूमि को पारकर समुद्र मे जाना होता है। ऊँचे पहाड़ी ढालों पर बहने के कारण इनमे नावे चलाना असम्भव-सा है। इनमें से कुछ नदियॉ पठारों को काटकर सॅकड़ी घाटियों और गहरे खड्डों मे बहती हैं। फ्रेजर नदी वैंकोवर द्वीप के पीछे समुद्र मे मिलती है। इस नदी को एक ऐसे गहरे और सॅकड़े खड्ड से होकर बहना पड़ता है, जिसमे सूर्य का प्रकाश कभी पहुँचता ही नही। इसी नदी की घाटी से होकर कैनेडियन पैसिफिक रेलवे वैंकोवर तक पहुँचती है।

कोलम्बिया और स्नेक (कोलम्बिया की सहायक नदी) भी पतली सकीर्ण घाटियों मे बहती हुई समुद्र-तट तक पहुँचती हैं। कोलोरेडो नदी, जो कैलिफोर्निया की खाड़ी में मिलती है, बड़े-बड़े विशाल खड्डों मे से बहती है। इसके मार्ग का एक खड्ड दो सौ मील से भी अधिक लम्बा है और खड्ड की दीवालों की चट्टाने कहीं-कहीं एक मील से भी अधिक ऊँची खड़ी हैं।

उत्तर में यूकॉन नाम की बहुत लम्बी नदी है। परन्तु उत्तरी अक्षांशों में होने के कारण इसमे साल के अधिकाश दिनों में बर्फ़ जमी रहती है।

अटलाण्टिक महासागर की ओर बहनेवाली नदियों मे से बहुत कम अधिक लम्बी हैं। हडसन, दिलावर, सास्केच्वान और पोटोमक प्रसिद्ध और अधिक उपयोगी नदियॉ हैं। इनकी घाटियों में से होकर पूर्वीय पठार से मध्य के मैदानों को बड़ा सरल मार्ग मिल जाता है। इनकी घाटियों मे रेलों और सड़कों के मार्ग बनाये गए हैं।

मध्य भाग के मैदानों में इससे भी अधिक लम्बी नदियॉ सिंचाई करती है। मैकेंजी नदी उत्तर की ओर आर्कटिक महासागर में जा मिलती है। इसमें अनेकों झीलों से जल बह-बहकर आता है। परन्तु यूकॉन की भॉति मैकेंजी का उपयोग भी अधिक नही होता। उत्तर में विनिपेग झील में आकर कई नदियॉ मिलती हैं। इनमें से रेड नामक नदी बहुत उपजाऊ घाटी मे होकर बहती है। विनिपेग झील से नेलसन नदी निकलकर हडसन की खाड़ी मे गिरती है। परन्तु यह नदी भी वर्ष के अधिकाश दिनों मे बर्फ़ से ढकी रहती है।

सेंट लारेंस नदी बहुत महत्व की है। इस नदी में सुपीरियर, मिचिगन, हूरन, ऐरी और ओन्टेरियो आदि झीलों का जल बहकर आता है। इन झीलों के द्वारा बहुत व्यापार होता है और झीलों के तटों पर कई अच्छे बन्दरगाह बन गए हैं। ऐरी झील से निकलकर जब सेंट लारेंस नदी ओन्टेरियो झील की ओर जाती है तब इसको नियागरा नाम से पुकारा जाता है। इस मार्ग मे थोड़ी दूर बहने पर नदी की धारा मे भॅवर पैदा हो जाते हैं, जिसमे नावों का चलना असम्भव होता है। इन्हीं भॅवरों के नीचे एक स्थान पर नदी की धारा एकदम १६० फीट नीचे उत्तर जाती है। यहीं पर सुप्रसिद्ध नियागरा का झरना बना है, जिसे देखने सहस्रों यात्री आते हैं।

झीलों से आगे बढने पर इस नदी की धारा चौड़ी हो जाती है और ६०० मील बहने के उपरान्त महासागर मे मिल जाती है। इस नदी के मार्ग से बड़े-बड़े स्टीमर झीलों तक पहुँचते हैं। व्यापार के लिए यह ससार भर मे सबसे अधिक उपयोगी नदी है।

मध्यवर्ती मैदान का दक्षिणी भाग मिसिसिपी नदी की उपत्यका है। दाहिनी ओर से यह पश्चिमी पहाड़ों का जल बहा लाती है और बाईं ओर की शाखाएँ पूर्वी उच्च भूमि का। यह सुपीरियर झील के समीप एक छोटी झील से निकलकर मैदान के बीच से होकर दक्षिण की ओर बहती है और अन्त मे मेक्सिको की खाड़ी मे मिल जाती है। मध्य में सेण्ट लुई के समीप इसमे इससे भी लम्बी मिसौरी नदी मिलती है। मिसौरी नदी पश्चिमी पहाड़ों से निकलकर आती है और ३००० मील (काश्मीर से कुमारी अन्तरीप तक की दूरी) की यात्रा के पश्चात् मिसिसिपी से मिल जाती है। आगे चलकर मिसिसिपी नदी बाईं ओर से आनेवाली ओहियो नदी का जल ग्रहण करती है। समुद्र में मिलने से पूर्व ३०० मील पहले ही इसकी कई धाराएँ हो जाती हैं और गगा नदी की भॉति बड़ा-सा डेल्टा बनाती हैं।

वेस्ट इंडियन द्वीप अधिकतर नीचे मैदानोंवाले हैं। इनकी मिट्टी बहुत उपजाऊ है और उनमे खेती करने की बहुत सुविधा है।

दक्षिणी अमेरिका मे अमेजन नदी का मैदान है। इस मैदान में ताप और वर्षा की अधिकता के कारण, बहुत घने वन पाये जाते हैं। वनों से ढके हुए इस मैदान को सेल्वा (*Selva*) कहते हैं। वनों की सघनता के ही कारण इस मैदान मे मार्ग के साधन, केवल अमेजन और उसकी सहायक नदियॉ ही हैं। ये नदियॉ इतनी बड़ी हैं

कि इनमें कई सहस्र मील तक छोटे-छोटे जलयान बड़ी सरलता से चलाये जाते हैं। घने वनों, अधिक वर्षा और ताप, तथा रोग की अधिकता के कारण इन मैदानों की उन्नति नहीं हो सकी है।

'प्लेट नदी की घाटी' दूसरा नीचा भाग है और यही दक्षिणीय अमेरिका का सबसे समुन्नत भाग है। प्लेट नदी की एक लम्बी इस्चुअरी है, जिसमे पराना और पराग्वे नामक नदियाँ मिलती हैं। इन नदियों की घाटियों में उपजाऊ भूमि अधिक है। इन मैदानों मे घास अधिक होती है और इनको 'पपा' (Pampa) कहते हैं। प्लेट नदी का सबसे महत्वपूर्ण भाग आर्जेंटाइन देश है।

पराना और पराग्वे नामक नदियों की घाटियों के ऊपरी भाग अधिक महत्व के हैं और समतल भूमि के रूप में हैं। ओरीनोको नामक नदी की घाटी के भी मैदान ध्यान देने योग्य हैं। दक्षिणी अमेरिका में समुद्र-तटवर्ती मैदानों का अभाव ही है।

स्थल का अन्तिम विशाल खण्ड आस्ट्रेलिया है। इस भूखण्ड के विषय में हम पहले ही जान चुके हैं कि यह सारा का सारा महाद्वीप एक पठार है, जिसके पश्चिमी और पूर्वीय भाग उभरे हुए हैं। पठार का ढाल अधिकतर भागों मे भीतर की ही ओर है, जिसके कारण बहुत ही कम नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं। पूर्वीय पहाड़ों से पश्चिम की ओर उत्तर से दक्षिण तक एक मैदान है, जिसके दक्षिणीय भाग में आस्ट्रेलिया की प्रधान नदी मरे (Murray) अपनी सहायक नदियों डार्लिंग तथा मरमबजी के साथ बहती हैं। मरे नदी की घाटी तथा उससे मिला हुआ दक्षिणीय समुद्र-तट ही आस्ट्रेलिया के सबसे अधिक उन्नति-प्राप्त भाग हैं। इसी भाग मे आस्ट्रेलिया की जनसख्या का अधिकाश पाया जाता है। मरे नदी का महत्व मार्ग की दृष्टि से कुछ भी नहीं है, क्योंकि इस नदी के मुख के निकट एक बालू की भीत (Sand Bar) है, जिसके कारण समुद्र के जहाज इस नदी में नहीं आ सकते। साथ ही इस नदी में केवल वर्षा ऋतु ही में लगातार जलधारा रहती है। शेष ऋतुओं में तो स्थान स्थान पर इसका जल सूख जाता है, जिसके कारण इसमे नावों का आना-जाना असम्भव हो जाता है। न्यूजीलैण्ड में मैदानों का एक प्रकार से अभाव ही है।

इस प्रकार हमने धरातल के भूखण्डों की भूमि का निरीक्षण समाप्त कर लिया। कहाँ पर ऊँची भूमि है और कहाँ पर नीची यह हम जान गए। नदियों के प्रवाहमार्ग से हम यह भी जान गए कि ऊँची और समतल भूमि का ढाल कहाँ पर किस ओर है। मनुष्य के लिए धरातल के मैदानों का महत्व सबसे अधिक रहा है। आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से मनुष्यों की उन्नति उन्हीं देशों और भूखण्डों मे हुई है, जहाँ पर मैदानों की अधिकता है। विस्तृत मैदान ही मे मनुष्यों की घनी जन-सख्या पाई जाती है। मैदानों को उत्पन्न करने का श्रेय नदियों को ही है। कहीं-कहीं मैदान समुद्र-तट पर भी समुद्र की प्रतिक्रिया से बने हैं, परन्तु ऐसे मैदानों का विस्तार अधिक नहीं है। बड़ी-बड़ी जलधाराएँ जल-मार्गों के लिए भी उपयोग में लाई जाती हैं।

समस्त स्थलखण्ड मे अधिक लम्बे-चौडे मैदान योरप, एशिया (रूस, चीन, भारत और मैसोपटामिया के मैदान बहुत महत्व के हैं) और उत्तरीय अमेरिका मे पाये जाते हैं। अफ्रीका और आस्ट्रेलिया दोनों पठारखण्ड हैं। यहाँ या तो मैदानों का सर्वथा अभाव है, अथवा नदियों की घाटियों में सकीर्ण मैदान पाये जाते हैं। अफ्रीका में नील नदी की घाटी का मैदान बहुत ही महत्व का है। ग्रीनलैण्ड भी पहाड़ी देश है। दक्षिणीय ध्रुव प्रदेश के विषय में भी जहाँ तक ज्ञात हुआ है यही मालूम होता है कि वहाँ पर भी पहाड़ी भूमि ही है।

ससार मे नदियों की उपत्यकाये लगभग अधिकाश समतल मैदान के रूप मे हैं। अधिकाश मैदान नदियों में प्रचुर जल होने के कारण ही महत्व के हैं। मैदानों के नाम भी इसीलिए नदियों के नाम से सयुक्त कर दिये गए हैं। गगा और सिन्धु का मैदान, याग्सीक्याग और ह्वागहो का मैदान, राइन नदी की घाटी, मिसिसिपी का मैदान, अमेजन की घाटी, और नील नदी की घाटी आदि मैदान नदियों के नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

मैदानों में ही सभवत सभ्यता ने पहले-पहल जन्म लिया, और उसका विकास भी नदियों से सिंचित मैदानों में ही हुआ। सिंधु और गगा-यमुना की उपत्यका में भारतीय सभ्यता, दजला-फरात के दोआबे में प्राचीन सुमेरियन और बेबीलोनियन सभ्यता, नील की घाटी में मिस्र की सभ्यता और ह्वागहो-याग्सीक्याङ्ग द्वारा सिंचित चीन के मैदानों में प्राचीन चीन की सभ्यता ने विकास पाया। निस्सदेह, मैदान ही इस पृथ्वी पर मनुष्य की प्रधान लीलाभूमि रहे हैं।

मनुष्य के आर्थिक जीवन पर इन मैदानों का क्या प्रभाव पड़ता है, यह आपको अन्यत्र बताया जायगा।

भारतवर्ष तथा अन्य देशों के स्तनधारी जीव और उनकी रहन-सहन—२

कीटाणु-भक्षक

स्तनधारियों की बहुत सी उपजातियाँ कीटाणु-भक्षक हैं, किन्तु एक समूह में इस प्रकार भोजन करनेवाले इतनी अधिक संख्या में मौजूद हैं कि उनके लिए एक अलग कक्षा नियुक्त हो गई और उनका नाम 'कीटाणु-भक्षक, या इन्सेक्टीवोरा (Insectivora) रक्खा गया है। इनमें से छछूंदर, भाऊचूहे और वृक्ष-वासी छछूंदर या टुपैया (Tupaia) भारतवर्ष में पाये जाते हैं और अन्य सब दूसरे देशों में मिलते हैं। आस्ट्रेलिया और दक्खिणी अमेरिका में इनका एक भी प्रतिनिधि नहीं है। इस उपजाति के अधिकतर जन्तु छोटे, लम्बे मुँहवाले तथा नर्म बालवाले होते हैं। कुछ उपजातियों में शरीर पर काँटे भी होते हैं। इनके शरीर में गन्धदायक गुत्थियाँ होती हैं।

मलाया का उड़नेवाला कीटाणु-भक्षक कोबीगो (Cobego)—कीटाणु-भक्षकों में सबसे अनूठा कोबीगो नाम का एक पशु है, जो मलाया, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, टेनासरिम, और फिलिप्पाइन्स आदि द्वीपों में मिलता है। इसकी खाल शरीर के दोनों तरफ सिर से अगली टाँगों, अगली टाँगों से पिछली टाँगों और पिछली टाँगों से दुम तक फैली रहती है। जब वह अपनी टाँगों और दुम को फैलाता है तो यह खाल छाते की तरह उसके शरीर को हवा में साध लेती है और वह इसी प्रकार फैलाई हुई झिल्ली के सहारे एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक २०० फ़ीट दूर तक हवा में बहता हुआ निकल जाता है।

कोबीगो या उड़नेवाला अर्द्ध-वानर

जो टेनासरिम, मलाया प्रायद्वीप, स्याम तथा निकटवर्ती द्वीपों में पाया जाता है। इसके नीचेवाले सामने के दाँत समस्त जन्तु जगत् में बिलकुल निराले हैं, मानो वे दाँत नहीं बल्कि नन्हीं नन्हीं कंघियाँ हैं। ये अपने हाथ-पैरों को फैलाये हुए हवा में ७० गज़ दूर तक सरकते हुए एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक चले जाते हैं।

उड़नेवाली झिल्ली के अतिरिक्त उसमें अन्य कीटाणु-भक्षकों से एक भेद और है। वह यह है कि यह कीड़े-मकोड़े नहीं खाता, बल्कि पत्तों से अपनी गुजर करता है। इसी कारण इसके दाँत भी अन्य जीवों से भिन्न होते हैं।

छछूँदर—छछूंदर और उसकी दुर्गन्ध से तो सभी लोग अच्छी तरह परिचित हैं। वह रात में नालियों द्वारा घरों में घुस आती है और 'चिट्-चिट्' करती हुई कोनो-कोनों में फिरा करती है। एक बार जहाँ से वह निकल जाती है, अपनी निराली दुर्गन्ध वहाँ छोड़ जाती है। कहावत है कि अपनी बदबू के ही कारण उसको साँप और बिल्ली भी छोड़ देते हैं। धोखे से यदि यह कभी उनके मुँह में

हैं। सामने के दाँत बड़े और छेनी की तरह चौड़े रहते हैं। कीलें होती ही नहीं, उनका स्थान ख़ाली रहता है। डाढ़ें चबाने योग्य होती हैं। उनके दाँत कठोर वस्तुओं को कुतर-कुतरकर काटने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं। इसी लक्षण के कारण उनकी कक्षा का नाम कुतरनेवाले अथवा 'रोडेन्शिया' रक्खा गया है। इनके कृन्तक दन्तों के सदा बढ़ते रहने और घिसने के विषय में हम आपको पहले ही बतला आए हैं। इस श्रेणी के जानवर अपना निर्वाह फल-फूल, अनाज, बीज, जड़ और वृक्षों की छाल पर करते हैं, किन्तु इनमें से कुछ सर्वभक्षी भी हैं।

कुछ कुतरनेवाले जीव ऐसे हैं, जिनमें ऊपर के जबड़े में दो ही कृन्तक दन्त होते हैं, जैसे चूहे-चुहियाँ, गिलहरी, सेही इत्यादि। कुछ ऐसे हैं, जिनके ऊपरी जबड़े में चार कृन्तक होते हैं, जैसे ख़रगोश, खरका और पाइका। चूहा-चुहिया, ख़रगोश, गिलहरी, सेही इत्यादि जीवों से तो अधिकतर भारतवासी भली-भाँति परिचित हैं, इसलिए यहाँ हम दो-चार ऐसे जन्तुओं का ही हाल लिखेंगे जिनको साधारण लोग न जानते हों। किन्तु इससे पहले आपका ध्यान इस बात की ओर भी आकृष्ट करना चाहते हैं कि ये छोटे-छोटे पशु हमें कितना नुक़सान पहुँचाते हैं।

कुतरनेवाले जन्तुओं में चूहे सबसे अधिक हानिकारी हैं

नाना प्रकार के चूहे—भूरे, काले, घरेलू, खेत के या जंगल के—सभी हमारे काम की वस्तुओं को खाते और नष्ट करते हैं। सब खेती करनेवाले जानते हैं कि चूहे और सेही आलू और शकरकंद आदि तक खोदकर खा जाते हैं। सेही फल और नाज के पौधे तक काटकर गिरा देते हैं और गिलहरी फलों को कुचल डालती है। परन्तु आप यह जानकर स्तम्भित रह जायँगे कि अकेला भूरा चूहा ही कितना नुक़सान हमें पहुँचाता है। भारतीय घरेलू भूरा चूहा बहुसन्तानी जीव है। तीन मास की आयु से ही इसकी मादा बच्चे देने लगती है और प्रतिवर्ष कम से-कम तीन बार उसके बच्चे पैदा होते हैं। प्रत्येक बार वह १०-१२ बच्चों को जन्म देती है। इससे आप अनुमान करें तो एक जोड़े के सन्तान की संख्या तीन वर्ष में २ करोड़ से भी अधिक हो जायगी! यदि एक चूहा प्रतिवर्ष एक सेर अनाज खा डाले तो इन २ करोड़ चूहों के लिए ५ लाख मन अनाज चाहिए। इतने अनाज का मूल्य १० सेर प्रति रुपया के हिसाब से ५०,००० रुपए साल हुआ!

हिन्द का हिरनामूसा

जो मध्य एशिया, लंका, पूर्वी दक्षिणी योरप और अफ्रीका में भी मिलता है। इसका शरीर ६-७ इंच लम्बा और दुम ८ इंच के क़रीब होती है। कंगारू की तरह यह भी पिछले पैरों पर बैठ जाता है। दुम के सहारे उछलकर ऐसे वेग से छलाँगें मारता है मानों उड़ा जा रहा हो। कहते हैं कि वह तीव्रगामी घोड़े की गति से भाग सकता है। अँधेरा होने पर वह अपने बिल से निकलकर भोजन की खोज में कूदता-फिरता है।

हिसाब लगाया गया है कि फ्रांस में इस छोटे-से जन्तु द्वारा साल में १२ करोड़ रुपए का नुक़सान होता है।

मेजर कुनहार्ट ने एक बार गणना की थी कि २० वर्ष में जितना ख़र्च भारत की सारी सेना पर हुआ उससे दुगना चूहों पर करना पड़ा। यह कैसे? सुनिए—

(१) ६,०००,०००,०००) रु० मूल्य की वस्तुएँ चूहों ने खा डालीं या नष्ट कर दीं।

(२) ६,०३०,०००,०००) रु० की आर्थिक हानि प्लेग की बीमारी से मनुष्यों की अकाल मृत्यु होने तथा रोगी होकर काम के अयोग्य हो जाने से हुई।

(३) ३९५,०००,०००) रु० प्लेग से जनता की रक्षा करने के उपायों में व्यय हुए। इन सबका जोड़ १२,४२५,०००,०००) रु० होता है। क्या आप स्वप्न में भी कल्पना कर सकते थे कि ये नन्हे-से जीव हमारे कैसे भारी शत्रु हैं? ये हमारे साथ कैसा अत्याचार किया करते हैं! वे अपने छोटे क़द, फुर्तीले शरीर और भूमि के भीतर रहने के कारण बचे रहते हैं। हम चाहे कितना ही उपाय करें, लेकिन फिर भी उनकी आबादी अधिक कम नहीं कर पाते।

कुतरनेवाले जीव सदा हमको हानि ही नहीं पहुँचाते हैं, उनसे मनुष्यों को कुछ फायदा भी होता है। प्राचीन मनुष्य उनमें से सभी को खाता रहा है और अमेरिका के प्राचीन निवासी—रेड इंडियन—अब भी ऐसा ही करते हैं। गिलहरी और ख़रगोश उन

लोगों में बराबर खाये जाते हैं। सेही के कॉटों के वे आभूषण बनाते हैं। कस्तूरी चूहे और बीवर के नर्म बाल आजकल भी बहुत से कामों में आते हैं और इनका व्यापार भी होता है। हमारे देश में भी जंगली चूहा, खरगोश और सेही खाये जाते हैं।

कुतरनेवाले जीवों का दूसरा समूह—गिलहरियाँ—गिलहरियों में से बहुत सी ऐसी हैं जो अपना अधिक समय वृक्षों पर ही काटती हैं। कुछ पहाड़ी चट्टानों पर रहना पसन्द करती हैं, जैसे चिपमुक (Chipmunk)। कुछ ऐसी भी हैं जो भूमि पर ही बिलों में रहती हैं और कुछ उड़नेवाली गिलहरियाँ भी हैं जो कभी-कभी एक पेड से दूसरे पेड तक हवा में उडकर पहुँच जाती हैं। गिलहरियों की चंचलता और फुर्ती प्रसिद्ध है। थोड़ी देर भी वे एक ठिकाने पर विश्राम करते नहीं देखी जातीं। 'चिट्-चिट्', 'चुक चुक' करती हुई कभी यहाँ, कभी वहाँ, कभी इस डाल पर, कभी उस डाल पर कूदती-फुदकती नजर आती हैं। एक डाल से दूसरी डाल पर कैसे अचूक निशाने से वे कूद जाती हैं। उसमें उन्हें कभी भी धोखा नहीं होता। वे कभी कभी चिडियो के अडे भी लूटकर खा जाती हैं। कडे से कडे फलों के छिलके पल भर में अपने तेज दाँतो से कुतर डालती हैं। अगले पजो में पकडकर भोजन कुतरती हुई वे कैसी सुन्दर लगती हैं! अपने बच्चों के रहने के लिए वे छोटी-छोटी टहनियों और पत्तियो के घोसले बना लेती हैं।
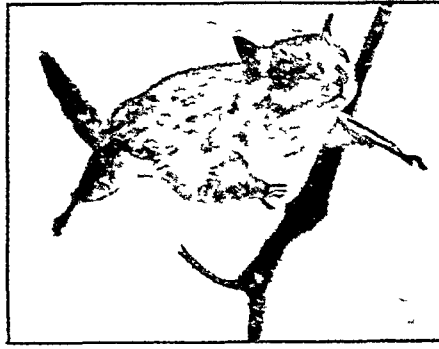
ब्रह्मा की छोटी उड़नेवाली गिलहरी

जो उडने के लिए बिलकुल तैयार है। उसके फैले हुए हाथ पैर और चौडी उठी हुई दुम देखिए। वह चिडियों की तरह तो नहीं उड पाती, लेकिन वह हवा में तैरती हुई-सी लम्बे-लम्बे फासलो को बडी ही सरलता से पार करके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर पहुँच जाती है।

उड़नेवाली गिलहरियाँ—भारतवर्ष में धारीदार गिलहरी जंगली गिलहरी और कलाट गिलहरी के अलावा उडनेवाली भूरी गिलहरियाँ भी मिलती हैं। उत्तरी भारत में एक जाति की उडनेवाली गिलहरी (Eupetaurus) मिलती है और दक्षिण के प्रायद्वीप में दूसरी ही जाति की एक गिलहरी (Petaurista) होती है। पिछली जाति की उड़नेवाली गिलहरियाँ लका से जापान तक के सभी देशों में तथा द्वीपों में मिलती हैं। ये सब १८-२० इंच लम्बी हुआ करती हैं, कुछ छोटे कद की भी उडनेवाली गिलहरियाँ हैं। एक तो स्कैन्डीनेविया और रूस से लेकर जापान तक फैली हुई है। किन्तु सबसे छोटी उडनेवाली गिलहरी, जो बोर्नियो में मिलती है, केवल चूहे के बराबर होती है। ये अजीब गिलहरियाँ जगलों में ऊँचे-ऊँचे वृक्षों पर घने भागो में निवास करती हैं। सन्ध्या समय और रात्रि में वे खेल-कूद करने को बाहर निकलती हैं। वे अंधेरे में अच्छी तरह देख सकती हैं। दिन भर वे गुड़ी मुड़ी हो वृक्ष की किसी खोह या अपने घोंसले में पडी सोया करती हैं। भूमि पर वे बहुत कम आती हैं और जब आती हैं तो उछल-उछलकर चल पाती हैं। एक पेड से जब वे दूसरे पेड पर जाना चाहती हैं तो पेड की सबसे ऊँची डाल पर चढकर हवा में कूद पडती हैं और तैरती हुई दूसरे पेड़ की किसी शाखा पर जा बैठती हैं। जौर्डन साहब ने अपनी किताब में भारतीय प्रायद्वीप की उड़नेवाली गिलहरी के बारे में लिखा है —

"मैंने अनेकों बार उन्हें उडते देखा है। एक बार एक गिलहरी एक पेड से दूसरे पर उडी और उसने ६० गज से कुछ अधिक फ़ासला पार कर लिया! दूसरे पेड के पास पहुँचते पहुँचते वह भूमि से कुछ ही ऊँची रह गई थी, इसलिए उसे उडान के अन्त में एक नीचे की शाखा पर पहुँचने के लिए ऊपर को उठना पड़ा। इस प्रकार गिलहरियों को ऊपर उठते हुए मैंने और कई बार देखा है।"

इन सुन्दर स्वप्निल आँखोंवाले वनवासी अनाथ जीवों के शरीर में उडने के लिए दोनों बगल कलाई से टखने तक लटकती हुई खाल होती है, जो आगे की ओर कलाई से निकले हुए एक छड या काँटे से चिपटी रहती है। जब गिलहरी हवा में उतरना चाहती है तो अपनी टाँगों को फैला लेती है, जिससे यह लटकनेवाली खाल छाते की तरह फैल जाय और उसके शरीर को हवा में साधे रहे। अपनी चौडी चपटी दुम से भी वह उड़ने में सहायता लेती है।

कुतरनेवालों में सबसे बडा और चतुर जंतु—बीवर—बीवर मनुष्य के अतिरिक्त स्तनधारियों में सबसे प्रसिद्ध

सहवासप्रिय जन्तु गिना जाता है। एक ही घर में कई बीवर मिलकर रहते हैं और एक ही स्थान में उनके बहुत-से घर हुआ करते हैं। इस तरह उनके दल-के-दल बस्तियों में निवास करते हैं। बीवर के जीवन की सभी मनोरंजक बातों का हाल लिखा जाय तो एक किताब बन जाय। उसकी शरीर-रचना, स्वभाव, परिश्रमशीलता, सहयोग, सहकारिता सभी ध्यान देने योग्य बातें हैं।

बीवर की एक उप-जाति उत्तरी अमेरिका और दूसरी योरप में मिलती है। दोनों ही महाद्वीपों में अब इनकी संख्या बहुत कम हो गई है, क्योंकि कुछ समय पहले बीवर के समूर और खाल की बड़ी माँग थी। बीवर की खाल टोप बनाने के काम में अधिकता से आती थी। इसका कुछ अन्दाज हमें इस बात से हो सकता है कि लगभग १७५ वर्ष पूर्व कनाडा के क्यूबेक नगर से १ लाख से अधिक खालें बाहर भेजी जाती थीं। आश्चर्य तो यह है कि मनुष्य के हाथ से ऐसा विध्वंस होने पर भी बीवर जाति पृथ्वी पर क़ायम रही! इसका एक मुख्य कारण यही समझ में आता है कि वे छिप-कर रहते हैं। अब तो कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह नियम बना दिया है कि उन्हें कोई न मारे। बीवर सदा अपना घर नदी के तट पर ही बनाता है और प्रति वर्ष वह अपने गृह को बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि उनके घर का व्यास २० फ़ीट या उससे भी अधिक हो जाता है और वह बाहर से देखने में गुम्बद के समान दिखलाई पड़ता है। छेनी जैसे दाँतों से वह वृक्षों की लकड़ियों और टहनियों को मनमानी लम्बाई की काटकर घर बनाने के लिए लाता है। उन्हें वह एक दूसरे के ऊपर ऐसा फँसाकर लगाता और मिट्टी से बाँध देता है कि
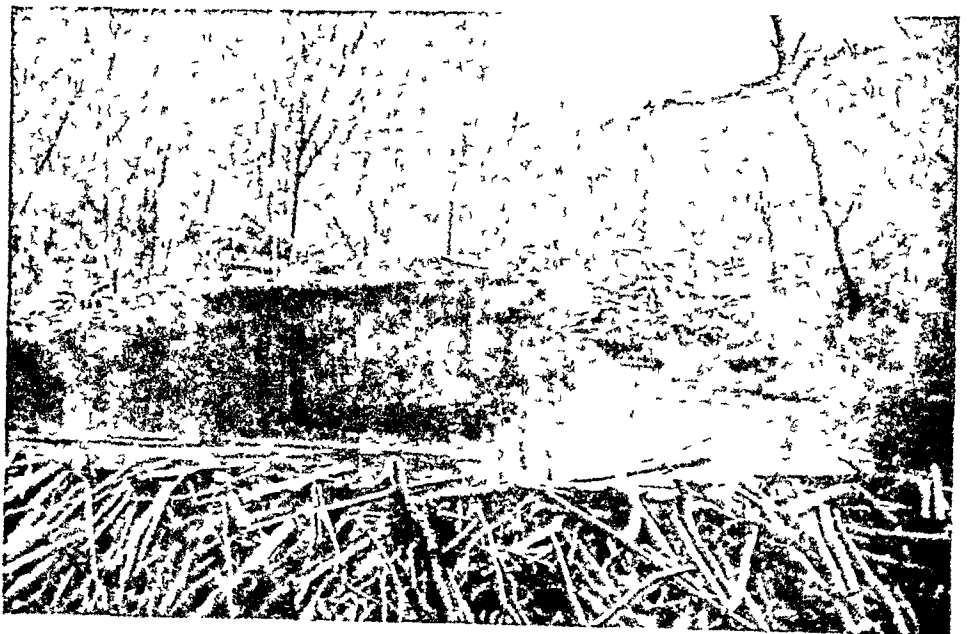
बीवर एक अनोखा जन्तु है। यह बुद्धि और सहयोग से बड़े कठिन कार्य करने में सफलता प्राप्त कर लेता है। यह अपना घर पानी के भीतर लकड़ी और पेड़ काटकर बनाता है। नदी या तालाब के पानी को बाँधकर (दे० नीचे की तस्वीर) यह किस प्रकार घर के चारों ओर पानी की सतह को ऊँचा रखता है, इसका मनोरंजक विवरण प्रस्तुत लेख में देखिए।
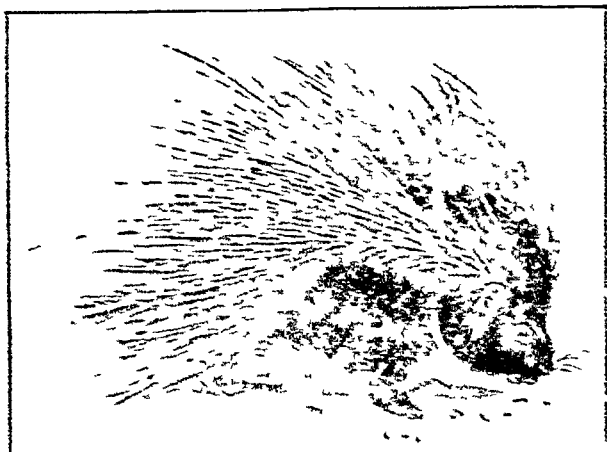
कुतरनेवाले जीवों में सेही कदाचित् सबसे विचित्र और पृथक् जीव है। मूर्ख और आलसी होने पर भी इसको आक्रमण का भय बिलकुल ही नहीं होता, क्योंकि इसकी सारी पीठ और दुम पर लम्बे, कड़े और चुभनेवाले काँटे होते हैं। खटका या आहट होने पर ये काँटे बिलकुल सीधे खड़े हो जाते हैं। शत्रु के बिलकुल समीप आ जाने पर सेही अपनी दुम को ऐसा झटका देता है कि काँटे शत्रु के मुँह पर चुभ जाते हैं। काँटे अपने आँकड़ों के कारण शत्रु के मांस में ऐसे गड़ जाते हैं कि उनका निकलना बड़ा ही दुष्कर कार्य हो जाता है। सेही जब बाहर चलता है तो उसके काँटे खड़खड़ाते जाते हैं मानों वह अपने आस पास के जीवों को अपनी भयंकर उपस्थिति की सूचना देता जा रहा हो।

गुम्बद के ऊपर से वर्षा का एक बूँद भी घर अन्दर नहीं जा पाता। घर तो उसका पानी की सतह के ऊपर रहता है, किन्तु बाहर जाने के लिए वह उसमें से एक द्वार इस तरीके से बनाता है कि वह सदा जल के भीतर डूबा रहे। इसी मार्ग से आवश्यकता पड़ने पर वह जल में प्रवेश करता है और भोजन-सामग्री घर में पहुँचाता है। पानी के भीतर-वाले इस मार्ग की उपयुक्तता के लिए आवश्यक है कि उसके द्वार के सामने बराबर जल भरा रहे तथा जाड़े में जब बर्फ जमने लगे तब जल इतना गहरा रहे कि बर्फ भी उस द्वार तक पहुँचकर उसे बन्द न कर सके, साथ ही गर्मी में जल इतना कम न हो जाय कि द्वार खुल जाय।

बीवर की चतुराई इस बात से प्रकट होती है कि वह अपना घर बनाने के लिए ऐसी जगह ढूँढ़ता है जहाँ जल सदैव सुलभ हो। किन्तु यदि उसे कोई ऐसा स्थान नहीं मिलता तो वह पानी को रोके रखने के लिए पहले से बाँध बना लेता है। बाँध तैयार हो जाने पर जब गहरा जल भर जाता है तब वह अपनी गृह-निर्माण क्रिया आरम्भ करता है। मि० मॉर्गन ने अमेरिका के बीवर के विषय में लिखा है—"बीवर के घर बनाने में सबसे मुख्य, बड़ा और मेहनत का काम बाँध बनाना ही है, जिसमें अधिक परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता होती है।' बाँध के बनाने में बीवर ऐसी चतुराई से काम लेता है जैसे वह इंजीनियरी की अच्छी-से-अच्छी रीतियों से परिचित हो। "नदी के प्रवाह की ओर बाँध का किनारा वह ढालू रखता है और दूसरी ओर का सीधा। पानी के ज़ोर को तोड़ने के लिए इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं। इससे भी अधिक जल-विज्ञान का ज्ञान इस बात से विदित होता है कि साधारण नदियों में बीवर बाँध को सीधी रेखा में बनाता है, किन्तु जब बाँध बहुत लम्बा या ऐसी जगह बनाना पड़े जहाँ ढाल के कारण जल का बहाव तेज़ हो तो बाँध में ऊपर की ओर थोड़ी-सी गोलाई दे देता है जिससे बाँध दृढ़ बना रहता है और जल का ज़ोर टूट जाता है!" कभी-कभी बाँधों के पीछे काफ़ी बड़े तालाब और झीलें बन जाती हैं, जिनमें वे अपने गाँव बसाते हैं। वहीं तैरकर वे अपना भोजन भी सुगमतापूर्वक खोज लेते हैं। बाँध बनाने के लिए किनारे पर एक फुट से भी अधिक व्यास के पेड़ों को वह पिछली टाँगों पर खड़े होकर अपने तीक्ष्ण दाँतों से चारों ओर कुतर-कुतरकर गिरा डालता है। कहा जाता है कि बीवर इन पेड़ों को इस प्रकार कुतरते हैं कि वे जल ही में या जिस ओर वे चाहें उसी ओर गिरें! दो-तीन रातों ही के परिश्रम से एक मोटा बीवर छोटा-मोटा पेड़ गिरा डालता है। वृक्ष के गिर जाने पर वे उसके छोटे-छोटे टुकड़े काट लेते हैं।

यदि वृक्ष किनारे से दूर होते हैं तो बीवर और भी चमत्कार दिखाते हैं। वे दूर-दूर तक लम्बी नहरें खोद डालते हैं, और काटी हुई टहनियों को घसीटकर किनारे पर लाकर जल में गिरा देते हैं और उन्हें बहाकर उस स्थान तक पहुँचाते हैं जहाँ बाँध का निर्माण करना निश्चित किया रहता है! निश्चित स्थान पर पहुँचकर सैकड़ों बीवरों को इन लकड़ियों को चुनने, दबाने, खड़ा करने या एक दूसरे में फँसाने में बड़ी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। बिना किसी निर्देश के दल का प्रत्येक जन्तु कैसे अपना-अपना कर्तव्य

निभाता है यह हम नहीं जान सकते। पशु-बुद्धि के अनेकों आश्चर्यजनक कर्त्तव्यों में से एक यह भी है।

असली उड़नेवाले स्तनपोषी—चमगादड़

स्तनपोषी समुदाय में चमगादड़ ही ऐसे प्राणी हैं, जो पक्षियों के सदृश वास्तव में उड़ सकते हैं। प्रकृति ने उन्हें उड़ने के अवयव भी प्रदान किए हैं। वे पक्षी नहीं हैं, क्योंकि उनके मुँह में दाँत होते हैं, और उनमें बच्चों का पालन करने के लिए मादाओं के दो स्तन होते हैं। इनके उड़ने के अंगों में भी चिड़ियों की तरह पर नहीं होते। उड़ने के लिए इनके अगले अंग की चार उँगलियाँ छाते की तीलियों की तरह लम्बी हो गई हैं और शरीर के बगल से लेकर उनके छोर तक दोनों ओर वे पतली खाल या झिल्ली से मढ़ी रहती हैं। हाथों के अँगूठे छोटे होते हैं और उन पर झिल्ली नहीं होती। छोर पर पकड़ने के लिए नख होता है। टाँगों की उँगलियों में भी मज़बूत नाख़ून होते हैं, जिनके सहारे वे उल्टे लटक जाते हैं। लटकते समय या बैठने पर उड़नेवाली झिल्ली छाते की तरह बन्द होकर उनके शरीर के चारों ओर लिपट जाती है।

चमगादड़ यथासम्भव भूमि पर नहीं उतरता, क्योंकि ज़मीन पर बैठ जाने पर न तो वह ठीक से चल सकता है और न आसानी से उड़ सकता है। सभी जानते हैं कि वह
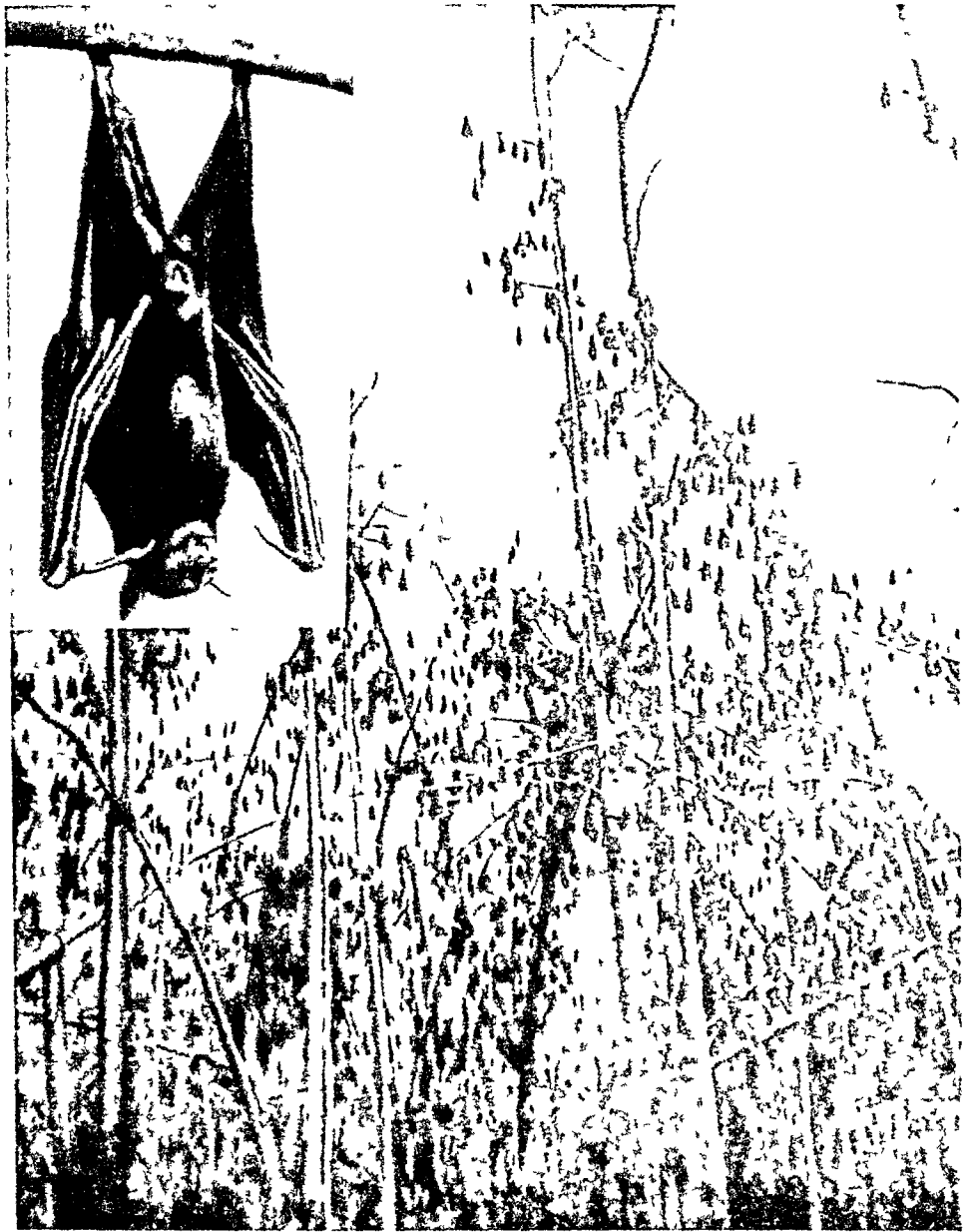
क्या आप पहचान सकते हैं कि इस पेड़ में क्या फला हुआ है?

यह दक्षिणी आस्ट्रेलिया में फलाहारी चमगादड़ या उड़नेवाली लोमड़ियों के एक डेरे का चित्र है, जिसमें सैंकड़ों चमगादड़ फल की तरह लटकते हुए दिखलाई पड़ रहे हैं। इस चित्र में केवल थोड़े ही से पेड़ नज़र आ रहे हैं। पूरा डेरा तो २५ एकड़ तक फैला हुआ है। कितने चमगादड़ इस एक जगह पर विश्राम करते होंगे, इसका अनुमान आप स्वयं कर लीजिए। सन्ध्या समय जब ये जगते हैं और भोजन की खोज में उड़ते हैं तो उनके झुंड के झुंड आसमान पर छा जाते हैं और उनके उड़ने की आवाज़ दूर-दूर तक सुनाई देती है।
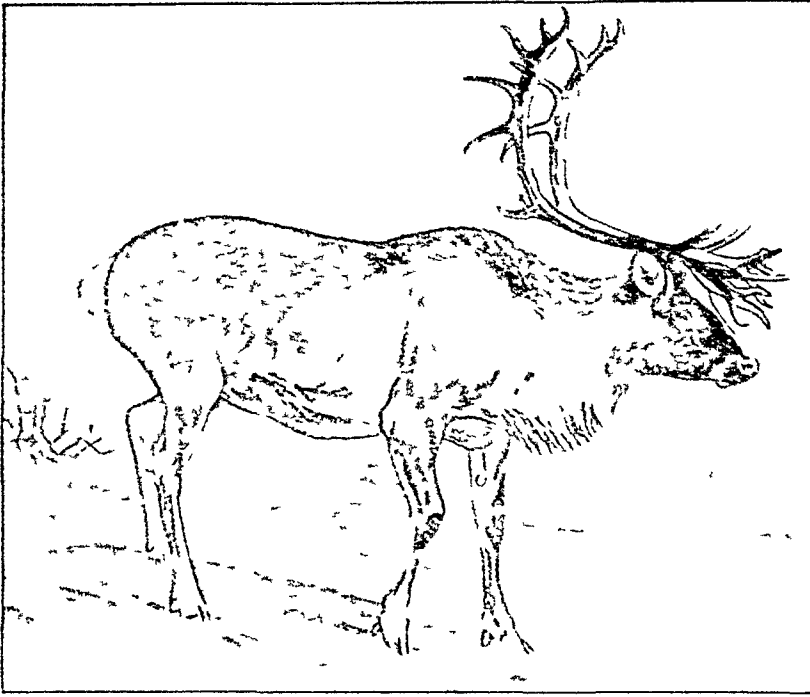
रेनडियर एस्किमो को मास, दूध और खाल तो देता ही है, लेकिन इसके अलावा वह घोडे की तरह बोझा ढोने का भी काम करता है। भारत में गाय, बैल और घोडा मिलकर जो काम करते है वे सब काम रेनडियर अकेला ही कर देता है। इसका क्षेत्र केवल उत्तरी ध्रुव प्रदेशों तक ही सीमित है और उस वनस्पति-हीन प्रदेश में केवल जमी हुई काई को ही खाकर यह अपनी गुज़र कर लेता है।

अंधेरे में ही निकलता है। जब अन्य साधारण पशु और पक्षी विश्राम करते हैं तब इसके जागरण का समय होता है। दिन भर वह अपना मुँह छिपाये किसी अन्धेरी गुफा या जन-शून्य गृह की छतों से या किसी पेड़ के खोखलों में अथवा घने वृक्षों की डालियों में उल्टा लटका रहता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उसकी आँखें इतनी निर्बल होती हैं कि सूर्य के प्रकाश में खुल ही नहीं सकतीं। चमगादड़ों की दो जातियाँ हैं—एक कीटभोजी और दूसरी फलाहारी। कीटभोजी साधारणत छोटे होते हैं और पृथ्वी के प्राय सभी भागों में पाये जाते हैं। उनकी लगभग ६०० उपजातियों का अब तक पता चला है। इनके कान बड़े होते हैं और कुछ जातियों में नथुनों के चारो ओर पत्ती के आकार की-सी झिल्ली लगी रहती है। यही झिल्ली उनकी घ्राण-शक्ति को विशेष रूप से तीक्ष्ण करती है। फलाहारी चमगादड़ बड़े होते हैं और पुरानी दुनिया के गर्म भागों में ही निवास करते हैं। इनका थूथन लोमड़ी के समान लम्बा होता है और इनके परों का फैलाव ५ फ़ीट तक पहुँच जाता है। इनके कान बहुत छोटे होते हैं और दुम भी बहुत छोटी-सी होती है या होती ही नहीं। वे झुंड में रहते हैं और दिन भर पेड़ों में ही उल्टे लटके रहते हैं।

ये अधिकतर एक ही वश में सम्मिलित किए जाते हैं और उन्हें लोग अक्सर उड़नेवाली लोमड़ी भी कहते हैं। भारत, ब्रह्मा और लका में टीरोपस जाति का जो चमगादड़ पाया जाता है उसे उत्तरी भारत में बादून और दक्षिणी भारत में गदल कहते हैं।

शाकाहारी खुरवाले स्तनपोषी—अंगुलेटा

इन स्तनपोषियों का मुख्य लक्षण यह है कि इनकी उँगलियाँ खुर से मढ़ी होती हैं या खुर-जैसे नखों से सुरक्षित रहती हैं। इनमें पेड़ पर चढ़नेवाले हाइरेक्स (Hyrax) के सिवाय शेष सब स्थल वासी हैं और एक जगह से भाग या चलकर दूसरी जगह पहुँच जाते हैं। खुरवाले सभी जीव शाकाहारी होते हैं। पहले हाइरेक्स और हाथी इस खुर-वाली श्रेणी से अलग गिने जाते थे, किन्तु अब वे भी इसी कक्षा में सम्मिलित कर लिये गए हैं। अत इस कक्षा के जीव इस प्रकार चार उपकक्षाओं में विभाजित किये जाते हैं —

(१) सम उँगलियोंवाले (Artiodactyla)—इनमे गाय-बैल भैंस आदि ढोर, भेड़-बकरी, हिरन, चिकारा, नीलगाय, शैमोआ, लामा, ऊँट, जिराफ़, सुअर और दरियाई घोड़ा आदि शामिल हैं।

(२) विषम उँगलियोंवाले (Perissodactyla)—जैसे घोड़ा, गधा, जेबरा, टेपीर और गैंडा।

(३) हाइरेक्स या डासी (Hyracoidea)—जो सिर्फ अफ्रीका मे ही पाये जाते हैं और अपने क़द तथा शक्ल मे कुतरनेवाले जीवों से मिलते हैं, किन्तु जिनके दाँत और मस्तिष्क विषम उँगलियोंवाले जीवों से मिलते हैं। ये जीव हाथी और गैंडे के बीच के समझे जाते हैं। स्थानाभाव के कारण इनका इससे अधिक हाल हम यहाँ देने मे असमर्थ हैं।

(४) सूँडवाले हाथी (Proboscidea)।

मनुष्य और पालतू खुरवाले जन्तुओ का सम्बन्ध—ये हमारे लिए सारे जन्तु-जगत् मे सबसे लाभदायक हैं। हमारी कड़ी मेहनत मे ये हिस्सा बॉट लेते हैं और हमे इनसे ही भोजन और दस्तकारी की सामग्री प्राप्त होती है। जब से मनुष्य ने आधुनिक रीति से खेती करना सीखा तभी से उसने बैल, भैंसों, घोड़ों और खच्चरों से अपने हल चलवाए, उन्हें गाड़ी मे भी जोता और उनसे बोझा भी ढुलवाया। घरेलू जानवरों मे ढोरों ही ने मनुष्य के व्यापारिक उद्योगों पर सबसे अधिक प्रभाव डाला। उनका मास और मास से बनी हुई वस्तुएँ सर्वोत्तम मानी गईं। ये अन्य जानवरों से दूध, दही, मक्खन, घी और पनीर बहुत ज्यादा देते हैं। इनकी मज़बूत खालों से उम्दा चमड़ा मिलता है, साथ ही इनकी मेहनत मनुष्य का काम हलका बना देती है।

भोजन-सामग्री देनेवाले जीव—दूध और उसकी बनी हुई चीज़ें जगत् के सभी भागों मे मानव-आहार का प्रधान अग हैं। गौमाता ही दूध देनेवाले पशुओ मे सर्वश्रेष्ठ है, लेकिन बकरी, लामा, ऊँट और उत्तरी बारहसिंघों (रेनडियर) का दूध भी अन्य देशों मे यथेष्ट परिमाण मे काम मे लाया जाता है। मनुष्य के सब भोजनो में दूध ही ऐसी चीज है, जो अकेला ही उसके जीवन को क़ायम रख सकता है। प्रारम्भिक बाल्यावस्था से ही हम उसका सेवन कर सकते हैं। प्रकृति का प्रबन्ध ऐसा अच्छा है कि पृथ्वी के प्रत्येक भाग मे कोई न-कोई दूध देनेवाला जानवर ज़रूर मिलता है। पहाड़ों पर बसनेवालों को भेड़ और बकरी, मैदान मे रहनेवालों को गाय, रेगिस्तान के लोगों को ऊँट और अत्यन्त ठडे बर्फीले प्रदेशों के निवासियों को रेनडियर से दूध मिलता है।

दूध-दही के लिए तो हम भारतवासी गाय भैंसों को पालते ही हैं, किन्तु कदाचित् आपको इस बात का अनुमान न होगा

आस्ट्रेलिया की जगत्-विख्यात् मेरीनो नामक भेड़ और उसका झुंड
यह अपने ऊन के ही कारण बहुत कीमती समझी जाती है।

कि मास के लिए भी जानवर कितनी बड़ी सख्या में पाले जाते हैं। सम उँगलियोंवाले पशुओं से दुनिया के गोश्त की माँग का सबसे बड़ा हिस्सा पूरा होता है। भेड-बकरी के अलावा गाय और सुअर ही मास देनेवाले मुख्य जानवर हैं। सयुक्त-राज्य अमेरिका मे हिसाब लगाया गया है कि हर साल २० करोड़ से अधिक मवेशी, १ करोड़ ५० लाख से अधिक भेडें और बकरियाँ, और ८ करोड से भी अधिक सुअर वहाँ मारे जाते हैं। ससार मे सबसे अधिक मवेशी हिन्दुस्तान, सयुक्त-राज्य अमेरिका, आर्जेन्टाइन, रूस और ब्राजील में पाये जाते हैं। वे देश, जहाँ भेडे अधिक मिलती हैं, सयुक्त-राज्य अमेरिका, ब्राजील, जर्मनी और आस्ट्रेलिया हैं। सुअर पालनेवाले देशों मे सबसे आगे आस्ट्रेलिया, रूस, सयुक्त-राज्य अमेरिका, आर्जेन्टाइन और दक्षिणी अफ्रीका का स्थान है। इनके अलावा और भी खुरवाले पशु भिन्न-भिन्न देशों में पाये जाते हैं। दक्षिणी अमेरिका मे ऊँट के छोटे भाई-बन्धु लामा और अलपका का गोश्त भी खाया जाता है। उत्तरी ध्रुव-प्रदेशों के निवासी रेनडियर का ही मास खा लेते हैं। रेनडियर पहले अलास्का में नहीं पाया जाता था। सयुक्त-राज्य अमेरिका की सरकार ने एस्किमो लोगों के फायदे के लिए सन् १८७९ में साइबीरिया से ५०० रेनडियर ले जाकर वहाँ छुड़वा दिये थे। उनकी सख्या वहाँ अब १ लाख से भी अधिक हो गई है और अब वे उस देश के ही लिए नहीं बल्कि और देशों के लिए भी मास भेजते हैं। योरप और आस्ट्रेलिया में ख़रगोश भी अब मास देनेवालों में से एक मुख्य जीव है।

प्रागैतिहासिक मनुष्य जगली घोड़ों का शिकार किया करता था, क्योंकि जगली घोडे का मास ही उसका मुख्य आहार था। पाषाण काल के मनुष्यों की एक गुफा के द्वार के सामने क़रीब १ लाख ऐसे ही जगली घोड़ों की हड्डियाँ मिली हैं। दो दीवाल की शक्ल के ढेर लगे हुए थे, जिनमे से एक १५० फीट लम्बा और १० फीट ऊँचा था तथा दूसरा ४० फीट लम्बा और १० फीट ऊँचा था।

खाल, ऊन और बाल देनेवाले जानवर—बहुत दिनों से मनुष्य जानवरों की खालों का प्रयोग करता आया है। मनुष्य ने अपना शरीर ढँकने के लिए सबसे पहले खाल को ही पहना था। आजकल जो जानवर मास के लिए मारे जाते हैं, उन्हीं की खालें विशेष रूप से काम में लाई जाती हैं। उन जगली या घरेलू जानवरों की खालों का भी प्रयोग किया जाता है जो खाये नहीं जाते। कमाने और साफ किये जाने के बाद खालों से वस्त्र, जूते, ज़ीन, साज़, पेटियाँ, किताबों की जिल्द, सूटकेस तथा सैकड़ों ही और चीजे बनाई जाती हैं। मनुष्य ने खाल पाने के लिए कितना अत्याचार किया है, इसका एक ही उदाहरण यहाँ सुन लीजिए। अमेरिका में गृह युद्ध के पश्चात् जब 'यूनियन पैसेफिक रेलरोड' बन गई और सभ्य गोरी चमड़ीवाले भीतरी मैदानों में सुविधापूर्वक जाने लगे तो वहाँ अधिकता से मिलनेवाले बिसन नामक भैंसे का उन्होंने इस निर्दयता से शिकार किया कि १५ वर्ष के अन्दर उस 'रेलरोड' के दोनों ओर दूर तक बिसन का नाम भी न रहा। लिखा हुआ है कि सन् १८७६ मे केवल फोर्ट बेन्टन के बन्दरगाह से ८० हजार खाले बाहर भेजी गई थीं। उनकी सख्या उस समय से लगातार कम होती गई, यहाँ तक कि १८८४ मे एक भी खाल बाहर नही भेजी जा सकी।

जानवरों के बालों से भी हमारे कई काम निकलते हैं। मोटे बाल पलँग और कुर्सियों के गद्दों और गद्दियों में भरे जाते हैं। उन्हें जमाकर नमदे बनाये जाते हैं और बडे-बडे क़ीमती क़ालीन भी उन्हीं से तैयार किए जाते हैं। नर्म बाल से (जिसे ऊन कहते हैं) कपडे बनते हैं। ऊनी कपडे मजबूत तो होते ही हैं, इसके अलावा वे हमको सर्दी और पानी से भी बचाते हैं। भेड़ की ऊन सर्वोत्तम तथा सबसे उपयोगी है। इसके अलावा बकरा, अलपका और ऊँट से भी ऊन मिलती है। कुछ जातियों की घरेलू बकरियाँ दूध देने के लिए पाली जाती हैं और कुछ अपनी नर्म ऊन के लिए ही। काश्मीर और अगोरा के बकरे अपनी ऊन के लिए बहुत क़ीमती समझे जाते हैं। जगत्-विख्यात् काश्मीरी दुशाले और सर्वोत्तम पश्मीने इन्हीं के नर्म ऊन से ही बनते हैं।

मास, खाल और बाल के अलावा इन जीवों की हड्डी, सींग, खुर और आँतों से भी हमारी कई काम की वस्तुएँ तैयार होती हैं। हड्डियों का आटा खेतों को अधिक उपजाऊ बनाने के काम आता है। सींग और खुर से सरेस, ग्लू और जिलेटिन बनती हैं। सींग से खिलौने, क़लम, छड़ी, डिबियाँ आदि और भी बहुत-सी चीजे बनाई जाती हैं। हमारे देश में कटक सींग की वस्तुएँ बनाने के लिए मशहूर है। भेड की आँतों से उम्दा क़िस्म की ताँत तैयार की जाती है, जो टेनिस के बल्लों मे लगाई जाती है।

बोझा ढोनेवाले जन्तु—इनमे सबसे पहला स्थान घोडों का है, जो सूखी जमीन पर तेज़ भागने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं। अब जगली घोडे बहुत ही कम देशों में पाये जाते हैं। कहा जाता है कि पहले-पहल एशिया में ही

घोड़े पालतू बनाए गए थे। उनकी अब ५० से भी अधिक नस्लें हैं। टट्टू हल्के कार्यों या बच्चों की सवारी के उपयुक्त है। तेज दौड़नेवाले घोड़ों की नस्लें और बोझ ढोने या गाड़ी खींचनेवाले घोड़ों की नस्लें अलग-अलग हैं।

गधे एशिया और अफ्रीका में ही मिलते हैं और ज्यादातर वे खुश्क जगहों या रेगिस्तानों में ही प्रसन्न रहते हैं। घोड़ों की अपेक्षा वे अधिक सहनशील होते हैं तथा घोड़े से बहुत कम खुराक पानी पर ही निर्वाह कर लेते हैं। धोबी के लिए गधा कितने महत्त्व की वस्तु है यह सभी जानते हैं।

खच्चर एक दोगला जानवर है, जो घोड़े और गधे के मेल का फल है। वह घोड़े के बराबर तेज तो नहीं होता परन्तु अपने पैरों का बड़ा पक्का होता है। इसीलिए वह पहाड़ों पर चढ़ने के लिए अधिक काम का है। दुनिया के गर्म प्रदेशों में वह बोझा ढोने का बहुत काम करता है।

हाथी से राजा-महाराजाओं की सवारी और शोभा के अतिरिक्त भारी चीजों को ढोने का काम भी कराया जाता है। उसकी महान् शक्ति और सूँड़ दोनों ही उसकी मुख्य पूँजियाँ हैं, जिनकी सहायता से वह हमारे लिए वनों में पेड़ उखाड़ता है और भारी-भारी लट्ठे एक जगह से दूसरी जगह ले जाता है। हाथी का विशेष हाल हम बाद में लिखेंगे।

ऊँट एशिया और अफ्रीका के रेगिस्तानों में घोड़े का ही प्रयोजन सिद्ध करता है। प्रकृति ने उसे बालुकामय प्रदेशों के ही बिलकुल उपयुक्त बनाया है। उसके पैर टीले, चौड़े और गुदगुदे होने के कारण नर्म बालू में गहरे नहीं धँसते। उसके नथुनों पर लटकनेवाला मास आँधी या तूफान से उड़नेवाली बालू को नाक में नहीं घुसने देता। उसके आमाशय में पानी भरने के लिए कई कोठरियाँ होती हैं, जिनमें वह कई दिनों के लिए पानी भर लेता है। इन कोठरियों के मुँह सकोचनीय पेशियों से बन्द रहते हैं और आवश्यकतानुसार उनमें से पेट में पानी जाता रहता है। इसीलिए ऊँट बिना पानी पिए ही लम्बी-लम्बी यात्राएँ करने में अपना सानी नहीं रखता। 'रेगिस्तानी जहाज' सचमुच ही में उसका उपयुक्त नाम है। ऊँट की दो क़िस्में हैं—एक दो कूबड़वाली और दूसरी एक कूबड़वाली।

इनके अतिरिक्त दक्षिणी अमेरिका के एंडीज नामक पहाड़ों पर लामा, अलपका, विकूना इत्यादि, ध्रुव प्रदेशों—लैपलैंड, फिनलैंड, नार्वे, साइबीरिया—में रेनडियर, तिब्बत के ऊँचे पठारों में याक, तथा हिन्दोस्तान में भैंसा और बैल बोझा ढोने व गाड़ी खींचने के लिए पाले जाते हैं। रेनडियर नर्म बर्फ पर काफी तेज चाल से जा सकता है और कड़ी-से-कड़ी ठंडक भी सह लेता है। बैल दलदलों और कच्चे रास्तों में—जहाँ घोड़े अटक जाते हैं—अपने फैलनेवाले खुरों के ही कारण बड़ी आसानी से चले जाते हैं। भैंसे उनसे भी अधिक दलदली जगह के लिए उपयोगी हैं। चावल के खेतों में कार्य करना उन्हें विशेष रूप से रुचिकर है।

स्थानाभाव के कारण अब और खुरवालों का वर्णन करने में हम असमर्थ हैं, किन्तु इस कक्षा के दो-चार जीवों—हाथी, दरियाई घोड़ा आदि—का हाल हम "जन्तु-जगत् के विशालकाय प्राणी" शीर्षक लेख में आगे लिखेंगे। कुछ अन्य स्तनपोषी भी—मासाहारी और जलवासी—अभी बाक़ी रह गए हैं। उनका हाल भी आगे पढ़ियेगा।
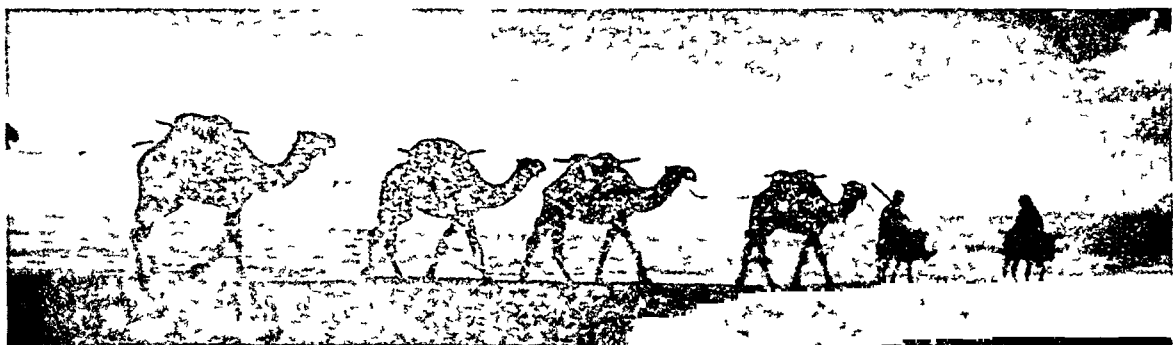
'रेगिस्तान के जहाजों' का एक बेड़ा

यदि ऊँट न हो तो रेगिस्तान की बालू से पार पाना मनुष्य के लिए कठिन हो जाय। प्रकृति ने इस जानवर को ऐसा बनाया है कि हर तरह से यह रेगिस्तान के अनुकूल है। ऊपर के चित्र में मरुभूमि की मंज़िल तय करते असबाब से लदे हुए ऊँटों का एक कारवाँ दिखाई दे रहा है।
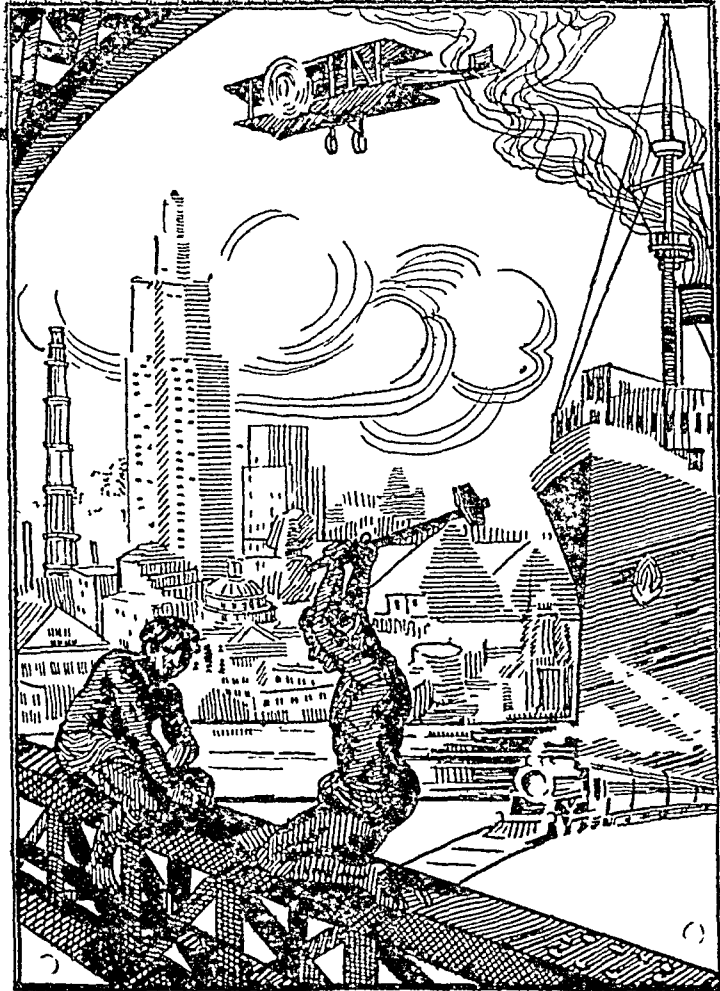
मनुष्य
की कहानी

(बाईं ओर)

घ्राणेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय की यन्त्र-रचना

देखिए, किस प्रकार पुष्प की सुगन्ध नाक मे होकर गन्ध-बोधक कोषों को प्रभावित करके मस्तिष्क तक पहुँचती है। नीचे की ओर दो गन्ध कोप और एक सहायक कोष दिखलाए गए हैं। जीभ पर चार प्रकार के स्वादो—मीठे, खट्टे, नमकीन और कड़वे—के स्थान अलग-अलग होते हैं। ये स्थान इस चित्र में भली-भाँति स्पष्ट हैं। एक ओर को एक स्वादकली के कोष भी बने हुए हैं। १ फूल के गन्धकण नाक मे घुसकर २. घ्राण-नाड़ी के छोरो को उत्तेजित करते हैं ३ जिसका ज्ञान-सूत्रों द्वारा मस्तिष्क के घ्राण-केन्द्र को होता है, ४. मिठाई पहचानने के दाने, ५ नमक और खटाई पहचानने के दाने, ६ कडवाहट बतलानेवाले दाने, ७. स्वाद नाड़ी जीभ पर उभरे हुए दानों के स्वाद कोषो से स्वाद का ज्ञान मस्तिष्क के स्वाद-केन्द्र तक पहुँचाती है, ८. स्वाद-केन्द्र।
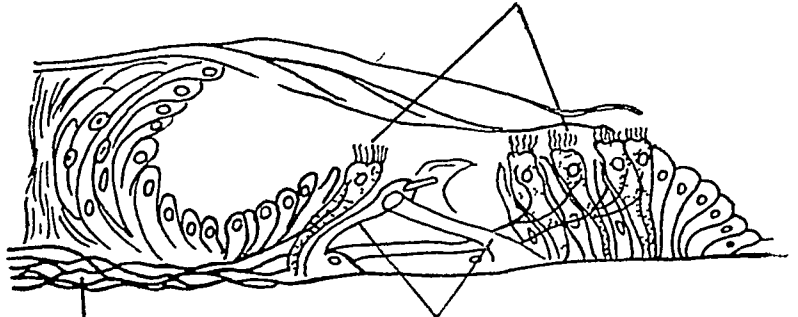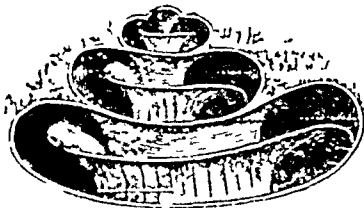
बीच से कटा हुआ कौक्लिया और 'कौर्टी के अंग' के कोष

(अ) कौक्लिया के बीच का हड्डीदार स्तम्भ और उसके चारों ओर गोल घुमाऊ ज़ीने की तरह कोठरियाँ। (व) कुछ ऐसे सावेदनिक कोप जो ऊपर से कौर्टी की मेहराबों को ढके रहते हैं। (दे० पृ० १२७७ का मैटर)
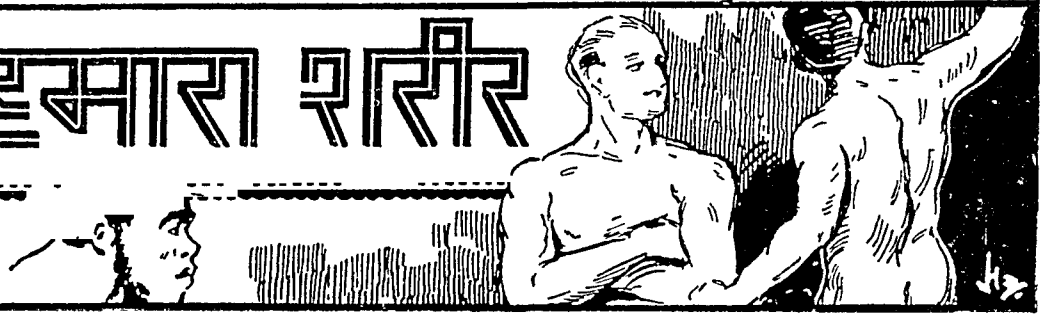
हमारे शरीर के द्वार अथवा ज्ञानेन्द्रियाँ

२—श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय

पाँच ज्ञानेन्द्रियों मे से दो—स्पर्शेन्द्रिय तथा दृष्टि-इन्द्रिय—का हाल तो आप पहले ही पढ चुके हैं। यहाँ अब हम शेष तीन—सुनने, सूँघने और स्वाद लेनेवाली इन्द्रियों का वर्णन विस्तारपूर्वक करेगे।

१. श्रवणेन्द्रिय या कान तथा उसकी रचना

दस मे से नौ आदमी ऐसे होंगे, जिनका ध्यान 'कान' शब्द को सुनकर सिर के दोनों ओर निकले हुए सीप की शक्लवाले भाग की ओर जाता है, किन्तु वास्तव मे असली कान तो भीतर खोपडी की हड्डियों मे भली भाँति सुरक्षित हैं। यह बाहरी हिस्सा तो, जिसको हम साधारणतया 'कान' कहते हैं, केवल ध्वनि-लहरों को एकत्रित करके अन्दर भेजने का ही एक साधन मात्र है। नेत्रों की भाँति कान मे भी कुछ आवश्यक तथा कुछ सहायक अग होते हैं। श्रवणेन्द्रिय का मुख्य भाग इतना भीतर है कि ध्वनि सीधी उस तक नहीं पहुँच सकती। इसलिए बाहरी आवाज़ो को एकत्रित करने और उनको इस भीतरी पेचीदा भाग तक पहुँचाने के लिए अन्य सहायक अंगों के सहयोग की आवश्यकता होती है। इसलिए कान मे एक वह भाग है जो ध्वनि लहरो को भीतर पहुँचाता है तथा दूसरा वह जो उन लहरों को स्नायविक प्रेरणा मे बदलकर मस्तिष्क तक पहुँचाता है। पिछले भाग को 'भीतरी कान' और अगले को 'बाहरी कान' कहा जाता है; किन्तु इन दोनों के बीच में छोटा-सा एक भाग और होता है जो 'माध्यमिक कान' कहलाता है। इस तरह साधारणतया कान का विभाजन तीन भागों मे किया जाता है:—(१) बाह्य कान, (२) मध्य कान, (३) आन्तरिक कान।

(१) बाह्य कान—बाहरी कान का वह भाग, जो सिर के दोनों ओर निकला हुआ है, मनुष्य के अतिरिक्त और भी स्तनधारियों मे पाया जाता है। यह किसी मे छोटा, किसी मे बड़ा, किसी मे ऊपर को खड़ा हुआ, किसी मे नीचे को लटकता हुआ रहता है। छछूँदर-जैसे कुछ बिल-वासियों मे तथा सूँस की तरह के कुछ जल-जन्तुओ मे कान का यह भाग होता ही नही है। इसकी टेढी-मेढी शक्ल बिलकुल ही अर्थ-हीन नही है। यह ऐसा बना है कि उस पर पड़नेवाली आवाज़ की लहरे मुड़कर ठीक भीतरी राह की ओर चली जायँ। इस बाहरी भाग को 'कान की तुरही' भी कहते हैं। इसके बीच मे से जो रास्ता भीतर को जाता दिखाई देता है वह टेढा-मेढा तथा लगभग १। इच लम्बा होता है। इस नली या रास्ते मे बाहरी ओर महीन-महीन बाल होते हैं जो कान के अन्दर धूल-गर्द और कीड़े-मकोड़ो के जाने मे बाधा डालते हैं। किन्तु नली के भीतरी भाग मे बालो के अतिरिक्त खाल मे स्वेद-गुत्थियों की-सी बहुत-सी गुत्थियाँ होती हैं, जिनमे से मोम की तरह का एक पीला द्रव्य निकलता रहता है। इस द्रव्य के कारण नली नम और साफ रहती है और यही कान का मैल कहलाता है। जब कान मे सर्दी लग जाने से या किसी अन्य कारणवश यह पीला द्रव्य अधिक बनने लगता है और इतनी मात्रा मे इकट्ठा हो जाता है कि जिससे रास्ते मे रुकावट हो जाती है और हम ऊँचा सुनने लगते है। बहरेपन का एक आम कारण यह भी है।

इस नली का भीतरी छोर एक पतली-सी झिल्ली से बन्द रहता है, जिसके उस पार मध्य कान की छोटी कोठरी होती है। इस तनी हुई झिल्ली पर जब हवा की लहरे आकर टकराती हैं तो वे लहराने लगती हैं। कान मे मैल ज्यादा जमा हो जाने या नहाते समय कान मे पानी चले जाने से इस झिल्ली तक लहर का पहुँचना दुर्लभ हो जाता है और तब हमको ठीक से सुनाई नहीं पड़ता। यह तनी हुई झिल्ली ही हमारे कान का नगाड़ा है, जो हवा की

लहरें पड़ने से बज उठता है और थरथराकर लहरों का प्रभाव मध्य और आन्तरिक कान के भागों पर डालता है। इसी झिल्ली को 'कान का पर्दा' या 'कर्णपटह' कहते हैं।

(२) मध्य कान—कान के पर्दे के पीछे मध्य कान की छोटी-सी कोठरी है, जो कनपुटी की हड्डी के भीतर ही रहती है। इस कोठरी की ऊँचाई लगभग ½ इञ्च होती है और चौड़ाई एक से दो सूत तक। इसकी भीतरी दीवाल में दो छिद्र होते हैं—एक अडाकार और दूसरा गोलाकार। इनके बाद अन्तरीय कर्ण का प्रारम्भ होता है। गोल छेद के ऊपर एक कड़ी झिल्ली मढी रहती है और अडाकार छिद्र मे एक हड्डी लगी रहती है। इनको और बाहरी पर्दे को छोड़कर शेष दीवाले और छत तथा फर्श सभी कनपुटी की हड्डियों से बनते हैं। कोठरी भर में हड्डियों के ऊपर एक पतली श्लैष्मिक झिल्ली चढी रहती है जैसी नाक, मुँह और हलक़ में भी होती है। कर्णपटह से लेकर भीतरी दीवाल तक फैली हुई मध्य कान मे छोटी छोटी तीन हड्डियों की एक जजीर होती है, जिसके सहारे पर्दे पर टकरानेवाली आवाज की लहरे भीतरी कान तक पहुँचती हैं। इनमे से पहली को, जो कर्णपटह के जालदार रेशों से अच्छी तरह गुथी रहती है, 'मुद्गर' कहते हैं, क्योंकि उसकी शक्ल हथौड़ी से मिलती-जुलती होती है। बीच की हड्डी 'निहाई' और सबसे भीतरी 'रक़ाब' कहलाती है। मुद्गर का लम्बा डडा कर्ण-पटह की भीतरी तह से लगा रहता है। उसका ऊपर का नोकदार भाग मध्य कान की कोठरी के हड्डीदार भाग से चिपटा रहता है और उसका गोल सिर निहाई के एक छोटे-से गड्ढे में लगा रहता है। उसी मे वह घूम फिर भी लेता है। निहाई की नोक रक़ाब के ऊपरी हिस्से से लगी रहती है, किन्तु उसका मुख्य भाग अथवा पायदानवाली तख्ती मध्य कान के अडाकार छेद में झिल्ली द्वारा फँसी रहती है। ये तीनों हड्डियाँ आपस में बन्धनों द्वारा बँधी होती हैं और उनके बीच हिलने घूमनेवाले जोड़ होते हैं। यही हड्डियाँ बाहरी कान के पर्दे को भीतरी कान से मिलाती हैं।

मध्य कान की कोठरी हवा से भरी होती है। सामने-वाली दीवाल मे कठ-कर्ण-नली का मुँह होता है, जिससे उसका सम्बन्ध कठ से हो जाता है। इसी राह से हवा कठ से होकर मध्य कान में पहुँचती है और कान के पर्दे के दोनों तरफ़ अपना दबाव भी बराबर रखती है। कठ कर्ण-नली आम तौर से बन्द रहती है, लेकिन जब हम कोई चीज निग-लते हैं तो वह खुल जाती है। यदि आप नथुनों को जोर से बन्द कर लें और निगलने की क्रिया करने लगे तो दोनो कानों के पर्दो पर एक अजीब तरह का दबाव सा जान पड़ेगा। कान भरे-भरे लगने लगेंगे और आपको साफ सुनाई भी न पड़ेगा। नथुने खोलने पर और फिर निगलने पर कान का दबाव और भारीपन गायब हो जाता है। इसका कारण यह है कि निगलने की क्रिया से कठ मे हवा का दबाव बढ जाता है, लेकिन नथुने बन्द रहने की वजह से यह हवा नाक से बाहर नही जा पाती और कठ-कर्ण-प्रणाली मे से झपटती हुई मध्य कान मे जा पहुँचती है और पर्दे को फुला देती है, जिससे हमें भारीपन और दबाव मालूम पड़ने लगता है। ज्योंही हम निगल चुकते हैं, कठ-कर्ण-प्रणाली पुनः बन्द हो जाती है और हवा कान मे बन्द हो जाती है। जब फिर निगलते हैं और नथुने बन्द नहीं होते तो प्रणाली खुल जाती है और कारागार मे बन्द की हुई हवा मुक्त हो जाती है। मध्य कान से एक और तग और छोटी नली उसकी पिछली दीवाल में होकर एक और टेढी-मेढी कोठरी में जाती है, जो कान के पीछे की उभरी हुई हड्डी में होती है। इस कोठरी में तथा इसके आस-पास के हड्डी कोषों मे भी हवा भरी होती है।

(३) **आन्तरिक कान**—आन्तरिक कान मे भी तीन भाग होते हैं। 'कौक्लिया' या सुननेवाला भाग सामने की ओर होता है। अर्द्ध-चक्राकार नलियाँ, जो शरीर को साधे रहने में सहयोग देती हैं, उसके पीछे स्थित रहती हैं और इन दोनों भागों के बीच में और पीछे थैले की तरह की 'कर्णकुटी' होती है। पहले दोनों भागों को मिलाकर भीतरी कान की घूम-घुमैया या 'झिल्लीकृत भँवर' कहते हैं। ये सब भाग खोपड़ी की हड्डियों के अन्दर सुरक्षित रहते हैं। इन भागों की पेचीदा रचना को समझने के लिए लेख के साथ दिए हुए चित्रों को ध्यान से देखिए। दाहिने आन्तरिक कान का चित्र पृ० १५७७ पर दिया हुआ है। इसके बीच मे जो अडाकार खिड़की-सी दिखलाई पड़ती है उसी में मध्य कान की रक़ाबवाली हड्डी और झिल्ली लगी रहती है। यही खिड़की या छेद कर्णकुटी की छोटी सी, लगभग ' इंच की, कोठरी में चला जाता है। कर्णकुटी के सामने अगले भाग से घड़ी की कमानी की तरह २½ चक्र लगाते हुए कौक्लिया नजर आ रही है। कौक्लिया का घुमाव और रचना बहुत कुछ घोंघे के छिलके की तरह ही है। देखिए, कर्णकुटी के पिछले भाग से तीन अर्द्ध-चक्राकार नलियाँ लगी हुई हैं। प्रत्येक नली के सिरे थोड़े-बहुत फूले हुए हैं। इनमें से एक नली आगे की ओर ऊपर सीध बाँधे रहती है, दूसरी पीछे की ओर, और तीसरी बाहर की ओर

आकाश के समानान्तर स्थित रहती है। इनकी बनावट की यही सुन्दरता है कि वे एक दूसरे के ऊपर लम्बवत् (perpendicular) खड़ी रहती हैं। अगली और पिछली नलियों का एक सिरा परस्पर एक दूसरे से जुड़ा रहता है। इसलिए तीनों नलिकाओं और कर्णकुटी के बीच मे पॉच सूराख़ होते हैं। ऊपर बताए हुए छिद्रों को छोड़कर कर्णकुटी की दीवाल मे नन्हे-नन्हे और भी छेद होते हैं, जिनसे श्रवण स्नायु की शाखायें भीतर घुसती हैं। ये सब भाग अन्दर ही अन्दर एक दूसरे से मिले रहते हैं और इनमे एक प्रकार का सफेद दूध का-सा तरल द्रव्य भरा

नलिका का कुछ ज्ञान पृ० १५७४ के चित्र के देखने से हो सकता है। उसकी रचना का विस्तृत वर्णन करने की यहॉ आवश्यकता नहीं जान पड़ती। यहॉ इतना बतला देना काफी है कि इस पेचदार नली के भीतर एक बड़ी विचित्र रचना है जो 'कौर्टी साहब का अंग' (Corte's Organ) कहलाती है। उसमें अधिकतर सूत्रों की ही क़तार रहती है। प्रत्येक सूत्र के दो भाग होते हैं, जो एक दूसरे पर मेहराब की तरह सधे रहते हैं। पेंदे की झिल्ली की सारी लम्बाई पर ये मेहराबे सटी हुई लगी रहती हैं। अनुमान किया गया है कि मनुष्य के कान मे ऐसी मेहराबें
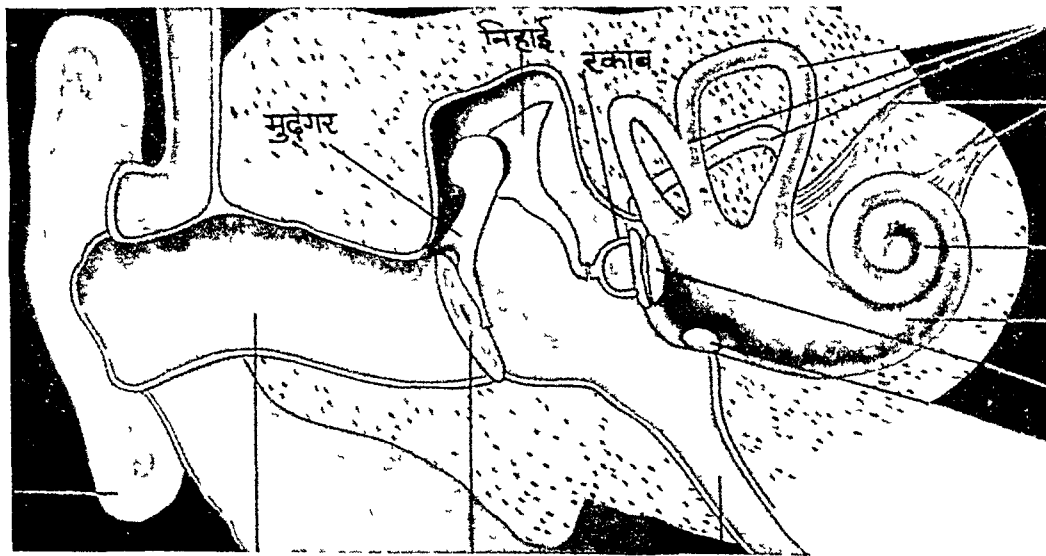
कान के तीन भाग और उनके चारों ओर के अंग

बाहरी कान और उसके बीच के सूराख़ में कहीं हड्डी हैं और कहीं चबनी। बाहरी और मध्य कान के बीच में एक झिल्ली का पर्दा होता है। मध्य कान की संकीर्ण कोठरी में छोटी-छोटी तीन हड्डियो की ज़ंजीरें होती हैं जो एक ओर इस पर्दे से लगी रहती हैं और दूसरी ओर भीतरी कान की घूमघुमैया को घेरनेवाली हड्डी की खिड़की में जुड़ी रहती है। मध्य कान को कंठ से सम्बन्धित करनेवाली कंठ कर्ण-नाली भी चित्र में दिखलाई पड़ रही है।

रहता है, जिसे आन्तरिक लसीका (Endolymph) कहते हैं। इस रस मे खटिक कार्बोनेट के नन्हे-नन्हे कण मौजूद रहते है। कर्णकुटी तथा झिल्ली की नलिकाओं के भीतरी पर्त के कोषों से अन्दर की ओर महीन-महीन बाल-से निकले रहते हैं। धारणा की जाती है कि अन्दर आनेवाली श्रवण-स्नायु के नन्हे छोर इन बालों मे लगे रहते हैं।

कौक्लिया की झिल्लीकृत नली आन्तरिक कान का सर्व-प्रमुख अंग है; क्योंकि उसी मे वह यन्त्र पाया जाता है जो आवाज़ के पहचानने या समझने का मुख्य साधन है। कौक्लिया की पेचीदा हड्डी और उसमे बन्द झिल्लीकृत

३००० से भी अधिक होती हैं। इन मेहराबों के ऊपर गावदुम आच्छादक कोषों की तह रहती है जिस पर जगह-जगह कड़े बालों के गुच्छे निकले रहते हैं। कहा जाता है कि ये बालवाले कोष ही असली सुनने वाली चीज़ हैं। वह श्रवण-नाडी-सूत्र, जो कौक्लिया के बीच की हड्डी के स्तम्भ से निकलकर 'कौर्टी के अग' मे पहुँचते हैं, इन कोषों से सम्बन्धित रहते हैं। इससे साफ जान पड़ता है कि जो लहराव या कम्पन इन श्रवण-बालों तक पहुँचेंगे, उनका प्रभाव उनसे लगे हुए नाड़ियों के छोरों पर पड़ेगा, जिससे नाड़ियो द्वारा मस्तिष्क मे पहुँचकर आवाज़ का बोध होगा।

झिल्लीकृत भँवर और कर्ण की हड्डीवाली दीवालों के बीच मे कुछ खाली स्थान रह जाता है। इसमें भी एक सरल पदार्थ भरा रहता है, जिसके कारण बाहरी चोटों का असर जल्दी झिल्लीकृत भँवर पर नहीं पड़ता।

कान के दो कार्य

साधारणतया कान से हम केवल सुनने का ही सम्बन्ध समझते हैं, किन्तु वह आवाज का बोध कराने के अतिरिक्त एक और भी काम करता है। अर्द्ध-चक्राकार नलियाँ, जिनका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं, शरीर को समतुल्य रखने में सहयोगी होती हैं। इसलिए कान के दो मुख्य कर्त्तव्य हैं, एक आवाज की लहरों को बाहर से भीतर पहुँचाना, उनका अनुभव करना, उनका विश्लेषण करना और उन्हें समझना—ये सब बातें सुनने मे शामिल हैं, दूसरे, हमारी चाल या गति को वश में रखना और शरीर को साधे रहना, जो समतुल्यता के लिए है।

आवाज क्या है?

कदाचित् आप सब यह तो जानते ही होंगे कि ध्वनि एक प्रकार की गति है और सभी ध्वनि-उत्पादक वस्तुओं का लक्षण उनका कम्पित होना है। सितार, वेला और सारंगी की तरह के तारवाले वाद्यों में हम यह बात सहज में ही देख सकते हैं। बजाते समय उनमें तार हिला करते हैं, किन्तु हवा से बननेवाले बाजों मे यह लक्षण उतना स्पष्ट नहीं है। बाँसुरी, बिगुल और तुरही मे कम्पित होनेवाली वस्तु वह हवा है जो उसके भीतर बन्द रहती है। जब हम तालाब में एक कंकड़ फेकते हैं तो जिस जगह वह गिरता है, उस जगह से चारों तरफ को पानी की लहरें फैलती हुई बिलकुल साफ दिखलाई पड़ती हैं। ठीक इसी तरह आवाज निकालनेवाली वस्तु के चारों ओर की हवा उसके लहराव से कम्पायमान होने लगती है और हवा की ये लहरें एक सिलसिले मे ध्वनिदायक वस्तु से दूर को फैलती चली जाती हैं। इसलिए कहा जाता है कि शब्द या ध्वनि कम्पित होनेवाली वस्तु से निकलनेवाली वायु-लहरों का सिलसिला है। कम्पन जितना ही तेज होता है, आवाज भी उतनी ही ऊँची होती है, अर्थात् ध्वनि का ऊँचा या नीचापन कम्पन की गति पर ही निर्भर है।

हवा मे ध्वनि लहरें जिस चीज से लगती हैं उसको भी कम्पित कर देती हैं। जिन चीजों के स्वर आवाज निकालनेवाली वस्तु से मिले रहते हैं, हवा की लहरों द्वारा बड़ी आसानी से वे कम्पित होने लगती हैं। जिस स्वर से सितार या वेले का तार मिला हो, वही स्वर हारमोनियम या पियानो पर बजाने से सितार या वेले का वही तार भी बजने लगता है। ध्वनि-लहरों की गति १०६० फीट प्रति सेकंड होती है, जब हवा का ताप ०° सेंटीग्रेड हो। ज्यों-ज्यों गर्मी बढती जाती है, वैसे ही उसकी गति भी तेज होती जाती है।

कर्ण-पटह का भीतरी दृश्य

यह बाहरी कान की नलिका के छेद पर तना रहता है। इसमें मध्य से बाहर की ओर फैलते हुए गोल मांस-पेशियों के रेशे होते हैं। इनसे कर्ण-पटह का तनाव और दृढ़ता कायम रहती है। इसमे बहुत-सी रक्त नलियाँ और नाड़ियाँ होती हैं। चोट या किसी रोग के कारण यदि यह पर्दा फट जाय तो कान बहरा हो जाय।

हम कैसे सुनते हैं?
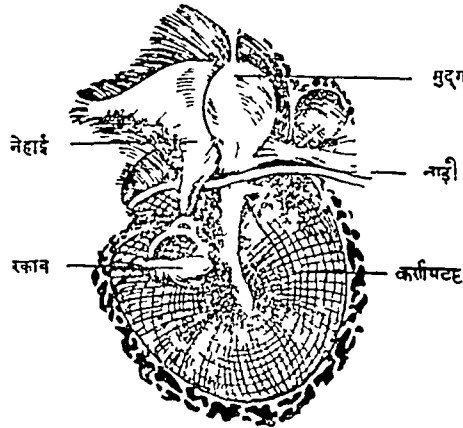
चारों ओर से आनेवाली आवाज की लहरें जब बाहरी कान से टकराती हैं तो वह उन्हे अपनी टेढी-मेढी सतह के द्वारा एकत्रित करके कान की नली की राह से कर्णपटह तक भेज देता है। इसी कारण कर्णपटह कम्पित होने लगता है। मनुष्य के कर्णपटह मे १६ से लेकर ५०००० तक कम्पन होने की योग्यता पाई जाती है। इसलिए इससे कम या ऊँचे लहराव पैदा करनेवाली वायु-लहरों का प्रभाव उस पर ठीक नहीं पडता और यही कारण है कि अत्यन्त धीमी और बहुत जोर की आवाज हमको साफ सुनाई नहीं देती। किन्तु ऊँची और नीची आवाजों को सुनने की शक्ति सब आदमियों में एक-सी ही नहीं होती। मनुष्य आम तौर से अपना कान हिला नहीं सकता किन्तु और जानवर कान को खड़ा कर सकते हैं और आवाज की ओर घुमा सकते हैं। इसलिए जिसके कान जितने ही बडे और हिलने-डोलनेवाले होते हैं—जैसे खरगोश और हिरन के—उतना ही उनको हवा की लहरों को पकड़ने और एकत्र करके भीतर की ओर भेजने मे सुभीता होता है। इसलिए वे धीमी आवाज को सुनने तथा आवाज की दिशा पहचानने मे हमसे कहीं अधिक बढे चढे हैं।

ज्योंही कान का पर्दा हिलने लगता है, उससे सटी हुई मध्य कान की तीन हड्डियोंवाली ज़ंजीर भी उसी के साथ-

साथ हिलने लगती है और दूसरी ओर मध्य और भीतरी कान के बीच मे लगे हुए अंडाकार खिड़कीवाले पर्दे को हिला देती हैं। इससे आन्तरिक कान मे भरे हुए तरल पदार्थ मे वही कम्पन उत्पन्न हो जाती है और उसके दबाव मे जल्दी-जल्दी परिवर्त्तन होने लगता है, जिसके कारण कौर्टी के अगवाले श्रवण-बालों मे गहरा उकसाव होने लगता है। इस उकसाव की चेतना कौक्लिया मे जानेवाली नाडी के छोरों से जब मस्तिष्क तक पहुँचती है, तब हम सुनते हैं। इस प्रकार श्रवण-केन्द्र तक पहुँचनेवाले सन्देश के फैलाव (Volume), मन्दता और तीव्रता के अनुसार मस्तिष्क तरह-तरह की आवाज़ो मे भेद करता है। इसी के बल पर हम गाने-बजाने, हँसने, रोने, व शोर-गुल की आवाज़ो को पहचानते हैं।

यह तो हम पहले ही बतला आए हैं कि आन्तरिक कान के सहस्रों ध्वनि-ग्रहणकारी सब बिलकुल एक-से नहीं हैं। कोई भी एक ग्रहणकारी केवल एक ही चढाव-उतार (Pitch) की कम्पनाओं से उत्तेजित हो सकता है, जिस प्रकार कि बेतार के ख़बर पानेवाले खम्भे उसी लहर-लम्बाई की लहरों को ग्रहण कर सकते हैं जिसके लिए वे बने हुए हैं। यह हम ठीक-ठीक अब भी नही कह सकते कि ग्रहणकारी विविध प्रकार की आवाज़ों का अनुभव कैसे करते हैं, किन्तु उनका परिणाम यह होता है कि यदि कई प्रकार की आवाज़े एक साथ ही लगाई जायँ तो भी हम उन्हे एक दूसरे से साफ़-साफ़ अलग करके पहचान लेते हैं।

गाने-बजाने मे "कान का सिखाना या साधना", "कान का अच्छा या बुरा होना" इत्यादि वाक्य बहुधा काम मे लाये जाते हैं। इनकी सच्चाई श्रवणेन्द्रियों के काम करने के ढंग पर ही अवलम्बित है। सीखा हुआ गाने-बजानेवाला मिश्रित रागों के अलग-अलग स्वरो को पहचान लेता है, लेकिन किसी-किसी को, जिसने कभी उस ओर ध्यान नहीं दिया, दो रागों मे भेद करना भी नही आता। उसे राग के ठीक या ग़लत होने का भी पता नही चलता। वह तो केवल यही जानता है कि आवाज़ उसे अच्छी लग रही है या बुरी। कान के श्रवण-बाल सचमुच आवाज़ को साधारण तत्त्वों मे बाँट देते हैं। मस्तिष्क फिर उन्हे मिला लेता है। इसलिए हमको उनके बँटाव की नहीं बल्कि मिलाव पर ध्यान देने की आदत हो जाती है। अच्छी शिक्षा से प्रत्येक मनुष्य को आवाज़ के विश्लेषण की थोड़ी-बहुत पहचान हो सकती है और सुने हुए रागों के कुछ तत्त्वों की पहचान भी उसे आ सकती है। इसलिए लोगों का यह कहना कि हमारे कान गाना-बजाना सीखने के लायक़ नहीं हैं वैसी ही बात है जैसा कि किसी सूझते आदमी का न पढने के लिए यह बहाना करना कि उसके आँख ही नहीं है। कानों का अच्छा या बुरा होना तो अभ्यास की ही बात है। यह अवश्य है कि थोड़ा-बहुत फ़र्क़ स्वाभाविक रुझान के कारण होता है।

आवाज़ की दिशा पहचानना

आवाज़ की दिशा किसी हद तक सभी पहचान लेते हैं, किन्तु अक्सर हमे धोखा भी हो जाता है। यह स्पष्ट है कि यदि सुननेवाले के दाहिनी ओर कोई आवाज़ हो तो वह दाहिने कान मे अधिक ज़ोर से सुनाई पडेगी और प्रत्येक ध्वनि-लहर दाहिने कान मे बायें कान की अपेक्षा एक सेकेंड के कुछ अंश जल्दी पहुँचेगी। आवाज़ की दिशा पहचानने की असल मे यदि कोई पहचान हममें है तो वह कानों मे सुनाई देनेवाली आवाज़ की तेज़ी और समय के फ़र्क़ पर ही निर्भर है। आवाज़ की दिशा पहचानने मे मनुष्य की शक्ति अधिक तीक्ष्ण नहीं है। वह अक्सर ही धोखा खा जाता है। घर मे मामूली आवाज़ो के सुनते रहने से हम उनसे इतने परिचित हो जाते हैं कि जान जाते हैं कि वह किस की है और किधर से आ रही है; किन्तु जब कोई अपरिचित या असाधारण आवाज़ हमें सुनाई देती है तो हम चकरा जाते हैं और यह नहीं पता लगा पाते कि वह कहाँ से आई।

कान का दूसरा कर्त्तव्य--समतुल्यता

कान की वे तीनों अर्द्धचक्राकार नलियाँ, जिनका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं, सुनने से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। वे हमारे शरीर को समतुल्य रखने के ही अंग हैं। ये नलियाँ तरल पदार्थ से भरी रहती हैं। उनके धरातल भिन्न-भिन्न होते हैं और वे धरातल की सतह नापने के यंत्र (Spirit-level) की तरह काम करती हैं। शरीर के इधर-उधर झुकने या सिर के मोड़ने पर इन नलियों का तरल पदार्थ और उसमे विद्यमान कण भी हिल जाते हैं। इसका असर नलियों मे जानेवाले श्रवण-स्नायु के छोरों पर पडता है। वहाँ उन्हे जो उत्तेजना मिलती है वे उसे मस्तिष्क मे पहुँचा देती हैं। मस्तिष्क इस उत्तेजना का प्रयोग करके हमसे ऐसी हरकतें कराता है कि हमारी गड़बड़ाई हुई समतुल्यता फिर स्थिर हो जाय। यह बात सच है कि कौक्लिया से मुख्य नाड़ी-मार्ग बृहत् मस्तिष्क को जाता है, लेकिन अर्द्धचक्राकार नलियों का मुख्य नाडी सम्बन्ध लघु मस्तिष्क से होता है। यह मस्तिष्क का वह भाग है, जो विशेषकर

समतुल्यता से सम्बन्धित है। कान-सम्बन्धी समतुल्यता की समझ मनुष्य मे अधिक बढी-चढी नहीं है, इसलिए हम शरीर को साधने और ठीक गतियाँ करने के लिए इस इन्द्रिय पर ही अवलम्बित नहीं हैं। इस बात मे दृष्टि, पेशियाँ, जोड़, कडरा तथा अन्य रीतियों से भी उसको सहायता मिलती है। चिडियों मे समतुल्यता की इन्द्रिय हमसे कहीं उत्तम है। अब मनुष्य भी वायुयानों में उडने लगे हैं, इसलिए इन नलियों की विशेषता उनमे पहले से बढ गई है। जब उड़ाकू कुहरे से घिर जाता है तो उसे बहुत-कुछ इसी इन्द्रिय पर भरोसा करना पड़ता है। अतः उड़नेवालों मे यह शक्ति तीक्ष्ण होना लाभप्रद है।

२ घ्राणेन्द्रिय—नासिका

यह तो आपको मालूम ही है कि सूँघने का सम्बन्ध नाक से है, किन्तु नाक ९० प्रति सैकड़ा तो साँस लेने का काम करती है और उसका केवल १० प्रति सैकड़ा ही काम सूँघने का है। लेकिन यही $\frac{1}{10}$ वाँ कार्य ही यह पहचानने मे हमे मदद देता है कि हवा शुद्ध है अथवा अशुद्ध। नासिका का सूँघनेवाला भाग उसकी जड मे भीतरी ओर पाया जाता है। शेष नाक, नथुने से लेकर गले के पिछले छेद तक, हवा का मार्ग ही है। नाक के निचले भाग से सूँघने की क्रिया से कोई मतलब नहीं। साधारणतः साँस द्वारा जो हवा नथुनों मे घुसती है वह पिछले गले के प्रत्येक सूराख में होती हुई श्वासोच्छ्वास-नली में चली जाती है। खोपडी की तरफ वाले ऊपरी भाग मे हवा स्थिर रहती है और साँस द्वारा भीतर जाने या बाहर आनेवाली हवा मामूली तौर से उसे गड़बड़ाती नही। साँस लेते समय हमको किसी प्रकार की महक न मिलने का यही कारण है। महक का पता लगाना चाहने पर हम नाक को जोर से सिकोड़कर हवा ऊपर की ओर सूँतते हैं जिससे गन्धयुक्त वायु ऊपर के घ्राण-भाग तक पहुँचती है और हमको सुगन्ध का ज्ञान होता है।

खोपडी का वर्णन करते हुए हम पहले ही बतला चुके हैं कि नथुनों के गड्ढों मे पीछे से निकली हुई, कागज के मुट्ठे-जैसी लपेटी हुई महीन हड्डी होती है। गन्ध का पता लगानेवाले कोष दोनों गड्ढों के बीच के पर्दे और इस पलटी हुई हड्डी को मढनेवाली श्लैष्मिक झिल्ली पर रहते हैं। इस झिल्ली मे खून की अनेकों पतली-पतली नलियाँ और मस्तिष्क की पहली नाड़ी—गन्धनाड़ी—के स्नायु-तार बहुतायत से रहते हैं। सूँघनेवाले लम्बे तथा पतले कोषों के बाहरी छोरों पर महीन-महीन रोयें निकले रहते हैं और उनके भीतरी छोर नाडी-सूत्रों से सम्बन्धित रहते हैं। जब सुगन्ध के कण वायु द्वारा नाक के इस पिछले भाग मे पहुँचकर इन सावेदनिक कोषों को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करते हैं तभी घ्राण नाड़ियों द्वारा यह प्रभाव मस्तिष्क के घ्राण-केन्द्रों मे पहुँच हमे गन्ध का बोध कराता है। इस सचेत गहरे पीले रगवाली श्लैष्मिक झिल्ली से हम केवल इत्र, गुलाब-केवड़ा आदि की ही सुगन्ध को नहीं सूँघते हैं, वरन् रसोई मे बननेवाले उन स्वादिष्ट भोजनों का पता भी, जिनका नाम सुनकर हमारे मुँह में पानी भर आता है, हम दूर से ही बिना चखे केवल उनकी खुशबू से लगा लेते हैं। नाक के ऊपर, पीछे मिलनेवाले नाजुक गन्ध-ग्रहणकारी कोष तभी उत्तेजित होते हैं जब कोई सुगन्धित वस्तु वायव्य या चूर्ण के रूप मे इन कोषों तक पहुँचकर श्लैष्मिक झिल्ली से निकलनेवाले तरल पदार्थ मे घुल जाती है।

हमारी सूँघने की शक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण है। वैलेन्टीन साहब के अनुसार हम मुश्क के एक ग्रेन का $\frac{3}{100000000}$ वाँ अश भी अच्छी तरह सूँघ सकते हैं। इतना होने पर भी मनुष्य की सूँघने की शक्ति बहुत से छोटे-छोटे जानवरों से भी कम है। कुत्ता आदमी को पहचानने मे केवल देखकर ही सन्तुष्ट नही होता—जब तक वह पास जाकर उसको सूँघ न ले उसको पूर्ण विश्वास नही होता। यह सिद्ध कर दिया गया है कि कुछ तितलियों तथा उनके सम्बन्धी पतिंगों (Moths) मे नर बहुत दूर—क़रीब आधी मील—से सूँघकर मादाओं का पता लगा लेते हैं। चींटी को अपनी तीक्ष्ण घ्राण-शक्ति के ही कारण दूर से ही मिठाई का पता लग जाता है। अपने तथा दूसरे बिलों की चीटियों को वे उनकी गन्ध से ही पहचानती हैं। अनेकों जीवधारियों के लिए सूँघना अत्यन्त उपयोगी है। वह उन्हे शत्रु से रक्षा करने, भोजन को खोजने, अपने भाई बन्धुओं को पहचानने और जोडे का पता लगाने मे सहायता देता है। कभी कभी घर के मार्ग का भी सूँघकर ही पता लगा लेते है।

किसी चीज को यदि हम कुछ देर सूँघते रहते है तो फिर उसकी खुशबू धीमी क्यों होने लगती है या गायब-सी क्यों हो जाती है? इसका कारण यह है कि गन्ध ग्रहणकारी थोड़ी ही देर मे थक जाते हैं। किसी तेज सुगन्धमय वातावरण मे कुछ देर रहने के बाद हम स्वच्छ वायु मे आएँ और फिर सुगन्धयुक्त वायु में वापस जायँ तो हमको इस बात का पता चल जायगा कि हमारी यह शक्ति कैसे थक जाती है और फिर कैसे ठीक हो जाती है। तेज जुकाम हो जाने

के दिनों मे ख़ुशबू का पता नही चलता । क्यों ? नथुनों की श्लैष्मिक झिल्ली सर्दी के कारण सूज जाती है और हवा को नाक के ऊपरी भाग तक पहुँचने से रोक देती है । दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि झिल्ली के सूज जाने से नाड़ी-सूत्रों के छोर तथा ग्रहणकारियों के सांवेदनिक रोये गहरे दब जाते हैं । इसलिए गन्ध का उन पर प्रभाव ही नही पड़ पाता । बहुत-सी ख़ुशबुओं को हम पहचानते तो हैं लेकिन आवाज़ या रंग की तरह उसमे झिल्ली मे ही होते हैं, नीचे की सतह मे नही होते । इसीलिए जीभ की ऊपरी सतह खुरखुरी और नीचे की चिकनी होती है । इन उभरे हुए दानों ही से हमको स्वाद का पता चलता है । इसलिए हम उनको स्वाद-अंकुर या स्वाद-कलियाँ कहते हैं । प्रत्येक कली कोषों का एक समूह है, जो आकार मे प्याज़ की छोटी गाँठ-सा होता है । इसमे सहारा देनेवाले तथा रक्षा करनेवाले कोषों के थैलों मे घिरे हुए १० से १६ तक स्वाद-कोष होते हैं । इन स्वाद-

हम कैसे सुनते हैं ?
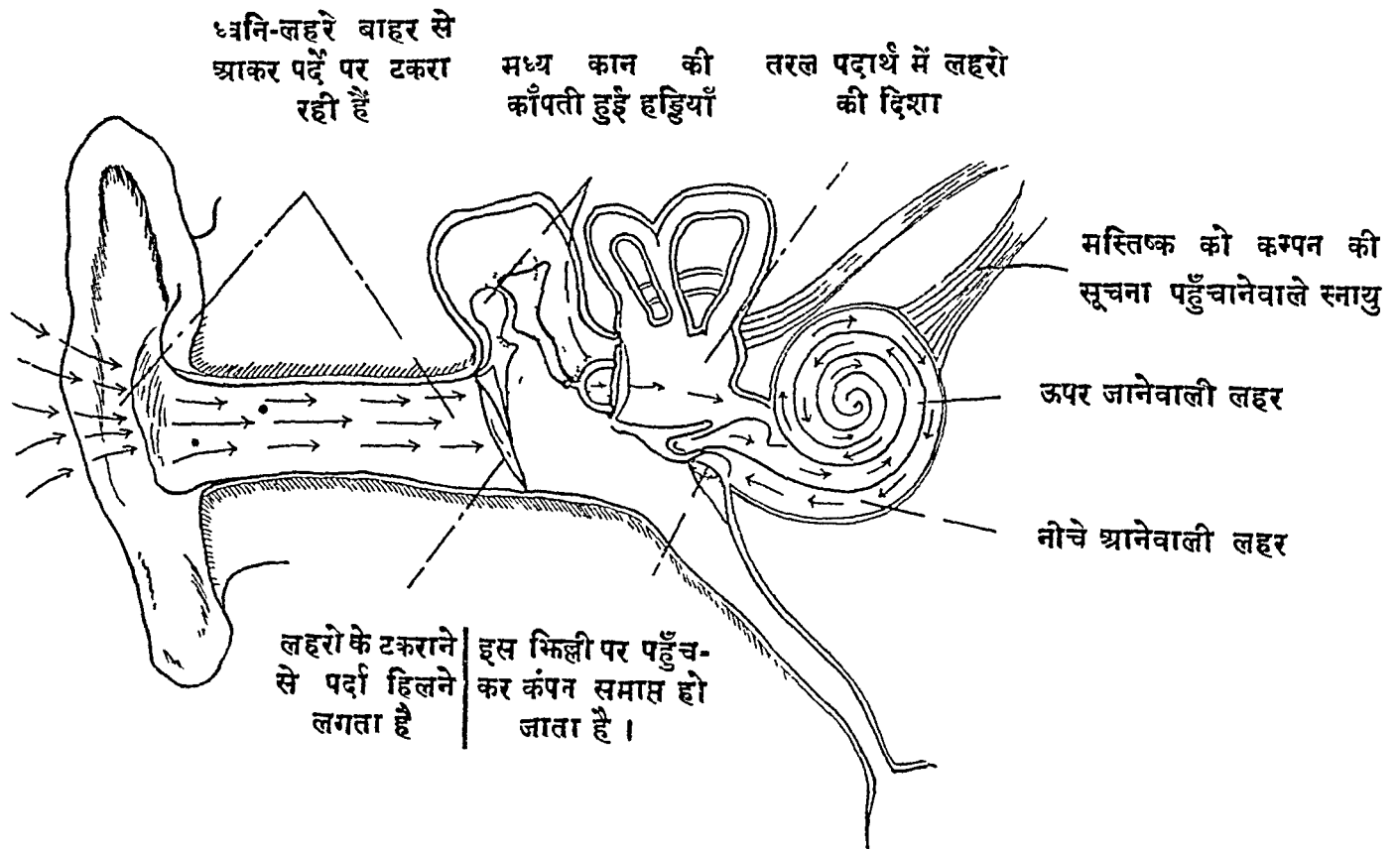
ध्वनि-लहरें कान के भीतर घुसकर कर्ण-पटह को हिलाती हैं । इसके हिलने से मध्य कान की हड्डियोंवाली जंज़ीर भी कम्पित होने लगती है । यही कंपन अंडाकार झिल्ली से होकर कौक्लिया में भरे हुए तरल पदार्थ में भी पहुँच आता है । अन्त में यह नाड़ी-सूत्रों के छोरों को भी उत्तेजित कर देता है । जब यह उत्तेजना नाड़ी सूत्रों द्वारा मस्तिष्क में पहुँचती है, तभी हम सुनते हैं ।

कोई निश्चित पैमाना नहीं है । हमको ख़ुशबुओ की याद मे अक्सर धोखा हो जाने का शायद यही कारण है ।

३ स्वादेन्द्रिय—जीभ

यदि आप शीशे मे अपनी जीभ देखे तो उस पर बहुत से छोटे-छोटे दाने बिछे हुए नज़र आयेंगे । इनमें से जीभ के पिछले हिस्से मे V आकार की एक क़तार मे काफी बड़े-बड़े दाने होते हैं । ये दाने जीभ के ऊपर की श्लैष्मिक कोषों के चारों ओर स्नायु-तार लिपटे रहते हैं और इन्हीं के द्वारा स्वाद की ख़बर मस्तिष्क तक पहुँचती है । जिह्वा को छोड़कर कुछ स्वाद-कलियाँ तालू, होठ और गालों मे भी होती हैं । वास्तव मे स्वाद चार प्रकार के ही होते हैं—मीठा, खट्टा, नमकीन और कड़वा । अन्य स्वाद इन्हीं चारों के मिलने से बनते हैं । एक स्वाद-कली सब तरह के स्वाद नहीं ले सकती । कोई सिर्फ मीठी चीज़ों को

चरपती हैं कोई खट्टी, कोई नमकीन तो कोई कड़वी।

आश्चर्यजनक बात तो यह है कि स्वादों की पहचान सारी जीभ पर एक सी ही नहीं है। किसी जगह एक स्वाद के कोष अधिक हैं तो किसी जगह दूसरे और कहीं-कहीं बिल्कुल स्वादकोष हैं ही नहीं। बच्चे अक्सर मिठाई को जबान की नोक से चाटते हैं, क्योंकि वे सीख जाते हैं कि उन्हें इस तरह मिठाई का ज्यादा मजा मिलता है, गोकि वे यह नहीं जानते कि जीभ का अगला हिस्सा या छोर ही मीठी चीजों के स्वाद लेने का स्थान है। इस जगह की स्वाद-कलियाँ विशेषकर मिठाई से ही अर्थ रखती हैं। जब हम कोई बहुत ही कड़वी वस्तु खाते हैं तो कहते हैं कि इससे तो हलक तक कड़वा हो गया, लेकिन हम यह नहीं जानते कि जीभ के अगले हिस्से मे तो हमे कड़वाहट का पता चल ही नहीं सकता, क्योंकि कड़वाहट का बोध करानेवाली स्वाद-कलियाँ जीभ के सबसे पिछले हिस्से मे होती हैं। जीभ के दायें और बाये किनारों पर खटाई और नमक का स्वाद जाननेवाली कलियाँ अधिक होती हैं। युवकों मे जीभ के बीच का हिस्सा बिल्कुल स्वाद-रहित होता है, किन्तु बच्चों में स्वाद-कलियाँ सारी जीभ और मुँह के नर्म अस्तर पर भी फैली होती हैं। जब आप मिश्री खाएँ तो उसको आगे की ही जबान पर चूसिये, क्योंकि वहीं पर आपको उसका सबसे अच्छा मिठास मिल सकेगा। कड़वी दवा को बहुत जल्दी से निगल जाइए, जिससे वह जीभ के पिछले भाग से जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी निकल जाए। यदि भोजन का पूरा स्वाद लेना चाहते हैं तो उसको अच्छी तरह चबाइए, जिससे स्वाद-स्थानों को उसका पूरा मजा मिले। स्वादेन्द्रिय का पूर्ण लाभ प्राप्त करने का यही सुगम उपाय है।

स्वाद भी गन्ध की तरह रासायनिक संवेदना है और दोनों को ही उत्तेजित करनेवाला पदार्थ पानी मे घुलने पर ही अपना प्रभाव प्रदर्शित करता है। स्वाद तभी जाना जा सकता है जब खाद्य सामग्री घुले हुए रूप मे हो या मुँह मे पहुँचकर लार मे घुल जाय। यदि जीभ को अच्छी तरह पोछकर सुखा डाला जाय तो किसी भी स्वाद का पता न चले। आप स्वय इस बात की जाँच कर सकते हैं। जबान को खूब पोंछकर उस पर एक टुकड़ा मिट्टी या नमक रखिए तो उस समय तक कोई स्वाद न मालूम होगा जब तक थूक या लार से वह घुलने न लगे। स्वाद और गन्ध में और भी सम्बन्ध है। जब हम सेब या संतरे का एक टुकड़ा मुँह में रखते हैं तो हमें उनकी विशेष मनभावन लज्जत का जो स्वाद मिलता है उसको हम सेब या संतरे का ही स्वाद कहते हैं। वह केवल मीठा, खट्टा, नमकीन या कड़वा कहकर नहीं समझाया जा सकता। किसी चीज के ज़ायके में उसके स्वाद के अतिरिक्त और भी कोई चीज अवश्य शामिल है। यह दूसरी चीज उसकी सुगन्ध है। जब हम सेब या संतरे को मुँह में चबाते हैं तो उसके मीठे या खट्टे होने का बोध तो जिह्वा से होता है लेकिन उनकी उड़नेवाली महक तालू मे होकर नाक के भीतर पहुँचती है और घ्राणेन्द्रिय को उत्तेजित करती है। अतः किसी चीज की लज्जत उसके स्वाद और गन्ध दोनों का मेल है। आपकी आँखों पर पट्टी बाँधकर और नाक जोर से दबाकर बन्द करके मुँह मे सेब और नासपाती के टुकड़े बारी बारी से रक्खे जायँ तो आप बतला न सकेंगे कि कौन-सा टुकड़ा किस चीज का है। उन दोनों मे अन्तर सूँघने का है चखने का नहीं।

गन्ध के सदृश स्वाद भी सहज मे मंद पड़ जाता है अथवा हमारी तबियत उससे भर जाती है। अगर हम मीठी चीज बहुत देर तक खाते रहे तो फिर उसका मिठास उतना तेज नहीं लगता। यही कारण है कि ऐसी चीजें यदि हम थोड़ी-सी ही खाएँ तो जो स्वाद हमे मिलता है वह बहुत-सी खाने पर नहीं मिलता। यह अत्यन्त बुद्धिमानी है कि प्रतिदिन के भोजन की मूल वस्तुएँ—दाल, भात, रोटी आदि—सीठी होती हैं। वे ऐसी न होतीं तो रोज़ रोज हम उनको ही भूख भर खाने में परेशान हो जाते। ये सब चीजें तो हम बहुत-सी खाते हैं, लेकिन चटनी या अचार यदि एक पोरा भी खा ले तो खाने का मजा मिल जाता है। चारों स्वादों और गन्धों की संवेदना देनेवाले कोषों के अतिरिक्त और भी सांवेदनिक कोष हैं, जिनसे पदार्थों की चरपराहट या शीतलता का बोध होता है, जैसे मिर्च से चरपराहट और पिपरमिंट तथा मलाई की बर्फ से ठढक का।

तेज जुकाम हो जाने पर केवल हमारी घ्राण-शक्ति ही मन्द नहीं हो जाती, बल्कि स्वाद भी बिगड़ जाता है। जो चीजें पहले अच्छी लगती हैं वे उस समय बेस्वाद प्रतीत होती हैं। गन्ध और स्वाद हमारे दो बड़े आवश्यक नौकर हैं, जिनके सहयोग से हमको अपने खाने के स्वाद और सुगन्ध का मजा मिलता है। यदि खाने मे मजा न मिले तो खाना ठीक से हज्म न हो और शरीर-रूपी घर गड़बड़ा जाय। ये दोनों नौकर यदि पूर्ण सत्याग्रह कर दे तो हमारे स्वास्थ्य और आराम का क्या हाल हो यह हमारी कल्पना से परे है। जीभ पर जब दो-चार छाले निकल आते हैं तभी सारे खाने हमको फीके से लगने लगते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

व्यापार के विस्तार के सम्बन्ध मे यह बतलाया जा चुका है कि सुदूर यात्रा के शीघ्रगामी तथा सुगम साधनों द्वारा व्यापार का विस्तार केवल एक ग्राम अथवा नगर मे सीमित न रहकर समस्त देश तथा देशान्तरों मे फैल गया। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उतना सरल नही था जितना कि देश के अन्दर का व्यापार। व्यापार-विधि सुदृढ होने पर भी पदार्थ को एक देश से दूसरे देश को ले जाकर बेचना अधिक व्यय तथा यात्रा के सकट से रहित नही था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कितने ही अशों मे सीमित रहा। केवल वे ही पदार्थ देशान्तरों को भेजे जा सकते थे जो यात्रा-काल तक ख़राब न हों। उदाहरण के लिए यह कह सकते हैं कि ताज़े फल, तरकारी इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पदार्थ नही हो पाते थे। दूसरी बात यह थी कि पदार्थ को देशान्तर मे ले जाने का व्यय उस पदार्थ के मूल्य को बहुत बढा देता था और केवल धनी पुरुष ही उसे मोल ले सकते थे। इस प्रकार जन-साधारण मे बिकनेवाले पदार्थ, जो बड़ी सख्या मे तथा सस्ते मूल्य के होने चाहिएँ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे नही आ सके। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास यह बतलाता है कि इस प्रकार का व्यापार पहले भोगविलास के पदार्थों तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थों से आरम्भ हुआ। भारतवर्ष की बनी हुई मलमल, ढाके का रेशम, दक्षिण भारत का मसाले का सामान इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे पहले सामने आए। इसी प्रकार अफ्रीका का सोना, शुतर्मुर्ग़ के पर इत्यादि भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रारम्भकाल का इतिहास बतलाते हैं। व्यापार-मार्ग भी उस समय की उन्नति के अनुसार दुष्कर, भयप्रद तथा अधिक ख़र्चवाले थे। बहुत प्रारम्भकाल मे व्यापार केवल धरती की राह से ही होता था। भारतवर्ष का माल ऊँट के काफिले द्वारा सरहदी सूबे से होकर अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, इराक, इत्यादि मध्यपूर्वीय देशो से घूमता हुआ कुस्तुन्तुनिया पहुँचकर योरप मे बेचा जाता था। इन्ही बहुमूल्य पदार्थों से भरे काफिलों को देखकर मुहम्मद ग़ोरी, तैमूरलग तथा बाबर आदि को भारतवर्ष की अगाध सम्पत्ति की सूचना मिली थी और इसी धन तथा व्यापार के लिए भारतवर्ष पर उत्तर-पश्चिम से अनेक आक्रमण हुए। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल पृथ्वी-मार्ग पर ही सीमित नहीं रहा। समुद्र के किनारे के भाग मे बन्दरगाहो से होकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समुद्री मार्ग द्वारा भी होता था। छोटी-छोटी नावे व समुद्री बेडे एक देश से दूसरे देश को माल ले जाते थे। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि समुद्री व्यापार मे भारतवर्ष न केवल अगुवा ही था वरन् भारतवर्ष का समुद्री व्यापार आदि काल मे अन्य देशों की अपेक्षा सब से अधिक था। इतिहासज्ञों का कथन है कि जहाज़ द्वारा समुद्री यात्रा पहले-पहल भारतवासियों ही ने प्रारम्भ की। भारतवर्ष मे समुद्रीय जहाज़ बनाने की कला का विस्तृत रूप से वर्णन पाया जाता है। भारतवर्ष का समुद्रीय व्यापार पूर्व तथा पश्चिम दोनों दिशाओं मे होता था। पश्चिम मे नेपल्स, जो इटली के पूर्व-उत्तरीय भाग मे प्रमुख बन्दरगाह है, भारतवर्ष के भेजे हुए जहाज़ों के उतरने का मुख्य बन्दरगाह था। यहाँ से माल सारे योरप मे भेजा जाता था। फ्रास तथा इगलैण्ड के राज-परिवार तथा शासकवर्ग भारतवर्ष के बने हुए पदार्थों के माननीय ग्राहक थे। पूर्व में चीन देश का बन्दरगाह पेकिंग व्यापारिक जगत् में बहुत महत्त्व रखता था। इतना होते हुए भी उस समय का समुद्री व्यापार बहुत संकटपूर्ण तथा अनिश्चित होता था। कारण यह था कि मनुष्य ने उस समय तक समुद्र पर पूर्ण विजय नहीं पाई

थी। इनके बनाये हुए जहाज, नावें इत्यादि समुद्र की लहरों, ज्वारभाटा तथा प्रबल वायु की धाराओं के अधीन थे। कभी कभी पूर्व को जानेवाले जहाज वायु द्वारा दक्षिण को बहा ले जाये जाते और मनुष्य के निश्चित कार्य-क्रम को अपने प्रकोप से भंग कर देते। इसी समय में कोलंबस इत्यादि नाविकों की यात्राओं की शुरुआत हुई। कोलंबस भारतवर्ष की धनराशि तथा व्यापार से आकर्षित होकर इसी देश को समुद्री मार्ग से आ रहा था, परन्तु वायु-वेग ने उसे अज्ञात अमेरिका में पहुँचा दिया। इस प्रकार की अनिश्चित तथा सकटपूर्ण यात्रा के द्वारा ले जाये हुए माल का मूल्य स्वभावत ही अधिक होता था और इसी कारण ऐसा माल जनसाधारण तक नहीं पहुँच सका। भाप के जहाजों के आविष्कार ने यह संकट दूर किया और जल-मार्ग पर मनुष्य का प्रभुत्व स्थापित हुआ। अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निश्चित तथा सुगम हो गया। निर्धारित समय में अब जहाज़ द्वारा माल निश्चित स्थान पर पहुँच सकता है। बड़े-बड़े जहाजों द्वारा बहुत-सा माल थोड़े खर्च में सुदूर देशों को भेजा जा सकता है। इस सुविधा के बाद कम मूल्यवाले पदार्थ भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित हुए। आजकल के हवाई जहाज़ों ने देश-देशान्तरों की सुदूर यात्रा में लगनेवाले समय को अत्यन्त कम कर दिया है, जिससे फल इत्यादि तक बड़ी सुगमता से समुद्र तथा पर्वत लाँघकर देशान्तरों को भेजे जा सकते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जगत्-व्यापी हुआ और हर देश की प्रत्येक वस्तु दूसरे देश को जाने लगी।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रसार से पदार्थ-उत्पादन की भी नयी योजनाएँ बनाई गईं। सहयोगिक उत्पादन-क्षेत्र, जो नगर तथा देश तक ही सीमित था, अब देशान्तरों में अपना प्रभाव फैलाने लगा। जिस प्रकार एक ग्राम में एक परिवार एक विशेष पदार्थ के उत्पादन में पूर्ण शक्ति से संलग्न रहता था अथवा जैसे एक ग्राम या एक नगर एक मुख्य पदार्थ के उत्पादन में निपुणता तथा विशेषता प्राप्त करता था और वही उसका मुख्य व्यापार-भाजन हो जाता था, उसी प्रकार अब पदार्थ-उत्पादन देशों में बाँटा गया। पहले प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न प्रान्त अथवा नगर विशेष पदार्थों का उत्पादन करते और फिर आपस में पदार्थ-बदली अथवा व्यापार द्वारा सारे देश में उन्हें बेचते। उसी प्रकार अब प्रत्येक देश केवल एक अथवा दो पदार्थों के उत्पादन का कार्य करने लगा और एक देश के बदले सारे संसार में उन पदार्थों की बिक्री अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने लगा। सारांश यह कि आर्थिक संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण किया। इस प्रकार प्रत्येक देश को प्रचुर मात्रा में पदार्थ-उत्पादन करना पड़ता है और फिर वह पदार्थ संसार के भिन्न-भिन्न देशों में जल, थल तथा आकाश-मार्ग से पहुँचाया जाता है। जगत्-परिवार का यह मनोहर मूल रूप है। इस प्रकार के संगठन से एक लाभ यह हुआ कि प्रत्येक देश में केवल वही पदार्थ बनता जिसके बनाने के लिए वह देश प्राकृतिक रूप से सर्वश्रेष्ठ होता अथवा जहाँ उस पदार्थ के उत्पादन के सारे साधन बहुसंख्या में विद्यमान होते। यह बात प्रत्यक्ष है कि ऐसे देश उन विशेष पदार्थों को अन्य देशों की अपेक्षा कहीं कम मूल्य पर बना सकते हैं। दिन-प्रति-दिन तथा वर्ष-प्रति-वर्ष वही पदार्थ बनाने से वहाँ का मजदूर दल भी उस कार्य में निपुण हो जाता है। इस प्रकार संसार के सारे लभ्य पदार्थ प्रकृति द्वारा निश्चित स्थान में ही बनाये जाते हैं और संसार के सब पुरुष उन्हें मोल लेकर अथवा अपने देश के बनाये हुए पदार्थ देकर जीवन-सुख उठाते हैं। बहुत समय तक ऐसा ही आर्थिक संगठन चलता रहा। कौन-से पदार्थ किस देश में बनाए जायँ, इसका निश्चय उस पदार्थ के बनाने के मूल्य से नहीं होता। जैसे भारत-वर्ष यदि खेती द्वारा कच्चे माल का उत्पादन करता है तो कच्चे माल का भारतवर्ष में पैदा किया जाना इसलिए निश्चय नहीं किया गया कि संसार के सब देशों में खेती का माल सबसे सस्ता भारतवर्ष में ही हो सकता है, वरन् इस सिद्धान्त पर कि भारतवर्ष में अन्य व्यवसाय की अपेक्षा खेती की सबसे अधिक सुविधा है। इसलिए भारतवर्ष के आर्थिक हित की बात यही है कि वह खेती का उद्यम प्रधान रूप में रक्खे। यदि यह मान लें कि खेती में अधिक प्राकृतिक सुविधा होते हुए भी भारतवर्ष खेती न करके किसी और पदार्थ के उत्पादन में अग्रसर हो तो इसका परिणाम यह होगा कि भारतवर्ष में इस नये पदार्थ के बनाने से आर्थिक आय खेती की अपेक्षा कम होगी जोकि देश के लिए वार्षिक धनोपार्जन की दृष्टि से एक अहितकर बात है। इसको यों भी समझ सकते हैं कि भारतवर्ष में खेती के लिए प्राकृतिक सुविधा अन्य व्यवसाय की अपेक्षा अधिक होते हुए भी यदि खेती का उद्यम न किया जाय तो प्राकृतिक सुविधाएँ व्यर्थ नष्ट होंगी और अन्य जो उद्यम खेती के बजाय किया जायगा उसमें सुविधाएँ न होने से या तो उत्पादन की मात्रा कम होगी या उसका उत्पादन-मूल्य अधिक होगा। दोनों अवस्थाओं

मे धन, जन तथा प्राकृतिक सुविधाओं का उपयोग पूर्ण रूप से नही हो सकेगा। अतएव संसार के सब देश अपनी-अपनी प्राकृतिक सुविधाओं (natural advantages) के अनुसार उत्पादन-कार्य को बॉट लेते हैं और अन्य पदार्थ दूसरे देशों से मोल लेते हैं तथा उनके बदले मे अपने देश के बनाये हुए माल को बेच देते हैं। इस प्रकार के उत्पादन तथा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के सिद्धान्त को आपेक्षिक मूल्य सिद्धान्त (Theory of Comparative Costs) कहते हैं। इसके अनुसार हर देश अपनी प्राकृतिक सम्पत्ति, जनसख्या तथा व्यापारिक धन से अधिक-से-अधिक लाभ उठाता है। इस प्रकार के उत्पादन के बॅटवारे का उदाहरण भारतवर्ष का कृषि-प्रधान उद्यम, इङ्गलैण्ड का मशीनों द्वारा चीजों का उत्पादन, जर्मनी तथा पश्चिमी योरप के देशो मे लोहे की मशीनो का उत्पादन, रूस का कच्चा माल पैदा करना इत्यादि हैं।

इस प्रकार के उत्पादन, बॅटवारे तथा आर्थिक संगठन की सफलता का मूल मन्त्र "अवाधित व्यापार का सिद्धान्त" (Free Trade) है, जिसका अर्थ यह है कि कोई देश व्यापारिक उत्पादन अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्राकृतिक नियम मे बाधक स्वकल्पित नियम न बनाऍ और प्रत्येक देश को किसी अन्य देश के हाथ उत्पादित पदार्थ वेचने तथा मोल लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा सुविधा हो। अट्ठारहवी तथा उन्नीसवीं शताब्दी मे इस प्रकार के अवाधित व्यापार के सिद्धान्तानुसार अधिकांश देशो मे व्यापारिक व्यवस्था रही। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी का अत होने के पहले ही से इस व्यापार-प्रणाली मे शिथिलता के चिह्न दिखाई देने लगे, जिसका प्रमुख कारण व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता था। मशीनो द्वारा उत्पादन के पूर्वकाल मे इस प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता के पैदा होने की सम्भावना कम थी और इसीलिए उस समय तक अवाधित व्यापार बहुताश मे चलता भी रहा। मशीनों का आविष्कार तथा व्यापारिक उत्पादन मे मशीनो का व्यवहार पहले-पहल इङ्गलैण्ड मे हुआ और इस कारण से ससार मे मशीन द्वारा उत्पादित पदार्थ (manufactured goods) की सम्पूर्ण ठेकेदारी बहुत समय तक इङ्गलैण्ड के हाथ मे रही। यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि अन्य पदार्थों का उत्पादन कृषि की अपेक्षा अधिक लाभदायक होता है, क्योंकि उत्पादित पदार्थ का मूल्य कच्चे माल की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। दूसरे यह कि पदार्थ-उत्पादन-कार्य लगभग वर्ष के बारहों महीने किया जा सकता है जब कि कृषि का कार्य वर्ष के केवल कुछ ही महीनो मे हो सकता है और फिर भी उसकी सफलता ईश्वराधीन रहती है। मशीन द्वारा उत्पादन-कार्य की ठेकेदारी लेकर इङ्गलैण्ड ने ससार के अन्य देशों से कच्चा माल मोल लेकर पदार्थ-उत्पादन करना प्रारम्भ किया और उन पदार्थों को पुनः उन्हीं तथा अन्य देशों मे वेचा। इस प्रकार इङ्गलैण्ड का श्रमजीवी दल उत्पादन मे सलग्न रहा और पदार्थ बनाने, उन्हे सुदूर देशो मे ले जाने, तथा वेचने का व्यापारिक लाभ उनके देश को मिला। इस प्रकार इङ्गलैण्ड ससार भर के व्यापार का केन्द्रस्थान-सा हो गया, क्योंकि प्रत्येक देश से कच्चा माल इङ्गलैण्ड को आता और उत्पादित पदार्थ इङ्गलैण्ड से उन देशों को भेजे जाते। उत्पादन केन्द्र के साथ ही व्यापार वाणिज्य की आवश्यकता के अनुसार इङ्गलैण्ड मे महाजनी का केन्द्र भी क्रमशः स्थापित हुआ और आज तक लदन ससार का महाजनी केन्द्र बना हुआ है। जहाज़ की कम्पनियाँ व व्यापारिक कम्पनियाँ इत्यादि भी इङ्गलैण्ड मे खुली, जिनमे ईस्ट इडिया कम्पनी, पी० एण्ड ओ० शिपिंग कपनी इत्यादि सुविख्यात हुई। इन बातों से यह सिद्ध हुआ कि उत्पादन का केवल एक साधन, अर्थात् मशीन, जिसका अविष्कार अल्पकाल से हुआ था, होते हुए भी इङ्गलैंड ने सम्पूर्ण उत्पादन-कार्य अपने देश में करना प्रारम्भ किया और अन्य देशों से जहाँ उत्पादन की अन्य समस्त सुविधाएँ थी उसने प्रतिद्वन्द्विता ठानी। मशीन का बना हुआ माल सस्ता होने से हाथ का कारीगरों का बनाया हुआ माल बाज़ार मे बिक नही सका और क्रमशः उनका उद्यम नष्ट होने लगा। उसका स्थान इङ्गलैंड के मशीन द्वारा उत्पादित पदार्थ ने ले लिया। इस प्रकार इन देशों का उद्यम तथा व्यापार नष्ट हुआ और बेकारी बढी। भारतवर्ष का कपडे, रेशम तथा नील इत्यादि का भूतपूर्व व्यापार भी इसी प्रकार नष्ट किया गया था। इस प्रकार इङ्गलैण्ड ने आपेक्षिक मूल्य उत्पादन सिद्धान्त (Comparative Costs Production theory) का उल्लघन किया और अवाधित व्यापार का सहारा लेकर ससार में व्यापारिक साम्राज्य स्थापित किया। इस व्यापारिक साम्राज्य के स्थापन मे व्यापारिक नीति तथा राजनीतिक कूटनीति से पूरी-पूरी सहायता ली गई। इस प्रकार इङ्गलैंड का व्यापार-विस्तार राज्यबल तथा राजनीतिक कूटनीति के आधार पर हुआ। कहीं राज्यबल ने व्यापारिक प्रभुत्व को अग्रसर किया तो कहीं व्यापार-मिश्रित कूटनीति ने इङ्गलैंड का राज्य स्थापित

किया। भारतवर्ष, अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका का इतिहास इसका साक्षी है। इसके परिणामस्वरूप इङ्गलैंड तो धन-सम्पत्ति से भर गया और धन तथा व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ उसका साम्राज्य भी संसार के सुदूर देशों तक फैलने लगा। इसके विपरीत अन्य देशों में निर्धनता तथा बेकारी का राज्य बढ़ने लगा और वे देश अपने प्रति दिन के आवश्यक पदार्थों के लिए भी इङ्गलैंड के अधीन हो गये। दूसरा महान् भय यह भी था कि परस्पर युद्ध के समय में अन्य देश आवश्यक पदार्थों से वञ्चित किये जा सकते थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज के युद्ध में आर्थिक वंचना (Economic Blockade) से मिलता है। कुछ समय तक तो यह नीति अविरोध चलती रही, परन्तु थोड़े ही समय के बाद अन्य देशों ने इस नीति का विरोध किया और अपने-अपने देशों में उत्पादन कार्य प्रारम्भ करने की योजना की तथा इङ्गलैंड के व्यापारिक साम्राज्य को भग करने की चेष्टा की। इस कार्य के दो प्रमुख अंग हुए—पहला यह कि स्वदेशी पदार्थ बनाये जायँ और दूसरा यह कि इङ्गलैंड की प्रतिद्वन्द्विता से स्वदेशी व्यापार तथा व्यवसाय की रक्षा की जाय। बिक्री के साधन, पदार्थों को ले जाने के साधन, बन्दरगाह, महाजनी, बीमा इत्यादि के बगैर व्यापार सफल नहीं हो सकता। अतएव अंगरेजी जहाज़ कम्पनी, बैंक महाजनी, बीमा कम्पनी इत्यादि की अवहेलना करके भिन्न-भिन्न देशों ने इन व्यापार-सहायक कार्यों पर भी ध्यान दिया और अपने व्यापार के लिए इस प्रकार की कम्पनियाँ खोलीं। इसके अतिरिक्त इङ्गलैंड की प्रतिद्वन्द्विता से संरक्षण के लिए अंगरेजी पदार्थों के बहिष्कार करने की युक्ति भी चलाई गई। देश में खुले हुए नये कारखानों को अन्य सहायता के अतिरिक्त देश में माल बेचने की सुविधाएँ दी गईं। विदेशों में बने हुए पदार्थों पर बन्दरगाहों पर भारी कर (Customs duty) लगाया गया, जिससे उनका मूल्य बढ़ जाय और स्वदेशी बने हुए माल के मुक़ाबले उनकी बिक्री न हो सके। इस प्रकार अवाधित व्यापार (Free Trade) की नीति का अन्त हुआ और प्रत्येक देश ने स्वदेश के हित की स्वतन्त्र आर्थिक नीति का अनुकरण किया, जिसे आर्थिक स्वदेशहित की नीति (Economic Nationalism) कहते हैं। इस रीति के अनुसार प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता की सब चीजें अपने ही देश में बनाता है चाहे इसके लिए उसे मशीन, कच्चा माल अथवा अन्य पदार्थ दूसरे देशों से भले ही लेने पड़ें और इस प्रकार उत्पादित पदार्थ कुछ मँहगे ही क्यों न हों। इसमें मूल सिद्धान्त है राष्ट्र का स्वत्व स्थापित रखना और युद्ध के समय में जन-साधारण की रक्षा तथा पालन का पूर्ण विचार रखना। संरक्षण (Protectionism) की नीति पहले-पहल जर्मनी ने प्रारम्भ की। इस नीति का सबसे बड़ा पक्षपाती जर्मन अर्थशास्त्री लिस्ट था। उसका कथन था कि अवाधित व्यापार-नीति तभी चलाई जाना चाहिए जब प्रत्येक देश समान आर्थिक उन्नति की दशा में हो और पदार्थ-उत्पादन प्राकृतिक सुविधाओं के अनुसार हो तथा किसी देश द्वारा सामयिक अवस्था के अनुकूल अपने हित के लिए न किया जा रहा हो। उदाहरण के लिए यदि इंगलैण्ड लोहा और कोयला का उत्पादन-स्थान होने पर केवल मशीनें बनाकर बेचता और भारतवर्ष जैसे देश उन मशीनों को मोल लेकर अपने मज़दूरों द्वारा कच्चे माल से पदार्थ बनवाते तो अवाधित व्यापार (Free trade) अपेक्षित मूल्य उत्पादन के सिद्धान्त की नींव पर चल सकता था, अन्यथा नहीं। उसका यह भी कथन है कि किसी पदार्थ को केवल कुछ समय पहले बनाने के आधार पर किसी पदार्थ के उत्पादन के लिए, जिसके लिए वहाँ प्राकृतिक सुविधाएँ न हों, कभी किसी देश को प्राकृतिक उत्पादन-अधिकार नहीं दिया जा सकता। इस तर्क का लक्ष्य भी इंगलैण्ड था, क्योंकि वहाँ मशीनें पहले बनने से पदार्थ-उत्पादन जल्दी प्रारम्भ हो गया था, जैसे कपड़े इत्यादि के कारख़ाने। लिस्ट का सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह था कि जो पदार्थ अल्प संरक्षण के बाद पूर्ण रूप से उत्पादित हो सकते हैं और प्राकृतिक सुविधाओं द्वारा प्रतिद्वन्द्विता का मुक़ाबिला कर सकते हैं उन पदार्थों के उत्पादन का अधिकार उन देशों को होना चाहिए। इसके आधार पर जर्मनी ने लोहे की मशीनों के कारखाने खोले और मशीनें बनाकर नाना प्रकार के पदार्थ बनाना प्रारम्भ कर दिया। उन जर्मन पदार्थों की बिक्री के लिए सम्पूर्ण जर्मन देश सुरक्षित रक्खा गया। फिर जर्मन उदाहरण का अनुसरण फ्रांस, इटली, जापान तथा अमेरिका ने भी किया। इस प्रकार अवाधित व्यापार नीति का प्राय लोप-सा हो गया।

दूसरा प्रश्न यह उठा कि इतने उत्पादन करनेवाले देशों को कच्चा माल कैसे और कहाँ से मिले तथा उनके उत्पादित पदार्थों को मोल कौन देश लें? पिछले लेखों में यह विवरण आ चुका है कि मशीन द्वारा उत्पादन तभी सफल हो सकता है जब पदार्थ असंख्य मात्रा में बनाये जायँ। कम अथवा थोड़े पदार्थ बनाने से उनका मूल्य बढ़ जाता है। इसलिए प्रत्येक देश ने अधिक से अधिक पदार्थ

बनाने और सस्ते-से-सस्ते दाम पर बेचने की योजना की। अब इन उत्पादन करनेवाले देशों में पूर्ण रूप से प्रतिद्वन्द्विता चलने लगी। पहले तो कच्चे माल पाने के लिए कृषि-प्रधान देशों से मित्रता बढ़ाने अथवा उन पर प्रभुत्व जमाने की चेष्टा हुई। इस प्रकार के देशों मे भारतवर्ष, दक्षिणी अफ्रीका, उत्तरी व पूर्वी अफ्रीका, एशिया के पूर्वी देश, चीन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, भारतवर्ष के दक्षिण के द्वीप इत्यादि हैं। उपजाऊ भूभाग मे उत्पादन करनेवाले देशों के निवासी जाकर बसने लगे और वहाँ के आदि निवासियो को दास बनाकर उनसे कच्चा माल पैदा कराने का कार्य लेने लगे। इन भूभागों को उपनिवेश (Colonies) कहते हैं। उपनिवेश तथा अन्य देशों का कच्चा माल पाने के लिए उत्पादन करनेवाले देशों में परस्पर व्यापार-युद्ध के बाद शस्त्र-युद्ध भी होने लगा। गत महायुद्ध और आजकल के महायुद्ध का एक प्रमुख कारण व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता तथा उपनिवेशों पर प्रभुत्व जमाने की चेष्टा है। इसके बाद उत्पादित पदार्थ के बेचने का प्रश्न उठा! उसके लिए ख़रीदार ढूँढे जाने लगे और फिर कच्चे मालवाले देशों को प्राप्त करने के प्रयत्नों से काम लिया गया। इन राष्ट्रों ने साम्राज्य बढ़ाना प्रारम्भ किया। अंगरेज़ी साम्राज्य, जापानी साम्राज्य, जर्मन साम्राज्य, इटली का साम्राज्य, फ्रांस का साम्राज्य—सब उत्पादित पदार्थ बेचने के सुरक्षित बाज़ार हैं जिनको अपने अधिकार में लाने और सुरक्षित रखने की वे देश दिन-रात चेष्टा करते रहते हैं। इस नीति को पूँजीवादी साम्राज्यवाद (Capitalist Imperialism) कहते हैं। इङ्गलैंड ने इस नवीन प्रतिद्वन्द्विता को रोकने के लिए अपने साम्राज्य तथा उपनिवेशों का एक संघ स्थापित किया और यह निश्चित किया कि इस संघ-परिवार के सदस्य एक-दूसरे के प्रति व्यापारिक सहानुभूति तथा व्यापारिक मित्रता रखते हुए राजराष्ट्र अर्थात् इङ्गलैंड को अपने देशों में विशेष व्यापारिक सुविधाएँ दें। उसके बदले में इङ्गलैंड ने भी यह प्रतिज्ञा कि वह संघ-परिवार में सम्मिलित देशों के कच्चे माल को अथवा यदि उनमें कुछ पदार्थ-उत्पादन होता हो तो उसे भी अन्य देशों की अपेक्षा बिक्री की अधिक सुविधाएँ देगा। सारांश यह कि इस साम्राज्य-पारिवारिक संघ द्वारा नये प्रतिद्वन्द्वियों को अँगरेज़ी साम्राज्य के देशों का माल ख़रीदने और अपना बना हुआ माल बेचने से जहाँ तक हो वंचित रक्खा जाय। दूसरे यह कि इस साम्राज्य-परिवार में इङ्गलैण्ड का स्थान फिर उतना ही ऊँचा होगा, जितना कि प्रतिद्वन्द्विता के पूर्वकाल में उसका स्थान संसार में था। इसका कारण यह है कि साम्राज्य-परिवार (Empire-federation) में पदार्थ उत्पादन करनेवाला बहुतांश में केवल इंगलैण्ड ही है और बाक़ी देश कच्चा माल पैदा करते हैं और उत्पादित पदार्थ मोल लेते हैं। इस प्रकार की योजना से इंगलैण्ड को कच्चा माल मिलना तथा उसका उत्पादित पदार्थ बिक जाना सुरक्षित हो गया। इस नीति को महाराजिक पक्षपात (Imperial preference) की नीति कहते हैं। सन् १९३२ में ओटावा में एक कान्फ्रेन्स अँगरेज़ी साम्राज्य के सब देशों की हुई, जहाँ इस प्रकार का निश्चय हुआ। इसे 'ओटावा-संधि' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रतिद्वन्द्विता मे सफल होने के लिए अन्य युक्तियाँ भी निकाली गईं। कई देशों ने अपने उत्पादित पदार्थों का मूल्य दूसरे देशों मे सस्ता करने के लिए अपने सिक्के का दर दूसरे देशों के सिक्कों के मूल्य की अपेक्षा राष्ट्रीय नियम द्वारा कम कर दिया, जिससे दूसरे देशों के सिक्के के रूप में उत्पादित पदार्थों का मूल्य कम हो जाय। विदेशी माल का बहिष्कार, विदेशी माल पर कर, विदेशी माल के आने की मनादी, तथा सिक्के के दर का घटाव-बढ़ाव इत्यादि का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अपने देश के हित में अनुकूल बनाने के लिए प्रयोग किया गया। इससे प्रतिद्वन्द्विता ने सिर्फ़ और भी जटिल रूप ही धारण नहीं किया वरन् एक देश दूसरे देश से व्यापारिक विनिमय करने को तैयार हुआ। भारतवर्ष में ऐसा उदाहरण भारत और जापान के रुई-कपड़े के व्यापार मे हुआ। ओटावा पैक्ट के अनुसार जब भारतवर्ष में जापानी कपड़े पर कर बढ़ाया गया तब जापान ने भारतवर्ष की रुई न ख़रीदने की धमकी दी। इन पारस्परिक प्रयोगो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक और नवीनता पैदा कर दी—वह यह कि दो देश एक निश्चित संख्या में दो पदार्थ बदलने लगे। इस प्रकार के समझौते इटली ने पहले प्रारम्भ किये। बाद में इस प्रकार के व्यापारिक समझौते कई देशों मे हुए। इसको संख्या-बद्ध व्यापार (Quota System of Trade) कहते हैं। जर्मनी ने भी बहुत-कुछ ऐसा ही नियम बनाया है। वह मशीन इत्यादि देकर उसके बदले में निश्चित संख्या में कच्चा माल इत्यादि ले लेता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इस प्रकार घोर राष्ट्रीय हित की नीति क आधार पर चल रहा है। यह प्रतिद्वन्द्विता यहाँ ही रुककर फिर सहयोग की ओर पलटेगी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कोई और रूप लेगा यह प्रश्न आज के अर्थशास्त्री और शासकों के सामने है।
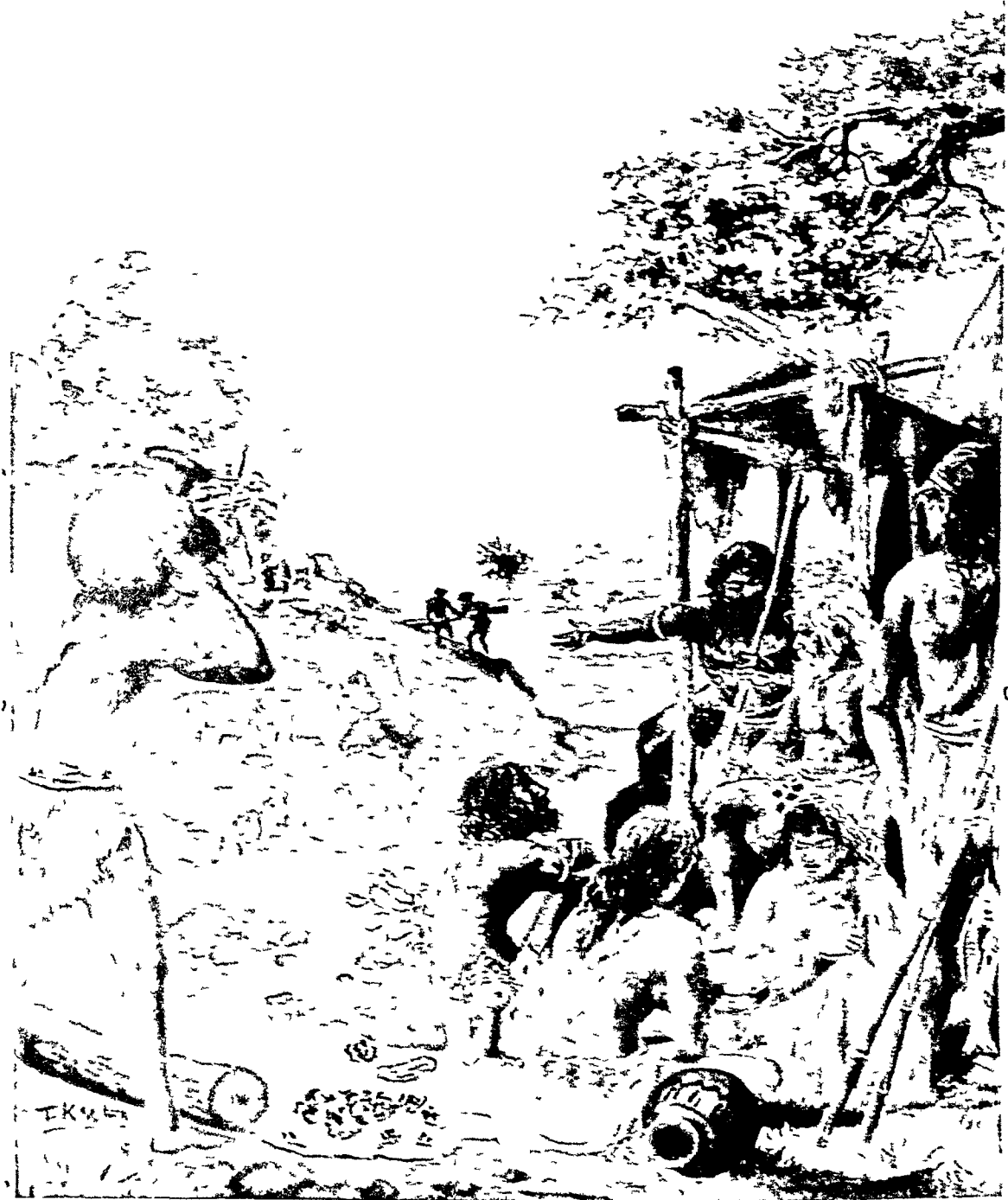
सभी वैज्ञानिक यह मत स्वीकार नहीं करते कि पशु-पालन का कृषि-कार्य से पूर्व ही आविर्भाव हो चुका था। अनेकों का मत है कि एक साथ ही कहीं पर मनुष्य कृषि-कार्य और कहीं पर पशु-पालन करने लगा था। इसके फलस्वरूप जो समाज-विन्यास विकसित हुआ, उसमें शासन तथा संगठन का भार परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति के ऊपर ही पड़ता था, क्योंकि वही सबसे अधिक अनुभवी होता था। इस गोष्ठीपति का शासनदण्ड समाज का न्यायदण्ड समझा जाता था। इस नवीन समाज में श्रमविभाग विशेष-रूप से प्रस्फुटित हुआ। पुरुषों ने कृषि और पशुरक्षा का भार लिया, स्त्रियाँ कपड़ा बुनने, सीने आदि का काम करने लगीं। इस प्रकार समाजग्रंथि और भी मज़बूत हो गई।

सभ्यता का जन्मस्थान

प्राचीन काल में भूमण्डल तथा आकाश दोनों ही अधिकतर चञ्चल थे। जैसे-जैसे जलवायु का परिवर्त्तन होता वैसे ही भूकम्प, पर्वत-उपत्यकाओं का उत्थान एवं समतल भूमि का पतन भी खूब होता था। साथ ही पृथ्वी के हरे आच्छादन, जीव-जन्तुओं के समावेश एवं प्रदेश विशेष के विचरण में भी परिवर्त्तन उपस्थित होते। जलवायु का यह परिवर्त्तन प्रायः ईसा से पूर्व दस हज़ार वर्ष तक चलता रहा। इस समय आदिमनुष्य का पृथ्वी पर आविर्भाव हो चुका था तथा वह इधर-उधर घूम भी रहा था। उस समय वह वन्य पशुओं का समधर्मी था। पत्थर, लाठी एवं अग्नि का व्यवहार जानकर तथा पालू कुत्ते की सहायता पाने पर भी उसका जीवन अभी बिलकुल अनिश्चित एवं आशङ्कापूर्ण ही था।

अनुमानतः ईसा से प्रायः छः हज़ार वर्ष पूर्व पृथ्वी के जलवायु में समता दिखाई पड़ना आरम्भ हुई। तभी उत्तर का हिमप्रदेश अन्तिम बार मेरु की ओर पलटा था और उत्तरी अफ्रीका, उत्तरी सीरिया, इराक़, ईरान तथा पंजाब का प्रदेश शुष्क होना आरम्भ हुआ था। पहले अटलाण्टिक महासागर की ओर से जो आँधी और तूफ़ान आकर इस सारे प्रदेश को तराबोर करते हुए हरी घास तथा वनों से आच्छादित करके इसे श्यामल बना देते थे वे अब उत्तर की ओर घूम गए। जो प्रदेश पहले वन तथा घासफूस से आच्छादित था वही अब धूसर प्रान्त एवं मरुभूमि के विस्तार से समाच्छन्न हो उठा।

जीवजन्तुओं में भी उस समय एक महान् परिवर्त्तन हुआ। इसी परिवर्त्तन के फलस्वरूप नील, फ़रात एवं सिन्धु की उपत्यका के प्रदेश में मनुष्य की आदिम सभ्यता का उद्भव हुआ।

तापवृद्धि तथा मरुभूमि के विस्तार के साथ-ही-साथ वनभूमि संकुचित होने लगी एवं वे वनजन्तु जिनका शिकार करके प्रागैतिहासिक मनुष्य जीवन-निर्वाह करते थे मरुद्यान अथवा नदियों द्वारा सिंचित विस्तीर्ण नीची भूमि की तलाश में निकल पड़े। पहले जहाँ विस्तृत घास के मैदान थे वहाँ अब छोटी-छोटी सूखी घास अथवा छाया और जल से रहित प्रदेश दिखाई पड़ने लगे। वहाँ पर जीवन धारण करना क्रमशः असम्भव होने लगा। अनेक वनजन्तु दक्षिणी ग्रीष्ममण्डल की ओर अथवा उत्तरी योरप की ओर, जहाँ अरण्यभूमि खूब विस्तृत थी, भाग गए। उनके पीछे-पीछे मनुष्य भी भागा। बहुतेरे वन्य जन्तु तथा मनुष्य अफ्रीका से सिन्धु-प्रदेश तक लगातार प्रतिकूल प्रकृति के साथ युद्ध करते हुए परास्त होकर मृत्यु-मुख में पतित हुए, अथवा इस प्रदेश में जहाँ-कहीं मरुद्यान या स्रोतस्वती नदियाँ थीं वहीं पर चारों ओर से आ-आकर इकट्ठा होने लगे।

इन मरुद्यानों के चारों ओर या विशाल नदियों की उपत्यका, डेल्टा अथवा जलप्लावित भूमि में मनुष्य तथा पशु के एक साथ गमन और निवास के फलस्वरूप मानव की आदिम संस्कृति का जन्म हुआ।

मनुष्य के इतिहास में एक महान् आश्चर्य की कथा यह है कि जिस प्रदेश में उसके पालतू गाय-बैल, बकरी भेड़ और सुअर इत्यादि के पूर्वज वन्य अवस्था में इधर-उधर घूमा करते थे, उसी प्रदेश में उसने जंगली घास जैसे पौधों से जौ, गेहूँ इत्यादि अनाज उत्पन्न करना सीख लिया। बहुत सम्भव है कि पशु-पालन तथा कृषि-कार्य प्रकृति की दो यमज संतान हों, जो ईसा से प्रायः छः या सात हज़ार वर्ष पूर्व मरुद्यान के आस-पास या किसी विशाल नदी की तटभूमि अथवा डेल्टा में एक साथ ही उत्पन्न हुई हों।

पशु-पालन किस रूप में सर्वप्रथम हमारे सामने आया,

यह बहुत-कुछ कल्पना-प्रसूत कथा है। किन्तु इतना तो ठीक ही है कि मनुष्य की ज्ञानकृत चेष्टा सदा ही इसके पीछे नहीं रही।

सभी वैज्ञानिक यह मत स्वीकार नहीं करते कि पशु-पालन का कृषि-कार्य से पूर्व ही आविर्भाव हो चुका था। अनेकों का मत है कि एक साथ ही कहीं पर मनुष्य कृषि-कार्य तथा कहीं पर पशु-पालन करने लगा। यही नहीं प्रत्युत् इनके मत में कृषि कार्य सम्भवत कुछ पहले ही आरम्भ हुआ हो।

बहुत से पण्डितों का मत है कि कुत्ता निएनडरथल मनुष्य का साथी था और कुत्ता ही प्रथम गृहपालित पशु भी है। कुत्ता मनुष्य के खाने में से बचे हुए अंश से अपनी क्षुधा-शान्ति करने की आशा से उसके साथ साथ रहता था। क्रमश: उसने अपनी हिंसवृत्ति छोड़ दी और मनुष्य की प्रीति एव स्नेह का भाजन बन गया। मनुष्य ने भी दूसरे हिंस्र पशुओं के साथ युद्ध करने के लिए उसे अपने अग्रगामी एव सतर्क सहचर के रूप में स्वीकार कर लिया। कुत्ते की भाँति के अन्य अर्द्धवन्य एव अर्द्धपालित पशु या पशुदलों को मनुष्य अपने निवासस्थान के आस-पास रहने देने में बाधा नहीं देता था, क्योंकि खाना न मिलने पर यही पशुदल तत्कालीन मानव के लिए एक सुरक्षित एव सञ्चित भोजन सामग्री का काम देता था।

मनुष्य इन पशुओं को भय नहीं दिखाता था, न उनकी हत्या ही करता था। वह बहुत कम अवस्था के पालने पोसने योग्य पशु-शावकों की भी हत्या नहीं करता था। मालूम पड़ता है, इसी प्रकार पशु-पालन का आरम्भ हुआ। मनुष्य जब पहले पहल परम दुर्दमनीय साँड इत्यादि भयानक जन्तुओं को छाँट छाँटकर मारने लगा, तभी उसने पशु-पालन मे निर्वाचन आरम्भ कर दिया। इन पशुओं की अपेक्षा उनकी सन्तति क्रमश वश करने मे अधिक उपयुक्त सिद्ध होने लगी। पशुओं को मनुष्य के साथ रहने से भोजन तथा जीवन-रक्षा मिली, और मनुष्य को पशुओं से भोजन, वस्त्र एव अपनी स्त्री-जाति के लिए सुलभ स्नेह-सामग्री प्राप्त हुई।

कभी किसी मातृहीन गोवत्स को भी आदिम मानव के घर मे आश्रय मिला ही होगा। उस गोवत्स को उस घर की किसी सतान से बिछुड़ी हुई जननी ने स्नेह से बिलकुल अपना लिया होगा। इस प्रकार यह धारणा होती है कि मनुष्य ने पशुओं की रक्षा करना केवल उपयोगितावश ही नहीं स्वीकार किया वरन् व्यक्ति एव समाज की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अनेक धाराओं ने आ-आकर मनुष्य और पशु के सम्बन्ध को सुदृढ कर दिया है। उत्तर एशिया में 'बल्गा' नाम का हरिण कदाचित् मनुष्य द्वारा सर्वप्रथम गृहपालित पशु था। इसी के अनुकरण के फलस्वरूप बकरी, गाय इत्यादि भी बाद में वशीभूत कर ली गई।

मनुष्य के साथ पशुओं के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति में वशीकरण एवं लालन-पालन का प्रभेद मान लेना परम आवश्यक है। सम्भव है, किसी जगह शिकारी मनुष्य ने बहुत-से वन्य जन्तुओं को, पहले कभी, घेर रक्खा हो। उनमें से जो निकल भागे वे बच गए। जो उस घेरे में घिरे रह गए उनकी सन्तति अपेक्षाकृत अधिक वश्य हो गई। क्रमश: उनमें ऐसा गुण दिखाई पड़ने तथा वंशक्रम से सञ्चारित होने लगा कि मनुष्य के द्वारा वे अपेक्षाकृत सरलतापूर्वक शिक्षित तथा परिचालित होने लगे। युगों तक इसी भाँति दुर्दमनीय अवस्था में बँधे या घिरे रहने के पश्चात् वे क्रमशः मनुष्य के वशीभूत और गृहपालित हुए होंगे। मनुष्य ने उनका लालन-पालन करके उन्हें अपना आहार बनाया, उनका वाहन-रूप में व्यवहार किया, उनके द्वारा हल और गाड़ी खिंचवाई तथा दूसरों के साथ सग्राम में अपना सहायक बनाकर उनको युद्ध-शास्त्र तक की शिक्षा दे दी।

जानवरों में कुत्ता, घोड़ा तथा हाथी सबसे ज्यादा आसानी से सिखाये जा सकते हैं। उनका उपयोग मनुष्य के नित्य-प्रति के श्रम को कम करने, अथवा किसी कठोर दायित्वपूर्ण कार्य मे सहायता देने में युगों से हो रहा है। युद्ध में घोड़ा अथवा हाथी ने कितने ही सेनापतियों की प्राणरक्षा की है। सेना मे तथा गुप्तचर के कार्य में कुत्तों ने हमें आश्चर्य मे डाल देनेवाली निपुणता एव शिक्षा के अनुसार चलने की क्षमता दिखाई है। जन्तुओं की यह नमनीयता बहुकालव्यापी निर्वाचन एव सकीर्ण क्षेत्र मे विशिष्ट प्रकार के जन्तुओं की उत्पत्ति का ही फल है।

मनुष्य ने बैल को हल में जोतकर पहले अपनी सस्कृति को सुदृढ भित्ति पर स्थापित किया। पशु से चलनेवाले हल के व्यवहार से पहले कृषि के द्वारा बहुसख्यक समाज के लिए खाद्य सामग्री का जुटाना असम्भव था। ईसा से ५००० वर्ष पूर्व बेबीलान मे बैल, बकरी, मेष तथा सुअर पाले जाते पाये गए हैं। उसी प्रकार चीनी सभ्यता में एक राजाज्ञा मे घोड़ा, बैल, मुरगी, सुअर, कुत्ता तथा भेड़ के पालन तथा उत्पादन का सकेत पाया जाता है। यह राजाज्ञा ईसा से कई शताब्दी पूर्व की है। इसी प्रकार सिन्धुतटस्थ सभ्यता (ई० पू० ३२५०—२७५०) में बैल, भैंसा, एक कूबड़-

आज से ५०००० वर्ष पूर्व चतुर्थ हिमयुग की चरम सीमा के समय एशिया, योरप, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया की रूपरेखा

धरती ----
सागर ----
बर्फ ----
आधुनिक भूमिसीमा

बहुत ऊंचे पर्वत
छिछला जल या दलदल
आज की भौगोलिक तटरेखा
तत्कालीन तटरेखा

S K Mitra
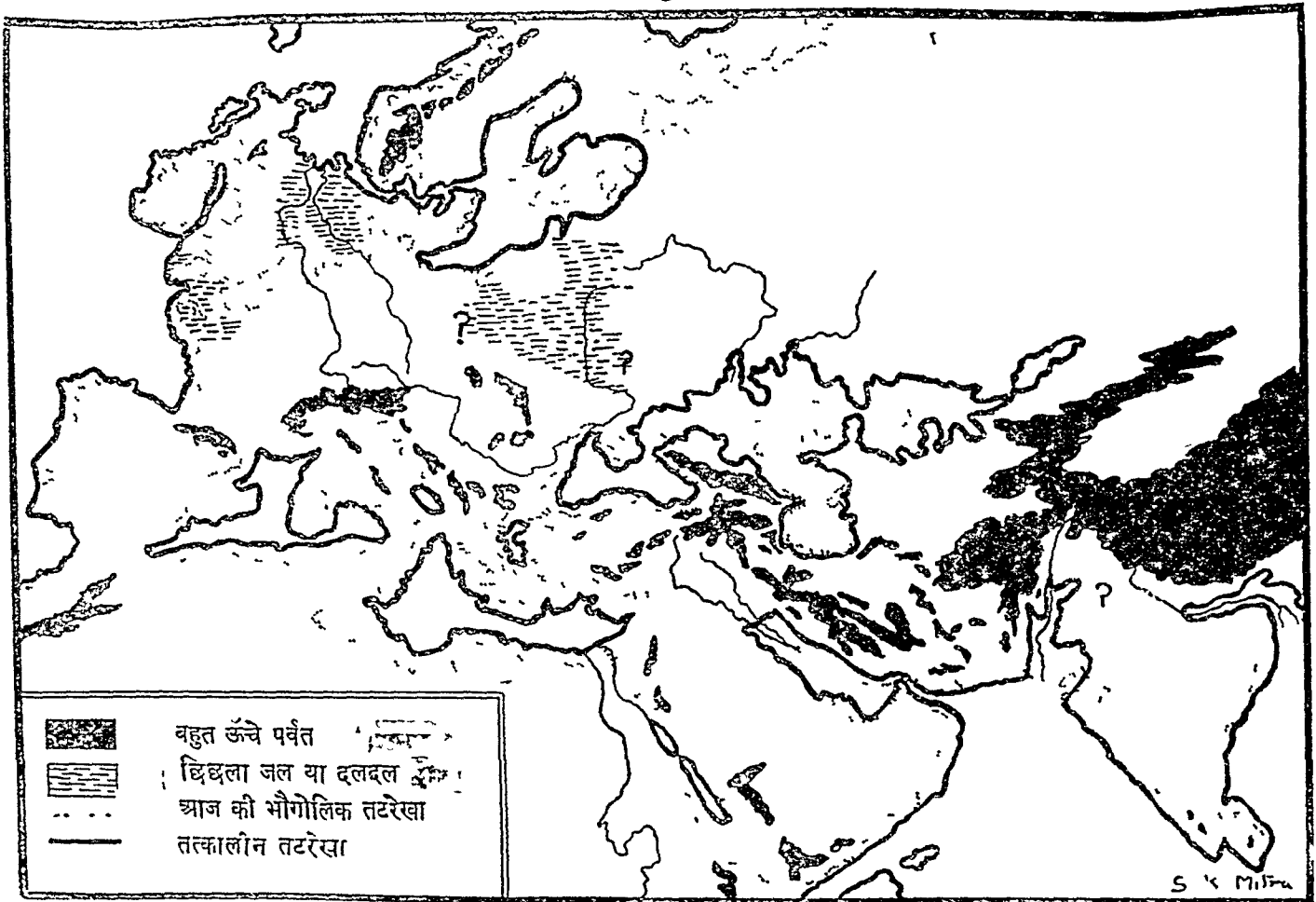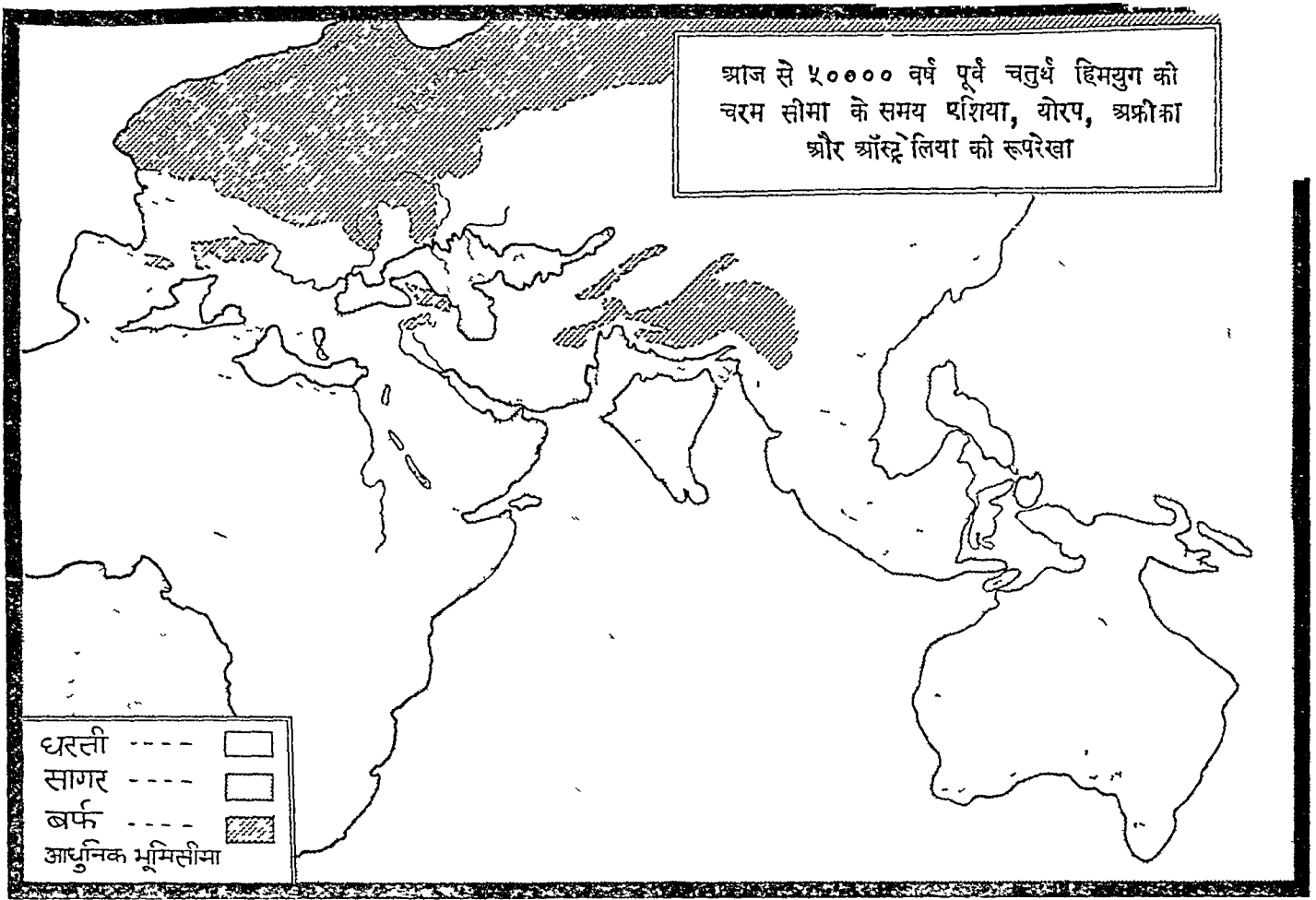
(ऊपर) अंतिम या चतुर्थ तुषार-युग की चरम अवस्था के समय पुरानी दुनिया का रूप। इस समय पृथ्वी पर निएनडर-थल मानव विचरते थे। क्रमशः हिम का आवरण कम होने लगा और अनेक भाग उष्ण होने लगे। (नीचे) उत्तर-पाषाण युग (३५ से २५ हज़ार ईस्वी पूर्व) में धरातल का रूप-परिवर्त्तन। हिम-प्रलय समाप्त हो गया था। इन दिनों

वाला बैल, सुअर, भेड़ तथा बकरी इत्यादि पशुओं के पाले जाने के चिह्न मिले हैं। विशेषज्ञों का मत यह है कि सिन्धु तट पर अनेक पशुओं के सर्वप्रथम गृहपालन का परिचय पाया जाता है। सिन्धु प्रदेश ही बैल-गाय, भेड़-बकरी, कुत्ता, भैंस भैंसा तथा ऊँटों के पालन का प्रधान एव सम्भवत. एकमात्र केन्द्र था। भारतीय कूबड़वाला बैल एव छोटे-छोटे सींगवाला बिना कूबड़ का बैल हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों में पाई जानेवाली मुद्राओं मे अङ्कित पाया गया है। ये दोनो ही नर्मदा-तीरस्थ शिवालीक बैल के वशधर हैं। सुपण्डित लिएडेकर का मत है कि भारतीय ककुद्-वृष या कूबड़वाला बैल बेबीलान और पाश्चात्य प्रदेशों मे पाले जानेवाले बैलों का पूर्वज है।

एक मुद्रा मे एक सींगयुक्त देवता—जिसे कुछ लोग प्रागैतिहासिक शिव अथवा पशुपति समझते हैं—अङ्कित पाया गया है। उसके चारों ओर हाथी, बाघ, भैंसा, गैंडा एव हरिण इत्यादि चित्रित हैं। इसमे आश्चर्य करने की कोई बात नहीं कि सिन्धु-उपत्यका मे जहाँ-जहाँ मनुष्यों ने कृषि-कर्म एव पशुपालन आरम्भ कर दिया था वहाँ पर नगरवासी तथा वाणिज्य-निपुण हो जाने पर भी लोग पशुपति को ही देवता मानते थे तथा उसे पूजते थे।

मनुष्य का सबसे पहला पालतू जानवर संभवतः कुत्ता ही था।

सैन्धव सभ्यता मे गाड़ी थी, पर उस गाड़ी को खींचने-वाला घोड़ा न था। बहुत सम्भव है कि भारतवर्ष में घोड़ा सर्वप्रथम आर्यों के साथ ही मध्य एशिया से आया हो। वैदिक सभ्यता मे घोड़े की बड़ी मान-मर्यादा थी। अनेक यज्ञों मे—विशेषत. बाद के युग मे प्रचलित अश्वमेध यज्ञ में—राजा-महाराजाओं के बीच घोड़े के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन का बहुत उल्लेख मिलता है। पहले पशुपालन के साथ धर्म तथा जादू आ मिला था। कुछ लोगों का ख्याल है कि बड़े सींगोंवाले बैल का मुख चन्द्रमण्डल-सा दिखलाई पड़ता है। उनका मत यह है कि चन्द्रपूजा के साथ बैल के लालन-पालन का सम्बन्ध था। सैन्धव सभ्यता मे, बहुत सम्भव है, ककुद्वृष का किसी धर्मानुष्ठान पद्धति के साथ सम्बन्ध रहा हो। दक्षिण-पूर्व एशिया मे सुअर तथा मुरगी की रक्षण-पालन की प्रथा के साथ असभ्य जातियों के पशु-पक्षियों पर आश्रित धर्म तथा समाज व्यवस्था का सम्बन्ध पाया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की रीति नीति तथा धर्म पशु-पालन मे सुविधा के विचार से बहुत-कुछ सम्बद्ध हैं, तथा पशुओं को भी वह इन्ही धर्म आदि की कसौटी पर कसता रहा है।

मानव सभ्यता के इतिहास मे एक बड़े आश्चर्य की बात यह है कि ईसा से ७०००—६००० वर्ष पूर्व पृथ्वी की जलवायु मे परिवर्तन हुआ तथा तुषार-युग के अन्त मे गर्मी बढ़ने लगी उसके साथ ही साथ जब मनुष्य और अन्य जन्तु पानी तथा हरियाली की खोज में मरुद्यानों, नदियों की घाटियों अथवा डेल्टों में इकट्ठा होने लगे तभी एक साथ ही कृषि तथा पशु-पालन का आरम्भ हुआ। आज के गृहपालित पशुओं के दुर्दमनीय पूर्वज ठीक उन्हीं स्थानों

मे स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण किया करते थे जिनमे मनुष्यों की खाद्य सामग्री वनप्रान्तरों मे नैसर्गिक अवस्था में ही पाई जाती थी। मिस्र, बेबीलान एव सैन्धव प्रदेशो मे मनुष्यो ने जब अरण्यभूमि की कमी के साथ-ही साथ शिकार के अभाव का भी अनुभव किया तथा उन प्रदेशों मे कृषिकर्म भी आरम्भ कर दिया, तभी उसने पशु-पालन भी शुरू कर दिया। यदि एक महान् प्राकृतिक परिवर्त्तन न हो जाता तो वन्य-जन्तु मनुष्यों के कृषिक्षेत्र तथा निवासस्थानों के इतने पास आकर उसके बन्धन मे कभी न पड़ते। मनुष्यों की ही भाँति ये जतु भी मरुपीडित होकर नदी की घाटी अथवा तटभूमि मे मनुष्यों के निवासस्थानों के पास ही भोजन की तलाश करते हुए दल-के दल आ उपस्थित हुए। मनुष्य ने भी अपनी आवश्यकतानुसार शीघ्र ही उन्हे पालना सीख लिया तथा क्रमशः अपने घर मे, खेत मे तथा धर्मोत्सवों पर सगी के रूप से उन्हे भी अगीकार कर लिया।

इस प्राचीन काल मे मिस्र, बेबीलान तथा सिन्धु प्रदेश पहले पहल गरम होने पर भी आज-कल जैसे उष्ण नहीं हुए थे। प्राचीन मिस्र एव सिन्धु प्रदेशों में उन सब पशुओं का परिचय पाया जाता है, जो निचले नम प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में रह ही नही सकते। मिस्र में जल-

हस्ती, मगर, हाथी और हिरण पाये जाते थे, एव सिन्धु प्रदेश मे प्राचीन काल मे हाथी, बाघ, भैंसा, हरिण तथा गेडा पाये जाते थे। सिन्धु प्रदेश के किरथर पर्वत के पूर्व भाग मे हाथी तथा गेडा के कङ्काल पाये गए हैं।

भारत में सिधु प्रदेश के मोहनजोदडो नामक स्थान में पाई गई सिन्धु-तटवर्त्ती प्राचीन सभ्यता की कुछ मुद्राएँ, जिन पर क्रमशः एक कूबडवाला बैल और सीगधारी पशुपति देवता के चित्र बने हुए हैं। ये मुद्राएँ ५-६ हज़ार वर्ष प्राचीन हैं (चित्र 'आर्कियालाजिकल सर्वे आफ़ इंडिया'।)

तात्पर्य यह है कि यह विराट् प्रदेश जिस समय मरुमय होना आरम्भ हुआ था उसी समय मनुष्य ने एक साथ ही कृषि एव पशुपालन का सूत्रपात किया—एक साथ ही उसने हलधर एव पशुपति बनकर अपने तथा पशुओं के जीवन को इस महान् प्राकृतिक विप्लव से बचाया। कहीं-कही मनुष्य ने एक ही साथ खाद्य अनाज एव खाद्य पशु को पाया और कही-कही उस मरु-प्रदेश मे उसने अनेक पशुओ को बॉधकर उनका पालन-पोषण करना आरम्भ कर दिया। जहॉ पर वह केवल पशुओ के ऊपर ही पूर्णरूपेण निर्भर करता था वहॉ पर घर अथवा ग्राम न बनाकर वह इधर-उधर घूमने लगा। इसका कारण यह था कि पशुदल का पालन करने के लिए ऋतु-परिवर्त्तन के साथ-साथ जैसी-जैसी घास-पत्ती शुष्क अथवा हरी होती, वैसे ही उष्ण से नम प्रदेश मे पशुदल लेकर घूमते फिरना पड़ता था। सभ्यता के इतिहास मे इन भ्रमणकारी पशु-पालकों की देन कुछ कम नही है। जब मनुष्य ने पशु-दल से दूध तथा मांस का अक्षय भाण्डार पा लिया तब

मसोपटामिया में प्राप्त सुमेरियन सभ्यता के युग की एक गौ-मूर्त्ति। इन उदाहरणों से हमें आरंभिक सभ्यताओं मे मनुष्य और पाले गए पशुओं के संबंध का आभास मिलता है।

उसके पुराने शिकारी-जीवन की अनिश्चितता तथा आशङ्का दूर हो गई। फलस्वरूप अधिक तथा पुष्टिकर भोजन प्राप्त होने के साथ ही जनसंख्या भी शीघ्र ही बढने लगी। लोकबल के साथ ही मनुष्य का समाजविन्यास भी दिखाई पड़ने लगा। ग्रीष्म अथवा शीतकाल में सब दलबल को लेकर दूर देशान्तर जाना होता था। सुव्यवस्था के लिए शासक तथा शासन, आज्ञा और उसका पालन, ये बातें परम आवश्यक हैं। हिंस्र जन्तुओं अथवा शत्रुओं से अपने पशुओं की रक्षा करने के लिए भी अनुशासन एवं संगठन की नितान्त आवश्यकता है। शासन तथा संगठन का भार परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति के ऊपर ही पड़ता था, क्योंकि प्रकृति-चक्र, ऋतु-परिवर्त्तन एवं पशुरक्षा तथा उनकी गति-विधि के सम्बन्ध में उनका ही ज्ञान अधिक परिपक्व समझा जाता था। वयोवृद्ध गोष्ठीपति की आज्ञा का उल्लंघन करने का किसी को साहस नहीं हो सकता था। उसका शासन दण्ड समाज का न्यायदण्ड समझा जाता था। सिर्फ इतना ही नहीं, महामान्य गोष्ठीपति का विचार जिस प्रकार न्याया-नुमोदित होता था, वैसे ही उसका त्याग भी असीम होता था। पशुओं तथा अपनी गोष्ठी के लिए ही उसका जीवन उत्सर्ग होता था। इस पशुपालक समाज में श्रमविभाग विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ। पुरुषों ने पशुरक्षा का भार लिया। स्त्रियाँ ऊन, चमड़ा इत्यादि लेकर उनसे कपड़े तथा तम्बू बुनती थीं। पशुपालकों में भाँति-भाँति की दस्तकारियों का उद्भव हुआ तथा अधिकतर ये सब स्त्रियों के शिल्प ही समझे जाते थे। बच्चे गाय अथवा भेड़ के बच्चों के साथ खेला करते थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अवस्था के लोगों के भिन्न भिन्न कार्यों में लग जाने से समाजग्रन्थि और भी मजबूत हो गई। भेड़ पालनेवाले समाज में आर्थिक तथा सामाजिक वैषम्य कुछ अधिक नहीं दिखाई पड़ता। वरन् जब शत्रु के आक्रमण अथवा प्रकृति की क्रूरता के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपना सर्वस्व गोधन खो बैठता था तब उनके बीच धनी एवं निर्धन का भेद ही न रहता था। पशुपालक जातियों का अतिथि सत्कार सदा ही प्रसिद्ध रहा है। लम्बे लम्बे मैदानों अथवा वनों में यदि कोई रास्ता भूल जाय अथवा अपनी गोष्ठी से विलग हो जाय तो बिलकुल ही निःसहाय हो जाता है। समाज में अतिथि वत्सलता तथा औदार्य्य न होने से उसकी रक्षा एकान्त असंभव ही समझिए। इसके साथ ही एक सामा-जिक सद्भाव तथा सौहार्द्र, एवं आपद्-विपद् में पारस्परिक सहानुभूति पशुपालक समाज में विशेष रूप से पाई जाती है। इसी पर मानव संस्कृति की गणतान्त्रिकता की भित्ति स्थापित हुई है। पशुपालक के अविराम, नियमानुगत स्थान-परिवर्त्तन ने इसको सुदृढ बनाया है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आत्मनिर्भरता, साहस, तथा स्वा-तन्त्र्य का आविर्भाव होता है। मध्य तथा पश्चिम एशिया की सभी खानाबदोश जातियों की मन्त्रणा सभा में गणतान्त्रिकता का प्रभाव प्राचीन काल से स्पष्ट लक्षित होता आया है। सुप्रसिद्ध योद्धा मंगोलराष्ट्रनायक चंगेज खाँ का प्रभुत्व सम्पूर्ण मंगोल जाति के निर्वाचन तथा अनु-मोदन की भित्ति पर ही प्रतिष्ठित हुआ था।

पशुपालकों ने जब पशुओं के आगे अथवा पीछे चलना छोड़कर वाहनरूप से उनका प्रयोग करना सीख लिया, तब न केवल उनकी गति ही बढ गई, वरन् सब ओर से वे चंचल और सतत चलायमान हो गए। विक्षुब्ध खानाबदोश जातियों का पूर्व में चीन तथा भारत की घाटियों में, और पश्चिम में डैन्यूब की घाटी से लगाकर रूस तथा हंगेरी तक प्रबल आँधी की भाँति आवागमन एक जमाने से योरप तथा एशिया के जनमण्डल को उद्वेलित करता रहा है। कितने ही राज्य और साम्राज्य इस प्रवाह द्वारा स्थापित तथा ध्वस हुए हैं। रेगिस्तानी मैदान तथा कृषि-योग्य भूमि का सीमा-प्रदेश ही, प्राचीन काल से, राष्ट्रीय उलटफेर की केन्द्रभूमि रहा है।

खानाबदोश जातियाँ सहज ही स्थायी रूप से कहीं रहने लग जाना नहीं पसन्द करतीं। कृषि कार्य के लिए जिस चंचलतारहित अविचलित भाव की आवश्यकता है उसको वे ग्रहण नहीं कर पातीं। दूसरे, निरीह कृषक को हराकर उनका खेती से कमाया धन बड़ी आसानी से वे लूट ले सकती हैं। किसानों तथा पशुपालकों का द्वन्द्व परम्परागत है। अरब इतिहासकार इब्न-खालदून कृषकों तथा पशुपालकों की खाद्य समस्या पूर्ण करने के इस चिरपरिचित कलह का उल्लेख करके राष्ट्र की प्रथम अभिव्यक्ति का भौगोलिक निर्देश करता है। यहाँ तक कि आधुनिक युग में जब कृषक व पशुपालक एक ही राष्ट्र के अंगीभूत होकर शान्तिपूर्वक स्वतंत्रता से अपना जीवन बिताते हैं तब भी कृषि तथा पशु-पालन का झगड़ा अक्सर राजनीति को चञ्चल कर देता है। स्विडन और स्विटजरलैण्ड में यह विरोध विशेष रूप से दिखाई पड़ता है।

खानाबदोश जातियाँ मिश्रित जातियाँ हैं। उनके शौर्य, वीर्य तथा पौरुष का प्रधान कारण उनका रक्त-मिश्रण है। पश्चिम तथा मध्य एशिया के मैदानों में जिन जातियों ने

जन्म ग्रहण किया है, उनकी छाप योरप तथा एशिया की तमाम जातियों के देह तथा मस्तिष्क पर स्पष्ट देखी जा सकती है। केवल यही नहीं, पाश्चात्य जगत् मे डैन्यूब की घाटी मे होकर ख़ानाबदोश जाति ने योरप मे पशु-पालन की रीति तथा एशिया के भाँति भाँति के खाद्य अनाजो को पहुँचा दिया है। योरप मे पशु-पालनमिश्रित कृषि की रीति ख़ानाबदोश जाति ने ही चलाई है। साथ ही इनका स्वाधीन कर्त्ताधीन पारिवारिक अनुष्ठान तथा समूहतन्त्र भी वहाँ पर चल पड़ा। इस समय भी बालकान प्रदेश तथा दक्षिण रूस मे ख़ाना-बदोश जाति मे पाया जानेवाला पारिवारिक व सामूहिक जीवन व्यक्ति के जीवन को नियन्त्रित करता है। एशिया खण्ड मे भी ऐसा ही हुआ। ख़ानाबदोश जातियों का रक्त इस समय भी चीन तथा भारतवर्ष की समतल भूमि के अनेक किसानों के वश मे पाया जाता है। अनेक स्थानों मे कर्त्तानुगामी परिवार व गोष्ठी का स्वातन्त्र्य एव उसकी भित्ति पर गणतान्त्रिकता की प्रतिष्ठा अब भी किसी प्राचीन भूले हुए सतत भ्रमणशील जीवन की सूचना देती है।

इसी प्रकार एशिया के मैदानो और मरुभूमि ने दूर-दूर की जातियों की देह और प्रकृति, तथा उनके आर्थिक व सामाजिक जीवन को नियन्त्रित कर दिया है।

धर्म तथा नैतिक जीवन के ऊपर भी उनका प्रभाव कुछ कम नही पडा है। भ्रमणशील मानव को रात-रात और दिन-दिन भर अविराम रूप से अपनी श्रान्तिकर मन्थर यात्रा ऐसे मैदानों मे होकर करना पड़ी, जहाँ कोई वृक्ष, पहाड़ अथवा बस्ती देखने को भी न मिल सकती थी। दिन भर के परिश्रम के बाद उसे थोडा-बहुत विश्राम का जो समय मिलता उसमे अपने आप ही उसका मन अतीन्द्रिय की ओर चल पड़ता। सीमाहीन, वर्ण वैचित्र्यहीन धूसर प्रान्तर को पार करके उसकी चिन्ता अनादि तथा अनन्त की ओर जा पहुँचती। रात्रि मे ग्रहों, चन्द्र, तारा इत्यादि का उदय एव अस्त, तथा उनका उत्तरायण से दक्षिणायन की ओर गमन भी उसके मन मे अनन्त की भावना ही जाग्रत करता। रात्रि के निविड अन्धकार मे उसकी निद्राहीन आँखो में होनेवाला आकाश-स्थित सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारा इत्यादि का नियमित नृत्य अनन्त को विस्मय की सीमारेखा से खीच लाकर एकबार उसके हृदय के भीतर पहुँचा देता। इस भ्रमणकारी की दृष्टि मे अनन्त एक तथा दूरवासी परम सन्निकट प्रतीत होते।

पशुपालक की निर्वाचन तथा उत्पादन रीति पशुओ का उत्कर्ष-साधन करती है। धीरे-धीरे पशुपालक के हृदय मे मानव-जाति की चरम पूर्णता का स्वप्न तथा आदर्श जगता है। पशुपालक मानव की पूर्णांगता के प्रति श्रद्धावान् हो जाता है, एवं उस चरम उत्कर्ष के लिए एक व्याकुल प्रतीक्षा उसके हृदय को उद्वेलित कर देती है। मनुष्य और पशु की वृद्धि एक-दूसरे पर निर्भर है, यही अन्योन्य सम्बन्ध अतीत तथा वर्तमान में होता हुआ भविष्य तक फैला हुआ है। इससे मनुष्य का मनोभाव परिवर्त्तित होता है। भेड़ पालनेवाले तथा भेडें एक ही जीवनसूत्र मे बँधे हुए हैं। भगवान् की कृपा तथा देवदूत की मध्यस्थता मे विश्वास, विश्वशक्ति मे परमकल्याण का आदर्श इत्यादि भाव पशु-पालक समाज मे सहज ही आ जाते हैं। गडरिया के भेड़ के प्रति स्नेह एव कोमल व्यवहार को केन्द्र बनाकर धर्म का यह विशाल आदर्श उठ खड़ा होता है कि परम कारुणिक देवता ने अपने उपासक के लिए जीवन उत्सर्ग कर दिया है। सभी पशुपालक जातियों ने, विश्व के धर्म के इतिहास मे, मानव व्यक्तित्व के चरम उत्कर्ष, उसके विपुल प्रसारित जीवन के अनवच्छेद, मनुष्य के साथ देवता के परम प्रेम व मिलन-सम्बन्ध को जिस प्रकार प्रकाशित किया है, संसार की और किसी जाति ने वैसा नहीं किया। अनन्त काल, निरवधि जीवन, विपुला पृथ्वी, प्राणी के साथ प्राणी का ऐक्य सूत्र मे ग्रथित होना, इन सब भावो को पशुपालक ने अपने नित्यप्रति के जीवन मे जिस अनुराग व उद्वेग के साथ अनुभव किया था, वह केवल पशुपालक समाज के ही विकास व समृद्धि का कारण नही हुआ, वरन् विश्वमानव के लिए भी यह उसका एक अपूर्व दान है। मानव के धर्मानुशीलन मे साधन-पथ अथवा कर्म्म-मार्ग की ओर सकेत अनेक धर्म्मो मे पाया जाता है। महा-जनो का पदाङ्कित मार्ग, ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग, व कर्म्म-मार्ग इन सबकी ही कल्पना व आदर्श विश्वमानव को पशुपालक का ही मोहक दान है। सस्कृति के इतिहास मे पशुपालक कब का लुप्त हो चुका, फिर भी वर्तमान संस्कृति के अनुष्ठान व व्यवहार, नीति व धर्म ने उसकी अभिज्ञता का यत्न के साथ पोषण कर रक्खा है। मानव देह मे जिस प्रकार अनेक अस्थियाँ एव शिराएँ हैं, जो उसके विगत जैविक अभिव्यक्ति की साक्षी हैं, उसी प्रकार मानव-संस्कृति के मर्म-मर्म मे प्राचीन अवलुप्त समाज-जीवन की अभि-ज्ञता पिरोई हुई है। मानव-सभ्यता की धारा मे कोई बाधा नही उपस्थित हुई। कितने युगों की स्मृति मनुष्य के आधु-निक व्यवहार व नीति के साथ अज्ञात भाव से मिलकर समाज की गति के अनुकूल अथवा प्रतिकूल आचरण कर रही है, इसकी कोई इयत्ता नही।

मोटरकार के इंजिन की भीतरी रचना और कलपुर्ज़े

इस इंजिन में चार सिलिंडर लगे हैं और उनमें पिस्टन तथा एक्ज़ॉस्ट व प्रवेश-वाल्व उन्हीं चार स्ट्रोकों की अवस्था में दिखाए गए हैं, जिनकी क्रिया लेख में विस्तृत रूप से समझाई गई है। इस पद्धति से गस का धड़ाका पैदा करके इंजिन में शक्ति उत्पन्न की जाती है और इस शक्ति द्वारा मोटर के चालक पहिए घुमाए जाते हैं। सिलिंडर को पानी द्वारा ठंडा रखने की योजना भी चित्र में दिखाई गई है।
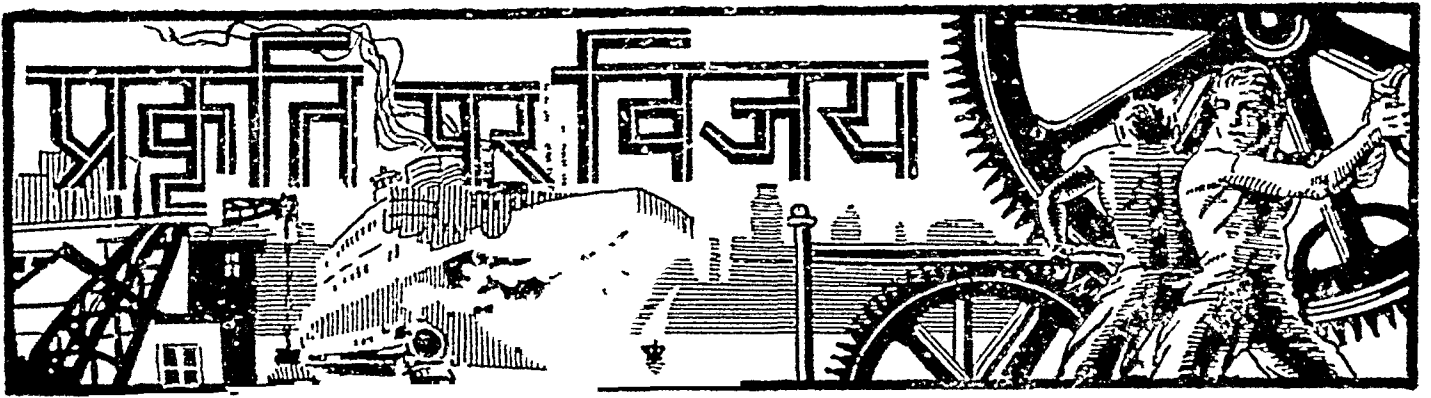
धरती पर विजय--(५) मोटरगाड़ियों का विकास

पिछले अंक मे हमने रेलगाडी के संबंध में लिखा था। किन्तु धरातल पर यातायात के एक और महत्त्वपूर्ण वाहन का विकास इधर हुआ है और उसका प्रचार दिनोंदिन बढता ही जा रहा है। यह है मोटरकार या पैट्रोल से चलनेवाली पहिएदार गाडी। आइए, इस लेख में इस महत्त्वपूर्ण वाहन के विकास-क्रम का अध्ययन करें। अगले लेख में मोटरें कैसे बनाई जाती हैं, यह बताया जायगा।

व्यापार के बढने के साथ ही सभ्य समाज को ऐसे शीघ्रगामी वाहनों की आवश्यकता प्रतीत हुई जो साधारण सड़कों पर भी आसानी से चल सकें। वाष्प-इजिनों के सम्बन्ध में जिन दिनो भिन्न भिन्न देशो मे प्रारम्भिक प्रयोग किए जा रहे थे, फ्रेञ्च इंजीनियर कग्नॉट ने भाप से चलनेवाली सर्वप्रथम लॉरी बनाई। यह बात १७६३ ई० की है। यह लारी पैरिस म्यूज़ियम मे अब तक रखी हुई है। इस लारी में तीन पहिये थे---एक सामने और दो पीछे। आगेवाले पहिये के सामने ही एक बड़ी देगची रक्खी गई थी, यही ब्वॉयलर का काम देती थी।

इसके बाद सडक पर खानगी गाडी खीचने के लिए वाष्प-इजिनों के भिन्न-भिन्न नमूने अन्य लोगों ने भी तैयार किए। सन् १८२६ में एक अँग्रेज़ गर्नी ने सडक पर दौड़ने लायक़ एक वाष्प-इजिन तैयार किया जो अपने साथ एक फैशनेबुल फिटन भी खींच सकता था। उन दिनों की एक दौड-प्रतियोगिता मे उसकी गाडी ने १५मील प्रति घण्टे की रफ्तार हासिल की थी—उन दिनों के लिए निस्सन्देह यह एक आश्चर्यजनक करतब था। इस प्रतियोगिता मे गर्नी की इस फिटन मे स्वयं ड्यूक आफ विलिंग्डन सवार थे। यह एक दिलचस्प बात है कि ठीक जिस दिन गर्नी ने अपनी गाड़ी का प्रदर्शन जनता के सामने किया, उसी दिन एक फ्रेञ्च गणितज्ञ ने गणित के सिद्धान्त पर यह साबित किया था कि भाप द्वारा परिचालित इजिन मामूली सड़कों पर कभी दौड़ लगा ही नहीं सकते!
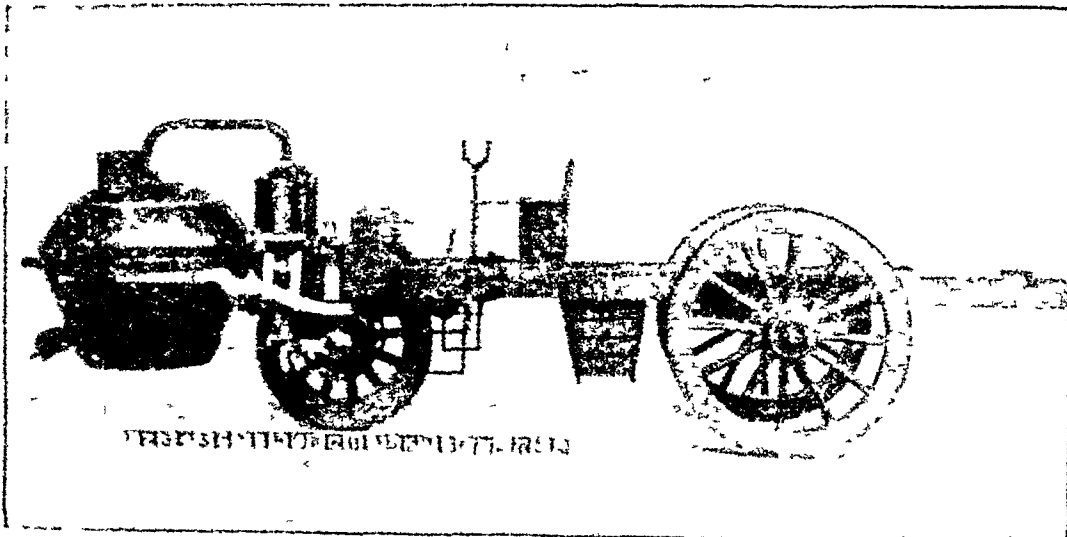
कग्नॉट की स्टीम-लॉरी

यह भाप से चलनेवाली सर्वप्रथम लॉरी थी। इसे हम आज की मोटर की पूर्वज कह सकते हैं।
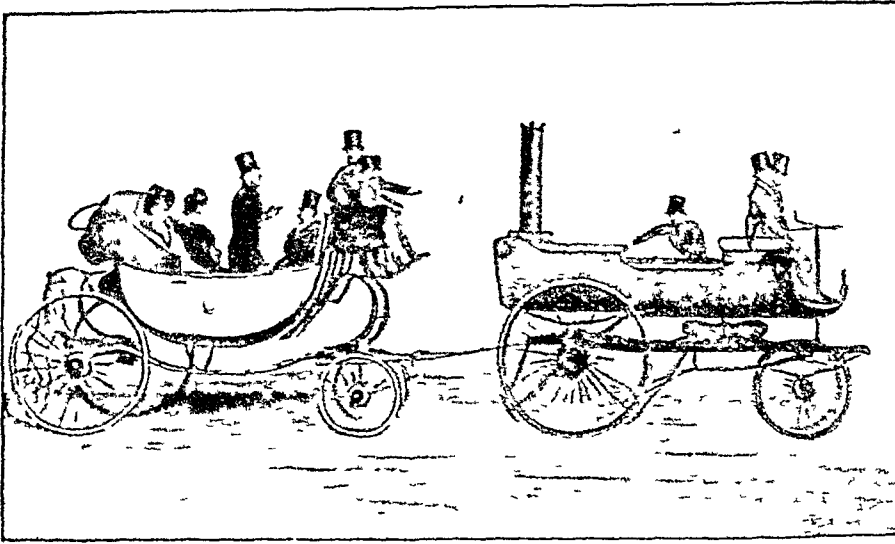
भाप के साधारण इजिनों का आकार ब्वॉयलर के कारण बहुत बे-

गर्नी की फिटन और उसको खींचनेवाला वाष्प-इंजिन, जिसने दौड़-प्रतियोगिता में सन् १८२९ में १५ मील प्रति घंटे की रफ्तार हासिल कर ली थी।

डौल हो जाता था। इंजिन को अपने साथ पानी, कोयला और भट्टी ले चलना पड़ता था। अतः पैरिस के कुछ आविष्कारकर्त्ताओं ने ऐसे इंजिनों का निर्माण किया, जो वजन में हलके और आकार में छोटे थे। इन इंजिनों में ड्राइवर की सीट के पीछे ही एक नए क़िस्म का ब्वॉयलर फिट किया गया था। यह ब्वॉयलर लोहे के लम्बे और सँकरे ट्यूब का बना था। पेट्रोल के स्टोव से इस ट्यूब को ख़ूब गर्म करते थे—फिर इस तप्त ट्यूब में पानी प्रवेश कराया जाता था। ट्यूब के अन्दर पहुँचते ही पानी तत्काल भाप में परिवर्त्तित हो जाता था। इसी भाप के बल से पिस्टन में हरकत होती थी। इंजिन की रफ्तार को घटाने या बढ़ाने के लिए उसी अनुपात में कम या अधिक मात्रा में पानी ट्यूब के अन्दर प्रवेश कराते थे। हलके क़िस्म की इन स्टीम-लारियों को जनता ने ख़ूब पसन्द किया।

इन्हीं दिनों फ्रान्स में कोलन के एक इञ्जीनियर आटो ने एक ऐसा इंजिन तैयार किया जिसमें पानी की भाप की जगह पेट्रोल की गैस इस्तेमाल होती थी। साथ ही उस इंजिन में ब्वॉयलर की भी कोई आवश्यकता न रही और न ब्वॉयलर में आँच पहुँचाने के लिए स्टोव या भट्टी की दरकार रही। कोयले-पानी का कोई झंझट न रहा। आटो-इंजिन में सिलिण्डर ही के भीतर पेट्रोल की वाष्प और हवा को विस्फोट कराकर पिस्टन में हरकत पैदा करने के लिए शक्ति उत्पन्न करते हैं।

आजकल भी सभी तरह की मोटर-गाड़ियों के इंजिनों के निर्माण में आटो-इंजिन का ही मूल सिद्धान्त काम में लाया जाता है। आटो-इंजिन के सिलिण्डर में एक चौड़े गट्टे वाला पिस्टन आगे पीछे हरकत करता है। पिस्टन का गट्टा सिलिण्डर की दीवालों में ख़ूब कसकर बैठता है, ताकि एक तरफ से दूसरी ओर साँस न जाने पाए। फिर भी सिलिण्डर में गैस के जलने के कारण हद दर्जे की गर्मी पैदा होती है—अतः साधारण ढंग के पिस्टन के गट्टे में प्रसार इतना काफ़ी हो जायगा कि वह सिलिण्डर की दीवालों में ही फँस जाय। ऐसी दशा में पिस्टन का आगे-पीछे हरकत करना असम्भव हो जायगा। इस कठिनाई से बचने के लिए पिस्टन में एक ख़ास ढंग के गट्टे फिट किए जाते हैं। इन गट्टों के सामनेवाले भाग में कई एक छल्ले लगे रहते हैं। सिलिण्डर की परिधि में ही खाँच कटी रहती है—इन्हीं खाँचों में छल्ले पहना दिए जाते हैं। छल्ले का थोड़ा-सा हिस्सा कटा रहता है अतः ये हर वक्त सिलिण्डर की दीवालों में कसकर सटे रहते हैं, साथ ही पिस्टन की हरकत में किसी प्रकार की अड़चन भी नहीं पैदा करते।

सिलिण्डर के सिरे पर दो छिद्र होते हैं और इन दोनों छिद्रों का मुँह वाल्व के जरिए बन्द रहता है। एक छिद्र के रास्ते गैस और हवा का मिश्रण सिलिण्डर में प्रवेश करता है, और दूसरे छिद्र से विस्फोट के उपरान्त गैसें बाहर निकलती हैं। पिस्टन जब नीचे की ओर जाने लगता है, इसी क्षण प्रवेश-वाल्व (Inlet-Valve) खुलता है और इस रास्ते पेट्रोल की वाष्प और हवा का मिश्रण सिलिण्डर में प्रवेश करता है। पिस्टन की इस हरकत को 'चार्जिङ्ग स्ट्रोक' कहते हैं। सिलिण्डर में पिस्टन जब नीचे की ओर हरकत करता है तो सिलिण्डर के सामने-वाले भाग में आंशिक वैकुअम पैदा हो जाता है। फलस्वरूप प्रवेश-वाल्व के रास्ते पेट्रोल की भाप और हवा सिलिण्डर

के अन्दर सुडक उठती है। प्रवेश-वाल्व का सम्बन्ध एक नली द्वारा कार्ब्यूरेटर से बना रहता है। इसी कार्ब्यूरेटर मे पेट्रोल की भाप और हवा का सही अनुपात मे मिश्रण तैयार होता है।

सिलिण्डर के पेदे तक पहुँच चुकने के बाद कम्प्रेशन स्ट्रोक आरम्भ होता है। पिस्टन की हरकत अब ऊपर की ओर होने लगती है। ठीक कम्प्रेशन-स्ट्रोक के आरम्भ होते ही प्रवेश-वाल्व बन्द हो जाता है। पिस्टन सिलिण्डर की गैस को दबाकर उसे थोडी-सी जगह मे सकुचित कर देता है। पिस्टन अब लगभग सिलिण्डर के सिरे तक पहुँच चुका होता है। ठीक इसी क्षण सिलिण्डर के सिरे मे लगे हुए स्पार्क-प्लग मे विद्युत्-चिनगारी पैदा करते हैं—बस सकुचित गैसे भभककर जल उठती हैं और उनके आयतन मे कई हज़ार गुना वृद्धि होती है! इस कारण प्रबल वेग के साथ पिस्टन को नीचे की ओर वे फेक देती हैं। यही पिस्टन का पावर-स्ट्रोक है। मशीन की चालक शक्ति के पीछे पिस्टन की यही हरकत काम करती है। अब चौथी बार पिस्टन फिर ऊपर की ओर लौटता है—इस एक्ज़ॉस्ट स्ट्रोक के आरम्भ होते ही सिलिण्डर का एक्ज़ॉस्ट वाल्व खुल जाता है और सिलिण्डर की तमाम गैसे इस रास्ते से बाहर निकल जाती हैं। इस स्ट्रोक के पूरा होने पर एक्ज़ॉस्ट वाल्व बन्द हो जाता है और प्रवेश-वाल्व खुलता है, साथ ही पिस्टन का चार्जिङ्ग स्ट्रोक फिर आरम्भ होता है। इस प्रकार वे ही चार स्ट्रोक बार-बार दोहराए जाते हैं।

हम देखते हैं कि पिस्टन की चार हरकतों में से केवल एक ही से इजिन को शक्ति प्राप्त होती है। शेष तीन स्ट्रोकों से इजिन को रचमात्र भी शक्ति प्राप्त नही होती। एक सिलिण्डरवाले इजिन की मोटर-सायकिल मे झटके बहुत अधिक लगते हैं—क्योकि पिस्टन की चार हरकतो मे केवल एक से ही झटके के साथ इजिन को शक्ति मिलती है। इस झटके से बचने के लिए तथा मोटर को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए इजिन मे ४, ६ और कभी-कभी तो १६ सिलिण्डर तक लगा दिए जाते हैं। फलस्वरूप प्रति क्षण किसी-न-किसी सिलिण्डर से इजिन को ताक़त अवश्य मिलती रहती है। ये सभी पिस्टन क्रैन्क और शैफ्ट द्वारा मोटर-गाड़ी की धुरी से सम्बद्ध रहते हैं। एक सिलिण्डर का पेट्रोल-इजिन मोटर-सायकिल या मोटर-बोट मे ही पाया जाता है।

आटो पेट्रोल-इंजिन के चार स्ट्रोक
१. एक्ज़ॉस्ट स्ट्रोक, २. पावर स्ट्रोक, ३. कम्प्रेशन स्ट्रोक; ४. चार्जिग स्ट्रोक। (विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढिए)।

पेट्रोल को सीधे टङ्की से इजिन के सिलिण्डर मे नहीं ले जाते। सिलिण्डर मे प्रवेश कराने के पहले पेट्रोल को वाष्परूप मे परिवर्त्तित करना आवश्यक होता है। इस काम को कार्ब्यूरेटर कर देता है। कार्ब्यूरेटर के अन्दर पेट्रोल छिद्र 'प' के रास्ते और हवा 'ह' के रास्ते प्रवेश करती है। सूक्ष्म छिद्र 'प' पेट्रोल को क्षुद्रतम आकार की नन्ही-नन्ही बूँदों मे विभाजित कर देता है—फिर वायु के सम्पर्क मे आते ही इनका तुरन्त वाष्पीकरण हो जाता है। छिद्र 'प' और 'ह' के आकार को इस हिसाब से रखते हैं कि हवा और पेट्रोल वाष्प के मिश्रण मे एक भाग पेट्रोल के पीछे १५ भाग हवा रहे। कार्ब्यूरेटर के अन्दर पेट्रोल पास मे रखे हुए टैङ्क 'ग' से आता है। इस छोटे-से टैङ्क मे पेट्रोल की सतह सदैव एक ख़ास ऊँचाई पर बनी रहती है। पेट्रोल की मुख्य टङ्की से इस टैङ्क मे पेट्रोल आए

है। इस टैङ्क में पेट्रोल की सतह जैसे ही एक नियत ऊँचाई पर पहुँची वैसे ही पीपा 'क' पेट्रोल में तैरने के कारण इतनी ऊँचाई पर पहुँच जाता है कि छिद्र 'छ' में सुईनुमा वॉल्व का सिरा एकदम ठीक बैठ जाता है। अब टङ्की में पेट्रोल इस रास्ते से प्रवेश नहीं कर सकता। पेट्रोल की सतह नीची हुई कि पीपा फिर नीचे आ जाता है, और छिद्र 'छ' में सॉस खुल जाती है और टैङ्क में पेट्रोल फिर आने लगता है (दे० पृ० १६०१ का चित्र)।

कार्ब्यूरेटर की बनावट वास्तव में बड़ी पेचीदा होती है, क्योंकि इंजिन स्टार्ट करते समय कार्ब्यूरेटर को सिलिण्डर में ऐसा मिश्रण भेजना पड़ता है, जिसमें पेट्रोल की मात्रा हवा की अपेक्षा अधिक हो। जब मोटरकार धीमी चाल से चलती है उस समय पेट्रोल की मात्रा अपेक्षाकृत कम करनी पड़ती है और तेज रफ्तार से भगाने के लिए पेट्रोल का अनुपात और भी अधिक करना पड़ता है। प्रायः एक ही कार्ब्यूरेटर में भिन्न-भिन्न साइज के तीन चार छिद्र बने रहते हैं। इनमें से प्रत्येक भिन्न भिन्न अवसरों पर काम में लाये जाते हैं।

मोटरकार के इंजिनों में इस बात का भी प्रबन्ध करना जरूरी होता है कि मौक़ा पड़ने पर इंजिन का सम्बन्ध पहियों से अलग कर दिया जाय, ताकि ब्रेक लगाकर मोटरकार खड़ी की जा सके और इंजिन पूर्ववत् चलता रहे। यह सहूलियत क्लच (Clutch) द्वारा प्राप्त होती है। इंजिन के मुख्य शैफ्ट में एक कोन के आकार-सदृश फ्लाई-हील लगा रहता है। पहिये की धुरी में भी कोन के आकार का ही एक छोटा फ्लाई-हील लगा रहता है। इस फ्लाई हील की परिधि पर चमड़ा चढ़ा रहता है। क्लच ढीला रखने पर यह छोटा फ्लाई-हील बड़े फ्लाई हील के भीतर स्प्रिङ्ग के दबाव से जाकर जम जाता है। इंजिन के शैफ्ट के घूमते ही बाहरी फ्लाई-हील तेज़ी के साथ घूमने लगता है और साथ ही पहिये से सम्बद्ध छोटा फ्लाई हील भी चक्कर लगाने लगता है। क्लच को पैर से दबाते ही भीतरी फ्लाई-हील शैफ्ट के फ्लाई हील से दूर हट जाता है और इस तरह पहियों का इंजिन से एकदम सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इंजिन भरपूर शक्ति से ही क्यों न चल रहा हो, पहिये जरा भी हरकत न करेंगे। कुशल ड्राइवर पहियों में ब्रेक लगाने के पहले सदैव क्लच को दबा लेते हैं।

स्टार्ट करते समय इंजिन के शैफ्ट को कभी भी सीधे पहिये के शैफ्ट से सम्बद्ध नहीं रखते। ऐसा करने से इंजिन के ऊपर बोझ अत्यधिक पड़ेगा। अतः क्लच की मदद से इंजिन के शैफ्ट को गियरबॉक्स द्वारा पहिये के शैफ्ट से इस प्रकार जोड़ते हैं कि इंजिन के शैफ्ट का एक छोटा दाँतदार चक्र पहिये के शैफ्ट के बड़े दाँतदार चक्र से जा फँसता है। इस दशा में इंजिन का शैफ्ट जब कई बार चक्कर लगा चुकता है, तब पहिया एक बार घूमता है, अतः इंजिन पर जोर कम पड़ता है। गाड़ी की रफ्तार तेज करने के लिए गियर बदलकर पहिये को ऐसे चक्र में लगाते हैं जिसमें दाँतों की संख्या पहले चक्र की अपेक्षा कम होती है। गियर की रिवर्सिंग सहायता से मोटरकार के पहियों को उलटी दिशा में घुमाकर कार को पीछे ले जा सकते हैं।

वॉल्व कैसे खुलता और बंद होता है?

'अ' स्प्रिङ्ग, जो हैपेट के सिरे को प्रवेशद्वार 'व' से दबाए रखता है। 'ब' हैपेट की ऊँचाई घटाने बढ़ाने के लिये ढिबरी। कैम का 'क' जब हैपेट के पैर को छूता है तो हैपेट ऊपर उठ जाता है और वाल्व थोड़ी देर के लिए खुल जाता है।

इस सिलसिले में डिफरेन्शियल (Differential) गियर का जिक्र करना अनुपयुक्त न होगा। तीव्र गति से भागती हुई कोई भी गाड़ी जब मोड़ पर घूमती है तो भीतरवाले पहिये की अपेक्षा बाहरवाले पहिये को उतने ही समय में ज्यादा फासला तय करना पड़ता है। यह तभी सम्भव है जब बाहरवाला पहिया भीतरवाले पहिये की अपेक्षा ज्यादा तेज़ी के साथ घूमे। बढ़िया मोटरकार में डिफरेन्शियल गियर की सहायता से इंजिन का अकेला शैफ्ट पिछले पहियों को भिन्न रफ्तार से घुमा लेता है। सिलिण्डर के अन्दर हद दर्जे की गर्मी उत्पन्न होती है। अतः उसे ठण्डा न रक्खा जाय तो इस अतिशय ताप के कारण या तो पिस्टन के जोड़ों में लगी हुई ग्रीज या चर्बी एकदम भाप बनकर उड़ जायगी और जोड़ों के हिलने-डुलने में मुश्किल पड़ेगी, या पिस्टन में प्रसार इतना अधिक होगा कि वह सिलिण्डर के अन्दर फँसकर रह जायगा और ऊपर-नीचे बिल्कुल ही हरकत न कर पायगा। सिलिण्डर

(बाईं ओर)
कार्ब्यूरेटर का सिद्धान्त
(पूरे विवरण के लिए पृष्ठ १६०० का मैटर पढ़िए)
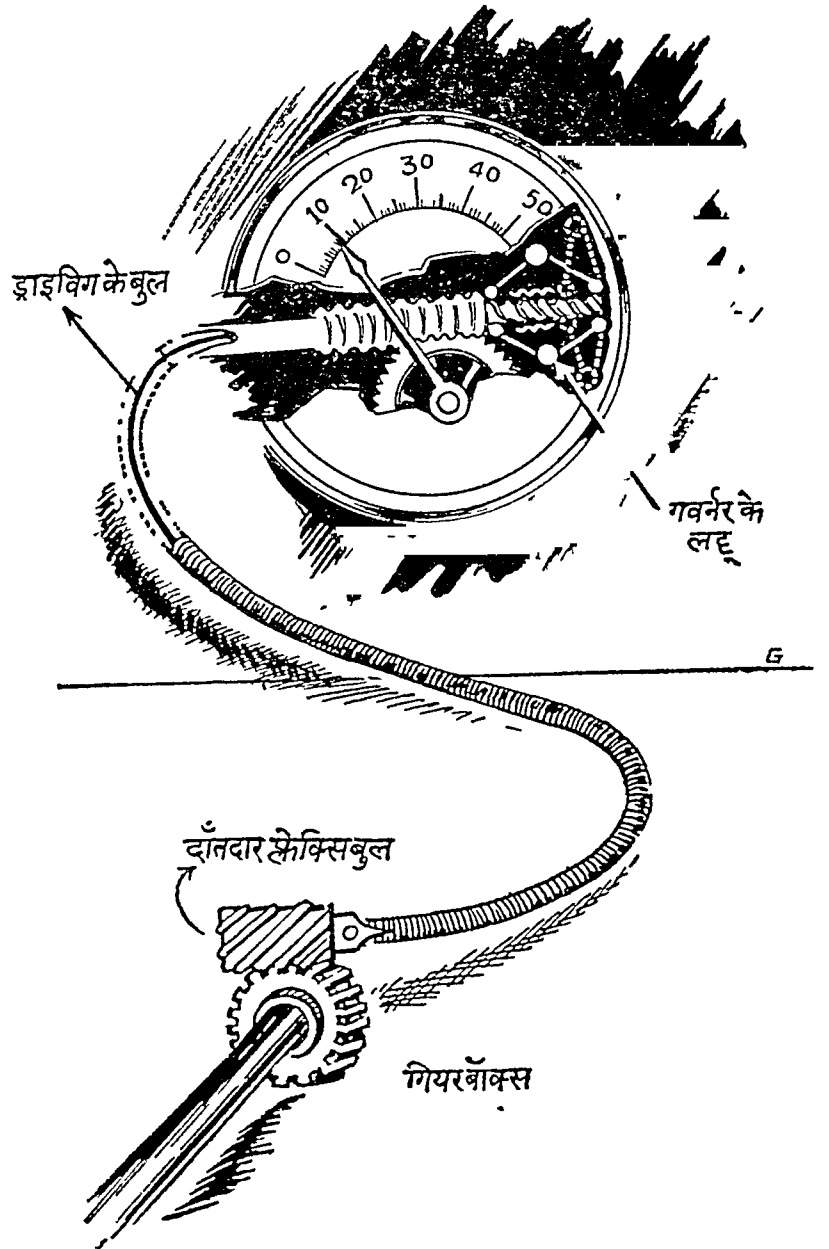
(दाहिनी ओर)
मोटरकार का गतिनिर्देशक यंत्र
पहिये की धुरी जितनी अधिक तेज़ी से घूमती है, उतनी अधिक तेज़ी से गवर्नर के लट्टू नाचते हैं—फलस्वरूप गवर्नर के लट्टू बिन्दीदार स्थिति पर आ जाते हैं—अतः दंतचक्र का छल्ला दाहिनी ओर खिसक आता है और अपने साथ सुई को भी डायल पर घुमाता है । इस तरह कार की गति मीलों में अंकित हो जाती है

को ठण्डा रखने का सबसे सहल तरीक़ा है सिलिण्डर के चारों ओर लोहे की चौड़ी-चौड़ी पत्तियों को खड़ी जड़ देना। इन पत्तियों के बीच मे ठण्डी हवा बरबस आ फँसती है और अपने साथ इजिन की गर्मी ले जाती है। वायुयान के इजिनों मे तथा मोटर-सायकिल में इसी तरकीब का प्रयोग करते हैं, क्योंकि ये दोनों वाहन हवा में तीव्र वेग से भागते हैं, अतः इन पत्तियों पर हवा का तेज झोका लगता है। किन्तु साधारण मोटरकार मे तथा ऐसे इजिनों में जो एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं, इजिन को ठण्डा रखने के लिए ठण्डे पानी की धारा का प्रयोग करते हैं। सिलिण्डर के चारों ओर चक्कर लगाकर गर्म पानी सामने रेडिएटर मे जब पहुँचता है तो हवा के तेज झोंके खाकर वह पुनः ठण्डा हो जाता है। इस प्रकार वह पानी बार-बार सिलिण्डर के चारों ओर चक्कर लगाता है। रेडिएटर मे मधुमक्खी के छत्ते की भाँति के पतले-पतले ट्यूब लगे रहते हैं। इन्हीं ट्यूबों मे से होकर पानी गुजरता है। इस प्रकार पानी के ट्यूब के धरातल का काफी भाग हवा के सम्पर्क मे आ सकता है।

सिलिडर को पानी द्वारा ठंढा कैसे रखते हैं?
देखिए, सिलिडर के चारों ओर के जैकेट मे पानी चक्कर लगाता रहता है और इस तरह सिलिडर की दीवार को गर्म नही होने देता।

पेट्रोल-इजिन के इन भिन्न-भिन्न पुर्जों का विकास अकेले किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं है। अनेक आविष्कारो ने थोड़ा-थोड़ा करके पेट्रोल इजिन को विकास के पथ पर आगे बढाया है। आटो के एक सहायक इन्जीनियर डेम्लेर ने आटो-इजिन का अध्ययन अच्छी तरह किया और उसने इस इजिन मे अनेक सुधार करके इसकी शक्ति पहले से चौगुनी बढाई। आटो का इजिन अपने फ्लाई-व्हील को एक मिनट मे केवल २५० बार घुमा पाता था। किन्तु डेम्लेर ने इसकी रफ्तार को कई गुना बढाने मे सफलता प्राप्त कर ली, यद्यपि लोगों ने उसे हतोत्साहित करने मे कोई भी कसर बाक़ी न रक्खी। उन लोगों का कहना था कि रफ्तार तेज करने पर इजिन के टुकडे टुकडे उड़ जायँगे। इस परिष्कृत आटो-इजिन को इसने सशकित हृदय से अपनी सायकिल मे फिट किया। जिस दिन वह अपनी मोटर-साइकिल पर चढकर पहली बार सडक पर घूमा, उसके मन मे यह विश्वास जम गया कि वह शीघ्र ही सर्वसाधारण के लिए भी मोटरगाड़ियाँ तैयार कर सकेगा। आधुनिक ढग की मोटर के विकास की यह प्रथम सीढी थी। शीघ्र ही एक फ्रेञ्च कपनी ने डेम्लेर के पेटेन्ट को खरीद लिया और वह पेट्रोल-इजिन से युक्त मोटरगाड़ियाँ तैयार करने लगी।

इन्ही दिनों जर्मनी मे कार्ल बेन्ज ने भी तीन पहियों की एक मोटरकार तैयार की। इस गाडी के इजिन की शक्ति ¾ अश्वबल के बराबर थी। सरकारी अधिकारियों के सामने उसने जब अपनी मोटर को ७॥ मील प्रति घण्टे की रफ्तार से दौडाई तो वे लोग बहुत घबराए और उन्होंने बेन्ज को हुक्म दिया कि वह हरगिज अपनी मोटर की रफ्तार ७॥ मील प्रति घण्टे से ज्यादा न बढावे, साथ ही उसे चेतावनी मिली कि शहर के अन्दर वह अपनी मोटर की रफ्तार तीन मील से कम ही रक्खे। यह बात १८८५ की है।

यन्त्र द्वारा परिचालित गाडियों के लिए इङ्गलैण्ड में भी काले क़ानून बन गए थे। प्रत्येक मोटर-गाड़ी या वाष्प-इजिन के आगे-आगे लाल झण्डी लेकर एक सिपाही को पैदल चलना पडता था और ऐसी गाड़ियों को आदमी की रफ्तार से ज्यादा तेजी से हाँकने का हुक्म भी न था। इस प्रतिक्रियावादी क़ानून ने इङ्गलैण्ड मे मोटरकार-सम्बन्धी आविष्कारों के रास्ते में निस्सन्देह अनेक बाधाएँ पहुँचाईं। सौभाग्यवश १८९५ में यह काला क़ानून रद्द कर दिया

गया। इसी बीच इङ्गलैण्ड के इन्जीनियरों ने फ्रास और जर्मनी की मोटर-सम्बन्धी ईजादों को देखा और उनका अच्छी तरह अध्ययन किया। अतएव १८६६ मे मिस्टर लैन्सेस्टर ने एव मोटरकार तैयार की, जिसमे आधुनिक मोटरकार के सभी जरूरी पुर्ज़ों का समावेश किया गया था। एक्सलरेटर, क्लच, पैर से दबानेवाला ब्रेक और गियर बदलनेवाली मुठिया – ये सभी चीज़ें उसमे मौजूद थी। पहियो मे हवा भरे हुए रबर के टायर और धुरी मे गोल-गोल छर्रे भी थे, जैसे कि आधुनिक मशीनों मे सब कही काम मे आते हैं।

क्लच का सिद्धान्त

(विवरण के लिए पृ० १६०० का मैटर देखिए)

शक्तिशाली इजिनवाली पायदार मोटरकार के निर्माण के लिए प्रोत्साहन दिलाने के लिए मोटरो की सर्वप्रथम दौड़-प्रतियोगिता १८६५ मे फ्रास के मोटरवाले कारख़ानों के मालिकों की अध्यक्षता मे आयोजित हुई। पेरिस से बोर्डो तक जाकर वापस आना था—कुल फासला ७३२ मील का था। दौड़ मे भाग लेनेवाली गाड़ियों मे १५ पेट्रोल से चलनेवाली गाडियाॅ थी, ६ भाप के इजिनवाली और १ बिजली के बल से चलनेवाली गाडी थी। इस प्रतियोगिता मे भाग लेनेवाले अनेक ड्राइवर रास्ते मे घायल हुए और कई एक की जाने गयीं। केवल आधे लोग दौड़ पूरी कर सके।

१८८८ में बेंज कंपनी द्वारा बनाई गई एक मोटरकार जो अब भी लंदन के सायंस म्यूज़ियम में रक्खी है और ८ से १० मील प्रति घंटा तक दौड़ लगा सकती है।

इन सबमे डेम्लेर मोटरकार का स्थान सबसे आगे रहा। इस लम्बी दौड मे डेम्लेर-कार की औसत रफ्तार १५ मील प्रति घण्टे रही थी।

प्रारम्भिक दिनों की इन मोटरगाड़ियों के चलने मे अत्यधिक मात्रा मे शोर होता था—इंजिन में प्रायः एक ही सिलिण्डर हुआ करता था, अतः मोटर मे बेशुमार झटके लगते थे। कार की बॉडी मे स्प्रिंग भी बढ़िया क़िस्म के न थे, बस जहाॅ-कही भी सड़क की सतह ऊँची-नीची मिली, मोटर ज़ोरों के साथ उछल पड़ती। चूॅकि, इजिन का शोर और बॉडी की खड़खड़ाहट इतनी ज्यादा होती थी अतएव इस बात की आवश्यकता नहीं रह जाती थी कि ड्राइवर हार्न बजाए। मोटरकार के शोर से लोग स्वय ही आगाह हो जाते थे।

फिर भी अपनी उपयोगिता के कारण मोटर सर्वसाधारण के बीच बहुत ही प्रिय हो गई। भिन्न-भिन्न कामों के लिए तरह-तरह की डिज़ाइन की मोटरगाडियाॅ तैयार की जाने लगी। डाक्टर, इञ्जीनियर, व्यापारी सभी ने मोटरकार के महत्त्व को पहचाना। व्यापारियों ने मोटरलारियों पर माल लादना शुरू किया। सवारी ढोने के लिए भी बस-कम्पनियों ने मोटरगाड़ियों को अपनाया। फलस्वरूप दो ही चार वर्षों के अन्दर अनेक फैक्टरियाॅ खुल गईं, और हज़ारों की सख्या मे प्रतिवर्ष मोटरगाड़ियाॅ इन फैक्टरियों में तैयार होने लगी।

ऑगस्टस सीज़र की सबसे प्रसिद्ध मूर्त्ति

यह प्राइमा पोर्टा में स्थित लिविया के कुजभवन में पाई गई थी और आज दिन रोम के 'वेटिकन म्यूजियम' में सुरक्षित है ।
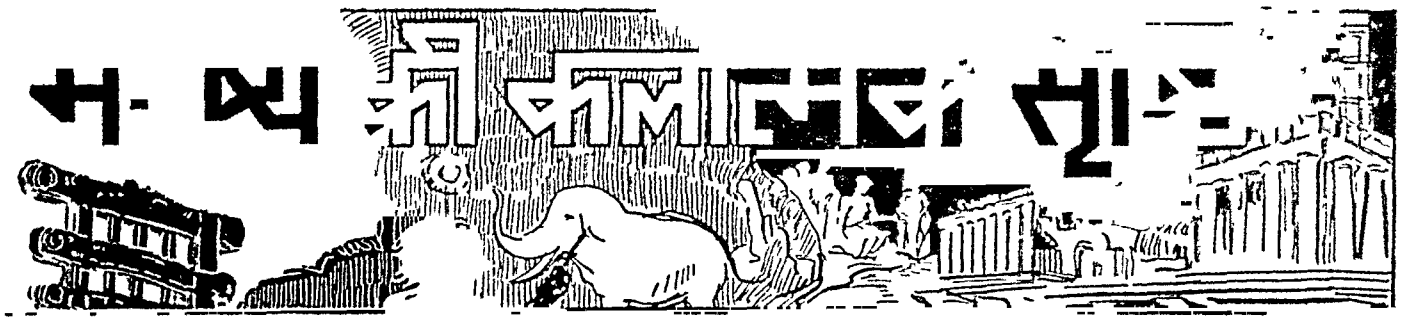
रोमन कला—(२) भास्कर्य और चित्रकला

जिस प्रकार परमेश्वर की अभिव्यक्ति की त्रिमूर्त्ति या तीन रूपों द्वारा कल्पना की जाती है, उसी तरह मनुष्य की दृश्य कलाओं को भी तीन वर्गों में विभाजित करने की एक प्रथा-सी पड़ गई है। ये हैं स्थापत्य या भवन-निर्माण, भास्कर्य या मूर्त्ति-निर्माण, और चित्रकारी। कुछ विचारकों के अनुसार, इनमे स्थापत्य ही मूलभूत या 'आधार' है, शेष दोनो अग उस पर आश्रित या 'आधेय' मात्र हैं। इस दृष्टि से, यह आवश्यक है कि पहले किसी पात्र, भवन या कंदरा का निर्माण किया जाय; तदुपरात मूर्त्तियों या चित्रों द्वारा विभूषित कर उसकी सज-धज और भी बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार, ग्रीक देवालयों के क्रमिक विकास का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि जब विशुद्ध उपयोगिता-सबधी आवश्यकताएँ पूरी हो चलीं तब भवन-निर्माताओं के मन मे अपनी कृतियों को एक सौंदर्य के भाव से अभिभूत करने की भूख जगने लगी। इस सौंदर्य-पिपासा ही ने ग्रीक भवनों की कठोर डोरिक शैली को क्रमशः अधिक शृङ्गारपूर्ण, यद्यपि स्त्रैणभावयुक्त, कारिंथियन शैली मे बदल दिया। साथ ही इसी ने देवालयों को सजाने मे प्रयोग की गई असंख्य मूर्त्तियों, फ्रीजों, पेडिमेंट पर अकित प्रतिमाओं तथा अततोगत्वा मदिर के निर्माण मे धन द्वारा सहायता करनेवालों की मानव-मूर्त्तियों को भी जन्म दिया।

हम देख चुके हैं कि ग्रीक कला के उत्तरकाल में किस प्रकार इस ढग की मानव मूर्त्तियों का अधिकाधिक रिवाज बढ चला था। वास्तव में, ग्रीक लोगों के आरंभिक आदर्शवाद के ढल चुकने के शीघ्र ही बाद से ग्रीस में वीरोपासना की रीति चल पडी थी। अब सार्वजनिक स्थानों में मानवाकृतिवाले देवताओं की मूर्त्तियों के बदले राजपुरुषों, शक्तिधर शासकों या नेताओं की प्रतिमाओं की ही अधिकांश में भरमार हो चली, जिनमें एक देवतुल्य सर्वशक्तिमानता और गौरव-गरिमा का भाव प्रदर्शित रहता था। रोमन लोगों ने भी, जिन्होंने उत्तरकालीन ग्रीक लोगों से ही अपनी कला की कुंजी पाई थी, मानव-मूर्त्ति-निर्माण की इस प्रचलित प्रथा को जारी रक्खा, जिसका एक सुपरिणाम यह हुआ कि रोम के गौरवशाली सुपुत्रों की सारी ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र-मडली अमिट सगमरमर मे सदा के लिए उचित रूप से सुरक्षित हो गई। यह सच है कि रोमन मूर्त्तियों मे अधिकाश ग्रीक लोगों की ही नक़ल पाई जाती है, किन्तु इस बात के लिए तो रोमन लोगों को श्रेय देना ही होगा कि उन्होंने ग्रीक परपरा को उस समय जारी और जीवित रक्खा, जबकि स्वय ग्रीस ही मे कला-संबधी प्रेरणा का आदि स्रोत क़रीब-क़रीब सूख चुका था।

जैसा कि प्रायः होता है, रोमन कला का भी प्रारभ धर्म-मदिर और उसके प्राङ्गण मे ही हुआ। सभी आदिम कलाकृतियाँ या तो भक्तिमूलक होती है या शव-सस्कार-संबधी। अपने आरभिक देवालयों मे रोमन लोगों ने इट्रस्कन लोगों का अनुकरण किया था, जिन्होंने स्वयं ग्रीक लोगों की नक़ल की थी। रोमन देवालयों के त्रिभुजाकार पेडिमेंट टेराकोटा की मृण्मय मूर्त्तियो से विभूषित किए जाते थे, जो निश्चय ही इट्रस्कन लोगों की कला की याद दिलाती हैं। सच पूछिए तो मिट्टी की कारीगरी, भास्कर्य और काँसे से मूर्त्तियाँ ढालने की कला के सम्बन्ध में रोमन लोग जो कुछ भी जानकारी रखते थे उसके लिए वे लगभग सपूर्णतया इट्रस्कन लोगों के ही ऋणी थे। हिप्नास या निद्रा की सुप्रसिद्ध मूर्त्ति, रोम के प्रतिष्ठापक युगल बधु रेमस और रोम्यूलस को दुग्धपान कराती हुई मादा भेड़िया की काँसे की विख्यात प्रतिमा, और 'वक्ता' या 'ब्रूटस' की तथाकथित मूर्त्तियाँ रोमनों द्वारा काँसे की ढलाई के उत्तम आरभिक उदाहरणों में से हैं। किन्तु काँसे की ढलाई की परिमितता और विशेष अड़चनों से शीघ्र ही रोमन कलाकार ऊबने लगे और उनका ध्यान पाषाण से गढ़कर मूर्त्ति बनाने की ओर खिंचने लगा। इटली की अनेक सगमरमर की खदानों से मूर्त्ति-निर्माण के लिए उम्दा **संगमरमर**

टोगा पहने हुए दो रोमन नागरिकों की मूर्त्तियाँ
(प्रथम शताब्दी ईस्वी)

मिलने लगा था। इस अवसर से समुचित लाभ उठाने में रोमन कलाकारों ने देरी न की। ग्रीस के पुरातन या उत्तर युग की संगमरमर की वे अनेक कलाकृतियाँ, जो लूट-लूटकर विजेता रोमन सेनानायकों के साथ साथ रोम में प्रवेश कर चुकी थीं, रोमन कलाकारों के लिए नक़ल करने या प्रेरणा पाने के लिए बहुत ही उपयोगी आदर्श या नमूनों का काम देने लगीं। इस प्रकार बहुत ही शीघ्र भास्कर्य के क्षेत्र में रोम की कारीगरी और सफलता ग्रीस की कारीगरी का मुक़ाबला करने लगी।

नेपल्स में भास्कर्य का एक स्थानीय 'स्कूल' या कला-संस्थान क्रमशः विकसित होकर उठ खड़ा हुआ, जिसने एलेक्जेण्डर के युग की उन आदर्श ग्रीस कृतियों का अनुकरण करना आरम्भ किया, जिनका प्रजातन्त्र के जमाने के रोमन संग्रहकर्त्ता बहुत ही ऊँचा मूल्य आँकते थे। इस 'स्कूल' की एक विशेषता यह थी कि इसके अनुगामी कलाकारों ने बड़ी चतुरतापूर्वक यह बात भाँप ली थी कि ग्रीस की आरम्भिक अति पुरातन मूर्त्तियाँ सौंदर्य-शास्त्र की दृष्टि से उत्तर-कालीन ग्रीक कृतियों से कहीं ऊँचे दर्जे की थीं। इसी वजह से इन लोगों ने अधिक शृंगारयुक्त और पांडित्यपूर्ण उत्तरकालीन ग्रीक शैली के बजाय अति प्राचीन आदि ग्रीक शैली का ही अनुसरण किया। इस शैली में बनाई गई कलाकृतियों का सर्वोत्तम नमूना तथाकथित 'पाम्पिआई की डायना' की मूर्त्ति है। "यह उस आडम्बर-रहित परिश्रमपूर्ण शैली की नक़ल है, जिसमें कि अति प्राचीन ग्रीक शिल्पी गतिशील आकृति को व्यक्त करने का प्रयत्न करते थे। साँचे में ढली हुई-सी वह 'पुरातन मुसकान', वे बड़ी-बड़ी आँखें, वह एकसमान वेश-विन्यास स्पष्ट रूप से यह बता देते हैं कि इसके कलाकार ने उसमें एक अति प्राचीन मूर्त्ति का भाव लाने के लिए कितना परिश्रम किया था।" कहते हैं कि इस 'स्कूल' का संस्थापक पेसीटीलीज नामक एक ग्रीक था, जो एक प्रसिद्ध मूर्त्तिकलाकार होने के अतिरिक्त एक विद्वान् लेखक भी था, जिसका ग्रीककला पर लिखित पाँच खण्डों का ग्रंथ प्लाइनी के सौंदर्य-शास्त्र सम्बन्धी अनुशीलन का प्रधान स्रोत था। उसी के ग्रंथ से यह ज्ञात होता है कि वह आजकल की तरह अपनी

कृति को मिट्टी मे बनाता था और उसकी उसके शिष्य बाद को सगमरमर मे नक़ल कर लेते थे। इफीजिनिया और ओरीस्टीज़ एव तथाकथित 'इल्डेफांज़ो समूह' के प्रसिद्ध मूर्त्ति समूह इसी नेपल्स के स्कूल के हैं और वे बिना किसी सदेह के ग्रीस के रहोड्स और प्रेक्सीटीलिज़ के स्कूलों की याद दिलाते हैं।

रोम मे साम्राज्यशाही की स्थापना और प्रसार के साथ ही सम्राटों और जनता दोनों की विशाल इमारतें बनाने की सनक बढने लगी। प्रत्येक सम्राट् अपने राज्यारोहण या विजयों की यादगार मे बेसिलिका, फोरम, सर्कस, स्नानागार आदि बनवाने लगा, जिससे स्थापत्य-कलाकरो, मूर्त्तिकारों, चित्रकारों और सजावट करनेवाले कारीगरों को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। सम्राट् ऑगस्टस की यह गर्वोक्ति थी कि मैंने रोम को एक ईंटों की बस्ती के रूप मे पाया था और उसे मैंने सगमरमर की नगरी के रूप मे छोडा। अपन सुदीर्घ शासनकाल मे ऑगस्टस ने अनेक अति उपयोगी सार्वजनिक भवन निर्मित किए। उसे तथा उसके अनेक उच्चकुलीन मित्रों को कला के क्षेत्र मे उन्नति के एक नवीन युग के उद्घाटन का श्रेय मिलना चाहिए। इस युग का भास्कर्य अधिकतर उभारकर खोदा हुआ या उत्तृ कित था, क्योंकि इस ढग के काम मे जगह की बचत हो जाती थी। यह भित्ति-चित्रो तथा सपूर्ण पृथक् मूर्त्तियों के बीच मानों समझौता-सा था। इन उभारकर बनाए गए मूर्त्ति-चित्रों मे अधिकतर पौराणिक या धार्मिक कथाएँ अकित की गई थीं। हाँ, कुछ मे तत्कालीन जीवित व्यक्तियों का भी चित्रण किया गया था, जैसे कि ऑगस्टस द्वारा निर्मित 'आरा पेसिस' ('शान्ति-पीठ') मे, जिसे कि उसने गॉल और स्पेन मे अपनी विजयो की स्मृति मे बनवाया था। एङ्काइरा (आधुनिक 'अकारा', जो तुर्की प्रजातंत्र की राजधानी है) नामक प्राचीन ग्रीक नगर मे ऑगस्टस द्वारा बनवाया गया एक विशाल मन्दिर है, जिसकी दीवारों पर एक लंबा आलेख खुदा है। यह आलेख
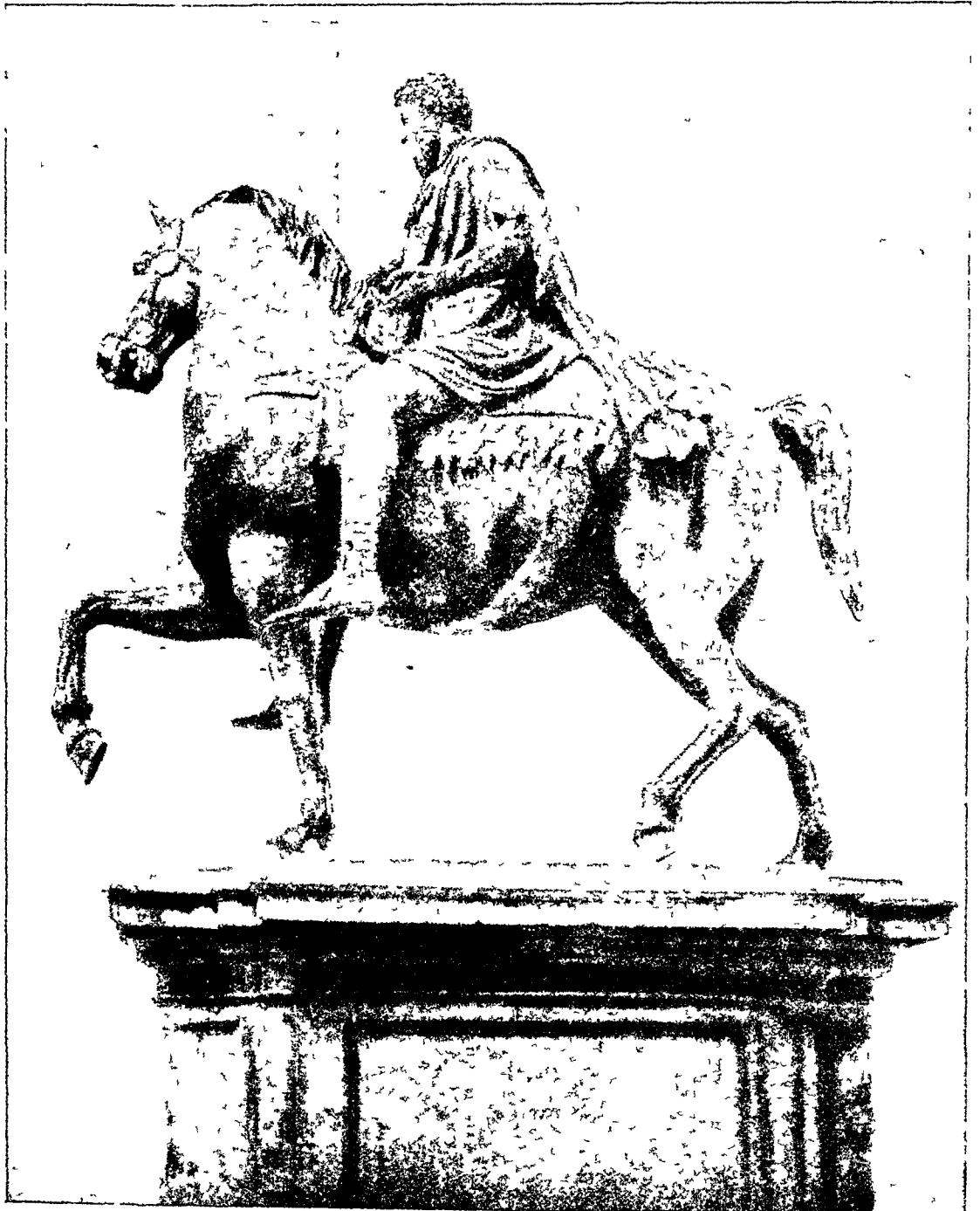
सम्राट् मार्कस ऑरेलियस की काँसे की प्रतिमा

"ऑगस्टस सीजर का अंतिम वक्तव्य" माना जाता है। इस आलेख मे इस महान् रोमन सम्राट् ने अपनी प्रजा से विदा लेते हुए अपने संग्रामों, सुधारों और अपने शासनकाल में बनवाए गए भवनों को गिनाया है। उपर्युक्त आलेख मे 'आरा पेसिस' या शान्ति पीठ नामक उपरोक्त स्मारक भवन का निम्न शब्दों मे उल्लेख किया गया है—'स्पेन और गॉल को पूर्ण रूप से शात करके मेरे लौटने पर सिनेट (सर्वोपरि रोमन व्यवस्थापिका सभा) ने मेरे वापस लौटने के उपलक्ष्य में धन्यवाद-प्रदर्शन के रूप मे यह निश्चय किया कि केम्पस मारटियस नामक स्थान मे एक वेदी या पीठस्थान का निर्माण कराया जाय और वह शाति देवी को उत्सर्ग कर दिया जाय।" शाति के इस महिमामय मदिर के भग्न अश आज दिन योरप के तमाम संग्रहालयों में बिखरे पड़े हैं। १६०२ मे प्रो० पीटरसन नामक एक ऑस्ट्रियन पुरातत्त्ववेत्ता ने असली देवालय के मूल-स्थान का पता लगाया और बड़ी सावधानी के साथ खुदाई करके इस शान्ति के मदिर के शेष भागों को धरती से १६ फीट नीचे से खोद निकाला। 'आरा पेसिस' का सबसे मशहूर उभरा हुआ मूर्ति-चित्र वह फ्रीज है जिसमें ऑगस्टस के एक सार्वजनिक जुलूस का दृश्य है। इसमे ऑगस्टस अग्रपुरोहित के वेश मे है और उसके साथ दो कॉन्सल (रोम के उच्च पदाधिकारी) और उनके परशुधारी अनुचरों (lictors) का एक दल है। इनके पीछे एक मनोरंजक दल और है, जिसमें महारानी लिविआ, सम्राट् का दामाद अग्रिप्पा, और उसका सौतेला पुत्र टीबेरियस है। तदुपरात एन्टोनिया के साथ ड्रूसस छोटे-से जर्मेनिकस को हाथ पकड़कर आगे ले चलते हुए दिखाया गया है। इनके पीछे सिनेट के सदस्यों और उच्च कुलीन रोमन पैट्रीशियनों का झुड है, जो टोगा नामक अपनी लम्बी पोशाक मे बड़ी गभीरतापूर्वक क़तार बाँधकर चल रहे हैं। रोमन राज्य के उच्च पदाधिकारियों और अमीर वर्ग के लोगों के इस जुलूस का जैसा यथार्थवादी चित्रण इसमे किया गया है उससे श्रेष्ठतर चित्रण कहीं नहीं मिलता। आरा पेसिस की सजावट की कारीगरी रोमन कला के चरम उत्कर्ष की झलक हमें देती है। उसमें हमे प्रकृति के प्रति रोमन लोगों का एक गभीर अनुराग दृष्टिगत होता है, जिसका ऊपरी फ्रीज पर अकित मानव-मूर्त्तियों की गहरी यथार्थवादिता के साथ पूरी तरह सामजस्य दिखाई देता है। सक्षेप मे, 'आरा पेसिस' या शान्ति-पीठ का यह स्थान आरंभ से अपने निर्माण के युग तक की रोमन कला के इतिहास का एक गौरवपूर्ण सक्षिप्त चित्रपट-सा है, जिसमें एक ओर उत्तरकालीन ग्रीक युग की परपरा की याद दिलानेवाली अनेक बातें हैं तो दूसरी ओर वे मानव-मूर्त्तियाँ हैं जो निश्चय ही इट्रस्कन यथार्थवादिता की ही विकसित रूप थीं। जहाँ उसमे प्रजातंत्र युग की पुष्पमालाओं का भी अकन है, वहाँ अत मे ऑगस्टस सीजर के परिवार के चित्राकन के रूप में साम्राज्य शक्ति की विजय का भी सुस्पष्ट आलेख है।

ऑगस्टस के युग की दो रोमन महिलाओं की मूर्त्तियाँ

नवीनता के समावेश की यह भावना ऑगस्टस के युग के रोम नगर के महान् सार्वजनिक भवनों और राजप्रासादों मे ही नहीं दृष्टिगत होती, बल्कि साधारण घरेलू स्थापत्य मे भी उसकी छाप हमे नजर आती है। दुर्भाग्य से रोम की खानगी इमारतें काल के निर्मम हाथों द्वारा कभी की मिट्टी

मे मिल चुकी हैं। अतएव हमे रोमन साम्राज्य के दूसरे महान् ऐतिहासिक नगर पाम्पिश्राई की ओर मुड़ना होगा, जिसे वेसूवियस नामक ज्वालामुखी ने बाद मे आनेवाली पीढ़ियों के लिए अपनी उगली हुई लावा के नीचे दबाकर मानों मोमियाई की तरह सुरक्षित कर दिया था। इस मशहूर नगर के दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास से सब कोई इतने अधिक परिचित हैं कि उसको फिर से दोहराने की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। लार्ड लिटन ने अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'पाम्पिश्राई नगर के अतिम दिवस" मे इसकी कथा को सदा के लिए अमर कर दिया है, और साहसी चित्रपट बनानेवालो ने प्रायः प्रत्येक देश के निवासियों को उससे परिचित कर दिया है। पुरातत्त्ववेत्ताओ के लगभग एक शताब्दी के अथक परिश्रम और अध्यवसाय के फलस्वरूप यह प्राचीन नगर क़रीब-क़रीब सारा-का-सारा खोदकर खुला कर दिया गया है और आज दिन हम पाम्पिश्राई के इतिहास और जीवन के संबध मे मध्ययुग के किसी नगर से भी कहीं अधिक बाते जानते हैं।

रोमन गृह की प्रधान विशेषता 'एट्रियम' नामक वह छतदार कक्ष था, जिसमे आसमान की ओर एक खुला वातायन रहता था। यह वातायन 'इम्प्लूवियम' के नाम से पुकारा जाता था। 'इम्प्लूवियम' के ठीक नीचे वर्षा के पानी को जमा करने के लिए एक हौज बना रहता था। यह हौज कभी-कभी पुष्पित कुमुदिनी और सुनहली मछलियों से सुशोभित रहता था। 'एट्रियम' की दीवारे कभी-कभी एक ख़ास ऊँचाई तक संगमरमर से विभूषित रहती थी, किन्तु प्रायः कम ख़र्च के ख़याल से इसके बदले रगीन प्लास्टर ही का प्रयोग होता था। यह सजावट बहुत ही तड़क-भड़कदार रगो से की जाती थी। दीवार या तो रगीन सगमरमर से विभूषित रहती थी या उसकी उस पर नक़ल बना दी जाती थी। इन दीवारो की कॅगनी रॅगी रहती थी। यदा-कदा दरवाज़े और दीवार मे उभरे हुए खभे भी रॅग दिए जाते थे, किन्तु प्रत्येक दशा मे वे दीवार की सजावट को किसी क़द्र घटने न देते थे। यह रोमन सजावट की 'प्रथम शैली' के नाम से पुकारी जाती है। संभव है इसकी उत्पत्ति का स्रोत उत्तर कालीन अथवा एलैक्ज़ेडर के युग की ग्रीक कला रही हो।

जर्मेनिकस की स्त्री अग्रिप्पिना की मूर्त्ति
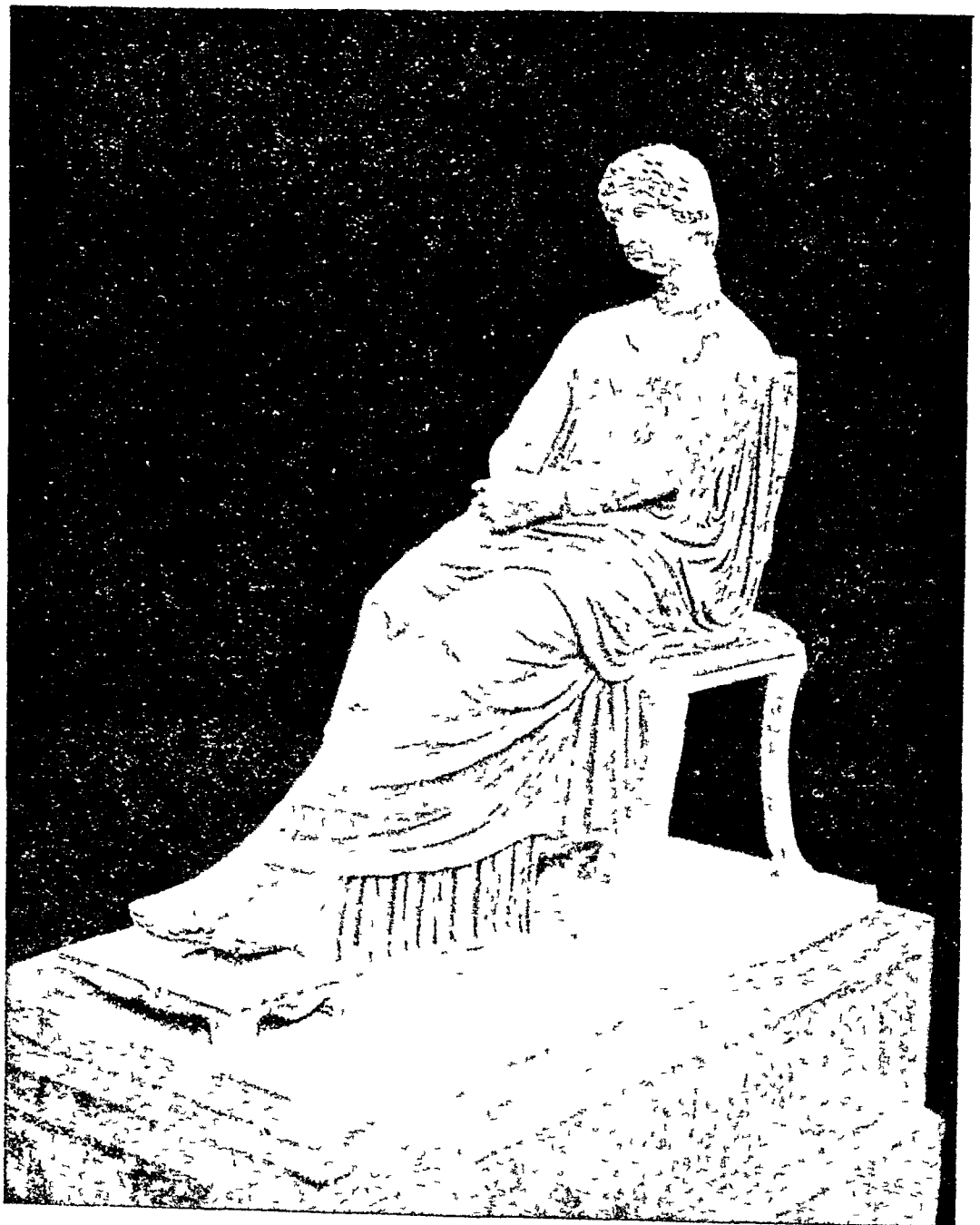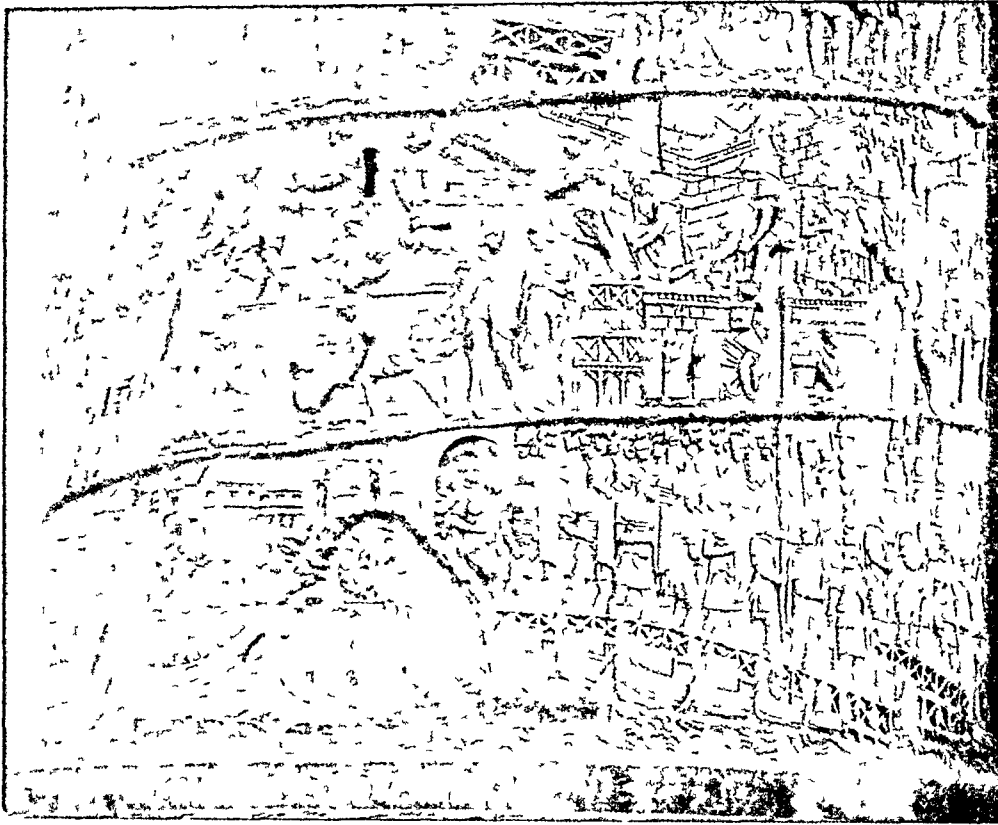
ट्राजान के स्मारक-स्तंभ पर अङ्कित मूर्त्ति-चित्रो का एक भाग

'स्थापत्य-शैली' शीघ्र ही इतनी अधिकता से काम मे लाई जाने लगी कि रोम की चहार-दीवारी के बाहर बने हुए अनेक शाही कुंज-भवनों मे से एक मे हम सारी-की-सारी दीवार को एक पुष्पित झाड़ी के चित्र से विभूषित पाते हैं। इसमे मनोहर वृक्षों के समूह छत तक अपना सिर उठाए हुए चित्रित हैं और उनमें विविध-रगों के पक्षी भी दिखाए गए हैं। यह मुश्किल से 'स्थापत्य शैली' कही जा सकती है, परन्तु सजावट का सिद्धान्त इसमे वही है। यह भी दीवारों की सजावट द्वारा कमरे को वास्तविक से अधिक बड़ा दिखाने का ही एक प्रयास है।

सजावट की इन रोमन शैलियों का चूँकि पाम्पिआई में ही अन्य स्थानों की अपेक्षा सबसे अधिक अध्ययन किया गया है, अतएव ये भित्ति-शृ गारकला की 'पाम्पिआई शैलियाँ' के नाम से भी अभिहित की जाती हैं। पाम्पिआई शैली की प्रथम शैली, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, 'इन्क्रुस्टेशन' या सगमरमर शैली के नाम से पुकारी जाती है ('इन्क्रुस्टेशन' 'क्रुस्टा' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है—'सगमरमर की एक तख्ती')।

दूसरी शैली 'स्थापत्य-शैली' के नाम से पहचानी जाती है, क्योंकि इसमे एक ऐसी स्थापत्यमूलक रचना का प्रयोग किया जाता है, जिससे देखनेवालों पर पीछे की ओर बहुत दूर तक फैले हुए विस्तृत दृश्य का प्रभाव पड़ता है। यह नाम उपयुक्त ही है, क्योंकि सचमुच ही इस शैली से सजाए गए भवन मे स्तम्भ-पक्तियों और अन्य स्थापत्यमूलक विशेषताएँ ऐसी दिखाई देती हैं, मानों वे दीवारो मे पृथक् हों, जिससे देखनेवाले के मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़ता है कि जैसे पीछे बहुत गहराई तक दृश्य फैला हुआ है। इस प्रकार वह कमरा उसे वास्तविक से अधिक बड़ा दिखाई देने लगता है। सजावट की यह

रोमन भित्ति-सजावट की तीसरी शैली 'आलकारिक शैली' कहलाती है। इस शैली मे पीछे की ओर गहराई दिखाने का प्रयत्न नहीं किया जाता। सारी दीवार समान रूप से एक ही रग मे रँग दी जाती है—सफेद, काले, या एक निराले ढग के लाल रग मे, जिसका नाम 'पाम्पिअन लाल रग' पड़ गया है। इसी पृष्ठभूमि पर हजारों तरह के छोटे आकार के अलकार चित्रित रहते थे। यहाँ आपको पुष्पमालाओं की फ्रीजे (जो कि साँची, भारहुत, और ग्रीक-भारतीय मूर्त्तियों मे भी आम तौर से पाई जाती हैं), इन्हीं मालिकाओं के गुँथे हुए खड़े हार, छद्मवेश की आकृतियाँ, छोटी-छोटी टोकरियाँ, और विशेषकर शोभा के लिए लटकाए जानेवाले परदों आदि सभी के चित्र देखने को मिलते हैं। ये सब बड़ी सुसगति के साथ सजाये रहते थे और उनके रग दीवार की चकाचौंध पैदा करनेवाली तड़क-भड़क को कुछ मद और मधुर बना देते
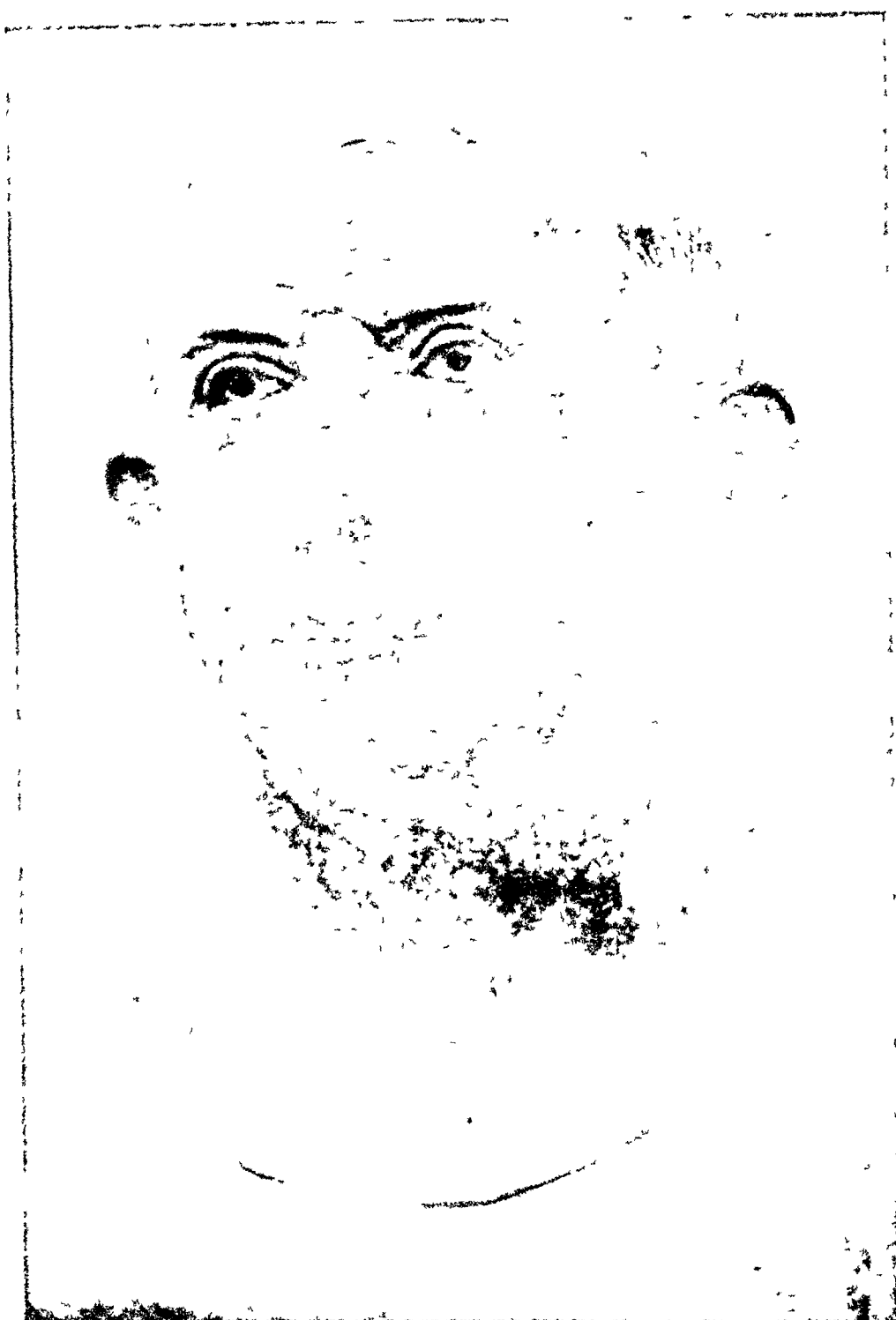
ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी की काँसे में ढली हुई
एक रोमन नागरिक के शीश-भाग की प्रतिमा
यह [illegible] से प्राप्त हुई थी।
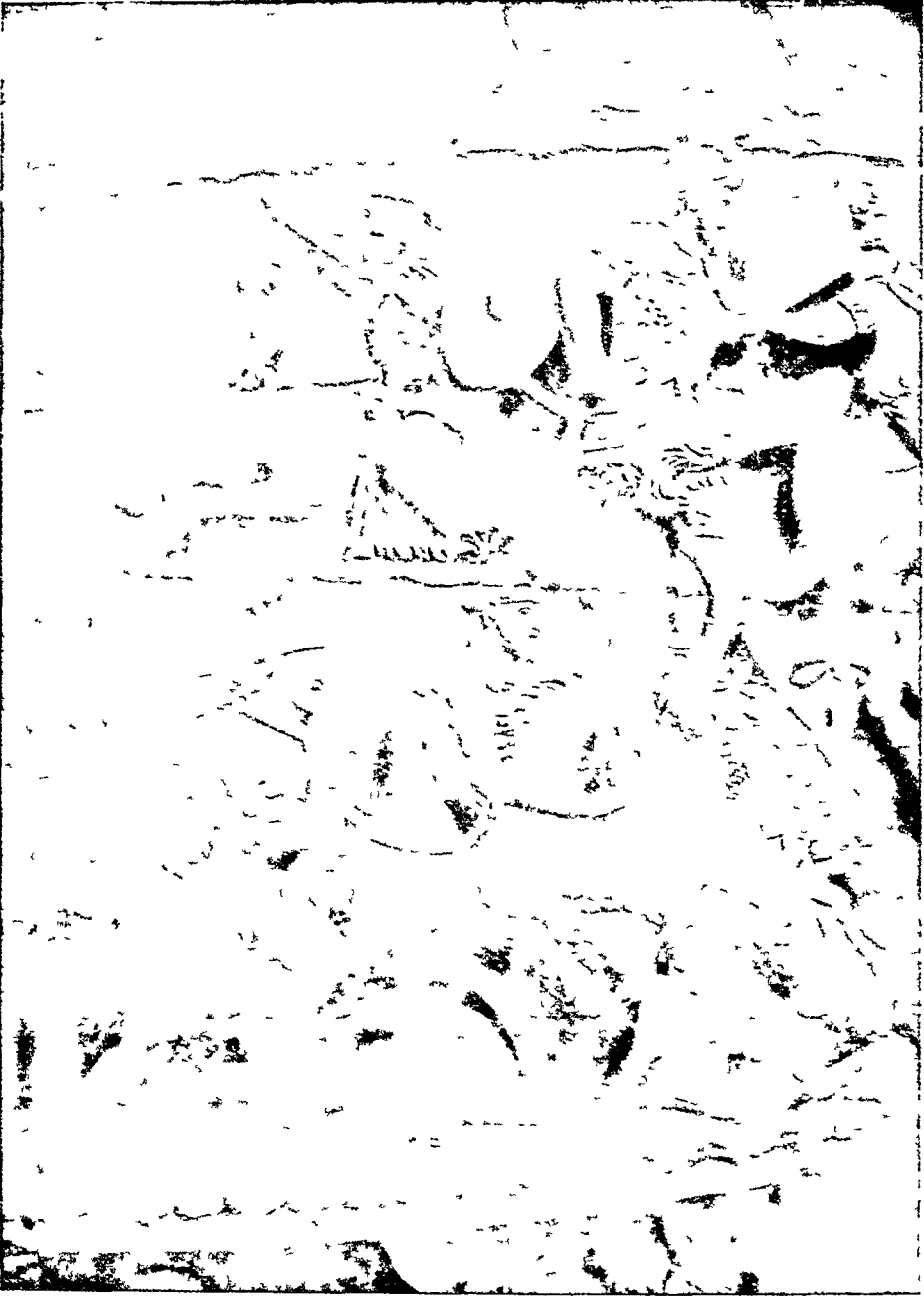
रोम में मार्कस के स्मारक-स्तंभ पर बने हुए उभरे मूर्त्ति-चित्रों का एक अंश
(द्वितीय शताब्दी ईस्वी)

तीसरी शताब्दी ईस्वी की एक रोमन मानव-मूर्त्ति

यह सभवतः सम्राट् फिलिप्पस माइनर के शीश-भाग की मूर्त्ति है। मूर्त्ति सगमर्मर मे बनी है।

उत्तरकालीन रोमन युग की एक कलाकृति
यह एक बच्चे की मुखाकृति का चित्र है।

थे। सजावट की यह आलकारिक शैली ख़ासकर रोमन सम्राट् नीरो के ज़माने मे बहुत अधिक प्रचलित हुई और उसके सुप्रसिद्ध 'सुनहले प्रासाद' मे अब भी इस शैली के चिह्न हमे देखने को मिल जाते हैं। इस सुनहले प्रासाद के ध्वसावशेषों पर ही टाइटस के स्नानागार का भवन इस तरह बनाया गया था कि नीरो का यह प्रासाद उसकी कुर्सी या आधार बन गया था। १५ वी शताब्दी मे जब टाइटस के स्नानागार के नीचे से इस महल के अवशेष खोद निकाले गए उस समय वे धरती के भीतर कदराओ (Grottoes) के रूप मे पाए गए। इसी कारण उनकी कुछ आलकारिक विशेषताओं को 'ग्रोटेस्को' (Grotesco) या आधुनिक अग्रेजी में 'ग्रोटस्क' कहकर पुकारा गया।

पाम्पिआई के अतिम दिनों मे, प्रथम शताब्दी ईस्वी के अत के लगभग एक चौथी शैली का आविर्भाव हुआ, जो भ्रान्तिवादी (Illusionism) कही जाती है। इस शैली मे स्वाभाविकता का क़तई दावा नहीं किया जाता जैसा कि पहली और दूसरी शैलीवाले करते थे। अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए इस शैली मे स्थापत्य सबंधी आकृतियाँ छोटे छोटे खभो, फ्रीज़ों, खिडकियों आदि के रूप में चित्रित की जाती थीं, परतु वे एक ऐसी नूतन, असाधारण और जटिल रीति से पेश किए जाते थे, जो यथार्थवाद की दृष्टि से बिल्कुल ही अनजान लगते थे। फिर भी उनमे अपनी एक मनोहरता और आकर्षण होता था, जिससे बहुत ही नाज़ुक कल्पना का भाव टपकता था। इस शैली की मनोरमता अधिकाश मे उन स्पष्ट रगों के कारण है जो इतने छोटे-से आकार के घेरे में बनाई गई असख्य आकृतियों मे यहाँ से वहाँ तक रचे हुए थे।

तीसरी और चौथी दोनों ही शैलियों मे दीवार के मध्य भाग मे किसी प्रसिद्ध ग्रीक चित्र की प्रतिलिपि बनी रहती थी। यह उक्त चित्र की किसी नक़ल की नक़ल होती थी, जो स्वय न जाने कितनी नकल के बाद बनी होगी। स्थान के आकार-प्रकार के अनुसार सभवतः यह छोटी-बड़ी भी कर ली जाती थी। कुछ भी हो, पाम्पिआई के घरों के ये छोटे भित्ति-चित्र ही प्रायः अनेक प्रसिद्ध किंतु लुप्त प्राचीन चित्रों की एकमात्र बची हुई प्रतिलिपियाँ हैं। इन्हीं प्रतिलिपियों तथा कलश पर अकित चित्रो एवं पच्चीकारी या मोज़ेक शैली के चित्रों की सामग्री ही से हम इस बात का कुछ अनुमान कर पाते हैं कि इनके मौलिक ग्रीक चित्र कैसे रहे होंगे।

स्वयं ऑगस्टस सीज़र की, जिसके राज्यकाल मे रोमन कला के ये सब अंग प्रचुर रूप से पनपने और विकसित होने लगे थे, एलेक्ज़ेंडर महान् की भाँति बहुत अधिक मूर्त्तियाँ हैं। उसका चाचा महान् जूलियस सीज़र कलाओं का एक उदार आश्रयदाता और पोषक था। वास्तव मे वह अपने युग से कही आगे बढ़ा हुआ व्यक्ति था। वह ऐसा मालूम देता था मानो इस पृथ्वी पर बौनों के बीच कोई दैत्य विचर रहा हो। युवा ऑक्टेवियन (ऑगस्टस सीज़र) को अपने प्रसिद्ध चाचा से वसीयत के रूप मे उसके कई गुण मिले थे, जिसमे से एक यह था कि उसकी तरह यह भी कलाकारो से अपना चित्र या मूर्त्ति बनवाने का बड़ा शौक़ीन था। इस प्रकार हम उसे १४ वर्ष के एक लड़के के रूप मे, २५ के युवा के रूप मे, अपने सैनिकों के प्रति संभाषण करते हुए रोमन सम्राट् के रूप मे, अग्रपुरोहित के रूप मे और अन्य अनेको भेषो मे चित्रित देखते है। रानियो और देश की अन्य उच्च महिलाओ के भी विविध वेश-भूषा और केश-विन्यास के साथ भिन्न-भिन्न रूप मे उतारी गई काफी प्रतिमूर्त्तियाँ मिलती हैं, जिनमे उनका साधुत्व अथवा उनके व्यसन अमिट भाव से हमें उनके चेहरे पर अकित दिखाई देते हैं। रोमन मानव मूर्त्तिकारों की कृतियो की सजीवता के गुण का मोल आँकने के लिए महज़ यही काफी होगा कि ऑगस्टस की पत्नी लीविया अथवा ड्रूसस की स्त्री एन्टोनिया की मूर्त्तियो पर एक नज़र डालकर क्लाडियस की दुराचारिणी स्त्री व नीरो की मा अग्रिप्पिना अथवा थिसेलिना, फास्टीना, पोप्पिया तथा इसी तरह की अन्य सम्राज्ञियो की मूर्त्तियो से उनकी तुलना की जाय। पहली मूर्त्तियाँ जहाँ स्त्री की तरुणाई की निर्मलता, गंभीरता, एव मधुरिमा के एक अति सूक्ष्म भाव से अभिभूत हैं वहाँ बाद को गिनाई गई कृतियों मे जिनकी मूर्त्तियाँ हैं उनके चरित्र की पतनावस्था पर स्पष्ट रूप से कलाकार की टीका अब भी पढ़ी जा सकती है।

सक्षेप मे सभी रोमन मानव-मूर्त्तियो की एकमात्र कुजी निर्दयतापूर्वक चरित्रचित्रण कहा जा सकता है। रोम के विशिष्ट सामाजिक और प्रजासत्तात्मक वातावरण के कारण कलाकारों को चित्र या मूर्त्ति बनवानेवालो के साथ घनिष्ट रूप से हिलमिलकर अतिनिकट भाव से उनका अध्ययन करने का अवसर मिल जाता था, जिसके फलस्वरूप निश्चय ही उनके सूक्ष्म निरीक्षण, विवेचन और चरित्र विश्लेषण की शक्ति बहुत अधिक तीव्र हो जाती थी। इस युग मे मानव-मूर्त्तियाँ अब जाति-विशिष्ट न रहीं, बल्कि स्पष्ट रूप से वे व्यक्ति-विशिष्ट हो गईं। ट्राजान का स्मारक-स्तंभ,

एन्टोनियस की एक मूर्त्ति

जिसका कि उल्लेख हम पिछले लेख में कर ही चुके हैं, एक स्मारक के उद्देश्य से बना होने के बावजूद वास्तव में एक मानव-मूर्त्तियों की लम्बी-सी प्रदर्शनशाला ही है। यह सच है कि वीरता का प्रदर्शन ही उसका मुख्य विषय है, फिर भी हमें उसमें बार-बार उसके संस्थापक सम्राट् के जीवन के अति घनिष्ट चित्र देखने को मिलते हैं। इसका रचयिता डेमेस्कस का प्रसिद्ध कलाकार अपोलोडोरस था, जो सम्राट् ट्राजान के साथ उसकी युद्ध-यात्राओं में गया था और डैन्यूब तटीय उसके संग्रामों का बड़ी ही चतुराई के साथ उसने इस स्मारक पर एक खाका खींच दिया है।

ट्राजान के बाद एक और महान् रोमन सम्राट् गद्दी पर बैठा। इसका नाम हैड्रियान था और ट्राजान की तरह यह भी स्पेन का रहनेवाला था। यह सुन्दर वस्तुओं का बड़ा ही प्रेमी था। स्थापत्य, मिट्टी के पात्र, घोड़ों और नवयुवकों की परख में वह बड़ा उस्ताद था। यात्रा का उसे बहुत शौक था और सभी के अच्छे विचारों का संग्रह करने की उसमें एक सुसंस्कृत टेव थी। किसी भी देश में जो कुछ भी कला-पूर्ण वस्तु उसे दिखाई पड़ती, उसको अपने सुप्रसिद्ध कुन-भवन में संग्रह कर प्रतिष्ठापित करने का वह प्रयत्न करता। मिस्र की कला के लिए उसके मन में बहुत अधिक झुकाव था और वहाँ की शैलियों का अपने अनेक महलों में विस्तार के साथ उसने उपयोग किया था। इसकी सौंदर्यलिप्सा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब उसने यह आज्ञा दी कि उसका युवा प्रिय पात्र एन्टोनियस एक अर्द्ध-देवता के पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया जाय। यह बिथाइनियन युवक, जो अपने शारीरिक सौंदर्य के लिए इतना अधिक प्रसिद्ध था, एक अजीब रहस्यमय ढग से नील नदी मे डूबकर मर गया। हैड्रियान अपने इस अभागे प्रेमपात्र की याद कभी भी न भुला सका और उसने उसके सम्मान मे मिस्र में एक नवीन नगर का निर्माण करने की आज्ञा दी। इस युवक की मूर्त्ति के बनाने मे सम्राट् के मूर्त्तिकारों ने उसे आदर्श रूप मे चित्रित कर एक नवीन कलात्मक शैली का निर्माण किया, जो पुरातन कला की अतिम शैली कही जा सकती है। एन्टोनियस की हजारों ढग से प्रतिमूर्त्तियाँ बनाई गई हैं। किन्तु सबमे वही एक विशेषता दिखाई देती है—अर्थात् पौरुष के साथ स्त्रैण विलासिता का मिश्रण।

एक और विशेष आकृति, जो इस युग की रोमन कला मे प्रायः देखने को मिलती है, बर्बर बदिनी की प्रतिमूर्त्ति है। रोमन नागरिकों की मिथ्या दर्प-भावना को इस विचार से बड़ी ही आत्म-तुष्टि मिलती थी कि बर्बर लोगों की न केवल भूमि ही रोमन साम्राज्य के प्रान्तों मे परिणत कर दी गई, वरन् उनकी स्त्रियाँ भी रोमन सेनाधिपतियों की विजय की साक्षी के रूप मे पकड़कर लाई गई हैं और घसीटी जा रही हैं। तथाकथित बर्बर बदिनी टुस्नेल्दा की प्रतिमा इस तरह की कृतियों का एक विशिष्ट उदाहरण है और उससे असहायता और अश्रुसिंचित करुणा का ऐसा भाव टपकता है कि जैसा रोमन कला में बहुत ही कम देखने को मिल सकता है। अन्य जाति के बदियों की मूर्त्तियाँ भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं और उनमें जिन लोगों की प्रतिमूर्त्ति अकित की गई है, उनके जातिगत लक्षण बडे मार्के के साथ चित्रित हैं। इस प्रकार हम इस युग की रोमन मूर्त्तियों में किसी भी उत्तरकालीन ग्रीक, जर्मन, स्पेनियार्ड या डेसियन जाति के व्यक्ति की जातिगत विशेषता को तुरत ही पहचान सकते हैं। यही एक बात किसी क़द्र कम सफलता की सूचक नहीं है।

विजयिनी रोमन सेनाओं का पदानुसरण करते हुए रोमन कला गॉल (आधुनिक 'फ्रान्स'), हिस्पानिया (आधुनिक 'स्पेन'), इगलैण्ड, लीबिया, साइरेनाइका, सीरिया और अन्य अनेक दूर-दूर के देशों मे जा पहुँची और रोम के सुदूरव्यापी साम्राज्य मे जगह-जगह वह रोमन संस्कृति के उत्कृष्ट स्मारक अपने पीछे छोड़ गई है।

उत्तरी हिम-प्रदेश के निवासी एस्किमो—(१)

इस स्तंभ के पिछले कुछ लेखो में आपको सभ्यता से परे की दुनिया में बसनेवाली अन्य अनेक आदिम जातियो के जीवन-क्रम का परिचय मिल चुका है। आइए, इस और इसके आगे के लेख में हम एक और अनोखी मानव जाति का विवरण आपको सुनाएँ, जो ध्रुव प्रदेश में पिछले हज़ारो साल से प्रकृति के साथ संघर्ष कर रही है।

चारों ओर बर्फ़ ही बर्फ़। पेड़-पौधों का कहीं नाम भी नही। एक अजीब धुंध। कुहरा और अधकार। सूरज महीनो ग़ायब। ख़ून को भी जमा देनेवाली कड-कड़ाती सर्दी। तापमान शून्य से ३०-४० अश नीचे तक गिरा हुआ। आँधी—बदन को काटती, चीत्कार करती, सौ-सवा सौ मील प्रति घटे की रफ्तार से भागती बर्फ़ीली आँधी। नंगे, एकदम खडे खिसकते हिम के पहाड़। हिमानियाँ—अरअराती हुई धीरे-धीरे सरकती बर्फ़ की नदियाँ। जानवर के नाम पर एक पखेरू तक नही। केवल समुद्र पर बिछी बर्फ़ीली चादर के नीचे चुपचाप तैर रही कुछ ख़ास तरह की मछलियो और उनका शिकार कर अपना निर्वाह करनेवाले वाल-रस, सील, ह्वेल या सफ़ेद भालू जैसे कुछ अनोखे जीवो का ही बोलबाला। आसमान मे भी कही न देखी-सुनी गई प्रकृति की एक अजीब लीला। देखते-देखते धुँधले आकाश मे इन्द्रधनुष को भी मात कर देनेवाले निरतर थिरकते हुए एक विचित्र रंग-बिरगे प्रकाश-पुंज का आविर्भाव। घटो इसी प्रकार प्रकृति का खिलवाड—मानो आसमान मे आग लग गई हो। फिर वही अधकार, वही आँधी!

क्या इस दिल दहला देनेवाले वातावरण मे जीवन-यापन करनेवाले मानव की भी कल्पना की जा सकती है? प्रकृति के इस प्रलय-ताण्डव मे सम्मिलित होकर, उसके ताल-स्वर पर पैर उठाने—उसकी लल-कार का अट्ट-हास्य द्वारा प्रत्यु-त्तर देने—का साहस और साम-र्थ्य रखनेवाले उस नर-वीर की हड्डियाँ किस पदार्थ की बनी होगी? निस्स-देह, उसकी रूप-रेखा सहज ही हमारे मन मे नहीं खिंचने

ध्रुव-प्रदेश में रात्रि के समय भी कभी-कभी इसी तरह सूर्य दिखाई देता है इस फ़ोटो में सूर्य की भिन्न-भिन्न समय की स्थिति अंकित है।

ग्रीनलैण्ड के एस्किमो इसी तरह वर्फ के मकान वनाकर उनमे ध्रुव-प्रदेश की लंवी जाड़े की राते काटते है वर्फ़ की शिलाओं के टुकडे काटकाटकर किस प्रकार ये लोग उन्हे एक दूसरे पर रचकर गुंबजनुमा मकान बनाते हैं यह इस फ़ोटो में दिखाया गया है।

की। हमे भीषण लू-लपट से तपे हुए पथरीले रेतीले रेगिस्तानो, आँधी-पानी-तूफान से रात-दिन घिरे घने जगलों-वाले दलदली निर्जन टापुओं, ऊवड-खावड पहाड़ों और निर्जल पठारों में मोर्चा वॉधकर प्रकृति से निरतर लडाई लडते रहनेवाले मानव का अस्तित्व असभव नहीं प्रतीत होता, पर ऊपर वर्णन किए गए कठोर वातावरण में भी मनुष्य उसी भॉति सघर्ष कर रहा होगा, यह एकाएक हमारी कल्पना मे नहीं आ सकता। किन्तु प्रकृति की लीला जैसी विचित्र और अनत है, मनुष्य की शक्ति और जीवनलीला भी उससे किसी दर्जे कम विचित्र नहीं है। आप यह जानकर अचरज करेंगे कि पिछले हजारों वर्षों से मनुष्यों की एक छोटी-सी टुकड़ी ऊपर वर्णित वर्फीले मोर्चे पर भी डटकर अकेले ही प्रकृति से लोहा ले रही है! उसकी यह सग्राम-भूमि अमेरिका के उत्तर-पूर्व मे स्थित ध्रुव से सटे हुए ग्रीनलैण्ड के विशाल द्वीप से लगाकर पश्चिम में अलास्का और वेयरिङ्ग-जलडमरूमध्य के उस पार साइ-वेरिया के उत्तर-पूर्वीय नोकीले कोने तक पसरी हुई है। यह सारा का सारा विशाल क्षेत्र, कुछ जल और स्थल भागों को छोड़कर, एक अखण्ड वर्फ की चादर से ढका रहता है, जो शीतकाल में शेष भागों को भी ढॉप लेती है। अकेले ग्रीन-लैण्ड का ही विस्तार लगभग ८२७२००० वर्गमील अर्थात् भारतवर्ष के आधे से भी अधिक है। लगभग एक महाद्वीप का विस्तार! फिर भी इस विस्तृत प्रदेश की कठोर वर्फीली दीवार से टक्कर लेनेवाले उन साहसी मनुष्यों की सख्या कितनी परिमित है—केवल ३० हजार प्राणी! किन्तु संख्या में कम हुए तो क्या, साहस और वीरता मे तो वे ३० लाख को भी मात कर सकते हैं। इसी से तो उन्होंने इस प्रदेश में पिछले हज़ारों वर्षों से अपने पैर मजबूती से जमा रक्खे हैं। अपनी सारी शक्ति को लेकर भी प्रकृति उन्हे वहाँ से उखाड़ फेकने में सफल नहीं हो पाई है। प्रकृति की कठो-रता के कारण उनकी शक्ति का ह्रास होना तो दूर रहा, उल्टे उन्हे उसका सामना करने के लिए और बल मिल गया है!

सचमुच ही ये लोग मौजूदा मनुष्यों मे सबसे अनोखे हैं। ये इस बात के जीते-जागते प्रमाण हैं कि मनुष्य मे कठोर से कठोर वातावरण के भी अनुकूल अपने आपको बना लेने की कैसी विचित्र शक्ति छिपी हुई है। ये लोग मानों इस पृथ्वी के उत्तरी वर्फीले सीमा-प्रान्त के रखवाले हैं। जिस क्षेत्र में क़दम रखते हुए भी दुनिया के अन्य मनुष्य घवड़ाते उसी को इन लोगों ने अपना घर बना

लिया है ! जिस दशा मे दूसरो के लिए जीवन का अस्तित्व बनाए रखना भी दूभर हो जाता, वही इन लोगो के जीवन का आरभ होता है । मानो इसी तरह के वातावरण के लिए ही वे बने हों—इससे बाहर पनपना उनके लिए मुश्किल है। यही कारण है कि अपने इस विशुद्ध वातावरण मे बाहर की हवा भी आने देना ये लोग गवारा नही कर सकते ।

हॉ, वास्तव मे, पृथ्वी की अन्य अनेक आदिम जातियों की तरह इन लोगो के लिए भी बाहरी सभ्यता की छूत घातक ही सिद्ध हुई है । जैसा कि हम आगे चलकर अगले लेख मे देखेंगे, इस छूत ने उनके यहॉ जाकर प्राण-हारी महामारी का काम किया है और उनके पार्थिव अस्तित्व तक को ख़तरे मे डाल दिया है ! उन्हे ध्रुव-प्रदेश की बर्फीली ऑधी और कड़ाके की सर्दी तो न डिगा सकी, न आहार और सुख के साधनों की कमी ही उन्हे विचलित कर पाई, किन्तु एक विदेशी सभ्यता की छूत ने उनके पैर उखाड़ दिए ! अचरज नही, यदि इसी के परिणामस्वरूप एक दिन इन वीर और साहसी लोगो का इस दुनियॉ से नाम ही उठ जाय !

ध्रुव-प्रदेश के इन अनोखे निवासियो को सभ्य ससार 'एस्किमो' के नाम से पहचानता है । इस जाति का अध्ययन करनेवालों मे प्रमुख डा० रिन्क के अनुसार 'एस्किमो' नाम इन लोगों को इनके दक्षिण के पडोसी अमेरिकन इडियनो द्वारा दिया गया है । इडियनो की भाषा मे इस शब्द का अर्थ 'कच्चा मांस खानेवाला' होता है, जो एस्किमो लोगो के आहार-विहार को देखते हुए सार्थक ही है । परन्तु स्वयं एस्किमो अपने आपको 'इनुइत' कहते हैं, जिसका अर्थ उनकी भाषा मे होता है 'मानव' । क्या ही सुंदर, सरल और स्वाभाविक नाम उन्होंने अपने लिए चुना है ! किन्तु आपको यह जानकर कुतूहल होगा कि ये लोग केवल अपने आपको ही 'मनुष्य' समझते हैं, अपने अलावा अन्य सभी मनुष्यों को वे किसी और वर्ग के ही जीवधारी मानते हैं !

एस्किमो लोग, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ग्रीनलैण्ड से लगाकर अलास्का और बेयरिङ्ग-जलडमरूमध्य के उस पार तक बिखरे पाये जाते हैं । पिछले कुछ वर्षों से इनकी रगो मे गोरी जातियो का भी रक्तमिश्रण हो गया है, अतएव अब विशुद्ध एस्किमो इने-गिने ही मिलते हैं । फिर भी ग्रीनलैण्ड मे बसनेवाले किसी भी विशुद्ध रक्तवाले एस्किमो और ३००० मील दूर बेयरिङ्ग-जलडमरूमध्य के पार या अलास्का मे पाए जानेवाले एस्किमो की बोली, सूरत-शक्ल और रहन-सहन मे इतनी मौलिक समानता है कि यह दृढ धारणा होती है कि ये सब किसी एक ही अतिप्राचीन मूल आदिम जाति के वंशज हैं, जो किसी समय इस विशाल क्षेत्र के विभिन्न भूभागो मे बिखर गई थी । अधिकांश मानव-वैज्ञानिकों का मत है कि एस्किमो उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियनों की ही जाति के है—ये उन्ही की एक उपशाखा हैं । इनके चेहरे की काट, ऑखे, बाल, क़द सभी अमेरिकन इडियनों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं । केवल रंग उनसे अधिक गोरा है—सो शीतप्रधान वातावरण के कारण भी हो

एक एस्किमो पुरुष

यह शुद्ध नस्ल का एस्किमो है । इसके रक्त में गोरी जाति का रक्त मिश्रित नही हो पाया है । चेहरे से कैसी दृढ़ता और प्रसन्नता का भाव टपक रहा है !
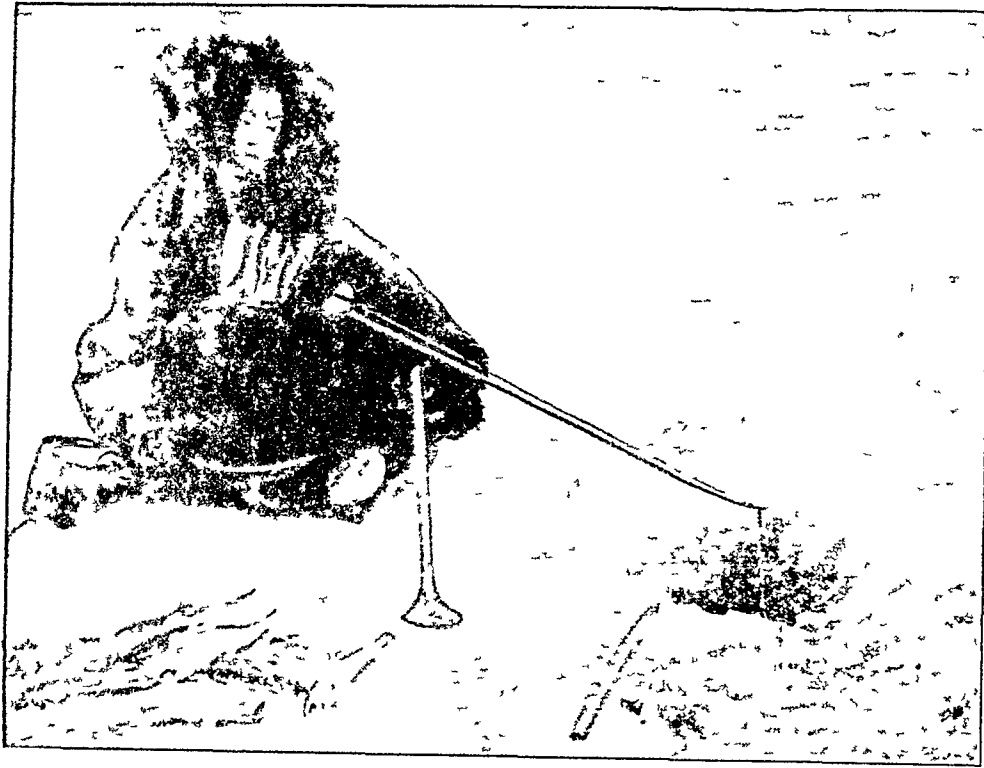
सकता है। डा० रिन्क का मत है कि एस्किमो एक जमाने मे अलास्का के भीतरी भागों मे रहते थे—वही से बाद को वे उत्तरी हिम-प्रदेशों मे फैल गए। उनकी यह भी धारणा है कि एस्किमो भापा अमेरिका की आदिम बोलियों से बहुत घनिष्ट रूप से सबधित है और उनके औजार-हथियार, दतकथाएँ व रीति रिवाज भी अमेरिकन इडियनों से सबध रखते हैं। एक बात मे निस्सदेह एस्किमो अमेरिकन इडियनों से नहीं मिलते, और वह है उनमे कुत्तो से खींची जानेवाली स्लेज-गाडियों का प्रयोग। एक सिद्धान्त यह भी है कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व आज के एस्किमो के पुरखे कनाडा की सुपीरियर झील के उत्तर में छाये घने जगलों के

(ऊपर) एक एस्किमो स्त्री बर्फ़ में गड्ढा करके नीचे पानी मे की मछलियो का शिकार कर रही है। (नीचे) एस्किमो महिला इसी तरह भोजन पकाती है।

उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के बर्फीले मोर्चे पर डटे हुए एस्किमो

चारों ओर बर्फ ही बर्फ, रहने को भी बर्फ का ही मकान, खाने को मछलियाँ या सील जैसे जल-जीव, पहनने को इन्ही जानवरो की खाल, इस पर प्रति पल प्रकृति के विचित्र भयप्रद नग्न ताण्डव का थिरकता हुआ चित्रपट—आँधी, बिजली, तूफान और आकाश मे 'उत्तरीय प्रकाश' या 'अरोरा' का अद्भुत् नृत्य ! फिर भी मानव वहाँ डटा हुआ है !

वासी थे। यहाँ से वे उत्तर की ओर बढ़े और क्रमशः उनकी दो मुख्य शाखाएँ अलग-अलग फूट गईं। एक उत्तर-पूर्व की ओर छितरे हुए टापुओं की राह से ग्रीनलैण्ड मे जा पहुँची और दूसरी सुदूर पश्चिम मे अलास्का मे जा बसी। उन्हीं मे से कुछ बेयरिङ्ग-जलडमरूमध्य को पारकर साइबेरिया के पूर्वतम कोने मे भी जा पहुँचे होंगे।

पहली ही निगाह मे देखने पर एस्किमो को हम सुदर तो किसी हालत मे भी नहीं कह सकते, परन्तु जो कोई भी उन्हे देखेगा वह उनकी हँसमुख मुद्रा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। शायद ही ससार मे और कोई जाति इतनी अधिक प्रसन्न रहती हो! कहते है, हम लोग साल भर मे कुल मिलाकर जितना नही हँसते, उससे ज्यादा एस्किमो लोग महीने भर मे ही हँस लेते हैं! उनसे हँसे बिना रहा ही नहीं जाता। इसीसे कुछ लोग सोचते हैं कि शायद यह उनकी एक जन्मजात जातीय विशेषता हो। अन्य लोग इसका कारण उनके विशेष प्रकार के आहार या रहने के वातावरण मे ही खोजते हैं। कुछ भी हो, उनका यह हास्य उनके आत्मसतोष और आतरिक सुख का सूचक अवश्य है। यही कारण है कि आठ-आठ दिन फाँका करने पर भी उनके चेहरे की मुसकान ग़ायब नहीं होती।

विशुद्ध नस्ल के एस्किमो का रग भूरा-पिलौहा, चेहरा गोल और चौडा, शरीर का डौल कुछ बेढंगा, आँखे काली, छोटी और कभी-कभी बेंडी भी, नाक चपटी, गाल गोल और चर्बीले, मुँह चौडा, जबडे भारी व फैले हुए, तथा दाँत सफेद और मज़बूत होते है। उनके चेहरे और हाव-भाव मे उनके स्वतत्र प्राकृतिक जीवन का पूरा चित्र प्रतिबिम्बित रहता है। यह सच है कि उनका जीवन अत्यत कठोर है, फिर भी उनके अग-प्रत्यग से एक कोमल भाव ही टपकता है—उनमे कर्कशता का लेश भी नही पाया जाता। जिन लोगों मे गोरी जातियों का रक्त मिश्रित हो गया है, उनके चेहरे की काट, रंग और शरीरगठन मे एक सुघड़ता आ गई है और हमारी दृष्टि मे वे सुंदर जँच सकते हैं, परतु उनसे वह दृढता का भाव नहीं टपकता जो विशुद्ध एस्किमो मे दिखाई देता है।

क़द में एस्किमो नाटे नही कहे जा सकते। उनका क़द मँझोला कहा जा सकता है। लगभग छः फीट तक की ऊँचाई के एस्किमो भी पाए गए हैं। इनके शरीर हट्टे-कट्टे और पुट्ठे मासल होते हैं, परन्तु कमर से नीचे का हिस्सा प्रायः कम हृष्ट-पुष्ट पाया जाता है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि इन्हे प्रायः दिन भर अपनी सँकरी-सी नौका मे, जिसे ये 'काइआक' कहते हैं, सिकुडकर बैठे रहना पडता है।

पहनावे मे इनकी सबसे प्रधान विशेषता यह है कि स्त्रियों और पुरुषों दोनो की पोशाक मे बहुत कम अंतर होता है—दोनों का पहनावा एक-सा ही मालूम देता है। पुरुष बदन मे आधुनिक ऊनी जर्सी से मिलता-जुलता एक बाँहदार वस्त्र पहनते हैं, जिसे वे लोग 'तिमियाक' कहते हैं। यह सील या अन्य जानवरों की खाल को उलटकर बनाया जाता है। गले के ऊपर इसमे एक टोपानुमा पुछल्ला भी होता है, जो सिर पर टोपी की तरह पहन लिया जाता है अथवा यों ही पीठ पर मुडा पड़ा रहता है। कॉलर और बाँहों के छोर पर हमारे ओवरकोट की तरह कुत्ते की बालदार खाल लगी रहती है। 'तिमियाक' के ऊपर एक
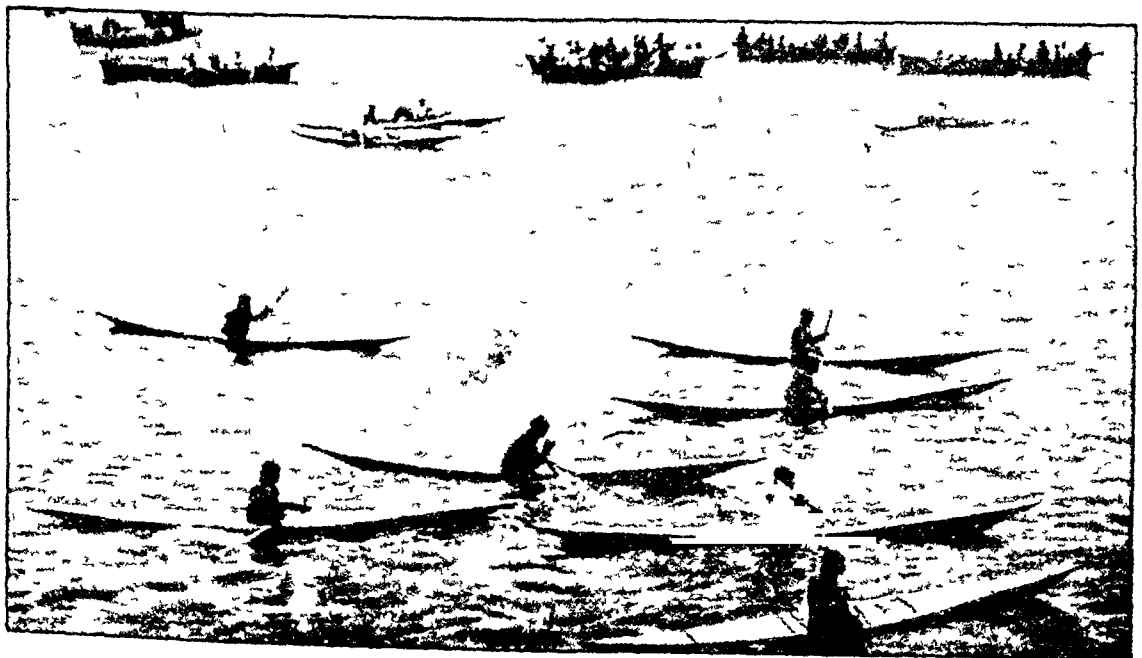
एस्किमो अपनी 'काइआक' नामक नौकाओं पर चढकर शिकार करने के लिए जा रहे हैं।

और वस्त्र 'अनोराक' पहना जाता है, जो अब प्राय' नहीं होता है। पैरों में सील की खाल, अथवा जब से योरप अमेरिका का ससर्ग हुआ है, ऊनी वस्त्र का एक पाजामा ये लोग पहनते हैं। इनके जूते भी बडे विचित्र होते हैं। ये सील की खाल से बनाए जाते हैं और 'कामिक' के नाम से पुकारे जाते हैं। इनमें दो पर्त्तें रहती हैं—एक जुर्राबनुमा भीतरी पर्त्त, जिसमें खाल का बालदार हिस्सा भीतर की ओर मुडा रहता है, दूसरी बाहरी बिना बालवाली मजबूत चमडे की पर्त्त, जिसमे से होकर पानी की एक बूँद भी भीतर नहीं घुस पाती। इन्हीं जूतों के सहारे इन लोगों के लिए बर्फ और पानी मे चलना फिरना सभव होता है।

एस्किमो बालकों का एक समूह

स्त्रियों की पोशाक पुरुषों से मिलती जुलती ही होती है। दक्षिणी ग्रीनलैण्ड मे वे बदन पर एक चमडे की अँगिया पहनती हैं, जिसमे ऊपर की ओर एक उठा हुआ कॉलर रहता है। इस कॉलर पर प्राय रग बिरगे कॉंच के मनकों की एक चौड़ी माला ये लोग धारण करती हैं। इसके ऊपर पहना जानेवाला वस्त्र बड़ा ही तडकभड़कदार और रगीन होता है। उसके नीचे के किनारे पर प्राय. सूती या रेशमी वस्त्र की एक रग-बिरगी पट्टी या चौड़ी झालर लगी रहती है। स्त्रियों के पाजामे पुरुषों से छोटे हुआ करते हैं—वे घुटनों तक ही पहुँचते हैं, किन्तु उनमें साम्ने की ओर बड़ी सजावट की हुई रहती है। इनके जूते पुरुषों के जूतों से कुछ ज्यादा लम्बे होते हैं और पहनने पर घुटनों से भी ऊपर तक चले आते हैं। ये भी प्रायः लाल, नीले, सफेद या आसमानी रग से रँगे रहते हैं।

माताएँ एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहनती हैं, जो 'अमाउत' कहलाता है। यह साधारण 'अनोराक' जैसा ही होता है—केवल पीठ की ओर उसमे एक बड़ा भारी जेब या थैला होता है, जिसमें वे अपने बच्चे को रखकर चाहे जो काम करती रहती हैं। बच्चा भी इसमें बडे आराम से रहता है।

एक एस्किमो लड़का खाते हुए कैसा खुश है!

ग्रीनलैण्ड के पूर्वी तटवासी एस्किमो लोगों में घर या डेरे के भीतर एकदम नगा रहने की भी विचित्र प्रथा पाई गई है। पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे, सभी घर के भीतर बिना किसी वस्त्र के ही रहा करते हैं। कभी-कभी वयस्क स्त्री-पुरुष एक लँगोटी-सी लगा लिया करते हैं। किंतु अब यह प्रथा बहुत-कुछ मिट चली है।

एस्किमो लोगों के बाल एकदम काले होते हैं। वे कडे और सीधे रहते हैं। ये लोग प्रायः अपने बाल कभी नहीं कटवाते। कभी-कभी बच्चों के बाल कतर दिये जाते हैं। किंतु

इस तरह बचपन मे जिनके बाल काट दिये जाते हैं उन्हे फिर उम्र भर अपने बाल कटवाते रहना पडता है। स्त्रियाँ अपने बालों को सिर के ऊपर एक तरह के जूडे की शक्ल मे बाँधे रहती हैं। वे सजावट के लिए तरह-तरह के रगीन फीते भी काम मे लाती हैं।

एस्किमो लोगों की सारी जीवनचर्य्या उस वातावरण द्वारा नियन्त्रित है जिसमे वे रहते चले आए हैं। ज़रा कल्पना कीजिए मनुष्यों की एक ऐसी टोली की जो सारी बाहरी दुनिया से अलग कटे हुए कड़कडाती सर्दीवाले एक बर्फीले उजाडखण्ड मे जा पडी हो, जहाँ न वृक्ष हो न घास, न लोहा आदि धातुएँ ही मिलती हों, न मनुष्य की सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक वह अन्य सामग्री ही सुलभ हो जो पृथ्वी के अन्य भागों मे प्राप्य है! केवल समुद्र की लहरो द्वारा बहाकर लायी गई कुछ लकड़ी, पत्थर, और जानवरो की हड्डियाँ या खाल—यही एकमात्र सामग्री उसे उपलब्ध है, जिस पर उसे निर्वाह कर अपना काम चलाना है, इसी से अपनी सभ्यता की इमारत खड़ी करना है। हड्डियाँ या खाल भी कही उसे पडी तो मिलने की नही। इसके लिए भी उन थोडे-से जल-जीवो का शिकार करना ज़रूरी है, जो उसके लिए आहार के एकमात्र साधन हैं! यदि हमारी 'सभ्य' कहलानेवाली दुनिया का कोई व्यक्ति दैवयोग से ऐसी परिस्थिति मे जा पडे तो वह कब तक निभा पायगा? किन्तु इसी तरह के वातावरण मे एस्किमो लोग पिछली अनेक शताब्दियों से रहते चले आए हैं और उन्होंने किसी-न-किसी प्रकार अपने आपको इस वातावरण में भी सुखी बना लिया है। हम उनका रगढंग देखकर संभवतः उन्हे सभ्यता की निम्न श्रेणी पर अवस्थित समझने लगेगे, परन्तु उनके जीवन की असुविधाओं और कठोरता पर यदि हम ध्यान दे और फिर इस बात को परखे कि ऐसे प्रतिकूल वातावरण पर भी विजय पाने मे इन लोगों ने किस हद तक सफलता पा ली है, कैसे इतनी परिमित सामग्री ही से वे अपना काम चला ले जाते हैं, तो हमे अपना ख़याल बदलने को मजबूर होना पडेगा।

आइए, सबसे पहले इन लोगों की बस्ती या रहने के मकानों पर ही ध्यान दे। जहाँ जाडे मे तापमान शून्य हिमांक से भी ५०—६० अंश या इससे भी अधिक नीचे गिर जाया करता हो और कभी-कभी हफ्तो बर्फीले तूफान का ऐसा दौरा रहा करता हो कि किसी भी जीवधारी के लिए बाहर मुँह निकालकर झाँकना भी असंभव हो जाता हो, ऐसे स्थान मे खुले में रह सकना किसके लिए संभव हो सकता है! किन्तु यहाँ मकान भी बनाया जाय तो किस सामान से? न अधिक लकडी ही प्राप्त है न लोहा ही। कहीं-कही तो मिट्टी भी नहीं मिलती। केवल पत्थर है या जानवरों की खाले। परतु चतुर एस्किमो इन्हीं से अपना आवास-स्थान बना लेते हैं। जाडा ये लोग पत्थर और मिट्टी से बनाए गए एक विचित्र प्रकार के कदरानुमा घरों में बिताते हैं, जो बाहर से भौंडे ढूह-जैसे दिखाई देते हैं। ऐसे घरों मे भीतर केवल एक ही कमरा रहता है, जिसमे कई स्त्री-पुरुष एक साथ रहते हैं। कैप्टन होल्म ने एक ऐसे मकान का उल्लेख किया है, जिसका भीतरी कमरा २७×१४॥ फीट आकार का था और उसमे ३८ व्यक्तियों के आठ कुटुब रहते थे! इतनी थोडी-सी जगह मे ही ये लोग कैसे गुज़र कर लेते हैं, यह एक अचरज की बात है।

गर्मियों मे ये लोग तम्बुओ मे रहा करते हैं, जो खाल के बने होते हैं। किन्तु एस्किमो लोगों के सबसे विचित्र आवासस्थान तो वे बर्फ के मकान हैं, जिन्हे जाडे के दिनों मे एटलाटिक के तट की ओर रहनेवाले ग्रीनलैण्ड के कुछ एस्किमो अपने रहने के लिए बनाया करते हैं। बर्फ के मकान! आपको एकाएक यह अनहोनी बात शायद समझ मे न आएगी, न इस पर एकबारगी विश्वास ही होगा। परन्तु एस्किमो लोग सचमुच ही जाडे के दिनों मे बर्फ की शिलाएँ काट काटकर, उन्हे ईंटों या पत्थरों की तरह एक-दूसरे पर व्यवस्थित रूप से रचकर, चूने के भट्ठे की शक्ल का ख़ालिस बर्फ का एक गुंबजनुमा मकान बना लेते हैं और उसमे उनका पूरा कुटुम्ब बडे आराम के साथ जाडे की लंबी राते काट लेता है! बर्फ के ये ढोके एक-दूसरे से मिलकर अपने आप ही एकाकार हो जाते हैं और यदि कहीं दरार रह गई तो उसमें ये लोग मुलायम बर्फ को सीमेंट की तरह भर देते हैं। इस टीलेनुमा घर पर जाडे मे जब बर्फ गिरती है तो उसके भीतर रहनेवालों पर उसका रंचमात्र भी असर नहीं पड़ता; उल्टे उससे वह मकान और भी मज़बूत हो जाता है। मकान के भीतर एक ही कमरा रहता है और उसमें बर्फ की ही शिलाओं की बैंचनुमा बैठकें बनी रहती हैं। ये दिन मे बैठने-उठने के काम आती हैं और इन्हीं पर रात को ये लोग सो रहते हैं। इन पर और फ़र्श पर खालों की कई पर्त्तें बिछी रहती हैं। इस कमरे से एक लम्बा सुरंगनुमा ढका हुआ निकास का रास्ता होता है। इसी से जो कुछ हवा आ सकती है इस कदरा में आया करती है। भीतर का अँधेरा दूर करने के लिए झोपडे के भीतर इनके विचित्र प्रकार के कई दीपक रात-दिन जला

करते हैं। इन दीपकों में चर्बी जलती है। प्रायः सील की चर्बी या 'ब्लबर' का एक बड़ा-सा टुकड़ा दीपक की शिखा के ऊपर लटका दिया जाता है—उसी में से चर्बी या तेल पिघल-पिघलकर शिखा पर टपकता रहता है और उसे जागरूक रखता है। दीपक का पात्र एक नरम पत्थर का बना होता है और उसमें की बत्ती एक प्रकार की काई को बँटकर बनाई जाती है।

इस तरह के बर्फ के मकान केवल ग्रीनलैण्ड के पूर्वी तट के कुछ ऊपरी भागों में ही प्रचलित हैं—पश्चिम में अलास्का या दक्षिण मे लेब्राडर के एस्किमो लोगों में ये नहीं पाये जाते। एस्किमो बस्ती में उनके इसी तरह के बर्फ या मिट्टी-पत्थर के कई डूहनुमा मकान दूर-दूर बिखरे रहते हैं। जाडे में बर्फ गिरने पर वे धरती के साथ लगभग एकाकार हो जाते हैं।

एस्किमो लोगों के निर्वाह का मुख्य साधन सील, ह्वेल, वालरस और मछलियाँ आदि जलजीव हैं, जो वहाँ उपलब्ध हैं और जिनका ये लोग शिकार किया करते हैं। कहीं-कहीं केरीबो नामक बारहसिंघे का भी शिकार किया जाता है। परन्तु बहुत-से एस्किमो ने कभी बारहसिंघे को देखा तक नहीं। मछलियाँ और मास को प्रायः ये लोग कच्चा ही खा लेते हैं—कभी कभी उबालकर पका भी लेते हैं। इन्हें ये सुखाकर जमा भी रख छोड़ते हैं। ह्वेल और सील के 'ब्लबर' भी प्राय. कच्चे ही खा लिये जाते हैं। वनस्पतियों में कई प्रकार के समुद्री शैवालों को ये खाने के काम में लाते हैं। अकाल के जमाने मे तो वे जो कुछ भी मिलता है खा लेते हैं, यहाँ तक कि कुत्तों को भी नहीं छोड़ते। और तो और, मौक़ा पड़ने पर अपने तम्बुओं की खालों को ही टुकड़े-टुकड़े काटकर उनका शोरबा बनाकर हड़प जाते हैं। एक बात बड़े मार्के की है, और वह यह है कि एस्किमो लोगों के भोजन का कोई निश्चित समय नहीं रहता—वे जब भी भूख लगती है खाने लगते हैं बशर्ते कि कुछ खाने को पास में हो। कभी कभी शिकारी लोग दिन-दिन भर फाँका करके ही रह जाते हैं। इन लोगों मे अनशन की अद्भुत सामर्थ्य है। किन्तु जब कभी ये खाने बैठते हैं तो फिर एक ही बैठक में इतना खा लेते हैं कि देखकर अचरज होता है।

समुद्री जलजीवों पर ही निर्भर होने के कारण एस्किमो प्राय' समुद्र तट पर ही रहते हैं। समुद्र का इन लोगों की ज़िंदगी मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है—समुद्र ही इन्हें जीवन-निर्वाह की सभी सामग्री प्रदान करता है, उसी पर गर्मी में अपनी अजीब लंबी नौकाओं द्वारा और जाडे में, जब वह बर्फ से ढक जाता है, कुत्तों से खींची जानेवाली स्लेज-गाड़ियों पर ये यहाँ से वहाँ की यात्रा करते हैं। एस्किमो लोगों की य नौकाएँ और कुत्तोंवाली स्लेज-गाड़ियाँ उनकी सबसे क़ीमती संपत्ति हैं। इनकी नौकाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक 'काइआक' या शिकार करने के लिए मर्दों द्वारा काम में लायी जानीवाली नौका, दूसरी स्त्रियों की नौका जो उनके लिए एक तैरते हुए घर का काम देती है। 'स्त्रियों की नाव' नाम इन्हें योरपियनों द्वारा मिला है, क्योंकि इन्हें स्त्रियाँ ही खेती हैं। 'काइआक' की रचना बहुत सँकड़ी लम्बोतरी होती है। उसका भीतरी ढाँचा लकड़ी का बना होता है। यह लकड़ी इन्हें समुद्र की लहरों द्वारा दूर-दूर से बहाकर लाये जानेवाले लट्ठों व डालियों से मिलती हैं—यों तो बहुतेरे एस्किमो ऐसे भी हैं जिन्होंने कभी वृक्षों का दर्शन तक न किया होगा। नाव का यह ढाँचा ऊपर से सील की खालों से मढा रहता है, जिससे उसमें पानी न घुस पाए। जैसा कि कहा जा चुका है, ये नौकाएँ बहुत कम चौड़ी होती हैं। यद्यपि लबाई में वे ६ गज तक होती है, पर उनकी अधिक से-अधिक चौडाई १½ फीट से ज्यादा नहीं होती। इसी के दायरे में शिकारी के बैठने के लिए एक गोल गड्ढा-सा बना रहता है और उसके आस-पास उसके शिकार के शस्त्र—हार्पून या फेकनेवाला बर्छा—आदि इस ढग से लगे रहते है कि शिकारी प्रत्येक को अपने स्थान से हटे बिना ही उठाकर काम मे ला सके। एस्किमो लोगों के ये हथियार-औजार सील आदि मारे गए जानवरों की हड्डियों से ही बनाए जाते हैं। उनका डडा लकड़ी का होता है। अपनी परिमित सामग्री ही से इन लोगों ने अपना काम चलाने के लिए शिकार करने के ये अस्त्र शस्त्र कैसे तैयार कर लिये हैं यह उनके कौशल और प्रतिभा का सूचक है।

एस्किमो की वीरता और साहस का यथार्थ परिचय हमें उस समय मिलता है जब वह काइआक पर चढकर महा-सागर की उत्तग तरगों से लोहा लेता हुआ ह्वेल, सील या वालरस का शिकार करता है। यह कोई आसान काम नहीं होता—सरासर मौत से खेल खेलने जैसा है। पहाड़ की दीवार की तरह ऊँची उठी हुई लहरे एक के बाद एक मानों शिकारी और उसकी मछली जैसी नाव को निगलने के लिए दौड़ती हुई आती हैं और काइआक सहित उसे कई गज़ ऊँचे उछाल देती है। अगले अक में हम आपको इनके साथ इनकी 'शिकार यात्रा' पर ले चलेंगे, साथ ही इनके सामाजिक जीवन का भी मनोरंजक हाल सुनावेंगे।
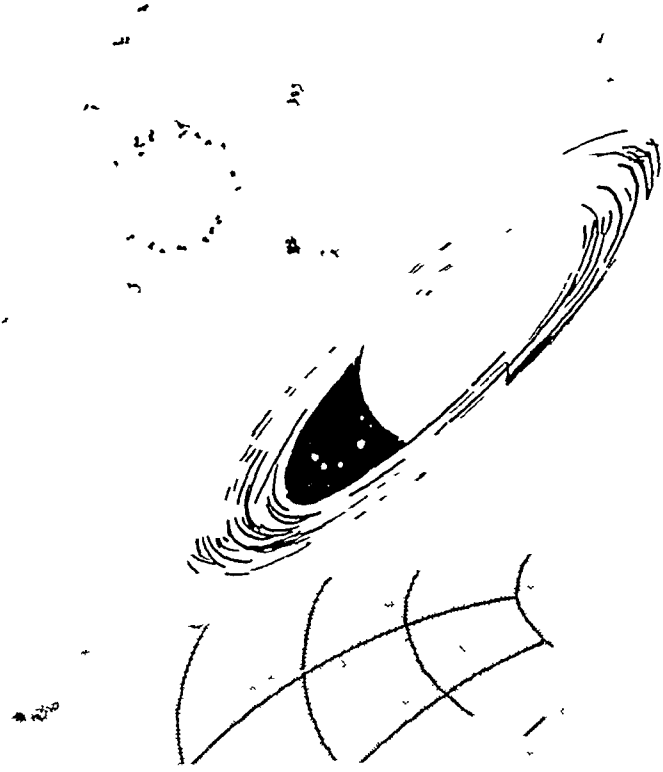
की कहानी
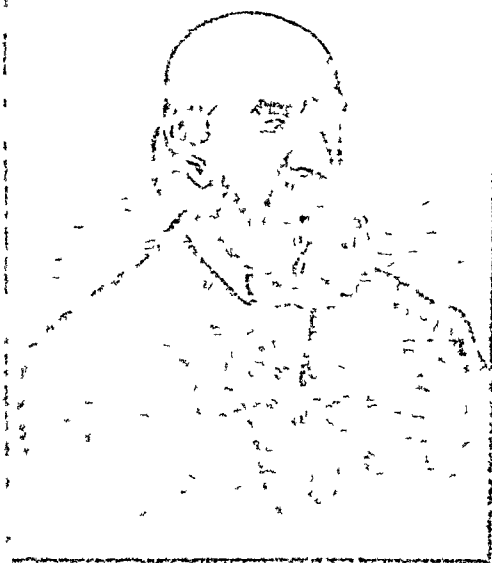
(ऊपर) बाईं ओर—विलियम हरशेल, जिसने यूरेनस की खोज की, दाहिनी ओर—लेवेरियर, जिसकी गणना से नेपच्यून का आविष्कार हुआ। (नीचे) बाईं ओर—ऐडम्स, जिसने लेवेरियर से पहले ही गणना करके नेपच्यून की स्थिति बतला दी थी, दाहिनी ओर—गाले, जिसने दूरदर्शक द्वारा पहलेपहल नेपच्यून का आकाश में पता लगाया था।

शनि के उस पार—यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो

ये तीनों ग्रह सौर जगत् के सीमान्त के निवासी हैं और यूरेनस को छोड़कर शेष बिना दूरदर्शक की सहायता के नहीं देखे जा सकते। इनकी खोज इस युग की सबसे अचरजभरी करतूतों में मानी जा सकती है।

शनि के उस पार तीन ग्रह हैं—यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो। इनका आविष्कार अपेक्षाकृत हाल में ही हुआ है। बुध, शुक्र, आदि प्राचीन ग्रहों का आविष्कार इतने सुदूर भूतकाल में हुआ था कि कोई नहीं जानता कि पहले-पहल वे कब देखे गए थे। यूरेनस ही प्रथम ग्रह है जिसके आविष्कार की कथा हमें ज्ञात है। विलियम हरशेल ने १३ मार्च, १७८१, की रात में इसे पहले-पहल देखा। नवीन ग्रह के देखे जाने की किसी को संभावना ही नहीं थी। वस्तुतः स्वयं हरशेल को ही विश्वास न हुआ कि उसने कोई ग्रह देखा है। उसने समझा कि जिस पिंड को उसने देखा था, और जो किसी प्रकार से तारा हो नहीं सकता था, कोई नवीन पुच्छल तारा होगा। इसमें पूँछ नहीं थी तो क्या; संभवतः पूँछ इतनी फीकी थी कि दिखलाई नहीं पड़ती थी। इसके देखे जाने का संयोग इस प्रकार हुआ कि हरशेल ने अपने हाथ से सात इंच व्यास का दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया था और इसी से वह आकाश में देखने योग्य वस्तुओं की खोज में था। जब उसे नवीन ग्रह दिखलाई पड़ा तब उसने तुरंत ताड़ लिया कि यह कोई तारा नहीं है। बात यह है कि तारे दूरदर्शक में भी बिंदु सरीखे ही दिखलाई पड़ते हैं और यदि दूरदर्शक की प्रवर्द्धक-शक्ति बढ़ा दी जाय तो भी वे बिंदु-सरीखे ही रह जाते हैं। कारण यह है कि तारे इतनी दूर हैं कि उनका प्रत्यक्ष व्यास शून्य ही मानना पड़ता है। शून्य को हम चाहे १०० से गुणा करें, चाहे १००० से, शून्य शून्य ही रह जाता है। इसीलिए बड़े-से-बड़े दूरदर्शक में भी तारे बिंदु-से ही दिखलाई पड़ते हैं। परंतु हरशेल ने देखा कि उस पिंड में, जिसकी ओर उसका ध्यान आकर्षित हुआ था, छोटा-सा बिंब था। दूरदर्शक में अधिक शक्ति का चक्षुताल लगाने पर इसका बिंब बड़ा हो गया। इससे हरशेल को विश्वास हो गया कि अवश्य ही वह पिंड तारा नहीं था। इसका समर्थन भी कुछ ही दिनों में हो गया, क्योंकि नवीन पिंड तारों के हिसाब से स्थिर नहीं था, वह चल रहा था। इसलिए हरशेल ने अनुमान किया कि निश्चय ही यह कोई पुच्छल तारा था। परंतु जैसे-जैसे समय बीता और लोगों ने इसकी कक्षा की गणना की तैसे-तैसे संदेह बढ़ने लगा। लोगों ने देखा कि यह पुच्छल तारों की तरह लंबी कक्षा में नहीं चल रहा था। इसकी कक्षा अधिक गोल थी। अंत में लगभग एक वर्ष बाद इसकी कक्षा की पक्की गणना की जा सकी और तब, कक्षा के प्रायः गोल होने के कारण, यह बात निश्चित हो गई कि नवीन पिंड वस्तुतः ग्रह था, पुच्छल तारा नहीं।

यूरेनस ग्रह

[फ़ोटो—'लिक वेधशाला' से प्राप्त]

नवीन ग्रह के आविष्कार से स्वभावतः उस समय बड़ी सनसनी फैली। हरशेल को बड़ी ख्याति मिली। हरशेल इंगलैंड-निवासी था। उसे सर की पदवी मिली, और २०० पाउंड प्रति वर्ष के वेतन पर वह राज-ज्योतिषी बना दिया गया। हरशेल वस्तुतः जर्मन था और पहले

जर्मनी की फौज में सिपाही था, परंतु चुपके से फौज छोड़कर वह इंगलैंड भाग आया था और वहीं बस गया था। बहुत दुख झेलने के बाद उसे बाथ नामक शहर के गिरजाघर में बाजा बजाने का काम मिला था और उसी पर वह निर्वाह कर रहा था। उसके साथ उसकी बहन कैरोलिन हरशेल भी थी। प्रारंभ से ही विलियम हरशेल को पढ़ने-लिखने का शौक़ था। जीवन-निर्वाह का ठिकाना लग जाने पर उसे ज्योतिष अध्ययन का शौक़ हुआ। एक दूरदर्शक प्राप्त करने की उसकी प्रबल इच्छा हुई, परंतु उसके पास इतना धन नहीं था कि वह बाजार से अच्छा दूरदर्शक ख़रीद सके। इसलिए उसने स्वयं अपने हाथ से दूरदर्शक बनाने का निश्चय किया। कुछ समय में वह बाजार के दूरदर्शकों से बढ़िया और बड़ा दूरदर्शक बनाने में सफल हुआ। अंत में वह दो फुट व्यास का दूरदर्शक बना सका। उसके पहले किसी ने कल्पना भी न की थी कि इतने बड़े दूरदर्शक बन भी सकते हैं। हरशेल बड़ा मेहनती थी। एक बार वह बराबर १६ घंटे तक दूरदर्शक के दर्पण पर पॉलिश करता रहा। उसकी बहन उसके मुख में कौर रख-रखकर उसे बीच-बीच में खिलाती रही। अपने काम में उसे इतना उत्साह था कि बाहर से आने पर अच्छे कपड़े उतारने का ध्यान ही न रहता, इसलिए, जैसा उसकी बहन ने लिखा है, उसकी कई एक आस्तीनें फट गईं या कालिख लगने से नष्ट हो गईं।

अपने राजा के नाम पर हरशेल नवीन ग्रह को 'जॉर्जीय नक्षत्र' नाम देना चाहता था, परंतु योरप के अन्य ज्योतिषी हरशेल के नाम पर इस ग्रह को हरशेल नाम देना चाहते थे। इस गड़बड़ी में प्रसिद्ध जर्मन ज्योतिषी बोडे ने नवीन ग्रह का नाम एक प्राचीन देवता के नाम पर 'यूरेनस' रख दिया। यही नाम अंत में चल निकला। हिंदी में इस ग्रह को 'वारुणी' कहते हैं।

जब ग्रह की कक्षा का ठीक पता चल गया तो पीछे की ओर गणना करने पर पता चला कि इस ग्रह को पहले लोगों ने कई बार देखा था, परंतु वे बराबर इसको साधारण तारा ही समझते रहे। लेमॉनियर नामक ज्योतिषी ने अकेले इसे बारह बार वेध किया था। यदि वह अपने वेधों की तुलना करता तो उसे अवश्य आसानी से पता चल जाता कि यह स्थिर नहीं है, अन्य तारों के हिसाब से यह चला करता है। इसलिए वह तुरंत जान जाता कि यह ग्रह है। परंतु सबके भाग्य में ख्याति नहीं लिखी रहती। इन पुरानी स्थितियों से विशेष लाभ यह हुआ कि यूरेनस की कक्षा का बहुत ही सच्चा ज्ञान ज्योतिषियों को हो गया और इस कक्षा की विचित्रता के कारण कुछ समय बाद एक अन्य नवीन ग्रह नेपच्यून का पता चला।

नाप आदि

अँधेरी रात में और जब वायुमंडल स्वच्छ रहता है, तीव्र दृष्टिवाले व्यक्ति यूरेनस को कोरी आँख से ही स्पष्ट देख सकते हैं। यह अत्यंत मंद प्रकाश के तारे की तरह दिखलाई पड़ता है। पृथ्वी से इसकी दूरी के घटने बढ़ने के कारण इसका प्रकाश इतना कम घटता बढ़ता है कि यह प्रायः सदा ही एक ही चमक का रहता है। सूर्य से यूरेनस पृथ्वी की अपेक्षा १६ गुनी अधिक दूरी पर है और एक चक्कर लगाने में इसे ८४ वर्ष का समय लगता है। इससे यह न समझना चाहिए कि यूरेनस बहुत धीरे धीरे चलता है। यह सवा चार मील प्रति सेकंड के वेग से बराबर दौड़ता रहता है।

बड़े दूरबीन से देखने पर यूरेनस का बिंब समुद्र के समान हरे रंग का दिखलाई पड़ता है। बिंब इतना छोटा दिखलाई पड़ता है कि इसके व्यास का ठीक-ठीक नापना कठिन है। विभिन्न ज्योतिषियों के नाप एक ही नहीं आते, परंतु उनके नापों में १० प्रतिशत से अधिक का अंतर नहीं पड़ता है। इन नापों के आधार पर पता चलता है कि यूरेनस का मध्यम व्यास पृथ्वी के व्यास का प्रायः ठीक चौगुना है। इसलिए यूरेनस का धरातल पृथ्वी की अपेक्षा १६ गुना अधिक और आयतन ६४ गुना अधिक होगा। यह देखकर कि यूरेनस शनि को अपने गणितसिद्ध मार्ग से कितना विचलित करता है, यूरेनस की तौल का हमने बहुत अच्छा ज्ञान कर लिया है। यूरेनस पृथ्वी की अपेक्षा लगभग १५ गुना ही भारी है। इसलिए यह अपेक्षाकृत हलके द्रव्यों का बना है। यह शनि की तरह पानी में तैर तो न पाएगा, परंतु पानी से कुल सवा गुना ही भारी है।

यूरेनस गोल नहीं है, अन्य ग्रहों की तरह यह भी कुछ चिपटा है। कई ज्योतिषियों ने इसे नापा है और सबके वेधों का परिणाम यही निकलता है कि छोटा व्यास बड़े व्यास की अपेक्षा लगभग ८ प्रतिशत छोटा है।

कई ज्योतिषियों ने यूरेनस के बिंब पर उसी प्रकार की धारियाँ देखी हैं जैसी बृहस्पति पर दिखलाई पड़ती हैं, परंतु ये धारियाँ इतनी फीकी हैं कि उनके बारे में कुछ विशेष बातें नहीं ज्ञात हैं। उनमें कोई ऐसे स्पष्ट चिह्न भी नहीं हैं जिससे पता चल सके कि यूरेनस अपनी धुरी पर घूमता है या नहीं, और यदि घूमता है तो कितने समय में। परंतु इस

बात का उत्तर अन्य बातों से मिला है। यूरेनस का नारंगी की तरह चिपटा होना और काफी चिपटा होना घोषित करता है कि वह काफी तेजी से नाचता होगा। परंतु अक्ष-भ्रमण-काल का ज्ञान १९१२ के पहले न हो सका। उस वर्ष लॉवेल और उसके सहायकों ने बिंब के दाहिने और बायें भागों से आए प्रकाश के रश्मिचित्रों की तुलना करके बतलाया कि यूरेनस के एक बार घूमने में कुल पौने ग्यारह घंटे लगते हैं और वेधों में दोष रह जाने के कारण इस काल में अधिक-से-अधिक आधे घंटे की ही गलती हो सकती है। यूरेनस उसी दिशा में घूमता है जिस दिशा में इसके उपग्रह चलते हैं। पाँच वर्ष बाद एक बिलकुल दूसरी रीति से यूरेनस का अक्षभ्रमण-काल नापा गया। सूक्ष्म जाँच से पता चला कि यूरेनस का प्रकाश पूर्णतया स्थिर नहीं है; वह कुछ घटा-बढ़ा करता है। प्रकाश के घटने-बढ़ने के एक चक्र में पौने ग्यारह घंटे (वस्तुतः १० घंटे ४९ मिनट) लगते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यूरेनस सर्वत्र एक ही चमक का नहीं है और यह अपनी धुरी पर लगभग पौने ग्यारह घंटे में एक बार घूमता है।

यूरेनस की परिच्छेदन-शक्ति—वास्तविक चमक—क्या है? यह काले पत्थरों की तरह प्रायः चमकरहित है या सफेद बर्फ की तरह खूब चमकीला है? इन प्रश्नों का भी उत्तर गणना और वेध से मिल गया है। पता चला है कि यूरेनस पर भी बृहस्पति और शनि की तरह ठंढी गैसों का गहरा वायुमंडल होगा। सूर्य से बहुत दूर होने के कारण यूरेनस पर बृहस्पति की अपेक्षा धूप की तेज़ी कुल चौदहवाँ भाग ही होगी। इसलिए यूरेनस बृहस्पति और शनि से कहीं अधिक ठंढा होगा। परंतु मोटे हिसाब से कहा जा सकता है कि यूरेनस की भी बनावट बृहस्पति और शनि जैसी-ही होगी। संभवतः केंद्र में पत्थर होगा, उस पर बर्फ की गहरी तह होगी। फिर जमी हुई गैस होगी। ऊपर गैस के बादल होंगे। यूरेनस के हरे रंग और इसके प्रकाश के रश्मि-चित्र से अनुमान किया जाता है कि इन बादलों के ऊपर दूर तक पारदर्शक गैसें होंगी जो हरी दिखलाई पड़ती हैं। गैसों का यह वायुमंडल गहरा और घना होगा।

यूरेनस (वारुणी)

पृथ्वी व्यास ७९२६ मील

यूरेनस और नेपच्यून के आकार की पृथ्वी से तुलना

उपग्रह

यूरेनस के चार उपग्रह हैं। इनमें से दो बड़े उपग्रहों का पता तो ग्रह के आविष्कार के कुछ ही वर्षों के बाद स्वयं हरशेल को लगा। शेष दो का पता ७० वर्ष बाद लैसल को लगा। लैसल शराब बनाने का काम करता था, परंतु उसे ज्योतिष का शौक़ था। धनाभाव के कारण वह भी स्वयं अपने हाथ से दूरदर्शक बनाया करता था। अंत में एक अन्य व्यक्ति की सहायता से उसने २४ इंच व्यास का बहुत बढ़िया दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया। इसी से उसने यूरेनस के दो नये उपग्रहों का पता लगाया।

ये उपग्रह बहुत छोटे हैं और वे केवल बहुत बड़े दूरदर्शक से ही देखे जा सकते हैं। परंतु उनकी वास्तविक नाप इतनी छोटी नहीं है। अनुमान किया जाता है कि सबसे बड़े उपग्रह का व्यास लगभग १००० मील होगा, सबसे छोटे का लगभग ४०० मील। सभी उपग्रह यूरेनस की मध्यरेखा के धरातल में चलते हैं।

इन उपग्रहों के संबंध में सबसे विचित्र बात यह है कि इनकी कक्षाओं का धरातल यूरेनस के मार्ग के धरातल से प्रायः समकोण बनाता है। पृथ्वी स्वयं प्रायः सदा यूरेनस के मार्ग के धरातल में रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि कभी कभी पृथ्वी यूरेनस के अक्ष की सीध में आ जाती है और तब हमें इन उपग्रहों की कक्षाएँ प्रायः ठीक वृत्ताकार (गोल) दिखलाई पड़ती हैं। उस समय

यूरेनस का ध्रुव उसके बिंब के प्रायः ठीक बीच में दिखलाई पड़ता है और यूरेनस हमें चिपटा नहीं, सच्चा गोल दिखलाई पड़ता है। स्वभावतः एक समय ऐसा भी आता है जब पृथ्वी यूरेनस के अक्ष से अभिलंब दिशा (समकोण बनाती हुई दिशा) में रहती है। ऐसे अवसर पर यूरेनस का बिंब हम चिपटा दिखलाई पड़ता है। शुद्ध माप जानने के लिए यूरेनस का चिपटापन ऐसे ही समय नापा जाता है। किसी भी अन्य ग्रह में ऐसा नहीं होता कि कभी हम उसे चिपटा देखें और कभी गोल।

नेपच्यून का आविष्कार

नेपच्यून का आविष्कार गणित-ज्योतिष का एक अद्भुत चमत्कार है। यूरेनस अपने गणितसिद्ध मार्ग पर चल रहा था। इसी से ज्योतिषियों को संदेह हुआ कि संभवतः उसके उस पार कोई अज्ञात ग्रह है जिसकी खींचातानी के कारण यूरेनस अपने मार्ग से विचलित हो जाता है। इस सिद्धांत पर गणना करके एक ज्योतिषी ने लिखा कि यदि आकाश के अमुक बिंदु पर दूरदर्शक साधा जाय तो यह ग्रह दिखलाई पड़ेगा और वस्तुतः वहीं पर नवीन ग्रह मिला।

१८२० में फ्रेंच ज्योतिषी बूवार्ड (Bouvard) ने बृहस्पति, शनि और यूरेनस की नई सारिणियाँ बनाईं। उसने देखा कि बृहस्पति और शनि तो न्यूटन के आकर्षण-सिद्धांतानुसार ही चलते थे, परन्तु यूरेनस के बारे में कठिनाई थी। यूरेनस के आविष्कार के पहले और पीछेवाले सभी वेधों को ध्यान में रखकर जब कक्षा की गणना की गई तो पता चला कि कोई भी ऐसी कक्षा नहीं है जो सब वेधों के अनुकूल हो। यदि पुराने वेधों के अनुसार कक्षा निर्धारित की जाती थी तो यूरेनस की नवीन वेधानुसार प्राप्त स्थितियाँ गणित सिद्ध स्थितियों से भिन्न पड़ती थीं। इसी प्रकार यदि केवल नवीन स्थितियों के आधार पर कक्षा की गणना की जाती थी तो पुरानी स्थितियों में अंतर पड़ता था। बूवार्ड ने समझा कि संभवतः पुराने वेधों में कुछ त्रुटियाँ रही होंगी। इसलिए उसने पुराने वेधों को छोड़ दिया और केवल नवीन वेधों के आधार पर यूरेनस की कक्षा की गणना की।

परन्तु थोड़े ही वर्षों में देखा गया कि यूरेनस बूवार्ड की बतलाई कक्षा से विचलित हो रहा है। अंतर धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। पचीस वर्ष में अंतर इतना पड़ गया कि किसी को संदेह नहीं रहा कि बूवार्ड की कक्षा शुद्ध नहीं है। यों तो अंतर कुछ विशेष अधिक नहीं था। यदि आकाश में एक दूसरा यूरेनस भी होता और वह बराबर बूवार्ड की गणितसिद्ध कक्षा में चलता तो कोरी आँख से इन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं देखा जा सकता। हाँ, दूरदर्शक की सहायता से ये अवश्य आसानी से अलग-अलग देखे जा सकते थे। परंतु बड़ी बात तो यह थी कि जो अंतर पड़ रहा था वह किसी ज्ञात कारण से नहीं पड़ रहा था और तो भी यह अंतर इतना था कि निश्चय रूप से कहा जा सकता था कि यह वेधों की त्रुटियों के कारण नहीं उत्पन्न हुआ था। इस विषय पर ज्योतिषियों में वाद-विवाद होता रहा, परंतु १८४५ तक निश्चय रूप से कुछ भी निश्चित नहीं हो पाया था।

उस वर्ष ऐरागो के कहने पर लेवेरियर (Leverrier) ने इस प्रश्न पर जड़ से छानबीन करना आरंभ किया। वह अच्छा ज्योतिषी और सिद्धहस्त गणितज्ञ था। पहले उसने बूवार्ड के काम को अधिक सूक्ष्म रीतियों से दोहराया। परंतु उसे बूवार्ड की सारिणी में केवल छोटी छोटी ही त्रुटियाँ मिलीं। कोई भी ऐसी त्रुटि न मिली जो यूरेनस की विचित्र गति का रहस्य बतला सके।

बूवार्ड ने यूरेनस पर पड़नेवाली शनि और बृहस्पति की आकर्षण-शक्तियों को भी गणना में सम्मिलित कर लिया था। यही उचित था। परंतु मरता क्या न करता! लेवेरियर ने बृहस्पति और शनि की आकर्षण-शक्तियों को छोड़कर भी यूरेनस की कक्षा निकाल डाली—इस आशा से कि कदाचित् इस प्रकार प्राप्त कक्षा अधिक अनुकूल हो। परंतु यह कक्षा भी ठीक नहीं उतरी।

अब केवल यही देखना बाकी था कि यूरेनस के उस पार कोई ग्रह तो नहीं है जो अपनी आकर्षण-शक्ति के कारण यूरेनस को खींचा करता है और यदि ऐसा ग्रह है तो वह कहाँ और कितना बड़ा होगा। यह जानी हुई बात है कि कोई ग्रह सूर्य से जितना ही अधिक दूरी पर होगा वह एक चक्कर उतना ही अधिक समय में लगाएगा। परिणाम यह होगा कि जब तक यूरेनस आधा चक्कर लगाएगा तब तक उस पारवाला ग्रह कदाचित् चौथाई ही चक्कर लगा पाएगा। इस प्रकार यदि यूरेनस के आधा चक्कर लगाने के आरंभ में यह ग्रह यूरेनस को अपनी ओर खींचकर उसके वेग को बढ़ा रहा था तो निश्चय ही यूरेनस के आधा चक्कर लगा लेने पर यह ग्रह यूरेनस को अपनी ओर खींचकर उसके वेग को कम कर देगा। इसलिए अवश्य ही इस ग्रह की अवहेलना करके निकाली गई कक्षा वास्तविक परिस्थिति को सच्चाई से प्रदर्शित न कर सकेगी।

यह भी निश्चय था कि अज्ञात ग्रह यूरेनस के उस पार नहीं था। यदि वह इधर होता तो अवश्य ही वह शनि को भी अपने मार्ग से काफी विचलित कर देता।

गणना करने के पहले यह जानना आवश्यक था कि अज्ञात ग्रह सूर्य से कितनी दूर था। भिन्न-भिन्न दूरी मानकर भिन्न-भिन्न उत्तर निकल सकते थे। लेवेरियर ने अनुमान किया कि अवश्य ही नेपच्यून की दूरी बोडे के नियम के अनुसार होगी, क्योंकि सब ज्ञात ग्रहों की दूरियाँ इसी नियम के अनुसार थी। सितम्बर १८४६ में गणना समाप्त हुई। लेवेरियर के पास ग्रह के देखने के लिए कोई साधन नहीं था। इसलिए उसने अपने मित्र गाले को, जो बर्लिन वेधशाला का नवयुवक अध्यक्ष था, लिखा कि कुंभ राशि मे, वसत सपात से ३२६ डिगरी पर और सूर्य के मार्ग के पास, अज्ञात ग्रह होगा; इस बिंदु से नवीन ग्रह एक डिगरी के भीतर ही होगा। चमक मे यह नवीं श्रेणी के तारे के समान होगा, परतु इसका बिंब स्पष्ट दिखलाई पडेगा--यह तारों के समान बिंदु-सरीखा न होगा।

२३ सितम्बर १८४६ की रात्रि में यह ग्रह बरलिन में देखा गया। इसकी स्थिति लेवेरियर के बतलाये स्थान के पास ही थी। खोज में आधा घंटा भी नहीं लगा। ग्रहों के समान इसे बिंब भी था और नक्षत्रों के नक़्शे मे यह नहीं था। इससे निश्चय था कि यह नवीन ग्रह था! तो भी दक्षता से इसकी स्थिति नाप ली गई। दूसरी रात फिर नापने पर पता चला कि यह बतलाई हुई दिशा में चल भी रहा था। अब नाम मात्र भी सदेह नहीं रह गया। सर्वत्र समाचार फैल गया कि नवीन ग्रह देखा गया है।

नवीन ग्रह के आविष्कार का यश केवल लेवेरियर को ही नहीं मिला। इगलैंड में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक नये ग्रेजुएट जे० सी० ऐडम्स ने भी इसी प्रश्न की जाँच की थी। १८४१ मे ही उसने सकल्प किया था कि डिगरी मिल जाने के बाद वह गणित द्वारा पता लगाएगा कि यदि यूरेनस के चलने की विचित्रता किसी अज्ञात ग्रह के कारण है तो वह अज्ञात ग्रह कहाँ होगा। इगलैंड के राज-ज्योतिषी की एक रिपोर्ट मे इस अज्ञात ग्रह के रहने की बात उसने पढी थी। १८४३ की गरमी की छुट्टी में ही उसने मोटे हिसाब से पता चला लिया कि अज्ञात ग्रह कहाँ होगा। फिर १८४५ तक उसने सूक्ष्म गणना भी कर डाली। केम्ब्रिज के प्रोफेसर चैलिस की सलाह से वह राज-ज्योतिषी एअरी से भेंट करने ग्रिनिच (लदन) गया। सयोगवश एअरी वहाँ उस समय नहीं था। कुछ समय पीछे ऐडम्स फिर एअरी से मिलने गया, परन्तु इस बार भी वह एअरी से मुलाक़ात नहीं कर सका, क्योंकि एअरी भोजन कर रहा था। प्रतीक्षा करने के बदले ऐडम्स एक पुरज़ा लिखकर चला आया कि अमुक स्थान में नया ग्रह दिखलाई पड़ेगा। पीछे पता चला कि ऐडम्स की गणना लेवेरियर की गणना से अधिक सच्ची थी। यदि नवीन ग्रह की खोज बतलाई हुई दिशा में अच्छे दूरदर्शक से की जाती तो ग्रह उसी दिन मिल जाता और इसके आविष्कार

यूरेनस (वारुणी)

यूरेनस इस बात में अन्य सब ग्रहों से निराला है कि उसके उपग्रहों की कक्षाओं का धरातल स्वयं उसके मार्ग के धरातल से प्रायः समकोण बनाता है।

का पूरा यश ऐडम्स को मिलता, क्योंकि लेवेरियर की गणना अभी नहीं हो पाई थी। परन्तु ऐडम्स कोई प्रसिद्ध ज्योतिषी नहीं था। राज-ज्योतिषी ने ऐडम्स को केवल इतना ही लिख भेजा कि क्या आपने सूर्य से यूरेनस की दूरी मे जो अंतर पड़ा करता है उस पर भी ध्यान दिया है? ऐडम्स ने या तो झल्लाकर या अन्य किसी कारण से इस पत्र का उत्तर नहीं दिया। राज-ज्योतिषी भी इस प्रसंग को भूल गया। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया।

एअरी की निद्रा अब भंग हुई, क्योंकि उसने देखा कि लेवेरियर ने इस विषय पर जो परचे इस समय छापे उनका भी अन्तिम उत्तर वैसा ही निकलेगा जैसा ऐडम्स का। इसलिए उसने तुरन्त केम्ब्रिज के प्रोफेसर चैलिस को नवीन ग्रह की खोज सुपुर्द की। इस पर विश्वास न करके कि नवीन ग्रह अपने बिम्ब के कारण पहचाना जा सकेगा, उसने आस-पास के सब तारों की स्थितियाँ नापना आरम्भ किया। जिस समय गाले ने नवीन ग्रह के देखने की घोषणा की उस समय तक चैलिस वस्तुतः दो बार नवीन ग्रह का वेध कर चुका था। यदि वह वेधों की तुलना करता चलता तो वह गाले के कई सप्ताह पहले ही नवीन ग्रह के पा जाने की घोषणा कर सकता। परन्तु इस काम को वह इतना आवश्यक कदाचित् नहीं समझता था। उसने सोच रक्खा था कि काफी वेध ले लेने के बाद एक साथ ही सब की तुलना करेंगे। सम्भव है, ऐडम्स की योग्यता में उसे काफ़ी विश्वास न रहा हो। जो कुछ हो, हुआ यही कि गाले की घोषणा तक ब्रिटिश ज्योतिषियों को नवीन ग्रह का पता न चल सका। उसके बाद एअरी और चैलिस ने देखा कि ऐडम्स की गणना अधिक शुद्ध थी और केवल उन्हीं की लापरवाही के कारण नवीन ग्रह के आविष्कार का यश लेवेरियर को मिला।

तब एअरी ने अपनी भूल का प्रायश्चित्त करना चाहा। उसने बड़े जोरों से लिखना आरम्भ किया कि ऐडम्स की गणना पहले हो चुकी थी और वह अधिक शुद्ध थी, इसलिए उसी को ग्रह का आविष्कारक समझना चाहिए। बड़ी बहस चली और स्वभावतः लोगों के मिज़ाज गरम हो गए। लेवेरियर के मित्र समझते थे कि अंग्रेजों की यह एक चाल है, जिसमे फ्रांस को नये ग्रह के आविष्कार का यश न मिले। ऐडम्स के मित्र अलग एअरी से अप्रसन्न थे, उन्होंने उसको ख़ूब खरी-खोटी बातें सुनाईं। यों तो विज्ञान मे आविष्कारकर्ता वही समझा जाता है जिसका आविष्कार प्रथम प्रकाशित होता है, अपने घर किसी ने किस दिन किस काम को किया इस पर विचार नहीं किया जाता। परन्तु यह देखते हुए कि इसमें ऐडम्स का कोई दोष नही था अब विज्ञान-संसार यही मानता है कि लेवेरियर और ऐडम्स दोनों को ही नेपच्यून का आविष्कारक समझना चाहिए।

कुछ सप्ताह तक वेध करने पर नेपच्यून की कक्षा का स्थूल रूप से ज्ञान हो गया। तब पीछे मुँह गणना करने पर पता चला कि इस ग्रह को कई ज्योतिषियों ने पहले भी देखा था और इसे तारा समझकर इसकी स्थिति को नक्षत्र-सूचियों में लिखा था। प्रसिद्ध फ्रेंच ज्योतिषी लैलांड (Lalande) ने पचास वर्ष पहले इसे दो बार, दो दिनों के अंतर पर, देखा था। इतने मे, ग्रह होने के कारण, यह कुछ हट गया था। यदि लैलांड को जरा सा भी ख़याल होता कि आकाश मे अज्ञात ग्रह भी हो सकते थे तो वह तुरंत जान जाता कि यह वस्तुतः ग्रह था। परन्तु उसे इसका कुछ भी संदेह नहीं था। उसने समझा कि संभवतः प्रथम बार उसने भूल की थी। इसलिए अपनी प्रकाशित नक्षत्र-सूची में उसने इस "तारे" के आगे केवल प्रश्न-चिह्न लगाकर ही संतोष कर लिया। प्रश्न-चिह्न का असली कारण उसकी अप्रकाशित नोटबुक से तब लगा जब नेपच्यून का आविष्कार हो चुका था।

पुराने और नवीन वेधों के सहारे नेपच्यून की कक्षा का सूक्ष्म ज्ञान शीघ्र हो गया। तब पता चला कि इसकी सूर्य से दूरी बोडे के नियम के अनुसार नहीं थी (देखो विश्वभारती, पृष्ठ१२६३)। लेवेरियर और ऐडम्स दोनों ने जो कक्षा नेपच्यून के लिए अपनी अपनी गणनाओं से निर्धारित की थी वह गलत थी, क्योंकि दोनों ने इसकी दूरी के लिए बोडे के नियम को सत्य माना था। इनकी बतलाई कक्षाएँ इतनी अशुद्ध थीं कि उस समय के कुछ ज्योतिषियों का विश्वास था कि नवीन ग्रह का पता संयोगवश ही लग गया, गणना के कारण नहीं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। जिस रीति से और यूरेनस के जिन वेधों के आधार पर नवीन ग्रह की गणना की गई थी उनसे केवल नवीन ग्रह की स्थिति का ही सच्चा पता लग सकता था, नवीन ग्रह की कक्षा का ठीक पता इनसे न लग सकता था। इसलिए यदि कक्षा की गणना में भद्दी भूल भी हुई तो क्या! कक्षा की त्रुटियों का परिणाम केवल यही हो सकता था कि भूत और भविष्य काल में नवीन ग्रह की स्थितियों का ज्ञान लेवेरियर और ऐडम्स की गणनाओं से नही हो सकता था; परन्तु उस समय

अब गणना की गई थी, नवीन ग्रह की स्थिति ठीक-ठीक बतलाई गई थी और ग्रह के आविष्कार के लिए बस इतना ही काफी था।

नेपच्यून की कक्षा आदि

पृथ्वी की अपेक्षा नेपच्यून सूर्य से तीस गुना अधिक दूरी पर है। इसकी कक्षा प्रायः ठीक-ठीक गोल है। एक बार चक्कर लगाने मे इस ग्रह को लगभग १६५ वर्ष लगते हैं, यद्यपि इसका वेग लगभग ३½ मील प्रति सेकंड है। कोरी आँख से नेपच्यून नहीं देखा जा सकता, परन्तु किसी भी अच्छे छोटे दूरदर्शक से यह देखा जा सकता है। छोटे दूरदर्शकों में यह आठवीं श्रेणी के तारे के समान दिखलाई पड़ता है। स्मरण रखना चाहिए कि जितने तारे हमें कोरी आँख से दिखलाई पड़ते हैं वे सब ६ श्रेणियो में बाँटे गए हैं। प्रथम श्रेणी के तारे सबसे अधिक चमकीले होते हैं। छठवीं श्रेणी के तारे सबसे मंद प्रकाश के होते हैं। सातवीं और आठवीं श्रेणी के तारे केवल दूरदर्शक से ही दिखलाई पड़ते हैं।

बड़े दूरदर्शकों मे नेपच्यून का बिम्ब स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। यह हरे रंग का है। छोटा दिखलाई पड़ने के कारण इसके बिम्ब के व्यास का नापना अत्यत कठिन है। परन्तु इसमे संदेह नही कि इसका वास्तविक व्यास लगभग ३१००० मील होगा। इस प्रकार नेपच्यून यूरेनस से थोड़ा-सा ही छोटा है।

यद्यपि व्यास की नाप बहुत सूक्ष्मता से नही ज्ञात है तो भी इसकी तौल का हमे अच्छा ज्ञान है। कारण यह है कि इसकी तौल इसके उपग्रह की गति से और यूरेनस को विचलित करने की मात्रा से निकाली गई है। नेपच्यून पृथ्वी से लगभग १७ गुना (वस्तुतः १७·१६ गुना) भारी है। इस प्रकार यह यूरेनस की अपेक्षा कुछ अधिक भारी है। पानी के हिसाब से इसका घनत्व १·६ गुना है।

प्लूटो का आविष्कार लॉविल वेधशाला में लिये गए इन फ़ोटोग्राफों द्वारा हुआ था। ऊपर के फोटो में मार्च २, १९३०, को आकाश में प्लूटो की स्थिति तीर के निशान द्वारा दिखाई गई है। तीन दिन बाद मार्च ५ को वही छोटा सा बिंदु उस स्थान में खिसक आया जो नीचे के फ़ोटो में तीरो द्वारा दिखाया गया है। अन्य सभी पिण्ड, जो तारे हैं, ज्यों-के-त्यों वही थे। केवल यही एक बिंदु खिसका था, इससे सिद्ध हो गया कि यह ग्रह था।

नेपच्यून का तापक्रम बहुत ही कम होगा। इसका वायुमंडल किसी ऐसी यौगिक गैस का होगा जो पृथ्वी के साधारण तापक्रम पर टिक ही नहीं सकती। संभवतः यही बात है जिसके कारण हम अभी तक ठीक-ठीक नही जान सके हैं कि बृहस्पति, शनि, यूरेनस और नेपच्यून मे वह कौन-सी गैस है जिसकी मात्रा बृहस्पति से लेकर नेपच्यून तक उत्तरोत्तर बढती जाती है और जिसके कारण इन ग्रहों से उत्तरोत्तर अधिक हरा प्रकाश आता है। हाल के कुछ अनु-

सधानों से अनुमान किया जाता है कि बृहस्पति और शनि के वायुमंडलों में मिथेन और अमोनिया गैसों की प्रधानता होगी।

नेपच्यून के बिंब पर कोई भी ऐसे चिह्न नहीं देखे जा सके हैं जिनसे इनके अपनी धुरी पर घूमने के बारे में कुछ निश्चय किया जा सके। नेपच्यून और यूरेनस में कई बातों में सादृश्य है। नाप में, तौल में, घनत्व में, रंग में ये प्राय. एक-से हैं। निस्सदेह उनकी रासायनिक बनावट भी प्रायः एक सी होगी, इसलिए ये यमज भ्राता कहे जा सकते हैं। सौर जगत् में इस प्रकार की दूसरी जोड़ी शुक्र और पृथ्वी की है, परन्तु शुक्र और पृथ्वी में इतनी समानता नहीं है।

नेपच्यून के एक उपग्रह है। इसे पहले पहल लैसल ने, प्रधान ग्रह के देखे जाने के एक महीने भीतर ही, देखा। यह उपग्रह एक चक्कर लगभग ६ दिन में ही लगा लेता है। देखने में यह बहुत ही मद प्रकाश का है, परतु जब उसके वास्तविक नाप की गणना की जाती है तब पता चलता है कि यह लगभग हमारे चद्रमा के बराबर होगा। केवल बहुत दूर होने के कारण ही यह इतना फीका लगता है।

जिस धरातल में यह उपग्रह चलता है वह स्वय घूम रहा है। गति-विज्ञान के आधार पर इससे यह परिणाम निकलता है कि नेपच्यून गेंद की तरह गोल न होकर नारगी की तरह चिपटा होगा। इस प्रकार, यद्यपि नेपच्यून हमसे इतनी दूर है कि हम उसके रूप को ठीक-ठीक नहीं देख पाते, हम जानते हैं कि वह भी यूरेनस की तरह चिपटा है। १६२८ में रश्मि-विश्लेषक यत्र से पता चला कि नेपच्यून अपनी धुरी पर लगभग १६ घटे में एक बार घूम लेता है।

प्लूटो

मार्च १६३० में नेपच्यून से भी अधिक दूरी पर स्थित एक ग्रह देखा गया, जिसका नाम प्लूटो रक्खा गया। इसका आविष्कार कोई सयोगवश नहीं हुआ। ऐसे ग्रह की खोज वर्षों से की जा रही थी। कई एक ज्योतिषियों ने इसकी स्थिति बतलाने की चेष्टा उसी रीति से की थी जिस रीति से नेपच्यून का आविष्कार हुआ था, परतु इसमें कठिनाई यह थी कि नेपच्यून की कक्षा का ज्ञान अब भी हमको इतना अच्छा नहीं है जितना होना चाहिए। इसका कारण यह है कि आविष्कार से लेकर आज तक नेपच्यून कुल आधा के ही लगभग चक्कर लगा पाया है। जब तक नेपच्यून पूरा चक्कर न लगा ले तब तक इसकी कक्षा की सूक्ष्म गणना नहीं की जा सकती। इसलिए पता नहीं चलता कि नेपच्यून गणितसिद्ध कक्षा से कितना विचलित होता है।

परतु यूरेनस की कक्षा का सूक्ष्म ज्ञान १६३० के कई वर्ष पहले से ही था। देखा गया था कि नेपच्यून की आकर्षण-शक्ति की गणना कर लेने पर भी यूरेनस की वास्तविक और गणितसिद्ध चालों में थोड़ा-सा अन्तर रह जाता था। इसी के आधार पर गैलियो, पिकरिंग, लॉवेल आदि की धारणा थी कि नेपच्यून के उस पार कोई ग्रह है जो नेपच्यून से ड्योढी दूरी पर है। लॉवेल की गणना से ही अत में प्लूटो का आविष्कार हुआ, परतु लॉवेल की गणना का परिणाम यह निकला था कि नेपच्यून के उस पारवाला ग्रह तौल में नेपच्यून का लगभग आधा होगा। इससे अनुमान किया गया कि अज्ञात ग्रह इतना छोटा न होगा कि इसके फोटोग्राफ लेने में विशेष कठिनाई पड़े। इसलिए लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि इस ग्रह के पता लगाने में इतनी कठिनाई क्यों पड़ रही थी।

लॉवेल को ग्रह-सबधी खोजों से इतना प्रेम था कि उसने अपने खर्च से ऊँचे और बहुत ही अच्छे स्थान पर अच्छी-सी वेधशाला बनवाई थी और इस अभिप्राय से कि उसके मरने के बाद भी खोज होती रहे, वह काफी धन भी इसके लिए छोड़ गया। लॉवेल के सहायक लॉवेल के मरने पर ग्रह-सबधी अनुसधानों में तत्परता से लगे रहे और अत में मार्च १६३० में नेपच्यून के उस पारवाले ग्रह को देख ही लिया। यह ग्रह लॉवेल के गणनानुसार प्राप्त स्थान के बहुत पास ही मिला। मरने के दो वर्ष पहले लॉवेल इस ग्रह की स्थिति की गणना कर चुका था।

प्लूटो का रूप

प्लूटो को हिंदी में 'यम' कहते हैं। यह ग्रह बड़े दूरदर्शकों में भी बिंदु-सरीखा ही दिखलाई पड़ता है। इसलिए इसके गोल या चिपटे होने की बात का पता नहीं। इसकी कक्षा का भी विशेष ज्ञान नहीं है। अत्यन्त दूर होने और इसलिए मद गति से चलने के कारण इसकी कक्षा का ठीक पता वर्षों बाद लगेगा।

नेपच्यून की अपेक्षा प्लूटो हजार गुना कम चमक का है। तीस इच के तालयुक्त दूरदर्शक से भी फ़ोटो लेने के लिए आध घटे से कम प्रकाश-दर्शन (एक्सपोज़र) से काम नहीं चलता। इसके कोई उपग्रह अभी तक नहीं देखे गए हैं। यदि कोई उपग्रह होगा भी तो वह ससार के बड़े-से-बड़े दो-चार दूरदर्शकों में ही दिखलाई पड़ सकेगा।

नाप में यह बहुत छोटा होगा। यदि लॉवेल की गणनानुसार इसकी तौल नेपच्यून की तौल की लगभग आधी होती तो यह हमें बारहवीं श्रेणी के तारे की तरह दिखलाई पड़ता। परतु वस्तुतः यह हमें पंद्रहवी श्रेणी के तारे की

तरह दिखलाई पड़ता है; अर्थात् वास्तविक चमक लॉवेल की गणना के अनुसार निकली चमक के हिसाब से रुपये में एक आना भी नहीं है। यही कारण है कि इसके दिखलाई पड़ने में इतना समय लगा।

लावेल की गणना के आधार पर प्लूटो का आविष्कार करनेवाला—टाम्बाग

प्लूटो की तौल की गणना हाल में फिर से की गई है और पता चला है कि इसकी तौल लगभग शुक्र की तौल के बराबर है। यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है, क्योंकि प्लूटो इतना फीका है कि लोग समझते थे कि इसकी तौल बहुत कम होगी। तीन ही बातें हो सकती हैं—या तो तौल की गणना में कहीं गलती हो, या प्लूटो बहुत घना हो और इसलिए अधिक तौल का होते हुए भी यह बहुत छोटा हो, या वह वस्तुतः चमकरहित, प्रायः काले पत्थर का हो। इनमें से पहली बात का कोई विशेष भय नहीं है। ज्योतिषियों का अनुमान है कि तौल की नवीन गणना में आठ-दस प्रतिशत से अधिक भूल कदापि न हुई होगी। इसी प्रकार दूसरी बात भी लागू नहीं जान पड़ती। अधिक-से-अधिक प्लूटो हमारी पृथ्वी के केंद्र के घनत्व का होगा, जहाँ धातुओं की ही मात्रा अधिक है। यदि प्लूटो इतना भी घना हुआ तो भी इसे काफी चमकीला होना चाहिए था। परंतु वस्तुतः, यदि प्लूटो को शुक्र के घनत्व का मान लिया जाय तो इसकी सतह की चमक शुक्र की सतह की चमक का पंद्रहवाँ भाग भी न ठहरेगी।

इस प्रकार हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्लूटो की सतह चमकरहित काले पत्थर के समान है। परंतु इस संबंध में एक बात यह समझ में नहीं आती कि प्लूटो का वायुमंडल कहाँ गया। जब इसकी तौल शुक्र के समान है और फिर यह शुक्र से कहीं अधिक ठंढा भी है तो अवश्य इसके वायुमंडल को उड़ न जाना चाहिए था। परंतु यदि इस पर अब भी वायुमंडल है तो अवश्य इसे, इसके वायुमंडल के कारण, काले पत्थर से अधिक चमकीला होना चाहिए था। संभव है, निकट भविष्य में इस रहस्य का भेद खुल जाय।

प्लूटो के एक चक्कर में लगभग ३०० वर्ष का समय लगता होगा। शनि की पदवी अब छिन जानी चाहिए। यथार्थ में प्लूटो ही शनैश्चर—शनैः शनैः चलनेवाला—है।

प्लूटो पर

प्लूटो पर कल्पनातीत सरदी पड़ती होगी। यदि पृथ्वी उस ग्रह की दूरी पर रख दी जाय तो हमारा वायुमंडल जमकर ठोस हो जायगा और सब जीव—चर और अचर—नष्ट हो जायँगे। वहाँ से सूर्य केवल उतना ही बड़ा दिखलाई पड़ता होगा जितना पृथ्वी को बृहस्पति दिखाई पड़ता है, परंतु सूर्य कहीं अधिक चमकीला जान पड़ता होगा। कम रोशनी की शिकायत वहाँ न होगी। दोपहर की धूप में वहाँ हमारी पूर्णिमा की रात्रि से ३०० गुना अधिक प्रकाश रहता होगा। या यों कहिए कि वहाँ की धूप में उतनी ही रोशनी रहती होगी जितनी १००० मोमबत्ती की ताक़तवाली बिजली-बत्ती को १५ फुट पर रखने से हमें मिलती है। परंतु गरमी वहाँ नाम-मात्र ही पहुँच पाती होगी। वस्तुतः प्लूटो पर पृथ्वी की अपेक्षा गरमी और रोशनी एक ही अनुपात में कम पहुँचती होगी। अनुमान किया जाता है कि मंगल के समान ठंढे स्थान में मनुष्य का जीवित रहना कठिन है; बृहस्पति के समान ठंढे स्थान में मनुष्य का रहना असंभव है, और उसके पारवाले ग्रहों पर तो किसी भी जीव का रहना कल्पना के परे है।

पृथ्वी पर बैठे-बैठे हम बुध से लेकर प्लूटो तक के सभी ग्रहों को देख सकते हैं, परंतु यदि हम अपने दूरदर्शकों को लेकर प्लूटो तक जा सकें—और वहाँ जीवित रह सकें ?—तो वहाँ केवल बृहस्पति और शनि ही हमें कोरी आँख से दिखलाई पड़ेंगे, बृहस्पति मंद तारे की तरह और शनि मंद-से मंद तारे की तरह। शुक्र और पृथ्वी दोनों यों तो शनि से कुछ अधिक चमकदार रहेंगे, परंतु सूर्य से सटे रहने के कारण दूरदर्शक से उनका दिखलाई पड़ना कठिन होगा। बुध का देखना तो एकदम असंभव होगा।
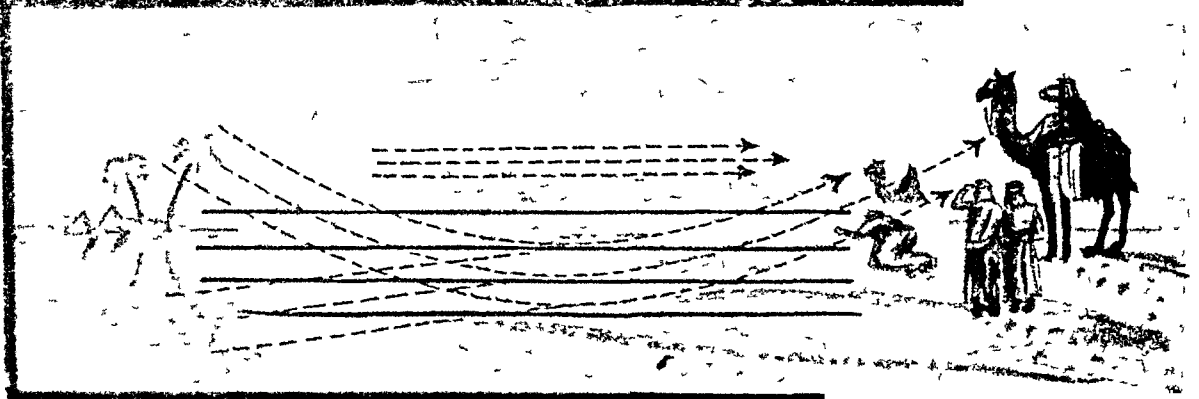
मरुभूमि मे दिखाई पड़नेवाली मरीचिका या मृगतृष्णा का दृश्य

रेगिस्तानों मे प्राय दोपहर के समय कभी-कभी दूर दिखाई पड़नेवाले वृक्षों की ऐसी परछाईं-सी दिखाई देने लगती है, जिससे दर्शक को वहाँ पर जल होने का भ्रम हो जाता है, जब कि वास्तव में वहाँ जल का नामोनिशान भी नहीं होता। यह आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन के कारण ही होता है, जैसा कि नीचे के मानचित्र में समझाया गया है। वृक्षों से आनेवाली किरणें ऊपर की सघन वायु से नीचे की विरल वायु में आने के कारण आवर्त्तित होकर दर्शक की आँखों में पहुँचती हैं, जिससे वृक्ष उलटे दिखाई पड़ते हैं मानों जल में उनकी परछाईं पड़ रही हो।
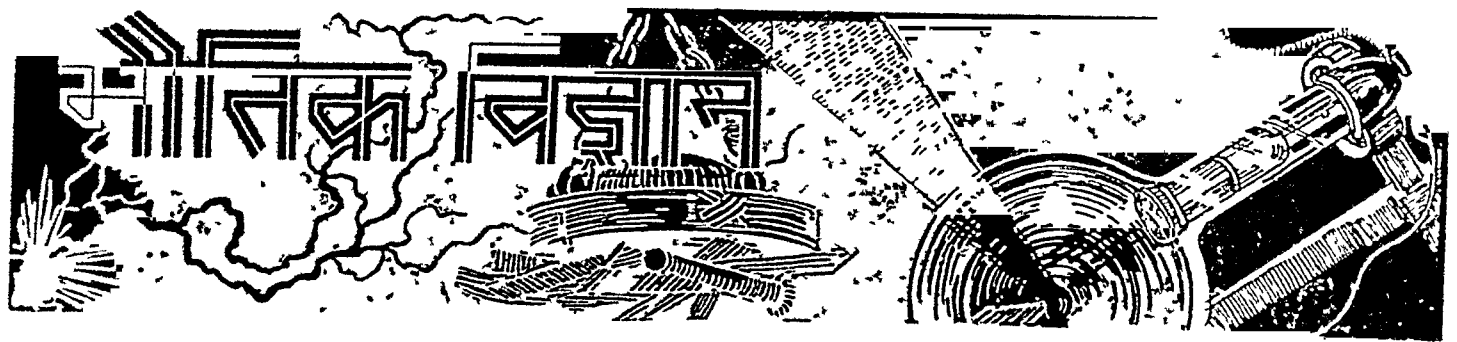
आलोक-रश्मियों का आवर्त्तन

अभी तक हम यही समझते आए हैं कि आलोक-रश्मियाँ सीधी रेखाओं मे आगे बढती हैं। किन्तु हर दशा में यह नियम लागू नहीं होता। जब तक आलोक एक ही माध्यम में गमन करता रहता है, निस्सन्देह इसका मार्ग एकदम सीधा होता है। किन्तु आलोक रश्मि जब एक माध्यम मे से दूसरे माध्यम मे प्रवेश करती है तो वह अपने पूर्व मार्ग से विचलित हो जाती है। उदाहरणस्वरूप जब आलोक रश्मि हवा में से पानी मे प्रवेश करती है तो वह अपने पूर्व मार्ग से विचलित होकर लम्बरेखा की ओर झुक जाती है। इस क्रिया को आलोक-रश्मियों का आवर्त्तन (Refraction) कहते हैं। आलोक-रश्मियाँ जब किसी कम घने (विरल) माध्यम से अधिक घनत्ववाले माध्यम मे प्रवेश करती हैं तो वे लम्बरेखा की ओर झुकती हैं। इसके प्रतिकूल जब वे अधिक घनत्ववाले माध्यम से कम घनत्ववाले माध्यम में—जैसे शीशे के अन्दर से हवा में—प्रवेश करती हैं तो लम्बरेखा से दूर बाहर की ओर झुकती हैं।

सामने रक्खी हुई किसी वस्तु को आप काँच की एक मोटी पट्टी में से देखिए तो वह वस्तु अपनी असली जगह से एक ओर को हटी हुई दिखलाई पड़ेगी, साथ ही उस वस्तु का नकल स्थान वास्तविक स्थान की अपेक्षा कुछ निकट भी जान पड़ेगा। आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन के कारण ही वह वस्तु अपनी जगह से हटी हुई जान पड़ती है। शीशे की पट्टी की मुटाई जितनी अधिक होगी वह वस्तु उतनी ही अधिक अपनी जगह से हटी हुई दिखलाई देगी। जैसा कि अगले पृष्ठ के चित्र से प्रगट है, 'क' से चलनेवाली आलोक-रश्मियाँ काँच की पट्टी मे प्रवेश करते ही लम्ब-रेखा की ओर मुड़ जाती हैं। शीशे के अन्दर इन रश्मियों का मार्ग सीधा ही रहता है। फिर ये रश्मियाँ जब शीशे की पट्टी से बाहर निकलती हैं तो वे पुनः अपने मार्ग से विचलित होती हैं। इस बार एक घने माध्यम से वे विरल माध्यम में आ रही हैं, अतः उनका झुकाव लम्बरेखा से बाहर की ओर होता है। शीशे से बाहर निकल आने पर आलोक-रश्मियों का मार्ग शीशे मे प्रवेश करने के पहलेवाले मार्ग के समानान्तर होता है। ये रश्मियाँ जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है मानों वे क′ से आ रही हैं। चित्र से स्पष्ट है कि काँच जितना ही अधिक मोटा होगा, वस्तु क अपनी जगह से उतनी ही अधिक हटी हुई दिखलाई पड़ेगी। परंतु खिड़की के काँच में से बाहर देखने पर हमें बाहर की सभी वस्तुएँ यथास्थान ही दीखती हैं—तो क्या खिड़की के काँच में होकर गुज़रने पर आलोक-रश्मियों मे आवर्त्तन नहीं होता? वास्तविक बात यह है कि आवर्त्तन खिड़की के काँच में भी अवश्य होता है, किन्तु यह काँच इतना पतला होता है

लम्ब हवा पानी

लम्ब हवा शीशा

आलोक-रश्मियाँ कम घने माध्यम (जैसे हवा) से अधिक घने माध्यम (जैसे पानी) में प्रवेश करने पर लम्ब की ओर झुक जाती हैं और अधिक घने (जैसे हवा) से कम घने माध्यम (जैसे शीशा) में प्रवेश करने पर वे लम्ब से बाहर मुड़ती हैं।

कि उसमें से गुज़रनेवाली आलोक-रश्मियों का हटाव बहुत ही नगण्य सा हो पाता है।

काँच की पट्टी से एक और मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है। मेज पर रूलदार कागज रखिए। कागज पर शीशे की एक पट्टी इस प्रकार रखिए कि काँच की पट्टी के किनारे कागज पर खिंची हुई लाइनों पर तिरछे पड़ें। अब इस पट्टी में से देखने पर ऐसा जान पड़ेगा कि लाइन का वह भाग जो शीशे की पट्टी के नीचे दबा हुआ है, दोनों किनारों पर से टूटकर एक ओर बगल में हट गया है। यदि शीशे की पट्टी कागज पर इस प्रकार रक्खी जाय कि लाइनें शीशे के किनारों को लम्बवत् काटती हों तो ऐसी दशा में ऊपर से देखने पर लाइन शीशे के भीतर टूटी हुई न दिखलाई देगी। यह अवश्य एक ध्यान देने योग्य बात है। क्योंकि इस निरीक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आलोक रश्मि जब एक माध्यम में से दूसरे माध्यम में लम्बवत् प्रवेश करती है तब उस रश्मि का मार्ग तनिक भी नहीं बदलता। ऐसी दशा में आलोक-रश्मियों में आवर्त्तन होता ही नहीं।

गिलास में स्वच्छ जल भरकर उसमें चम्मच इस प्रकार डाल दीजिए कि चम्मच का थोड़ा-सा भाग बाहर निकला रहे। सामने से देखने पर मालूम होगा कि पानी के अन्दर जिस जगह चम्मच प्रवेश करता है उस जगह से चम्मच टूटा हुआ है तथा पानी के अन्दरवाला यह भाग छोटा है, और ऊपर को उठा हुआ है। पानी के
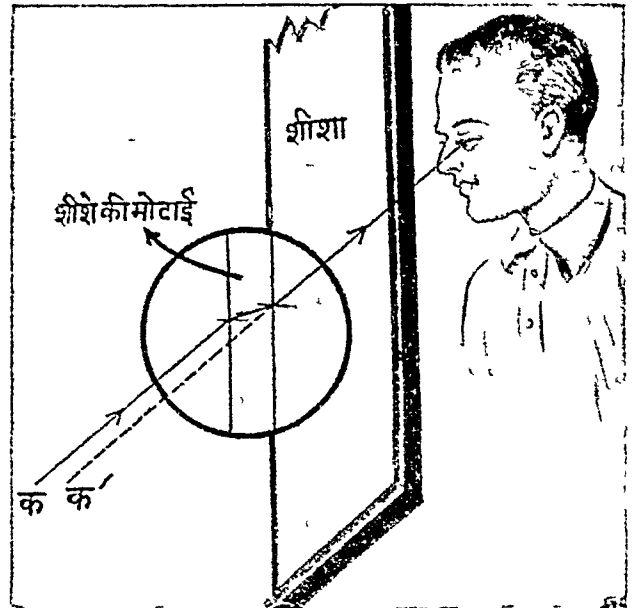
क से चलनेवाली आलोक-रश्मि शीशे में होकर निकलने पर आवर्त्तित हो जाती है जिससे दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है मानों वह क' बिंदु से आ रही हो।

पानी से भरे गिलास में पड़ा हुआ चम्मच सामने से देखने पर वहाँ से टूटा हुआ दिखाई पड़ता है, जहाँ पानी में प्रवेश करता है। ऊपर से देखने पर वही मुड़ा हुआ दिखाई पड़ता है।

अन्दर डूबा हुआ चम्मच अपने स्थान से हटा हुआ इसलिए दिखलाई देता है कि डूबे हुए भाग से चली हुई आलोक-रश्मियाँ पानी के बाहर निकलने पर आवर्त्तित होकर अपने पूर्व मार्ग से विचलित हो जाती हैं। ये ही आलोक-रश्मियाँ जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं तो हमें प्रतीत होता है कि ये इस विचलित मार्ग की दिशा में से आ रही हैं (दे० बाईं ओर का चित्र)।

बालटी में यदि स्वच्छ जल भरा हो तो ऊपर से देखने पर बालटी की गहराई कम मालूम पड़ती है। आवर्त्तन के कारण बालटी का पेंदा उठा हुआ दिखलाई पड़ता है (दे० अगले पृष्ठ का चित्र)। कुछ वर्ष हुए चीन सागर में एक वैज्ञानिक जहाज यात्रा कर रहा था। एकाएक नाविकों ने शोर मचाया कि जहाज़ उथले पानी में आ गया है और नीचे की मूँगे की चट्टानों से वह टकरा जाना चाहता है। प्रधान अफ़सर की आज्ञा से जहाज कुछ दूर पीछे हटाया गया क्योंकि वास्तव में स्वच्छ जल में थोड़ी ही गहराई पर मूँगे की चट्टानें दिखलाई दे रही

थीं और एक साधारण बुद्धि का व्यक्ति भी यही सोचता कि इन चट्टानों से जहाज का पेंदा अवश्य टकराकर टूट जायगा। पर तुरन्त ही कप्तान ने थाह लगानेवाले यन्त्र से गहराई नापी तो पता चला कि उस जगह समुद्र की गहराई काफी थी, जहाज़ के लिए एकदम ख़तरा न था। अवश्य ही आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन के कारण समुद्र-तल ऊँचा उठा हुआ दिखलाई दे रहा था।

एक और बात है। पानी या किसी भी पारदर्शी पदार्थ के अन्दर वस्तु को जितनी ही अधिक तिरछी दिशा से आप देखेंगे, उतनी ही ऊपर उठी हुई वह आपको दिखलाई देगी। नाव में खड़ा हुआ व्यक्ति पानी के अन्दर की मछली को अपनी वास्तविक स्थिति से ऊपर हटी हुई देखता है। किन्तु दूसरा व्यक्ति, जो नाव के अन्दर बैठा है, एकदम तिरछी दिशा से मछली के देखने का प्रयत्न कर रहा है। जैसा कि पृष्ठ १६४२ के चित्र से प्रकट है, इस व्यक्ति को ऐसा जान पड़ेगा मानों मछली एकदम ऊपर पानी की सतह के पास ही है।
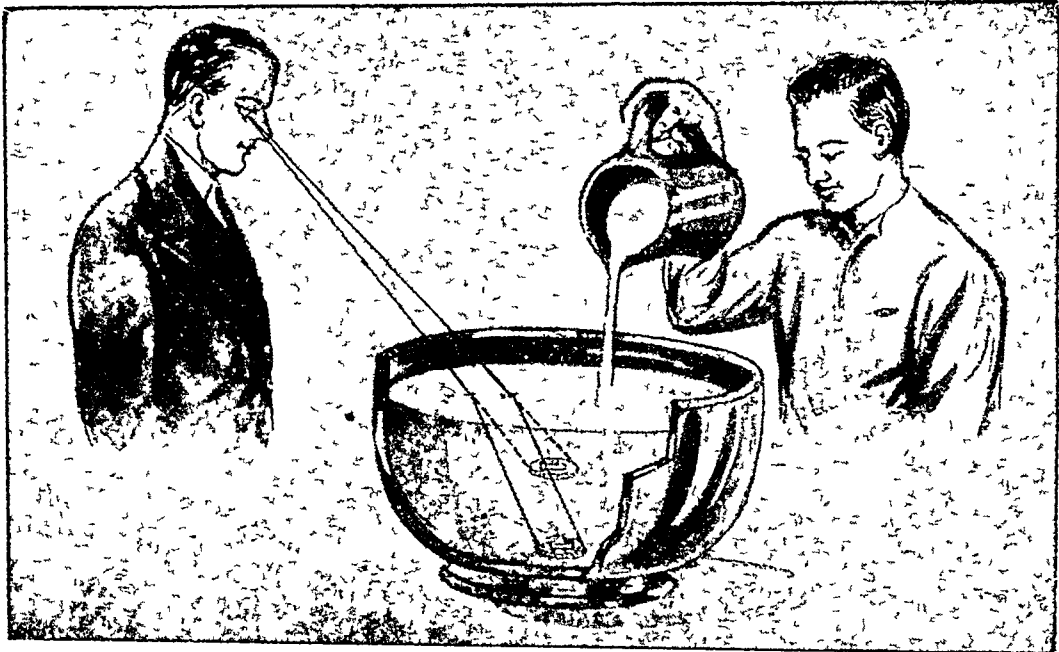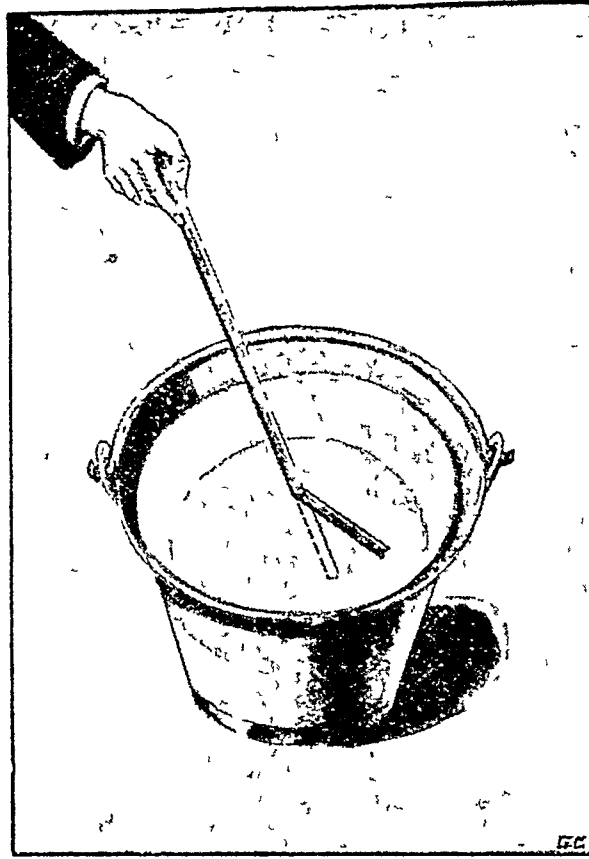
(ऊपर) बाल्टी में यदि स्वच्छ जल भरा हो तो ऊपर से देखने पर बाल्टी की गहराई कम मालूम देगी और उसका पेंदा उठा हुआ दिखाई पड़ेगा। उसमें एक लकड़ी डालिए, वह एक जगह से मुड़ी हुई दिखाई पड़ेगी। यह आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन की ही करतूत है। (नीचे) इकन्नी का प्रयोग। विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए।

आवर्त्तन के कारण धरातल के ऊपर उठ जाने का एक स्पष्ट उदाहरण निम्नलिखित प्रयोग में देखा जा सकता है। इस प्रयोग को आप अपने घर पर भी कर सकते हैं। पत्थर की एक प्याली लीजिए जिसका पेंदा चिपटा हो। अब मोम की सहायता से एक इकन्नी प्याले में रखकर पेंदे से चिपका दीजिए। प्याले को फर्श पर रख दीजिए। आप खड़े होकर प्याले की इकन्नी पर निगाह लगाइए। इकन्नी पर से निगाह हटाए बिना ही पीछे हटते जाइए। ज्यों ही इकन्नी आपकी दृष्टि से ओझल होती है आप ठहर जाइए। इकन्नी और आप की आँख के बीच प्याली की दीवाल का किनारा आ गया है, इसी कारण इकन्नी अब आप को दिखलाई नहीं देती। अवश्य ही यदि इकन्नी को किसी भाँति ज़रा ऊँचा उठा दिया जाय तो आपको वह फिर दिखलाई देने लगेगी। आप अपने मित्र से कहिए कि वह प्याले के अन्दर पानी उँडेले। प्याले के अन्दर ज्यों-ज्यों पानी पहुँचेगा, इकन्नी भी ऊपर को उठती हुई जान पड़ेगी, यहाँ तक कि वह
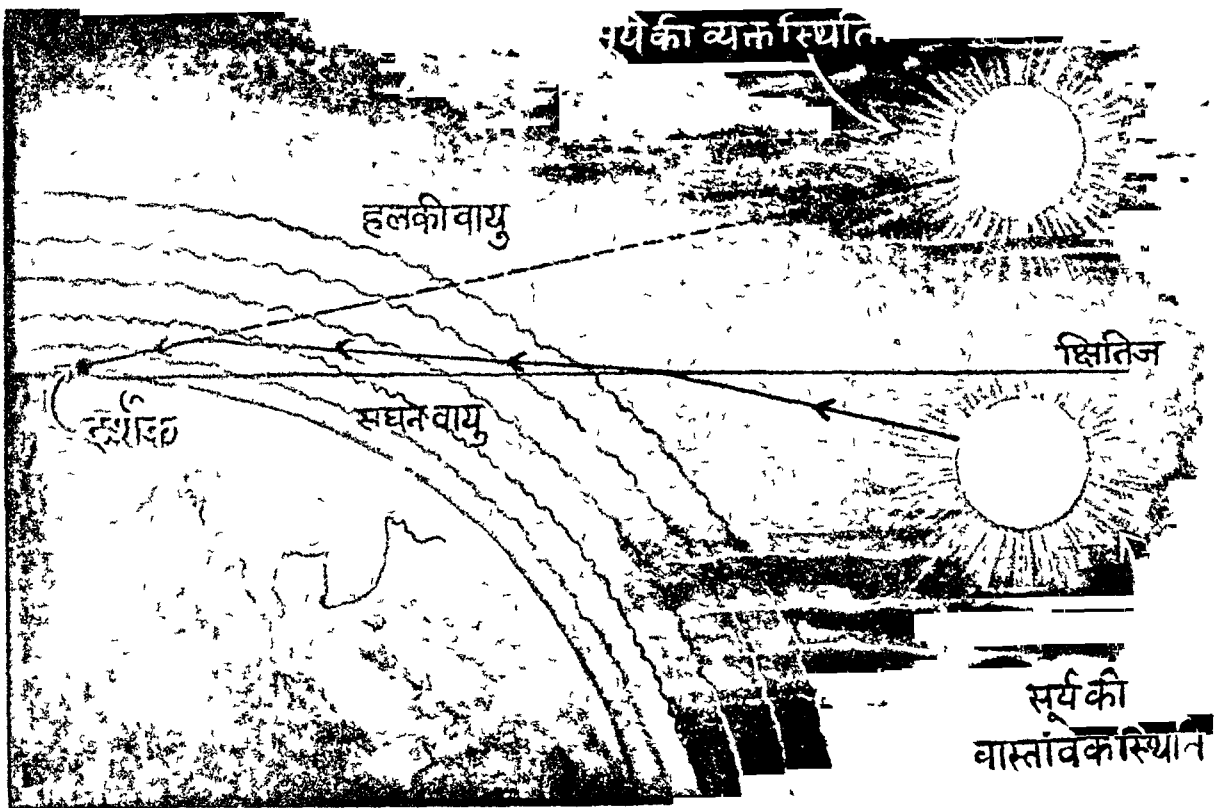
सध्या के समय सूर्य हमें क्षितिज के नीचे छिप जाने पर भी बहुत देर तक दिखाई देता रहता है। इसका कारण आलोक-रश्मियों का आवर्त्तन ही है। जैसा कि इस चित्र से विदित होता है पृथ्वी के निकट की सघन वायु की पर्त में से होकर दर्शक की आँखों तक पहुँचते-पहुँचते सूर्य की किरणें आवर्त्तन के कारण मुड़ जाती हैं और इस प्रकार हमें सूर्य की स्थिति क्षितिज से ऊपर व्यक्त होती है जब कि वास्तविक स्थिति काफी नीचे होती है।

आपको फिर दिखलाई देने लग जायगी। क्योंकि इकन्नी से आनेवाली आलोक-रश्मि, प्याले में पानी भरने से पूर्व, एकदम सीधी आपकी आँखों तक पहुँचना चाहती थी, किन्तु बीच मे प्याले की दीवाल के आ जाने से वह ऐसा करने में असमर्थ थी। पानी भर देने पर, पानी से बाहर निकलने पर आलोक रश्मि आवर्त्तित होकर मुड़ जाती है और इस तरह वह आपकी आँखों तक पहुँच जाती है।

आवर्त्तन के कारण आलोक-रश्मियों का अपने पूर्व मार्ग से विचलित होना स्वय अपनी आँखों से देखा जा सकता है। शीशे के एक चौकोर बर्त्तन में प्रतिदीप्त करनेवाले (fluorescent) घोल को भरिए। घोल गाढा नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का घोल कुनीन सल्फेट, अलकोहोल और पानी की सहायता से तैयार किया जा सकता है। कुनीन सल्फेट एक भाग और अलकोहोल १०० भाग लेकर मिला दीजिए। कुनीन सल्फेट के घुल जाने पर इस घोल का एक बूँद एक लोटे पानी में डाल दीजिए। अब धूपछाँह रग का एक प्रतिदीप्त करनेवाला घोल तैयार हो गया। दफ्ती के दो टुकड़े लेकर उनमें दो झिरी काटिए। शीशे की दीवाल के सामने दोनों दफ्तियों को इस प्रकार रखिए कि दोनों झिरी से गुजरनेवाली रेखा बर्त्तन की दीवाल पर तिरछी पड़े। एक तेज़ रोशनीवाले टार्च से आलोक-रश्मियों का पुंज यदि झिरी के रास्ते बर्त्तन में भेजा जाय तो आप देखेंगे कि ये रश्मियाँ दोनों झिरी की सीध मे घोल के अन्दर अपना मार्ग नहीं बनातीं, वरन् वे अपने पूर्व मार्ग से थोड़ी विचलित हो जाती हैं। चूँकि ये रश्मियाँ एक घने माध्यम में प्रवेश कर रही हैं, अतः ये घोल के अन्दर घुसते ही लम्बरेखा की ओर मुड़ जाती हैं। घोल के अन्दर ये किरणें स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं, क्योंकि आलोक-रश्मि के मार्ग में घोल के जो अवयव आते हैं वे एकदम प्रदीप्त हो उठते हैं। अतः आलोक-रश्मि का मार्ग भी आलोकित हो जाता है।

आवर्त्तन का गुण न केवल पारदर्शी ठोस और द्रव में पाया जाता है, बल्कि गैसों में भी यह गुण मौजूद है। हाइड्रोजन में आवर्त्तन की शक्ति सबसे अधिक और आक्सीजन में सबसे ज्यादा है। यदि हवा की आवर्त्तन-शक्ति को हम १००० मानें तो हाइड्रोजन की आवर्त्तन-

शक्ति ६६१४ और आक्सीजन की ८६१ उतरेगी। स्वय हवा के विभिन्न स्तर यदि भिन्न-भिन्न तापक्रम पर हुए तो घनत्व बदल जाने के कारण उनकी आवर्त्तन-शक्ति एक-सी नहीं रह जाती। फलस्वरूप इन वायुस्तरों मे से होकर आलोक-रश्मि जब गुज़रती है तो प्रत्येक नए स्तर मे प्रवेश करने पर वह अपना मार्ग थोड़ा-सा बदल देती है। यदि किसी कारण इन वायुस्तरों का तापक्रम निरन्तर बदलता रहे तो उसी के अनुसार आलोक-रश्मि भी अपना मार्ग निरन्तर बदलती रहेगी। कुम्हार के आँवे के पास सुबह को चले जाइए। आँवे के स्पर्श मे आनेवाली हवा के स्तर गर्म होते हैं, किन्तु ऊपर के वायुस्तर ठडे। अतः इन वायुस्तरों मे से होकर दूर की चीज़ों से आनेवाली आलोक-रश्मियाँ आवर्त्तित हो जाती हैं। हवा के बहते रहने से इन वायुस्तरों का तापक्रम बदलता रहता है, अतः हमारी आँखों तक पहुँचनेवाली आवर्त्तित रश्मियों का मार्ग भी निरन्तर बदलता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों दूर की वे वस्तुएँ काँप रही हैं। जेठ की दुपहरिया मे भी प्रायः इसी ढंग का अनुभव हमे होता है और तब हम कहते हैं कि दुपहरिया नाच रही है।

(१) देखिए पृ० १६४२—१६४४ का मैटर।
(२) प्रिज्म द्वारा पूर्ण परावर्त्तन। देखिए पृ० १६४४ का मैटर।
(३) प्रिज्मयुक्त दो आँखवाली दूरबीन का सिद्धान्त। देखिए पृ० १६४४ का मैटर।

आकाश के ग्रह और नक्षत्रों से चली हुई आलोक-रश्मियाँ जब शून्य (वैकुअम) से हमारी पृथ्वी के वायुमण्डल मे प्रवेश करती हैं तो वे अपने पूर्व मार्ग से आवर्त्तन के कारण विचलित हो जाती हैं। इसी कारण सूर्य्यास्त के समय यद्यपि सूर्य्य क्षितिज से नीचे पहुँच चुका होता है, फिर भी हमें ऐसा जान पड़ता है मानों समूचा सूर्य्य अभी क्षितिज के ऊपर ही है। क्षितिज के नीचे से चली हुई आलोक-रश्मियाँ वायुस्तरों द्वारा आवर्त्तित होकर मुड़ जाती हैं, और इस तरह वे हमारी आँखों मे पहुँचने तक समर्थ होती हैं। आसमान के नक्षत्रगण भी आवर्त्तित किरणों द्वारा ही हमे दृष्टिगोचर होते हैं। अतः वे हमे अपनी वास्तविक स्थिति से कुछ ऊपर उठे हुए दिखलाई देते हैं। इस स्थल पर यह लोकोक्ति ख़ूब चरितार्थ होती है कि जिस रूप और दशा मे हमे चीज़े दिखाई पड़ती हैं, वे प्रायः यथार्थता से भिन्न होती हैं।

हमारी पृथ्वी गोल है, अतएव धरती पर हम बहुत दूर तक चीज़े देख नही सकते। क्योंकि कुछ मील आगे बढने पर धरती का उभड़ा हुआ भाग बीच मे आ जाता है और इस कारण दूर की चीज़ें क्षितिज से नीचे छिप जाती हैं। परतु ध्रुवप्रान्तो मे ठण्डे हिम के स्पर्श से धरती के निकट के वायुस्तर विशेष ठण्डे हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों मे प्रायः क्षितिज के नीचे के जहाज़ या गाँव आवर्त्तित किरणों की मदद से स्पष्ट दिखलाई दे जाते हैं। ध्रुव-अनुसन्धान के प्रसिद्ध अभियानकारी विलियम स्कोरेस्बी का कहना है कि ग्रीनलैण्ड से कुछ दूर जब वह अनुसन्धान के निमित्त अपने जहाज़ पर जा रहे थे तब उन्होंने 'फेम' नामक जहाज़ को एक दिन बिल्कुल स्पष्ट देखा, यद्यपि वह जहाज़ क्षितिज से पूरे १७ मील आगे था। मारीशस द्वीप के समुद्र-तट पर एक नाविक को एक बार एक जहाज़, जो

उस समय पूरे २०० मील के फासले पर था, बिल्कुल साफ दिखलाई पड़ा था। कहने की आवश्यकता नहीं कि आवर्त्तन के बिना धरती पर इतनी दूर की चीजें कदापि नहीं दृष्टिगोचर हो सकतीं। आवर्त्तन द्वारा क्षितिज से ऊँचे उठकर दृष्टिगोचर होने की क्रिया को अंग्रेजी में लूमिंग (Looming) कहते हैं। डोवर और कैले के बीच ब्रिटिश चनेल की चौड़ाई ८५ मील है। अत. डोवर से कैले की चीजें साधारणत दिखलाई नहीं दे सकतीं, क्योंकि डोवर के क्षितिज से कैले नीचे पड़ता है। किन्तु एक बार दूरवीक्षण यत्र से देखने पर बोलोन से कैले की ओर भागती हुई एक रेलवे ट्रेन स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई थी। बोलोन का नेपोलियन स्तम्भ तो कैले से कई बार देखा जा चुका है।

वायुमण्डल द्वारा आवर्त्तन के कारण प्रात. और सन्ध्या समय प्राय सूर्य्य का रूप चिपटा चिपटा सा दिखाई पड़ता है। दोपहर को सूर्य्य जब ऊपर आकाश में रहता है तो उस समय सूर्य्य के प्रत्येक भाग से जो किरणें वायुमण्डल मे प्रवेश करती हैं वे वायुस्तर के साथ लगभग बराबर कोण बनाती हैं, अत उन सबमें आवर्त्तन द्वारा विचलन भी समान मात्रा मे ही होता है। किन्तु सन्ध्या या सुबह को सूर्य्य के गोले के शीर्षभाग से आनेवाली किरणें वायुस्तर को उतनी तिरछी नहीं काटतीं जितनी गोले के निचले भाग से आनेवाली किरणें। अत. निचले भाग से आनेवाली किरणों मे आवर्त्तन भी अपेक्षाकृत अधिक होता है। फलस्वरूप सूर्य्य के गोले का शीर्षभाग आवर्त्तन द्वारा उतना ऊपर नही उठ पाता जितना उसका निचला भाग। अतएव सूर्य्य का गोला अब गोला न रहकर कुछ चिपटा हो जाता है।

हम जानते हैं कि आलोक-रश्मियाँ जब किसी विरल माध्यम मे से होकर किसी सघन माध्यम मे प्रवेश करती हैं तो आवर्त्तित किरण लम्ब की ओर झुक जाती है। इसके विपरीत सघन माध्यम मे से विरल माध्यम मे प्रवेश करने पर आवर्त्तित किरण लम्ब रेखा से दूर को मुड़ जाती है। इस दशा में सघन माध्यम में से आनेवाली आलोक-रश्मि यदि विरल माध्यम मे तिरछी दिशा से प्रवेश करे तो आवर्त्तित किरण लम्ब रेखा से और भी दूर हट जायगी। जैसा कि पृ० १६४१ के चित्र १ से प्रकट है, यदि कोण ∠ क ख ग को धीरे-धीरे बढाते जायँ तो ∠ च ख य भी बढता जायगा, यहाँ तक कि किरण क ख की ऐसी स्थिति भी आ पहुँचेगी जब आवर्त्तित किरण धरातल अ ख ब से बाहर निकलने में एकदम असमर्थ होगी। आवर्त्तित किरण अ ख ब के समानान्तर निकलेगी। यह उस विरल माध्यम मे प्रवेश न कर पायगी। इस दशा में सघन माध्यमवाली किरण लम्ब के साथ जो कोण बनाती है उसे 'चरम कोण' (critical angle) कहते हैं। यदि किरण क ख को और भी तिरछी की जाय तो ∠ क″ ख ग का मान 'चरम कोण' के मान से बढ जायगा और तब आवर्त्तित किरण न तो विरल माध्यम में पहुँच पायगी और न वह पृथक्करणी धरातल
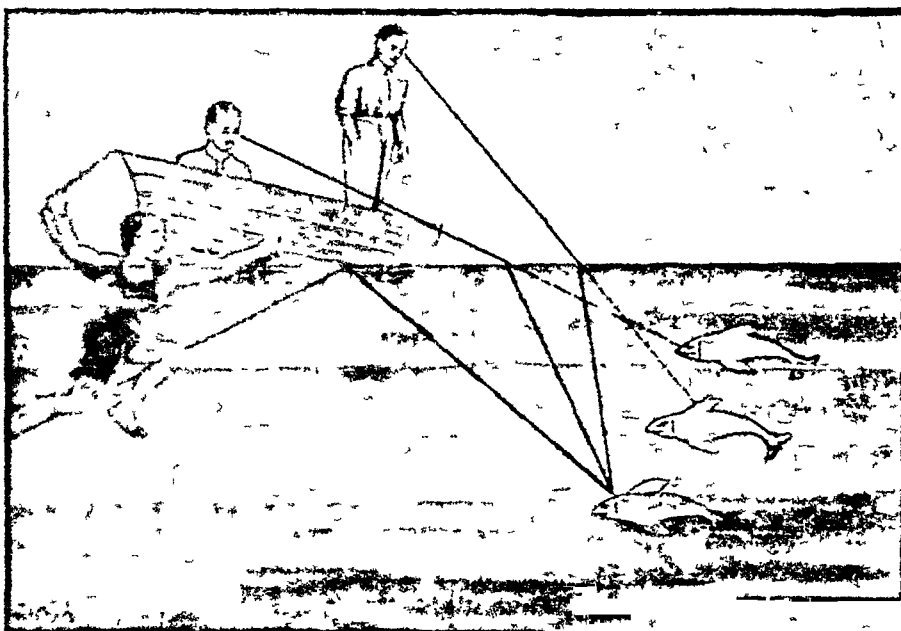
नाव में खड़ा हुआ व्यक्ति पानी के अदर की मछली को अपनी वास्तविक स्थिति से ऊपर हटी हुई देखता है। किंतु दूसरा व्यक्ति जो नाव के अदर बैठा है, एकदम तिरछी दिशा से मछली को ऐसा देख रहा है मानों वह पानी की सतह के एकदम पास ही है। तीसरा व्यक्ति, जो पानी की सतह पर तैर रहा है, मछली को देख ही नहीं पा रहा है। यह सब आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन की ही करामात है।
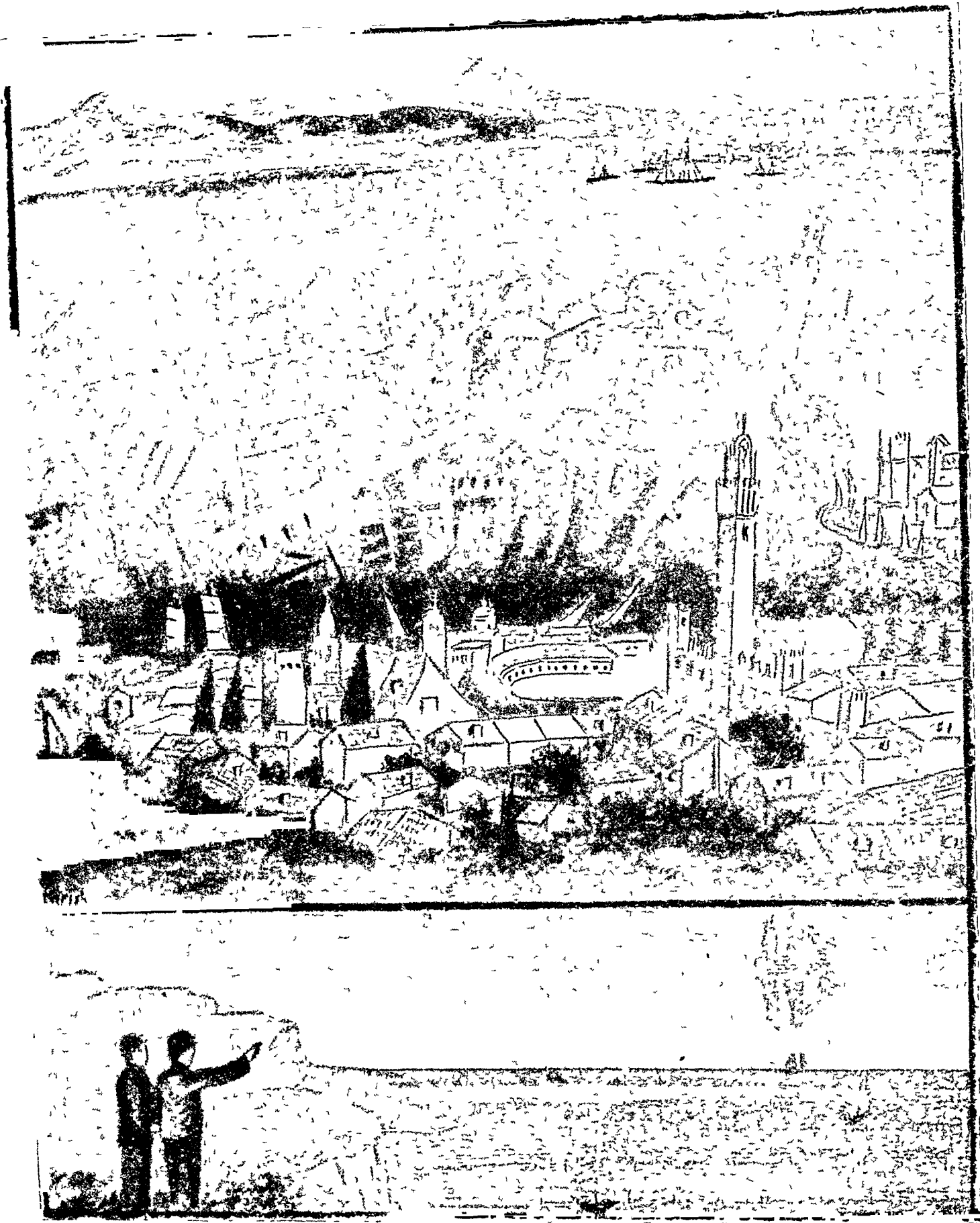
इटली और सिसली द्वीप के बीच मेसिना के जलडमरूमध्य मे एक विचित्र मरीचिका दिखाई पड़ती है जिसका दृश्य इस चित्र के ऊपरी भाग मे दिया गया है। प्रायः सिसली के तट पर किसी ऊँचे स्थान पर खड़े दर्शक को किसी-किसी दिन सुबह आकाश में वायुमण्डल मे इसी प्रकार के टेढ़े-मेढ़े मकानों, जहाज़ों आदि की एक धुंधली-सी तस्वीर दिखाई पड़ने लगती है, जो क्षण-क्षण पर बदलती रहती है। यह विचित्र दृश्य प्रातःकालीन कोहरे पर प्रकाश-रश्मियो के आवर्त्तन और परावर्त्तन के कारण ही प्रस्तुत होता है। इसी प्रकार कभी-कभी ठंढे देशों के समुद्र-तट पर से ऊँचे आकाश में किसी जहाज़ का बिंब भी दिखाई देने लगता है, जैसा कि चित्र के नीचे के भाग में प्रदर्शित है।

अ न ब के समानान्तर ही निकलेगी, बल्कि यह किरण बिन्दु न पर उस पृथक्कारी धरातल से समूची ही परावर्त्तित हो जाएगी। अ न और क ख के बीच की सभी आलोक-रश्मियों का सम्पूर्ण परावर्त्तन होना अवश्यम्भावी है। काँच से वायु में जानेवाली आलोक-रश्मि के लिए चरम कोण का मान ४२ डिग्री है। पानी से वायु में जानेवाली आलोक-रश्मि का चरम कोण ४८½ डिग्री है।

बढ़िया-से-बढ़िया दर्पण में भी कलईवाले धरातल से पूर्ण परावर्त्तन नहीं हो पाता। दर्पण पर आलोक-रश्मियाँ जब गिरती हैं तो उनका कुछ अंश तो दर्पण के ऊपरी धरातल से ही परावर्त्तित हो जाता है और शेष भीतर के कलईवाले धरातल से परावर्त्तित होता है। अत ऐसे दर्पण से बननेवाला बिम्ब न उतना स्पष्ट होता है और न उतना चटकीला, जितना सम्पूर्ण परावर्त्तन द्वारा बना हुआ बिम्ब। चटकीला बिम्ब प्राप्त करने के लिए ऐसा साधन काम में लाना होता है जिसमें आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन पूर्ण रूप से हो। १६४१ पृ० के चित्र २ में अ स ब एक समद्विबाहु समकोण प्रिज्म (Prism) है। रश्मि 'क ख' भुजा 'अ स' को भेदकर 'अ ब' तक सीधी पहुँच जाती है। 'अ स' पर इस रश्मि का आवर्त्तन नहीं होता, क्योंकि 'अ स' पर 'क ख' लम्बवत् गिरती है। स्पष्ट है कि अब धरातल के लम्ब के साथ 'क ख' ४५ डिग्री का कोण बनाती है। अत रश्मि 'क ख' धरातल अ ब को भेदकर बाहर निकल पाएगी। पूर्ण रूप से परावर्त्तित होकर 'ग घ' के रास्ते यह रश्मि 'ब स' को भेदती हुई बाहर निकल जाती है मानो 'अ ब' एक अत्यन्त ही बढ़िया दर्जे का दर्पण है। सबमैरीन के पेरिस्कोप में दर्पण के स्थान पर इसी ढंग के समकोण प्रिज्म का प्रयोग होता है ताकि बाहरी दृश्य का बिम्ब पेरिस्कोप के धुँधले काँच के परदे पर स्पष्ट और चटकीला बन सके। प्रिज्मवाली दो आँखों की दूरबीन (Binocular) में भी आलोक-रश्मियों को परावर्त्तित करके उलटी दिशा में ले जाने के लिए दो समकोण प्रिज्मों का प्रयोग करते हैं। ऐसा करने से दूरबीन की लम्बाई में दो तिहाई की कमी हो जाती है (दे० १६४१ पृ० के चित्र में नं० ३)।

सम्पूर्ण परावर्त्तन के सम्बन्ध में स्वयं आप भी एक दिलचस्प प्रयोग कर सकते हैं। पानी से भरे हुए एक काँच के बरतन में एक पतली परख-नली तिरछी करके इस प्रकार रखिए कि पानी के धरातल के साथ वह ५० डिग्री से बड़ा कोण बनाए। अब बरतन की दीवालों में से सूर्य की किरणें यदि नली की ओर भेजी जायँ तो ये पूर्ण रूप से नली की दीवाल पर परावर्त्तित हो जायँगी और ऊपर से देखने पर ऐसा जान पड़ेगा मानों नली की दीवाल चाँदी की बनी है। तदुपरान्त परख-नली में स्वच्छ जल भर दीजिए। नली की सारी चमक तत्काल ही जाती रहेगी, क्योंकि अब नली की दीवाल पर आलोक-रश्मियों के पूर्ण परावर्त्तन होने का कोई कारण शेष न रहा।

हीरे का चरम कोण २४½ अंश होता है। अत हीरे के धरातल से आलोक-रश्मियों के पूर्ण परावर्त्तन होने की सम्भावना अधिक होती है। हीरे की काटछाँट इस होशियारी से की जाती है कि जो आलोक-रश्मियाँ सामनेवाले पहलू से परावर्त्तित न होकर भीतर प्रवेश कर जाती हैं उनका फौरन् ही बगल वाले पहलू से पूर्ण परावर्त्तन हो जाता है। अतः हीरा तनिक से प्रकाश को पाकर भी जगमगा उठता है।

मरीचिका (मृगतृष्णा) के पीछे भी आवर्त्तन और सम्पूर्ण परावर्त्तन का रहस्य छिपा हुआ है। मरुस्थल की तपती हुई धूप में यात्री को ऐसा प्रतीत होता है कि फ़ासले पर पानी से भरा हुआ कोई तालाब है। वृक्ष, पहाड़ और आसमान का बिम्ब भी पानी में उसे दिखलाई पड़ता है। किन्तु वास्तविकता यह होती है कि उस ठौर भी वैसी ही तपती हुई बालू पड़ी रहती है। पानी का कहीं नामोनिशान नहीं होता। समीप जाने पर प्यास से व्याकुल यात्री हताश हो जाता है। रेगिस्तान में भूमि की तप्त रेत के स्पर्श से निकट के वायुस्तर खूब गरम हो जाते हैं, किन्तु ऊपर के वायुस्तर अपेक्षाकृत ठण्डे ही रहते हैं। अत ऊपर से ज्यों-ज्यों हम नीचे आते हैं, हमें सघन से विरल माध्यम मिलते हैं। खजूर के वृक्ष की चोटी से आनेवाली आलोक-रश्मि ज्यों-ज्यों नीचे उतरती है, वह लम्ब रेखा से दूर हटती जाती है। यहाँ तक कि कुछ दूर नीचे पहुँचने पर इस रश्मि और लम्ब रेखा के बीच के कोण का मान इतना बढ़ जाता है कि यह रश्मि अन्य वायुस्तरों को भेदकर आगे नहीं बढ़ सकती। इसका पूर्ण परावर्त्तन हो जाता है। परावर्त्तित होकर ऊपरवाले वायुस्तरों को पार कर यात्री की आँखों में जब यह आलोक-रश्मि पहुँचती है तो ऐसा जान पड़ता है मानो यह रश्मि नीचे से आ रही है। यात्री समझता है कि वह फ़ासले पर पानी के अन्दर खजूर के वृक्ष और आसमान का बिम्ब देख रहा है।

तारकोल पुती हुई काली सड़क पर भी मई-जून की दुपहरिया में अक्सर लोगों ने मरीचिका देखी है।

नमक का तेज़ाब और क्लोरीन गैस

एक परीक्षा-नली में थोड़ा-सा नमक ले लीजिए और उसमें कुछ सांद्र सल्फ़्यूरिक ऐसिड छोड़कर मिश्रण को थोड़ा-सा गर्म कीजिए। आप देखेंगे कि मिश्रण बुदबुदाने लगा और एक तीक्ष्ण गंधवाली अदृश्य गैस निकलकर श्वेत धूमों के रूप में बाहर हवा में मिलने लगी। क्या आप जानते हैं कि यह गैस क्या है? इस गैस का नाम हाइड्रोजन क्लोराइड अथवा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस है। 'हाइड्रोजन क्लोराइड' इसलिए कि यह गैस हाइड्रोजन और क्लोरीन नामक तत्त्वों के संयोग से बनती है, और 'हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस' इसलिए कि जब यह पानी में घुलती है तो नमक का तेज़ाब तैयार हो जाता है। इस गैस के एक अणु में हाइड्रोजन और क्लोरीन का एक-एक परमाणु रहता है, इसीलिए इसका अणुसूत्र HCl लिखा जाता है। बतलाने के लिए तो मैं बात-की-बात में इन सब तथ्यों को बतला गया; लेकिन शायद आप इसका अनुमान न कर सकेंगे कि मनुष्य को इन तथ्यों तक पहुँचने के लिए कितना समय लगा और कितना प्रयास करना पड़ा है!

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक, नमक का तेजाब क्या, नमक तक एक रासायनिक रहस्य रहा, यद्यपि मनुष्य द्वारा नमक का व्यवहार पूर्व-ऐतिहासिक काल से ही होता आ रहा है। लगभग आठवीं शताब्दी में अरब के कीमियागरों ने नमक, शोरा और फिटकरी के मिश्रण को गर्म करके 'अम्लराज' तैयार किया। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में वेसिल वैलेण्टाइन ने नमक और हरा कसीस के मिश्रण को, और फिर ग्लौबर ने नमक और गंधकाम्ल के मिश्रण को गर्म करके नमक का तेजाब बनाया। इन विधियों के आविष्कार के बाद एक शताब्दी और पचीस वर्ष और व्यतीत हो गए। सन् १७७४ ई० में स्वीडेन के रसायनज्ञ शीले ने पाइरोलुसाइट (मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड) नामक खनिज को नमक के तेज़ाब के साथ गर्म किया। उसने देखा कि हरापन लिये हुए एक हलकी पीली गैस निकल रही थी। उसमें नाक, गले और फेफड़ों में जलन-सी पैदा करनेवाली एक बड़ी ही तीक्ष्ण गंध थी और वनस्पति रंगों को वह सरलता से उड़ा देती थी। एक अनोखी वस्तु शीले के सामने उपस्थित थी। आख़िर यह है क्या? फ्लोजिस्टनरहित नमक की तेज़ाब तो नहीं,—कारण, मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड ने अपनी ऑक्सिजन द्वारा फ्लोजिस्टन ही निकाल लिया होगा! लगभग ग्यारह वर्ष बाद बर्थोले ने देखा कि जब पानी में शीले की गैस का घोल प्रकाश में रक्खा जाता है तो ऑक्सिजन निकलती है और पानी में नमक का तेज़ाब बच रहता है। तो फिर यह हरी-सी गैस नमक के तेज़ाब और ऑक्सिजन के संयोग से बना हुआ पदार्थ होना चाहिए! बर्थोले ने १७८५ में, लवायशिये ने १७८९ में, और गे-लूजक और थेनार्ड ने १८०९ में बार-बार यही राय दी। अतएव इस गैस का नाम ऑक्सीम्यूरिआटिक ऐसिड पड़ा, क्योंकि नमक के तेज़ाब का नाम म्यूरिआटिक ऐसिड था। म्यूरिआटिक ऐसिड का अर्थ 'समुद्र के नमक का तेज़ाब' होता है।

किन्तु ये सब धारणाएँ असत्य थीं। नमक, उसके तेज़ाब और इस तेज़ाब से बनी हुई शीले की गैस की रासायनिक वास्तविकता को समझने के लिए ये सब वैज्ञानिक अंधकार में ही व्यर्थ भटक रहे थे। इंग्लैण्ड के प्रतिभाशाली वैज्ञानिक सर हम्फ्री डेवी ने १८१० में शीले की गैस पर अनेकों प्रयोग किये और यह सिद्ध कर दिया कि यह गैस ऑक्सिजन का यौगिक नहीं, एक नया मूलतत्त्व है। उसने इसका नाम क्लोरीन रक्खा, क्योंकि ग्रीक भाषा में 'क्लोरस' का अर्थ हरापन लिये हुए पीला होता है। सन् १८०७ में डेवी अपने अत्यंत मनोरंजक बिजली के प्रयोगों द्वारा सोडियम धातु का भी आविष्कार कर चुका

गा। इन महत्वपूर्ण आविष्कारों के बाद ही नमक और नमक के तेजाब की ठीक रासायनिक रचना निर्धारित हो सकी। नमक सोडियम और क्लोरीन का यौगिक प्रमाणित हुआ, जिसके प्रत्येक अणु में सोडियम और क्लोरीन के एक-एक परमाणु रहते हैं। इसीलिए तो नमक का रासायनिक नाम सोडियम क्लोराइड है, और उसका अणु-सूत्र NaCl लिखा जाता है। Na सोडियम का और Cl क्लोरीन का सकेत है।

हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड अथवा नमक का तेज़ाब

नमक के तेजाब का उपयोग तो आपने कदाचित् कहीं-न-कहीं देखा ही होगा। धातुओं को साफ करने, कपड़ों से लोहे के धब्बों को निकालने, और औषध-रूप में भी उसका उपयोग हुआ ही करता है। रसायनशाला के सबसे उपयोगी प्रतिकारकों (reagents) मे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड भी है। पानी में न घुलनेवाले अधिकतर लवणों को वह घुलनशील क्लोराइडों मे बदलकर घुला देती है। सुवर्ण, प्लैटिनम तथा कई अन्यथा अघुलनशील लवणों को घोलने के लिए 'अम्लराज' (देखिए पृ० १३१४) तैयार करने में भी इस अम्ल का उपयोग होता है। इसके अलावा प्रयोगशाला मे हाइड्रोजन, क्लोरीन, कार्बन डाइऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड आदि गैसों को बनाने मे भी यह काम में लाई जाती है। व्यापारिक परिमाणों में वह क्लोराइड लवण, क्लोरीन, रग, आदि के बनाने में तथा अन्य अनेक धधों मे भी व्यवहृत होती है।

नमक से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड अब भी ग्लॉबर की ही क्रिया द्वारा बनाई जाती है। यदि आप अपनी प्रयोगशाला में उसे तैयार करना चाहते हैं तो एक फ्लास्क मे थोड़ा-सा नमक ले लीजिए और थिसिल कीप द्वारा उसमे कुछ सांद्र गधक का तेजाब डालकर कीप के निचले सिरे को तेजाब के अदर कर दीजिए। अब बालुकाकुंडी पर रखकर फ्लास्क को गर्म कीजिए और गैस को इसी पृष्ठ के चित्र मे दिखाए गए प्रबध द्वारा इकट्ठा कर लीजिए। हाइड्रोजन क्लोराइड गैस हवा से सवागुनी से कुछ अधिक भारी होती है, अतएव वह जार में हवा को ऊपर हटाकर इकट्ठी हो जाती है। यदि आपको इसे पानी मे घोलकर नमक का तेजाब बनाना है तो निकास-नली के सिरे को पानी में भूलकर भी न डुबाइएगा, नही तो पानी गैस को घोलता हुआ एकाएक निकाल-नली में चढ़कर फ्लास्क मे पहुँच जायगा, और वहाँ उसके सांद्र गधकाम्ल के ससर्ग में आते ही इतनी गर्मी का उत्पादन होगा कि सारा मिश्रण एकाएक उबल पड़ेगा। इस उबल पड़ने में बहुधा फ्लास्क फट पड़ता है और शीशे के टुकड़ों और गर्म सल्फ्यूरिक ऐसिड के उड़ने से प्रयोगकर्त्ता को गहरी चोट लगने का भय रहता है। अतएव, तेज़ाब बनाने के लिए आप चित्र में दिखाए गए चार उपायों में से किसी एक का उपयोग कर सकते हैं। इनमे से प्रत्येक उपकरण रबर की नली के टुकड़े द्वारा निकास नली से सम्बन्धित किया जा सकता है, और पात्रों में रक्खे हुए पानी में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड निरापद घुलता रहता है। हाँ, पहले, दूसरे और तीसरे प्रबध में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रिटॉर्ट अथवा कीप अथवा पिपेट के सिरों का थोड़ा-सा ही भाग पानी मे डूबा रहे, नहीं तो इन पात्रों
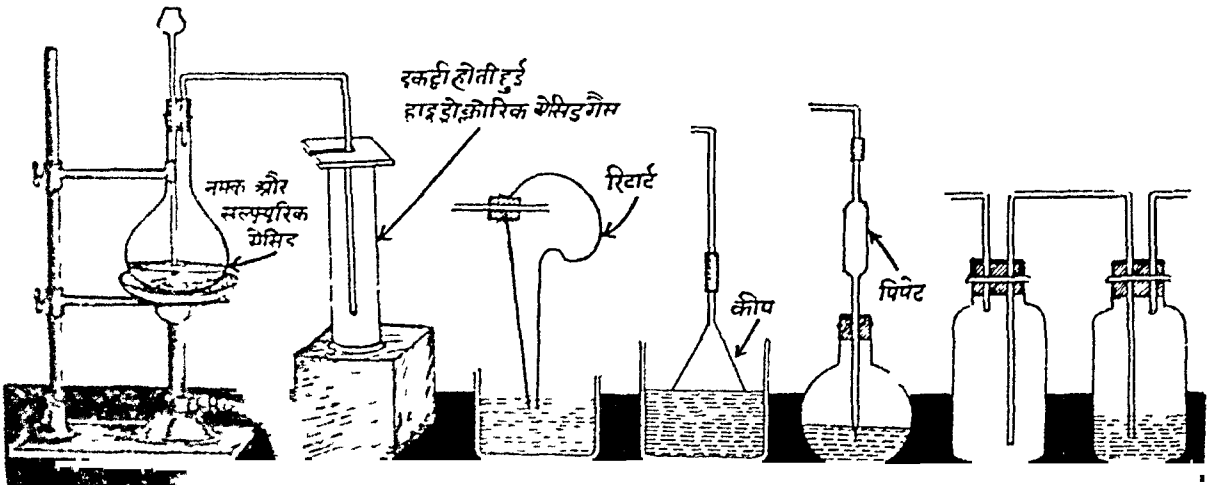
प्रयोगशाला में हाइड्रोजन क्लोराइड गैस अथवा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड बनाने की विधि
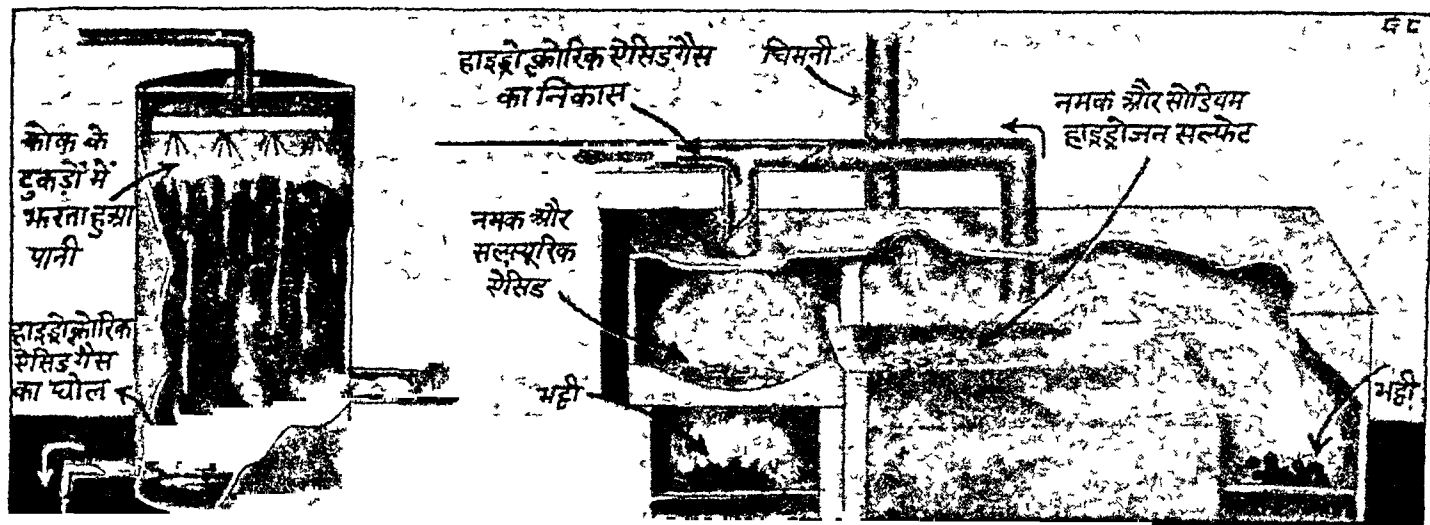
बड़े परिमाणों में नमक के तेज़ाब का निर्माण

को भी भरकर पानी फलास्क में पहुँच सकता है।

औद्योगिक पैमाने में भी अधिकतर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड नमक और सल्फ्यूरिक ऐसिड की ही प्रक्रिया द्वारा तैयार की जाती है। जिस भट्टी मे इन दोनों का मिश्रण गर्म किया जाता है उसे 'साल्ट-केक फरनेस' (लवण-पिण्ड भट्टी) कहते हैं। ढलवॉ लोहे के एक कड़ाह में नमक और प्रबल सल्फ्यूरिक ऐसिड का मिश्रण गर्म किया जाता है, जिससे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस बनकर बाहर निकल जाती है, और सोडियम हाइड्रोजन सल्फेट (दूसरा नाम सोडियम बाइसल्फेट) और शेष नमक का मिश्रण कड़ाह मे लेई के रूप मे रह जाता है—

$$NaCl + H_2SO_4 = NaHSO_4 + HCl$$

सोडियम क्लोराइड (नमक) | सल्फ्यूरिक ऐसिड (गधक का तेजाब) | सोडियम हाइड्रोजन सल्फेट | हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस
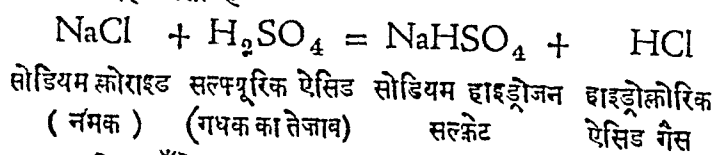
अधिक ऊँचे तापक्रम पर नमक और सोडियम बाइसल्फेट की पारस्परिक क्रिया द्वारा और भी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का उत्पादन होता है, अतएव इनका मिश्रण कड़ाह से लोहे के एक संदूकनुमा स्थान मे सकेल दिया जाता है। दूसरी ओर की भट्टी द्वारा इसका तापक्रम अधिक ऊँचा रक्खा जाता है। यहाँ से और भी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस बनकर बाहर निकल जाती है और सामान्य सोडियम सल्फेट पिंड रूप मे जमकर रह जाता है—

$$NaHSO_4 + NaCl = Na_2SO_4 + HCl$$
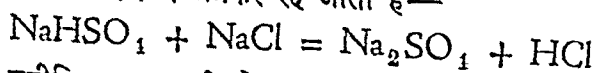
इसीलिए इस भट्टी को लवण-पिण्ड भट्टी कहते हैं। इस भट्टी से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस कोक के टुकड़ो से भरी हुई एक ऐसी मीनार में ले जाई जाती है जिसमे पानी झरता रहता है। गैस पानी में घुल जाती है और तेजाब नीचे इकट्ठा हो जाता है और वहाँ से निकाल लिया जाता है। इस विधि मे उत्पन्न होनेवाले सोडियम सल्फेट से धोने-वाला सोडा बहुत बनाया जाता है।

नमक से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड उसके सबसे सस्ते और प्रचुर होने के कारण ही बनाई जाती है। वैसे तो, किसी भी क्लोराइड पर सल्फ्यूरिक ऐसिड की क्रिया द्वारा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का उत्पादन होता है, जिस प्रकार किसी भी नाइट्रेट पर उसकी क्रिया द्वारा नाइट्रिक ऐसिड बन जाती है (देखिए पृ० १३१४)।

बहुधा क्लोरीन को हाइड्रोजन में जलाकर भी हाइड्रो-क्लोरिक ऐसिड गैस का निर्माण कर लिया जाता है। किंतु, इस विधि का उपयोग वहीं होता है जहाँ बिजली की विधियो द्वारा हाइड्रोजन और क्लोरीन का उत्पादन आवश्यकता से भी अधिक होता रहता है।

हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के साथ भी, उसके अत्यंत घुलन-शील होने के कारण, फव्वारे का मनोरंजक प्रयोग (पृ० १३०८) किया जा सकता है। अंतर केवल यही होगा कि इसके अम्ल होने के कारण बाहर अमोनिया अथवा किसी अन्य क्षार का पानी लेना पड़ेगा, और बाहर और भीतर के रंग उलट जायँगे। साधारण विधि मे हाइड्रो-क्लोरिक गैस के बंद जार को उलटकर उसके मुँह को पानी के भीतर खोलिए। पानी घुली हुई गैस की जगह को भरता हुआ शीघ्र ही ऊपर चढ जायगा।

एक चीथडे मे थोड़ा-सा हलका नमक का तेज़ाब ले लीजिए और उसे पीतल आदि किसी धातु पृष्ठ पर रगड़ दीजिए। वह साफ हो जायगा। इसका कारण यह है कि अधिकतर धातुओं की ऑक्साइडे अथवा हाइड्रॉक्साइडे

अथवा कार्बोनेट, जो जंग के रूप में उनके पृष्ठों पर जम जाती है, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड में क्लोराइडों में बदलकर सरलता से घुल जाती है। कपड़ों पर 'लोहे' के दाग लोहे की ऑक्साइड (फेरिक ऑक्साइड) के होते हैं। हलके नमक के तेजाब की क्रिया द्वारा यह भी उसी प्रकार घुलकर साफ हो जाती है। नमक के तेजाब में कई धातु, यथा जस्ता, लोहा, मेग्नेशियम, अलुमीनियम आदि सरलता से क्लोराइडों मे परिवर्त्तित होकर घुल जाते हैं, और उसकी हाइड्रोजन गैस रूप में निकल जाती है। अम्लों में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड प्रबलतम होती है। क्षारों को वह तीव्रता से मारकर क्लोराइड लवणों मे परिणत कर देती है।

प्रबल ऑक्सीकारी पदार्थों द्वारा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की हाइड्रोजन ऑक्सीकारक द्वारा मिली हुई ऑक्सिजन से संयुक्त होकर पानी मे परिवर्त्तित हो जाती है, और क्लोरीन मुक्त हो जाती है—

$$2\,HCl + O = H_2O + Cl_2$$
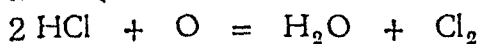
अम्लराज मे नाइट्रिक ऐसिड यही कार्य करती है (पृ० १३१४)। इस प्रकार नमक के तेजाब से क्लोरीन बनाने के लिए मैङ्गनीज डाइऑक्साइड और पोटैशियम परमैङ्गनेट (कुओं आदि में डाला जानेवाला कीटाणुनाशक पदार्थ) नामक आक्सीकारकों का अधिकतर उपयोग होता है। शीले ने मैङ्गनीज डाइऑक्साइड की ही इस क्रिया द्वारा क्लोरीन का आविष्कार किया था।

क्लोरीन

प्रकृति मे क्लोरीन का अस्तित्व न केवल नमक (सोडियम क्लोराइड) में ही, वरन् मैग्नेशियम क्लोराइड और पोटैशियम क्लोराइड के रूप मे भी रहता है। नमक के साथ साथ ये अन्य दोनों लवण भी समुद्र जल में घुले रहते हैं (देखिए पृ० ५३५)। जर्मनी में स्टासफर्ट के निक्षेपों मे पोटैशियम और मैग्नेशियम क्लोराइड बृहद् परिमाणों मे मिलते हैं। तथापि क्लोरीन का सबसे प्रचुर और सस्ता यौगिक नमक ही है। समुद्रों और अनेकों झीलों के अतिरिक्त धरती में भी नमक की चट्टानों के स्तर पाये जाते हैं, और बहुधा वह मिट्टी में मिला हुआ भी पाया जाता है। हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस ज्वालामुखी पर्वतों से निकलती हुई गैसों मे बहुधा रहती है, और न्यूनांशों में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड पेट के पाचक रस (gastric juice) मे भी रहती है। उसकी कमी को पूरा करने के लिए ही हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की कुछ बूँदे पानी मे घोलकर औषध रूप मे रोगी को दी जाती है। क्लोरीन के अत्यधिक संयोगशील होने के कारण प्रकृति में उसका स्वतंत्र अस्तित्व सभव नहीं होता।

क्लोरीन मनुष्य के लिए बहुत ही उपयोगी वस्तु सिद्ध हुई है। क्या आपने कभी सोचा है कि मिलों से निकले हुए दुग्ध-श्वेत कागज अथवा कपड़े किस प्रकार इतने साफ कर दिए जाते हैं? क्लोरीन के ही उपयोग से। नगरों मे पीने का पानी प्रायः क्लोरीन द्वारा ही स्वच्छ और शुद्ध करके नलों मे भेजा जाता है। ओजोन आदि से सस्ती होने के कारण वनस्पति रंग और कीटाणुओं की सबसे महत्वपूर्ण नाशक क्लोरीन ही है। सुवर्ण, ब्रोमीन, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, 'ब्लीचिंग पाउडर', क्लोराइड और क्लोरेट लवण, क्लोर-बेन्जीन, क्लोरल, विषाक्त गैसों तथा अनेक अन्य उपयोगी पदार्थों के निर्माण में क्लोरीन काम में लाई जाती है। प्रयोगशाला में भी उसका उपयोग होता रहता है, और कीटाणु-नाशक होने के कारण औषध-रूप में भी उसका व्यवहार होता है। क्लोरीन के विषाक्त होने के कारण इसका उपयोग विगत महायुद्ध मे बहुत हुआ था, और सभव है इस महायुद्ध मे भी हो।

रसायनशाला में क्लोरीन तैयार करने के लिए बहुधा नमक के तेजाब पर मैङ्गनीज डाइऑक्साइड की प्रक्रिया का उपयोग होता है। इस विधि का प्रबंध यही अगले पृष्ठ के चित्र मे दिखाया गया है। गर्म करने से कुछ हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस भी क्लोरीन मे मिल जाती है, अतएव गैस को थोड़े से पानी मे बुलबुला लेते हैं जिससे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस उसमे घुलकर पृथक् हो जाती है। फिर इसे सान्द्र सल्फ्यूरिक ऐसिड द्वारा शुष्क करके जारों में भर लेते हैं। क्लोरीन हवा से लगभग ढाई गुनी भारी होती है, अतएव वह हवा को ऊपर हटाकर इकट्ठी हो जाती है। यदि आप इस विधि से नमक से ही क्लोरीन बनाना चाहें तो फ्लास्क मे नमक (५० ग्राम), मैङ्गनीज डाइऑक्साइड (२५ ग्राम) और सान्द्र सल्फ्यूरिक ऐसिड के मिश्रण को गर्म कर लीजिए।

प्रयोगशाला की दूसरी विधि मे मैङ्गनीज डाइऑक्साइड के स्थान पर पोटैशियम परमैङ्गनेट का उपयोग होता है। पोटैशियम परमैङ्गनेट मैङ्गनीज डाइऑक्साइड से मँहगा अवश्य होता है, किंतु यह विधि को अत्यत सरल बना देता है। इसमें गर्म करने की आवश्यकता नहीं पड़ती (चित्र देखिए)। क्लोरीन पानी में काफी घुलती है, किंतु नमक के घोल मे उसकी घुलनशीलता कम हो जाती है। अतएव वह नमक के घोल के ऊपर भी इकट्ठी की जा सकती है।

व्यापारिक परिमाणों मे क्लोरीन का उत्पादन पहले

वेल्डन और डेकन की रासायनिक विधियों से ही होता था। वेल्डन की विधि मे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड पर मैङ्गनीज डाइऑक्साइड की प्रक्रिया द्वारा क्लोरीन तैयार की जाती थी और डेकन की विधि मे ताम्रिक क्लोराइड के उत्प्रेरक प्रभाव मे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस के हवा द्वारा ऑक्सीकरण से क्लोरीन का उत्पादन होता था। बिजली का प्रचार होने पर क्लोरीन की तैयारी सीधे नमक से ही होने लगी, और इन विधियों में न केवल क्लोरीन ही किंतु साबुन बनाने का कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन भी साथ-ही-साथ बनने लगे। नमक जैसी सस्ती वस्तु के उपयोग और 'एक पंथ और तीन काज' के कारण इन तीनों वस्तुओं का निर्माण इन विद्युत्-विधियों द्वारा सस्ते मे होने लगा। अतएव पुरानी विधियों का महत्व घट गया और आजकल तो उनका उपयोग बहुत ही कम हो गया है।

बिजली की दो मुख्य विधियाँ यहाँ चित्रों में प्रदर्शित हैं। इन दोनों ही विधियों मे नमक के घोल, जिसे अंग्रेज़ी मे 'ब्राइन' कहते हैं, का उपयोग होता है। घोल मे, अन्य घुलनशील लवणों की भाँति, नमक भी दो विद्युदाविष्ट भागों में टूट जाता है। इन भागो को 'आयन' कहते हैं। लवण का धातव भाग सदैव धन विद्युत् से और दूसरा भाग ऋण विद्युत् से आविष्ट हो जाता है। अतएव नमक सोडियम के धनविद्युत् से आविष्ट और क्लोरीन के ऋण-विद्युत् से आविष्ट कणों मे विभाजित हो जाता है। जब इन कणों पर बिजली का प्रभाव डाला जाता है तो सिद्धातानुसार सोडियम के धन कण 'कैथोड' (ऋण द्वार) के ऋण विद्युत् द्वारा और क्लोरीन के ऋण कण 'ऐनोड' (धन द्वार) के धन विद्युत् द्वारा खिंचकर उधर ही चल पड़ते हैं। कैथोड अथवा ऐनोड पर पहुँचते ही इन कणों की बिजली का विरुद्ध बिजली द्वारा विसर्जन हो जाता है, और वे साधारण परमाणुओं के रूप मे आ जाते हैं। क्लोरीन
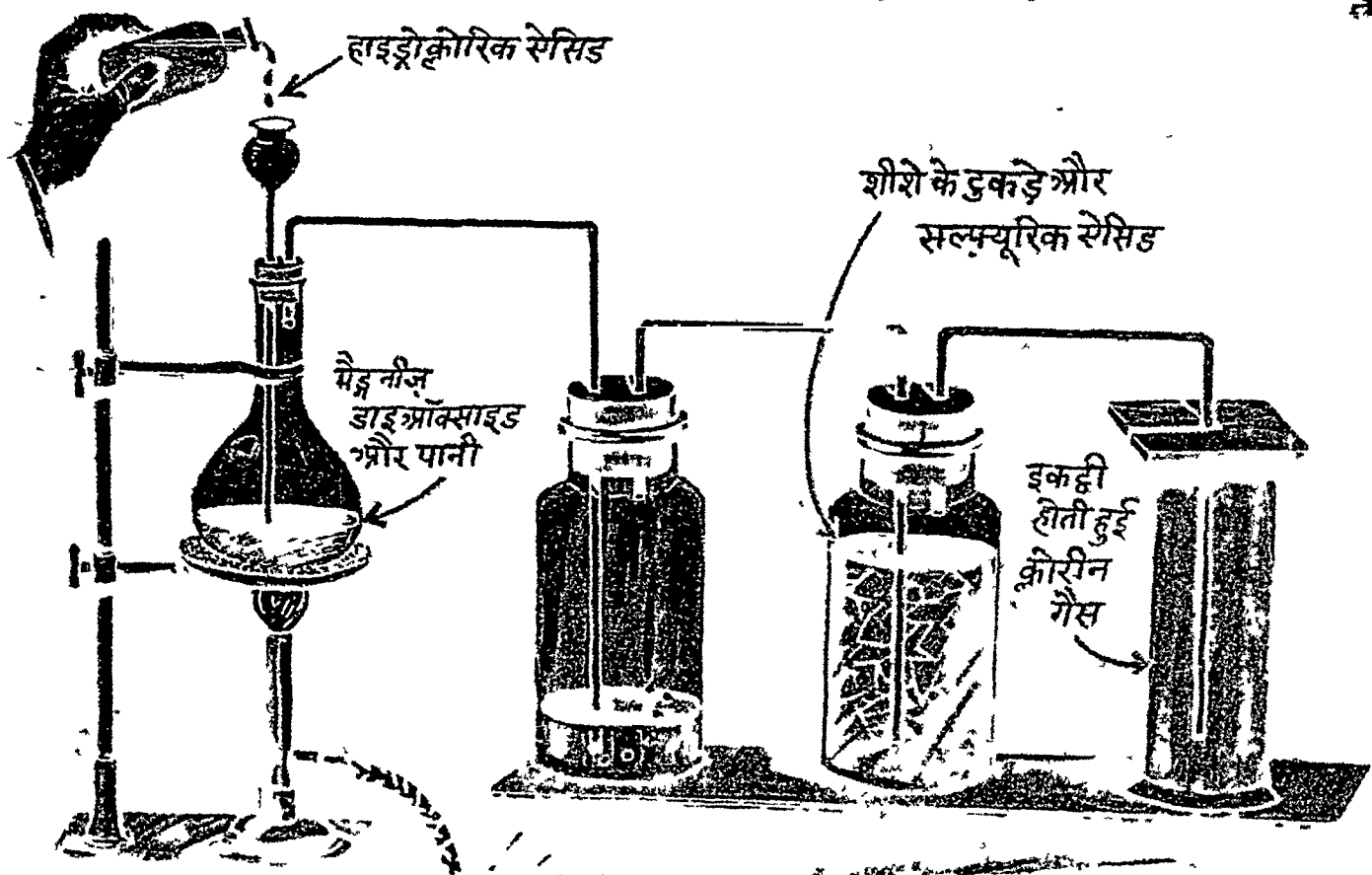
प्रयोगशाला मे क्लोरीन गैस बनाने की साधारण विधि

फ्लास्क मे पहले मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड पानी के पर्याप्त परिमाण के साथ हिलाकर मिला लिया जाता है, जिससे वह पेंदे पर जमा न रहे। ऐसा न करने पर फ्लास्क बहुधा चटक जाता है। सांद्र हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड छोड़कर मिश्रण बालुका-कुंडी पर गर्म किया जाता है, और क्लोरीन शुद्ध और शुष्क करके इकट्ठा कर ली जाती है। इसके विषाक्त होने के कारण इसे खुले स्थान अथवा हवादार कमरे अथवा धूम-कोष्ठ में तैयार करना चाहिए।

के परमाणु तो अणुओं के रूप (Cl_2) मे होकर निकल जाते हैं, किन्तु सोडियम पानी के संसर्ग के कारण तुरत कास्टिक सोडा मे बदल जाता है और इस क्रिया मे बनी हुई हाइड्रोजन एक दूसरे मार्ग से निकल जाती है। पहली विधि मे लोहे के टैङ्क मे स्थित बिजली के कोठे का नेल्सन का कोठ और दूसरी मे उसे कैस्टनर-केल्नर का कोठ कहते हैं। दोनो ही विधियो मे क्लोरीन ऐनोडो पर मुक्त होकर ऊपर इकट्ठी हो जाती है और वहाँ से नली द्वारा बाहर निकालकर बाहर भेजने के लिए इस्पात के बलनों मे शीत और दबाव के प्रभाव से द्रवीभूत करके भर ली जाती है। सोडियम ऐस्बस्टस के रन्ध्रों से होकर इस्पात की जाली तक पहुँचता है, और वहाँ पानी की क्रिया द्वारा कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन का उत्पादन होने लगता है। हाइड्रोजन ऊपर से बाहर निकल जाती है, और कास्टिक सोडा का घोल नीचे एक लंबे तसले मे इकट्ठा हो जाता है, जहाँ से वह निकाल लिया जाता है।

कैस्टनर और केल्नर की विधि में लोहे का टैङ्क तीन खानों मे बँटा होता है (१६५१ पृष्ठ का चित्र)। टैङ्क एक ओर नीचे बँधा रहता है, किन्तु दूसरी ओर उसके नीचे एक ऐसा पहिया घूमता रहता है, जिसमें धुरी केन्द्र से हटकर लगी होती है। घूमने से टैङ्क ऊपर-नीचे झूलता है और पेंदे पर भरी पारे की एक तह को एक कोठे से दूसरे कोठे में सरकाया करता है। इधर-उधर के कोठों मे नमक के घोल से क्लोरीन ऐनोडों पर मुक्त होकर बाहर निकल जाती है और सोडियम पारे के कैथोड पर विसर्जित होकर उसी मे घुल जाता है। यह सोडियम-पारद मिश्रण टैङ्क के झूलने के कारण खिसककर बीच के खाने में पहुँचता है और वहाँ पानी की क्रिया द्वारा कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन का उत्पादन होने लगता है। पारे की तह बाहरी खानों में कैथोड और बीच के खाने मे ऐनोड का काम करती है। बीच के खाने मे लोहे के कैथोड और पारे के ऐनोड के प्रभाव से कास्टिक सोडा के घोल का भी विद्युत् विश्लेषण होने लगता है। कास्टिक सोडा का रासायनिक नाम सोडियम हाइड्रोजन और अणु-सूत्र NaOH है। वह बिजली के प्रभाव से सोडियम के धन कणों और हाइड्रॉक्साइड (OH) के ऋण कणों में पृथक् होने लगता है। सोडियम के कण लोहे की छड़ों पर पहुँचकर कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन का उत्पादन करने लगते हैं और OH कण पारद-सोडियम मिश्रण पर विसर्जित होकर सोडियम से संयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार लोहे और पारे दोनों ही पर कास्टिक सोडा बनकर पानी में घुलता रहता है। पर्याप्त सीमा तक सान्द्र हो जाने पर कास्टिक सोडा का घोल निकालते और पानी भरते रहते हैं।

प्रयोगशाला मे क्लोरीन तैयार करने की सरलतम विधि

फ्लास्क में रक्खे हुए पोटैशियम परमैङ्गनेट पर थोड़ी-थोड़ी प्रबल हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड छोड़ते जाइए। क्लोरीन गैस की धारा तेज़ी से लगातार निकलती रहेगी।

साधारण अवस्थाओं में पानी के एक आयतन में क्लोरीन के दो आयतन घुल जाते हैं, और एक हलका पीला घोल तैयार हो जाता है, जिसे 'क्लोरीन-वाटर' कहते हैं। क्लोरीन-वाटर में कीटाणुओं और रंग को नष्ट करने का गुण होता है। अतएव औषध अथवा रंगनाशक के रूप में उसका व्यवहार होता है। मोतीझाला आदि रोगों में उसका उपयोग हुआ करता है। यदि आपके कपड़े पर

नमक से बिजली द्वारा कास्टिक सोडा, क्लोरीन और हाइड्रोजन का एक साथ निर्माण
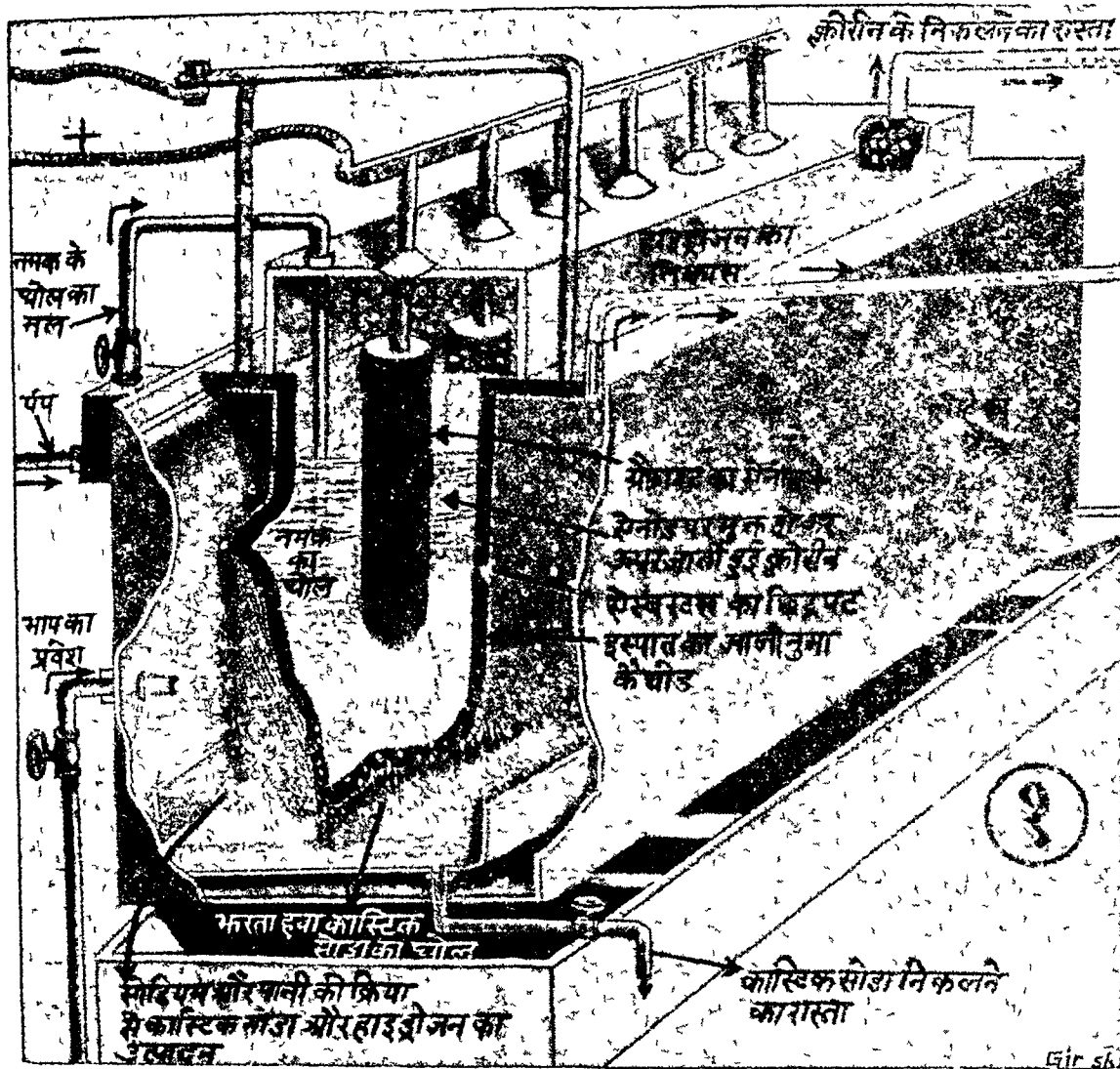
नेल्सन की विधि

लोहे के एक टैङ्क में स्थित भीतर की ओर रंध्रमय ऐस्बस्टस से मढा हुआ ईस्पात की की जाली के एक चूल्हाकार हौज़ मे नमक का घोल भरा रहता है। ईस्पातकी जाली कैथोड और नमक के घोल में डूबे हुए ग्रैफ़ाइट के छड ऐनोड का काम करते है। कास्टिक सोडा नीचे एक लंबे तसले में इकट्ठा होता है, जहाँ से वह नल द्वारा निकाल लिया जाता है। हाइड्रोजन और क्लोरीन ऊपर से नलों द्वारा निकाल ली जाती हैं। नमक के घोल की कमी नल द्वारा आते हुए घोल से पूरी होती रहती है।
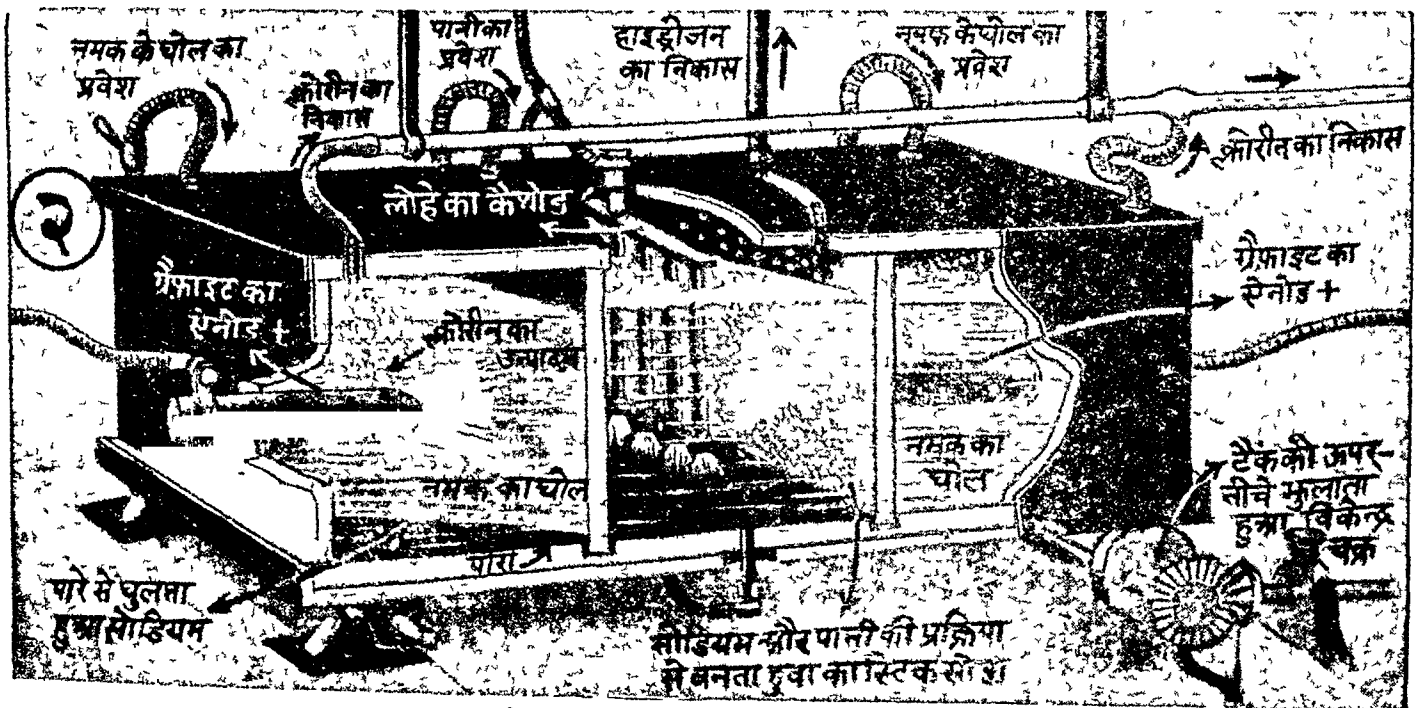
कैस्टनर और केलनर की विधि

एक लोहे का टैङ्क स्लेट की रंध्रहीन दीवालों द्वारा तीन ख़ानों में बँटा रहता है। इन दीवालों और पेंदे के बीच में थोडी-सी जगह छुटी रहती है जिसमे होकर पारे की एक तह एक खाने से दूसरे मे जा सकती है। ग्रैफ़ाइट के ऐनोड और नमक का घोल इधर-उधर के तथा लोहे की छडों का कैथोड और पानी बीच के ख़ाने में रहते हैं। क्लोरीन गैस इधर-उधर के खानों में और कास्टिक सोडा तथा हाइड्रोजन बीच के ख़ाने मे बनते रहते हैं।

किसी कार्बनिक रंग का धब्बा पड़ गया है तो उसे पहले साबुन से धो डालिए, फिर रुई की एक फुरहरी द्वारा क्लोरीन-वाटर उस पर लगाइए। उसका रंग सदा के लिए उड़ जायगा। क्लोरीनवाटर में कोई रंगीन फूल अथवा कपड़ा डाल कर देखिए। कुछ ही मिनटों में वह सफेद हो जायगा। यदि आप क्लोरीन गैस द्वारा ही रंग उड़ाना चाहते हों तो उसमें रंगीन वस्तु को भिगोकर डालिए, नहीं तो रंग न उड़ेगा। वास्तव में रंगनाशक क्लोरीन नहीं, बल्कि क्लोरीन और पानी का मिश्रण ही होता है। इन दोनों की रासायनिक क्रिया द्वारा उत्पन्न नवजात ऑक्सिजन ही रंग को ऑक्सीकरण द्वारा नष्ट कर देती है। देखिए न—

$$H_2O + Cl_2 = 2HCl + O$$

पानी + क्लोरीन = हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड + नवजात ऑक्सिजन
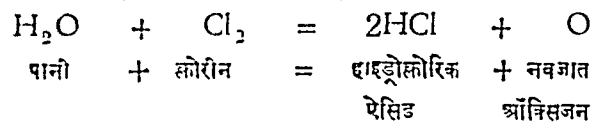
क्षारों पर क्लोरीन की क्रिया बड़ी ही महत्वपूर्ण होती है। कास्टिक सोडा, कास्टिक पोटाश और बुझे चूने के गर्म घोल में क्लोरीन बुलबुलाने से क्लोरेट नामक लवण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार कास्टिक पोटाश से पोटैशियम क्लोरेट नामक महत्वपूर्ण लवण बनाया जाता है। दियासलाई, आतशबाजी के मसाले और विस्फोटकों को बनाने, और रसायनशाला में ऑक्सिजन तैयार करने, आदि में इसका उपयोग होता है। गले की खराबी दूर करने के लिए गरारा करने की दवाइयों में भी यह पड़ता है। इन्हीं क्षारों के ठंडे घोल में क्लोरीन प्रवाहित करने से हाइपोक्लोराइट नामक यौगिक बनते हैं। ठंडे कास्टिक सोडा पर क्लोरीन की क्रिया से सोडियम हाइपोक्लोराइट (NaOCl) उत्पन्न हो जाता है। इसका घोल भी रंगनाशक होता है और इसका कपड़ों के कारखानों में बहुत उपयोग होता है। सूखे बुझे चूने पर क्लोरीन की क्रिया द्वारा 'ब्लीचिंग पाउडर' (रंगनाशक चूर्ण) नामक सस्ता और उपयोगी पदार्थ तैयार होता है। कपड़ों और कागज की मिलों में अधिकतर यही चूर्ण काम में लाया जाता है। जिस किसी मैली वस्तु को बिलकुल सफेद और साफ कर देना होता है उसे 'ब्लीचिंग पाउडर' ($CaOCl_2$) के घोल में पहले डुबाते हैं। फिर उसे बहुत ही हलके गंधक अथवा नमक के तेजाब में डुबाते हैं। तेजाब की क्रिया से ब्लीचिंग पाउडर से क्लोरीन का उत्पादन हो जाता है और यह क्लोरीन पानी के साथ नवजात आक्सिजन को मुक्त करके कपड़े के मैल का नाश कर देती है। रेशों में बची हुई क्लोरीन के रह जाने से वे कमजोर हो जाते हैं, अतएव इस क्लोरीन का नाश सोडियम थाइ-सल्फेट अथवा 'हाइपो' के घोल द्वारा कर दिया जाता है। अंत में यह क्लोरीननाशक भी पानी से अच्छी तरह धोकर निकाल दिया जाता है। क्लोरोफॉर्म का निर्माण भी ब्लीचिंग पाउडर के ही उपयोग से होता है। अभी दो वर्ष पहले युद्ध के छिड़ने पर भारतवर्ष में बाहर से क्लोरीन के सिलिंडरों का आना कम हो गया। इसलिए हमारे देश के अनेक शहरों की म्यूनिसिपैलिटियों के सामने एक समस्या खड़ी हो गई। बहुतों ने तो जनता को यह सूचना दे दी कि उनके लिए पानी को शुद्ध करके भेजना असंभव है, अतएव जो लोग मोतीझाला (टाइफायड) आदि रोगों से अपने को पूर्णतः सुरक्षित रखना चाहें वे नल का पानी उबाल कर पिएँ। हमारे देश में न नमक की कमी है और न गंधक के तेजाब अथवा मैङ्गनीज डाइ-ऑक्साइड की ही। हिमालय की कृपा से बिजली भी कौड़ियों के दामों उत्पन्न की जा सकती है, फिर भी हमारे लिए इतना असहाय हो जाना वास्तव में शोचनीय है।

आक्सिजन की भाँति क्लोरीन से भी प्रायः सभी तत्व संयुक्त होकर क्लोराइड नामक यौगिकों में परिवर्तित हो जाते हैं। हाइड्रोजन क्लोरीन में अथवा क्लोरीन हाइड्रोजन में जलकर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस का उत्पादन करती है। हाइड्रोजन और क्लोरीन का मिश्रण धूप में अथवा मैग्नेशियम आदि के तेज प्रकाश में ही रखने से विस्फुटित होकर हाइड्रोजन क्लोराइड गैस में बदल जाता है। फास्फोरस भी क्लोरीन में अपने आप ही पिघलकर जल उठता है। इसी प्रकार यदि सोडियम अथवा ताँबे का एक पत्तर गर्म करके क्लोरीन में डाला जाता है तो जलने लगता है। ऐंटिमनी अथवा आर्सेनिक धातु का चूर्ण क्लोरीन के जार में छिटकाने से अपने आप ही जलने लगता है। लोहा, अलुमीनियम, जस्ता आदि अनेकों धातु जब क्लोरीन की धारा में गर्म किये जाते हैं तो उससे संयुक्त होकर क्लोराइडों में बदल जाते हैं। अनेक क्लोराइड लवण इसी प्रकार बनाए जाते हैं।

हाइड्रोजन और कार्बन के यौगिक यथा मोम, तारपीन का तेल आदि भी क्लोरीन में जलकर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस उत्पन्न करते और कार्बन काले धुएँ के रूप में निकालते हैं। इसे देखने के लिए जलती हुई मोमबत्ती को दीप-चमची द्वारा क्लोरीन के जार में डालिए। छन्ना कागज अथवा रुई को गर्म तारपीन के तेल में भिगोकर क्लोरीन के जार में डालने से वह जल उठता है।

पृथ्वी की कहानी

(ऊपर) जहाँ-जहाँ भी जलमंडल और स्थलमंडल की सीमाएँ मिलती हैं वहाँ हम उन्हें एक दूसरे के साथ सघर्ष कर अपना-अपना साम्राज्य विस्तार करने में निरतर प्रयत्नशील देखते हैं। उधर उन्मत्त सागर अपनी उत्ताल तरंगों द्वारा तट की भूमि पर आक्रमण कर उसे काटते छाँटते हुए अधिकाधिक स्थल में घुसने की कोशिश करता रहता है, इधर भूमि चट्टानों की चूरचार और नदियों द्वारा बहाकर लाई हुई मिट्टी से सागर को पाटने का अनवरत प्रयास करती रहती है। (नीचे) सागर के प्रचण्ड प्रहार से धरती को बचाने के लिए कहीं-कहीं मनुष्य को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा है। इस चित्र में हालैण्ड देश में लट्ठों और पत्थरों द्वारा निर्मित किए गए उन विशाल बाँधों में से एक का दृश्य है, जिनके द्वारा तटवर्त्ती नीची भूमि को समुद्र के आक्रमण से बचाने का प्रबध वहाँ के निवासियों ने किया है।

सागर द्वारा स्थल का क्षय

जलमण्डल के बाहर जितना भी सूखा प्रदेश है, उस पर सागर का आक्रमण निरन्तर और विविध रूपों में होता रहता है। आक्रमण के रूप विभिन्न होते हुए भी उनका ध्येय यही रहता है कि या तो स्थलमण्डल को किसी प्रकार डुबाकर जलमण्डल के अन्तर्गत कर दिया जाय और यदि यह सम्भव न हो सके तो स्थलमण्डल पर प्रति क्षण इस प्रकार भीषण प्रहार किया जाय कि वह कण-कण में बिखर जाय और बिखरे हुए कण जलमण्डल के भीतर समा जायँ। आइए, देखें सागर का आक्रमण किस प्रकार होता है और उसके प्रहार का क्या प्रभाव पड़ता है।

सागर का क्षयात्मक कार्य सागर-तट की भूमि तक ही सीमित रहता है। ज्वार के सर्वोच्च स्थान से भी अधिक ऊँचाई तक सागर के आक्रमण का विस्तार रहता है। सागर के आक्रमण के फलस्वरूप सागर-तट की रेखा क्रमशः स्थल की ओर बढ़ती जाती है। स्थल की ओर बढ़ने की गति विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर रहती है। बलुई नीची भूमि शीघ्र ही सागर के अधीन हो जाती है। ऊँचे कठोर शिलाखण्डों वाले कगार धीरे-धीरे नष्ट हो पाते हैं। इस प्रकार के तट की भूमि की विध्वस की गति सागर की तरंगों और हिलोरों की शक्ति पर निर्भर रहती है। वायु द्वारा उत्पन्न सागर की तरगें निरन्तर तट की भूमि से टकराती रहती हैं, परन्तु विभिन्न स्थानों और विभिन्न समयों पर उनकी शक्ति मे अन्तर रहता है। स्काटिश लाइट हाउस बोर्ड के मतानुसार अटलांटिक तट की तरंगों का दबाव औसत ग्रीष्म ऋतु के पाँच महीनों में ६११ पौंड प्रति वर्ग फुट रहता है। यही शक्ति शीतकाल के ६ महीनों में २०८६ पौंड हो जाती है। सबसे अधिक ज़ोर ६०८३ पौंड प्रति वर्ग फुट नापा गया है। पूर्वी तट पर जल का प्रहार ६००० पौंड से भी अधिक शक्तिशाली होता है। इतनी शक्तिशाली तरगों की चोटों का प्रभाव भी बड़ा अद्भुत होता है। १८३६ ई० मे एक भीषण आँधी के वेग से उठनेवाली तरगों ने फ्रास के तट पर २० फीट ऊँची दीवाल के ऊपर से ३½ टन भारवाले पत्थर बहा दिए थे। इसी प्रकार हालीहेड नामक बन्दरगाह के सामने हिलोरें रोकनेवाली दीवाल मे लगे हुए बड़े भारी-भारी पत्थर आँधी के वेग से उठनेवाली तरगों ने बात-की-बात मे इधर-उधर छितरा दिए। इस प्रकार की असख्य दुर्घटनाओं की सूची इतनी लम्बी है कि समाप्त ही होने को

ऑस्ट्रेलिया के तट के समीप समुद्र द्वारा कोरी गई एक पहाड़ी चट्टान का दृश्य। किसी समय यह भाग मुख्य तट से जुड़ा था, किंतु समुद्र ने उसे काटकर अलग कर दिया है।

समुद्र द्वारा स्थल के क्षय का एक और उदाहरण
ये अजीब शक्ल की चट्टानें समुद्र की लहरों के थपेडे खा-खाकर ही ऐसी बन गई हैं।

एक बार तूफान से उत्पन्न लहरों ने एक प्रकाश-स्तम्भ से १४ टन के भारवाले पत्थर तोड़कर बहा दिए और सो भी उस स्थान से जो ज्वार के सर्वोच्च स्थान से ३७ फीट अधिक ऊँचा था। इसी प्रकार इँगलिश चैनेल के बिशप की चट्टानवाले प्रकाश-स्तम्भ से ३२५ पौंड का घंटा सागर के जल से १०० फीट ऊँचे स्थान से लहरों द्वारा तोड़कर बहा दिया गया था।

नहीं आएगी। स्थानाभाव से हम यहाँ पर केवल एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन करेंगे। यह दुर्घटना स्काटलेंड के उत्तरी-पूर्वीय छोर के विक नामक स्थान पर घटी थी। सागर के जल के थपेड़ों से रक्षा करने के लिए बन्दरगाह के सामने कंकरीट का एक विशाल स्तूप सा बनाया गया था। इस स्तूप को स्थिर रखने के लिए बड़े भारी-भारी शिला-खण्डों को साढे तीन इंच मोटी लोहे की छड़ों से बाँधकर लंगर डाला गया था। १८७२ ई० के दिसम्बर मास में कंकरीट का यह विशाल पिंड, जिसका भार १३५० टन से अधिक था, सागर की लहरों द्वारा फल की भाँति उठाकर फेंक दिया गया। उसके स्थान पर उससे भी अधिक भारी २६०० टन का पिंड रक्खा गया, परन्तु यह भी १८७७ ई० के एक तूफ़ान की लहरों द्वारा बहा दिया गया।

भीषण तूफ़ान के दिनों में समुद्र की लहरों में जिस दैवी शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसके वेग को रोकने की सामर्थ्य विरली ही वस्तुओं में होती है। इन लहरों की पहुँच ज्वार की सर्वोच्च जलरेखा से भी परे तक होना साधारण-सी बात है। स्काटलैंड के पश्चिमी तट पर

लहरों के विध्वंस-कार्य में सबसे अधिक सहायता चट्टानों में पाई जानेवाली दरारों और जोड़ों से मिलती है। चट्टानों की इन दरारों तथा जोड़ों में जल या वायु भरी रहती है। तूफ़ान के साथ उठनेवाली लहरें जब तटवर्तीय चट्टानों से टकराती हैं तब उनकी दरारों में भरी वायु तथा जल दोनों ही संकुचित हो जाते हैं। जिस प्रकार लकड़ी चीरने में फन्नी काम करती है उसी प्रकार चट्टानों की दरारों में यह संकुचित वायु चट्टानों को छिन्न-छिन्न करने में उपयोगी होती है। लहरों के वेग से आने से अत्यधिक भार के कारण दरारों की वायु दबकर बहुत संकुचित हो जाती है। जैसे लहरें हटती हैं, दबी हुई वायु को स्वतन्त्रता मिल जाती है और वह एकदम फूल जाती है। वायु के एकदम फूल जाने से जो विकट शक्ति उत्पन्न होती है वह भयंकर विस्फोटक के समान चट्टानों को चूर-चूर कर देने के लिए पर्याप्त है।

किसी प्रदेश का सागरतटवर्ती स्थल कितनी शीघ्रता से नष्ट हो सकता है यह किनारे की चट्टानों की कठोरता पर निर्भर है। इसके साथ ही यह बात भी अत्यन्त महत्व रखती है कि चट्टानों के पर्त (यदि चट्टानें पर्तीली हैं) खड़े हैं या आड़े-तिर्छे। चट्टानों के पर्तों की बनावट का

प्रभाव केवल स्थल तट के क्षय होने की गति पर प्रभाव डालता है उसको क्षय होने से बचाने मे नहीं। सागर की लहरों की चोट से विनाश तो होता ही रहता है। अन्तर पड़ता है केवल शीघ्रता या देरी होने में।

जिस प्रकार नदी की प्रक्रिया उसके जल के साथ बहनेवाले रोड़ों-पत्थरों और बालू-ककड़ो आदि के घर्षण से होती है उसी प्रकार सागर की लहरों के साथ आनेवाले पत्थर-रोड़े आदि भी किनारों की चट्टानों पर आघात करने में बड़ी सहायता पहुँचाते हैं। इनका काम वैसा ही होता है जैसे तोपों के गोलों की मार का क़िलों की दीवालों को नष्ट करने मे।

लहरों के आक्रमण का आघात सबसे अधिक आधारवाली शिलाओं पर होता है। इस आघात के कारण चट्टानों के आधार के अश शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और ऊपर का भाग धीरे-धीरे आगे बढ़कर लटकने-सा लगता है जो कालान्तर मे अपने ही भार के कारण विखण्डित होकर गिर जाता है। ऊँची-ऊँची चट्टानोंवाले कगारों पर लहरो की मार से कभी-कभी चट्टानो के निचले भाग एकदम खोखले हो जाते हैं और एक प्रकार की गुफाओं की रचना हो जाती है। लहरो का जल आकर इन गुफाओं मे बड़े वेग से भर जाता है, जिससे गुफा की वायु दबकर जिस ओर भी मार्ग मिलता है उस ओर से निकल भागने की कोशिश करती है। यदि चट्टानों में कोई दरार पड़ जाती है, तो उसी मार्ग से दबी हुई वायु बड़े वेग से बाहर निकल जाने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार की दरार जल के दबाव से कभी-कभी बहुत अधिक बढ़ जाती है और वायु के साथ-साथ जल भी बड़ी तेज़ी से दरार के बाहर निकलने लगता है। दरार से निकलता हुआ जल बड़े भारी फव्वारे के रूप मे बहता है। धीरे-धीरे फव्वारे का मुख चौड़ा हो जाता है और उसके चारो ओर की चट्टानों के खण्ड टूटकर गिरने से उसको बहुत अधिक विस्तृत हो जाने का अवसर मिल जाता है। फल यह होता है कि एक दिन सागर से स्थल की ओर आर-पार एक सुरग तैयार हो जाती है, जिस पर चट्टानों के अव-

ऑस्ट्रेलिया की एक तटवर्त्ती आखात में ज्वार-भाटे की क्रिया द्वारा क्षत-विक्षत चट्टानों का एक दृश्य

शिष्ट चट्टान का प्राकृतिक पुल लटका रहता है। कहीं-कहीं सागरतटवर्त्तीय चट्टानों में इस प्रकार से बनी सुरगें आध मील से एक मील तक की लम्बाई की पाई जाती हैं।

सागर की तट-रेखा अधिकाश वक्र होती है। परन्तु जैसे-जैसे चट्टानों का अस्तित्व मिटता जाता है और तट-वर्त्तीय स्थल सपाट होता जाता है, तट की रेखा भी सीधी होती जाती है।

सागर की लहरों के क्षयात्मक कार्य मे चट्टानों की बनावट के साथ-ही-साथ लहरों के आक्रमण की दिशा भी अपना प्रभाव डालती है। तट पर चोट करनेवाली लहरें जब एक कोने से आकर टकराती हैं तब उनकी चोट उतना असर नहीं करती, जितना सीधे समकोण पर आनेवाली लहरें।

सागर-तट की चट्टानों के क्षय हो जाने से तट की रेखा पीछे हट जाती है। परन्तु सागर के जल मे कहीं-कहीं पुरानी तट-रेखा के कठोर अश पिरामिडनुमा टीलों के रूप में रह जाते हैं, जो पुराने तट के अस्तित्व की याद दिलाते हैं। स्कॉटलैण्ड और आयरलैण्ड के तट पर इस प्रकार के टीले विशेष रूप में देखने में आते हैं। दूर से इनको देखकर दक्षिण भारत के मन्दिरों की आकृति याद आ जाती है। परन्तु इनके स्थापत्य मे किसी मनुष्य का हाथ नहीं लगा। प्रकृति ने स्वय ही इनको अपने हाथों गढ़ा है।

कहीं-कहीं सागर की लहरों के द्वारा तटवर्त्तीय स्थल कट-पिटकर एकदम मैदान बन जाता है। इस प्रकार के मैदान बहुधा सकीर्ण होते हैं। नार्वे के पश्चिमी तट पर इसी प्रकार का ऊँचा मैदान है, जिसकी चौड़ाई लगभग २५ मील है। स्पेन के उत्तरी तट पर भी इसी प्रकार का दस मील चौड़ा मैदान है। भारत के पूर्वीय तट पर भी ऐसे मैदान की साठ मील चौड़ी पट्टी है।

सपाट और नीचे तटवर्त्तीय स्थल पर सागर का क्षयात्मक प्रभाव कम होता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के स्थल बहुधा नदियों के मुहानों पर नदियों की लायी हुई मिट्टी और बालू से बने होते हैं। परन्तु तूफान के द्वारा उठी हुई लहरों के प्रभाव से ऐसी भूमि भी नष्ट होने से नहीं बचती। हालैंड और जर्मनी की उत्तरी तटवर्त्तीय रेखा इस प्रकार के तूफानों के प्रभाव से बराबर पीछे हटती जाती, यदि उसको रोकने के उचित उपाय न किये गये होते। अमेरिका का कहीं-कहीं का बालुकामय तट कट-कटकर आज कहीं-का-कहीं पहुँच गया है।

जिस प्रकार नदियों और हिमानियों के द्वारा बहा लाये गये पत्थरों के ढोके धरातल के क्षय में सहायक होते हैं और धीरे-धीरे स्वय घिस-घिसाकर कणों में परिवर्त्तित हो जाते हैं, उसी प्रकार सागर-तट से विखण्डित हुए शिला-खण्ड लहरों द्वारा उछाले, पटके और बहाये जाकर चूर-चूर होते रहते हैं, साथ ही तट के स्थल पर चोट करते हुए उसे क्षत-विक्षत भी करते हैं। सागर-तट की चट्टानों के नीचे चूर-चार का ढेर कभी जमा नहीं हो पाता है। विशाल-से-विशाल शिलाखण्ड भी सागर की विकराल लहरों द्वारा निगल लिये जाते हैं और शीघ्र ही लहरों की गर्जन-तर्जन के साथ गेंद की भाँति उछलते हुए किनारे से आकर टकराते हैं।

विशाल शिलाखण्ड इस प्रकार के आघातों-प्रतिघातों के फलस्वरूप छोटे-छोटे खण्डों में बिखर जाते हैं और ये खण्ड धीरे-धीरे रोड़ों के रूप मे चूर हो जाते हैं। रोड़े कालान्तर में बालू और बजरी में बिखर जाते हैं। स्फटिक को छोड़कर अन्य सभी खनिज तथा स्फटिक का भी एक पर्याप्त अश पिसकर कीचड़-सा बन जाता है और बहकर गहरे जल की तह में बैठ जाता है।

इस प्रकार सागर का जल सदैव तटवर्त्तीय स्थल को अपने अधीनस्थ करने में लगा रहता है। नरम और क्षीण चट्टानों पर तो इसका प्रभाव शीघ्र पड़ता है, परन्तु कठोर-से-कठोर चट्टान भी लहरों की थपेड़ों और ककड़ पत्थर की बौछार के आगे हार मान लेती है और कालान्तर में घिस घिसकर अथवा टूट-टूटकर विनष्ट हो जाती है। सागर की लहरों की मार और उसके साथ में रोड़ों-पत्थरों की गोलियों की बौछार के निरन्तर पड़ते रहने पर भी समस्त स्थल जलमग्न क्यों नहीं हो जाता, इसका कारण यह है कि सागर की क्षयात्मक और विनष्टकारी लीला के साथ ही-साथ प्रकृति उसके प्रभाव को कम करने के उपाय भी रचती जाती है।

सागर की लहरें किनारों की चट्टानों को काट-काटकर इतना नीचा कर देती हैं कि सागर का जल उस स्थल पर बिना प्रयत्न किये ही बह सकता है, अर्थात् स्थल का तल सागर के जल तल के लगभग समतल हो जाता है। इस अवस्था पर पहुँच जाने पर तटवर्त्तीय भूमि पर लहरों का आक्रमण होना समाप्त हो जाता है और इस भूमि पर बजरी, बालू और भुरभुरी मोटे कणवाली कीच जमा हो जाती है। यह तह इसी भूमि की अन्य विविध प्रतिक्रियाओं से रक्षा करती है।

सागर की तटवर्त्तीय भूमि पर लहरों की मार-तोड़ का ध्येय यही प्रतीत होता है कि ऊँचे चट्टानों को नष्ट करके समतलीय चबूतरों के रूप के मैदान बना दिये जायँ। परन्तु इन मैदानों के बनाने मे वास्तव में सबसे अधिक कार्य वातावरण द्वारा सम्पन्न होता है। समुद्र के किनारे खड़े होकर लहरों की प्रक्रिया पर ध्यान देने से ही ज्ञात हो जाता है कि जलमण्डल किस प्रकार सदैव कार्य-व्यस्त रहता है। परन्तु उसके कार्यक्षेत्र की सीमा से परे मौसमी अवयवों की सहायता से ही क्षयात्मक कार्य होता रहता है।

समुद्र की लहरों की चढाई के फलस्वरूप चट्टानों के क्षत-विक्षत होने से जो चूर-चार बनती है उसका हटना भी आवश्यक है। यदि वह हटाई न जाय तो चट्टान के ऊपर पर्त के रूप मे जमा हो कर चट्टानों को अधिक क्षतविक्षत होने से बचाती रहे। लहरों के पीछे हटते समय यह चूरचार गहरे समुद्र की ओर बढ़ती रहती है। भाटे की लहरें भी चट्टानों की चूर-चार को किनारे से खींचकर गहरे सागर में पहुँचा देती हैं।

छिछले पानी में लहरों की प्रतिक्रिया तलहटी में जमी बालू और बजरी पर भी होती रहती है। कभी जल का रेला बालू-मिट्टी और बजरी को स्थल की ओर ले दौड़ता है, परन्तु उसी क्षण लौटनेवाली लहर इस सामग्री को समुद्र की ओर बहा ले जाती है। इस प्रकार हिलने-डुलने की प्रतिक्रिया होते रहने पर भी अधिकाश पदार्थ समुद्र की गहराई की ओर ही जाता है। मोटी बजरी और कंकड़ को समुद्र की ओर से आनेवाली लहर स्थल पर ला पटकती है। परन्तु महीन बालू और मिट्टी लौटते हुए पानी के साथ बहकर जल की ओर चली जाती है। यही कारण है कि समुद्र-तट पर अधिकाश स्थानों पर मोटे रोड़े और बजरी ही बिछी मिलती है। परन्तु जब चट्टानों की चूर-चार और छीलन इतनी प्रचुर होती है कि लौटनेवाले पानी के साथ बहकर आनेवाली सामग्री की अपेक्षा स्थल की ओर जाने-वाली सामग्री अधिक होती है तब महीन बालू भी तट की ओर आ जाती है और तट की भूमि पर बिछ जाती है।

सागर की लहरों की क्रिया-प्रतिक्रिया से तटवर्त्ती कगार में आरपार बनी हुई एक गुफा

इस प्रकार तटवर्त्तीय भूमि पर जमा होनेवाली बालू और बजरी तथा कंकड़ अस्थाई होते हैं, क्योंकि तट पर अधिक सामग्री जमा हो जाने से तट की भूमि ऊँची होने लगती है और तट के नीचे जल की गहराई अधिक हो जाती है। फलस्वरूप जल की लहरों में बहाकर लाने की शक्ति कम हो जाती है। लौटने-वाले जल की प्रतिक्रिया से तट की जमा सामग्री फिर धीरे-धीरे कट-कटकर गहरे जल मे पहुँच जाती है।

इस प्रकार धीरे-धीरे स्थाई रूप से जमा हुई चट्टानों की चूर-चार फिर समुद्र के इतने गहरे जल में जमा हो जाती है, जहाँ पर कि लहरों का प्रभाव असम्भव हो जाता है। इस स्थान पर पहुँचकर इस पदार्थ की यात्रा समाप्त हो जाती है। इस स्थान

से उसका एक प्रकार से नया जीवनचक्र आरम्भ होता है।

समुद्र-तट की रचना समुद्र की लहरों की प्रतिक्रिया के साथ-साथ छिप्पड़ के नीचे दबने या ऊपर उठाने से भी होती है। तटवर्त्ती भूमि के अचानक नीचे हो जाने से नीची भूमि पर जल का आधिपत्य हो जाता है। यदि तट की चट्टानें नरम और भुरभुरी हुई तब तो शीघ्र ही सागर के जल के वेग से तट की भूमि कट-कटकर सागर में समा जायगी। इस प्रकार सागर-तट का आकार निरन्तर बदलता रहता है। नरम चट्टाने शीघ्र ही कट-कटकर पानी के साथ बह जाती हैं, परन्तु नदियों के द्वारा बहाकर लाया हुआ पदार्थ उनके मुहानों में जमा होकर सागर को पाटता रहता है। परन्तु यदि तट की भूमि की चट्टानें कठोर और सकीर्ण घाटियोंवाली होती हैं तब उनको काटना सहज नहीं होता। नार्वे और पश्चिमी स्कॉटलैण्ड का तट इसी प्रकार धीरे-धीरे नीचा होता जाता है।

तट के समीप कहीं-कहीं भूमि ऊपर उठने लगती है। जब भूमि ऊपर उठने लगती है, समुद्र में दबा हुआ स्थल भाग जल के ऊपर निकल आता है और पुराने तट के समीप इस भूमि पर दलदल की पट्टी हो जाती है। कालान्तर में यह सकीर्ण मैदान की पट्टी के रूप मे तट की भूमि बनाती है। ऐसे मैदान समुद्र की ओर तो थोडे ढालू होते हैं और स्थल की ओर ऊँची चट्टान से घिरे रहते हैं। इन मैदानों को शीघ्र ही नदियाँ अपनी धाराओं से काट-कर बहा देती हैं अथवा इनमें इस्चुयेरी बना देती हैं।

पृथ्वी के छिप्पड़ की तोड़-मरोड़ तथा सिकुड़न से भी समुद्र-तट की बनावट मे अधिक अन्तर पड़ जाता है। इस प्रकार की घटना के फलस्वरूप समुद्र की तलहटी के कुछ अश के अचानक ऊपर उठ जाने से पर्वतों का जन्म होता है। इन पर्वतों की चोटियाँ जल के बाहर निकलकर द्वीपों के रूप में दिखाई देती हैं। पश्चिमी द्वीपसमूह तथा एशिया के पूर्वीय तट पर इसी प्रकार के द्वीप पाये जाते हैं। इस तोड़-मरोड़ के फलस्वरूप कही पर तो द्वीपों की रचना हो जाती है और कही स्थल-प्रदेश के दबने से तट की रूपरेखा बदल जाती है। यह विश्वास किया जाता है कि एशिया का पूर्वीय तट इसी प्रकार दबकर समुद्र मे चला गया है और इसी से जापान सागर की रचना हुई है। इगलैण्ड में प्रति वर्ष थोडी बहुत भूमि सागर के अतर्गत हो जाती है। इ गलैण्ड के पूर्वीय तट के सागर में अनेकों सुन्दर नगर, गाँव और बन डूबे पड़े हैं।

समुद्र की लहरो द्वारा क्षयात्मक कार्य करने की शक्ति केवल तटवर्त्तीय स्थल की चट्टानों तक ही सीमित रहती है। छिछले जलवाले प्रदेश पर भी इनका प्रभुत्व रहता है, परन्तु जल की गहराई के बढने के साथ साथ लहरों की क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। कितनी गहराई पर लहरों की क्रियाशीलता एकदम नष्ट हो जाती है, इस सम्बन्ध में सब वैज्ञानिकों की एक राय नहीं है। कुछ लोग समझते हैं कि ६००-६५० फीट की गहराई पर लहरों का असर तनिक भी नहीं होता। परन्तु ज्वार-भाटे की लहरों की शक्ति का प्रभाव इससे भी अधिक गहराई तक होता है। ये तलहटी की मिट्टी, बालू, बजरी को खरोंच और समेटकर अधिक गहराईवाले प्रदेश की ओर ले जाती हैं।

(बाईं ओर) ४० टन वज़न का एक शिला-खण्ड जो सागर की एक शक्तिशाली लहर द्वारा समुद्रतल से १६० फ़ीट ऊँचे उछालकर पहुँचा दिया गया है!
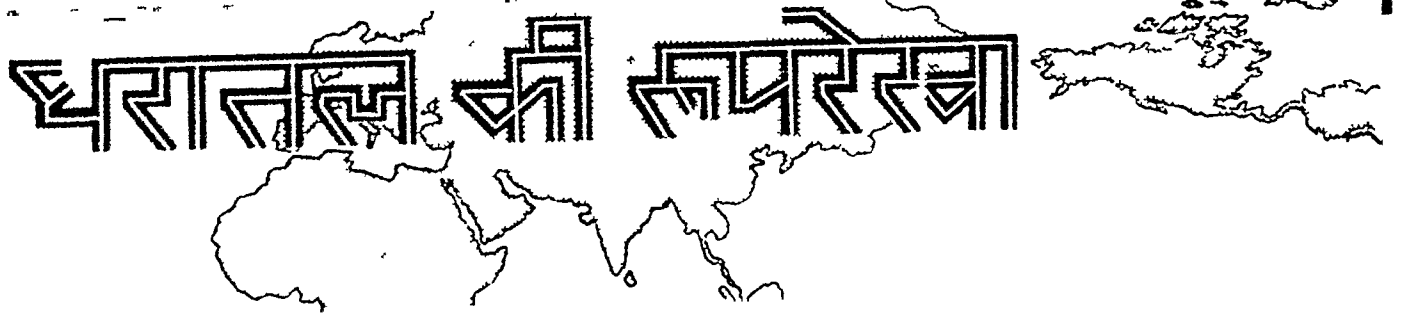
मौसम और जलवायु

१—धरातल के विभिन्न प्रदेशों की वायु के ताप-क्रम और वायु-भार का अध्ययन—पृथ्वी के ताप भाग

वायुमण्डल के विषय में हमने बताया था कि वह परिवर्त्तनशील और अस्थिर है। हल्केपन के कारण उसे इधर-उधर आने-जाने में बड़ी स्वतन्त्रता है। वायु जल और स्थल के बीच सदा घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखती है, क्योंकि वह स्थल से जल की ओर और जल से स्थल की ओर सदा आया-जाया करती है। इस बात का प्रभाव हमारे जीवन पर बहुत गहरा पड़ता है। इससे प्रत्येक स्थान की वायु बदलती रहती है। हम देखते हैं कि वायु कभी ठण्डी रहती है, कभी बहुत गरम और कभी साधारण तापक्रमवाली। कभी तेज़ी से चलती है और कभी मन्द-मन्द। कभी उत्तर की ओर से वायु के झोंके आते हैं कभी पूर्व की ओर से। कभी सूखी हवा चलती है तो कभी आर्द्र वायु। वायुमण्डल में इस प्रकार के अनेकों परिवर्त्तन प्रति क्षण होते रहते हैं परन्तु हम उन सबको जान भी नहीं पाते। केवल उन्हीं परिवर्त्तनों से हम अधिकतर परिचित हैं जिनका हमारे जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इन परिवर्त्तनों का निरीक्षण करना हमारे दैनिक जीवन का कार्यक्रम हो गया है, क्योंकि हमारे दैनिक जीवन में इनसे बहुत उलट-फेर होता रहता है।

वायुमण्डल की प्रतिक्षण बदलनेवाली दशा को हम मौसम कहते हैं। जब हम कहते हैं कि मौसम बदल गया है अथवा एक स्थान का मौसम दूसरे स्थान के मौसम से भिन्न है, तब हमारा तात्पर्य वायुमण्डल की भौतिक दशा के अन्तर से होता है। मौसम कभी भी स्थिर नहीं रहता। मौसम के विराट् परिवर्त्तनों को यद्यपि हम आँख से देखकर, कान से सुनकर तथा शरीर से छूकर जान सकते हैं तथापि सूक्ष्म परिवर्त्तनों का हाल जानने के लिए हमारे शरीर के अंग इतने दक्ष नहीं हैं। इसके लिए हमें यन्त्रों की सहायता लेनी पड़ती है। वायुमण्डल की जिस दशा का हाल यन्त्रों से ज्ञात करके हम मौसम निर्धारित करते हैं उसमें वायु की गरमी-सर्दी, भार, आर्द्रता, वेग और दिशा, तथा वर्षा का परिमाण प्रमुख हैं। हवा का भार, तापक्रम आदि प्रति घंटे बदलते रहते हैं। परन्तु उनको अलग-अलग जोड़कर दिन भर के घंटों की संख्या से भाग देने पर आनुपातिक दैनिक मौसम निकल सकता है। लेकिन जिस प्रकार किसी एक ही दिन का कोई घंटा अधिक ठण्डा और कोई अधिक गरम होता है उसी प्रकार महीने में कुछ दिन विशेष ठण्डे और कुछ दिन विशेष गरम होते हैं। महीने भर के मौसम को देखकर आनुपातिक मासिक मौसम निकाला जा सकता है। इसी प्रकार महीनों के मौसम को देखकर आनुपातिक वार्षिक मौसम निकाला जा सकता है। कई वर्षों के मौसमों के आनुपातिक मौसम के हाल को उस स्थान की जलवायु कहा जाता है। इस प्रकार किसी स्थान के वायुमण्डल की क्षणिक अवस्था को मौसम और स्थाई अवस्था को जलवायु कहते हैं।

प्रत्येक देश में मौसम के परिवर्त्तनो के निरीक्षण के लिए वेधशालाएँ बनी हुई हैं और उनकी देखरेख के लिए एक सरकारी विभाग रहता है, जिसको मौसमी विभाग या मेटियोरोलोजी डिपार्टमेन्ट कहते हैं। हमारे देश में पूना और अलीपुर में इस प्रकार की वेधशालायें हैं। इन स्थानों से प्रतिदिन के मौसम का हाल दैनिक पत्रों में प्रकाशित कराया जाता है, जिससे पता चलता है कि विभिन्न स्थानों में कल कैसा मौसम रहा है और आज कैसा रहने की सम्भावना है। मौसम के परीक्षक मौसम के विषय में अध्ययन करते-करते इतने दक्ष हो जाते हैं कि मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी भी कर सकते हैं। इन्हीं को 'मौसम के जादूगर' कहते हैं। मौसम के परिवर्त्तन की माप के लिए लगभग प्रत्येक बड़े नगर में यन्त्र लगे रहते हैं। इन
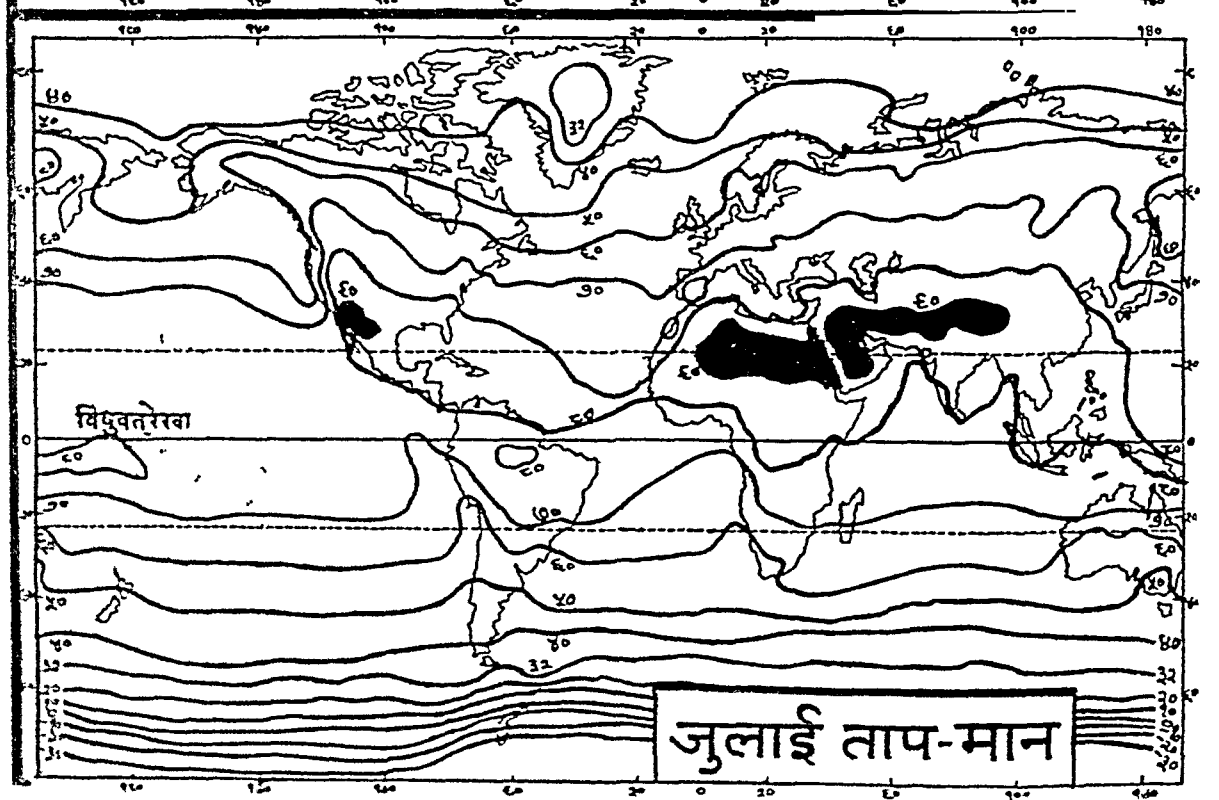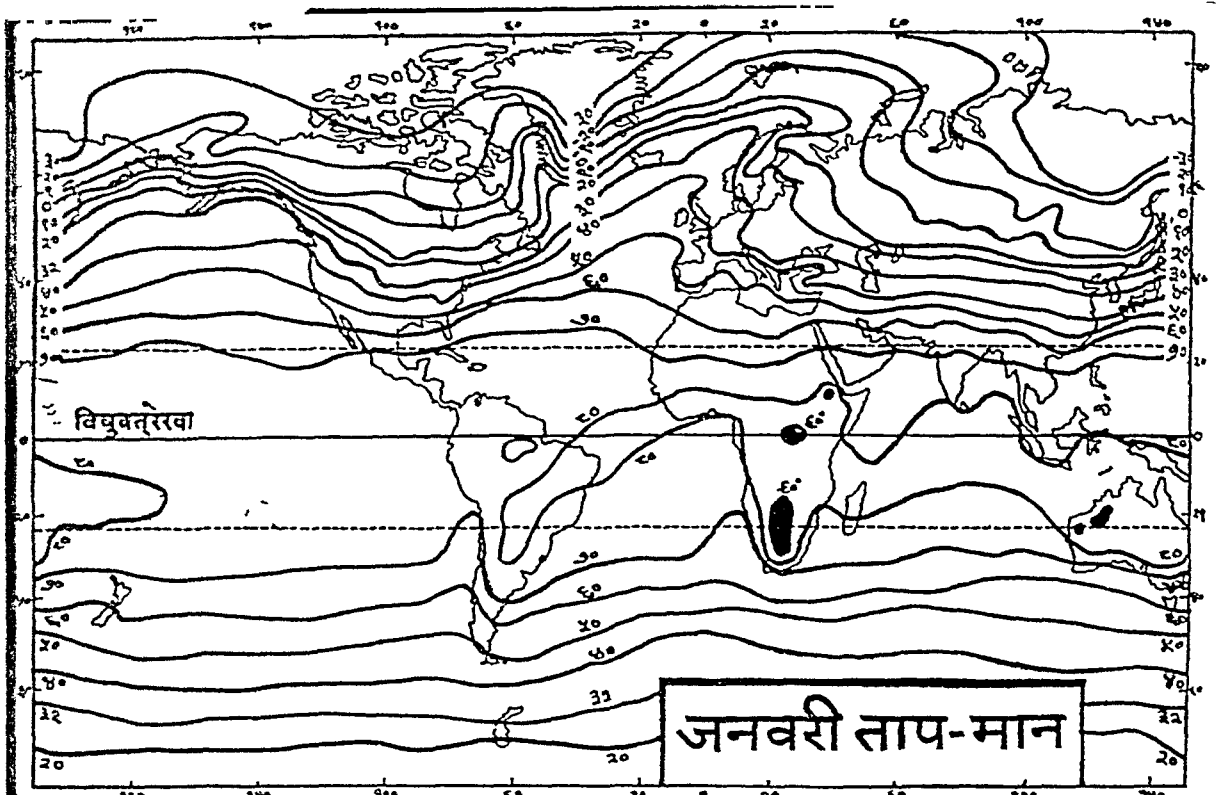
सबसे अधिक ताप के प्रदेश काले दिखाए गए हैं। आड़ी रेखाओं द्वारा विभिन्न तापमान के कटिबन्ध सूचित किए गए हैं। इन समताप रेखाओं के साथ लिखे अंक डिग्रियों में उन प्रदेशों के भिन्न-भिन्न तापमानों का निर्देश करते हैं।
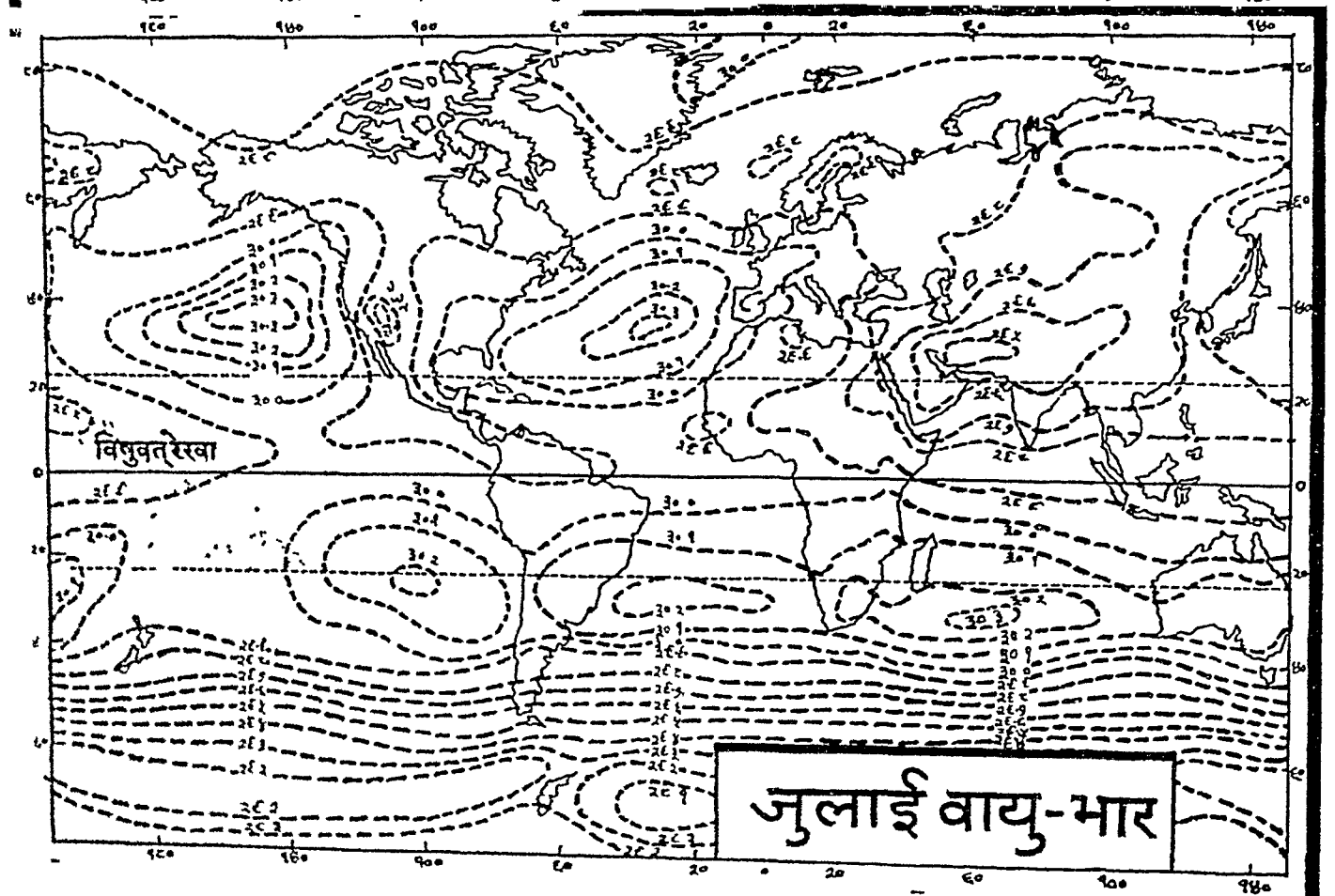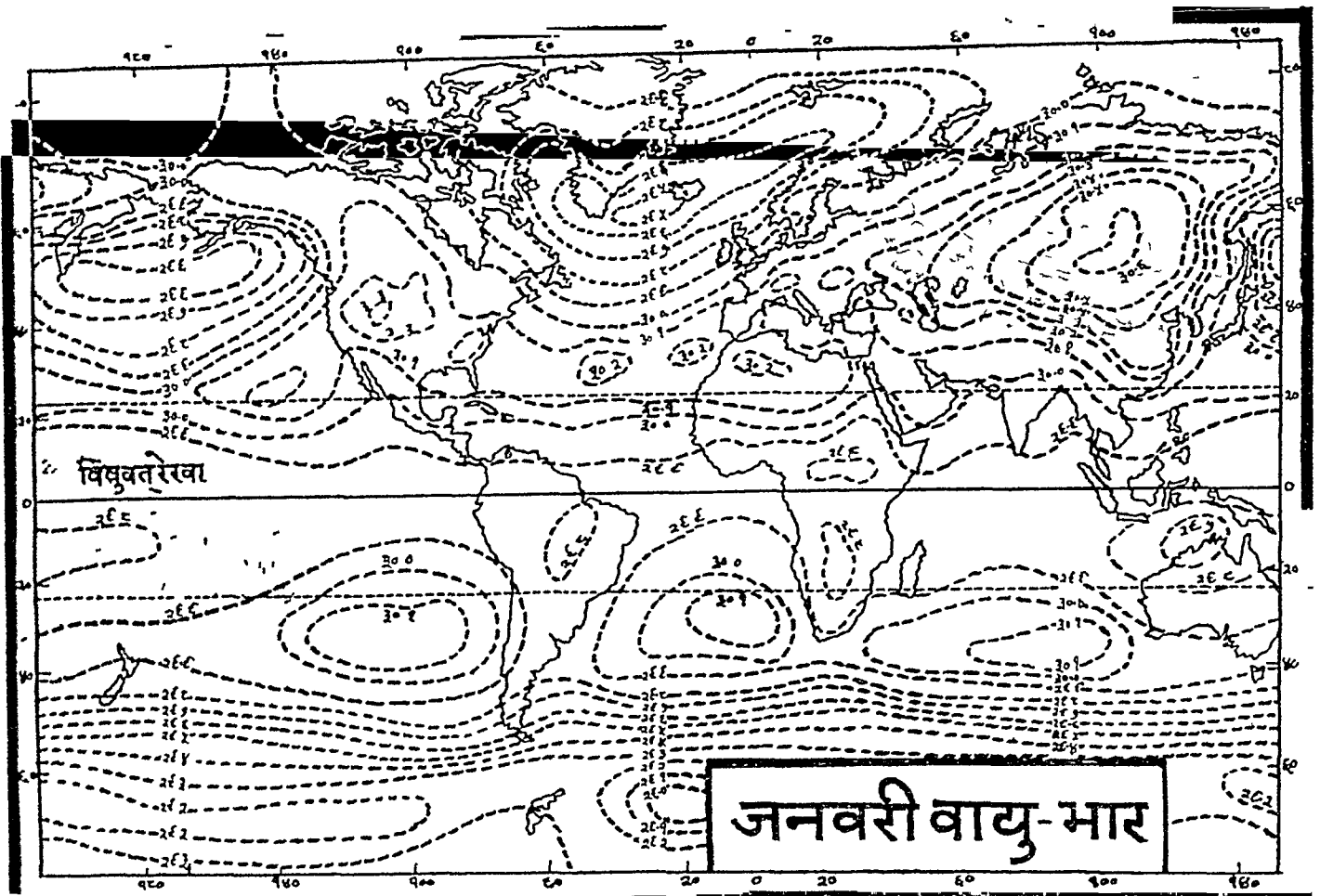
कटावदार रेखाएँ सम वायु-भार के भिन्न-भिन्न कटिबन्धों को सूचित करती हैं और उनके साथ लिखे अंक इंचों में उक्त प्रदेशों के वायु-भार का निर्देश करते हैं।

पत्रों के अकों की सूचना प्रतिदिन तार द्वारा अलीपुर और पूना भेज दी जाती है और वहाँ से इन सूचनाओं के अनुसार दैनिक पत्रों में रिपोर्ट प्रकाशित की जाती है।

धरातल पर मौसम का उत्पादक परम तेजस्वी सूर्य है। सूर्य की किरणों से ही धरातल पर गरमी-सरदी होती है। इसमें धरातल की बनावट (ऊँचाई नीचाई), जल और स्थल, तथा अक्षाश आदि भौगोलिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। वायु के अधिकाश परिवर्त्तन ताप द्वारा उत्पन्न होते हैं। धरातल पर ताप कम होने से वायु ठण्डी हो जाती है। इसका प्रभाव वायु के भार पर पड़ता है। वायु-भार से पवन की गति मे अन्तर आता है। पवन की गति का प्रभाव वर्षा पर पड़ता है। इस प्रकार ताप द्वारा मौसम के अधिकाश अगों की दशा में अन्तर पड़ता है।

यद्यपि सूर्य की किरणें वायुमण्डल से होकर पृथ्वी पर पड़ती हैं तथापि इससे वायु के ताप मे अन्तर नहीं पहुँचता। वायु का केवल वही अश इससे प्रभावित होता है जो धरातल के ससर्ग में आता है। इसी अंश के प्रभाव से सम्पूर्ण वायुमण्डल में गरमी या ताप का सचार होता है। धरातल के गरम होने से वायु भी गरम हो जाती है और ठण्डे होने से ठण्डी। पृथ्वी की आकृति के कारण तथा उसकी सूर्य सम्बन्धी स्थिति के कारण धरातल के विभिन्न स्थलों पर सूर्य की किरणें समान रूप से नहीं पहुँच पाती हैं। वह प्रदेश जहाँ किरणें सीधी पड़ती हैं उस भाग की अपेक्षा शीघ्र और अधिक गरम होता है जहाँ किरणें तिरछी पड़ती हैं। इसका कारण यह है कि तिरछी किरणों को सीधी किरणों की अपेक्षा अपना परिमित ताप अधिक क्षेत्र मे फैलाना पड़ता है। धरातल पर इसका प्रभाव यह पड़ता है कि जैसे-जैसे आप भूमध्य-रेखा से दूर हटते जाइए वैसे ही धरातल का तापक्रम कम होता जाता है, अर्थात् तापक्रम अक्षाश के अनुसार घटता-बढ़ता है। भूमध्य-रेखा या शून्य अक्षाश प्रदेश मे सबसे अधिक गरमी होनी चाहिए और ध्रुव-प्रदेशों मे सबसे कम। पर पृथ्वी की बनावट में विभिन्नता के कारण कहीं-कहीं इसका अपवाद भी देखने को मिलता है।

तापक्रम जल की अपेक्षा धरती पर शीघ्र बढ़ता और शीघ्र ही कम हो जाता है। यही कारण है कि रात को धरती के ठण्डे हो जाने के बहुत देर बाद तक भी जल में सूर्य की गरमी बनी रहती है। इसी प्रकार प्रातःकाल धरती की अपेक्षा जल बहुत देर तक ठण्डा बना रहता है। स्थल भागों की अपेक्षा जल-भाग इसी कारण गरमी मे अधिक गरम नहीं होते और जाड़ा मे अधिक ठण्डे नहीं हो पाते। ऊँचाई का भी प्रभाव ताप पर पड़ता है। पृथ्वी से जितने ही ऊँचे आप चढ़ते जाइए, ताप उतना ही कम होता जायगा। यह देखा गया है कि प्रति १०० गज की चढ़ाई पर १° फ० तापक्रम कम हो जाता है। यही कारण है कि जब आगरे और लखनऊ मे लू चलती है तब शिमला और काश्मीर मे लोग ऊनी कपड़ों में लिपटे रहते हैं। तापक्रम और वायु के भार अथवा चाप में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहना भी उचित है कि वायु का भार बहुत-कुछ तापक्रम के अनुसार घटता-बढ़ता है। गरमी से वायु फैलती है और अधिक स्थान को घेरती है। इसलिए प्रति वर्ग इञ्च पर उसका भार कम हो जाता है। इसके विपरीत शीतलता के कारण वायु भारी हो जाती है। इसीलिए अधिक तापक्रमवाले प्रदेशों का वायु-भार कम तापवाले प्रदेशों के वायु-भार से कम होता है।

किसी एक स्थान के तापक्रम अथवा वायु-भार से ही उस स्थान के मौसम की रचना नहीं होती। उस स्थान के वायु के ताप और भार के साथ-ही-साथ उसके आस-पास के प्रदेश के ताप और भार का अध्ययन भी आवश्यक होता है। इसलिए एक ही समय पर भिन्न स्थानों पर ताप और भार की जाँच की जाती है। समस्त धरातल के उन स्थानों को जहाँ एक ही समय में ताप और वायु-भार समान होते हैं नक़शे मे रेखाओं द्वारा सम्बन्धित कर देते हैं। ऐसी रेखाओं को समताप और समभार रेखाएँ कहते हैं। इन दोनों रेखाओं मे भी आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। समताप और समभार रेखाओं के नक़शों मे उच्च-भार और अल्पतापवाली रेखाएँ तथा लघुभार और परम तापवाली रेखाएँ पास-पास पाई जाती हैं। आइए, धरातल पर ताप और भार का सम्बन्ध देखने के लिए जनवरी और जुलाई के समताप और समभारवाले नक़शों का अध्ययन करें।

जनवरी मास में सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में सर्वोच्च होता है इसलिए यहाँ ग्रीष्म ऋतु होती है। इसीसे इस समय सर्वोच्च तापक्रम दक्षिण अफ्रीका के मध्य में तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया में पाया जाता है। दोनों ही स्थानों में ६०° फ० तापक्रम का घेरा है। समुद्र अधिक पास होने के कारण दक्षिणी अमेरिका के इन्हीं अक्षाशों मे तापक्रम कम है। स्थल के ऊपर की समताप रेखाये टेढ़ी हैं। पश्चिमी तट पर ठण्डी धारा होने से तीनों दक्षिणी महाद्वीपों में समताप रेखाये अधिक उत्तर से आरम्भ हो जाती हैं पर पूर्वी सिरे पर दक्षिण की ओर बहुत नीची हो जाती हैं। समुद्र के मध्य में समताप रेखाओं मे कोई विशेष

अन्तर नहीं है। ३०° फ० की समताप रेखा अन्टार्क्टिक वृत्त को प्रायः ढक-सी रही है। उत्तरी गोलार्द्ध में सबसे अधिक शीत एशिया तथा अमेरिका के धुर उत्तरी प्रदेश में पाई जाती है। साईबेरिया के वेर्खोयॉस्क नगर के आसपास तापक्रम—६०° फ० हो गया है। यही संसार के बसे हुए भागों में सबसे अधिक ठण्डा है। ३०° फ० की समताप रेखा प्रशान्त महासागर को ५५° अक्षांश में पार करके उत्तरी अमेरिका में प्रवेश करती है। फिर यह रेखा दक्षिण की ओर अधिक मुड़ जाती है। झीलों के प्रदेश के दक्षिण में न्यूयार्क के पास वह अटलांटिक महासागर मे निकलती है। गल्फ स्ट्रीम इस रेखा को एकदम उत्तर की ओर ढकेल देती है। इसलिए आइसलैण्ड को छूती हुई यह रेखा नार्वे के प्रायः उत्तर में पहुँचती है। यहाँ पहुँचने पर ठण्डे देश फिर इसे दक्षिण की ओर झुका देते हैं। मध्य जर्मनी, आस्ट्रिया, कृष्ण सागर, कास्पियन सागर और मध्य एशिया मे होती हुई यह रेखा जापान के उत्तर मे निकलती है।

जनवरी मास की समभार रेखाओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उच्चताप और लघुभार रेखायें साथ-साथ चलती हैं। लघुभार रेखा भूमध्य रेखा की प्रायः समस्त लम्बाई पर फैल जाती है परन्तु अतिलघुभार भूमध्य रेखा के दक्षिण में दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, और आस्ट्रेलिया के मध्य में स्थिर रहता है। इस लघुभार कटिबन्ध के दोनों ओर २० और ४० अक्षांशों के बीच मे अयन रेखाओं के उच्चभार कटिबन्ध हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में उच्चभार कटिबन्ध समुद्र में बनते हैं और महाद्वीपों के मध्य में वे अतिउच्चभार बन जाते हैं। इन उच्चभार कटिबन्धों से ध्रुव की ओर पहुँचने पर विशेष लघुभार के प्रदेश मिलते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध मे लघुभार के प्रदेश महासागर में पृथक्-पृथक् पाये जाते हैं। लघुभार का एक प्रदेश एल्यूशियन द्वीप के पास ८२° उ० अक्षांश मे है। दूसरा लघुभार-प्रदेश आईसलैण्ड के दक्षिण-पश्चिम में ६०° उ० अक्षांश में होता है। लम्बी जिह्वा के समान इसका आकार नार्वे और स्पिट्सबर्ग के बीच मे आर्क्टिक वृत्त की ओर चला गया है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे ६० द० अक्षांश से मिला हुआ लघुभार का एक कटिबन्ध पृथ्वी की लगातार परिक्रमा करता है।

पृथ्वी के ताप भाग

जुलाई के महीने मे सूर्य कर्क रेखा के ऊपर पहुँच जाता है। इसके साथ-साथ तापक्रम भी चलता है। ६०° फ० से अधिक गर्मी मध्य एशिया, अरब, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी-पश्चिमी संयुक्त राष्ट्र मे पड़ती है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे ३२° फ० की समताप रेखा ऊपर बढ़कर प्रायः हार्न अन्तरीप के पास पहुँच गई है। उत्तरी गोलार्द्ध में इस ऋतु मे जल से स्थल अधिक गरम रहता है। इसलिए समताप रेखाये उत्तर की ओर मुड़ती हुई महाद्वीपो को पार करती हैं। इस प्रकार ६०° फ० की समताप रेखा प्रशान्त महासागर को तो ४०° फ० पर पार करती है, परन्तु कनाडा मे पहुँचने पर इसका झुकाव उत्तर की ओर हो जाता है और यह प्रायः आर्क्टिक वृत्त को छूने लगती है। वहाँ से यह बाल्टिक और श्वेत सागर की ओर बढती है। साइबेरिया मे फिर यह आर्क्टिक वृत्त को छूने लगती है। पर शीतल प्रशान्त महासागर के पास पहुँचकर फिर यह एकदम दक्षिण की ओर मुड़ती है।

समताप रेखाओं की भाँति जुलाई मे समभार रेखाएँ भी जनवरी से भिन्न रहती हैं। भूमध्य रेखा का लघुभार लगभग उतना ही रहता है। परन्तु सबसे कम वायुभार ३०° उ० अक्षांश के निकट जैकबाबाद (उत्तरी-पश्चिमी भारतवर्ष) में पाया जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में कर्क-रेखा का उच्चभार कटिबन्ध प्रशान्त और अटलांटिक महासागरों तक ही परिमित है। परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में २५° द० अक्षांश के पास पास यह उच्चभार-कटिबन्ध प्रायः अविच्छिन्न-सा है। आइसलैण्ड का लघुभार प्रदेश अब भी कुछ-कुछ शेष है पर एल्यूशियन लघुभार प्रदेश बिल्कुल लुप्त हो गया है। इसके विपरीत दक्षिणी महासागर मे लघुभार-प्रदेश

लगी बढ़ गया है। नक़्शे में वास्तविक तापक्रम और भूमि की ऊँचाई निचाई को एक साथ दिखलाने में बड़ी कठिनाई होती है। इसलिए ऊँचे-नीचे सभी स्थानों को समुद्र-तल पर बसा हुआ मानकर आनुपातिक तापक्रम निकाल लिया जाता है और तब समान तापक्रमवाले स्थानों को समताप रेखाओं से जोड़ दिया जाता है।

भिन्न-भिन्न स्थानों के तापक्रम को जिस प्रकार एक ही आधार पर माना जाता है उसी प्रकार यह आवश्यक है भिन्न-भिन्न स्थानों के वायुभार की नाप एक ही ऊँचाई पर और एक से ही तापक्रम में ली जाय। इसलिए प्रत्येक स्थान में वायुभार-मापक यन्त्र से प्राप्त हुई सूचना को घटा-बढ़ाकर इस प्रकार सुधार लिया जाता है मानों वह समुद्र-तल पर ३२° फ० तापक्रम मे प्राप्त हुआ हो। (इसका कारण यह है कि ऊँचाई और तापक्रम दोनों ही का प्रभाव वायुभार पर पड़ता है)।

सम वायुभार रेखाओं का नक़शा हवा की दिशा और वेग जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है। वायुभार के भेद से ही पवन चलता है। उच्चभार के प्रदेश की वायु लघुभार के प्रदेश की ओर दौड़ती है। यदि पृथ्वी भर में वायु का भार सब कहीं एक-सा ही हो तो हवाओं का चलना ही बन्द हो जाय। इसके विपरीत यदि स्थानों के वायुभार मे महान् अन्तर हो, जिससे भिन्न-भिन्न समभार रेखायें पास-पास चलती हों, तो उनसे प्रचण्ड वायु के चलने की सूचना मिलती है। समभार रेखाओं का दूर-दूर होना मन्द वायु का परिचय देता है।

समताप रेखाओं के अध्ययन से हमें यह ज्ञान होता है कि धरातल का कुछ प्रदेश तो ऐसा है जहाँ पर गरमी और जाड़े के तापक्रमों में लगभग कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रदेश में पूरे वर्ष भर तक एक-सा ही तापक्रम बना रहता है। केवल रात और दिन के तापक्रमों में अन्तर पड़ जाता है। इसलिए इस प्रदेश की रात को जाड़ा कह सकते हैं और दिन को गर्मी, क्योंकि रात और दिन के तापक्रमों में जाड़े और गरमी की ऋतु की अपेक्षा अधिक अन्तर रहता है। इस प्रदेश मे कोई भी ऐसा महीना नहीं होता है जिसमे ताप ६८° फा० से कभी नीचे आता हो। इस प्रदेश को 'अत्युष्ण कटिबन्ध' (Torrid Zone) कहते हैं। धरातल के नक़्शे में इस प्रदेश की सीमा ६८° फा० की वार्षिक आनुपातिक समताप रेखा (Mean Annual Isotherm) तक दोनों गोलार्द्धों मे है। इस प्रदेश के केवल उन भागों मे, जो भूमध्य रेखा से दूर हैं, जाड़े और गरमी के तापक्रमों मे अन्तर पड़ने लगता है।

'अत्युष्ण कटिबन्ध' की भाँति ही उत्तरीय और दक्षिणीय गोलार्द्धों मे शीतोष्ण कटिबन्ध (Temperate Zone) की सीमा ५०° फा० की गरमी की समताप रेखा तक हैं। इस कटिबन्ध के प्रदेश में जाड़े और गरमी के तापक्रम में विशेष अन्तर पड जाता है। ध्रुवों की ओर चलने से जाड़ा अधिक होता जाता है। इस कटिबन्ध मे वर्ष मे आठ महीने ताप ६८° फा० से नीचे रहता है। इस कटिबन्ध के समुद्रतटीय प्रान्तों मे जाड़े और गरमी के अतिरिक्त 'वसंत और पतझड़' की दो और ऋतुयें होती हैं।

धरातल का एक तीसरा भाग ऐसा भी है जहाँ वर्ष के अधिकांश भाग मे ताप ५०° फा० से भी कम रहता है। इसको शीत कटिबन्ध कहते हैं। शीत कटिबन्ध में केवल चार ही महीने ऐसे होते हैं जब ताप ५०° फा० से ऊपर रहता है। यहाँ गरमी बहुत कम होती है, किन्तु जाड़ा कड़ाके का पड़ता है तथा जाड़े और गरमी के तापक्रमों में बहुत अधिक अन्तर रहता है। पृथ्वी की गोलाई के कारण इस कटिबन्ध में स्थल का बहुत थोड़ा भाग है। इस कटिबन्ध मे सायबेरिया के वेरखायाँस्क नगर में संसार भर में सबसे अधिक जाड़ा पड़ता है।

धरातल के नक़्शे मे ताप भागों को दिखाने की एक दूसरी रीति भी है। यह सूर्य की किरणों के कोणों अर्थात् अक्षांश रेखाओं के आधार पर है। इसके अनुसार अत्युष्ण कटिबन्ध भूमध्य रेखा के दोनों ओर २३½° अक्षांश तक है। इसकी सीमान्तक रेखा को उत्तरीय गोलार्द्ध में तो कर्क रेखा (Tropic of Cancer) और दक्षिणीय गोलार्द्ध में मकर रेखा (Tropic of Capricorn) कहते हैं। शीतोष्ण कटिबन्ध की सीमा अत्युष्ण कटिबन्ध के बाद ६६½° के उत्तरीय तथा उतने ही अंश के दक्षिणीय अक्षांश तक है। इसकी सीमान्तक रेखा को उत्तरीय गोलार्द्ध में आर्कटिक वृत्त (Arctic Circle) और दक्षिणीय गोलार्द्ध मे एन्टार्कटिक वृत्त (Antarctic Circle) कहते हैं। शीत कटिबन्ध (Frigid Zone) शीतोष्ण कटिबन्ध के बाद उत्तरीय तथा दक्षिणीय ध्रुवों तक है। धरातल का सबसे अधिक भाग शीतोष्ण कटिबन्ध में है तथा अधिक-से-अधिक और न्यून-से-न्यून तापक्रम स्थल पर ही पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में यूरेशिया के विस्तार का प्रभाव प्रत्यक्ष ही है। जनवरी और जुलाई के तापक्रमों का अन्तर सबसे अधिक एशिया महाद्वीप मे पाया जाता है।

अन्नपूर्णा-भण्डार पत्ती की कहानी—(४)

कार्बन एसिमिलेशन या फोटोसिन्थिसिस और नाइट्रोजन एसिमिलेशन

संसार के सभी जीवों को, चाहे वे पशु हों या पेड़-पौधे, आहार की आवश्यकता रहती है। इन्हे काम काज के लिए सामर्थ्य चाहिए जो आहार से ही प्राप्त होता है। अतः इन्हे जीवनपर्यन्त खाद्य पदार्थ मिलते रहने चाहिएँ।

विश्लेषण से पता चलता है कि सारे जीवों के अग एक-जैसे तत्त्वों से बने हैं। हम-आप, पशु-पक्षी, कीडे-पतंगे व अन्य जन्तु तथा आम-जामुन, काई-फफूँदी अथवा दूसरी वनस्पतियाँ सभी के शरीर में एक-जैसे तत्त्व पाये जाते हैं। उसी ऑक्सिजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, सल्फर और फास्फोरस आदि से इनके अंग और तन्तु बनते और बढ़ते हैं। इसलिए इनको ये सारे तत्त्व किसी-न-किसी भाँति मिलने चाहिएँ। इन तत्त्वों के प्राप्त करने के ढग में पौधों और पशुओं मे बड़ा अन्तर है।

अधिकाश पेड़-पौधे प्रकृति की साधारण इनआर्गैनिक वस्तुओं से ही अपने अंगों और तन्तुओं की रचना कर लेते हैं। ये जल, नमक और वायु के कार्बन से ही समस्त प्रयोजनीय पदार्थ बना लेते हैं। इन्ही से ये कन्द-मूल, फल, मेवे-मसाले और भाँति-भाँति के इत्र-तेल-सुगध की रचना करते हैं और इन्हीं से इनके अंगों की बाढ-वृद्धि होती है। परन्तु पशुओं का ऐसा हाल नहीं। इनके काम-काज ऐसी इन-आर्गैनिक वस्तुओं के सहारे नहीं चल सकते। इनको आर्गैनिक वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। इन्हें कार्बोहाइड्रेट (स्टार्च व शकर-जैसे पदार्थ), प्रोटीन (दाल, मांस, अण्डा व दूध-जैसी वस्तुएँ) तथा चर्बी, तेल, घी आदि की आवश्यकता रहती है। इनके काम ऐसे पदार्थों के बिना नहीं चल सकते। इन पदार्थों की रचना पेड़-पौधो द्वारा होती है। इसलिए पशुओं की ख़ूराक का अधिकाश भाग पेड़-पौधों से ही आता है। यह बात न केवल शाकाहारी पशुओं के लिए ही सच है, वरन् समस्त पशु-संसार के लिए। पौधों की पत्तियाँ और दूसरे हरे अगों पर ही हमारा-आपका अथवा दूसरे पशुओं का जीवन निर्भर है। फलों, बीजों व कंद-मूल में एकत्रित खाद्य पदार्थ ही हमारे-आपके काम आते हैं। यही वस्तुएँ हमारे भोजन का आवश्यक भाग हैं। करोड़ों मन गेहूँ, चावल, चना व दूसरे अनाज तथा आलू, मटर, गोभी, सेम, चुकन्दर व अन्य शाक-भाजी, जो रोज़ाना ख़र्च होते रहते हैं, हमे वनस्पतियो से ही मिलते हैं। यथार्थ में दूध, मलाई, मक्खन, अंडा व मांस-जैसी कुछ इनी-गिनी वस्तुओं को छोड़ शेष सभी हमे पेड़-पौधो से ही मिलती हैं। परन्तु ये दूसरे पदार्थ भी हमे पेड़-पौधों की बदौलत ही मिलते हैं; क्योंकि वे जानवर भी, जिनसे हमें घी, दूध, मक्खन, अडा, मांस आदि
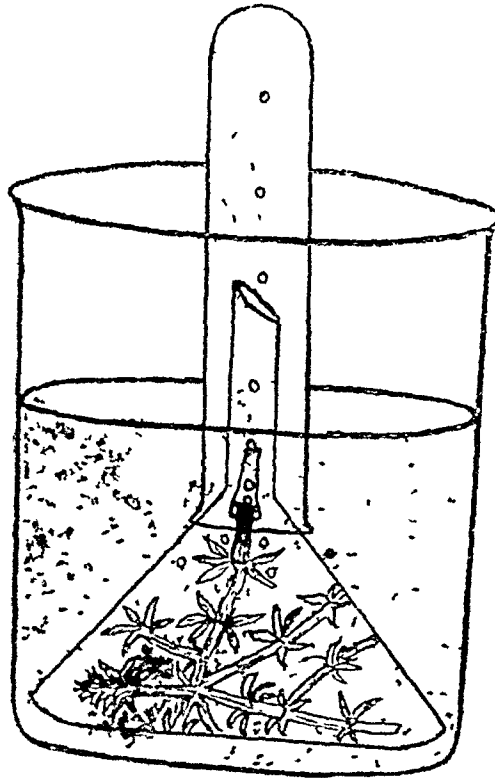
चि० १—हरे पौधे वायु शुद्ध करते हैं। वे प्रकाश में वायु की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड से कार्बन ग्रहण कर ऑक्सिजन वायु में वापस कर देते हैं। (चि० वि० सा० शर्मा)

चि० २—बीज से पौधे के अकुरित होने तथा उसमें साधारण हरी पत्तियाँ निकलने तक में जो बाढ और क्रियाएँ होती हैं, इनके लिए खाद्य पदार्थ बीज में संचित द्रव्यों से ही मिलते हैं। (चि० मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)

मिलते हैं, दाना, चारा, घास आदि पर ही ख़ूराक के लिए निर्भर हैं। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचे कि सारे पशु-पक्षी तथा स्वय मनुष्य पेड़-पौधों पर ही भोजन के लिए आश्रित हैं। इन्हीं की बदौलत हमारे स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट व्यजन और पकवान तैयार होते हैं। इनके बिना किसी भी प्राणी का पृथ्वी पर पैदा होना या जीवित रहना असम्भव है।

हमारी-आपकी ख़ूराक में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और थोड़ा बहुत घी-तेल-नमक रहता है। इन सब पदार्थों में हमें प्रोटीन और स्टार्च की अधिक ज़रूरत रहती है। ये हमारे अगों को बनाते और पुष्ट करते हैं और इन्हीं से हमें काम-काज के लिए शक्ति मिलती है। इन पदार्थों की रचना पेड़-पौधों द्वारा होती है। इस समय हम आपका ध्यान कार्बन और नाइट्रोजन एसिमिलेशन की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। इनके फलस्वरूप पौधों में स्टार्च व अन्य कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन बनते हैं।

कार्बन एसिमिलेशन (स्टार्च-संश्लेषण)

दूसरे कार्बोहाइड्रेट की तरह स्टार्च भी कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के सयोग से बना है। ऑक्सिजन और हाइड्रोजन तत्त्व इसमें उसी मात्रा मे होते हैं, जिसमें कि वे पानी में होते हैं, अर्थात् प्रत्येक ऑक्सिजन अणु के साथ-साथ दो हाइड्रोजन अणु सयोजित रहते हैं (H_2O)। स्टार्च की रचना विशेषकर पेड़ों की पत्तियों मे ही होती है। यहाँ कार्बन एसिमिलेशन की क्रियायें होती रहती हैं, जिनसे अत में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और जल के मेल से शकर और स्टार्च-जैसे अमूल्य पदार्थ बनकर तैयार होते हैं।

प्रायः वैज्ञानिकों का मत है कि कार्बन एसिमिलेशन मे सबसे प्रथम फार्मैल्डीहाइड तैयार होता है, पर तुरन्त ही इसके ६ अणु मिलकर एक प्रकार की शकर बन जाती है:—

$$CO_2 + H_2O = CH_2O \text{ (फार्मैल्डीहाइड)} + O_2$$

$$6CH_2O = C_6H_{12}O_6 \text{ (शकर)}$$

इन सूत्रों के अनुसार जितनी कार्बन-डाइ-ऑक्साइड पौधे ग्रहण करते हैं, उतनी ही ऑक्सिजन वे बाहर वायु में निकाल देते हैं और इस प्रकार पौधों के फोटोसिन्थिसिस के प्रभाव से वायु शुद्ध होती रहती है।

प्रयोग—इलोडिया या हाइड्रैला जैसे किसी पानी के अन्दर उगनेवाले पौधे को एक बर्त्तन में पानी के अन्दर फनेल से ढककर रख दीजिए। फनेल की नली पर एक

चि० ३—आलू के ग्रन्थिकंद से पौधे की उत्पत्ति। इसके पहले कि पौधा अकुरित होकर हरी पत्तियों द्वारा स्टार्च आदि की रचना कर सके, उसे खाद्य पदार्थ चाहिएँ। ये ग्रन्थिकद मे सचित द्रव्यों से ही प्राप्त होते हैं। (चि० मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)

चि० ४—इस चित्र में स्टार्च-परीक्षा करने की क्रिया दिखलाई गई है। चित्र में बाईं ओर, ऊपर एक पात्र मे पत्ती खौलाई जाती दिखाई गई है; नीचे डिश नं० १ मे अल्कोहोल में रखकर पत्ती का पर्णहरित दूर करने की क्रिया और नं० २ मे उसे आयोडीन के घोल मे रखने की क्रिया दिखाई गई है। दाहिनी ओर, ऊपर पत्ती का चित्र अल्कोहोल द्वारा पर्णहरित निकल जाने पर दिखाया गया है, नीचे उसी रंगहीन पत्ती को आयोडीन घोल में डालने के पश्चात् घोल के प्रभाव से रँग जाने पर दिखाया गया है। (चि० श्री वि० सा० शर्मा)

पानी से भरी टेस्टट्यूब उलट कर अपैरेटस को प्रकाश मे पहुँचा दीजिए (चि० १)। कुछ देर बाद ट्यूब में गैस के बुलबुले जमा होने लगेंगे और आठ-दस घंटे बाद उसमें काफी गैस आ जायगी। परीक्षा करने पर यह गैस ऑक्सिजन निकलेगी। यदि इस प्रयोग मे साधारण पानी के बजाय उबाला हुआ पानी काम मे लाया जाय तो गैस नहीं इकट्ठी होगी; परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि पानी उबालकर उसमें वायु नहीं आने देनी चाहिए। इसलिए बर्तन मे खौलता पानी भरकर उसे तुरन्त ही काग से बन्द कर देना चाहिए। जल ठढा होने के पश्चात् उसमे उपरोक्त विधि से पौधा और फनेल आदि रख फ़ौरन् फिर काग लगा देनी चाहिए। शेष सारी बातें वही होनी चाहिएँ जो पहले प्रयोग मे थीं।

फोटोसिन्थिसिस पत्ती के मिसोफिल कोशों में होता है। इस क्रिया मे पौधे की पत्तियाँ वायु की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को प्रकाश की सहायता से ग्रहण करती हैं। यह गैस रध्रों से निःसृत होकर पत्ती के अन्तरतान्तविक-स्थानों में पहुँचती है। यहाँ से यह मिसोफिल कोशों में प्रवेश करती है। कार्बन-डाइ-ऑक्साइड पानी मे घुलकर ही जाती है, गैस-रूप में नहीं। इन कोशों मे अनेक रासायनिक क्रियाओं के पश्चात् अन्त मे स्टार्च बनता है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पत्तियों मे सम्भवतः पहले फार्मैल्डीहाइड बनता है; परन्तु यह अधिक मात्रा मे नहीं मिलता। इससे अनुमान किया जाता है कि यह पदार्थ शकर में परिवर्त्तित हो जाता है। यहाँ से यह शकर पौधे के अन्य अंगों मे, जहाँ काम-काज और बाढ़ होती रहती है, पहुँचती है। ज़रूरत से ज्यादा तैयार हुई शकर पहले पत्तियों मे ही स्टार्च मे परिवर्त्तित हो जमा होती है; पर बाद मे वह जड, तना, बीज या किसी अन्य अग मे सचित होती है। यही स्टार्च से परिपूर्ण पदार्थ हमारे-आपके काम आते हैं। आलू, रतालू, शकरकंद-जैसी वस्तुओं और चावल आदि मे अधिकाश भाग स्टार्च का

चि० ५
(अ) बाहर साधारण वायु मे फैली पत्ती और (ब) बोतल के अन्दर की पत्ती, आयोडीन घोल से स्टार्च की जाँच करने के पश्चात्। (चि० मि० श० अहमद)

। पौधे के अंकुरित होने तथा उसमें साधा-
नेकलने तक में जो वाद और क्रियाएँ
ए खाद्य पदार्थ बीज में संचित द्रव्यों से
(चि० मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)

वारा, घास आदि पर ही ख़ुराक के लिए
म उस परिणाम पर पहुँचे कि सारे पशु-
ानुष्य पेड़-पौधों पर ही भोजन के लिए
। की बदौलत हमारे स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट
न तैयार होते हैं।
भी प्राणी का पृथ्वी
या जीवित रहना

ख़ुराक में कार्बोहाइ-
थोड़ा-बहुत घी-तेल-
इन सब पदार्थों में
स्टार्च की अधिक
ये हमारे अंगों को
रते हैं और इन्हीं से
लिए शक्ति मिलती
ी रचना पेड़-पौधों
स समय हम आपका
(नाइट्रोजन एसिमि-
ाकर्षित करना चाहते
नरूप पौधों में स्टार्च
इड्रेट और प्रोटीन

कार्बन एसिमिलेशन (स्टार्च-संश्लेषण)

दूसरे कार्बोहाइड्रेट की तरह स्टार्च भी कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से बना है। ऑक्सिजन और हाइड्रोजन तत्त्व इसमें उसी मात्रा में होते हैं, जिसमें कि वे पानी में होते हैं, अर्थात् प्रत्येक ऑक्सिजन अणु के साथ-साथ दो हाइड्रोजन अणु संयोजित रहते हैं (H_2O)। स्टार्च की रचना विशेषकर पेड़ों की पत्तियों में ही होती है। यहाँ कार्बन एसिमिलेशन की क्रियायें होती रहती हैं, जिनसे अंत में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और जल के मेल से शक्कर और स्टार्च-जैसे अमूल्य पदार्थ बनकर तैयार होते हैं।

प्रायः वैज्ञानिकों का मत है कि कार्बन एसिमिलेशन में सबसे प्रथम फार्मेल्डीहाइड तैयार होता है, पर तुरन्त ही इसके ६ अणु मिलकर एक प्रकार की शक्कर बन जाती है:—

$$CO_2 + H_2O = CH_2O \text{ (फार्मेल्डीहाइड)} + O_2$$

$$6CH_2O = C_6H_{12}O_6 \text{ (शक्कर)}$$

इन सूत्रों के अनुसार जितनी कार्बन-डाइ-ऑक्साइड पौधे ग्रहण करते हैं, उतनी ही ऑक्सिजन वे बाहर वायु में निकाल देते हैं और इस प्रकार पौधों के फोटोसिन्थिसिस के प्रभाव से वायु शुद्ध होती रहती है।

प्रयोग—एलोडिया या हाइड्रिला जैसे किसी पानी के अन्दर उगनेवाले पौधे को एक बर्त्तन में पानी के अन्दर फनेल से ढककर रख दीजिए। फनेल की नली पर एक

चि० ३—आलू के ग्रन्थिकंद से पौधे की उत्पत्ति। इसके पहले कि पौधा अंकुरित होकर हरी पत्तियों द्वारा स्टार्च आदि की रचना कर सके, उसे खाद्य पदार्थ चाहिएँ। ये ग्रन्थिकंद में संचित द्रव्यों से ही प्राप्त होते हैं। (चि० मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)

चि० ४—इस चित्र मे स्टार्च-परीक्षा करने की क्रिया दिखलाई गई है। चित्र मे बाईं ओर, ऊपर एक पात्र में पत्ती खौलाई जाती दिखाई गई है, नीचे डिश नं० १ मे अल्कोहोल में रखकर पत्ती का पर्णहरित दूर करने की क्रिया और नं० २ में उसे आयोडीन के घोल में रखने की क्रिया दिखाई गई है। दाहिनी ओर, ऊपर पत्ती का चित्र अल्कोहोल द्वारा पर्णहरित निकल जाने पर दिखाया गया है, नीचे उसी रंगहीन पत्ती को आयोडीन घोल में डालने के पश्चात् घोल के प्रभाव से रँग जाने पर दिखाया गया है। (चि० श्री वि० सा० शर्मा)

पानी से भरी टेस्टट्यूब उलट कर अपैरेटस को प्रकाश में पहुँचा दीजिए (चि० १)। कुछ देर बाद ट्यूब में गैस के बुलबुले जमा होने लगेंगे और आठ-दस घंटे बाद उसमें काफी गैस आ जायगी। परीक्षा करने पर यह गैस ऑक्सिजन निकलेगी। यदि इस प्रयोग में साधारण पानी के बजाय उबाला हुआ पानी काम में लाया जाय तो गैस नहीं इकट्ठी होगी ; परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि पानी उबालकर उसमे वायु नहीं आने देनी चाहिए। इसलिए बर्तन में खौलता पानी भरकर उसे तुरन्त ही काग से बन्द कर देना चाहिए। जल ठंढा होने के पश्चात् उसमें उपरोक्त विधि से पौधा और फनेल आदि रख फौरन् फिर काग लगा देनी चाहिए। शेष सारी बातें वही होनी चाहिएँ जो पहले प्रयोग में थीं।

फोटोसिन्थिसिस पत्ती के मिसोफिल कोशों में होता इस क्रिया मे पौधे की पत्तियाँ वायु की कार्बन-डाइ-ऑ. को प्रकाश की सहायता से ग्रहण करती हैं। यह गैस से निःसृत होकर पत्ती के अन्तरतान्तविक-स्थानों में है। यहाँ से यह मिसोफिल कोशों में प्रवेश करती कार्बन-डाइ-ऑक्साइड पानी मे घुलकर ही जाती है, रूप मे नहीं। इन कोशों मे अनेक रासायनिक के पश्चात् अन्त मे स्टार्च बनता है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पत्तियों में सम्भवतः फार्मैल्डीहाइड बनता है; परन्तु यह अधिक मात्रा मिलता। इससे अनुमान किया जाता है कि यह शकर में परिवर्त्तित हो जाता है। यहाँ से यह शकर के अन्य अंगों मे, जहाँ काम-काज और बाढ़ होती है, पहुँचती है। ज़रूरत से ज्यादा तैयार हुई शकर पत्तियों मे ही स्टार्च मे परिवर्त्तित हो जमा पर बाद में वह जड, तना, बीज या किसी अन्य संचित होती है। यही स्टार्च से परिपूर्ण पदार्थ आपके काम आते हैं। आलू, रतालू, श वस्तुओं और चावल आदि मे अधिकांश भाग ९८

चि० ५
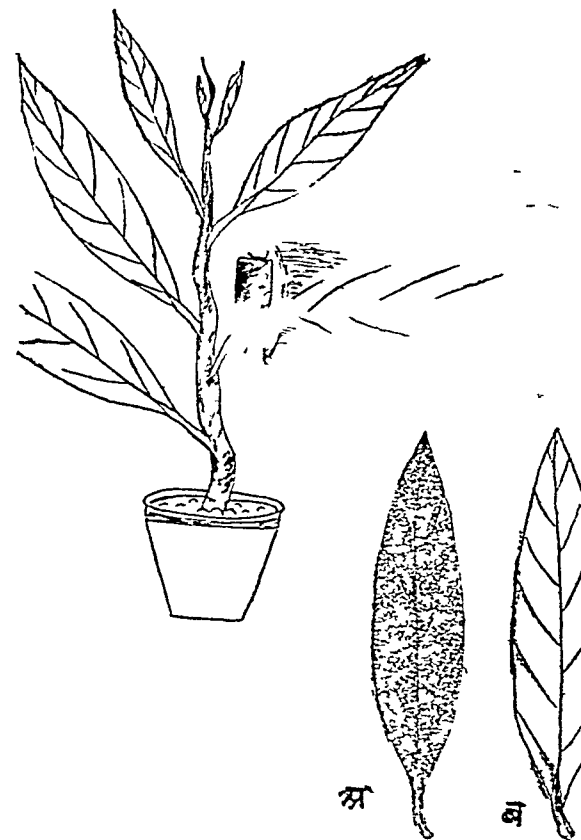
(अ) बाहर साधारण वायु में फैली पत्ती और (बोतल के अन्दर की पत्ती, आयोडीन घोल से ९८ जाँच करने के पश्चात्। (चि० मि० श०

चि० २—बीज से पौधे के अंकुरित होने तथा उसमें साधारण हरी पत्तियाँ निकलने तक में जो बाढ और क्रियाएँ होती हैं, इनके लिए खाद्य पदार्थ बीज में संचित द्रव्यो से ही मिलते हैं। (चि० मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)

मिलते हैं, दाना, चारा, घास आदि पर ही ख़ूराक के लिए निर्भर हैं। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचे कि सारे पशु-पक्षी तथा स्वयं मनुष्य पेड-पौधों पर ही भोजन के लिए आश्रित हैं। इन्ही की बदौलत हमारे स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट व्यजन और पकवान तैयार होते हैं। इनके बिना किसी भी प्राणी का पृथ्वी पर पैदा होना या जीवित रहना असम्भव है।

हमारी-आपकी ख़ूराक मे कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और थोड़ा-बहुत घी-तेल-नमक रहता है। इन सब पदार्थों मे हमें प्रोटीन और स्टार्च की अधिक ज़रूरत रहती है। ये हमारे अंगों को बनाते और पुष्ट करते हैं और इन्ही से हमें काम-काज के लिए शक्ति मिलती है। इन पदार्थों की रचना पेड़-पौधों द्वारा होती है। इस समय हम आपका ध्यान कार्बन और नाइट्रोजन एसिमिलेशन की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। इनके फलस्वरूप पौधों मे स्टार्च व अन्य कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन बनते हैं।

कार्बन एसिमिलेशन (स्टार्च-संश्लेषण)

दूसरे कार्बोहाइड्रेट की तरह स्टार्च भी कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से बना है। ऑक्सिजन और हाइड्रोजन तत्त्व इसमे उसी मात्रा में होते हैं, जिसमें कि वे पानी में होते हैं; अर्थात् प्रत्येक ऑक्सिजन अणु के साथ-साथ दो हाइड्रोजन अणु संयोजित रहते हैं (H_2O)। स्टार्च की रचना विशेषकर पेड़ों की पत्तियों मे ही होती है। यहाँ कार्बन एसिमिलेशन की क्रियाये होती रहती हैं, जिनसे अत में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और जल के मेल से शकर और स्टार्च-जैसे अमूल्य पदार्थ बनकर तैयार होते हैं।

प्रायः वैज्ञानिकों का मत है कि कार्बन एसिमिलेशन मे सबसे प्रथम फार्मैल्डीहाइड तैयार होता है, पर तुरन्त ही इसके ६ अणु मिलकर एक प्रकार की शकर बन जाती है:—

$$CO_2 + H_2O = CH_2O \text{ (फार्मैल्डीहाइड) } + O_2$$

$$6CH_2O = C_6H_{12}O_6 \text{ (शकर) }$$

इन सूत्रों के अनुसार जितनी कार्बन-डाइ-ऑक्साइड पौधे ग्रहण करते हैं, उतनी ही ऑक्सिजन वे बाहर वायु में निकाल देते हैं और इस प्रकार पौधों के फोटोसिन्थिसिस के प्रभाव से वायु शुद्ध होती रहती है।

प्रयोग—इलोडिया या हाइड्रैला जैसे किसी पानी के अन्दर उगनेवाले पौधे को एक बर्त्तन में पानी के अन्दर फनेल से ढककर रख दीजिए। फनेल की नली पर एक

चि० ३—आलू के ग्रन्थिकंद से पौधे की उत्पत्ति। इसके पहले कि पौधा अंकुरित होकर हरी पत्तियो द्वारा स्टार्च आदि की रचना कर सके, उसे खाद्य पदार्थ चाहिएँ। ये ग्रन्थिकंद मे संचित द्रव्यो से ही प्राप्त होते हैं। (चि० मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)

चि० ४—इस चित्र में स्टार्च-परीक्षा करने की क्रिया दिखलाई गई है। चित्र में बाईं ओर, ऊपर एक पात्र मे पत्ती खौलाई जाती दिखाई गई है; नीचे डिश नं० १ मे अल्कोहोल में रखकर पत्ती का पर्णहरित दूर करने की क्रिया और नं० २ मे उसे आयोडीन के घोल में रखने की क्रिया दिखाई गई है। दाहिनी ओर, ऊपर पत्ती का चित्र अल्कोहोल द्वारा पर्णहरित निकल जाने पर दिखाया गया है, नीचे उसी रंगहीन पत्ती को आयोडीन घोल में डालने के पश्चात् घोल के प्रभाव से रँग जाने पर दिखाया गया है। (चि० श्री वि० सा० शर्मा)

पानी से भरी टेस्टट्यूब उलट कर अपैरेटस को प्रकाश मे पहुँचा दीजिए (चि० १)। कुछ देर बाद ट्यूब मे गैस के बुलबुले जमा होने लगेगे और आठ-दस घंटे बाद उसमे काफी गैस आ जायगी। परीक्षा करने पर यह गैस ऑक्सिजन निकलेगी। यदि इस प्रयोग मे साधारण पानी के बजाय उबाला हुआ पानी काम मे लाया जाय तो गैस नही इकट्ठी होगी; परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि पानी उबालकर उसमे वायु नही आने देनी चाहिए। इसलिए वर्त्तन मे खौलता पानी भरकर उसे तुरन्त ही काग से बन्द कर देना चाहिए। जल ठंढा होने के पश्चात् उसमे उपरोक्त विधि से पौधा और फनेल आदि रख फौरन् फिर काग लगा देनी चाहिए। शेष सारी बाते वही होनी चाहिएँ जो पहले प्रयोग मे थीं।

फोटोसिन्थिसिस पत्ती के मिसोफिल कोशों मे होता है। इस क्रिया मे पौधे की पत्तियाँ वायु की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को प्रकाश की सहायता से ग्रहण करती हैं। यह गैस रध्रों से निःसृत होकर पत्ती के अन्तरतान्तविक-स्थानों मे पहुँचती है। यहाँ से यह मिसोफिल कोशों में प्रवेश करती है। कार्बन-डाइ-ऑक्साइड पानी मे घुलकर ही जाती है, गैस-रूप मे नहीं। इन कोशों मे अनेक रासायनिक क्रियाओं के पश्चात् अन्त मे स्टार्च बनता है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पत्तियों मे सम्भवतः पहले फार्मैल्डीहाइड बनता है; परन्तु यह अधिक मात्रा मे नही मिलता। इससे अनुमान किया जाता है कि यह पदार्थ शकर में परिवर्त्तित हो जाता है। यहाँ से यह शकर पौधे के अन्य अगों मे, जहाँ काम-काज और बाढ़ होती रहती है, पहुँचती है। ज़रूरत से ज्यादा तैयार हुई शकर पहले पत्तियो मे ही स्टार्च मे परिवर्त्तित हो जमा होती है; पर बाद मे वह जड, तना, बीज या किसी अन्य अंग मे सचित होती है। यही स्टार्च से परिपूर्ण पदार्थ हमारे-आपके काम आते हैं। आलू, रतालू, शकरकंद-जैसी वस्तुओं और चावल आदि मे अधिकाश भाग स्टार्च का

चि० ५
(अ) बाहर साधारण वायु में फैली पत्ती और (ब) बोतल के अन्दर की पत्ती, आयोडीन घोल से स्टार्च की जाँच करने के पश्चात्। (चि० मि० श० अहमद)

ही होता है, जो कार्बन एसिमिलेशन से ही इनमे सचित हो गया है। इन वस्तुओं को हम-आप सभी बर्तते हैं और इन्हीं से पौधों की उत्पत्ति तथा बाढ होती है, तथा इसके पहले कि इनमे पत्तियाँ आएँ और वे खाद्य पदार्थ बना सकें, यही सचित द्रव्य पौधों की खूराक होते हैं (चि० २-३)। पहले कुछ लोगों की धारणा थी कि कार्बन एसिमिलेशन मे सबसे पहले स्टार्च बनता है ; परन्तु अब पता चलता है कि यह बात ठीक नही। फिर भी इसमे सन्देह नहीं कि सबसे पहले बननेवाला द्रव्य न होने पर भी इस क्रिया में हम स्टार्च को ही सबसे प्रथम प्रकट होते देखते हैं। कुछ एकदली और कोई-कोई द्विदली पौधों मे स्टार्च की जगह एक-न-एक तरह की शकर तैयार होती है और किसी-किसी शैवाल (*Vaucheria* वोचिरिया) मे इसके बजाय तेल बनता है।

स्टार्च की परीक्षा—यदि गेहूँ या चावल के आटे पर बूँद-दो बूँद आयोडीन घोल डालकर देखा जाय तो आटे का रग बैंगनी, नीला या काला हो जायगा। यही हाल सिघाडे व साबूदाने के चूर्ण व आलू के कत्तल का होगा। इस परिवर्त्तन का कारण यह है कि इन वस्तुओं मे स्टार्च होता है जो आयोडीन के घोल से ऐसा रँग जाता है। अगर किसी पौधे की पत्ती की जाँच की जाय तो भी ऐसा ही होगा, लेकिन अक्सर पत्ती के हरे रग के कारण इस घोल का ठीक-ठीक असर दिखाई नहीं देता। इसलिए आयोडीन घोल मे डालने के पहले पत्ती का पर्णहरित निकाल देना चाहिए।

प्रयोग—गेहूँ, मक्का, तरोई, सूरजमुखी या किसी दूसरे पौधे की पत्तियों को दोपहर बाद इकट्ठी कर खौलते पानी में थोड़ी देर पड़ी रहने दीजिए। बाद मे इन्हे पानी से निकालकर ६०% अल्कोहोल मे रख दीजिए। धीरे-धीरे पत्ती का रग हल्का होने लगेगा और अल्कोहोल हरा हो जायगा। दो-तीन बार अल्कोहोल बदलने पर पत्ती का रग जाता रहेगा। यदि क्लोरोफिल को जल्द दूर करना हो तो अल्कोहोल को कुछ गरम कर सकते हैं, परन्तु इसमे बड़ी सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि अल्कोहोल तुरत ही आग पकड़ लेता है। रगहीन पत्ती को आयोडीन के घोल मे रखने से वह, जैसा उसमे स्टार्च होगा उस हिसाब से, काली, नीली व बैंगनी हो जायगी (चि० ४)।

कार्बन एसिमिलेशन के लिए किन-किन बातों की ज़रूरत होती है?

पौधों मे कार्बन एसिमिलेशन के लिए (१) कार्बन-डाइ-ऑक्साइड, (२) पानी, (३) प्रकाश, (४) पर्णहरित और (५) अनुकूल ताप की ज़रूरत पड़ती है। ये ही इस क्रिया के विशेष उपकरण हैं। इनमें से प्रायः जल तो सभी जगह व समय क्रिया के लिए ज़रूरत भर के लिए मिलता रहता है और पर्णहरित की पौधों मे कमी नहीं है। इसके अलावा यह पदार्थ तो फोटोसिन्थिसिस मे सिर्फ प्रवर्त्तक रूप से ही सहायक समझा जाता है। अब रह गई शेष की तीन वस्तुएँ, अर्थात् कार्बन-डाइ-ऑक्साइड, प्रकाश और ताप-क्रम। इन्हीं की कमी-ज्यादती पर क्रिया का दारोमदार है और यही इसके सीमास्थापक उपकरण (limiting factors) हैं।

कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और फोटोसिन्थिसिस—कार्बन-डाइ-ऑक्साइड कार्बन एसिमिलेशन के आवश्यक उपकरणों में है। इसके बिना पत्तियों मे स्टार्च नहीं बन सकता।

प्रयोग—चौलाई, ट्रोपियोलम या किसी दूसरे गमले मे लगे पौधे को दो-तीन दिन रोशनी से बचा अँधेरी जगह रख दीजिए। इस हालत में स्टार्च नही बनेगा और जो कुछ पौधे की पत्तियों मे स्टार्च पहले से सचित होगा वह भी समाप्त हो जायगा। जब जाँच करने पर पत्तियों मे स्टार्च न मिले तो ऐसे पौधे को रोशनी मे लाइए, परन्तु उसकी एक पत्ती को इस ढग से रखिए कि उसे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड न मिले। इस सुभीते के लिए एक बोतल के अन्दर प्याली मे थोड़ा-सा कास्टिक पोटाश रख दीजिए और उसके मुँह में दो फाँक में चीरी एक काग लगा दीजिए (चि० ५)। काग के पल्लों के बीच से पत्ती को बोतल के अन्दर प्रवेश कर दराज मोम या किसी और ऐसी ही चीज़ से बद कर दीजिए ताकि हवा न आ सके। प्याली का पोटाश बोतल की हवा से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड खींच लेता है, इसलिए अन्दर की पत्ती को यह गैस नहीं मिलती। शेष के सारे उपकरण अन्दर-बाहर एक-जैसे हैं। आठ-दस घटे रोशनी मे रखने के बाद आयोडीन घोल से जाँच करने पर आप देखेंगे कि बोतल के अन्दर की पत्ती में बिल्कुल स्टार्च नहीं बना, यद्यपि बाहर की सभी पत्तियों मे काफी स्टार्च बन गया है (चि० ५)। यदि इस तरह पत्ती का कुछ हिस्सा ऐसी बोतल के बाहर और कुछ उसके अन्दर रक्खा जाय तो केवल बाहरवाले हिस्से मे स्टार्च मिलेगा शेष में नहीं। इस प्रयोग से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि **कार्बन-डाइ-ऑक्साइड न मिलने से पौधों मे फोटोसिन्थिसिस नही होता।**

कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा का फोटोसिन्थिसिस पर प्रभाव—हवा मे लगभग ·०३% कार्बन-डाइ-ऑक्साइड रहती है। साधारण दशा मे पौधों के लिए यही काफी है। अगर हवा मे किसी तरह इस गैस की मात्रा इससे अधिक की जाय तो कार्बन एसिमिलेशन भी अधिक हो जायगा, लेकिन उसी वक्त तक जब तक कि कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा २५% तक नहीं पहुँच जाती। इसके उपरान्त, साधारण प्रकाश और ताप में, कार्बन-डाइ-ऑक्साइड अधिक करने पर भी एसिमिलेशन अधिक नहीं होता। अब यदि ताप और प्रकाश मे से एक-न-एक अधिक किया जाय तो क्रिया तुरन्त बढने लगेगी। इस ढग से बाक़ी के दो उपकरणों को यथेष्ट बढाने से जिस समय तक वायु मे २५% कार्बन-डाइ-ऑक्साइड नहीं हो जायगी क्रिया की रफ्तार बढती जायगी; परन्तु जब गैस की मात्रा इससे बढ जायगी तो जीवन-मूल पर इसका विषैला प्रभाव पड़ने लगेगा और क्रिया धीमी हो जायगी।

प्राकृतिक अवस्था मे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड सीमास्थापक रहता है; क्योंकि ऐसी दशा मे पत्तियाँ ·०३% से अधिक कार्बन-डाइ-ऑक्साइड काम मे ला सकती हैं। परन्तु वायु मे इससे अधिक यह गैस नहीं होती।

प्रकाश और कार्बन एसिमिलेशन—कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की भाँति बिना प्रकाश भी कार्बन एसिमिलेशन नहीं हो पाता। इसकी जाँच के लिए ऊपर कहे ढग से अंधकार में रक्खे पौधे को लेकर उसकी एक-दो पत्ती काले काग़ज़ या पन्नी से लपेट दीजिए (चि० ६)। काग़ज़ या पन्नी पर इच्छानुसार अक्षर या चित्र काटे जा सकते हैं। ऐसी दशा में केवल कटे भाग से ही पत्ती में रोशनी पहुँचेगी। बाद में पौधे को रोशनी में रख दीजिए और शाम को इन पत्तियों की दो-एक साधारण पत्तियों के साथ आयोडीन घोल से जाँच कीजिए। अब आप देखेंगे कि पत्ती के जिस भाग मे प्रकाश नहीं पहुँचा स्टार्च नहीं बना (चि० ६)। अतः **फोटोसिन्थिसिस के लिए प्रकाश आवश्यक है**। यही कारण है कि पत्तियाँ प्रकाश की ओर झुकी रहती हैं (चि० ७)।

वायु मे जितना कार्बन-डाइ-ऑक्साइड है उसके अनुसार कार्बन एसिमिलेशन के लिए प्रकृति मे प्रकाश की कमी नहीं है और इसलिए प्राकृतिक दशा में वह सीमास्थापक उपकरण नहीं होता, परन्तु घने जगलों और खोहों में उगनेवाली वनस्पतियों को, जहाँ छिधकर प्रकाश की किरणों का पहुँचना कठिन है, बहुत कम प्रकाश मिलता है और इस दशा में वह ·०३% कार्बन-डॉइ-आक्साइड के लिए भी पर्याप्त नहीं होता। ऐसी परिस्थिति मे प्रकाश सीमास्थापक हो जाता है। इन स्थानों मे नीचे उगनेवाले पेड़-पौधे जिन दिनों वहाँ के वृक्षों मे पतझड़ होता है उन्हीं दिनों स्टार्च तथा अन्य वस्तुओं की रचना कर पूरे साल के लिए निश्चिन्त हो जाते हैं।

चि० ६—सूर्य-प्रकाश और कार्बन एसिमिलेशन
१—साधारण पत्ती। २-३ विधिवत काले काग़ज़ से ढकी पत्तियाँ। १'-२'-३' यही पत्तियाँ स्टार्च की जाँच के पश्चात्। (चि० मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)

सूरज की किरणों का प्रत्येक भाग समान रूप से कार्बन एसिमिलेशन के लिए हितकर नहीं है। जैसा आपको मालूम होगा, यह किरणें कई रग की होती हैं। ये रग वही हैं, जिन्हे आप वर्षा के दिनों कभी-कभी आकाश मे इन्द्रधनुष मे देखते हैं। प्रिज्म से गुज़रने पर भी सूरज की रोशनी इन्हीं रंगों में विस्तारित हो जाती है। ये रंग बैंगनी, गहरा नीला, नीला, हरा, पीला, नारगी और लाल हैं। फोटोसिन्थिसिस इन सब में एक समान नहीं होता।

प्रयोग—ऊपर बताये तरीक़े से अँधेरे में उगाये दो पौधे ले लीजिए और दो दोहरी दीवालवाले बेलजार लेकर एक में पोटैशियम-डाइक्रोमेट (Potassium di-chromate) का घोल और दूसरे में तूतिया (Copper-sulphate) का घोल, जिसमें थोड़ा अमोनिया पड़ा हो,

भर दीजिए। अमोनिया के प्रयोग से तूतिया के घोल का रग गहरा हो जाता है। पहले लिये हुए गमलों में से एक-एक को इन वेलजारों से ढककर रोशनी में रख दीजिए। शाम को इन पौधों से पत्तियाँ उतार स्टार्च के लिए जॉच कीजिए। आप देखेंगे कि पोटशियम-डाइक्रोमेट के वेलजार से ढके पौधे की पत्तियो मे लगभग उतना ही स्टार्च बना है जितना कि बाहर प्रकाश मे; परन्तु तूतिया के वेलजार के अन्दर रक्खे पौधे मे नाममात्र को ही स्टार्च बन पाया है। इससे नतीजा यह निकलता है कि सूरज की किरणों के उस भाग मे, जो पोटेशियम-डाईक्रोमेट के घोल से छनकर पौधे को मिलता है (अर्थात् लोहित किरणों मे), यथार्थ फोटोसिन्थिसिस होता है, परन्तु इनके उस भाग में जो तूतिया के घोल से छनकर पौधे तक पहुँचता है (अर्थात् नीली किरणों में) यह क्रिया नाममात्र को ही होती है। इसे हम एक दूसरी तरह से भी साबित कर सकते हैं।

प्रयोग—इलोडिया या हाइड्रिला-जैसे किसी पानी के नीचे उगनेवाले पौधे को प्रयोग १ में बताई विधि से पोटेशियम-डाइक्रोमेट और तूतिया के वेलजारों से ढककर प्रकाश मे रख दीजिए। कुछ देर बाद आप देखेंगे कि पोटेशियम-डाइक्रोमेट के वेलजार के अन्दर रक्खे पौधे की ऊपर की ट्यूब मे काफी ऑक्सिजन आ गई है, परन्तु तूतिया के वेलजारवाली ट्यूब में शायद ही कुछ ऑक्सिजन आई हो। अतः **सूरज की किरणों का लाल भाग ही विशेषकर कार्बन एसिमिलेशन में भाग लेता है।**

ताप और फोटोसिन्थिसिस—कार्बन एसिमिलेशन पर ताप का प्रायः वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा कि इसका अन्य साधारण रासायनिक क्रियाओं पर (चि० ८)। ताप बढने के साथ ही इन क्रियाओं की गति भी बढ जाती है। बहुत-सी रासायनिक क्रियाओं मे देखा जाता है कि प्रति १०° श० ताप की बाढ़ पर क्रिया दूनी हो जाती है अर्थात् २०° श० पर १०° श० की अपेक्षा क्रिया दुगुनी रफ्तार से होने लगती है और ३०° श० पर इसकी दुगुनी (चि० ८)। एक विशेष सीमा के अन्दर फोटोसिन्थिसिस में भी यही नियम लागू है (चि० ८)। यहाँ क्रिया का जीवनमूल से सम्बन्ध है, जो सजीव पदार्थ है और ताप की विशेष अवधि पहुँच जाने पर मर जाता है। इसके अतिरिक्त जो द्रव्य फोटोसिन्थिसिस मे उपार्जित होते हैं उनका भी पत्ती से स्थानान्तर हो जाना ज़रूरी है, वरना इनके जमा हो जाने से भी क्रिया धीमी पड़ने लगती है।

जाँच से देखा गया है कि प्रायः २५° श० के ऊपर ताप पहुँचने पर फोटोसिन्थिसिस की रफ्तार धीमी पड़ने लगती है और जितनी अधिक देर तक ऐसा ऊँचा ताप रहता है क्रिया पहले से धीमी पड़ती जाती है। यह अवस्था श्रम या थकावट का परिणाम समझी जाती है। लगभग ३५° श० के ऊपर ताप पहुँचने पर क्रिया बड़ी शीघ्रता से धीमी पड़ने लगती है और प्रायः आध घंटे के अन्दर बिल्कुल ही बन्द हो जाती है। १०° श० और २५° श० के बीच, किसी भी ताप पर, यदि कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और प्रकाश अनुकूल हों तो क्रिया की रफ्तार घंटों एक-सी बनी रहती है। इस परिस्थिति में श्रम का प्रभाव नहीं पड़ता। ९° श० और १९° श० के बीच ताप बढने पर फोटोसिन्थिसिस प्रायः साधारण रासायनिक क्रियाओं के नियम के अनुसार बढता है।

साधारण दशा में प्रायः तापक्रम यथेष्ट रहता है, परन्तु बहुत ठंडे प्रदेशों में तथा पर्वतों की ऊँची-ऊँची चोटियों पर यह साधारण प्रकाश और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के लिए भी सीमास्थापक हो जाता है।

विषैला प्रभाव—जैसा ऊपर कह चुके हैं, प्रकाश, ताप और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड में से कोई भी सीमास्थापक हो सकता है, साथ-ही-साथ, इनमे से कोई भी विशेष मात्रा के ऊपर उलटा प्रभाव डाल सकता है। इस प्रकार यदि कार्बन-डाइ-ऑक्साइड २५% से अधिक मात्रा में वायु में हो जाय तो इसका ज़हरीला प्रभाव पड़ने लगता है और क्रिया धीमी पड़ जाती है। साधारण प्रकाश से ६०% अधिक प्रकाश होने पर पर्णहरित झुलस जाता है और क्रिया बन्द हो जाती है। ३५° श० से अधिक तापक्रम पहुँचने पर फोटोसिन्थिसिस की रफ्तार धीमी पड़ने लगती है और अन्त में क्रिया बंद हो जाती है। इन सीमाओं मे देश, काल अथवा पौधे की प्रकृति आदि के अनुसार थोड़ा-बहुत हेर-फेर पड़ता रहता है।

पर्णहरित और कार्बन एसिमिलेशन—पर्णहरित कार्बन एसिमिलेशन के आवश्यक उपकरणों मे है और इसके बिना स्टार्च-संश्लेषण नहीं हो सकता।

प्रयोग—किसी पौधे की चितकबरी (variegated) पत्ती लेकर उपरोक्त विधि से स्टार्च की जॉच कीजिए। केवल पत्ती के उसी भाग में स्टार्च मिलेगा जिसमें क्लोरोफिल था (चि० ९)। इस प्रयोग मे पत्ती का, पर्णहरित उतारने के पहले, सही-सही चित्र खींच लेना चाहिए, ताकि उन स्थानों का, जिनमें क्लोरोफिल था, हमें बाद में पता चल सके और आयोडीन घोल में डालने के

पश्चात् जहाँ-कहीं स्टार्च मिलता है, उन स्थानों की हम इनसे तुलना कर सकें।

जॉच से पता चलता है कि क्लोरोफिल मिश्रित पदार्थ है। इसमें कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन और मैग्नेशियम होते हैं।

शुद्ध क्लोरोफिल दो प्रकार के हरे पदार्थों से बना है। इनमे एक गहरा हरा होता है—इसे क्लोरोफिल (अ) कहते हैं और दूसरा हल्का हरा होता है—इसे क्लोरोफिल (ब) कहते हैं। इनके साथ-साथ पर्णहरित मे दो और रगदार द्रव्य होते हैं। इनमे से एक लाल होता है—इसे ज़ैन्थोफिल (Xanthophyll) कहते हैं और दूसरा नारगी लाल (orange red), जिसे कैरोटिन (Carotin) कहते है। विशेष घोलकों के प्रयोग से हम इन चारों को अलग कर सकते हे।

कार्बन एसिमिलेशन में केवल शुद्ध क्लोरोफिल का ही सबध माना जाता है, परन्तु यह पदार्थ भी एसिमिलेशन की अन्तिम बनी वस्तु मे भाग नहीं लेता। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि क्लोरोफिल के साथ क्लोरोफाइलेज़ (Chlorophyllase) या दूसरा कोई प्रवर्त्तक (enzyme) भी काम करता है। सम्भव है, इस क्रिया मे कई प्रवर्त्तक भाग लेते हों। फोटोसिन्थिसिस मे पर्णहरित उत्प्रेरक (catalytic) रूप से काम करता है और इसलिए इसकी मात्रा का क्रिया पर प्रभाव नही पड़ता। क्लोरोफिल की वृद्धि और उत्पत्ति के लिए ऑक्सिजन, यथेष्ट ताप, प्रकाश और खाद्य-रसों मे लोहे की उपस्थिति की आवश्यक्ता रहती है।

आपने देखा होगा कि बेलन के नीचे दबी बगीचे की घास व अन्धकार मे उगे पौधे पीले पड जाते हैं। इस हालत में इनमे एक पीली वस्तु पैदा हो जाती है। ऐसे पौधों को इटिओलेटेड (etiolated) पौधे कहते हैं। ऐसे पौधों के पोर लम्बे, पत्तियाँ छोटी तथा वल्कपत्र-जैसी होती हैं और इनमें काष्ठ और पाषाण-तन्तु कम, परन्तु कोमल तन्तु अधिक होते हैं। ये पौधे साधारण पौधों से बहुत नाजुक और कमजोर होते हैं (चि० १०)। अँधेरे में कार्बन एसिमिलेशन नहीं हो सकता। इसलिए इटिओलेटेड पौधों मे बड़ी पत्तियो की आवश्यकता नही, परन्तु पोर बडे होने से इनकी अँधेरे से निकल प्रकाश मे पहुँचने की सम्भावना है। इसलिए मानो ऐसे पौधे, अपने हित के लिए ही, पत्तियों वगैरह से खाद्य पदार्थ बचा कर उसे लम्बे पोर बढाने मे ही लगाते हैं।

पौधों की ख़ूराक मे लोहे का भाग न होने से भी वे पीले और रोगी हो जाते हैं। ऐसे पौधो मे लोहे का अश पहुँचते ही वे फिर हरे हो जाते हैं।

प्रकाश ——>

प्रकाश की ओर

चि० ७—(फोटो—श्री वि० सा० शर्मा)

यदि क्लोरोफिल के घोल को प्रिज्म और सूरज की किरणों के बीच में रख दिया जाय, ताकि जो किरणे प्रिज्म पर पडे वे इस घोल से छन-कर आएँ, तो जो स्पेक्ट्रम बनेगा वह साधारण स्पेक्ट्रम से बहुत भिन्न होगा। ऐसे स्पेक्ट्रम के विशेषकर लाल भाग मे कुछ काली पट्टियाँ दिखाई देगी। किसी अश मे ऐसी पट्टियाँ नीले और बैंगनी भाग मे भी मिलेगी। इसका कारण यह है कि पर्णहरित इन किरणों को सोख लेता है। इसके पहले हम देख चुके हैं कि कार्बन एसिमिलेशन मे विशेषकर लोहित किरणे ही भाग लेती हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि क्लोरोफिल प्रकाश की इन्हीं किरणों को ग्रहण कर जीवन-मूल को कार्बन एसिमिलेशन के लिए शक्ति प्रदान करता है। प्रकाश की नीली और बैंगनी किरणे भी क्लोरोफिल मे जज्ब हो जाती हैं; परन्तु इनमे स्टार्च-सश्लेषण बहुत कम होता है। सम्भव है, ये किसी अन्य क्रिया में भाग लेती हों।

पौधों में पत्तियों के क्लोरोप्लैस्ट्स प्रकाश की शक्ति ग्रहण कर यत्र की भॉति काम करते हैं और जल और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के मेल से आर्गैनिक पदार्थों की रचना करते हैं। इस क्रिया मे, जैसा हम पूर्व ही कह चुके हैं, सबसे पहले बननेवाला कार्बोहाइड्रेट द्राक्षशर्करा (अगूरी शकर) प्रमाणित होती है। इसका कुछ अंश श्वसन (Respiration) मे काम आता है और कुछ खनिज लवणों से मिलकर अन्य आर्गैनिक द्रव्य निर्माण करता है। यथार्थ में हम यह नहीं बता सकते कि ये क्रियाएँ किस ढंग की होती हैं; परन्तु सम्भवतः कई अणुओं के सयोग (Conden-

sation) और जल-त्याग से विशेष यौगिक बन जाते है। यह सयोग उसी विधि का समझा जाता है जैसा द्राक्ष-शर्करा आदि से सेलूलोज़-जैसे पदार्थ बनने की रचना मे होता है।

द्राक्षशर्करा से साधारण शकर (Cane Sugar) ($C_6H_{22}O_{11}$) तथा माल्टोज़ (Maltose) ($C_6H_{22}O_{11}$) निम्न सूत्र के अनुसार बनता है:—

$$2C_6H_{12}O_6-H_2O$$
$$= C_{12}H_{22}O_{11}$$
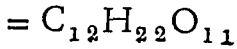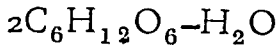
द्राक्षशर्करा से स्टार्च निम्न सूत्र के अनुसार बनता है:—

$$nC_6H_{12}O_6-nH_2O$$
$$=(C_6H_{10}O_5)\ n\ \text{(स्टार्च)}$$
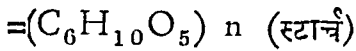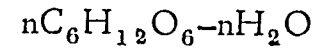
सम्भवतः कार्बन एसिमिलेशन मे कई प्रवर्त्तक भाग लेते हैं। जॉच से पता चलता है कि इस क्रिया में सबसे पहले क्लोरोप्लैस्टस आक्सीडेज (Oxidase) प्रवर्त्तक की सहायता और जल और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के मेल से फार्मैल्डीहाइड बनाते हैं। फिर इस पदार्थ के ६ अणु मिलकर एल्डीहाइडेज (Aldehydase) नामक प्रवर्त्तक की सहायता से डेक्सट्रोज़ (Dextrose) की रचना करते हैं। इस प्रकार कई एक प्रवर्त्तक के सहयोग से एक के बाद दूसरे पदार्थ बनते हैं और सबमे बाद मे स्टार्च की रचना होती है।

चि० ८

अ—साधारण रासायनिक क्रिया पर तापक्रम का प्रभाव।

ब—आलू मे फोटोसिन्थिसिस क्रिया पर तापक्रम का प्रभाव। (Lundegarh)

कार्बोहाइड्रेट किस मात्रा मे बनता है—पत्तियॉ किस रफ्तार और मात्रा से स्टार्च तथा अन्य कार्बोहाइड्रेट बनाती हैं इसका दारोमदार बहुत-कुछ फोटोसिन्थिसिस के उपकरणों तथा पौधों की आन्तरिक अवस्था पर है। प्रयोगों से पता चलता है कि साधारण रूप से प्रायः एक वर्गमीटर (१ मीटर = ३९.३७ इच) पत्ती की सतह से एक घटे मे एक या डेढ ग्रैम कार्बोहाइड्रेट बनता है। एक ऋतु के अन्दर इस ढग से करोड़ों मन कार्बोहाइड्रेट प्राप्त होता है। प्रत्येक फसल में जितनी भी उपज होती है वह सब सीधे व हेरफेर से कार्बन एसिमिलेशन से ही प्राप्त होती है।

कार्बन एसिमिलेशन के जिस ढग का यहाँ वर्णन किया गया है वह साधारण हरे पौधों में होता है। इस दशा में पर्णहरित और प्रकाश का होना आवश्यक है, परन्तु कुछ पौधे ऐसे भी हैं जिनमें पर्णहरित नही होता। ऐसे पौधों को कार्बन कैसे मिलता है, हम आगे चलकर विचार करेंगे, परन्तु इसके पहले हम नाइट्रोजन एसिमिलेशन पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

नाइट्रोजन एसिमिलेशन या प्रोटीन-संश्लेषण

हम पहले ही देख चुके हैं कि पौधों को कार्बन वायु से मिलता है। सम्भव है, हममें से किसी-किसी की यह भी धारणा हो कि इनको नाइट्रोजन भी वहीं से मिल जाती होगी, परन्तु ऐसा नहीं है। वायु मे नाइट्रोजन की इतनी अधिक मात्रा रहने पर भी कुछ इने-गिने बैक्टिरिया की जाति के उद्भिजों को छोड़ शेष पेड़-पौधे इसका उपभोग नहीं कर सकते। साधारण पेड़-पौधों को नाइट्रोजन पृथ्वी के खनिज लवणों से ही मिलती है। ये नाइट्रेट या अमोनियम लवणों के रूप में ही होते हैं। नाइट्रोजन जीवों के तन्तुओं का परम आवश्यक भाग है। यह उन द्रव्यों में है जिनसे जीवनमूल की रचना होती है। इसलिए इसकी रचना के लिए यह बड़ा जरूरी द्रव्य है। पशुओं को नाइट्रोजन प्रोटीन से मिलता है, जो इन्हे अन्य पशुओं के मांस, अडा आदि अथवा दालों से मिलता है, परन्तु अन्त मे हमे मानना ही पडेगा कि प्रोटीन का वास्तविक ज़रिया पौधे ही हैं।

पौधे के सजीव कोशों में जड़ों से प्राप्त नाइट्रेट व नाइट्रोजन के दूसरे नमक और पत्तियों द्वारा उपार्जित कार्बोहाइड्रेट के मेल से प्रोटीन की रचना होती है। यह क्रिया प्रकाश म अधिक भले ही होती हो, परन्तु फोटोसिन्थिसिस की भाँति, क्लोरोफिल और प्रकाश इसके आवश्यक उपकरण नही हैं।

पौधों के तन्तुओं मे पहुँचकर पहले नाइट्रेट नाइट्राइट या अमोनियम के नमकों मे बदल जाते हैं। ये नमक अथवा घोलरूप में सीधे आए अमोनियम-लवण, शक्कर या फार्मैल्डीहाइड के सहयोग से, पहले अमीनो ऐसिड्स या इनके नमकों की रचना करते हैं। अन्त मे इन्ही से प्रवर्त्तकों की सहायता से प्रोटीड बनते हैं। यह तो है

संक्षेप में प्रोटीन सिन्थिसिस की विधि, परन्तु इन परिवर्त्तनों का हमें पूरा-पूरा ज्ञान नहीं। हम अभी तक यह भी नहीं पता लगा सके कि इन क्रियाओं के कौन-कौन आवश्यक उपकरण हैं।

जहाँ तक पता चलता है, ये क्रियाएँ पत्ती में ही होती हैं। सम्भवतः जिस प्रकार द्राक्षशर्करा के संयोग से स्टार्च या सेलूलोज़ की रचना होती है, उसी ढंग पर अमीनो ऐसिड्स के संयोग से प्रोटीन बनते हैं। कार्बोहाइड्रेट सिन्थिसिस की तरह ख़याल किया जाता है कि यह संयोग भी कई सीढ़ियों में होता है और इसी भाँति एक के बाद दूसरे बननेवाले पदार्थ अधिक पेचीदा होते जाते हैं। पहले अमीनो-ऐसिड्स से पालीपेप्टाइड्स (Polypeptides) और अल्बुमोज़ेज़ (Albumoses), फिर इनसे पेप्टोन्स (Peptones) और अन्त में पेप्टोन्स से प्रोटीन्स (Proteins) बनते हैं। इन क्रियाओं में एन्ज़ाइमों का बराबर सहयोग रहता है।

प्रोटीन सिन्थिसिस के लिए नाइट्रोजन और फ़ास्फ़रस की आवश्यकता है। [illegible]

[illegible]

चित्र १—चितकबरी पत्ती। क्लोरोफिल और फोटोसिन्थिसिस

अ—आयोडीन से जाँच करने के पूर्व। जिन स्थानों में पर्णहरित नहीं है वे खाली दिखाये गये हैं।

ब—वही पत्ती आयोडीन घोल से स्टार्च की परीक्षा करने के पश्चात। जिन स्थानों में स्टार्च नहीं बना वे खाली दिखाये गये हैं। (चि० मि० मु० अहमद द्वारा)

वनस्पति वसा

वनस्पति वसा सम्भवतः शकर से उपार्जित होते हैं इसलिए इनका यहाँ पर उल्लेख करना ज़रूरी है। ये ग्लिसरोल और फ़ैटीऐसिड्स के यौगिक हैं। ये द्रव्य पौधों में ठोस और द्रव दोनों ही रूप में मिलते हैं। तेल वसा का तरल रूप है। इस रूप में ये तेल वाले बीजों में मिलते हैं।

कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीड और वनस्पति वसा, जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं, उत्थानात्मक द्रव्यान्तर (Anabolism) से ही बनते हैं; अर्थात् ये पदार्थ संश्लेषण से उपार्जित होते हैं। इन वस्तुओं के अतिरिक्त और भी कुछ द्रव्य इसी प्रकार बनते हैं—आर्गेनिक ऐसिड्स, रंग, गोंद, टैनिन आदि जैसे पदार्थों में भी कोई-कोई पदार्थ इसी प्रकार बनते हैं; परन्तु इनकी रचना का हमें ठीक ठीक पता नहीं। सम्भव है, इस प्रकार की कितनी ही वस्तुएँ पतनात्मक-द्रव्यान्तर (Katabolism) से उत्पन्न हो जाती हों। इनमें से कोई-कोई तो उत्सृष्ट मल (मलोत्सर्जित वस्तुएँ) हैं, जो पतनात्मक द्रव्यान्तर से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

निर्मित पदार्थों का स्थानान्तर और संचय

पौधों की पत्तियों में घुलनशील कार्बोहाइड्रेट और सम्भवतः प्रोटीन बनते हैं। इन निर्मित पदार्थों से जीवन-मूल, कोश और तन्तुओं की रचना होती है। इन्हीं से पौधों में वृद्धि तथा उनकी सारी इन्द्रिय व्यापारिक क्रियाएँ होती हैं। अन्न-निर्माण विशेषतः पत्तियों में होता है, परन्तु बाढ़-वृद्धि सभी अंगों में होती है और बहुधा ये अंग पत्तियों से दूर-दूर पर होते हैं। इसके अतिरिक्त द्रव्य-

निर्माण सब दिनों बराबर तेजी से नहीं होता। इन कारणों से द्रव्यों का सचय आवश्यक है। शकर, जिसकी सबसे प्रथम कार्बन एसिमिलेशन मे रचना होती है और जिस रूप मे स्टार्च का स्थानान्तरीकरण होता है, पानी में घुलनशील और प्रसरणशील है, इसलिए यह संचित होने योग्य वस्तु नहीं है। अतः कार्बोहाइड्रेट का सचय प्रायः स्टार्च के रूप में होता है। कभी-कभी इसका सचय अन्य कार्बोहाइड्रेट के रूप में भी होता है।

पत्तियों से उपार्जित द्रव्य बढने-वाले अगों और सचय तन्तुओं में कोशरस मे घुले पहुँचते हैं। इनका स्थानान्तरीकरण रसारोहण तन्तु (Phloem) में होकर होता है।

स्टार्च तथा दूसरे कार्बोहाइड्रेट घुलनशील शकर के रूप मे, आवश्यकतानुसार, पौधे के भिन्न-भिन्न अगों में पहुँचते रहते हैं। इन अंगों में सचित होने के पूर्व ये फिर स्टार्च या कोई दूसरे ऐसे ही कार्बोहाइड्रेट में बदल जाते हैं और इसी रूप मे जब तक काम नहीं पड़ता ये सचित रहते हैं।

पत्तियों द्वारा उपार्जित स्टार्च विशेषकर रात के समय संचय-तन्तुओं मे पहुँचता है। वैसे तो आवश्यकतानुसार इसका स्थानान्तरीकरण दिन-रात होता रहता है, परन्तु दिन में जितना स्टार्च पत्तियों से अन्य अग में जाता है उससे कहीं अधिक इनमें बनकर तैयार हो जाता है, इसलिए दिन में पत्तियाँ स्टार्च से हर वक्त भरी रहती हैं। रात के समय कार्बन एसिमिलेशन नहीं होता: परन्तु स्थानान्तरीकरण होता रहता है। इस प्रकार अक्सर रात भर मे पत्तियों से स्टार्च निकलकर अन्य अगों में पहुँच जाता है और वे क़रीब-क़रीब ख़ाली हो जाती हैं। स्थानान्तर की क्रिया पत्ती की नसों में होकर होती है।

प्रयोग—किसी साधारण पौधे की पत्तियों को सुबह और शाम इकट्ठी कर अलग-अलग स्टार्च की जाँच कीजिए। प्रायः आप देखेंगे कि शाम को तोडी पत्तियाँ स्टार्च से भरी हैं; परन्तु सुबह को इकट्ठी की गई पत्तियों में बहुत थोडा या बिल्कुल स्टार्च नहीं है। अब यदि आप शाम होते ही कुछ पत्तियों की प्रधान नस काट दें और फिर सुबह इनकी स्टार्च के लिए जॉच करें तो इनमें लगभग उतना ही स्टार्च मिलेगा जितना कि शाम को इकट्ठी की गई पत्तियों में। बात यह है कि नस काट देने से पत्ती का स्टार्च उससे निकलकर दूसरी जगह नहीं जा सकता, अतः स्टार्च का रात के समय नसों में होकर स्थानान्तरीकरण होता है। इस बात की परीक्षा हम एक और तरह भी कर सकते हैं।

किसी प्रकाश में रखे पौधे की कुछ पत्तियों का आधा हिस्सा शाम को और बाक़ी का आधा सुबह काटकर पहले की तरह स्टार्च की जाँच कीजिए। केवल उसी भाग में स्टार्च मिलेगा, जो शाम को इकट्ठा किया गया है (चि० ११)।

चित्र १०—इन दोनों पात्रों में उर्द के बीज साथ-साथ बोये गये हैं। बाईं ओर का पात्र प्रकाश में तथा दाहिनी ओर ढक कर रक्खा गया था। दोनो के पौधो के अन्तर पर ध्यान दीजिए। (फोटो—श्री ठाकुर)

संचय पदार्थ

सचय-तन्तुओं में पहुँचने के पश्चात् उपार्जित द्रव्य सचय-पदार्थों में बदल जाते हैं। इन संचित द्रव्यों के तीन विशेष भेद हैं—कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate), प्रोटीड (Proteid) और वनस्पति वसा तथा तेल (Fats and Oils)।

सचित पदार्थ ही हमारी-आपकी ख़ूराक हैं और इन्हीं से पौधों मे बाढ़-वृद्धि तथा काम-काज होते हैं।

कार्बोहाइड्रेट—सचित कार्बोहाइड्रेट में स्टार्च मुख्य है। यह आलू और कितने ही कंद-मूल और बीजों में सचित रहता है। इसके दाने कई भाँति के होते हैं (दे० अ० ४ चि० ७)। खजूर तथा छुहारे के बीजों मे कार्बोहाइड्रेट हिड्रोज के रूप में सचित रहता है और डहलिया की जडों मे इनूलिन (Inulin) के रूप में। सचित कार्बोहाइड्रेट ज़रूरत पडने पर प्रवर्त्तकों की सहायता से घुलनशील और प्रसरणशील कार्बोहाइड्रेट मे बदल जाते हैं।

प्रोटीड—प्रोटीड ठोस रूप मे सचित रहते हैं। तेल-वाले बीजों मे ये प्रोटीन स्फटिकों के रूप में मिलते हैं और गेहूँ आदि के दानों में कणों के रूप मे (अ० ४ चि० ७)।

वनस्पति वसा और तेल—वसा तरल और ठोस दोनों ही भाँति सचित मिलता है। इसका तरल रूप तेल है।

प्रवर्त्तक (Enzymes)

प्रवर्त्तक अवलम्ब घोल के गुणवाले निर्जीव आर्गैनिक द्रव्य हैं। ये सचित पदार्थों को घुलनशील और निस्सरणीय बनाते हैं। इन्हीं के प्रभाव से हमारे-आपके उदर मे भोजन पचता है। सम्भव है, ये जीवनमूल के विदारण से उत्पन्न हो जाते हों।

प्रत्येक प्रवर्त्तक का किसी-न-किसी विशेष रासायनिक क्रिया पर प्रभाव पड़ता है। ये उत्प्रेरक रूप से काम करते

हैं और इनके प्रभाव से क्रियायें तेज पड़ जाती हैं। भिन्न-भिन्न द्रव्यों को घुलन और प्रसरणशील बनानेवाले अलग-अलग प्रवर्त्तक हैं। ऊपर हम कुछ ऐसे प्रवर्त्तक तथा उनके महत्व का उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ हम कुछ और ऐसे प्रवर्त्तकों पर विचार करेंगे।

साइटेज़ (Cytase) नाम का प्रवर्त्तक सचित छिद्रोज को एक प्रकार की घुलनशील और प्रसरणशील शकर मे बदल देता है।

इनूलेज (Inulase) प्रवर्त्तक के प्रभाव से इनूलिन (Inulin) प्रसरणशील द्रव्य मे बदल जाता है।

लाइपेज़ (Lipase) प्रवर्त्तक की क्रियाओं से वसा और तेल फैटी-ऐसिड्स और मधुरीन मे बदल जाते हैं। ये दोनों ही वस्तुएँ घुलन-और प्रसरण-शील हैं।

पेप्टेज़ (Peptase) प्रवर्त्तक प्रोटीड को पेप्टोन्स मे पलटता है। पेप्टोन्स घुलनशील और प्रसरणशील द्रव्य है।

इस तरह वायुमडल के कार्बन डाइ-ऑक्साइड और जड़ों द्वारा सचित पृथ्वी के जल और नमकों के मेल और सूरज की रोशनी की सहायता से पौधे की हरी पत्तियो मे पहले शकर या इस श्रेणी के दूसरे रासायनिक पदार्थ तैयार होते हैं जो अनेक रासायनिक क्रियाओं के बाद स्टार्च, प्रोटीन और अन्य अनेक वानस्पतिक द्रव्यों में बदल कर सचित होते रहते हैं। प्रयोजन पड़ने पर ये सचित द्रव्य प्रवर्त्तकों की सहायता से आवश्यकतानुसार घुलकर निस्सरित होते हैं। प्रवर्त्तकों की ये क्रियायें उसी भाँति की हैं, जैसी हमारे उदर की अनेक पाचन-क्रियाये। जिस तरह हमारे पेट मे पहुँचे आहार, रसों की सहायता से, पचकर रुधिर से मिल शरीर के भिन्न-भिन्न अगों में जाकर उन्हे पुष्ट कर हमे बल पहुँचाते हैं, उसी प्रकार पौधों मे भी अनेक सचित तथा उपार्जित द्रव्य रसों के सयोग से कोशरस से घुल-मिलकर प्रत्येक अग मे पहुँच कोशो और तन्तुओं की वृद्धि कर उन्हे काम-काज के लिए शक्ति प्रदान करते हैं।

चित्र ११—पत्ती से स्टार्च का स्थानान्तरीकरण

आयोडीन घोल से स्टार्च की जाँच करने पर (अ) पत्ती का वह भाग जो शाम को इकट्ठा किया गया है और (ब) वह भाग जो सुबह इकट्ठा किया गया है (चित्र मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)।

परन्तु स्टार्च, प्रोटीन अथवा दूसरे ऐसे उपार्जित और सचित द्रव्य पौधों का सजीव भाग नहीं हैं। ये केवल जीवनमूल के बीच एकत्र रहते हैं। इन वस्तुओं की ठीक वैसी ही दशा है जैसी कि हमारे उदर मे पहुँचे अन्न की। जिस प्रकार ऐसा अन्न हमारे अग का यथार्थ भाग हो जाने के पूर्व निर्जीव अन्न से सजीव जीवनमूल मे बदल जाता है, उसी भाँति ये वस्तुएँ भी सजीव जीवनमूल में बदल जाती हैं। यह एक विलक्षण रहस्य है, जिससे हम निरे अनभिज्ञ हैं। यही पर हमारा सारा वैज्ञानिक अहकार चूर-चूर हो जाता है और हमे हताश हो हार माननी पड़ती है। हम बराबर देखते हैं कि निर्जीव जल, नमक व हवा के सयोग से सजीव जीवनमूल की रचना होती रहती है, परन्तु यह क्रिया कैसे होती है हमारे चतुर से चतुर वैज्ञानिक भी नहीं बता सकते। अनेक छानबीन और अनुसधान के पश्चात् हम केवल इस मूल तत्त्व पर पहुँचे हैं कि निर्जीव पदार्थ से सजीव जीवनमूल बनाने की सामर्थ्य केवल जानदारों के अंगों में ही मिलती है। हम अपनी रसायनशालाओं में स्टार्च, प्रोटीन तथा वसा-जैसे पदार्थ बनाकर इन्हें जीवनमूल की सहायता बिना पचा भी हैं, परन्तु चतुर से चतुर वैज्ञानिक भी जीवनमूल की भी रचना नहीं कर सकता। यह विशे मूल की ही है, अर्थात् जीवों से ही जीव
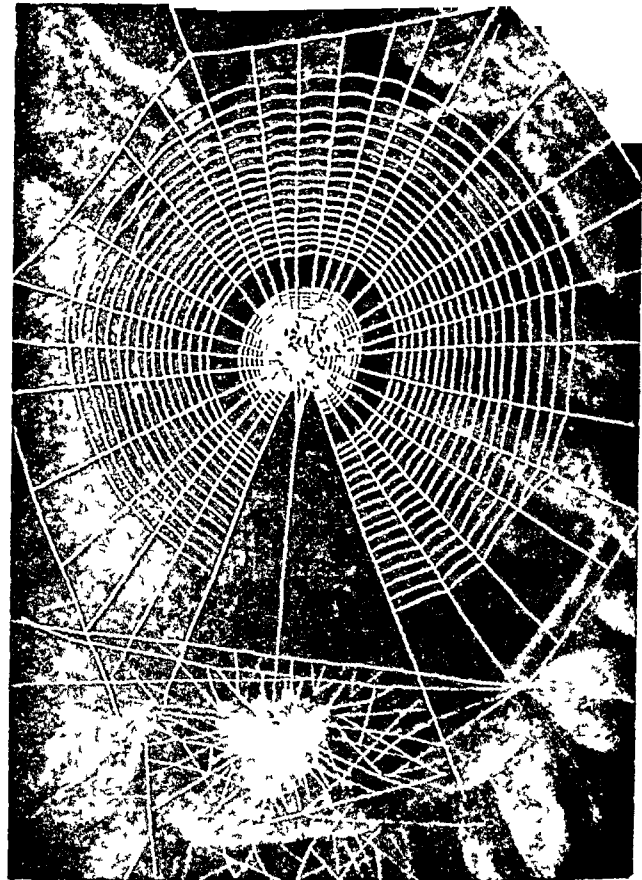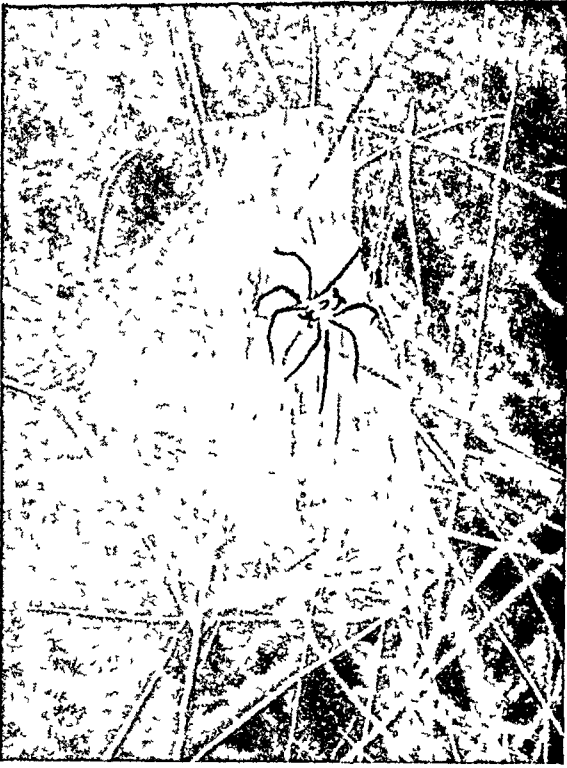
जीवधारियों की निर्माण-कला के कुछ उत्कृष्ट नमूने—मकड़ियों के रेशमी तार से बुने हुए तरह-तरह के जाले

जानवरों के व्यवसाय और उनकी निर्माण-कला

मनुष्य के आर्थिक जीवन का अधिकांश समय अपने पेट पालने का प्रबन्ध करने, अपनी पूँजी को दूसरो से बचाने, उसकी देख-भाल करने और अपनी तथा कुटुम्ब की रक्षा के लिए यथायोग्य रहने की जगह बनाने मे ही व्यतीत हो जाता है। यही हाल जानवरों का भी है। उनमें से बहुत-से असभ्य, जगली मनुष्यों की तरह केवल शिकार ही नही करते, वरन् कुछ सभ्य मानव-जातियों के समान खलियानो मे अनाज इकट्ठा करते, खेती करते और अन्य जानवरों को भी पालते हैं। अपने रहने के लिए वे तरह-तरह के भिटे, बडे विचित्र घोंसले तथा काग़ज़, रेशम, मिट्टी और लकड़ी के घर बनाते हैं। शिकार करने और दूसरों को अपने फन्दे में फँसाने के लिए वे तरह-तरह के ढोंग रचते और सुन्दर जाल बनाते हैं। उनमे काग़ज़ और रेशम बनानेवाले कारीगर, जुलाहे, दर्ज़ी, राज और मैमार भी हैं। आइए, इस लेख मे आपको इन्ही का हाल बताया जाय। विषय इतना बड़ा और रोचक है कि इस पर एक पूरी किताब लिखी जा सकती है, अतएव यहाँ उनमें से कुछ चुने हुए उदाहरण ही दिये जायँगे।

जन्तु-जगत् का अध्ययन करनेवालों की निगाह से यह बात नहीं बच सकती कि तरह-तरह के जीवों में से कुछ मे मनुष्य के-से ही व्यवसाय स्वीकार करने की रुझान पाई जाती है। उनमे से बहुत-से कुशल शिकारी और जाल में फँसानेवाले जीव हैं, जैसे कौडिस वर्म और मकड़ी। कुछ अरोमांचक हैं, किन्तु उपयोगी मेहतर का काम करते हैं। बहुत से निर्माण कला मे चतुराई दिखाते हैं। कुछ बिना हाथों के ही घर बनाते हैं और रक्षा के लिए धुस भी रचते हैं। दूसरे अपने छोटे-छोटे बच्चों के लिए पालने बनाते हैं। कुछ भोजन एकत्र करने के लिए कोठरियाँ बनाते हैं। कीडे-मकोडों ने तो अपनी प्रवीणता से कल्पना मे आनेवाली प्रत्येक वस्तु से काम लिया है। शहद की मक्खियाँ फूलों के सार से मोम बना लेती हैं। बर्रें लकड़ी को चबाकर काग़ज़ और दफ्ती तैयार कर लेती हैं। दीमक मिट्टी के ऐसे ऊँचे-ऊँचे टीले बना लेती हैं कि जो कुदाले या फावडे से भी सहज में नही टूटते और जिनके ऊपर बडे-बडे पेड भी सध जाते हैं। मकड़ियाँ और अन्य कीडों के इल्ले रेशम बुनकर अपने लिए घर बनाते हैं। बहुतेरे केकडे, कीडे, मकड़ी इत्यादि सुरगे भी बनाते हैं। बहुतेरी चिड़ियाँ और कुछ मछलियाँ पेचीदा और सुन्दर घोंसले बनाती हैं। कुछ स्तनधारी जीव अपने रहने के लिए न केवल बड़ी ही आश्चर्यजनक गुफाएँ और सुरगें ही वरन् लकड़ी और मिट्टी के कमरे तैयार करते हैं। ऐसी ही चतुराई और इजीनियरी की बातों का मनोरजक वर्णन आगे दिया जा रहा है।

शिकार करने के कुछ विचित्र ढंग

पशुओं मे व्यवसाय का सबसे पहला कारण भोजन की खोज ही है। शाकाहारियों को अपनी जीविका प्राप्त करने मे अधिक परिश्रम और बुद्धि की जरूरत नहीं पड़ती, परन्तु मासभोजियों के लिए ज़रूरी होता है कि अच्छी ऋतुओं मे और उन स्थानों मे भी जहाँ उन्हे अपने शिकार बहुतायत से मिलते हैं, अपने सशकित, तेज़ी से भागने और छिपनेवाले शिकार को वश मे करने के लिए विशेष फुर्ती, बल, योग्यता और तरह-तरह के प्रबन्धों से काम लें। इसलिए शिकार करने के ढंगों के अच्छे-अच्छे नमूने हमको इन्हीं जीवों मे मिल सकते हैं। मनुष्य की ही भाँति कुछ जीव टट्टी की आड से शिकार खेलते या दौडकर उनका पीछा करते हैं। दूसरे जानते हैं कि कैसे अपने शिकार पर कोई चीज फेंककर उसे उलट दे या उसको डराकर ऐसा अचेत और असहाय कर दे कि वह सुगमता से पकड लिया जाय। हम सब जानते हैं कि शेर, चीते आदि फाड़कर खानेवाले जीव झाडियों की आड मे छिपकर कैसे दूसरे जानवरो पर आक्रमण करते हैं और किस प्रकार बाज अपनी तेज़ उड़ान के कारण ही कबूतरों का पीछा करके उन्हे पकड़ लेता है। शायद

ही आपको इसका अनुभव हो कि मगर की तरह बडा जीव नदी के किनारे पर बैठी हुई चिडियों को कैसे चुपके-चुपके उनके पास तक पहुँचकर हड़प कर जाता है। वह चिडियों के किसी झुंड को किनारे पर बैठा देखकर दूर से ही गोता लगा जाता है और पानी के भीतर-ही-भीतर चुपचाप तैरता हुआ इस अन्दाज से एकाएक अपना भयकर विशाल मुँह खोलकर उनके सामने उपस्थित हो जाता है कि इस अज्ञात विपत्ति को देखकर चिडियाँ क्षण-भर के लिए सहम जाती हैं और अचल-सी हो जाती हैं। इतने ही में दो-चार अभागी तो मगर के मुँह मे पहुँच जाती हैं और शेष सब उड जाती हैं। ऐसी ही मक्कारी और निर्दयता से यह जलवासी जानवर न केवल तट पर पानी पीने को आये हुए कुत्ते, बैल और घोडों आदि जानवरों को ही वरन् मनुष्य को भी झटक लेता है। हम नित्य ही देखते हैं कि ज़मीन पर रेंगनेवाली छिपकली रोशनी के पास आये हुए उडनेवाले पतगों को कैसी तेज़ी से ज़बान निकालकर मुँह में घसीट लेती है। कुत्ते, भेडिये, लोमडियाँ इत्यादि झुंड बनाकर दूसरों का शिकार करते हैं। पानी के सोते तक जानेवाले जानवरों की राह मे जो घात अजगर लगाता है वह सबसे भयकर घातों मे से है। यह विशाल सर्प वृक्ष की डाल से लता की तरह लटका रहता है और जब कोई हमला करने योग्य पशु उसकी पहुँच में आता है तो वह उसको पकड-कर उसके चारों ओर लिपट जाता है और कडी गॉठ बॉधकर धीरे-धीरे उसे चूर कर डालता है। इस प्रकार की सैकडों मिसाले आप जानते होंगे, इसलिए यहाँ इनको लिखकर हम आपका समय नष्ट नहीं करना चाहते।

शिकार और शिकारी में होनेवाली सबसे अनूठी लडाई हमारी समझ मे अफ्रीका के सर्पघातक 'सेक्रेटरी' नामक पक्षी और सॉप में होती है। इसके देखने में वास्तव में पटेबाज़ी के खेल का मज़ा आता है। वह नेवले और सॉप की लडाई को भी मात कर देती है। यह बडी चिडिया विषैले-से-विषैले सॉप का पीछा करती है। वह जानती है कि सॉप का एक भी दॉत अगर उस पर पड गया तो उसे अपनी जान से हाथ धोना पडेगा ; इसीलिए उसको इस प्रकार हमला करना पडता है कि सॉप तो चोट खाये और वह उसके दॉत से बची रहे। इस भयकर शत्रु को देखते ही सॉप पहले भागकर अपने प्राण बचाना चाहता है और चिडिया ज़मीन पर तेज़ी से दौडती हुई उसका पीछा करती है। जब वह सॉप के निकट पहुँच जाती है तो सर्प एकाएक पीछे मुडकर फन उठाकर आक्रमण करने के लिए मुस्तैद हो जाता है। चिडिया भी खडी हो जाती है और अपना एक डैना नीचे के शरीर को बचाने के लिए सॉप की ओर नीचे फैला देती है। तब असली लडाई शुरू होती है। सॉप अपने शत्रु पर टूट पडता है और दॉत मारता है। चिडिया प्रत्येक चोट अपने डैने के छोर पर रोकती है। विष भरे दॉत डैने के बडे परों के सिरे में घुस-कर विष निकाल देते हैं, लेकिन चिडिया पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार सॉप की चोटों को बराबर रोकते हुए दूसरे बाज़ू से चिडिया सॉप को बराबर ज़ोरों से पीटती जाती है। अन्त में चोटों से घायल होकर सॉप मूर्च्छित होकर भूमि पर लोट जाता है तब विजयिनी चिडिया तेज़ी से अपनी चोंच उसकी खोपडी में घुसेड देती है और अपने शिकार को खुशी के मारे हवा मे उछाल देती तथा अंत में उसे निगल जाती है।

अस्त्र से शिकार करना

जीवधारियों में केवल मनुष्य ही इतना चालाक प्राणी नहीं है जो पत्थर, डडा, गोली, बाण इत्यादि फेंककर अपने से दूर के जीवधारियों पर आक्रमण करता है। हाथी गुस्सा होने पर अपनी सूँड से डंडा उठाकर फेंककर मारता है। कई एक मछली-जैसे छोटे जीव दूर के शिकार तक पहुँचने में अत्यन्त निपुणता दिखलाते हैं। भारतीय नदियों में रहनेवाली एक मछली का मुख्य भोजन पानी में उगनेवाले पौधों के पत्तों पर रेंगनेवाले कीडे हैं। यदि वह इस प्रतीक्षा में रहे कि पेड से कीडे पानी में गिर जायँ तभी उन्हें खाए तो उसे पेट भर भोजन न प्राप्त हो सके। उसके लिए उछल-कर उन तक पहुँचना कठिन ही नहीं है बल्कि आवाज होने से उनके भाग जाने का भी भय है। इसलिए उसने अपने मतलब के लिए एक निराला ढंग निकाल लिया है। वह अपने मुँह में कुछ पानी भर लेती है और फिर उसे इस ज़ोर से ठीक उन कीडों की ओर फ़व्वारे की धार की तरह फेंकती है कि वे पानी में आ गिरते हैं और उसे आहार मिल जाता है। जावा की कैलीनस नामक एक और मछली भी ऐसा ही करती है। कहा जाता है कि वह मुँह से पानी की पिचकारी चलाकर कई फ़ीट के फ़ासले से मक्खी को मार गिराती है। अक्सर वह पहले ही निशाने में सफल हो जाती है, किन्तु कभी-कभी उसका निशाना चूक भी जाता है। ऐसा होने पर वह फिर कोशिश करती है जब तक सफलता प्राप्त न हो जाय। इससे साफ़ पता चलता है कि वह जानती है कि उसे क्या करना है। चीनी इन अजीब मछलियों को बरतनों में पालते हैं और उनसे यह

परिश्रम कराकर अपना मन-बहलाव किया करते हैं।

रक्षा के उपाय

जीवन के सग्राम-क्षेत्र मे एक ओर शिकारी जानवर यदि लड़ाई झगड़ा और हमला करने मे व्यस्त रहते हैं तो दूसरी ओर वे जानवर जिन पर हमले होते हैं अपनी और अपने कुटुम्ब की रक्षा की विविध युक्तियॉ किया करते हैं। शत्रु से जान बचाने का सबसे सुगम उपाय भाग जाना है, किन्तु भागने मे भी बहुत-से जीव बड़ी ही चतुराई से काम लेते हैं। कहा जाता है कि वानर भागने मे बड़ी बहादुरी और बुद्धि से काम लेते हैं। जब उनके सम्मुख ऐसा सकट उपस्थित हो जाता है जिस पर उनके और उपाय काम नहीं देते तब वे भागने की सोचते है। वे घबड़ाये हुए जानवरों की तरह बेतहाशा भागते ही नहीं जाते हैं, बल्कि भागते हुए पीछा करनेवाले जीव के मार्ग मे जो रुकावटे डाल सकते है उन सबसे भी काम लेते जाते हैं। वे भागने मे बहुत जल्दी नहीं करते, न छिपने का उन्हे जो पहला ही मौक़ा मिलता है उसे ही हाथ से जाने देते हैं। माता अपने बच्चे को पीछे छोड़कर कभी आगे नहीं बढती। यदि कोई बच्चा पीछे रह भी जाता है और उसके पकडे जाने का डर होता है तो झुंड के बूढे और अनुभवी नर अपनी जान को सकट मे डालकर उस बच्चे को बचाने के लिए वीरता से पीछे लौट जाते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी बहुतेरी वीरताओं के उदाहरण मिलते हैं।

इस चित्र मे इंगलैंड की कॅटीली पीठवाली स्टिक्लबैक नामक मछली के जल के भीतर बने एक घोसले का दृश्य है। विवरण के लिए पृष्ठ १६८३ का मैटर पढिए।

कठफोडवा नामक चिड़िया बाज़ से पीछा किये जाने पर जो पहला सूराख मिलता है उसी मे घुस जाती है। यदि कोई सूराख नहीं मिलता है तो वह किसी पेड़ के तने को अपने तेज चगुलों से पकड़कर उससे चिपट जाती है और उस तने के ही चारों तरफ़ उससे चिपटी हुई चक्कर काटने लगती है। उड़ता हुआ बाज़ ऊपर से इसको देख नहीं पाता और इस तरकीब से वह अक्सर बच जाती है। दक्षिणी अमेरिका की पौलीएर्गस नामक ग़ुलाम रखनेवाली चींटी जब फौर्मिका जाति की चींटियो पर उनके इल्लों और बच्चो को छीनने के लिए आक्रमण करती है तो अवसर पाकर ये चींटियॉ जल्दी से घास की पत्तियों की चोटी पर चढ जाती हैं और उसी पर अपने इल्लों को छोड़ देती हैं, क्योंकि शत्रु चीटियॉ भारी होने के कारण आसानी से घास पर नही चढ पातीं।

मृत्यु का बहाना करना

बहुतेरे पशु जब भागकर खतरे से नहीं बच पाते तो धोखे से काम लेते हैं। इस सम्बन्ध मे मौत का बहाना करने का उपाय विशेष रूप से प्रचलित है। बहुत-सी मकडियॉ और गुब-रीले खटका होने पर ऐसे बन जाते हैं मानों वे बिल्कुल मर गये हों। वे बिल्कुल सन्नाटे मे पडे रहते हैं। उनकी न टॉगे हिलती हैं और न सीग। वीर-बहूटी छूते ही हाथ पैर समेटकर ऐसी चुप पड जाती है मानों वह मर गई हो। जाला पूरनेवाली मकडी खटका होने से देखते-ही-देखते बड़ी फ़ुर्ती से जाला पूरती हुई ज़मीन पर ऐसी आ गिरती है मानो किसी ने गोली मार दी हो। वह टॉगों को समेट ज़मीन पर ऐसी चुप पड़ जाती है कि जल्दी दिख-लाई भी नहीं पड़ती। उस अवस्था मे उसको हाथ मे ले लीजिए, पकडिए, घुमाइए, उलटिए, पलटिए, लेकिन वह ज्यों-की-त्यों मरी-सी पड़ी रहती है। जब ख़तरे का डर नहीं रहता तब वह धीरे से एक-आध टॉग फैलाकर आहट लेती है। किन्तु ज़रा-सा भी खटका पाते ही फिर सिकुडकर अचेत बन जाती है।

मछलियों में गठा (Perch) और स्टर्जियन तथा चिड़ियों में लावा के बारे में कहा जाता है कि वे मृत्यु का धोखा देती हैं। स्तनपोषियों में सर्वप्रसिद्ध उदाहरण औपौसुम का

है। दक्षिणी अमेरिका का श्रोपौसुम खेतों मे मुर्गियों को पकड़ने के लिए घुसता है। ज्यों ही खेतवालों को उसका पता लगता है वह भाग निकलता है, लेकिन जल्द पकड़ जाता है और तब डडों की बौछार उस पर होने लगती है। उस समय वह बेचारा अपनी जान बचाने के लिए सिर को नीचे गिराकर टॉगों को फैलाकर चुपचाप पड़ जाता है और बिना हिचके डडों की चोट खाता रहता है। प्रायः मरा समझकर खेतवाले उसको छोड जाते हैं और तब वह मक्कार घायल जीव उठकर शरीर को झाड़ता और अपनी जान लिये जगल को भाग निकलता है।

चौकीदारी करना

झुडों मे रहनेवाले बहुत-से जानवर जैसे बन्दर, हाथी, हिरन, चिकारे आदि अपने मे से एक को, जो अनुभवी और वीर होता है, अगुआ मानते हैं। साधारणतया यह नेता जगल के रास्तों और ख़तरों से परिचित होता है, इसलिए शेष दल उसकी सलाह के अनुसार ही काम करता है। बहुत-से दूसरे जानवर अपने कुशल-क्षेम को केवल एक व्यक्ति के सुपुर्द नहीं करते, बल्कि अपने ठहरने या रहने के स्थान के आस-पास कई पहरेदार नियुक्त कर देते हैं, जो उन सबकी सम्पत्ति की रखवाली करते हैं। प्रेयरी के मैदानों मे रहनेवाले साइनोमीज़ नामक कुत्तों तथा कौओं, तोतों एव और भी बहुतेरे जानवरों मे यह रीति प्रचलित है। कौओं के चौकीदार न केवल चौकन्ने ही होते, वरन् बडे समझदार भी होते हैं। इसमे सन्देह नही कि ये चालाक पक्षी बन्दूक़ और लाठी लिये हुये आदमियों मे भेद पहचान लेते हैं और अपने साथियों को कभी ग़लत चेतावनी नही देते। इसका एक उदाहरण सुन लीजिये। ६-७ वर्ष पहले की बात है। प्रयाग-विश्वविद्यालय मे एक ईसाई जमादार था। वह शिकार मे बड़ा कुशल था। उस समय एक विद्यार्थी, जो कौओं मे पाये जानेवाले कीटाणुओं के विषय मे अध्ययन कर रहा था, इसी जमादार से कौए मरवाया करता था। थोडे ही दिनों मे कौए उसको ऐसा पहचान गए थे कि जैसे ही उसको विश्वविद्यालय के हाते के पास देखते, वे कॉव-कॉव करके चिल्लाने लगते और भाग जाते थे।

इस प्रकार अनेकों ही जानवर अपने जीवन को सकट मे देखकर उसको बचाने के लिए नाना प्रकार के उपाय किया करते हैं। शिकार करने और उससे बचने के अलावा बहुत से जानवर और भी धधों में लिप्त रहते हैं। चूहे-चींटी की तरह वे अवसर पाने पर अनाज तथा अन्य भोजन-सामग्री लाकर इकट्ठी कर लेते हैं। कोई-कोई खलियान बनाते और कोई छोटी-छोटी गायें पालते तथा कुछ खेती भी करते हैं। दो गुबरीले अपने शरीर से कई गुनी बड़ी सूखे गोबर की गोलियॉ बड़ी सुन्दरतापूर्वक ढकेलकर अपने घरों मे ले जाते हैं। ऐसे भी जीव हैं जो अडे से निकलनेवाले बच्चों के लिए कीडे पकड़ और मारकर बन्द कर देते हैं, जैसे—लखेरी। किन्तु स्थानाभाव के कारण इनका विवरण यहीं छोड़कर हम अब पशुओं की गृह-निर्माण-कला की ओर बढ रहे हैं।

बया नामक पक्षी के विचित्र घोंसले का दृश्य। हमारे देश में वनों में वृक्षों की डालियो पर प्रायः ये घोंसले लटकते दिखाई देते हैं। विशेष विवरण के लिए दे० १६८४ पृ० का मैटर।

घोंसला बनाना

सारी प्राकृतिक दुनिया में पक्षियों की दस्तकारी से अधिक प्रशसा के योग्य कदाचित् ही कोई और वस्तु हो। भॉति-भॉति के चिड़ियों के घोंसले तो आप सभी ने देखे होंगे, किन्तु चिड़ियों को छोड़कर और जीव भी घोंसले बनाते हैं यह शायद आपको ज्ञात न हो। कुछ मछलियॉ, कुछ स्तनधारी और कुछ चींटियॉ भी घोसले तैयार करती हैं। कुछ चिड़ियॉ ऐसी भी हैं जो बिना घोंसलों के ही निर्वाह

है। दक्षिणी अमेरिका का ओपौसुम खेतों मे मुर्गियों को पकड़ने के लिए घुसता है। ज्यों ही खेतवालों को उसका पता लगता है वह भाग निकलता है, लेकिन जल्द पकड़ जाता है और तब डडों की बौछार उस पर होने लगती है। उस समय वह वेचारा अपनी जान बचाने के लिए सिर को नीचे गिराकर टाँगों को फैलाकर चुपचाप पड़ जाता है और बिना हिचके डडों की चोट खाता रहता है। प्रायः मरा समझकर खेतवाले उसको छोड जाते हैं और तब वह मक्कार घायल जीव उठकर शरीर को झाड़ता और अपनी जान लिये जगल को भाग निकलता है।

चौकीदारी करना

झुडों मे रहनेवाले बहुत-से जानवर जैसे बन्दर, हाथी, हिरन, चिकारे आदि अपने मे से एक को, जो अनुभवी और वीर होता है, अगुआ मानते हैं। साधारणतया यह नेता जगल के रास्तों और ख़तरों से परिचित होता है, इसलिए शेष दल उसकी सलाह के अनुसार ही काम करता है। बहुत-से दूसरे जानवर अपने कुशल-क्षेम को केवल एक व्यक्ति के सुपुर्द नहीं करते, बल्कि अपने ठहरने या रहने के स्थान के आस-पास कई पहरेदार नियुक्त कर देते हैं, जो उन सबकी सम्पत्ति की रखवाली करते हैं। प्रेयरी के मैदानों मे रहनेवाले साइनोमीज़ नामक कुत्तों तथा कौओं, तोतों एव और भी बहुतेरे जानवरों में यह रीति प्रचलित है। कौओं के चौकीदार न केवल चौकन्ने ही होते, वरन् बडे समझदार भी होते हैं। इसमे सन्देह नही कि ये चालाक पक्षी बन्दूक और लाठी लिये हुये आदमियों मे भेद पहचान लेते हैं और अपने साथियों को कभी ग़लत चेतावनी नही देते। इसका एक उदाहरण सुन लीजिये। ६-७ वर्ष पहले की बात है। प्रयाग-विश्वविद्यालय मे एक ईसाई जमादार था। वह शिकार मे बड़ा कुशल था। उस समय एक विद्यार्थी, जो कौओं मे पाये जानेवाले कीटाणुओं के विषय मे अध्ययन कर रहा था, इसी जमादार से कौए मरवाया करता था। थोडे ही दिनों मे कौए उसको ऐसा पहचान गए थे कि जैसे ही उसको विश्वविद्यालय के हाते के पास देखते, वे कॉव-कॉव करके चिल्लाने लगते और भाग जाते थे।

इस प्रकार अनेकों ही जानवर अपने जीवन को सकट मे देखकर उसको बचाने के लिए नाना प्रकार के उपाय किया करते हैं। शिकार करने और उससे बचने के अलावा बहुत से जानवर और भी धधों में लिप्त रहते हैं। चूहे-चीटी की तरह वे अवसर पाने पर अनाज तथा अन्य भोजन-सामग्री लाकर इकट्ठी कर लेते हैं। कोई-कोई खलियान बनाते और कोई छोटी-छोटी गायें पालते तथा कुछ खेती भी करते हैं। दो गुबरीले अपने शरीर से कई गुनी बड़ी सूखे गोबर की गोलियॉ बड़ी सुन्दरतापूर्वक ढकेलकर अपने घरों मे ले जाते हैं। ऐसे भी जीव हें जो अडे से निकलनेवाले बच्चों के लिए कीडे पकड़ और मारकर बन्द कर देते हैं, जैसे—लखेरी। किन्तु स्थानाभाव के कारण इनका विवरण यही छोड़कर हम अब पशुओं की गृह-निर्माण-कला की ओर बढ रहे हैं।

बया नामक पक्षी के विचित्र घोसले का दृश्य। हमारे देश मे वनों में वृक्षों की डालियो पर प्रायः ये घोसले लटकते दिखाई देते हैं। विशेष विवरण के लिए **दे० १६८४ पृ० का मैटर।**

घोंसला बनाना

सारी प्राकृतिक दुनिया मे पक्षियों की दस्तकारी से अधिक प्रशसा के योग्य कदाचित् ही कोई और वस्तु हो। भॉति-भॉति के चिड़ियों के घोंसले तो आप सभी ने देखे होंगे, किन्तु चिड़ियों को छोडकर और जीव भी घोंसले बनाते हैं यह शायद आपको ज्ञात न हो। कुछ मछलियॉ, कुछ स्तनधारी और कुछ चींटियॉ भी घोंसले तैयार करती हैं। कुछ चिड़ियॉ ऐसी भी हे जो बिना घोंसलों के ही निर्वाह

करती हैं, कुछ ऐसी भी हैं जो धरती मे या दीवाल के सूराख़ों में घोसले रखती हैं। इन सबका वर्णन यदि हम करने लगे तो एक बडी पोथी तैयार हो जाय।

मछलियों की निर्माण-कला

योरप और अमेरिका की नदियो और समुद्रों मे रहनेवाली स्टिकलबैक जाति की मछलियॉ चिड़ियों की तरह घास और तिनकों का घोंसला बनाने के लिए सबसे विख्यात हैं। ये छोटी-छोटी कॅटीली पीठवाली मनोहर मछलियॉ अंडा देने की ऋतु मे पानी मे बहते हुए घास, तिनके इत्यादि को मुँह से पकड़कर चुने हुए स्थान पर इकट्ठा करती हैं। विचित्रता तो यह है कि इन मछलियों मे घोंसला बनाने और उसकी रक्षा करने का कार्य माताये ही नही बल्कि पिता भी करते हैं। नर मछलियाँ दौड-दौड़कर बडे परिश्रम से सूखी या गीली घास, व सूत-सी पतली जडे लाकर इच्छानुकूल तथा आवश्यकतानुसार उन्हे सजाती हैं। वे अपने मुँह से एक प्रकार की लसलसी चीज़ निकालकर उन्हे एक दूसरे से चिपकाती जाती हैं और उन्हे बहने से रोकती हैं। जब घोंसला पूर्ण होने के समीप होता है तो नर मछलियॉ उसके चारों ओर घूम-घूमकर इस प्रकार देखती हैं मानों अपने परिश्रम के सफल हो जाने पर प्रसन्न हो रही हों। घोंसले मे इस पार से उस पार तक एक सूराख़ या मार्ग रहता है (जैसा १६८१ पृष्ठ के चित्र से स्पष्ट होता है)। सूराख़ मे होकर अडों के ऊपर से बराबर पानी बहता रहता है। साधारणतया घोंसला छिछले पानी की तह में निकले हुए पेड़ों या चट्टानो पर बनाया जाता है।

वृक्ष पर बना हुआ यह फूस के झोपडे की शक्ल का बडा-सा घोंसला दक्षिणी अफ्रीका के समाजप्रिय बया जैसे पक्षियो द्वारा बनाया गया है। यह एक घोसला नही बल्कि पक्षियों का एक पूरा नगर है जिसमें एक साथ ही ये चिडियाँ निवास करती हैं। यह बृहत् रचना निस्संदेह जीवधारियों की कला और सहयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है और मनुष्य के आवासस्थानो को भी मात करती है।

घोंसला बन जाने पर नर मादा मछली की खोज में इधर-उधर जाता है और ज्यो ही उसे कोई सुन्दर मादा मिल जाती है तो उसे बहका-फुसलाकर अपना घोसला दिखलाने लाता है। कभी तो वह अपने आप उसके साथ तैरती चली आती है और कभी वह इनकार कर देती है। तब नर गुस्से से लाल हो जाता है और उसका पीछा करके अपने घोंसले की ओर ले आता है तथा मछली को खदेड़कर घोंसले के अन्दर घुसा देता है। भीतर पहुँचने पर

बहुधा मादा स्वभाववश अडे दे देती है और दूसरे सूराख से बाहर चली जाती है। तत्पश्चात् नर भीतर जाकर अडों को अच्छी तरह देखता है। उसकी समझ से यदि वे काफी नही होते तो वह फिर किसी दूसरी की तलाश मे जाता है। जब काफी अडे उसमे हो जाते हैं तो पिता स्वरचित बहुमूल्य घोंसले की रात-दिन रखवाली करता है। किसी और मछली को घोसले के निकट आते देखकर वह उस पर जोर से हमला करता है। यदि वह भाग नही जाती तो अपने कॉटों से उसके शरीर को चीर डालता है। जब अडों से बच्चे निकल आते हैं तो वह प्रसन्न होता है और सॅभालकर घोंसले का ऊपरी हिस्सा खीचकर अलग कर देता है। शेष भाग मे झूले की तरह नन्हे-नन्हे बच्चे उस समय तक पडे रहते हैं जब तक कि उनमे तैरने की शक्ति नहीं आ जाती।

जावा की गोरामी नामक मछली जल के पौधों के पत्तों से बुनकर अडाकार घोसला बनाती है। यह घोंसला भी अकेली नर मछली ही ५-६ दिन मे बुनती है और जब तक वह पूरा न हो जाय चैन नही लेती।

चिड़ियों की कला

बुने हुए घोसले बनाने मे निस्सदेह सबसे प्रवीण चिड़ियाँ ही हैं। नित्य ही घरों में हम चिड़ियों को अपने चारों ओर घास-फूस, तिनके, रुई, डोरे, ऊन आदि ले जाते देखते हैं। इन्हीं वस्तुओं को आपस मे फँसाकर वे उचित जगह पर घोसला बनाती हैं। घोंसला तैयार करते समय इस बात का ध्यान उन्हे रहता है कि मोटी और खुरखुरी चीजे बाहर की ओर लगाये तथा नर्म और गर्म वस्तुओं की तह भीतर की ओर रहे। सर्वोत्तम गृह वृक्षवासी पक्षियो के ही होते हैं। भारतीय बया पक्षियों में सबसे निपुण कारीगर गिना जाता है। भारतवासी बया की अपेक्षा उसके घोंसले से अधिक परिचित है, जो बबूल, ताड़, कपास तथा अन्य वृक्षों की डालियों से बोतलों की तरह लटकते हुए गॉवो मे प्रायः दिखलाई पड़ते हैं। यह गौरैया की-सी छोटी और चालाक चिड़िया अपने घोंसले अक्सर उन खेतों के क़रीब बनाती है जहॉ से उसे अनाज के दाने आसानी से खाने को मिल जायॅ। पूर्वी लका में कहीं-कही पर इनके सैकड़ों घोंसले एक ही जगह दृष्टिगोचर होते हैं। घोसला शुरू करने के लिए चिड़ियाँ लम्बी घास के तिनके, धान के लम्बे पत्ते, ताड़ के चीरे हुए पत्ते अथवा नारियल की जटा लाकर किसी पतली डाल या पत्ते पर एक जगह से पटवा की तरह गुहकर लटका देती हैं; फिर और पत्ते या जटा उसमे लगा-लगाकर नीचे की ओर बढा और फुला देती हैं। तदनतर नीचे की ओर एक लम्बी सूराख़दार गर्दन बनाकर घोंसला खत्म कर देती हैं। यही अन्दर जाने का मार्ग होता है। घोंसले के भीतर फूले हुए हिस्से मे खटोले के सदृश एक सीधा पर्दा बना रहता है। इस पर्दे के एक ओर आने-जानेवाला रास्ता रहता है। अडे और बच्चे इसी भीतरी कोठरी या खटोले पर रहते हैं। हवा के झोंके से या घोंसला हिलने से अडे और बच्चे इसी सूराख़ से गिर न जायॅ, इसलिए वे सूराख़ की तरफ पर्दे के किनारे को छज्जे की तरह ऊँचा कर देती हैं। किसी ने सच ही कहा है, "बया का घोंसला और आदमी का घर बराबर है।" घर बनाने मे नर और मादा दोनों ही परिश्रम करते हैं। अधबने घोंसले मे एक चिड़िया भीतर रहती है और एक उसके बाहर। बाहरवाली चिड़िया तिनकों के छोर को भीतरवाली चिड़िया को और भीतरवाली बाहरवाली को पकडा-पकडाकर खींचकर कसती जाती हैं। बया और बन्दर के विषय मे हमारे देश मे बहुत-सी मनोरजक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं।

खेत के चूहे का घोंसला, जिसे वह घास की पत्तियो, परों, बालो या ऊनी चिथडो को आपस मे गुहकर गेहूँ या जौ के पौधों पर बडी चतुराई से बनाता है। **दे० पृ० १६८५ का मैटर।**

चिड़ियों के घोंसले तो बहुत तरह के होते हैं, लेकिन शायद सबसे विचित्र वे घोंसले ह जो स्विफ्ट नामक चिड़ियाँ बनाती है और जो खाये जाते हैं। ये प्याले-जैसे छिछले

घोंसले गुफाओं की दीवालों में, जहाँ चिड़ियाँ रहती हैं, चिपटे रहते हैं। वे क़रीब-क़रीब बिल्कुल चिड़िया के थूक के बने होते हैं, जो हवा से सूखकर कड़ा हो जाता है। चीन के शौक़ीन खानेवाले इन घोंसलों के शोरवे को बड़े स्वाद से खाते हैं और वहाँ इनकी बड़ी माँग होती है।

दक्षिणी अफ्रीका का टिट् पक्षी भेड़ों की ऊन या अन्य रेशेदार सामग्री से ऐसे बुने हुए तहदार घोसले बनाता है, जिनमें पानी नहीं घुस पाता। बल्कि वे नमदे की तरह जमे हुए लगते हैं।

स्तनपोषियों के घोंसले

पक्षियों की विचित्र रचनाओं के सम्मुख स्तनपोषियों के गृह बिल्कुल मामूली-से जान पड़ते हैं। बहुतेरे मासाहारी जीव घने जगल या गुफाओं में ही अपने बच्चों की रक्षा करते हैं। कुछ छोटी जातियाँ—छछूँदर, चूहे, ख़रगोश इत्यादि—धरती में बिल बनाकर गुज़ारा करते हैं। ओरैंग, गौरिल्ला आदि ऊँचे वृक्षों पर तोड़ी हुई शाखाओं और पत्तों की मचान-सी बनाते हैं। चौपायों में असली घोंसला बनानेवाला वह खेत का चूहा है जो विलायत से लेकर जापान तक मिलता है। यह नन्हा जानवर गेहूँ और जौ के खेतों में उनकी पत्तियों से गुहकर चिड़ियों के घोसले की तरह एक सुन्दर गोल घोसला बनाता है। अक्सर यह घोसला नाज के कई डंठलों से बँधा और सधा रहता है; लेकिन कभी-कभी वह टहनी से लटका रहता है और कभी-कभी किसी बड़े काँटे की नोक पर सधा रहता है। चूहे इस घोंसले में केवल गर्मियों में ही रहते हैं। मौसम ठढा होने पर वे भूमि में खुदे हुए बिलों में घुस जाते हैं और शीतकाल समाप्त होने तक वहीं सोते-से पड़े रहते हैं। गिलबर्ट ह्वाइट ने लिखा है "मुझे ऐसा एक घोंसला अबकी शरद् ऋतु में मिला। वह गेहूँ के पत्तों को अत्यन्त सुन्दर रीति से गुहकर एक बिल्कुल गोल क्रिकेट की गेंद के बराबर बनाया गया था। उसका छिद्र ऐसी बुद्धिमानी से छिपाया हुआ था कि उसका जल्दी पता न चलता था। वह ऐसा ठसा हुआ और मज़बूत बना था कि मेज़ पर लुढ़काने से भी न टूटता था। यद्यपि उसके अन्दर आठ नन्ही अन्धी चुहियाँ थीं!"

ऊपर के चित्र में क्रमशः भिन्न-भिन्न छः तस्वीरों द्वारा मकड़ी के जाले के निर्माण की विधि प्रदर्शित है कि किस प्रकार दो टहनियों के बीच वह अपना तार घुमा-फिराकर एक विशेष आकृति का जाला बुन लेती है।

बिल और सुरंग बनाना

पशु-जीवन के उद्यमी जगत् के बहुतेरे निवासी हमारे बिना जाने और बिना देखे इस प्रकार काम करते रहते हैं कि साधारण लोगों को इस बात का कुछ भी अन्दाज़ नहीं होता कि हमारे चारों ओर कैसे-कैसे रहस्य भरे पड़े हैं। केवल प्रकृति के विद्यार्थी ही पर्दे के पीछे पहुँचकर छिप-छिपकर खान और सुरंगें बनानेवाली इन सेनाओं का भेद जान पाते हैं।

इन खोदनेवाले कारीगरों में से कुछ कड़े परिश्रम से अपना मनोरथ सिद्ध कर पाते हैं। दूसरे मन्दता और दृढ़ता का मार्ग स्वीकार करते हैं। कुछ केवल रात में ही काम करते

हैं और कुछ अन्धे होते हुए भी दूर तक सुन्दर सुरगे खोद डालते हैं। बहुत-से प्रति वर्ष नया बिल या गृह बनाते हैं, कोई ज़मीन के भीतरवाले एक ही घर मे वर्षों तक वास करते हैं तथा उन्हे आवश्यकतानुसार बढाते और बदलते रहते हैं। सभी ग्राम-वासी जानते हैं कि लोमड़ी, खरगोश, चूहे इत्यादि खोदने मे अति प्रवीण होते हैं, लेकिन धरती के भीतर अँधेरे मे रहनेवालों मे अपने काम मे सबसे चतुर छछूँदर है। यह करीब-क़रीब दृष्टि-हीन होती है। इसके अगले पैर खुरपे जैसे चौडे, तेज़ नखवाले, नाक कड़ी और नोकीली, बाल मख़मली चिक्ने और सीधे रहते हैं जिनमें मिट्टी न चिपक सके। ये सभी अग उसे अपने जीवन के उपयुक्त बनाते हैं।

छछूँदर अपने लिये धरती के भीतर एक क़िला बनाती है जो काफी बड़ा होता है। उसका व्यास ३ फीट या उससे भी अधिक होता है। पहले वह जमीन की सतह से कुछ ही नीचे एक गोल गड्ढा बनाती है और ज्यों-ज्यो आगे बढती है तिरछी सुरग द्वारा मिट्टी को ऊपर फेकती जाती है। जब एक सुरंग से निकाली हुई मिट्टी का ढेर काफी हो जाता है तो वह दूसरी ओर को सुरग खोदती है। कभी-कभी पास-पास कई कोठरियाँ नीचे-ऊपर या इधर-उधर खोद डालती है जो एक दूसरे से सुरगों द्वारा मिली रहती हैं। कोई सुरग काफी लम्बी और कोठरियो के बीच में घूमती-घामती ऊपर को आती हैं। हरएक कोठरी या क़िले से चारों ओर को बहुत-से रास्ते फैले रहते हैं। क़रीब-क़रीब प्रत्येक कोठरी की दीवाले बार-बार आने-जाने की रगड़ से बिल्कुल चिकनी हो जाती हैं और उनमे घास तथा पत्ते भरकर घोंसला तैयार किया जाता है।
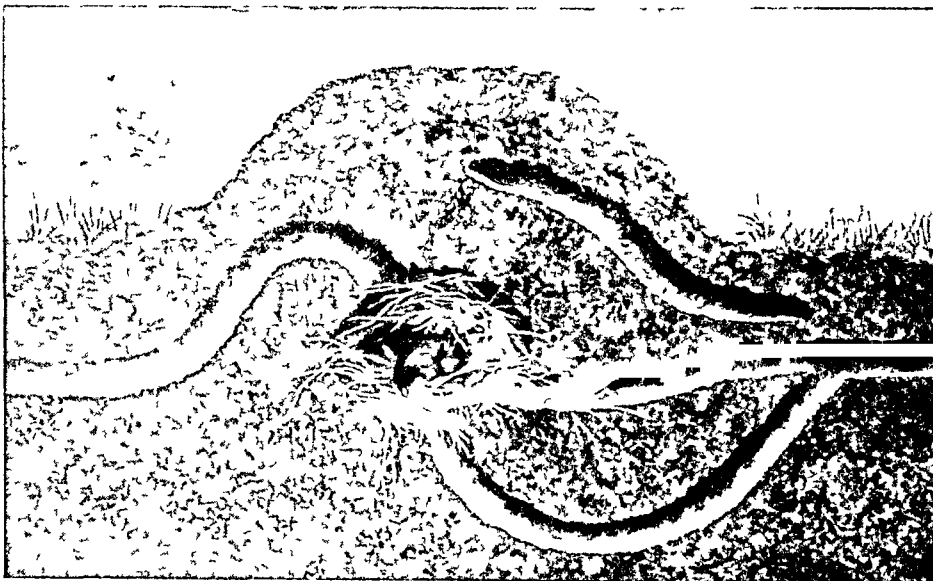
ज़मीन के भीतर खोदकर बनाए जानेवाले छछूँदर के अद्‌भुत निवासस्थान का दृश्य। चित्र मे मुख्य गृह और उससे संबद्ध सुरगें इस प्रकार ज़मीन काटकर दिखाई गई हैं जिससे उनकी भीतरी रचना का हमें ज्ञान हो सके। इस किले जैसे घर मे छछूँदर बडे मजे से सुरक्षित रूप से अपने बच्चे पालती है और ज़रूरत पडने पर इनमे से किसी एक के रास्ते भाग निकलती है।

कोठरी या क़िले से एक भागनेवाली सुरग रहती है। यह मार्ग घोंसले के नीचे से निकलकर ऊपर की ओर मुड़ता है और एक ऐसी सुरग से क़िले के बाहर जा निकलता है जो इधर-उधर की अन्य राहों से नहीं मिला रहता। खटका होने पर छछूँदर इसी राह से भाग जाती है।

छछूँदर के ही समान सुरग बनानेवाला एक प्राणी बिज्जू है। यह शर्मीला प्राणी दिन मे बहुत ही कम बाहर आता है। इसका गृह धरती में ५-६ फीट नीचे होता है। उससे कई सुरगे इधर-उधर ३० फीट दूर तक फैली रहती हैं। दो-एक सुरगे कोठरी से सीधी ऊपर को आती हैं। इनका मुख्य कार्य कोठरी में हवा पहुँचाना होता है।

कई तरह की चिड़ियाँ भी ऐसी हैं जो अपने लिए खान, सुरग या बिल बनाती हैं। नदी के ऊँचे कगारों में रहनेवाला उल्लू इन्हीं मे सम्मिलित है।

मिट्टी के घर बनाना

कुछ जीवधारी मिट्टी का काम करने में बडे कुशल हैं। इनमें राज, मजदूर और कुम्हार सभी होते हैं। कई प्रकार की बर्रें और अन्य कीडे-मकोडे पुरानी दीवालों मे अपने घरों की रचना करते हैं; परन्तु पतिंगों मे सबसे चतुर राज लखेरी है जिसके बनाये हुए, नलिकाकार गृहों से बहुत-से भारतीय परिचित हैं। मादा लखेरी राह की महीन धूल को इकट्ठा कर अपने थूक से सानती है और इस प्रकार बनाये हुए गारे की छोटी-छोटी गोलियाँ एक के ऊपर एक रखकर लम्बे या गोल गुम्बददार कई कोठरियोंवाले गृह बना लेती है जो सूखकर कड़े हो जाते हैं। एक जाति का चीटा गेंद के बराबर गोल मिट्टी का घोंसला बनाता है जो धूप
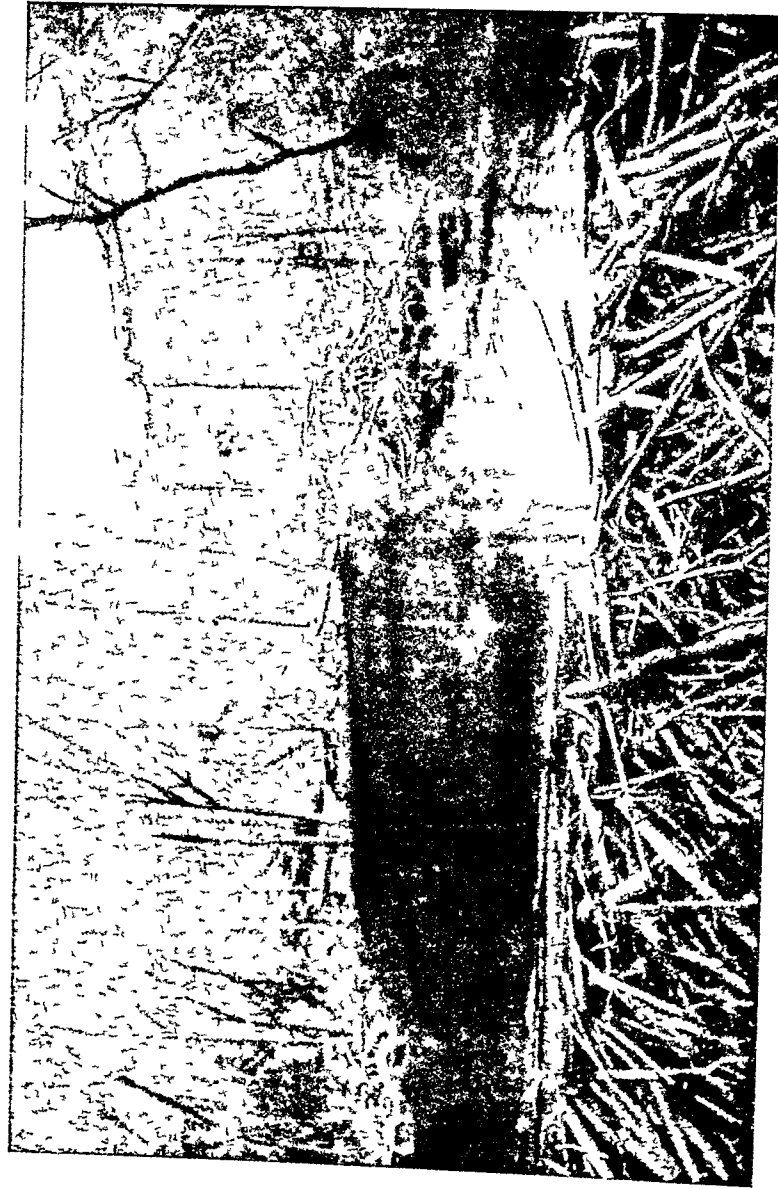
(ऊपर) जगली बर्र का अद्भुत छत्ता। यह एक प्रकार की काग़ज़-जैसी वस्तु का बना होता है, जिसे स्वयं बर्र ही बनाती हैं। इसमे कई मजिले और कोठरियाँ होती हैं। यह वायु और वर्षा से पूर्णतया सुरक्षित रहता और इसके भीतर का तापमान भी सदैव समान बना रहता है। चित्र मे छत्ते का कुछ अंश काटकर भीतरी रचना भी दिखाई गई है। (बाईं ओर) बीवर और उसके द्वारा बनाया गया एक लट्ठों का बाँध। इस चतुर इजीनियर का हाल पिछले अक मे दिया जा चुका है।
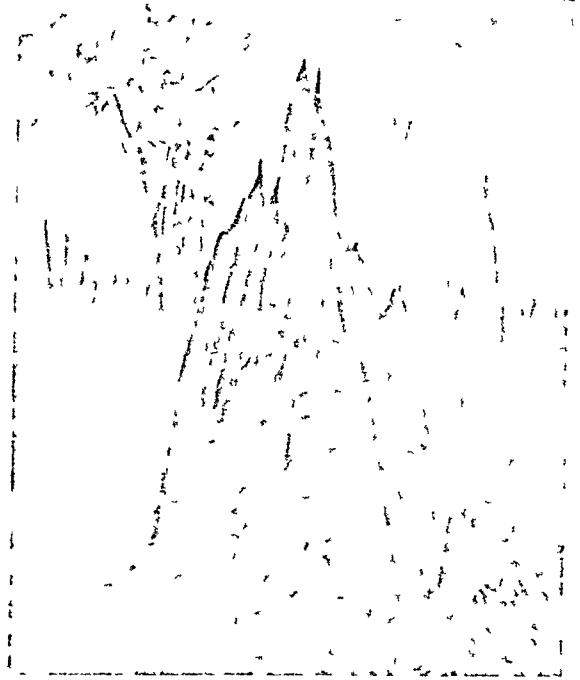
दीमक के अनोखे घर

इन जीवो की कई जातियाँ बड़े विचित्र और ऊँचे गृह बनाती हैं, जिन्हे दीमक की पहाड़ियाँ कहा गया है। इनमे से कोई-कोई २५ फीट या इससे भी अधिक ऊँची होती हैं। इन घरो मे छोटी-छोटी कोठरियो और रास्तों का जाल फैला रहता है। कैसे ये नन्हें जीव अपने से सैकड़ों गुने ऊँचे इन मिट्टी के घोसलो को बना पाते हैं, हमारी समझ मे नहीं आता। पेरिस की प्रसिद्ध 'एफ्फेल' मीनार उसे बनानेवाले कारीगरो के औसत क़द से १८७ गुना ऊँची है, लेकिन दीमक की पहाड़ी उनके कारीगरों से १००० गुना ऊँची तक विद्यमान हैं। चित्र मे ऊपर की पक्ति मे ऑस्ट्रेलिया के मैदानों में पाए जानेवाली भीमकाय दीमक की बॉबियों के दो चित्र हैं। नीचे बाई ओर एक अफ्रीका की दीमक की बॉबी का काटकर दिखाया गया दृश्य और दाहिनी ओर मैदान मे उनका एक समूह प्रदर्शित है।

मे सूखकर लाल और कड़ा हो जाता है। चिडियों में भी कई मिट्टी के घोसले बनानेवाली हैं। इनमे सब से प्रसिद्ध दक्षिणी अमेरिका की ओवन-बर्ड है जो अंडे सेने के लिए बरोसी की शक्ल का घोसला किसी खम्भे की चोटी
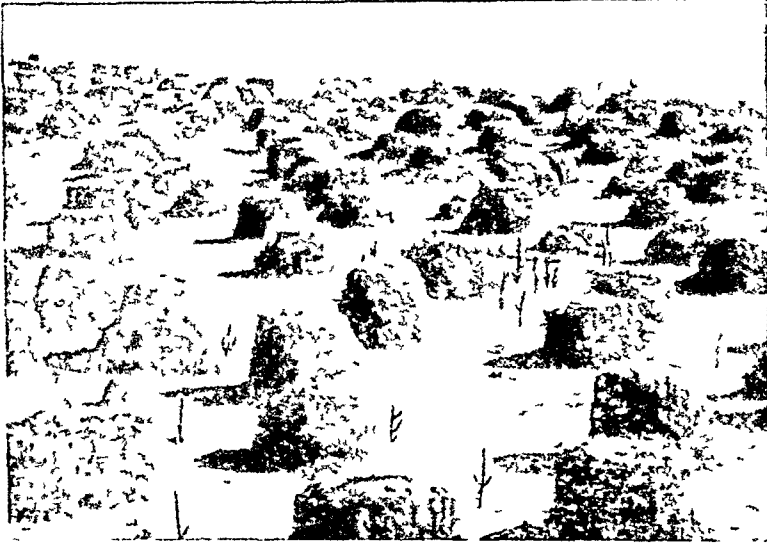
या वृक्ष की आड़ी डाल पर बनाती है। यह चतुर कारीगर बाल तथा रेशेदार जडों को एकत्र करके पोखरे या तालाब के किनारे कडी मिट्टी मे सानकर गोलियॉ-सी बना लेती है और इन्हे अपने चुने स्थान पर ले जाकर और उन्हे एक पर एक रखकर गहरी, तग मुँह की बरोसी या तन्दूर-सा घोंसला तैयार कर लेती है। इसके भीतर एक खड़ी और दूसरी आडी दीवाल रहती है। खडी दीवाल को यह चिडिया इस तरह दर्वाज़े के सामने बनाती है कि हवा का झोंका सीधा घोंसले में न जा सके। आडी दीवाल के नीचेवाले कमरे मे नर्म वनस्पतियों का फर्श बिछाकर मादा उसमे अडे देती है।

घोंसला बनाने के लिए मिट्टी को काम में लानेवाली हमारे देश की चिडियों मे सबसे प्रसिद्ध एक तो कच्छ और गुजरात की ओर झुंड मे रहनेवाली चिड़िया फ्लैमिङ्गो है (चित्र देखिये) और दूसरी धनेश है जिसकी मादा पेड का एक खोखला चुनकर उसमे लकडी के टुकडे, मिट्टी और पर बिछाकर उसे अपने रहने और मातृ-धर्म पूर्ण करने के लिए तैयार करती है। जब वह अपनी इस लकड़ी की झोपडी में अडे देने के लिए बैठ जाती है तो नर मिट्टी लाकर खोखले का मुँह बन्द कर देता है। वह उसमे केवल एक दरार छोड देता है और नित्य बन्दी मादा इसी में से चोंच निकालकर अपना भोजन नर से पाती है। एक स्वतन्त्र चिडिया को इस प्रकार बन्दी रहने में कष्ट तो अवश्य ही होता होगा लेकिन उसको यह सन्तोष रहता है कि उसके बच्चे जब तक बडे न हो जायँगे उसके भीतर भली भाँति सुरक्षित रहेंगे।

किन्तु राजगीरी के काम मे सबसे निपुण और मनोरजक वे नन्हे-नन्हे जीव हैं जिनको हम दीमक के नाम से जानते हैं। दीमकों से अधिक मनोहर कदाचित् सम्पूर्ण विश्व मे कोई अन्य जीव नहीं। इनका विस्तृत हाल आपको फिर कभी बतलाएँगे। जब हम उनके विशाल नगरों का, जिनमे सहस्रों प्राणी घोर अन्धकार में बसे रहते हैं तथा जिनमे राजा, रानी, सेवक और सैनिक सभी होते हैं, पुस्तकों मे हाल पढते हैं तो हमे अत्यन्त आश्चर्य होता है। परन्तु वास्तव में इनके घोंसले या घर ऐसे ही विचित्र हैं और उनके विषय मे हम जितना ही जानते हैं उतने ही वे और अजीब मालूम होते हैं। बाज़ क़िस्म की दीमकों के घर तो बिल्कुल धरती के भीतर ही होते हैं, ऊपर तो केवल

(ऊपर) हमारे ही देश में काठियावाड प्रान्त में कहीं-कहीं एक साथ ही हज़ारों की संख्या में पाये जानेवाले फ्लैमिङ्गो नामक पक्षियो के अद्भुत घोंसलो का एक समूह। ये घोंसले दलदली ज़मीन में मिट्टी को ऊपर उठाकर रचे जाते हैं। (नीचे) मादा फ्लैमिङ्गो इसी प्रकार अपने इन दूहनुमा मिट्टी के घोंसलों पर बैठकर अपने अंडों को सेती हैं, जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है।

उनका थोड़ा-सा ही भाग—पपड़ी-सा—नज़र आता है जैसा कि हम आम तौर से खेतो और शहरों की दीमकों मे पाते हैं, लेकिन गर्म देश मे रहनेवाले इन जीवो की कई जातियाँ बडे विचित्र और ऊँचे गृह बनाती हैं, जिन्हें दीमक की पहाडियाँ कहा गया है। इनमे से कोई-कोई २५ फीट या इससे भी अधिक ऊँची होती हैं। एक पहाडी मे एक ही ख़ानदान बसता है, लेकिन उसमे असख्य व्यक्ति होते हैं। इन घरों में छोटी-छोटी कोठरियों और रास्तों का जाल फैला रहता है। कैसे यह नन्हे जीव अपने से सैकड़ो गुने ऊँचे इन मिट्टी के घोंसलों को बना पाते हैं, हमारी समझ मे नहीं आता। पेरिस की प्रसिद्ध 'एफ्फेल' मीनार उसे बनानेवाले कारीगरों के औसत क़द से १८७ गुना ऊँची है, लेकिन दीमक की पहाडी उनके कारीगरों से १००० गुना ऊँची तक विद्यमान हैं। इसी पैमाने से यदि मनुष्य बनाता तो 'एफ्फेल' मीनार ५००० फीट ऊँची होती। यह इतने बडे दीमक के घर बिल्कुल मिट्टी के ही बने होते हैं, लेकिन वे कडे इतने होते हैं कि इन्हे फावडे से काटना भी कठिन हो जाता है। कभी-कभी लकड़ी भी उनकी रचना मे शामिल रहती है। दीमक मिट्टी को अपने मुँह मे लेकर चबाती हैं और उनकी लार से मिलकर वह पत्थर-सी कड़ी हो जाती है। लकड़ी भी चबाने पर चूर हो जाती है और जुड़ जाती है। कभी-कभी वे मिट्टी को खाकर अन्न-प्रणाली से बाहर निकाल देती हैं। स्थानाभाववश ससार के इन निराले आश्चर्यों के दो-एक नमूने ही इस लेख मे दिये जा रहे हैं।

काग़ज़ के घर बनाना

बर्रों के छत्ते तो आपने देखे ही हैं किन्तु कदाचित् आप यह न जानते होंगे कि वे किस वस्तु के और कैसे बनते हैं। छतों या वृक्षों से लटकते हुए जो छत्ते दिखलाई पड़ते हैं वे एक प्रकार के काग़ज के बनते हैं। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं कि इस प्रकार के घोंसले बनानेवाली बर्रों ने मनुष्य से बहुत पहले अपने घरों के लिए काग़ज़ बनाने की विद्या सीख ली थी! निस्सदेह वे ही दुनिया के सबसे पहले काग़ज़ बनानेवाले हैं। वे अपने मज़बूत जबड़ों से लकड़ी के रेशो और बुरादा-जैसे छोटे-छोटे टुकड़ों को काट तथा चबाकर लार मे सान नर्म गूदा बना लेती हैं। इसी गूदे से वे घोंसले में एक के बाद एक कोठरियाँ बनाती चली जाती हैं। इनका बनाया हुआ काग़ज दफ्ती या पट्ठे की तरह चीमड और मज़बूत होता है और ज्यों-ज्यो घोंसला बढाने की ज़रूरत होती है, काग़ज वहीं का वहीं बनाया जाता है। मादा बर्र अकेली ही छत्ता बनाना शुरू करती है और जब तक कि उसके दिये हुए अडों से उसके कारीगर शिशु नहीं निकलते सारा काम वही करती है। पेड पर रहनेवाली भिड या बर्र के लटकते हुए घोंसले ही सर्वप्रसिद्ध हैं। इसका एक चित्र यहाँ दिया गया है। बीच मे वह एक डाल से लटका रहता है। जब पहली मज़िल बन जाती है तो बीच का सहारा देनेवाला अश नीचे को बढाकर उसके इर्द-गिर्द कोठरियों की एक और पक्ति बनाई जाती है। इसी तरह एक दूसरे के बाद कई मज़िलें—साथ-साथ – एक के ऊपर एक बनती चली जाती हैं। ज्यो-ज्यों छत्ते की जनसख्या बढती जाती है, चारों तरफ और नई कोठरियाँ बनती जाती हैं और कभी कभी ये घोंसले बढकर कई फीट लम्बे चौडे हो जाते हैं। छत्तों को ऊपर से ढके हुए एक दर्जन या उससे भी ज्यादा छाते-जैसे एक के ऊपर एक काग़ज के खोल मढे रहते हैं, जो छत्ते के अन्दर पानी और हवा नहीं जाने देते। नीचे की ओर जाने का रास्ता बना रहता है।

इस प्रकार के घोंसले बनानेवाली बर्रें बड़ी चतुराई और समझदारी से काम लेती हैं, लेकिन इनकी कोठरियाँ उतनी एक-सी नहीं होतीं, जितनी शहद की मक्खी की मोम की बनी हुई षटकोण कोठरियाँ।

ऊपर बतलाई हुई कारीगरियों के अतिरिक्त जन्तु-जगत् की और भी कुछ बड़ी मनोरंजक कारीगरियाँ हैं, जैसे आम के पेडों पर रहनेवाले लाल चींटे या माटा का घर, जिसकी सबसे अनोखी बात यह है कि वह आम के कई पत्तो को पास खींचकर अपने इल्लो से डोरा पुरवाकर उन्हे एक दूसरे मे जोड़ लेता है। बुनने या सीने का इससे भी अच्छा उदाहरण हम फुलचुहकी नामक चिड़िया के घोंसले मे पाते हैं। यह सीनेवाली या दर्जी चिड़िया एक ही बडे पत्ते के दोनों किनारो को मोड़कर या पास-पास के दो पत्तों के किनारों मे चोंच से सूराख कर इधर-उधर से ढूँढे हुए तिनके, लम्बी घास या डोरे अथवा मकडी के कडे जाले को उनमे पिरोकर ऐसा सी लेती है मानो मनुष्य ने सिया हो। यदि इन्हे जन्तु-जगत् का दर्जी या जुलाहा कहा जाय तो क्या अनुचित है?

अन्त मे हम आपका ध्यान उन सबसे बढे-चढे बीवर जैसे इंजीनियरो की ओर आकर्षित करना चाहते है जिनके विषय मे हम पिछले लेखो में आपको काफी हाल बतला चुके हैं।
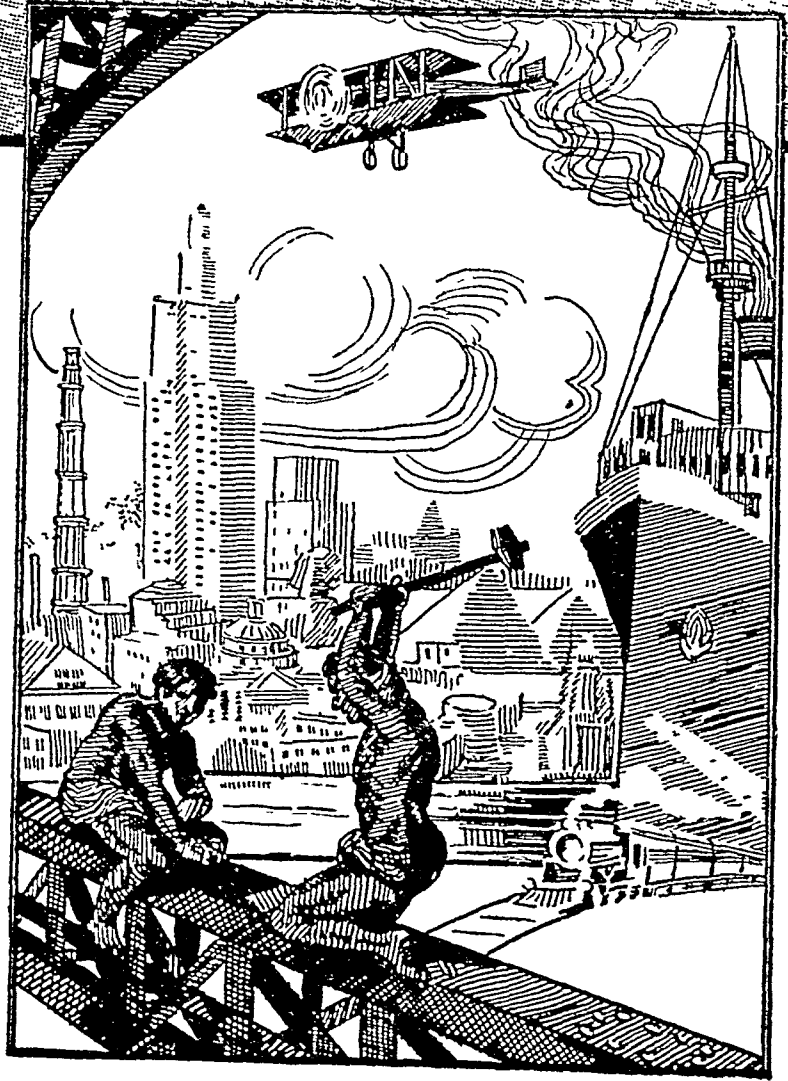
मनुष्य
की कहानी
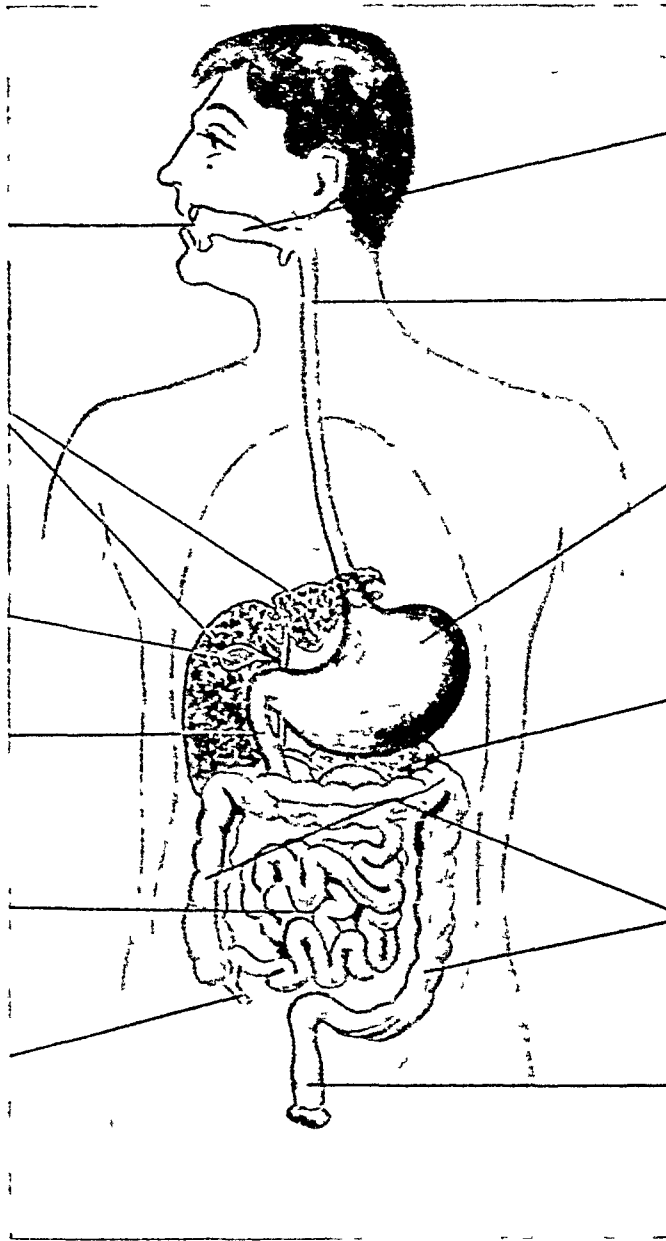
मुख या अन्न-प्रणाली का द्वार

यकृत और उससे निकलनेवाली पित्त नली—जिसके द्वारा पाचक रस आँत में पहुँचता है

यकृत में पित्त की थैली—इसमें पित्त जमा रहता है

पक्वाशय—आँत का पहला भाग, जिसमें से आमाशय से आहार-रस धीरे-धीरे आता है

छोटी आँत—जहाँ आहार-रस पचकर खून में खिंच आता है

उपांत्र—आँत का बेकार भाग—इसमें खाना अटकने और सूजन आ जाने से केवल पीड़ा ही नहीं होती, बल्कि कभी-कभी जीवन भी संकट में पड़ जाता है

यहाँ चबाये हुए भोजन में लार का पाचन रस मिलता है

चबाया हुआ भोजन इस नली के द्वारा आमाशय में पहुँचता है

आमाशय—जिसकी श्लैष्मिक झिल्ली से एक पाचक रस निकलकर भोजन में मिल जाता है

क्लोम—जिसमें पचानेवाला क्लोम रस बनकर नली द्वारा पित्त के साथ पक्वाशय में जाता है

बड़ी आँत के तीनों भाग यहाँ बचा बचाया पचने योग्य आहार-रस और पानी सोख लेते हैं और मल को आगे बढ़ाते हैं

मलाशय या आँत का अन्तिम भाग, जिसमें त्याग होने के पहले मल इकट्ठा रहता है

अन्न-प्रणाली एक लगातार नली है जो मुँह से शुरू होकर शरीर के दूसरे सिरे तक चली जाती है। एक जगह वह फूलकर आमाशय बन जाती है और बाद में मुड़ी-मुड़ाई २७ फ़ीट लम्बी पेचदार आँत हो जाती है। इस प्रमुख नली से कई ऐसे आवश्यक अंग निकले रहते हैं जिनका पाचन-क्रिया में ज़रूरी भाग रहता है, उदाहरणार्थ—यकृत और क्लोम।
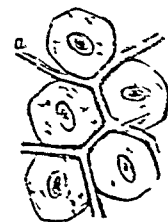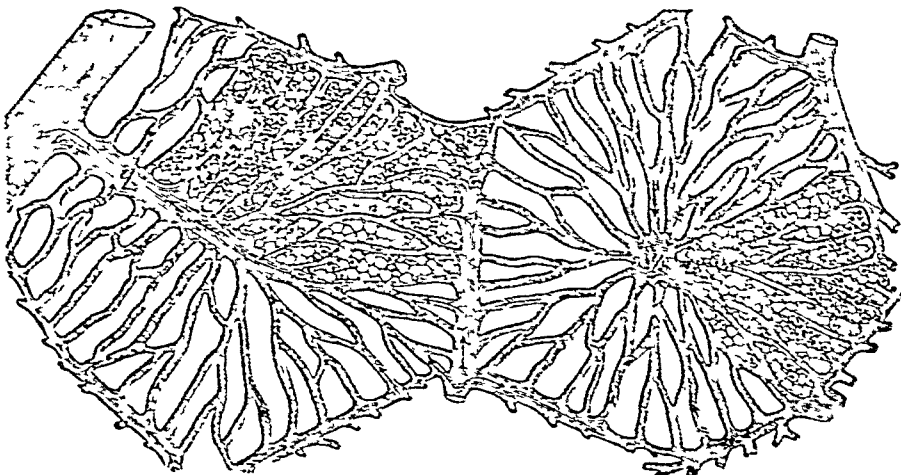
(बाईं ओर) यकृत से काटा गया महीन पर्त सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में ऐसा ही दिखलाई पड़ता है। वह छोटे-छोटे ग्रन्थि-कोषों से भरा रहता है।
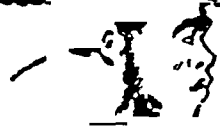
पाचन-संस्थान तथा अन्न-प्रणाली

शरीर रूपी कल के ढाँचे या ठठरी, पेशियों, खाल और उसके पाँचों द्वार अथवा ज्ञानेन्द्रियो से परिचित हो जाने के पश्चात्, आइए, अब हम आपको इस कल के भीतर की सैर कराएँ। शारीरिक कार्य करने मे उसके तत्त्व क्षय होते रहते हैं। यदि हम इस कमी को पूरा न करते रहे तो धीरे-धीरे शरीर क्षीण होता जायगा और बहुत दिनों न चल सकेगा। इस कमी की पूर्ति भोजन द्वारा ही हो सकती है। शरीर की गर्मी भी उसी से ही स्थिर रहती है। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के बनने तथा उनकी वृद्धि के लिए जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है उनकी भी पूर्त्ति भोजन ही करता है। किन्तु जिस रूप मे हम भोजन प्राप्त करते हैं उसी रूप में तन्तु और कोष उनको ग्रहण नहीं कर सकते। जो ठोस या तरल पदार्थ हम खाते हैं वह बहुत-सी क्रियाओं के बाद रक्त बनकर शरीर मे घूम घूमकर अंग-प्रत्यंग, प्रत्येक तन्तु और उसके कोषों को उनकी खुराक देता है। इस लेख में आपको उन्हीं अंगों का हाल हम बतायेंगे, जिनके द्वारा पेट मे पहुँचाया गया भोजन उस गर्म, बलदायक और सुखदायी रक्त में रूपान्तरित हो जाता है, जिसमें सारे भीतरी अंग परिप्लावित रहते हैं।

हम खाना क्यों खाते हैं ?

यह तो सर्वविदित है कि हमको खाने की आवश्यकता केवल प्रतिदिन ही नहीं होती वरन् दिन में कई बार होती है। खाने की इच्छा ऐसी है कि यदि उसको पूर्ण न किया जाय तो वह और भी तेज़ होती जाती है और अन्त मे दुःखदायी भी हो जाती है। बहुत थक जाने पर हम नींद के वश मे हो जाते हैं और काम करते-करते ही सो जाते हैं अर्थात् नीद की कमी को शरीर के कोष ही पूरा कर लेते हैं। किन्तु भूख में ऐसा नहीं होता। भूख की तृप्ति तो शरीर में बाहर से कुछ सामग्री पहुँचाये बिना हो ही नहीं सकती। जीवनारम्भ में शिशु तौल मे केवल ३—३। सेर ही होता है किन्तु पूर्ण रूप से बढ़ जाने पर उसके शरीर का भार १।—१॥ या २ मन अथवा उससे भी अधिक हो जाता है। वृद्धि के इस काल मे हड्डी, मांस-पेशियाँ, रक्त आदि सभी बढ़ते हैं। शरीर में बल भी अधिक आ जाता है। यह सब कैसे होता है ? वह सामग्री ही इस कार्य को करती है जिसे हम खाने-पीने के रूप मे ग्रहण करते हैं। भोजन से शरीर को बढ़ने के लिए आवश्यक पदार्थ मिलते हैं। भोजन ही शारीरिक अंगों की थकान और घिसन को पूरा करता है। भोजन ही शरीर को गर्म रखता है और उसको कार्य करने की शक्ति तथा फुर्ती देता है। अतः स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए हमको ऐसा भोजन करना चाहिए, जिससे शरीर को ये तीनों ही बातें मिलती रहें। शरीर के सभी तन्तु जटिल रासायनिक मिश्रणों—प्रोटीन—से बनते हैं। मांसवर्द्धक पदार्थ या प्रोटीन दूध, बिना चर्बी के गोश्त, दाल, अंडे इत्यादि मे मिलता है। यही मांसवर्द्धक पदार्थ मानो शरीर का ईंट और गारा है। हड्डियाँ और दाँत विशेषकर चूना खटिकम् (calcium) और स्फुर जैसे खनिज लवणों से ही बनते हैं। शरीर रूपी मकान की ये मानों गार्डर और कड़ियाँ हैं। रक्त के लाल कणों को बनाने के लिए लोहे की आवश्यकता होती है। ये सब खनिज लवण मुख्य रूप में शाक, भाजी तथा फलों से ही प्राप्त होते हैं। चूना दूध मे भी मिलता है। यदि भोजन में इन लवणों का अभाव हो तो दाँत और हड्डियाँ न बन पायें तथा उनमें कमज़ोरी आने लगे ; रक्त भी इन लवणों की सहायता के बिना अपना कार्य सुचारु रूप से न कर सके। शरीर रूपी कल को इन वस्तुओं के अतिरिक्त ईंधन की भी आवश्यकता होती है जो शरीर मे उपस्थित रहे और ज़रूरत आ पड़ने पर जलकर उसे शक्ति दे। इस प्रकार के पदार्थ शरीर के अंगों को बनाने

मे कोई भाग नहीं लेते वरन् कोषो मे जमा रहते हैं और समय पर काम आते है। गुड़, चीनी आदि श्वेत पदार्थ के उदाहरण हैं। ये गन्ना, चुकन्दर, खजूर, मुनक्का, अजीर आदि फल, गेहूँ, चावल, जौ आदि अनाज और घी, दूध, तेल, चरबी जैसी चिकनी चीज़ों से प्राप्त होते हैं। ये सब श्वेत पदार्थ मोटर के पेट्रोल के समान हैं, जो उसमे भरा तो रहता है लेकिन उसकी मशीन का कोई भाग नहीं कहा जा सकता।

मुख्य खाद्य पदार्थ

शरीर को स्वस्थ और उपयुक्त अवस्था मे बनाए रखने के लिए प्रोटीन, श्वेतसार, चिकनाई तथा खनिज लवण के सिवाय एक और प्रकार के खाद्य पदार्थों की भी आवश्यकता होती है। इन वस्तुओं को 'विटामिन' (Vitamin) या खाद्योज कहते हैं। ये प्रायः ताज़े फल, शाक-भाजी और दूध मे पाये जाते हैं। इनका कार्य-भाग अभी तक भली भाँति नहीं समझा गया है। उनको यदि शरीर के सिपाही कहें तो अनुचित न होगा। इनका वश बड़ा है—कम-से-कम दस का तो पता लग चुका है। प्रत्येक किसी मुख्य कार्य के लिए नियत है। उदाहरणार्थ, उनमे से एक—खाद्योज 'डी'—का यह काम है कि वह हड्डियों पर दृष्टि रक्खे और देखे कि रक्त द्वारा जो चूना बढती हुई हड्डियों मे पहुँचता है, वह ठीक समय और उचित रीति से उन पर जमता जा रहा है या नहीं। अच्छी तन्दुरुस्ती के लिए हमारे भोजन मे इन सब प्रकार की सामग्रियों का उचित मात्रा मे मौजूद रहना आवश्यक है। इस विषय को विस्तारपूर्वक हम कहीं और लिखेंगे। यहाँ तो हम केवल यह बतला रहे हैं कि जो खाना हम खाते हैं वह कैसे और किन अगों की सहायता से पचकर शरीर का अग बन जाता है। यह कोई साधारण बात नहीं है। हमारा अधिकतर खाना ठोस होता है। शोरबे (रसा), दूध और सतरे के रस जैसे तरल पदार्थों मे भी सूक्ष्म कणों के रूप मे कुछ ठोस पदार्थ रहता है। ठोस पदार्थ सारे शरीर में फैले हुए उन छोटे-छोटे कोषों के लिए बिलकुल बेकार होते हैं, जिनके जीवन के लिए हम भोजन करते हैं। भोजन के ताक़त देनेवाले सारे अणु—जिनका कोष प्रयोग कर सकते हैं—उन तक घोल या तरल पदार्थों मे महीन-महीन मिली हुई दशा में ही पहुँचने चाहिएँ। इसलिए खाई हुई चीज़ों का घोल मे बदल जाना अत्यन्त आवश्यक बात है। हम रोटी, दाल, चावल, गोश्त, मछली, फल आदि अनेक रूप के सयोजित भोजन करते हैं, जिनमे से कुछ बहुत कड़े भी होते हैं। उनको तरल रूप प्रदान करने और पचाने के लिए हमारे भीतरी पेचीदा अगो को बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। हमारे लिए यह सम्भव नही है कि हम खाने के लिए बैठे और आवश्यकतानुसार थोड़ी सी तन्तु बनानेवाली चीज़ें, शक्ति-दायक ईंधन, हड्डी बनानेवाले खनिज पदार्थ, जल इत्यादि तथा अन्य छोटी-छोटी सहायक वस्तुएँ इस रूप में पा ले कि वे शरीर मे जाकर आसानी से शरीर का अग बन जायँ।

शरीर आहार के प्रयोग में मानव कृत सभी कलों से आश्चर्यजनक है। वह भोजन से ईंधन का काम लेता है और उसी के जलने से वह गर्मी प्राप्त करता है, जो उसको चलता रखने के लिए आवश्यक होती है। शारीरिक मशीन के चलने से उसके पुर्जों में जो रगड़ और घिसन आ जाती है उसको भी भोजन ही ठीक करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जो कोष और तन्तु शरीर के काम में सदा नष्ट होते रहते हैं वे एक तरफ़ खाने से बनते जाते हैं और दूसरी ओर अपना काम भी करते रहते हैं। तीनों प्रकार के मुख्य खाद्य पदार्थ—मासवर्द्धक, श्वेत सार तथा चिकनाई—जिस रूप मे खाये जाते हैं उसी रूप में शरीर के काम नहीं आते। इसलिए पाचन अगों को उन्हें तोड़कर ऐसी साधारण अवस्था मे लाना पड़ता है कि उनको रक्त सोख सके और भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचकर वहाँ के तन्तु-कोषों द्वारा वे फिर ऐसी वस्तुओं में बदल जायँ जिनकी वहाँ आवश्यकता है, जैसे कही खाल, कहीं मास, कहीं हड्डी और कहीं चर्बी में। केवल पानी और खनिज पदार्थ ही ऐसी चीज़ें हैं, जिनके अणु साधारण अवस्था मे होते हैं। इसलिए उनकी तोड़-फोड़ करने की ज़रूरत नहीं होती। उदाहरण के लिए प्रोटीनों को ही लीजिए। भोजन-सामग्री के प्रोटीन मास के प्रोटीनों से बिल्कुल ही पृथक् होते हैं। गोभी के पत्तो मे पाए जानेवाले प्रोटीन के लिए यह मुमकिन नही कि वह मास-पेशियो के काम मे कोई भाग ले सके, क्योंकि उसके अमिनोअम्ल के अणु और तरह से सजे रहते हैं। बिल्कुल उपयुक्त प्रोटीन मनुष्य द्वारा भक्षण करने से ही प्राप्त हो सकता है, किन्तु तब भी किसी तरह वह सीधा ख़ून मे नहीं पहुँच सकता। उसको फिर तोड़ना और बनाना ही पड़ेगा। इसलिए भाँति-भाँति के भोज्य प्रोटीनों को मास-प्रोटीनो मे परिवर्त्तित करना आवश्यक है। इसकी रीति निम्न प्रकार है। सब तरह के प्रोटीनों को, जिन्हे हम खाते हैं, पेट मे तोड़कर हम उन्हीं अमिनोअम्लों मे परिणत कर लेते हैं जिनसे कि वे बने हुए रहते हैं। इन अम्लों को हमारा ख़ून चूस लेता है और इस तरह उनको तन्तुओं में बाँट देता है। तब कोष इन अमिनोअम्ल को लेकर

अपनी ज़रूरत के प्रोटीनों को बना लेते हैं। यह काम ऐसा ही है जैसे कि हम ठेकेदार से कुछ छोटे छोटे मकान बनाने को कहें और उसको ईंट, गारा, सीमेन्ट, लोहा, या लकड़ी के बजाय एक बनी-बनाई विशाल इमारत दे दे जिसे तोड़कर वह ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि अलग-अलग करे और फिर लोहे और लकडी को काट-छाँटकर नये मकानों के योग्य बनाए।

कर्बोदेत और चिकनाईवाले खाद्य पदार्थ के साथ भी बिल्कुल ऐसा ही होता है। सबसे सीधा-सादा और भली भाँति जाना हुआ कर्बोदेत ग्लूकोज़ है जो अगूर और बहुत-से अन्य फलों से बनता है। रक्त मे इसी रूप का कर्बोदेत मिला रहता है। मिश्री, शक्कर, आलू, या गेहूँ, तथा चावल के निशास्ते मे मिलनेवाले शेष सब कर्बोदेतों की बनावट अधिक जटिल होती है। असली भीतरी अगों मे पहुँचने के पूर्व ही उनको ग्लूकोज़ में बदलना पड़ता है। इसी भाँति चिकनाइयों के भी अणु टूटकर मधुरिन (ग्लिसरीन) और मज्जिकाम्ल के साधारण खंडों मे परिणत हो जाते हैं।

इसी प्रकार सभी खाया हुआ भोजन अति छोटे-छोटे टुकडो मे बँट जाने और चबा-चबाकर भली भाँति पिस जाने पर कई अन्य क्रियाओं के उपरान्त इस योग्य होता है कि उसका सार खिचकर रक्त मे पहुँच जाय और रक्त-सचार द्वारा क्रमशः समस्त शरीर मे फैल जाय। इस सम्पूर्ण क्रिया को ही **पाचन क्रिया** कहते हैं।

लार बनानेवाली ग्रन्थियाँ

चित्र में कान, जबडे और जीभ के समीप ये ग्रंथियाँ दिखाई गई हैं। प्रत्येक गुत्थी शाखामय खोखली नलिकाओ से बनती है; और हर एक गुत्थी से लार एक मुख्य नली द्वारा मुँह में पहुँचती है। जब हम दाँतों से खाना चबाते हैं और जीभ से चलाते हैं तो इन ऊपर बनी हुई ग्रन्थियों से लार निकलने लगती है। स्वादिष्ट भोजनो को देखने, सूँघने और उनका विचार करने से ही लार चूने लगती है।

जो अग इसका प्रबन्ध करते हैं वे एक लम्बी नली के रूप मे मुँह से शुरू होकर पाख़ाने के मार्ग तक—शरीर के एक छोर से दूसरे छोर तक—फैले हुए हैं। यह नली अन्न-मार्ग, भोजन-प्रणाली या भोजन की नली कहलाती है। आरंभ मे इसकी लम्बाई १० इच तथा चौडाई १ इच होती है। गर्दन और सीने में होती हुई यह आमाशय तक पहुँचती है। यही प्रणाली और उसमे खुलनेवाले अवयव हमारी आहार-ग्रहण सबंधी सारी क्रिया से सरोकार रखते हैं। भोजन को पचाना, पचे हुए भोजन से रस को अलग निकालना और बचे हुए बेकार अश को शरीर के बाहर फेक देना इन्ही अवयवों का कर्त्तव्य है। ऐसा नहीं है कि भोजन पचाने का अंग कोई और है और विकार निकालने का कोई दूसरा। वास्तव मे, यह सारा यत्र एक ही है। आइए, पहले इस अन्न-मार्ग और उससे लगे-लिपटे कल-पुर्ज़ों का हाल बताएँ। इसके बाद पाचन रीति का वर्णन करेंगे।

पाचन-सम्बन्धी कल और पुर्ज़े—पाचन-संस्थान

मुँह—भोजन की नली मुँह से ही शुरू होती है और मुँह मे पहुँचते ही भोजन पर पाचन क्रिया आरम्भ हो जाती है। लेकिन जो सामग्रियाँ हम पकाकर खाते हैं उनकी पाचन-क्रिया मुँह से बाहर ही शुरू हो जाती है। पकाने से मांस और काष्ठोज (वनस्पतियो की कोष-भित्तियों को बनानेवाला पदार्थ) नर्म हो जाते हैं। सब माँड-युक्त (starchy) पदार्थों में काष्ठोज की झिल्लियों में मढे हुए नन्हे-नन्हे दाने होते हैं, जिन पर पाचक रसों का बहुत ही कम असर होता है। पकाने से माँड के दाने फूल जाते है और उनके ऊपर की झिल्ली फट जाती है। तब उन्हे खाने पर पाचक रस उनको प्रभावित कर पाते हैं। इससे भोजन को पकाने की आवश्यकता स्पष्ट है।

मुँह मे खाद्य पदार्थ पहुँचते ही हम उसको चबाने लगते हैं। हम दाँतों से कुचलकर उसके छोटे-छोटे टुकडे कर डालते हैं। टुकडे थूक से मिलकर अच्छी तरह पिस जाते हैं और उनका एक रेशेदार गूदा-सा हो जाता है, जो हज़्म होने के योग्य हो जाता है। लेई के समान चिकना हो जाने से हम उसको सहज मे निगल जाते हैं। जब कभी हम जल्दी मे या ग़लती से बिना ठीक से चबाये कौर लीलने लगते हैं तभी गले मे वह अटकने लगता है और गले मे एक फन्दा-सा पड़ने लगता है। भोजन को पीसने मे जीभ भी मदद करती है। वह छोटे-छोटे टुकड़ों को बार-बार डाढों के नीचे ढकेलती रहती है।

मुँह के चलाने से जो थूक या लार उसमे आती है वह पानी जैसी होती है और मुँह के अन्दर की ६ ख़ास गिल्टियों से निकलती है (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। इनमें से तीन-तीन

दोनों तरफ होती हैं। इन लार-ग्रन्थियो मे से एक कान की जड़ के नीचे, दूसरी नीचे के जबड़े के पिछले भाग के नीचे और तीसरी आगे की ओर ज़बान के नीचे पाई जाती है। इन गिल्टियों से निकलनेवाली लार पतली-पतली नलिकाओं के रास्ते से मुँह मे आती है। दिन भर मे आध सेर से लेकर सेर भर तक लार बनती है। जबड़ों की गति और मुँह के भीतर खानेवाली वस्तुओं की रगड़ से ही नहीं बल्कि उनके स्वाद से भी लार ग्रन्थियाँ उत्तेजित हो जाती हैं और उनसे लार बनकर मुँह मे आने लगती है। खाना जितना ही अधिक स्वादिष्ट होता है उतनी ही अधिक लार मुँह में आने लगती है। यहाँ तक कि अच्छे-अच्छे भोजनों की महज़ महक ही पहुँचने पर हमारे मुँह मे पानी भर आता है। भोजन जितनी अच्छी तरह चबाया जायगा उतनी ही अधिक लार उसमे मिलती जायगी। चबाते समय भोजन पर श्लेष्म लग जाता है और उसमे झाग उठ आते हैं, तभी वह निगला जा सकता है। अच्छी तरह चबाया हुआ चिकना कौर ६ सैकन्ड मे ही सरककर मुँह से मैदे की थैली में जा पहुँचता है, लेकिन कुनैन की टिक्की जैसी सूखी कड़ी चीज़ को मैदे मे पहुँचने मे कई मिनट लग जाते हैं।

निगलने के लिए भोजन का लोथड़ा ज़बान से पीछे को ढकिल जाता और अन्न-प्रणाली में पहुँच जाता है। वहाँ से गले की मास पेशियों के लगातार सकोच से वह इस लम्बी यात्रा को पार करता हुआ आमाशय मे जा पहुँचता है। यदि आप किसी घोड़े को बाल्टी से पानी पीते समय देखे तो ज्यों-ज्यो वह पानी को ऊपर खींचता जायगा उसके गले की खाल पर पेशियों के सकोच की लहरें आपको एक के बाद दूसरी बिलकुल साफ नज़र आती जायँगी।

तीन प्रकार के दाँतों का सामने और बगल से लिया गया चित्र

कुन्तक दाँत का किनारा छेनी की तरह तेज़ और कटीला होता है। कील का किनारा खूँटी की तरह नोकीला और फाड़नेवाला होता है। डाढ़ के शिखर पर कुचलने के लिये तीन स्कन्ध या उभार होते हैं।

भोजन नाक और हवा की नली मे क्यों नहीं जाता?

यह तो आप जानते ही हैं कि नाक मे से मुँह के लिए एक रास्ता है, जो तालू मे खुलता है। इस रास्ते के सिरे पर मास का एक छोटा-सा नर्म टुकड़ा—जो कौआ कहलाता है—लटकता रहता है। यह कौआ साँस लेते समय तो लटकता रहता है, जिससे यह रास्ता खुला ही रहता है, किन्तु खाते समय भोजन से यह कौआ पीछे को ढकिल जाता है और नाक की नली को बन्द कर देता है, जिससे खाना नाक की नली में नहीं जा पाता। कभी-कभी 'टौंसिल' या 'डिप्थीरिया' की बीमारी मे यह कौआ बेकार हो जाता है और भोजन—विशेषकर तरल पदार्थ—नाक से बाहर टपकने लगता है। जीभ की जड़ के नीचे हवा की नली और भोजन की नली दोनों ही हैं। खाई हुई चीज़ को भोजन की नली में पहुँचने के लिए हवा की नली के ऊपर होकर जाना पड़ता है। फिर भोजन हवा की नली में क्यों नहीं गिर जाता? बात यह है कि हवा की नली पर एक ढक्कना-सा लगा रहता है जो हवा की नली का ढकना कहलाता है। साँस लेते समय यह ढकना हवा की नली पर नहीं रहता, लेकिन खाते समय, जब भोजन मुँह से गले मे जाने लगता है, यह ढकना नली के ऊपर आकर उसको बन्द कर देता है। इस प्रकार खाते समय नाक और हवा की नलियों पर ढकने लग जाते हैं और भोजन बिना किसी रुकावट के अपने मार्ग में चला जाता है। कभी कभी भूलकर हम खाने या पानी का घूँट लीलते समय बात करने की कोशिश करते हैं तो भोजन या पानी का कुछ अंश हवा की नली में जा पहुँचता है। ऐसा होते ही झटके की खाँसी आती है और दम घुटने लगता है। खाँसी आते-आते जब हवा की नली मे गिरा हुआ खाना-पानी बाहर को फिंक आता है तभी चैन मिलती है। इसी को ठसा लगना या उछू लग जाना कहते हैं।

दाँत

जबड़े और उनमे लगे हुए दाँत मुँह मे चक्की का काम करते हैं। मनुष्य के दाँत तीन तरह के होते हैं और खाने को कुचलने या तोड़ने फोड़ने मे प्रत्येक का अपना-अपना अलग कार्य नियत है। सामने की ओर के छेनी के सदृश चार ऊपर और चार नीचे के चपटे तेज़ दाँत काटने या कुतरने के लिए होते हैं। इनके दोनो ओर हर एक जबड़े में एक-एक लम्बा और नोकीला अत्यन्त मज़बूत दाँत और

होता है जो चीरने-फाड़ने के उपयुक्त होता है। शेष दाँतों का ऊपरी भाग (सिरा) चौड़ा होता है और ये दाँत चक्की के पाट की तरह भोजन को कुचलने और पीस डालने का काम करते हैं। दोनों तरफ़ दो-दो कुचलनेवाली अग्र डाढे और तीन-तीन चबानेवाली डाढ़े होती हैं। पूर्ण वयस्क मनुष्य मे दाँतों की संख्या ३२ होती है, जिनमें काटनेवाले ८, फाड़नेवाले ४, कुचलनेवाले ८ और चबानेवाले १२ दाँत होते है।

शाकाहारी जन्तुओं में कुचलने या चबानेवाले दाँत (डाढे) ख़ास तौर से बढ़े रहते हैं। मांसभक्षियों मे फाड़नेवाले दाँत बहुत लम्बे होते हैं तथा काटनेवाले भी अधिक पैने होते हैं। उनमे जो डाढे होती हैं उनके भी सिरे तीक्ष्ण और काटनेवाले होते हैं। मनुष्य मे तीनों प्रकार के दाँतों का होना इस बात का प्रमाण है कि उसको सभी प्रकार का खाना खाना चाहिए। दाँत इसीलिए हैं कि खाई हुई चीज़ काटने, फाड़ने, कुचलने और चबाने के बाद लार से मिलकर ऐसी हो जाय कि उसके पचने में सुभीता हो। इनकी हालत तभी अच्छी रहती है जब इनसे ख़ूब काम लिया जाय। गन्ना खाने से, कड़े फलों को काटने से और दातौन करते रहने से वे ख़ूब अच्छे बने रहते हैं। अत्यन्त ठंडी, बहुत ही गर्म तथा सदा नर्म वस्तुओं के प्रयोग से वे निर्बल और सुकुमार हो जाते हैं। उनके ख़राब होने से खाना भी ठीक से हज़्म नहीं होता। कुछ दिनों मे इसका प्रभाव सारे स्वास्थ्य पर पड़ता है। अतः यदि आप अपनी तन्दुरुस्ती क़ायम रखना चाहते है और दाँतों को सुदृढ रखना चाहते हैं तो उनसे ख़ूब काम लेते रहिए और उनकी स्वच्छता का भी पूरा ध्यान रखिए।

देखिये, भोजन कैसे अपने निश्चित मार्ग पर ही जाता है। गले के पिछले हिस्से में भोजन-नली के अलावा दो सूराख़ और हैं—एक तो नाक को जानेवाला मार्ग और दूसरा श्वास-नली का रास्ता। जब चबाया हुआ कौर ढकिलकर जीभ के पीछे गले में उतरने लगता है तो नाकवाले सूराख़ के सामने लटकते हुए कौए को इस प्रकार ढकेल देता है कि वह सूराख़ बन्द हो जाता है और खाना आगे बढ जाता है। जब वह और नीचे पहुँचता है तो स्वरयंत्र की नर्म हड्डियाँ सरककर श्वास-नली के छिद्र को छोटा कर देती हैं। ऐसा होने से कौर स्वरयंत्र-च्छद को ढकेलकर सूराख को बन्द करता हुआ अपनी राह पर आगे बढ जाता है।

मानव-जीवन में दाँत दो बार निकलते हैं

जन्म के सातवे-नवे महीने मे जो दाँत सबसे पहले निकलते हैं वे दूध के दाँत कहलाते हैं और गिनती मे २० ही होते हैं। असली दाँतों के मुक़ाबले मे ये दाँत कुछ छोटे और कमज़ोर होते हैं। ये २० दाँत पूरे-पूरे ३ वर्ष की उम्र तक निकल आते हैं और ६ और ७ वर्ष की अवस्था मे एक-एक करके गिरने लगते हैं। १०—१२ वर्ष की उम्र होते-होते असली दाँत या अन्न के दाँत निकल आते हैं। वास्तव मे, जैसे-जैसे असली दाँत बढ़ते जाते हैं दूध के दाँत ढकिल-ढकिलकर बाहर गिरते जाते हैं।

आमाशय

चबाया हुआ भोजन लार के साथ मिलकर भोजन की नली मे उतरता है और उसकी दीवाल की पेशियों के संकोच से धीरे-धीरे ढकिलकर गले से नीचे उतर आमाशय की थैली में जा पहुँचता है। दैनिक बोल-चाल मे हम आमाशय को ही पेट कहते हैं। पृ० १६६२ का चित्र देखिये, आमाशय अन्न-मार्ग का ही एक फैला हुआ भाग है, जो एक छोटी सी मशक़ की भाँति धड़ के क़रीब-क़रीब बीच मे एक ओर से दूसरी ओर को फैला हुआ है। इस थैली मे दो रास्ते होते हैं—एक मार्ग से तो उसमे गले से भोजन आता है और दूसरे से पचा हुआ भोजन निकलकर आँत मे उतरता है। आनेवाले मार्ग को आमाशय का हृदय-द्वार और जानेवाले को पक्वाशयिक द्वार कहते हैं। दूसरा द्वार मज़बूत चक्राकार पेशियों से घिरा रहता है और आम तौर से कसकर बन्द रहता है। ये मांस-पेशियाँ मानों पहरेदार का काम करती हैं। आमाशय मे भोजन की पाचन-क्रिया जब तक पूरी नहीं होती तब तक ये पुट्ठे उसको आँत मे जाने नहीं देते। आमाशय के अन्दर की पाचन-क्रिया के प्रारम्भ मे पक्वाशयिक द्वार बन्द रहता है और उसके हल्के संकोचो से खुल नहीं जाता। इसलिए भोजन घूम-फिर-कर थैली ही मे बना रहता है। ज्यों-ज्यों पाचन-क्रिया पूरी होती जाती है मैदे की सिकुड़न भी ज़ोरदार होती जाती है और उसमे से आँत को जानेवाला रास्ता खुलने लगता है। तब सिकुड़न की प्रत्येक लहर के साथ

थोड़ा-थोड़ा घुला हुआ आहार आँत में जाने लगता है।

वयस्क मनुष्य के आमाशय की लम्बाई लगभग १ फुट और चौड़ाई क़रीब-क़रीब ४ इंच होती है। उसकी समाई १॥ सेर की होती है। किन्तु यह समाई आयु के अनुसार बदलती रहती है। नवजात शिशु के आमाशय में आधे या पौन छटाँक तक दूध की जगह होती है। खाली होने पर आमाशय की दीवालें बिना हवा भरे फुटबाल के ब्लेडर के सदृश एक दूसरे से मिली रहती हैं और उसकी शक्ल ट्यूब की-सी हो जाती है। जब वह भोजन से भर जाता है तो कुछ-कुछ नासपाती की तरह दिखलाई पड़ने लगता है। इस नासपाती का चौड़ा भाग मानों ऊपर बाईं ओर तथा पतला हिस्सा नीचे को दाहिनी ओर रहता है। आमाशय की दीवाल में कई तहें होती हैं, जिनमें से पेशियों के सूत्रोंवाली तह और सबसे भीतरी श्लैष्मिक झिल्लीवाली तह सबसे जरूरी हैं। सूत्र तीन तहों में भिन्न-भिन्न दिशाओं में फैले रहते हैं। इनके सकोच और प्रसार से भोजन आमाशय में पहुँचते ही इधर-उधर घुमाया और झकझोरा जाने लगता है। पेशियाँ ऐसे अच्छे ढंग से बनी हैं कि आहार को वे आमाशय के एक कोने से दूसरे कोने में फेंकती रहती हैं और उसको भली भाँति मथकर गाढ़े मट्ठे जैसा कर देती हैं। ज्यों ज्यों भोजन मथा जाता है उसमें आमाशय रस भी मिलता जाता है। यह रस उन छोटी-छोटी गुत्थियों से निकलता है जो श्लैष्मिक झिल्लीवाली तह के भीतर फैली रहती है और उसकी सतह पर खुलती हैं। दिन भर में यह गुत्थियाँ पाँच बोतल या और ज्यादा रस बनाती हैं। इस भीतरी तह में एक और तरह की गुत्थियाँ रहती है जिनसे चिकना या लसलसा श्लेष्म निकलता रहता है। भोजन चाहे जितना कर लिया जाय आमाशय की दीवालें उसके पास ही रहती हैं और वह उनके दबाव, मन्थन तथा रस के मिलने से घुल-मिलकर आहार रस (chyme) बन जाता है। आमाशय की पेशियों की भी गति अन्न-प्रणाली की लहरों के ही समान है। आमाशय की लहरें हर १५-२० मिनट के बाद क़रीब-क़रीब उसके बीच से उठकर पक्वाशयिक द्वार की ओर धीरे-धीरे चलती रहती हैं। आमाशय के अन्दर पाचन-क्रिया एक से तीन-चार घंटे तक चलती है। जिस तरह लार का असर श्वेतसारों पर होता है उसी तरह आमाशय-रस का असर मांसवर्द्धक पदार्थों पर होता है। जो भोजन-सामग्री आमाशय-रस से जल्दी टूट-फूट जाती है वह मैदे में कम रुकती है। इसके विपरीत जो सामग्री देर में टूटती है वह देर तक रुकी रहती है। यदि ख़ाली पेट प्यास बुझाने के लिए आप पानी पियें तो पक्वाशयिक द्वार फौरन ही खुल जाता है और पानी पक्वाशय में दो मिनट के अन्दर ही पहुँच जाता है।
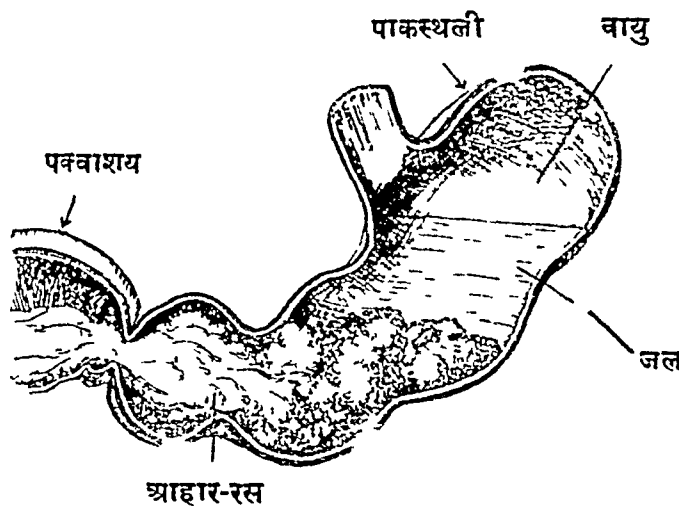
आमाशय से आहार-रस कैसे पक्वाशय में जाता है

आमाशय में भोजन जब पचकर पतला पड़ जाता है तो धीरे-धीरे पक्वाशय-द्वार में होता हुआ आँत में जाने लगता है। चित्र देखिए; आमाशय के निचले हिस्से से आहार-रस बहकर पक्वाशय में जा रहा है। उसके ऊपर जल है और सबसे ऊपर हवा भरी हुई दीख रही है।

छोटी और बड़ी आँतें—आँत अन्न-प्रणाली का वह हिस्सा है जो आमाशय के पक्वाशयिक द्वार से लेकर मल-द्वार तक लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी नली के रूप में फैला रहता है। इसके दो भाग होते हैं। पहले भाग को छोटी आँत और दूसरी को बड़ी आँत कहा जाता है। छोटी आँत लगभग २० फीट लम्बी और बड़ी आँत ५ फ़ीट लम्बी होती है। छोटी आँत की मोटाई १ इंच और उसकी सतह चौरस होती है और वह बड़ी आँत से मिली रहती है। बड़ी आँत की मोटाई छोटी आँत से दुगनी होती है और सतह भी जगह-जगह पर फूली रहती है। छोटी आँत का पहला हिस्सा १० इंच लम्बा होता है, और मैदे के नीचे अर्ध-चन्द्र की शक्ल में घूमा रहता है। इसको पक्वाशय कहा जाता है। पक्वाशय के घुमाव में उदर की पिछली दीवाल से लगी हुई एक बड़ी गिल्टी होती है, जो क्लोम (pancreas) कहलाती है। क्लोम का दाहिना सिरा पक्वाशय के घेरे में और बायाँ सिरा आमाशय के पीछे तिल्ली से लगा रहता है। इस गिल्टी में जो पाचन रस बनता है वह एक नली से होकर पक्वाशय में पहुँचता है। क्लोम-रस पक्वाशय से आये हुए भोजन में मिलकर उसको और भी पचने योग्य बना देता है, जैसा आगे बतलाया जायगा। छोटी आँत की दीवालों की बनावट भी आमाशय की दीवालों की बनावट

(अ)

(ब)
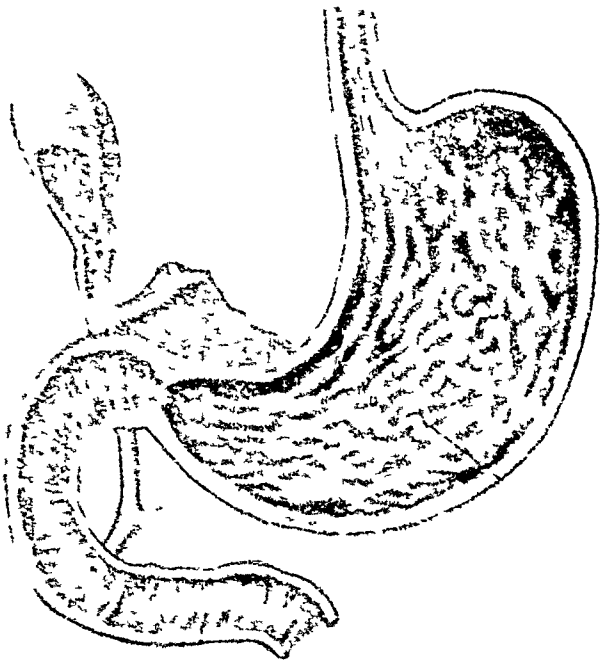
नलिकाएँ—जिनमें होकर आमाशयिक रस अन्दर जाता है
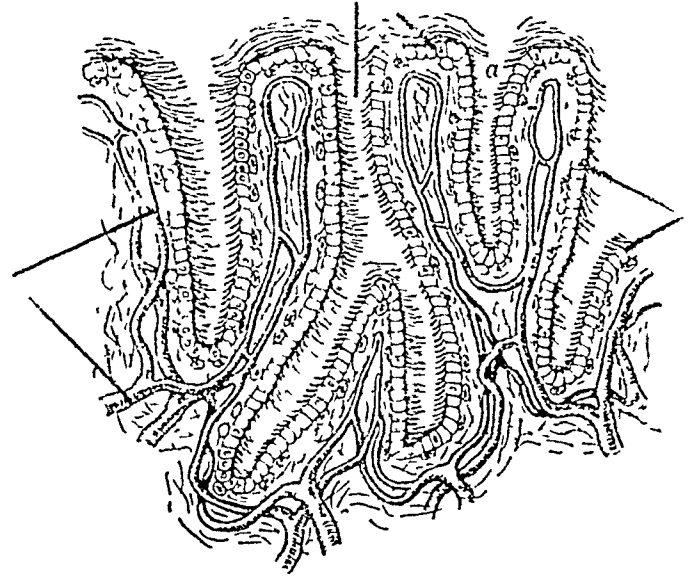
रक्त-नलियाँ

ग्रन्थि कोष
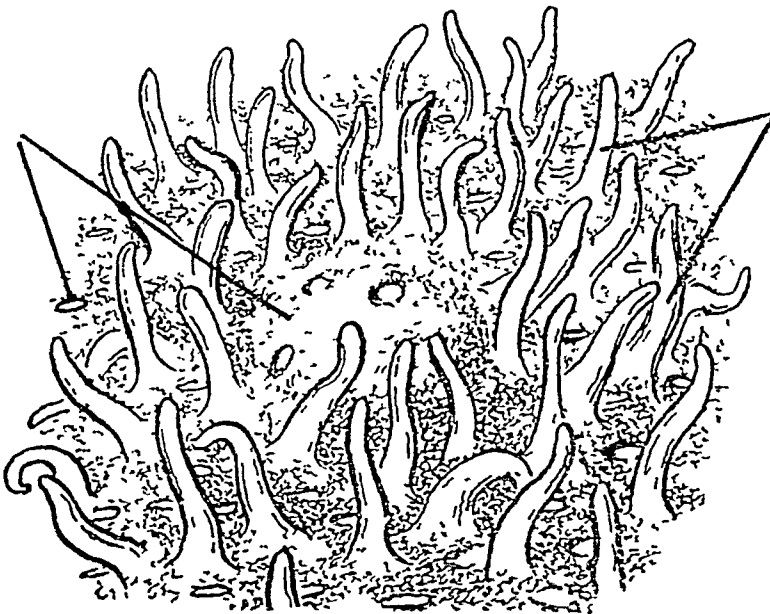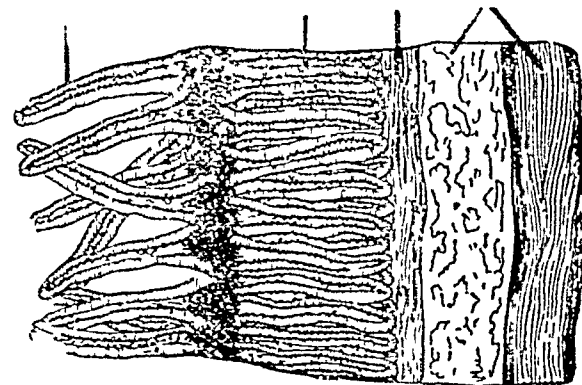
आमाशय और आँत की रचना

(अ) आमाशय और उससे संबद्ध आँत का दृश्य। इससे विदित होता है कि उसकी सतह कैसी खुरदरी है। (ब) आमाशय की दीवार का एक परिवर्द्धित अंश, जिसमें आमाशय-रस की नलिकाएँ, उसे बनाने वाले ग्रंथि-कोष, और रक्त-नलियाँ दिखाई गई हैं। (स) आँत के थोड़े से भाग का बढाया हुआ चित्र, जिसमें उँगलियों के-से निकले हुए ग्राहकांकुर दिखलाई पड रहे हैं। इनके बीच-बीच में पाचक-रस बनानेवाली गुत्थियों के सूराख़ नज़र आ रहे हैं। (स) छोटी आँत की दीवाल से काटा गया एक पर्त, जिससे उसकी रचना का ज्ञान होता है।

की तरह ही होती है, लेकिन उसमें पेशियों के सूत्र भिन्न-भिन्न दिशाओं मे न फैलकर वृत्ताकार लिपटे रहते हैं। इन पेशियों के सिकुड़ने से ही आहार ढकिलकर धीरे-धीरे पेचदार लम्बी छोटी आँत के अगले सिरे से बड़ी आँत तक जा पहुँचता है।

आँत की नली की मरोड़ या ऐठन कई तरह की होती है। आँत का एक-एक पूरा घुमाव झूले के समान एक ओर से दूसरी ओर को झूलता रहता है और साथ-ही-साथ बीच के सीधे भाग जगह-जगह वृत्ताकार पुट्ठों के सकोच से विभिन्न हिस्सों में बॅट जाते है। भोजन कुछ देर आँत के हरएक फन्दे मे रुकता है, जहाँ पर इधर-उधर हिलने और मथने से पाचक रस उसमें अच्छी तरह मिल जाते हैं। थोड़ी देर के बाद एक सिकोड़ की तेज लहर फन्दे पर आगे से पीछे को दौड़ती है और आहार-रस आगेवाले फन्दे मे सरक जाता है। इसी तरह धीरे-धीरे कभी रुकते और कभी ढकिलते हुए आहार-रस को इस २०फीट की राह काटने में भगलग ३ घटे लगते हैं। **इस समय में आहार-रस की अवस्था और रचना में बहुत कुछ परिवर्त्तन हो जाता है और इस आँत में आहार का मुख्य हिस्सा ख़ून में खिंच जाता है।** कैसे? छोटी आँत की भीतरी तह मख़मल के कपडे की तरह होती है। जिस प्रकार मख़मल के ऊपर छोटे-छोटे महीन-महीन डोरे निकले रहते हैं उसी प्रकार श्लैष्मिक झिल्ली की सतह पर छोटी छोटी गिल्टियों के बीच मे सहस्रों पतले-पतले रेशे उभरे रहते हैं। रेशे लम्बाई मे १/२५ इञ्च होते हैं। यही ग्राहकांकुर कहलाते हैं। खाना हज्म होते समय ये ग्राहकाकुर स्थिर नही होते, वरन् सदा कलबलाया करते। ये कभी बढते हैं, कभी सिकुड़ते और कभी इधर-उधर हिलते-डोलते रहते हैं। इन्हीं अकुरों के सहारे आहार-रस ख़ून में मिलता है। इन चूसने वाले रेशों मे से प्रत्येक के बाहर पचने योग्य आहार-रस भरा रहता और भीतर की ओर रक्त की धार बहती रहती है। आहार-रस और ख़ून की धार के बीच मे अकुरों को बनानेवाले कोषों की एक तह रहती है। ये कोष लार-ग्रन्थियों के कोषों की तरह जीते-जागते और चतुर होते हैं। वे अच्छी तरह पचे हुए आहार-रस के आवश्यक तत्त्वों को बाहर से अपने मे खींच लेते हैं और उन्हे भीतर भरे हुए ख़ून की धार मे मिला देते हैं। इस प्रकार प्रोटीन टूटकर अमीनोकाम्ल के रूप मे, कर्बोदेत टूटकर ग्लूकोज या सरल शक्कर के रूप मे और नमक की तरह की और साधारण वस्तुएँ बिना किसी पाचन-क्रिया के सीधी रक्त-धार मे मिल जाती हैं और वहाँ से यकृत में होकर शरीर के समस्त अवयवों में पहुँच जाती हैं।

छोटी आँत में न सोखा जानेवाला भोजन का हिस्सा बड़ी आँत मे चला जाता है और यदि कुछ सोखने लायक अश बच भी रहता है तो उसको बड़ी आँत सोख लेती है। भोजन को पचाने मे बड़ी आँत का बहुत ही कम भाग है, लेकिन वह बचे-बचाये गीले तरल पदार्थ में से पानी अवश्य सोख लेती है, जिससे बड़ी आँत में ठोस भाग ही बच रहता है। यही मल है जो बड़ी आँत की पेशियों के बार-बार सिकुड़ने से आगे बढ़ता है और अन्त मे मलद्वार के द्वारा शरीर से त्याग दिया जाता है।

बड़ी आँत पेट मे दाहिनी ओर से शुरू होकर ऊपर की तरफ सीधी यकृत के नीचे तक चली जाती है, फिर मुड़कर पेट को सीधा पार करके बाई ओर जा पहुँचती है और वहाँ से घूमकर सीधी नीचे को आकर मलाशय में मिल जाती है। बड़ी आँत कुल ५-६ फीट लम्बी होती है। इसकी लम्बी दौड़नेवाली पेशियाँ तीन बंडलों में इकट्ठी होती हैं। इनकी लम्बाई आँत से कम होने के कारण आँत जगह-जगह फूल जाती है। इस फुलाव की वजह से भोजन के बचे-बचाये अश को आगे बढने में देर लगती है। बडी आँत की भीतरी सतह मे आमाशय तथा छोटी आँत की तरह न तो चुन्नटे ही होती हैं और न ग्राहकांकुर ही, लेकिन उसमे छोटो छोटी कई गिल्टियाँ होती हैं।

छोटी और बड़ी आँत के बीच के सूराख़ को घेरे हुए पहरेदार की तरह की एक चक्राकार पेशी होती है जो भोजन के निकलने को वश में रखती है। इसके पास बड़ी आँत से छोटी-सी दुम-सा निकला हुआ जो अश नज़र आता है वही उपांत्र (appendix) है। मनुष्य में इसका कोई काम नहीं है लेकिन ख़रगोश जैसे शाकाहारी स्तनपोषियों में यह अंग भी और भागों की तरह काम करता है। हममें तो वह एक ऐसा बेकार अग है जो प्राचीन अविकसित दशा की याद दिलाता है। शरीर मे इसका न होना हमारे लिए अच्छा ही होता; क्योंकि कभी-कभी उसमें तेज़ पीड़ा होने लगती है और प्राणघातक सूजन आ जाती है।

भोजन के पचने में बडी आँत का कोई बडा भाग नही है। इसको काटकर निकाल देने के बाद भी आदमी तन्दुरुस्त और फुर्तीले बने रहते हैं। भोजन के बचे बचाये अश जब बड़ी आँत में पहुँचते हैं तो उनमे विशेषकर नष्ट-भ्रष्ट कोष और कीटाणु रहते हैं जो मल के सड़ने के कारण और भी बढ़ जाते हैं। इसलिए बड़ी आँत मे पहुँचकर मल शरीर से जितनी जल्दी बाहर निकल जाय

उतना ही अच्छा है ; क्योंकि इसके रुके रहने से जो पानी बड़ी आँत सोखती रहती है उसमें कुछ-न-कुछ गंदगी ज़रूर मिल जाती है। चिड़ियों में बड़ी आँत होती ही नहीं। इसलिए उनमे जैसे ही मल छोटी आँत से मलाशय में पहुँचता है वैसे ही वह बाहर निकल जाता है। अन्य जानवर और शिशुओं को भी जब ही हाजत होती है वे पाख़ाना कर लेते हैं। अधिकतर लोग दिन में एक बार ही मल-विसर्जन करते हैं। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि मनुष्य की वर्त्तमान आवश्यकताओ के हिसाब से उसकी अन्न-प्रणाली ज़रूरत से ज़्यादा लम्बी है। भोजन करने के समय से उसके मलाशय तक पहुँचने में कम-से-कम २४—२६ घंटे लगते हैं। इतनी देर मे ज़रूर बहुत कुछ सड़न उसमे आ जाती है, जिससे सहस्रों बैक्टीरिया और दूषित वायव्य पैदा हो जाते हैं। लंदन के प्रसिद्ध चीर-फाड़ करनेवाले एक डाक्टर का कथन है कि अगर मनुष्य का आमाशय, उपांत्र और बड़ी आँत निकाल दिये जायँ तो हानि की अपेक्षा कुछ फायदा ही हो जाय।

यकृत या जिगर

आँत से सम्बन्ध रखनेवाले अंगों मे यकृत या जिगर ही सबसे बड़ा और आवश्यक है। तौल में वह १॥—१॥। सेर होता है। वह दाहिनी ओर की पसलियों के भीतर काफी दूर तक छिपा रहता है, और उसका कुछ हिस्सा बाईं ओर आमाशय के सामने तक भी रहता है। उसके ऊपर दाहिना फेफड़ा और नीचे आँतें रहती हैं। जिगर के चार गोलाकार खण्ड होते हैं जिनमे से दो छोटे और दो बड़े रहते है। किरमिज़ी रंग का यह भारी और ठोस अंग ग्रन्थि-कोषों से परिपूर्ण रहता है। इनके बीच मे रक्त-नलिकाओं की अत्यन्त सूक्ष्म शाखाये फैली रहती है। यकृत कई कार्य करता है। वह भोजन के पाचन में ही सहायता नही करता वरन् टूटे-फूटे बेकार रक्त-कणों और ख़ून मे सयोग-वश आये हुए ठोस टुकड़ों—बैक्टीरिया इत्यादि—को ख़ून की धारा से अलग करके ख़ून को साफ कर देता है। इतना ही नहीं, वह पचाये हुए आहार का भाण्डार भी है। जब जिगर के काम मे कोई गड़बड़ी हो जाती है या जब ज़रूरत से ज्यादा मीठा खाना खाने के कारण जिगर का भाण्डार ठुस जाता है तब पित्त का विकार हो जाता है, मिज़ाज मे चिड़चिड़ापन आ जाता है और बदहज़मी के चिह्न नज़र आने लगते हैं। अंग्रेज़ी की इस कहावत मे बहुत कुछ सचाई है कि "जीवन की सार्थकता यकृत पर ही निर्भर है।"

जिगर का एक टुकड़ा अगर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र मे देखा जाय तो उसमे अधिकतर कई पहलवाले बड़े कोष ही दिखाई देंगे (पृ० १६६२ का निचला चित्र देखिये)। इन कोषों के बीच मे केन्द्र (nucleus) बड़ा होता है और उनको बनानेवाला जीवन मूल दानेदार होता है। अक्सर उसके बीच मे बहुत-सी नन्हीं-नन्हीं तेल की चमकदार बूँदे होती हैं। ये कोष समूहों मे एकत्रित रहते हैं और एक प्रकार का पाचन-रस बनाते हैं। इसी रस का नाम पित्त है। यह कसैला हरा-पीला रस कोषों से निकल महीन-महीन शाखाओ द्वारा दाहिनी या बाईं ओर की बड़ी नलिकाओं में बह आता है। ये दोनों नलियाँ जिगर के बाहर आकर एक दूसरे में मिल जाती हैं। जिगर के नीचे की ओर एक छोटी-सी थैली—पित्ताशय—होती है। इसमें पित्त इकट्ठा होता रहता है। इस थैली से एक नली निकलकर जिगरवाली नली से मिलकर पित्त की नली बनाती है। यह नली क्लोम-रस की नली के साथ साथ पक्वाशय में प्रवेश करती है और अपना रस पक्वाशय के अन्दर पहुँचाकर आहार-रस को प्रभावित करती है। पित्त क्लोम-रस की मदद करता है और उसकी चिकनाई को पचने योग्य बनाता है। इनके मिलने से आहार-रस ख़ून मे जल्दी मिलने लायक़ हो जाता है। छोटी आँत में जब पित्त नही पहुँचता तो क्लोम-रस को अपना काम करने में अड़चन होती है। जब कभी सर्दी के कारण पित्त-नली या उसकी आँत मे खुलने की जगह पर सूजन आ जाती है तो पित्त आँत में पहुँचने से रुक जाता है और आहार-रस की चिकनाइयाँ हज़्म नहीं होती तथा दूसरे पदार्थों पर फैलकर उन्हे भी हज़्म नहीं होने देती। जिगर मे रुका हुआ पित्त ज़ोर करके ख़ून मे प्रवेश कर जाता है जिससे आँखे और खाल पीली हो जाती है। यही कमल रोग कहा जाता है। शराब अधिक पीने से भी जिगर मे जल्दी ही ख़राबी आ जाती है।

इन बातों से विदित होता है कि शरीर के अंगों मे यकृत एक बड़ा आवश्यक और नाज़ुक कारख़ाना है जो थोड़ी-सी भी लापरवाही से बिगड़ जाता है और समस्त शरीर पर अपना प्रभाव डालता है। इसलिए हमको उसकी सारी क्रियाओं को अच्छी तरह समझना चाहिए। इसकी सारी क्रियाओं की पूर्ण कहानी हम आपको फिर कभी सुनायेंगे। आगे के लेख मे यह बतलाया जायगा कि अन्न-प्रणाली मे बननेवाले रसों का भोजन पर रासायनिक प्रभाव कैसे पड़ता है।
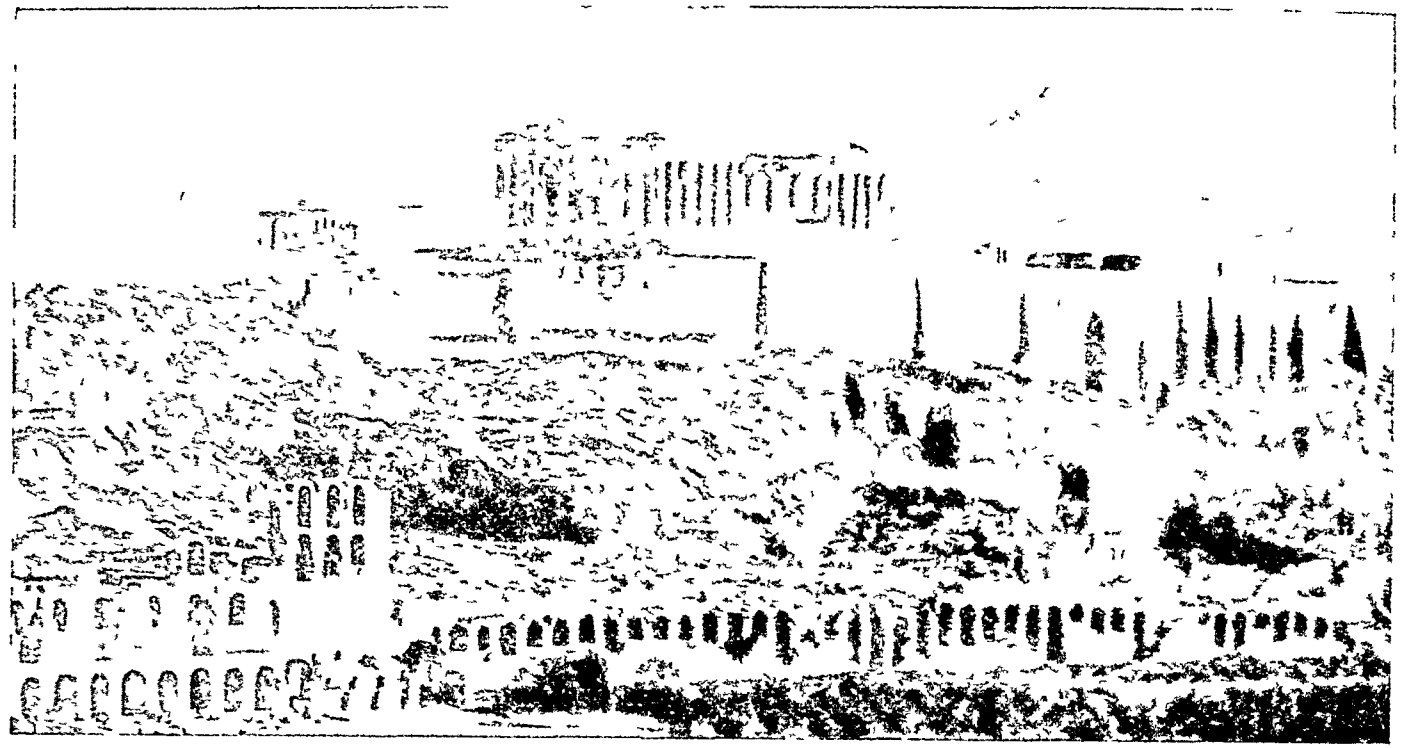
एथेन्स नगर के ध्वंसावशेष जो आज भी उसके विगत गौरव की याद संसार को दिलाते हैं

महान् विजेता सिकंदर या एलैक्ज़ैण्डर
जिसने अपने बाहुबल से ग्रीस की शक्ति और सभ्यता का झंडा दूर-दूर देशों तक फहरा दिया था।

एथेन्स का सर्वश्रेष्ठ शासक पेरिक्लीज़
जिसका शासन-काल 'एथेन्स का स्वर्णयुग' माना जाता है।

सभ्यताओं का उदय—(६) प्राचीन ग्रीस

२—एथेन्स का अभ्युत्थान और पतन

इसी स्तंभ के पिछले लेख में ग्रीस के शक्तिशाली नगर-राज्य स्पार्टा के उत्थान और पतन का हाल सुनाया गया था प्रस्तुत लेख में ग्रीस के ही एक दूसरे महत्त्वपूर्ण नगर-राज्य, एथेन्स, की शक्ति के चढाव-उतार की कथा सुनाई जा रही है। एथेन्स ने सभ्यता मे ग्रीस के नगर-राज्यो में सबसे बाज़ी मार ली थी। एक ज़माने में तो वह संसार का सिरमौर हो गया था। इस लेख में उसके राजनीतिक इतिहास का ही वर्णन दिया गया है, उसकी सभ्यता का मनोरंजक हाल आपको इससे आगे के लेख में सुनाया जायगा।

ग्रीस में कितने ही छोटे और बडे नगर थे। वहाँ एकछत्र राज्य न था। प्रत्येक नगर स्वतत्र था। उसकी राजनीतिक संस्थाएँ, तथा आर्थिक, सामाजिक और मानसिक जीवन उसके निवासियो के मनोनुकूल और उनकी योग्यता के अनुसार विकसित हो रहा था। व्यापार एव प्रबल शत्रुओं के भय से आवश्यकता पडने पर विशेष प्रयोजन और काल के लिए ये नगर सम्मिलित भी हो जाते थे, अन्यथा वे एक दूसरे से स्वतत्र थे। उनमे आपस में युद्ध और दॉव-पेच चलते रहते थे। उन सबों पर स्पार्टा नगर ने अपने सगठन और पराक्रम से ऐसा रोब जमा दिया था कि वह सब नगरों का नेता-सा गिना जाने लगा। युद्ध और रक्षा के अवसर पर स्पार्टा का ही नेतृत्व माना जाता था। स्पार्टा के प्राधान्य का प्रतिस्पर्धी एथेन्स नामक नागरिक प्रान्त भी था। इन दोनों नगर-राज्यों का सघर्षण ग्रीस के इतिहास की न केवल महत्वपूर्ण वरन् निर्णायक घटना है।

ग्रीस के पूर्व कोण मे एक अन्तरीप है, जो प्राचीन काल मे 'एटिक' के नाम से प्रख्यात था। वहाँ छोटे-छोटे-से अनेक नगर थे। इनमें जो वंश बसा था वह 'एथेन्स' के नाम से प्रसिद्ध था। वहाँ के निवासी एथीनियन कहे जाते हैं। उन छोटे-छोटे नगरों पर एक नगर ने अपना प्रभुत्व स्थापित करके उन्हे एक कर दिया। यही नागरिक प्रान्त एथेन्स के नाम से इतिहास मे प्रसिद्ध है। वहाँ पहले राजा का शासन था। उस समय ज़मींदार और धनी व्यापारी लोगो के ही हाथ मे सब अधिकार थे, कृषक लोगों की दशा शोचनीय थी। वे बिल्कुल दरिद्र थे। उनके पास ज़मीन के छोटे-छोटे टुकडे थे, जिनसे विशेष लाभ न होता था। बकरी की खाल से शरीर ढॉके वे लोग दिन-रात मजूरी करते थे। उनके अधिकार नहीं के बराबर थे। उन्हे जीविका-उपार्जन से इतना अवकाश ही न मिलता था कि वे अधिकारों की चिन्ता या सामूहिक संगठन कर सकें अथवा सैनिक शिक्षा प्राप्त कर सके। ज़मीदारो और धनिकों का बल इतना बढ गया कि वहाँ के राजा नाममात्र के लिए रह गए और अन्त मे विलीन हो गए।
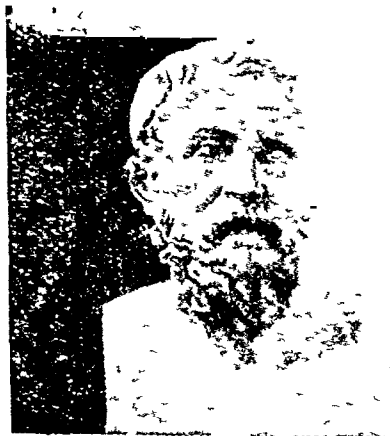
एथेन्स का क़ानून-निर्माता सोलन

प्रबल ज़मींदारों और धनिकों का काम लूट-मार करना, जल-थल मे डाके मारना और व्यापार करना था। उनके व्यापार एवं अत्याचार के कारण ग़रीब लोग भाग-भागकर इधर-उधर बसने लगे। इस प्रकार काले समुद्र के तट, एशिया माइनर के तट, इटली के समुद्र-तट और भूमध्य-सागर के टापुओं मे ग्रीक लोगों के उपनिवेश स्थापित हो गए। भाषा, साहित्य, जातीय उत्सव तथा धर्म आदि उनको एकता के सूत्र

में बाँधे रहे। वे लोग दूसरे लोगों और जातियों से श्रेष्ठ होने का अभिमान रखते थे। ज्यों-ज्यों उनका व्यापार बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनका सामुद्रिक बेड़ा और शक्ति भी बढ़ती गई। माल की माँग की पूर्ति के लिए उन्होंने गुलामों से काम लेना शुरू कर दिया। सिक्कों का भी प्रचलन ग्रीस मे अच्छी तरह हो गया। लोग सिक्के जमा करके धनी होने लगे। ग़रीब लोगों को सूद पर क़र्ज़ देकर पैसेवाले उनकी ज़मीन पर अधिकार जमाते चले गए। रुपयेवालों की अपने राज्याधिकार बढ़ाने की कामना बढ़ने लगी। ऐसी परिस्थिति में वह ज़मींदार जो धनिकों और किसानो के अधिकारों को बढाने का प्रयत्न करता उनका पूज्य नेता बन जाता। उनकी सहायता से वह अपने प्रतिस्पर्धी ज़मींदारों को निर्बल करके अपना प्राबल्य स्थापित कर देता था। ऐसे नेता को राजा न कहकर वहाँ के लोग "टाइरेन्ट" कहते थे। यह शब्द उस समय घृणासूचक नहीं माना जाता था। वस्तुतः ये लोग हिटलर और मुसोलिनी के समान डिक्टेटर थे।

ईसा के पूर्व की छठी शती 'टाइरेन्ट' काल का सबसे उत्कृष्ट समय था, यद्यपि उसका आरम्भ पहले ही हो चुका था। इसी काल में ग्रीस में क़ानून लिखे जाने लगे। सबसे पहले क़ानून का सग्रह ड्रेको ने किया। ड्रेको के क़ानून बड़े कठोर थे। छोटे-छोटे से जुर्म के लिए मृत्यु-दण्ड का विधान था। एथेन्स के क़ानून-निर्माताओं में सोलन का वही स्थान है, जो स्पार्टा में लाइकर्गस और भारतवर्ष मे मनु का है। सोलन व्यापारी, देशभक्त, दार्शनिक और कवि भी था। उसके क़ानूनों में इन सबके गुणों की कुछ-न-कुछ छाया दिखायी देती है। उसने उन लोगों को जो क़र्ज़ अदा न कर सकने के कारण गुलाम बना लिए गए थे स्वतंत्र कर दिया। धरोहर में रखी हुई ज़मीन को छुडा दिया। अपने कुटुम्ब को बेचने या उनके शरीर को धरोहर रखकर क़र्ज़ लेने की प्रथा उठा दी। उसने ग़रीब नागरिकों को सभासद होने का अधिकार दिलाया, किन्तु ये लोग पदाधिकारी नहीं चुने जा सकते थे। न्यायालयों में सब नागरिकों के समान अधिकार माने गए। मुक़दमा हारने पर लोग जूरी को अपील कर सकते थे। साधारण लोगों को अठारह से बीस वर्ष की अवस्था तक सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। प्रत्येक युवक के लिए किसी-न-किसी व्यापार की शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक बना दिया। कुशल कारीगर को नागरिक के अधिकार मिलने की व्यवस्था की गई। नागरिकों में राजनीतिक जाग्रति क़ायम रखने के लिए यह नियम रखा गया कि जो लोग राजनीतिक विषयों में भाग लेने से विमुख हों उनके नागरिक अधिकार छीन लिए जायें। सोलन ने व्यापार-संघों का स्थापन किया। चाँदी के हल्के सिक्कों का प्रचलन कराया। साधारण नागरिकों की स्थिति सुधारने की चेष्टा के अलावा उसने उन्हे राजनीति और व्यापार मे अधिकाधिक भाग लेने की भी उत्तेजना दी। लाइकर्गस की तरह उसने सैनिक जीवन को प्रधानता न दी। स्त्रियों के प्रति सोलन के क़ानून उदार न थे। गृह को ही उसने उनका एकमात्र कार्यक्षेत्र बना दिया था। रात में घर से बाहर वे निकलने न पाती थीं। यद्यपि राजनीतिक अधिकारों का उसने आर्थिक आधार रखा था तथापि व्यापार द्वारा अमीर बनेनवालों को उसने राज्य के उच्चपदों से वञ्चित रखा। उच्च कुल के ज़मींदारों के पदग्रहण करने के एकमात्र अधिकार को क्लिस्थनीज़ नामक सुधारक ने कम किया। इसने व्यापार द्वारा बढ़े हुए लोगों के अधिकारों की वृद्धि की। यही नहीं 'टाइरेन्ट' लोगों को भी नियन्त्रण में रखने के लिए क्लिस्थनीज़ ने "निर्वासन" का विधान प्रचलित किया। जिस व्यक्ति के विरुद्ध जनता अपना मत वोट द्वारा प्रकट करती थी उसे दश वर्ष के लिए देश से बाहर निकलना पड़ता था।

उपर्युक्त क़ानूनों से लोगों को राजनीति एवं व्यापार में अधिकाधिक भाग लेने की प्रबल प्रेरणा हुई। इसी काल में पिसिस्ट्रेटस ने एथेन्स की सामुद्रिक शक्ति बढाने का प्रयत्न किया। तब से एथेन्स का सामुद्रिक बेड़ा उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। एथेन्स का नागरिक आदर्श, वहाँ के लोगों की शिक्षा-दीक्षा, एवं उनकी जीवनचर्या स्पार्टावालों से विभिन्न थी। एथेन्सवाले उदारचेता, जनसत्तावादी, व्यापार-प्रेमी, धनलोलुप, ऐश-आराम-पसन्द, साहित्य-विज्ञान-सेवी, कला-विलासी और प्रगतिशील थे। यद्यपि वे जनसत्तावादी थे तथापि उनमें साम्राज्य के विस्तार की कामना भी जाग्रत थी। एथेन्स और स्पार्टा के आदर्शों का सघर्ष अवश्यम्भावी था। स्पार्टा का आतंक एथेन्स पर तब तक रहा जब तक कि एथेन्सवालों को अपनी शक्ति का अनुभव न हुआ। यह अनुभव उन्हें फारस के साथ युद्ध करने से हुआ।

लीडिया राज्य के पतन से फारस के सम्राट् के अधिकार में एशिया माइनर और ईजियन समुद्र के अनेक टापू चले गये। अब फ़ारस और ग्रीस का आमना-सामना हो गया। आयोनियन नगरों ने जब विद्रोह का झंडा उठाया तब उनकी सहायता एथेन्सवालों ने की। इस पर क्रुद्ध होकर

फारस के सम्राट् दारा ने ४६२ वर्ष ईस्वी पूर्व ग्रीस पर आक्रमण किया। स्थल-मार्ग की कठिनाइयो से उसने जल-मार्ग द्वारा ४६० ई० पू० फिर द्वितीय आक्रमण किया। फारस की सेना मेराथान खाड़ी के तट पर उतर पड़ी। एथेन्स की सहायता के लिए कुछ ग्रीक नगरों ने सेनाएँ भेजी। ग्रीक लोग पहाड़ों की आड़ मे युद्ध करने लगे। एक मार्के में फारस की सेना के छः सहस्र सैनिक मारे गए। इससे चकित होकर फारसी सेना लौट गई। उस विजय मे एथेन्सवालों का आत्म-विश्वास और उत्साह बहुत बढ़ गया। अनुभव से उन्हे यह भी ज्ञात हो गया कि स्थल-सेना से भी अधिक उपयोगी जल-सेना है। अतएव थेमिस्टाकलीज़ के निरीक्षण मे सामुद्रिक बेड़ा सुसंगठित किया जाने लगा।

फारस के सम्राट् ज़ेरेक्सीज़ ने ४८० ई० पू० ग्रीस पर जल और स्थल दोनों मार्गो से आक्रमण किया। इस प्रयत्न मे उसको कार्थेजवालों की भी सहायता मिली। इधर एथेन्स और स्पार्टा ने भी अपनी संयुक्त शक्ति से उनका विरोध किया। यद्यपि तूफान आ जाने से फारस के कार्यक्रम मे विघ्न पड़ गया तथापि स्थल पर ग्रीक सेना को परास्त करके फारसी सैनिक एथेन्स पहुँच गए। उन्होंने एथेन्स मे आग लगा दी। किन्तु 'सेलमिस' की खाड़ी में फारस का जहाज़ी बेड़ा ग्रीक बेडे द्वारा नष्टप्राय कर दिया गया। उधर सिराक्यूज़ के ग्रीक-निवासियों ने कार्थेजवालो को भी परास्त कर दिया। इन विजयों से एथेन्स का सामुद्रिक प्रभुत्व पूर्णतया स्थापित हो गया। स्थलयुद्ध में भी एथेन्स और स्पार्टा को प्लाटी के क्षेत्र में सफलता प्राप्त हुई। फारसी सेनापति मारडोनियस मारा गया और फारसी सेना को सदा के लिए ग्रीस की भूमि छोड़ देना पड़ी।

फारस का भय दूर हो जाने से स्पार्टा और एथेन्स मे अब स्पर्धा अधिक जाग्रत हो गई। स्पार्टा के राजनीतिक और सामाजिक आदर्श एथेन्सवालों से भिन्न थे। स्पार्टा प्राचीन अधिकारों, आदर्शों और संस्थाओं का संरक्षक एवं नेता था। इसके विपरीत एथेन्स नवीन भावों का समर्थक और पथ-प्रदर्शक था। उन दोनों का सघर्ष अवश्यम्भावी-सा हो गया। एथेन्सवालो ने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अपने सहयोगी नगरों को एक सूत्र मे बाँधकर "डीलियन लीग" नाम की सस्था का संगठन किया। इस बल-सञ्चय और प्रबल संगठन से स्पार्टा को चिन्ता होने लगी।

एथेन्स की उन्नति केवल राजनीतिक क्षेत्र मे ही नहीं, बल्कि आर्थिक, सामाजिक एवं अन्य क्षेत्रों मे भी हुई। ईसा के पूर्व की पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध तक एथेन्स अपने ऐश्वर्य और वैभव की पराकाष्ठा को पहुँच गया। एथेन्स के निर्माताओं में 'पेरिक्लीज़' का प्रमुख स्थान है। उसका समय एथेन्स का स्वर्णयुग माना जाता है। उसी के समय मे एथेन्स और स्पार्टा का प्रथम युद्ध छिड़ा जो चौदह वर्ष तक (४५६-४४६ ई० पू०) चलता रहा। इतिहास मे यह पेलोपोनेशियन युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। एथेन्स ने अपनी सामुद्रिक शक्ति के अभिमान में फारस के खिलाफ़ मिस्र देश की सहायता के लिए भी एक बेड़ा भेजा था। किन्तु वह समस्त बेड़ा नष्ट हो गया। दो टापुओं को छोड़कर एथेन्स के अधिकार मे कोई अन्य स्थान न रहा। हाँ, इतना लाभ अवश्य हुआ कि डीलियन लीग का ख़ज़ाना डिलास से एथेन्स चला आया। पन्द्रह वर्ष के व्यर्थ के युद्ध से एथेन्स और स्पार्टा की शक्ति क्षीण हो गई। किन्तु उनकी लाग-डाँट का अन्त न हो सका। आग धीरे-धीरे सुलगती रही।

यद्यपि एथेन्स प्रजातंत्र राज्य था, किन्तु अपने अधीनस्थ और सहयोगी राज्यों के प्रति उसका व्यवहार स्वार्थपूर्ण था। फारस का भय हट-सा गया था इसलिए डीलियन लीग के सदस्य एथेन्स को जन और धन से सहायता देना अनावश्यक समझने लगे। इस पर एथेन्स ने ज़बरदस्ती उनसे कर वसूल करना आरम्भ कर दिया। उस धन से एथेन्स नगर की शोभा और समृद्धि बढ़ाई जाने लगी। इस नीति से करद राज्यों मे असन्तोष फैलता गया। एथीनियनों को छोड़कर अन्य लोगों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाने लगा मानों वे एथेन्स की प्रजा हैं। इसी से क्षुब्ध होकर लीग के कुछ सदस्य तो भीतर ही भीतर और कुछ खुल्लमखुल्ला स्पार्टा से सहायता माँगने और विद्रोह करने लगे। परिणाम यह हुआ कि द्वितीय पेलोपोनेशियन युद्ध छिड़ गया। एथेन्स ने अपनी सामुद्रिक शक्ति तो बढ़ा ली थी किन्तु स्थलसेना की ओर विशेष ध्यान न दिया था। इसी कारण स्थल पर स्पार्टावालों को विशेष सफलता रही। एथेन्स अपनी क़िलाबन्दी के कारण बचता रहा। किन्तु नगर मे जनसंख्या के बढ़ जाने व प्लेग फैलने से उसे बड़ी आपत्ति उठाना पड़ी। पेरिक्लीज़ भी उसी से मर गया। दस वर्ष तक व्यर्थ शक्तिक्षय करने पर एथेन्स को अनुभव हो गया कि वह अपना एकमात्र प्रभुत्व नही स्थापित कर सकता। स्पार्टा ने भी जान लिया कि एथेन्स की सामुद्रिक शक्ति को तोड़ना या उसकी अवहेला करना असंभव-सा

है। अतएव शिथिल होकर वे कुछ वर्षों के लिए शान्त हो गए।

आदर्श की विभिन्नता एव महत्वाकाक्षाओं के कारण शान्ति अधिक समय तक न रह सकी। एथेन्स चाहता था कि उन राज्यों को जिन्होंने एथेन्स का साथ छोड़ दिया था फिर से उसकी शरण मे आने के लिए स्पार्टा मजबूर करे। स्पार्टा इस पर राज़ी न था। जब एथेन्स ने सिसली द्वीप के सिराक्यूज नामक राज्य पर आक्रमण किया तब स्पार्टा ने सिराक्यूज़ की सहायता की। इस युद्ध में एथेन्स का जहाज़ी वेड़ा और सेना पूर्णतया नष्ट हो गए। इधर स्पार्टा ने एथेन्स का अवरोध कर दिया। परिणाम यह हुआ कि एथेन्स का साथ सबने छोड़ दिया। उसकी आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय हो गई। जनतत्र राज्य के प्रति श्रद्धा हटने लगी और आपसी झगडे बढने लगे। ऐसी विषम स्थिति मे एलसीबिएडीज के नेतृत्व मे कुछ समय तक एथेन्स ने आत्मरक्षा का प्रयत्न किया, किन्तु अधिक सफलता न हुई। एगोस्पोटेमी के युद्ध में एथेन्स का जहाज़ी वेड़ा पकड़ लिया गया और नगर पर स्पार्टा-वालों का अधिकार हो गया (४०५-४०४ ई० पू०)। पेरिक्लीज़ की मृत्यु के सत्ताईस वर्ष के बाद ही एथेन्स का राज्य और उसकी स्वतत्रता का नाश हो गया।

स्पार्टावालों के हाथ मे ग्रीस का आधिपत्य आ जाने से जनतत्र राज्य के स्थान पर सैनिक शासन का प्राबल्य बढा। ग्रीस के नगरों में फौजी पड़ाव डाल दिये गए। सैनिक नेता स्वेच्छापूर्वक शासन करने लगे। साम्राज्य की शक्ति मुट्ठी भर आदमियों के हाथ मे चली गई। इस प्रकार के शासन का नाम 'ऑलीगार्की' था। धर-पकड़, मार-पीट, क़ैद, निर्वासन और हत्याकाण्ड के ताण्डव नृत्य का दृश्य उपस्थित हो गया। जनतत्र के सिद्धान्त की ओर से लोगों की श्रद्धा हट गई। उसकी कमज़ोरी, स्वार्थपरता, खर्राची, विभिन्न मतों की अधिकता की वजह से शीघ्र निश्चय एव कार्य-सम्पादन की अक्षमता तथा पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेप और लोभ आदि के कारण बने रहनेवाले षड्यन्त्रपूर्ण वातावरण आदि दोषों के कारण लोग उससे विमुख हो गए। किन्तु स्पार्टावालों के कठोर, एव निष्ठुर, शासन से व्याकुल होकर उसके नाश के लिए भी योजनाएँ होने लगीं। स्पार्टा की शक्ति को क्षीण और नष्ट करनेवाली योजनाओं को फारस के राज्य से उत्तेजना और सहायता मिलती रही। एथेन्स, थेब्रीज़ और कारिन्थ के निवासियों ने स्पार्टा के विरुद्ध एक सघ की रचना की और युद्ध छेड़ दिया। इसे "कॉरिन्थियन युद्ध" कहते हैं। आठ वर्ष तक युद्ध चलता रहा। लाचार होकर स्पार्टा को फारस की शरण लेनी पड़ी। फारस के बादशाह ने जब स्पार्टा के विरोधियों की सहायता करना बन्द कर दी, तब युद्ध शान्त हो गया (३९५-३८७ ई० पू०)। इस युद्ध का यह परिणाम हुआ कि एशिया कोचक के ग्रीसवालों के नगर फारस के हाथ में चले गए। स्पार्टावालों को फिर भी अन्य राज्यवाले घृणा से देखते रहे। थेब्रीज़वाले एपेमिनोन्डेस के नेतृत्व में उसके प्रमुख विरोधी थे। उसने ल्यूकट्रा के युद्ध में (३७१ ई० पू०) स्पार्टा को ऐसी बुरी तरह परास्त किया कि स्पार्टा का प्रताप बहुत क्षीण हो गया। इस विजय से थेब्रीज़ को कोई विशेष लाभ न हुआ। नौ वर्ष के बाद स्पार्टावालों ने युद्ध में एपेमिनोन्डेस को मेन्टीनिया के युद्ध (३६२ ई० पू०) में हराकर मार डाला। उसके मरते ही थेब्रीज़ का बल टूट गया। अब ग्रीस में ऐसा कोई राज्य न रहा जो सबों को अपने नेतृत्व में सयुक्त कर सकता। वहाँ के राज्य दिनों दिन कमज़ोर होते चले गए।

उपर्युक्त परिस्थिति से लाभ उठाकर ग्रीस के उत्तर में मक़दूनिया राज्य प्रबल होने लगा। वहाँ के लोग इतने सभ्य तो न थे, किन्तु युद्ध करने में पराक्रमी थे। ३६० ई० पू० फिलिप वहाँ का राजा हुआ। उसने सेना को अच्छे प्रकार से सगठित करके ग्रीस के राज्यों को केरीनिया के युद्ध (३३८ ई० पू०) में हराकर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर दिया। केवल स्पार्टा ही ने उसके आधिपत्य को स्वीकार नहीं किया। फिलिप की हत्या के पश्चात् उसका पुत्र सिकन्दर सिंहासनासीन हुआ। वह ग्रीक सभ्यता का प्रेमी और पोषक था। उसने ग्रीस पर अपना अधिकार दृढ करके फारस के साम्राज्य पर चढाई की। एशिया कोचक, उत्तरी मिस्र, फारस को जीतता हुआ वह पजाब तक चला आया। उसके साहस, परिश्रम एव नीति के कारण ग्रीस की सभ्यता का अच्छा प्रसार हुआ। पजाब से लौटकर वह बेबीलान पहुँचा। अचानक विषम ज्वर से वहीं उसकी तेंतीस वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गई। (३२३ ई० पू०)। उसके मरते ही उसका साम्राज्य तीन टुकड़ों में विभक्त हो गया। ग्रीस की रियासतों पर भी मक़दूनिया का आधिपत्य जाता-सा रहा। यद्यपि उनको बहुत कुछ आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई, परन्तु उनकी दशा पहली-सी कभी न हो सकी। वे निस्तेज और नगण्य हो गयी।

कृषि और संस्कृति

मानव सभ्यता के इतिहास में कृषि एक अघटन पटीयसी कला है। सब आविष्कारों मे कृषि के आविष्कार ने ही मनुष्य को असभ्य से सभ्य बनाया है। तुषार-युग के अन्त मे जब पृथ्वी की जलवायु मनुष्य के अनुकूल हुई तभी मनुष्य ने कृषि का आविष्कार किया। इस आविष्कार के फलस्वरूप उसकी जीवन-यात्रा पूर्णरूपेण बदल गई। ईसा से प्रायः ६००० वर्ष पहले मिस्र, मसोपटेमिया तथा पजाब मे मनुष्यों ने छोटे-छोटे गॉव तथा नगर बसाए और कृषि-कार्य का आरभ किया। नील, दजला, फरात तथा सिन्धु की घाटियों मे नियमानुसार ऋतु-परिवर्त्तन, गरमी के बाद वर्षा का होना, मिट्टी की उर्वराशक्ति, सीचने के लिए जल की सुविधा तथा नाना प्रकार के जगली जानवरो के पालन-पोषण इत्यादि सभी बाते कृषि तथा मनुष्य के स्थायी निवास मे सहायक हुई। बहुत सम्भव है, इन सब स्थानों में यदि कृषि कार्य न आरम्भ होता तो मनुष्य की प्रगति मे बहुत विलम्ब होता, क्योंकि इन्ही स्थानों मे अनेक जगली जानवर प्रथम वश मे किये गये और इसी वशीकरण के कारण कृषि की उन्नति हुई। आज भी उन स्थानों मे, जहॉ कि मनुष्य हल नहीं चला सका है, उसकी जीवन-यात्रा अनिश्चित है।

रूसी वैज्ञानिकों ने कुछ प्रधान केन्द्रों का निर्देश किया है, जहॉ मनुष्य के खाद्य अनाज इत्यादि का सर्वप्रथम आविष्कार हुआ। उनमे एक अबीसीनिया है, जहाँ गेहूँ, जौ, एव कई प्रकार की दालों तथा पशुओ के लिए खाद्य घास इत्यादि का आविष्कार हुआ। ऐसा ही एक और प्रान्त हिमालय तथा हिन्दूकुश का मध्यवर्ती भाग है। प्रथम स्थान मे जिस कृषि का आविर्भाव हुआ उसने बाद मे मिस्र की सभ्यता की भित्ति स्थापित की। दूसरे प्रान्त से उत्पन्न कृषि ने बेबीलान तथा सिन्धुदेशीय सभ्यता का गठन किया। यह सिद्ध हो चुका है कि ईसा से ५००० वर्ष पूर्व मिस्र मे गेहूँ उत्पन्न होता था एव उसके १००० वर्ष बाद मिस्र और बेबीलान कृषि करने से प्राप्त जौ, गेहूँ और ज्वार पर ही निर्भर करते थे। सैन्धव सभ्यता मे ३२५०–२७५० ई० पू० गेहूँ तथा जौ का व्यवहार था। जो जौ मोहनजोदड़ो मे पाया गया है वह मिस्र की प्राचीन क़ब्रों मे पाए हुए जौ के ही समान है। उस समय जो गेहूँ व्यवहृत होता था वह इस समय के पजाब के गेहूँ की ही जाति का था।

धान्य का आदिम जन्मस्थान, बहुत सम्भव है, एशिया के दक्षिण-पूर्वीय भाग की नदियो की घाटियॉ ही रहा हो, जहाँ प्रति वर्ष बहुत अधिक पानी बरसने के कारण धान्य की उत्पत्ति मे काफी सुविधा रही है। ईसा से ३००० से २००० वर्ष पूर्व चीन मे धान्य की कृषि का उल्लेख पाया जाता है। भारतवर्ष की वैदिक सभ्यता मे भी नाना प्रकार के धान्यों का उल्लेख मिलता है। ईजियन सागर के उत्तर मे योरप की आबोहवा तथा मिट्टी कृषि के प्रतिकूल थी। वहॉ वन तथा दलदलों के विस्तार ने भी बहुत समय तक कृषि-कर्म असम्भव कर रखा था। एशिया मे कृषि आरम्भ होने के क़रीब दो हज़ार वर्ष बाद योरप मे कृषि-कला दो मार्गों से पहुँची—एक उत्तर अफ्रीका से होकर समुद्री रास्ते से तथा दूसरे पश्चिमी योरप एव डैन्यूब की घाटी से होकर जर्मनी तथा बेल्जियम के मार्ग से। योरपीय कृषि अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। बाल्कन के उत्तर मे जगली गेहूँ तथा ज्वार उपलब्ध नहीं हैं।

किस प्रकार सर्वप्रथम खेती आरम्भ हुई इस बात का निर्णय अधिकाशतः हमारी कल्पना के द्वारा ही किया गया है। तुषार-युग के अन्त मे जब दक्षिण-पश्चिमी एशिया का भाग कुछ सूखा होने लगा तथा जगलो के स्थान पर धूसर प्रान्तर व मरुभूमि दिखाई पड़ने लगी तभी नदी की बालू मे, दलदल मे, अथवा समुद्र के किनारे अपने आप वन मे उत्पन्न होनेवाली नाना प्रकार की घास के बीज इकट्ठे होकर किसी-किसी स्थान पर फैलने लगे, और नदी से बराबर सिंचते रहने के फलस्वरूप उनमे से अपने आप अंकुर फूटने लगे। किसी पेड के नीचे या किसी कुटिया के समीप सम्भवतः किसी प्रागैतिहासिक स्त्री ने, जिसका

शिकारी पति कारणवशात् खाद्य-संग्रह करने के लिए घर के बाहर नहीं जा सकता रहा होगा, उन अङ्कुरों को देखकर कदाचित् सर्वप्रथम कृषि की कल्पना की होगी। बीज फैलने के कुछ समय बाद पानी बरसने अथवा नदी से सिंचने पर शस्य उत्पन्न होता है, इसी ज्ञान से कृषि की उत्पत्ति हुई। बहुत सम्भव है कि स्त्रियों ने ही जंगली घास से बीज संग्रह करके पहले बोये हों ताकि अपने तथा अपने बच्चों के लिए अन्न प्राप्त कर सकें। यह जंगली घास ही शस्य की जननी है। जंगली घास से ही दैव-सुघटित निर्वाचन के द्वारा क्रमशः अनाज की फसलें होने लगीं। इस फ़सल की रक्षा तथा वृद्धि के हेतु मनुष्य जो प्रयत्न करने लगा उसी का नाम कृषि है।

खेती करने से मनुष्य का मस्तिष्क तथा सामाजिक जीवन बहुत अधिक रूपान्तरित हो गया है। खेती के आरम्भ के साथ-ही साथ मनुष्य ने और भी अनेक चीज़ें निकालीं, जिन सबके सम्मिलन से मानव सभ्यता सचमुच ही एक नवीन उच्चतर सोपान पर जा पहुँची। खेती ने मनुष्य को स्थावर बना दिया है। मनुष्य ने भी एक ही स्थान पर रहकर खेती की वृद्धि तथा उन्नति की है। कृषि से सबसे प्रथम लाभ यह हुआ कि मनुष्य प्रकृति की गुलामी से मुक्ति पा गया—वह जीवन-यात्रा में अपेक्षाकृत अधिक स्वाधीन हो गया। शिकारी मनुष्यों का एक साथ कई सौ की संख्या में मिलकर रहना असम्भव होता है। पशुओं के अभाव अथवा उनमें भय-संचार के कारण खाद्य की कमी हो ही जायगी। इसके प्रतिकूल कृषि द्वारा हज़ारों आदमी बिना किसी आशंका के एक साथ निवास कर सकते हैं। घनी आबादी के गाँवों में रहना भोजन जुटाने की दृष्टि से सदा लाभप्रद ही होगा। मानव जाति के इतिहास ने खेती आरम्भ होने के साथ-ही-साथ जन-संख्या की भी बड़ी तेज़ी के साथ वृद्धि हुई थी। वस्तुतः खेती, जन-संख्या में वृद्धि तथा नूतन आविष्कार परस्पर एक दूसरे के सहायक हो गये थे। इस जन-संख्या-वृद्धि तथा आविष्कारों की उस युग में एक साथ ही अभूतपूर्व रूप में बाढ़-सी आ गई थी। मनुष्य के इतिहास में उस युग की तुलना का युग फिर न दिखाई दिया।

शिकारी मनुष्य आबादी बढ़ने के कारण उत्पन्न हुई जंगली जानवरों की कमी का कोई प्रतिकार न कर सका। इसलिए वह केवल असम्बद्ध रूप से इधर-उधर मारा-मारा ही नहीं फिरा, वरन् इसके साथ ही उसके मनोभाव तथा सामाजिक जीवन भी इस प्रकार परिवर्तित हो गए कि वह अल्पसंख्यक तथा स्थावर बनकर केवल वन्य जन्तु, मछली, फल अथवा कन्दमूल खाकर ही अपनी इस अनिश्चित जीवन-यात्रा को बिताने लगा। शिकारी दल की जन-संख्या आखेट-प्रान्त की वन्य सम्पत्ति के ही द्वारा मुख्यतः नियंत्रित होती थी। खेती आरम्भ होने से आबादी बढ़ने के कारण भोजन-संबंधी भावी संकट का डर जाता रहा। अन्नोत्पादन के निमित्त वन काटकर नई ज़मीन तैयार कर ली गई। उसमें बीज बो देने से ही काम चलने लगा। आबादी बढ़ने से खेत में मेहनत करनेवाले लोगों की संख्या भी बढ़ने लगी। यहाँ तक कि शिकारी जीवन में जो भारस्वरूप थे वे बालक बालिका भी खेती के किसी-न-किसी काम में सहायता करने लगे। फलस्वरूप जो प्रान्त पहले जनशून्य थे वे सब क्रमशः खेती आरम्भ होने से घने आबाद प्रदेशों में परिणत हो गये।

इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि ये आदिम किसान, जिन्होंने पहले-पहल बड़ी-बड़ी आबादी के गाँव तथा शहरों में रहना आरम्भ किया, विश्व-शक्ति को उत्पादन एवं वर्द्धन के प्रतीक के रूप में ही पूजते रहे। आदिम कृषक सभ्यता-धरित्री, विश्व-जननी अथवा आद्यशक्ति के उपासक थे। उन लोगों ने उत्पादन के अनेक प्रतीकों की कल्पना कर रखी थी। सिन्धु-सभ्यता में विश्व-जननी के जरायु से एक शाक के उत्पन्न होने की कल्पना की गई है। लिंग तथा योनि-पूजा का प्रथम आविर्भाव भी वहीं हुआ था।

मानव जाति ने जिस समय अपेक्षाकृत निरापद एवं स्वच्छंद जीवन पाकर अत्यधिक प्रजोत्पादन करना और कृषि द्वारा अपना भरण-पोषण करना आरम्भ किया तभी सिन्धु-तट अथवा बेबीलान में मनुष्य का आदिम प्रजनन-कौतूहल नाना प्रकार की अद्भुत योनि पूजा में अपने आपको अभिव्यक्त करने लगा। इस समय भी हमारे देश में शिव-शक्ति-पूजा अथवा लिंग-योनि के प्रतीक की उपासना उसी प्राचीन प्रथा की साक्षी स्वरूप विद्यमान हैं।

कृषिजनित लोक-संख्या-वृद्धि ने व्यक्ति एवं समाज का रूप ही बदल दिया है। इस बढ़ी हुई जनसंख्या से मनुष्य के समाज-विन्यास में दृढ़ता उत्पन्न हुई। जंगलों को काटने, सींचने, बाँध बाँधने अथवा सञ्चित धन-दौलत की रक्षा के लिए समवेत उद्योग करने से ही राष्ट्र का उदय हुआ। कहीं-कहीं एक स्थान पर घर बनाकर रहनेवाले शान्तिप्रिय तथा मितव्ययी किसान की दुर्दान्त पशुपालक जाति के आक्रमण, अत्याचार एवं शोषण से रक्षा करने के लिए भी राष्ट्र शक्ति का जन्म हुआ है। कृषि के साथ-ही-साथ समाज विन्यास में श्रम-विभाग ने भी एक विचित्र रूप धारण किया। पशु-पालक समाज में देखा गया है कि पालक, दुहनेवाले,

कातनेवाले इत्यादि सबके सब गोष्ठीपति के अधीन रहकर अपना अपना काम करते हैं। खेती आरम्भ होने के साथ ही स्त्री एव पुरुष का खेती के काम मे केवल अलग-अलग कर्म ही नही बँट गया, वरन् इसके साथ ही जुलाहे, बढ़ई, कुम्हार, खेत मे काम करनेवाले मज़दूर तथा गुलाम भी आ उपस्थित हुए। समाज मे विविध प्रकार के श्रम तथा श्रेणी-विभाग का आरम्भ सभ्यता के इतिहास में सर्वप्रथम कृषक-समाज मे ही हुआ।

खेती के काम मे जब तक हल का प्रयोग नहीं किया जाता था, अर्थात् हरिण के सींग, किसी वृक्ष की टेढ़ी डाल अथवा कुदाल के किसी भालानुमा प्रागैतिहासिक स्वरूप का ही जब तक हल के रूप मे प्रयोग होता था तब तक उसका भार स्त्रियों ने ही ले रक्खा था। बाद मे जब हल काम मे लाया जाने लगा तथा बैलों ने मनुष्य का श्रम बहुत कम कर दिया तब कृषि-कार्य पुरुषों ने ही अपने हाथों मे ले लिया। तभी से सभ्यता के इतिहास मे स्त्री-जाति की मर्यादा घट गई। आज के इस शिल्प-विप्लव-युग मे स्त्री-जाति अपने उस प्रागैतिहासिक सम्मान को प्राप्त नही कर पाई है जो उसे प्राचीन सभ्यता मे प्राप्त था, जब पुरुष शिकारी था और स्त्री स्वयं अपनी झोपडी मे अथवा उसके आस-पास रहकर जोतने-बोने, तथा गृहस्थी से सम्बन्धित नाना प्रकार की शिल्प-कलाओ का अभ्यास करती थी। बल्कि कृषि की उन्नति के साथ ही साथ पूँजी के सञ्चय तथा वृद्धि के फलस्वरूप जब से एक धनी, अवसरप्रिय, विलासी श्रेणी दिखाई पडी तब से स्त्री भी ज़मीन की ही भाँति उपभोग की—क्रय विक्रय की—सामग्री बन गई। वस्तुतः क्रीतदास-प्रथा तथा स्त्री-जाति का दासत्व ये दोनों ही कृषक सभ्यता के ही विषमय फल हैं।

फिर भी खेती ने मनुष्य को कई दृष्टियो से परिमार्जित तथा संस्कृत किया है। कृषि आरम्भ होने से पूर्व मनुष्य अल्प-सख्यक, इधर उधर बिखरे हुए तथा प्रकृति के पूर्णरूपेण अधीन थे। प्रकृति की प्रतिकूलता होने पर वे केवल भागकर ही अपनी रक्षा करते थे। कृषि से पहले कई पुरुष एक साथ मिलकर एक ही स्थान पर नहीं रहते थे। कृषि ही ने मनुष्य के हृदय मे साहस, नियमपालन, परिणामदर्शिता, तथा अपने ही गृह, परिवार एवं ग्राम के प्रति प्रीति उत्पन्न की।

शिकारी तथा पशुपालक का जगत् एक परिवर्त्तनशील, अनिश्चित जगत् था। इसके विपरीत कृषक के परिवर्त्तनशील जगत् में एक नियम की मर्यादा है। कृषक की कल्पना में प्रकृति निदारुण एवं निष्ठुर नही है, वरन् उसी के स्नेहक्रोड में वह लालित-पालित होता है। सहिष्णुता, स्थितिशीलता, रक्षणशीलता, तथा परस्पर-सम्बद्ध एक विशाल प्राकृतिक नियम और संगति के प्रति अन्धविश्वास आदि स्वभावतः ही किसान में होते हैं। इसलिए जिस प्रकार कृषक प्राचीन सभ्यता को बचा व सँभालकर रखता है तथा उसको युगपरम्पराक्रम से अपने बाद मे आनेवाली पीढ़ियों के लिए छोड़ जाता है उस प्रकार और कोई नहीं कर पाता। कृषक उत्तराधिकारियों के लिए केवल ज़मीन व जायदाद ही नहीं वरन् पारिवारिक नीति, धर्म तथा सामाजिक संस्कृति भी छोड़ जाता है। जो नीति, धर्म तथा संस्कृति कृषक सभ्यता को नियंत्रित करते हैं, उनका केन्द्र गृह तथा परिवार ही होता है। शिकारी मनुष्य को एक स्थायी दृढ़ सम्बद्ध पारिवारिक जीवन के विकास का सुयोग नहीं मिला। विचरणशील तथा जननशील पशुसमूह के बीच मे रहकर पशुपालक जातियाँ प्रायः बहुविवाहकारी हो गईं तथा धन को भी उन्होंने स्त्रियों की सख्या के ही मापक-यन्त्र से नापा। वस्तुतः मनुष्य का पारिवारिक जीवन सर्वप्रथम कृषक समाज में ही दृढ़ हुआ है। कृषिकर्म मे समय आने पर खेत में काफी अधिक परिश्रम करना आवश्यक हो जाता है। उस समय आबाल-वृद्ध वनिता सब मिलकर यदि परिश्रम न करे तो यथोचित फसल नहीं हो सकती। इसी सहयोगिता से एकान्तवासी परिवार मे ऐक्य, विवाह मे स्वामी और स्त्री का अटूट सम्बन्ध, पूर्व-पुरुषों के लिए श्रद्धाञ्जलि-अर्पण व उत्तराधिकारियों के लिए धन-दौलत, ज़मीन-जायदाद इत्यादि छोड़ जाने के अनुल्लघनीय उत्तरदायित्व का भाव आता है। कृषि के उदय-काल मे ही घर के भीतर गृहदेवता तथा सेवनीय प्रज्वलित होमकुण्ड का आविर्भाव हुआ। उत्तर भारत मे मुख्य देवता गृहदेवता हुए, जिनके निकट नित्य संध्या समय कृषक-वधू दीपक जलाकर लाती है एवं पहली फ़सल तथा पहले-पहल का दूध अर्पण करती है। इसी प्रकार खेत की फसल तथा पशुओं के रक्षक क्षेत्रपाल हुए। उनकी कृपा के बिना पकी-पकाई फसल नष्ट हो सकती अथवा कोई भयंकर बीमारी फैल सकती है, जो गाँव-गाँव मे ढेर-के-ढेर पशुओं का विध्वंस कर दे सकती है। किसानों की सस्कृति की सीढ़ी के हिसाब से ही कहीं की देवता रक्षा या काली है तो कहीं की मंगलचण्डी। शरद्-ऋतु मे जब पके हुए धान की हरी-भरी सुन्दरता किसान का मनोरंजन करती है एवं चारों ओर अलसी का सुंदर खिला हुआ फूल ही दिखलाई पड़ता है तब आसन्न समृद्धि की आशा तथा प्रतीक्षा में गाँव-गाँव मे रक्षा व पालनकर्त्री हरितवर्णा महादेवी की उपासना होती है।

अमावस्या के निविड़ अन्धकार में जब प्रकृति पृथ्वी को एक निगूढ रहस्य-जाल में आवृत्त कर लेती है तब किसान उसी पालन करनेवाली देवी की आराधना महाकाली की मूर्ति के द्वारा करता है, जो जन्म-मृत्यु एव सृष्टि-प्रलय के नियमों के रूप में सारे विश्व मे नृत्य कर रही है। श्रावण मास की सध्या के समय नीली विद्युत्युक्त घटाऍ जब किसान के हृदय मे एक नया उत्साह व आनन्द भर देती हैं, तथा बिजली की चमक व मेघों के गर्जन से कृषक-वधू जब कुछ व्याकुल तथा उन्मन-सी होने लगती है, तब गॉव-गॉव मे झूलन का उत्सव शुरू हो जाता है। सबके ही स्मृतिपट पर तब एक बार फिर यमुना-तट पर प्रस्फुटित कदम्ब वृक्ष के नीचे कृष्ण एवं गोपियों के नित्य अभिसार तथा मिलन का चित्र अकित हो जाता है। फिर जब वसन्त-काल में अशोक और पलाश-पुष्प के नव किशलय की रक्तिम आभा से खेत-वन प्रज्वलित हो उठते हैं एवं वर्षा तक विपुल परिश्रम करने के पश्चात् कुछ समय के लिए शान्ति-एवं विनोद प्राप्त करने के हेतु किसान अवकाश ग्रहण करता है तब झूला-उत्सव में सभी मतवाले-से हो उठते हैं। खेत-मैदान मे, नदी तथा पुष्करिणी के तटों पर प्रतिदिन, प्रतिमास पर्वों पर कृषक अनेकों देवताओं की उपासना करता है। धरती माता, गंगा माता, सिद्धिदाता, मङ्गल-चण्डी इत्यादि प्रत्येक ही कृषक के कल्याण-साधक हैं। एक ही प्रथा, एक ही उत्सव, एक ही पूजा के अनुष्ठान का वर्णन समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लोगों की शिक्षा तथा सस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। समाज की विभिन्न श्रेणियॉ प्रत्येक उत्सव की वैचित्र्य-पूर्ण प्रतीकोपासना के द्वारा भिन्न-भिन्न भावों की सूचना देती हैं। परन्तु इस उत्सव या पर्व के प्राणस्वरूप कृषक ही हैं। आकाश मे चद्र, सूर्य, ग्रह तथा तारामण्डल के नियमानुगत परिवर्त्तन के साथ-ही-साथ ऋतुचक्र मे भी परि-वर्त्तन उपस्थित होने से किसानों के नाना प्रकार की पूजा के अनुष्ठान एव उत्सव प्रति वर्ष उसी नियम से बदल-बदल कर आते-जाते हैं तथा इस अनन्त काल-प्रवाह के साथ कृषि की शक्ति एव उद्देश्य का एक निविड़ अक्षुण्ण सम्बन्ध स्पष्ट कर देते हैं। ऋतु-परिवर्त्तन के ही अनुसार खेती का काम भी बदलता रहता है। कर्म व फल का एक चक्र समाप्त होते ही फिर नवीन चक्र आरम्भ हो जाता है। यह चक्र-परिवर्त्तन अनादि अनन्त है।

इसलिए कृषक एक लोकातीत नियम की सुषमा व सगति का विश्वासी हो जाता है, जिसे कभी वह अदृष्ट कहता है, कभी ईश्वर की न्यायानुवर्तिता कहता है, और कभी अनादि सत्य-धर्म के नाम से अभिहित करता है। किसान यद्यपि बहु-देवोपासक है, यद्यपि वह अनेक शक्तियों की सेवा करता है, तथापि उन सभी शक्तियों एवं देवताओं को वह एक विश्वोत्तर नियम के अन्तर्भूत कर देता है। उसी नियम का उसने नैतिक व्याख्यान कर्मवाद के रूप में किया है जिसका प्रभाव व्यक्ति-गत एवं सामाजिक जीवन पर कुछ कम नहीं पड़ा है।

किसान समझता है कि वृक्ष-लता तथा जीव-जन्तु एव मनुष्य सब एक ही सूत्र में पिरोये हुये हैं। पेड़-पौधों तथा फसलों की नीरव कालचक्रानुयायी क्रमाभिव्यक्ति के ही समान मनुष्य भी अनन्त-काल से जीवन-परिवर्त्तन करता हुआ पूर्णता की ओर चलता रहा है। जन्मान्तरवाद के साथ कर्म-वाद का अकाट्य सम्बन्ध है। जन्मान्तरवादी के निकट अदृष्ट कोई अन्ध प्राकृतिक शक्ति नहीं वरन् जन्म-परिवर्त्तन के सम्बन्ध मे पाप तथा पुण्य कर्मों का विचार मनुष्य के हृदय में, दुर्भाग्य के समय, एक प्रकार का धैर्य लाता है तथा सौभाग्य के समय क्षमा एव शान्ति लाता है। सभी समय पाप तथा पुण्य में व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के अपरिहार्य दायित्व का अनुभव करता है। इसी प्रकार सामाजिक जीवन मे अदृष्टवाद प्रत्येक सामाजिक श्रेणी में सहिष्णुता तथा अक्षुब्धता लाता है। श्रेणीद्वन्द्व तथा प्रतियोगिता के स्थान में, अदृष्टवाद के प्रभाव के फल-स्वरूप, सामाजिक शान्ति तथा सहयोगिता का दर्शन होता है।

तभी तो यह विश्वास करके कि विश्व को धारण करने-वाला ईश्वरादेश नहीं वरन् एक तुरीय, विश्वातीत सङ्गति एव सुषमा है—किसान ने एकेश्वरवाद को एक नवीन महिमा प्रदान की है। उसके समीप परमेश्वर भी स्वतत्र नही। मानव सभ्यता के इतिहास में अनेकेश्वरवाद की ज्वलन्त श्रद्धा और भक्ति व अनवच्छिन्न आनन्द एव एकेश्वरवाद का निगूढ अपरोक्ष ज्ञान जिस प्रकार कृषक का दान है वैसे ही मालूम पड़ता है उसका और भी अधिक मोहनीय दान व्यक्तिगत तथा समाजगत नीति के क्षेत्र मे है। अलघनीय एव सनातन नियम के पक्षपाती किसान ने अपने इस अपरोक्ष नियम का अनुभव केवल विश्व के महत् व अणुपरमाणु में ही किया है, जड़ एव चेतन मे नहीं। इसी नियम ने व्यष्टि और समष्टि, जड़ और चेतन, जन्म और कर्म, पाप और पुण्य, वर्तमान और अतीत को एव प्राकृतिक और नैतिक जीवन को एक सूत्र में पिरो-कर एक सुन्दर, सुषमामय समग्रता प्रदान की है। मानव सभ्यता के इतिहास मे किसान का यह सर्वश्रेष्ठ दान है।
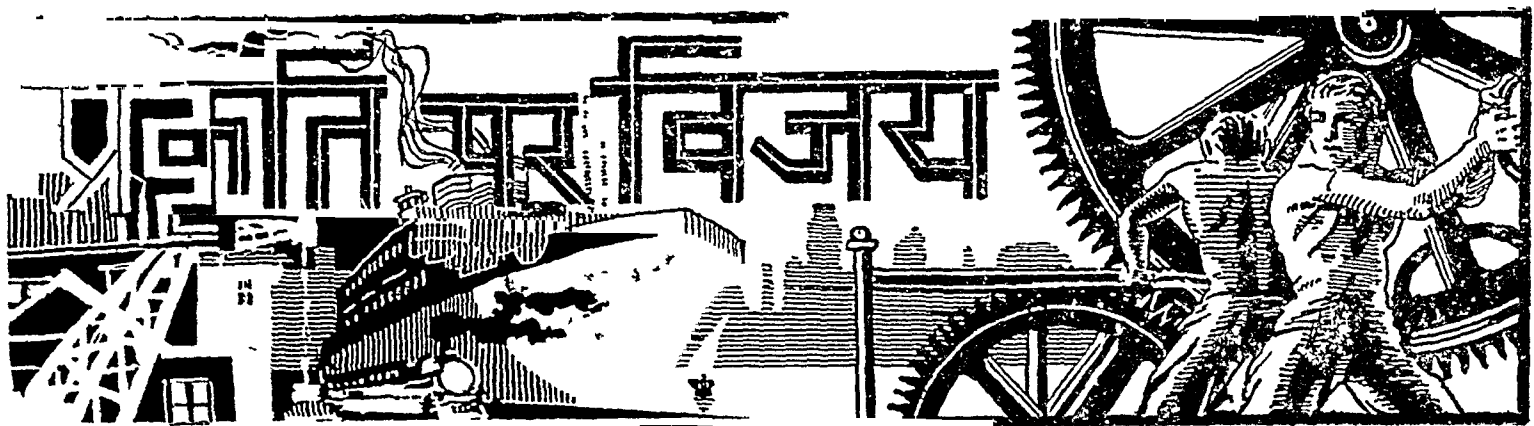
धरती पर विजय—(६) मोटरगाड़ियों का विकास

पिछले लेख में आपने पेट्रोल-इंजिन की उत्पत्ति और उसकी सहायता से सड़कों पर बिना रेल की पटरी के दौड़ सकनेवाली मोटरगाड़ियों के विकास की कहानी सुनी। प्रस्तुत लेख उसी का उत्तरार्द्ध है। संक्षेप में यहाँ यह बताया गया है कि आज दिन मोटरों की माँग बेहद बढ़ जाने से किस प्रकार कारख़ानों में वे धड़ाधड़ हज़ारों-लाखों की संख्या में प्रति वर्ष तैयार होने लगी हैं।

हम पिछले लेख में देख चुके हैं कि जब मोटरकार के रूप में एक निहायत कमख़र्च, सुडौल, और तेज़ चालवाला वाहन दुनिया को मिल गया तो एकबारगी ही उसकी माँग की बाज़ार में मानों बाढ़ आ गई और फलस्वरूप पचीसों फैक्टरियाँ महज मोटरें बनाने के लिए ही खुल गईं। इन्हीं फैक्टरियों ने कालान्तर में विशाल कारख़ानों का रूप ले लिया, जिनमें हज़ारों की संख्या में प्रति वर्ष तरह-तरह के डिज़ाइन की मोटरें तैयार होने लगीं। क्या आप सोच सकते हैं कि आज दिन ऐसे कारख़ाने किस गति और परिमाण में मोटरों का उत्पादन करते हैं? आपको यह जानकर अचरज होगा कि अमेरिका के फोर्ड के मोटर के कारख़ाने में, जो संसार का इस वाहन के उत्पादन का सबसे बड़ा कारख़ाना है, प्रति दिन कई मोटर की औसत के हिसाब से उत्पादन होता है! निस्संदेह यह तभी सम्भव हो सकता है जब मोटर के प्रत्येक छोटे-से-छोटे पुर्जे के निर्माण के लिए भी अलग-अलग विभाग हों और उन सब विभागों में साथ-ही-साथ काम चलता रहे। इसके अलावा कारख़ाने के कुछ विभागों में महज़ विभिन्न पुर्जों को जोड़कर पूरी गाड़ी तैयार करने का ही काम होता हो, कुछ में रँगाई-पोताई ही चलती रहे, कुछ में मोटर के गद्दे तकिए वग़ैरह ही सिले जाते रहें, कुछ में उसके इंजिन की जाँच ही होती रहे, और इन सभी कार्यों की ऐसी शृंखला बँधी रहे कि प्रत्येक विभाग से एक ही जैसे हज़ारों पुर्ज़े प्रति दिन तैयार होते रहें। वस्तुतः यही हो रहा है।
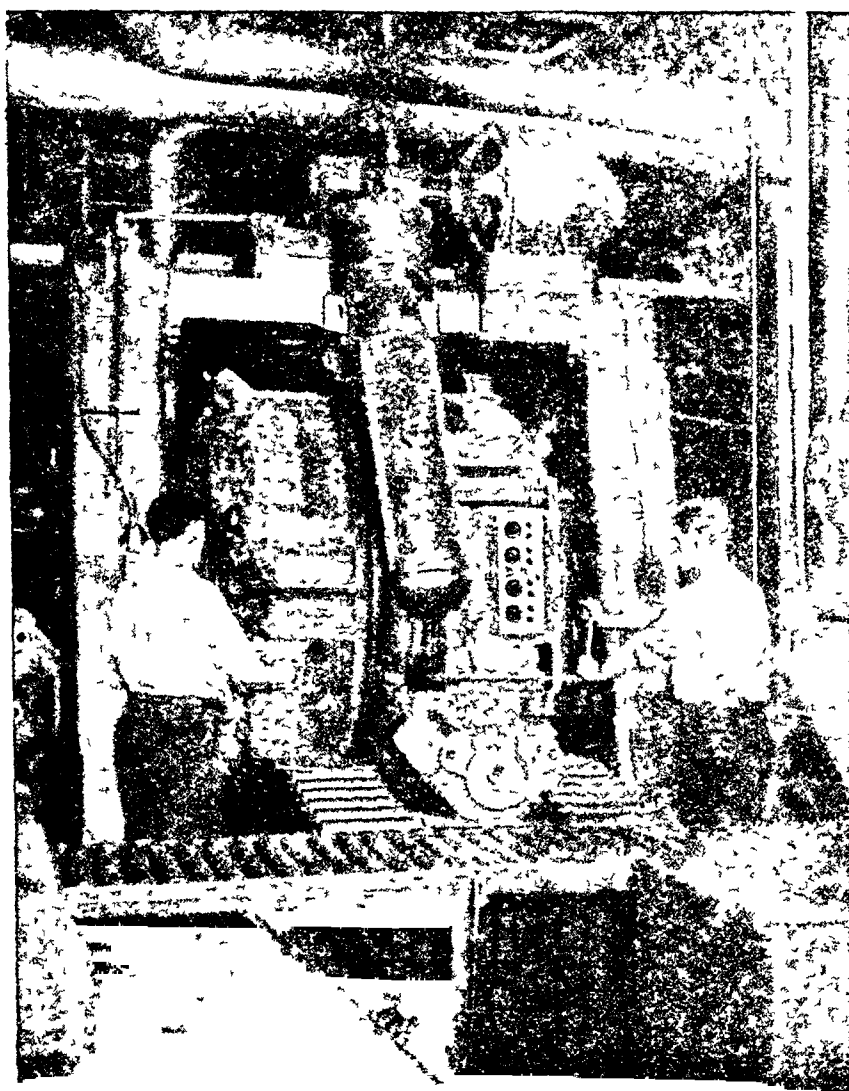
फोर्ड के मोटर के कारख़ाने के एक विभाग में मोटर-इंजिन के सिलिंडर का निर्माण किया जा रहा है।
[फोटो—'फोर्ड मोटर कंपनी ऑफ इंडिया लि०' के सौजन्य से]

मोटर की बॉडी का निर्माण करनेवाले एक साँचे को खरादकर उपयुक्त आकार दिया जा रहा है।
[फोटो—'फोर्ड मोटर कं० ऑफ इंडिया लि०' के सौजन्य से]

इस कमरे में भेजे जाने के पहले स्टोर-रूम में ही इन पुर्जों की जॉच विशेषज्ञों द्वारा भली भॉति कर ली जाती है। अब पहियों की बारी आती है। हवा से भरे टायर पहियों पर चढ़ाये जाते हैं। फिर इन पहियों को मशीनों की मदद से चेसिस की धुरी पर चढाते हैं। चेसिस के तैयार हो जाने के बाद क्रेन द्वारा बॉडी को लाकर ठीक चेसिस के ऊपर रख देते हैं।

मोटर की बॉडी का भी आद्योपांत निर्माण फैक्टरी के अन्दर ही होता है। बढ़िया क़िस्म के सागौन के लट्ठों के ठीक साइज के टुकडे काटकर बॉडी में यथास्थान फिट कर देते हैं। अब तो कारख़ानों मे अनेक मशीनें इस तरह की बन गई हैं जो फ़ौलाद की चद्दरों को एक ही बार में मरोड कर बॉडी की शक्ल मे बदल देती हैं। एकदम ऐसी नपी-तुली साइज़ की बॉडी तैयार हो जाती है कि उसके आकार में एक सूत का भी अन्तर नहीं पडने पाता।

बॉडी पर कम-से-कम दस बार भिन्न वार्निशों से पालिश की जाती है। तदुपरान्त भालरें, गद्दे, खिड़कियों के शीशे आदि सजावट की चीजे, जो अपने-अपने गोदाम से तैयार होकर आती हैं, मशीनों द्वारा ही बॉडी में फिट कर दी जाती हैं। चेसिस पर बॉडी के फिट हो जाने के बाद गाडी मे गियर बाक्स, नम्बर प्लेट, स्क्रीन, ब्रुश और हार्न आदि लगाये जाते हैं। सर्वांगपूर्ण हो जाने के बाद यह गाडी विशेषज्ञ के पास जाती है। विशेषज्ञ इसके प्रत्येक अंग की भली भॉति जॉच करता है। उदाहरणार्थ वह देखता है कि पथरीली ज़मीन पर बहुत जल्द मोटर का टायर घिस तो नही जाता। विशेषज्ञ द्वारा फिट करार दिये जाने पर मोटर-कार पर आख़िरी बार पालिश चढाई जाती है और तब उसे शोरूम मे ला खड़ा करते हैं।

इस सिलसिले में अमेरिका के धनकुबेर हेनरी फोर्ड का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सर्वसाधारण के काम लायक़ सस्ती और पायदार मोटर-गाड़ियॉ तैयार करने का श्रेय हेनरी फोर्ड को ही प्राप्त है। आज फोर्ड-मोटरें और लारियॉ संसार के सभी देशों में पायी जाती हैं।

मोटर फैक्टरियों में अत्यन्त ही सुचारु और सुसंगठित ढग पर मोटर के कल-पुर्ज़ों का निर्माण होता है। मोटर-गाडी के तैयार करने मे कुल २० हज़ार से ऊपर पुर्जों की आवश्यकता पडती है। एक बडे दालान में विचित्र ढग की क्रेन तथा पेटीदार मशीनों के ज़रिये हर एक पुर्ज़ा बनकर ठीक समय पर उपयुक्त स्थान पर पहॅुच जाते हैं ताकि मोटर की बॉडी में यथास्थान वे फिट कर दिये जायॅ। मिस्त्री चुपचाप अपनी जगह पर खडा रहता है और पुर्ज़े स्वय उसके सामने एक-एक करके पहॅुचते रहते हैं। वह केवल दो-एक बाल्टू कस दिया करता है या स्क्रू घुमा देता है। कार का मुख्य ढॉचा या चेसिस पहले ड्रिलिंग रूम मे जाता है, जहॉ जितने सूराख़ की ज़रूरत होती है, ठीक उतने ही सूराख़ उस ढॉचे मे मशीन द्वारा बना दिये जाते हैं। तदुपरान्त वह आगे बढता है और एक बडे कमरे मे इजिन, धुरी आदि अंग मशीन द्वारा उसमे फिट कर दिए जाते हैं।

मोटर-इंजिन का क्रैंक-शैफ्ट नामक पुर्ज़ा ढाला जा रहा है।
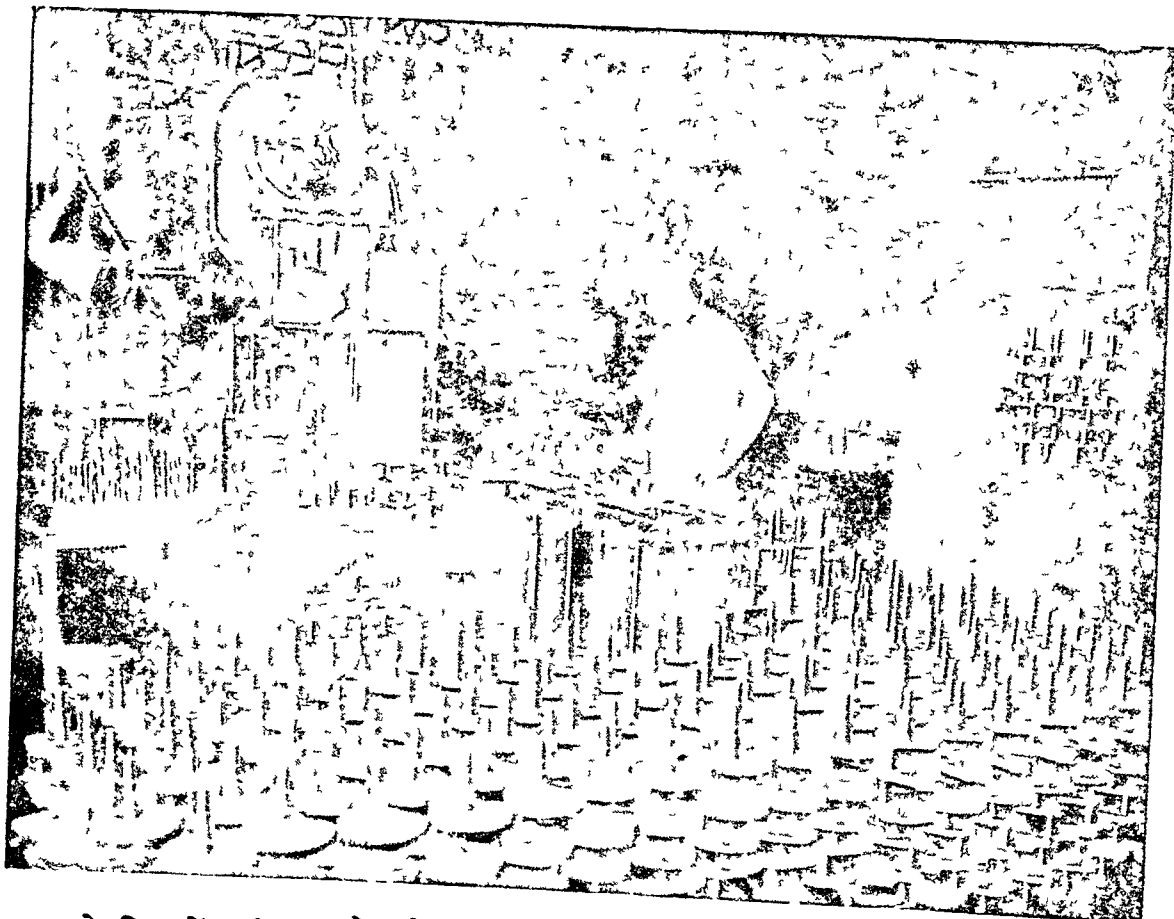
ऊपर के चित्र में ढाले गए क्रैंक-शैफ्ट नामक पुर्ज़े को समतुलित बनाया जा रहा है। नीचे ज़मीन पर यही पुर्ज़ा सैकड़ों की तादाद में रक्खा है।

[फोटो—'फोर्ड मोटर कंपनी ऑफ इंडिया लि०' के सौजन्य से]

सिलिंडर की सतह खरादकर चिकनी बनाई जा रही है।

एक ही बार मे सिलिंडर के ढाँचे में तमाम आवश्यक छेद किए जा रहे हैं।
[फोटो—'फोर्ड मोटर कंपनी ऑफ इंडिया लि०' के सौजन्य से]
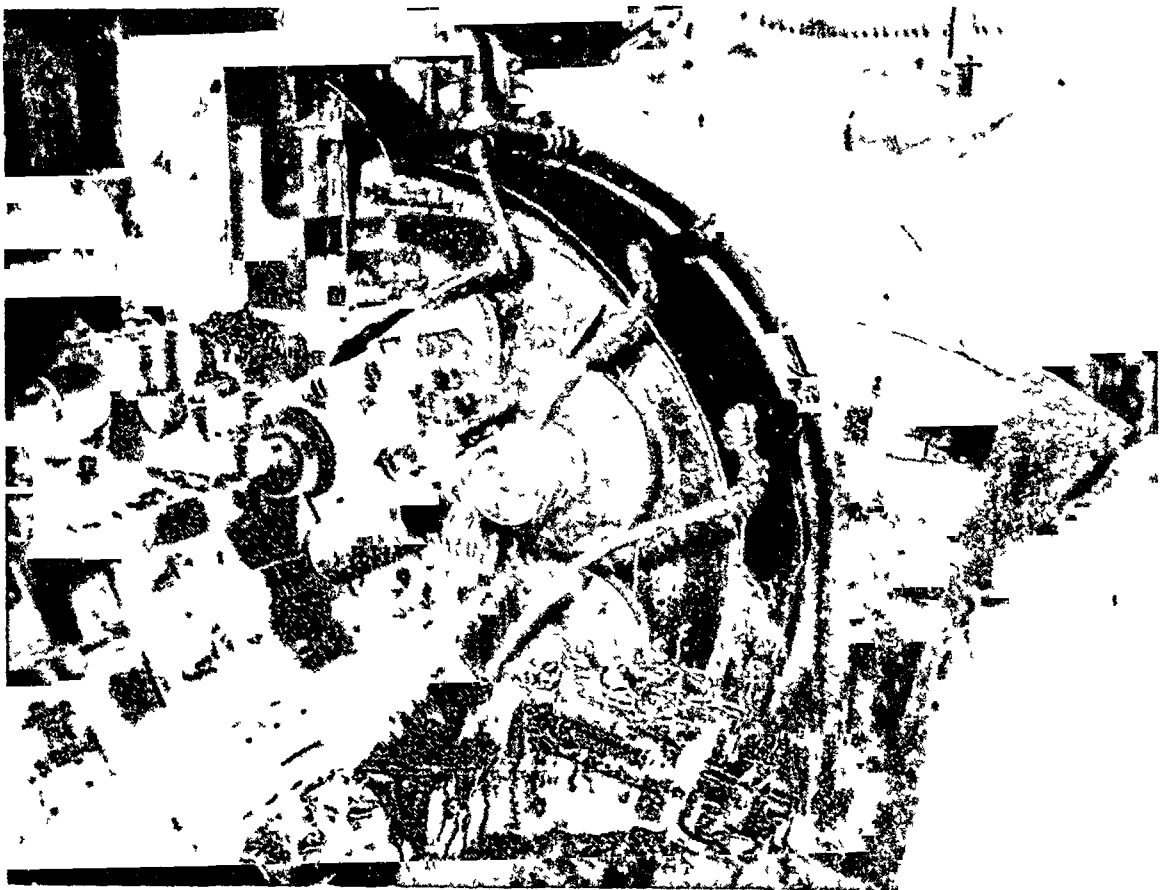
मोटर-इंजिन के पिस्टनों पर पालिश किया जा रहा है।
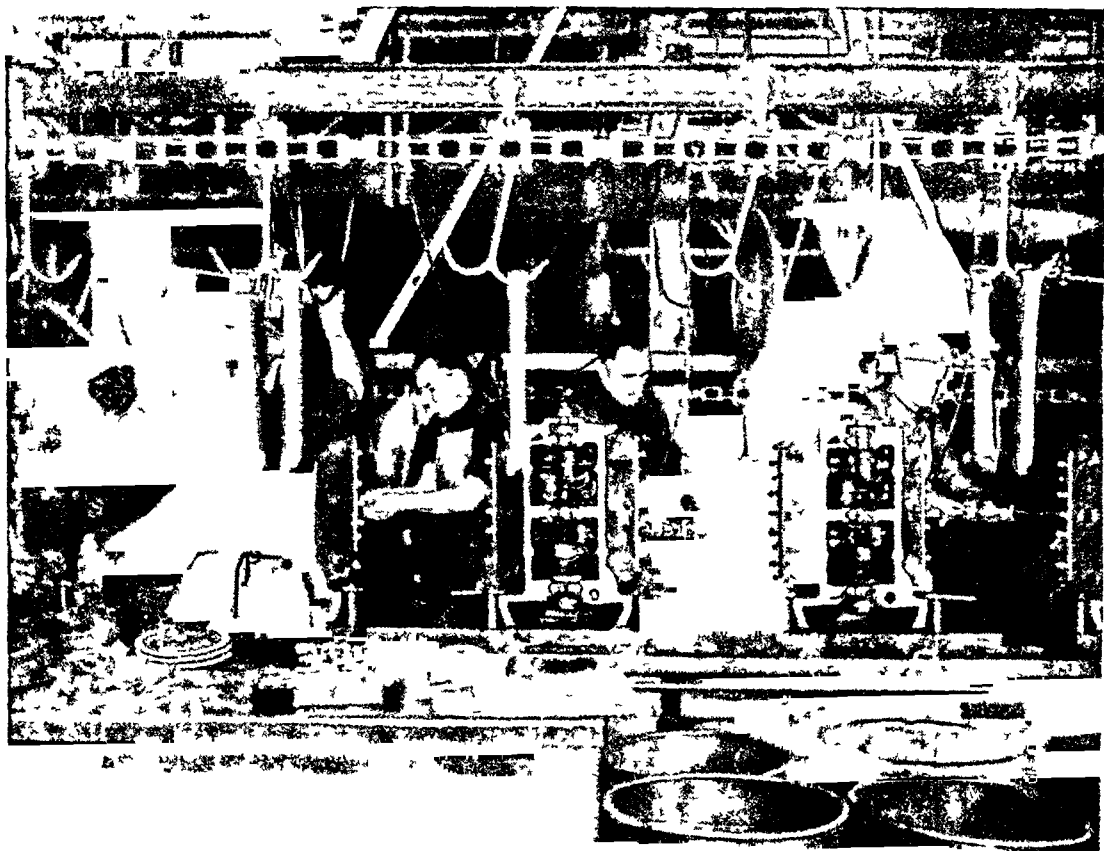
मोटर-इंजिन के अलग-अलग पुर्ज़ों को जोड़कर पूरा इंजिन तैयार किया जा रहा है।
[फोटो—'फोर्ड मोटर कंपनी ऑफ इंडिया लि०' के सौजन्य से प्राप्त]
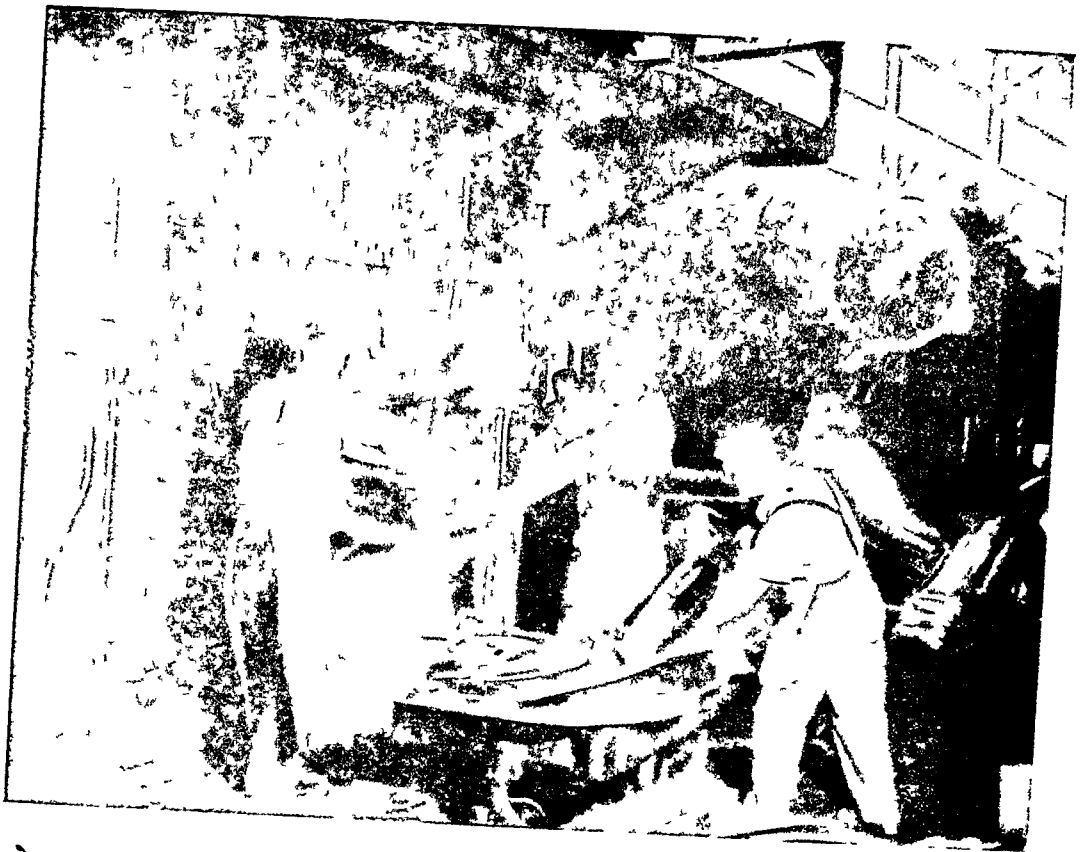
मोटरकार की बॉडी मे पहियों के ढकाव के लिए लगाई जानेवाली चादरों को मशीन में दबाकर उपयुक्त आकार दिया जा रहा है।
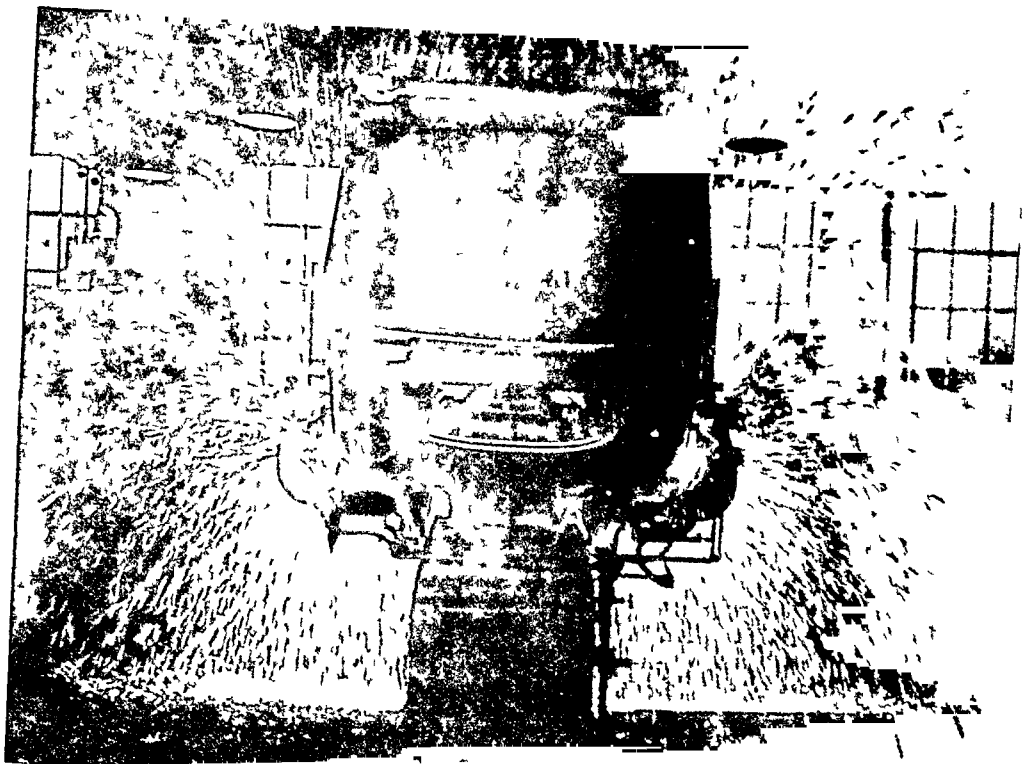
मोटरगाड़ी की फौलाद से बनाई गई 'बॉडी' या ऊपरी ढाँचे की बिजली के द्वारा वेल्डिग (Welding) की जा रही है, अर्थात् संध मिलायी जा रही है।
[फो०—'फोर्ड मोटर कपनी ऑफ इडिया लि०' के सौजन्य से]

इन कारखानों मे हर तरह के काम के लिए मोटर-गाड़ियाँ तैयार की जाती हैं। लम्बी यात्रा मे रातदिन चलनेवाली मोटर-बस मे यात्रियों के आराम और सुविधा का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। ऐसी मोटर-बस दो तल्ले की होती है, जिनमे निचले तल्ले मे सामान रखने की जगह तथा सोने के लिए बर्थ बनी रहती है।

पिछले पहिये की धुरी के पास आवाज़ जज़्ब कर लेनेवाला यत्र लगा रहता है, जो गाड़ी के अन्दर व्यर्थ का शोर-गुल नहीं पहुँचने देता। बस की दीवाले भी दुहरी होती है, अतः बाहर का शोर भीतर घुसने नहीं पाता। साथ ही एयर-कन्डिशनिङ्ग की सहायता से मोटर-बस के भीतर इच्छानुसार जैसा चाहे वैसा तापमान बनाये रख सकते हैं। ऊपर के तल्ले में बैठने के लिए गद्देदार कुर्सियाँ लगी रहती हैं—रात के समय इन्हे भी हटाकर वहाँ सोने के लिए बेन्चे लगा सकते हैं। रीफ़्रीजिरेटर और रेडियो भी बस के अन्दर मौजूद रहते हैं। बस के यात्री रेडियो द्वारा संसार के हर कोने का समाचार प्राप्त कर सकते हैं। हज़ारों मील की दूरी पर होनेवाले संगीत का भी वे भरपूर आनन्द उठा सकते हैं। सहारा-जैसे रेगिस्तान के निर्जन प्रान्तों मे इसी ढग की बसें नियमित रूप से सवारी ढोने का काम करती हैं और हज़ारों मील लम्बे बालू के मैदान को ये आसानी से पार कर जाती हैं।

युद्ध के मैदान मे भी मोटरों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पेट्रोल-इजिन द्वारा परिचालित, मशीनगन और तोपों से सुसज्जित, टेङ्क नामक युद्ध-यान एक दानव की तरह झाड़-झंखाड, दलदल, बालू, टीला सब-कुछ को लाँघते हुए ३०-३५ मील प्रति घण्टे की रफ्तार से आगे बढ सकते हैं। कुछ टैङ्क तो इतने शक्तिशाली होते हैं कि वे दीवालों को भी तोड़कर अपने लिए रास्ता बना लेते हैं! अमेरिका मे ऐसे टैङ्क भी बन गए हैं जो स्थल और जल दोनोपर आसानी से चल सकते हैं। ये सब एक प्रकार की मोटरगाड़ियाँ ही हैं।

बर्फीले प्रान्तों मे चलनेवाली स्लेज गाड़ियों मे भी पेट्रोल-इंजिन फिट किये गये हैं। इन गाड़ियो मे इजिन का सम्बन्ध किसी पहिये से नहीं होता, क्योंकि स्लेज मे पहिये होते ही नही। इंजिन अपने सामने एक प्रोपेलर को ख़ूब तेज़ी के साथ घुमाता है। प्रोपेलर के पख जब हवा को काटते हैं तो स्लेज भी बर्फ पर फिसलती हुई आगे को बढ़ती है। मोटर-स्लेज की रफ़्तार अक्सर १५ मील प्रति घण्टे तक पहुँच जाती है।

मोटरो के निर्माण में प्रतिदिन नई-नई बातो का समावेश किया जा रहा है। बॉडी को आरामदेह बनाने का प्रयत्न निरंतर जारी है। इंजिन की शक्ति बढाने के प्रश्न को हल करने मे भी लोग किसी क़द्र पीछे नहीं हैं। दौड-प्रतियोगिता का रेकार्ड तोड़ने के लिए नित नए ढंग की मोटरें तैयार की जाती हैं। रेसवाली मोटरकार की बॉडी मे कोना कही पर भी नही रखते। बॉडी को पूर्णतया स्ट्रीम-लाइन्ड कर देते हैं ताकि तीव्रगति से भागती हुई मोटरकार पर हवा की अवरोधक शक्ति का प्रभाव बहुत ही कम पडे।

केम्ब्रिज में १९३८ मे एक रेसिंग कार पूरे ६ वर्ष के
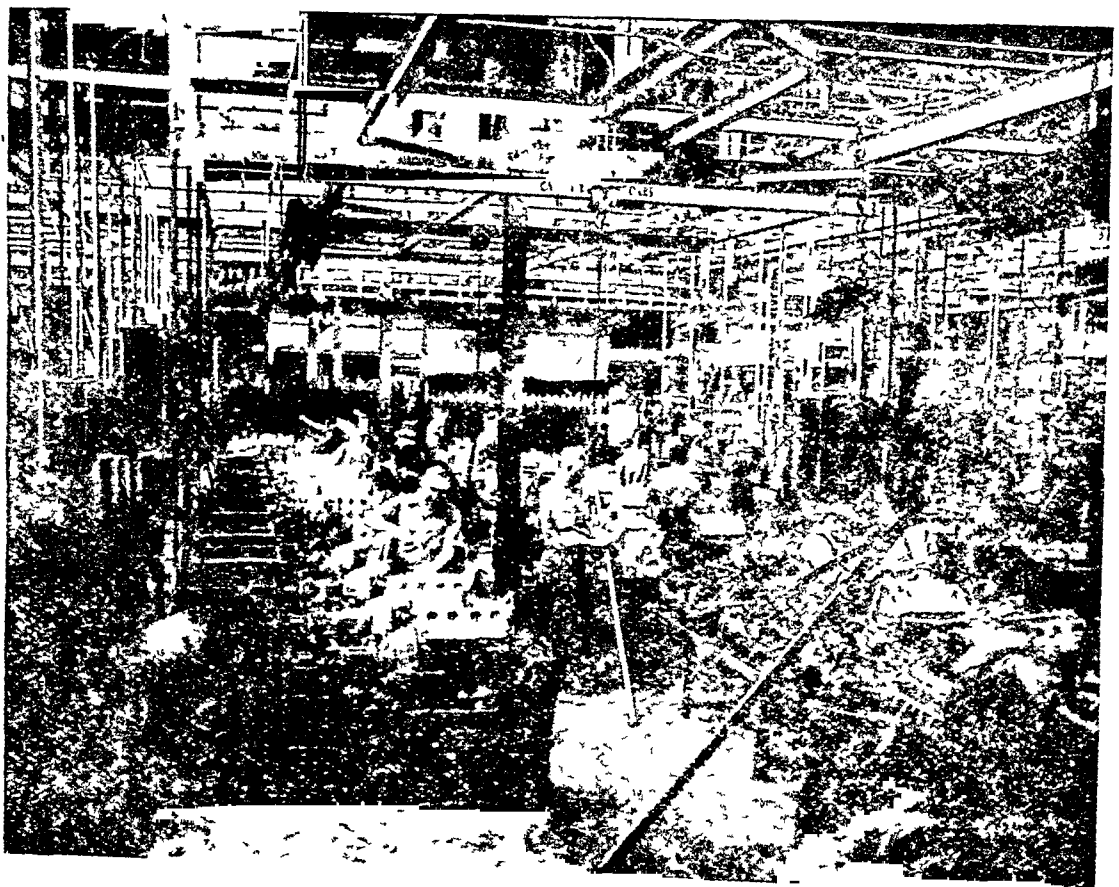
फोर्ड मोटर के विशाल कारखाने में तयार किए गए मोटर-इंजिनो को चला चलाकर विशेषज्ञ पक्की जाँच कर रहे हैं ताकि उनमें कोई तरह की शिकायत बाकी न रहे।
[फोटो—'फोर्ड मोटर कंपनी ऑफ इंडिया लि०, के सौजन्य से]

अनुसन्धान के उपरान्त तैयार की गई। इस कार में न तो क्लच थे न गियर ही। इसकी शक्ल भी एक विशालकाय अण्डे की तरह बनाई गई थी ताकि कितनी ही तेज़ रफ्तार से कार क्यों न जा रही हो, हवा इसे छूकर चुपचाप एक ओर को फिसल जाय। इस विचित्र कार की रफ्तार ३५० मील प्रति घण्टा तक जा पहुँची।

किन्तु दौड़ मे भाग लेनेवाले साहसी वीर इससे भी अधिक शक्तिवाले इंजिन बनाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। हम जानते हैं कि जिस समय बन्दूक़ से गोली छूटती है, बन्दूक़ को एकाएक पीछे धक्का पहुँचता है। बड़ी-बड़ी तोपों से जिस वक्त गोले दागे जाते हैं, ये तोपें पीछे को हट जाती हैं। आतिशबाज़ी की चर्खी भी इसी सिद्धान्त पर बनती हैं। बारूद जब ज़ोरों के साथ बाहर को निकलती है तो चर्खी धक्का खाकर उलटी दिशा में घूमने लगती है। राकेट-कार के इंजिन में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। इस कार के पिछले भाग में ऐसा इजिन लगा रहता है, जिसमे सैकड़ों ऐसी नलियाँ रहती हैं जिनका मुँह पीछे की ओर रहता है। प्रत्येक नली के अन्दर बारूद भरी रहती है। एक-एक सेकण्ड के अन्तर पर प्रत्येक नली की बारूद विद्युत् की चिनगारी द्वारा विस्फोट कराई जाती है। इस प्रकार रास्ते भर राकेट-कार को आगे बढने के लिए शक्ति मिलती रहती है। बारूद के स्थान पर राकेट-कार मे द्रव ऑक्सीजन का भी सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा चुका है।

राकेट इजिनवाले स्लेज की रफ्तार भी ३०० मील प्रति घटे तक पहुँच चुकी है। राकेट कार अभी अपने प्रयोगात्मक काल में से ही होकर गुजर रही है, पर इसमे कोई सन्देह नहीं कि उसका भविष्य उज्ज्वल है।

गति के प्रश्न की तरह ईंधन का प्रश्न हल करने मे भी वज्ञानिक जी-जान से जुटे हुए हैं। यह सभी जानते हैं कि ससार में मिट्टी के तेल या पेट्रोल जैसे खनिज तेल का कोई ऐसा भडार नहीं है जो कि कभी चुके ही नहीं। वास्तव में, वर्त्तमान युद्धों में जब से पेट्रोल का प्रयोग अधिकाधिक बढने लगा है तब से मोटरवालों के माथे में भी बल पड़ने लगा है। उन्हें चिंता होने लगी है कि यदि पेट्रोल के ख़र्च का यही ढर्रा रहा तो आख़िर पेट्रोल से चलनेवाले इन सभी वाहनों की उस दिन क्या गति होगी जब खनिज तेल दुर्लभ हो जायगा। इसी समस्या को लेकर अभी से मोटरों में दूसरे-दूसरे ईंधनों को काम में लाने की योजनाएँ होने लगी हैं। कुछ मोटरे ऐसी निकली हैं, जिनमे पेट्रोल के बजाय 'क्रूड आयल' ही जलाया जाता है, तो कुछ में कोयले की गैस का ही इस्तेमाल होने लगा है। अचरज नही यदि एक दिन पेट्रोल के बजाय कोई दूसरा ही नवीन ईंधन ससार की सभी मोटरों मे काम मे लाया जाने लगे।

बिजली द्वारा मोटर के पहियों की वेल्डिङ्ग की जा रही है

[फ़ोटो—'फ़ोर्ड मोटर कंपनी ऑफ इडिया लि॰' के सौजन्य से]

जो कुछ भी हो मोटरों के विकास की श्रेणी अभी समाप्त नहीं हुई है। उसे नई-नई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने के प्रयत्न लगातार जारी है। कह नहीं सकते कि उसका अतिम रूप क्या होगा।
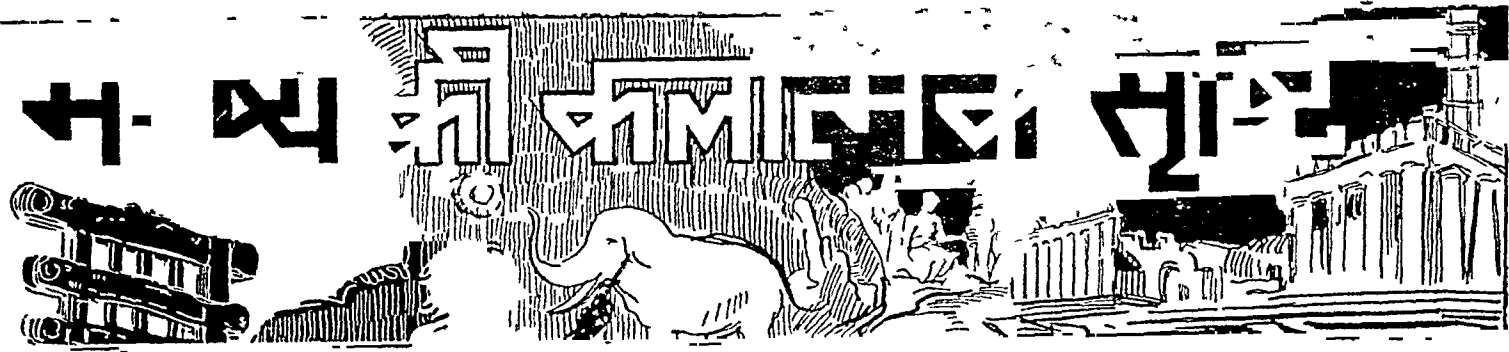
चीन की कला

प्रागैतिहासिक युग से आरंभ कर क्रमशः हमने मिस्र, बेबीलान, असीरिया, क्रीट, ग्रीस और रोम की प्राचीन कला का दिग्दर्शन पिछले लेखों में किया। हम एकबारगी ही पश्चिमाभिमुख हो गए और रोम में आकर तो तीसरी-चौथी शताब्दी ईस्वी को भी पार कर गए। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इस बीच पूर्व के चीन, भारत, तिब्बत आदि देशों में कला सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय प्रयास हुआ ही न था। वस्तुतः, चीन या भारत की कला का इतिहास भी ईसा से कई शताब्दी पहले आरंभ होता है। किन्तु पूर्व की यह कला-धारा पाश्चात्य कला के प्रवाह से कई बातो में एकदम ही विभिन्न दिशा की ओर बहती है। इसीलिए पश्चिम के धारा-प्रवाह में पूर्व का विवेचन करना उचित नही समझा गया। अब चूँकि हम पश्चिम से लगभग निपट चुके अतएव पूर्व की ओर निश्चिन्त होकर अभिमुख हो सकते हैं। प्रस्तुत और आगामी कई लेखो में अब आपको पूर्व की ही कला का इतिहास सुनने को मिलेगा। आइए, सबसे पहले चीन ही को लें।

प्राचीन रोम की तड़क-भड़क से अपनी नज़र हटाकर अब हम चीन की गौरव-गरिमा पर निक्षेप करते हैं—'रोमन ईगल' की सजग आँखो से रक्षित सुविस्तृत साम्राज्य-भूमि से अब हम बढ रहे हैं बहुत दूर 'देव-पुत्रो से अधिष्ठित गंभीर गर्जन-कारी प्रचड ड्रेगन की विशाल एव स्वर्गीय राज्य-भूमि' की ओर! चूँकि अब हम पूर्व की ओर अभिमुख हो रहे हैं, अतएव हमे कला-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण तथा विचारो मे भी उचित परिवर्त्तन कर लेना होगा, जो अब तक केवल दृश्य अथवा बुद्धिगम्य वस्तुओं में ही डूबे हुए थे। यद्यपि यह सच है कि ग्रीस और रोम की निकृष्टतम कलाकृतियों में भी आदर्शीकरण की एक पुट सदैव विद्यमान पाई जाती है; परन्तु यह आदर्श-चित्रण वास्तव मे दृश्य वस्तु की त्रुटियों को दूर कर एवं उसकी रोचक विशेषताओ को कहीं ज्यादा तूल देकर केवल उसे अधिक महिमामय बना देने का प्रयत्नमात्र था—उसमें प्रकृति को एक विशेष सौन्दर्यानुभूति अथवा आध्यात्मिक प्रेरणा के अनुरूप रूपांतरित करने का कोई प्रयास नही किया गया था। ग्रीक कला के सिद्धान्तो मे यह व्यवस्था दे दी गई थी कि समस्त कला अनुकरण मात्र है; और इसी व्यवस्थानुसार कलाकार प्रकृति के सम्मुख मानों दर्पण रख उसे, जहाँ तक मनुष्य के लिए सभव हो सकता है, प्रतिबिम्बित करने का प्रयास करते थे। मानवीय शरीर के अगो की गठन का वे बड़ी बारीकी के साथ अध्ययन करते और प्रकृति के ही आधार पर अपनी कला का निर्माण करते थे। यदि कोई अतिमानवीय चित्रण अभीष्ट
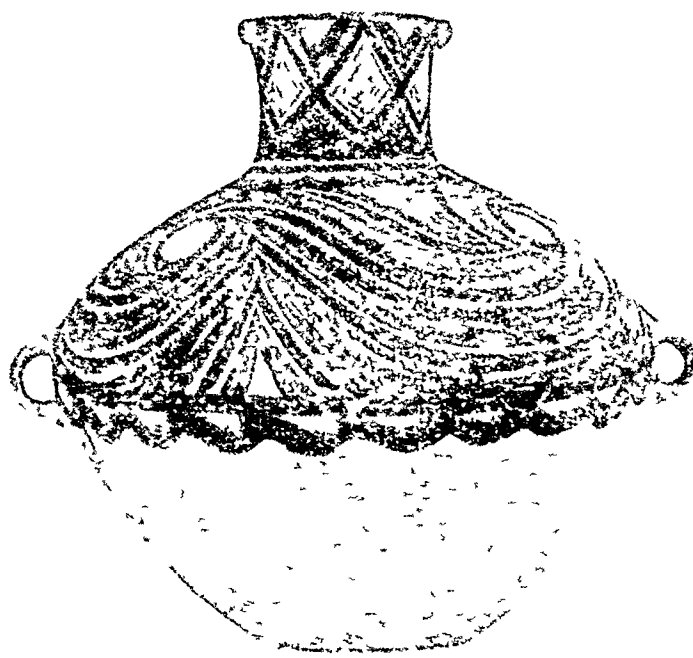
प्राक्-हान युग की चीनी कला का एक नमूना
यह पात्र काले और किरमिज़ी रंग की भँवरनुमा आकृतियों से अलंकृत है (समय लगभग ३००० ई० पू०)।

होता तो ग्रीस का कलाकार जो कुछ कर सकता था वह यही कि सामान्य आकृतियों की अपेक्षा वह इस बार कहीं अधिक दक्षतापूर्वक और पूर्णतम आकार-प्रकार की योजना करता। उसे यह कभी भान भी न हो पाया कि कलात्मक अभिव्यक्ति के और अन्य प्रकार भी हो सकते हैं, जो बाह्य निरीक्षण तथा अनुकरण पर उतने निर्भर नहीं होते जितने आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि एवं एक मनोवैज्ञानिक संयोजना पर! उसके लिए तो यह पर्य्याप्त था कि एक पूर्ण निर्दोष आकृति पूर्ण निर्दोष रीति से अङ्कित हो जाय। इसीलिए ग्रीसवालो ने अपने कला-निर्माण मे कभी कोई ऐसी बात लाने की चेष्टा न की जो साधारणतः इद्रियगोचर न हो अथवा बुद्धि द्वारा जिसका विश्लेषण या नाप-जोख न हो सके। इसके विपरीत पूर्वीय कलाकार के लिए जैसा आँखों को दिखाई देता है वैसा प्रकृति का चित्रण कोई मूल्य नहीं रखता। बाह्य रूप-रेखा के भीतर गहरा घुसकर वह उस तत्त्व को बाहर ले आना चाहता है जिसे वह सार-रूप अथवा उस वस्तु की सबसे बड़ी विशेषता समझता है—वस्तु के उस सच्चे रूप को, जिसकी कि उसने सर्वगम्य बाहरी भौतिक दृष्टि की अपेक्षा अपनी अन्तर्भूत उत्कृष्ट साधना के पश्चात् अनुभूति की है। वह अपनी आत्म-शक्ति द्वारा आध्यात्मिक चरम सत्य के यथार्थ रूप का साक्षात्कार करने की चेष्टा करता है और अंकित की जानेवाली कला-वस्तु की आत्मा में मानों अपनी आत्मा को डूबा देना चाहता है। इस प्रकार रचना-वस्तु की भावनाओ तथा वृत्तियों के अनुरूप ही वह अपनी भी भावनाओं का तारतम्य जोड़ने का प्रयास करता है। उसके लिए बाह्य आकृति का कोरा अनुकरण अथवा चित्र पर प्रकाश एवं छाया का खेल दिखाने की अपेक्षा विषय के भावों एव चित्तवृत्तियों को ग्रहण करना अधिक महत्वपूर्ण है।

२०००-३००० ई० पू० की चीनी कला का एक और नमूना
इस पात्र की सुंदर रचना पर ध्यान दीजिए।

कहते हैं कि वेनिस का महान् साहसिक यात्री 'मार्को पोलो' अपने समकालीन सुप्रसिद्ध इटैलियन चित्रकारों के कुछ चित्र कुबलाई ख़ाँ के दरबार में अपने साथ ले गया था। कुबलाई ख़ाँ ने उन्हे ग़ौर से देख अपने आश्रित चित्रकारों को बुलाकर उन चित्रों पर उनकी सम्मतियाँ माँगी। अधिकाश चित्रकारों ने तो एक विवेकपूर्ण मौन धारण कर लिया, किन्तु उनमें से सबसे बूढा बोल उठा, "जनाब, ये वे चित्र नहीं हैं जिन्हे हम चित्र कहते हैं, बल्कि ये तो 'दिवाल के झरोखे' कहकर सम्बोधित किए जा सकते हैं। इसका मतलब यह था कि जो भी चित्र दिखाए गए थे वे महज यथार्थ वस्तुओं के प्रत्याङ्कन मात्र थे—उनमें न तो चित्रित विषय के भाव की ही कोई झलक मिलती थी न उनका निर्माण करनेवाले चित्रकार के ही भावों या वृत्तियों की। कलाकार की आत्मा का प्रकृति की आत्मा के साथ यह एकीकरण, मानव चेतना का ईश्वरीय चेतना के साथ यह तादात्म्य, तथा उसी के फलस्वरूप अनावश्यक तत्त्वों को विलग कर इद्रियजनित अनुभूति को एक नवीन रूप देने का प्रयत्न ही पूर्वीय कला को पाश्चात्य कला से भिन्न कर देता है। 'पूर्व पूर्व ही है और पश्चिम पश्चिम, तथा इन दोनों का मिलाप कभी भी न होगा', इस कहावत की सार्थकता केवल यहीं दृष्टिगोचर होती है। जिन लोगों को पूर्वीय कला में बाह्याकृति के यथार्थ या हूबहू चित्रण का अभाव बुरी तरह खटकता है, वे इस तथ्य को भूल जाते हैं कि पूर्वीय एव पश्चिमीय कलाकारों के दृष्टिकोण एक से नहीं हैं। पूर्वीय कलाकारों ने यदि यथार्थ चित्रण की उपेक्षा की तो इसलिए नहीं कि वे यथार्थ का चित्रण कर ही नहीं सकते थे, बल्कि इसलिए कि उनके आदर्श और विचार ही भिन्न थे। इस बात पर कोई भी विश्वास नहीं कर सकता कि जिन लोगों ने उस पुरातन काल ही में, जबकि सभ्यता की आलोक रश्मियाँ योरप में पहुँच भी न पाई थीं, जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों मे अपनी प्रतिभा का उज्ज्वल परिचय दिया था, वे केवल इस एक ही विषय मे असफल रहे हों कि प्रकृति का स्थूल फोटो-
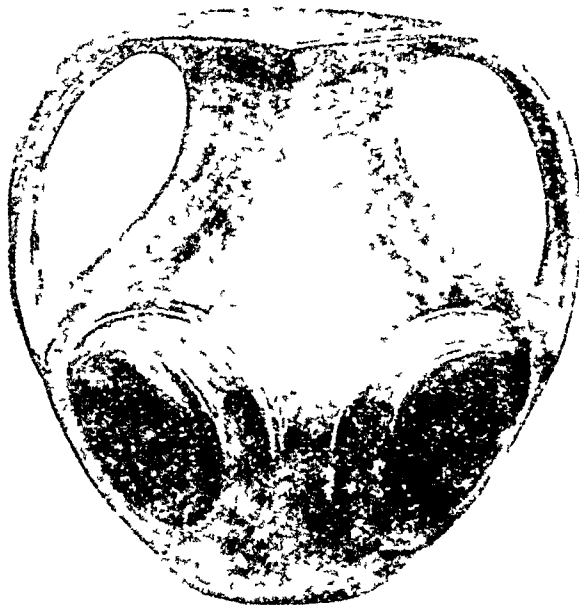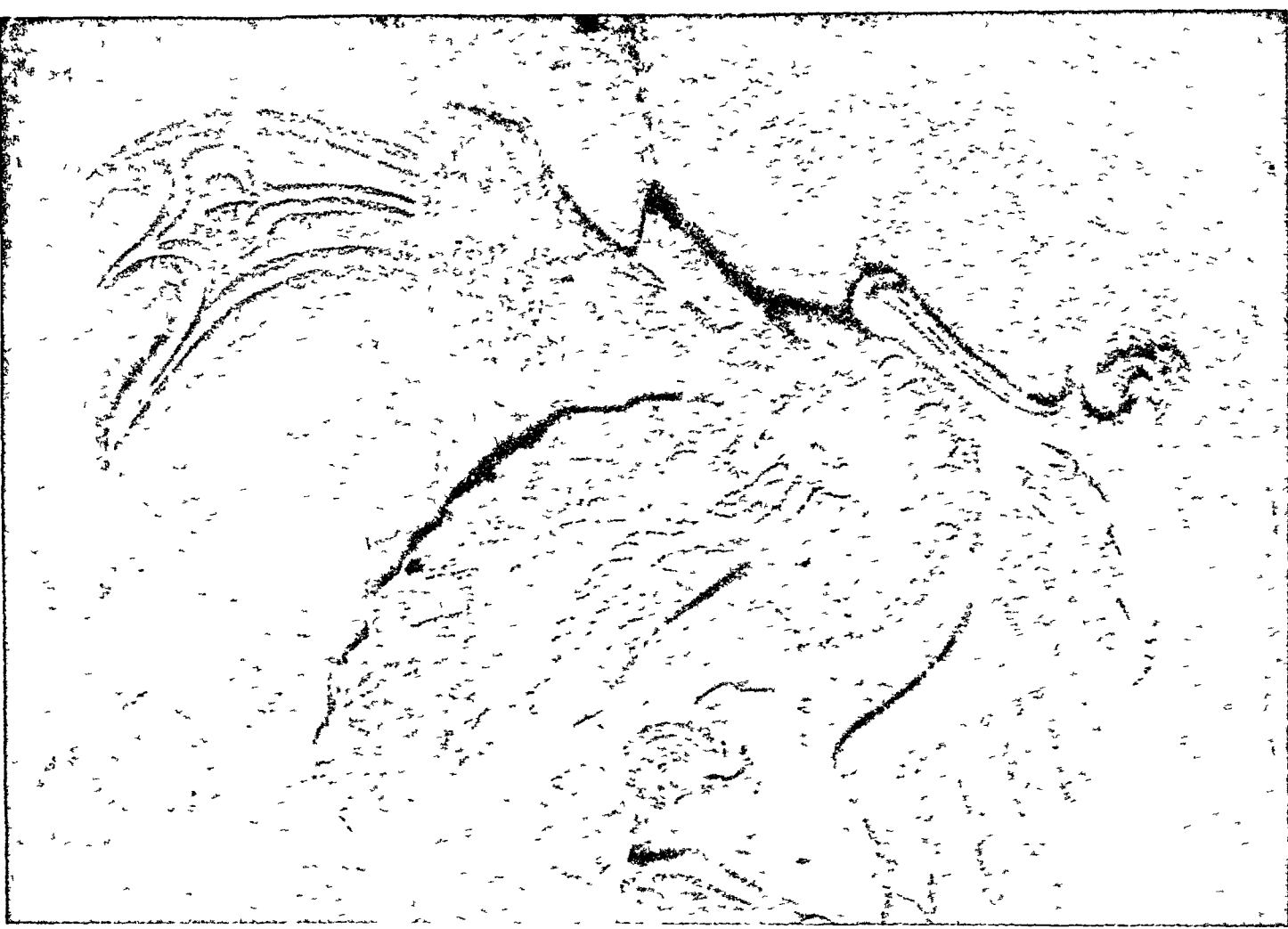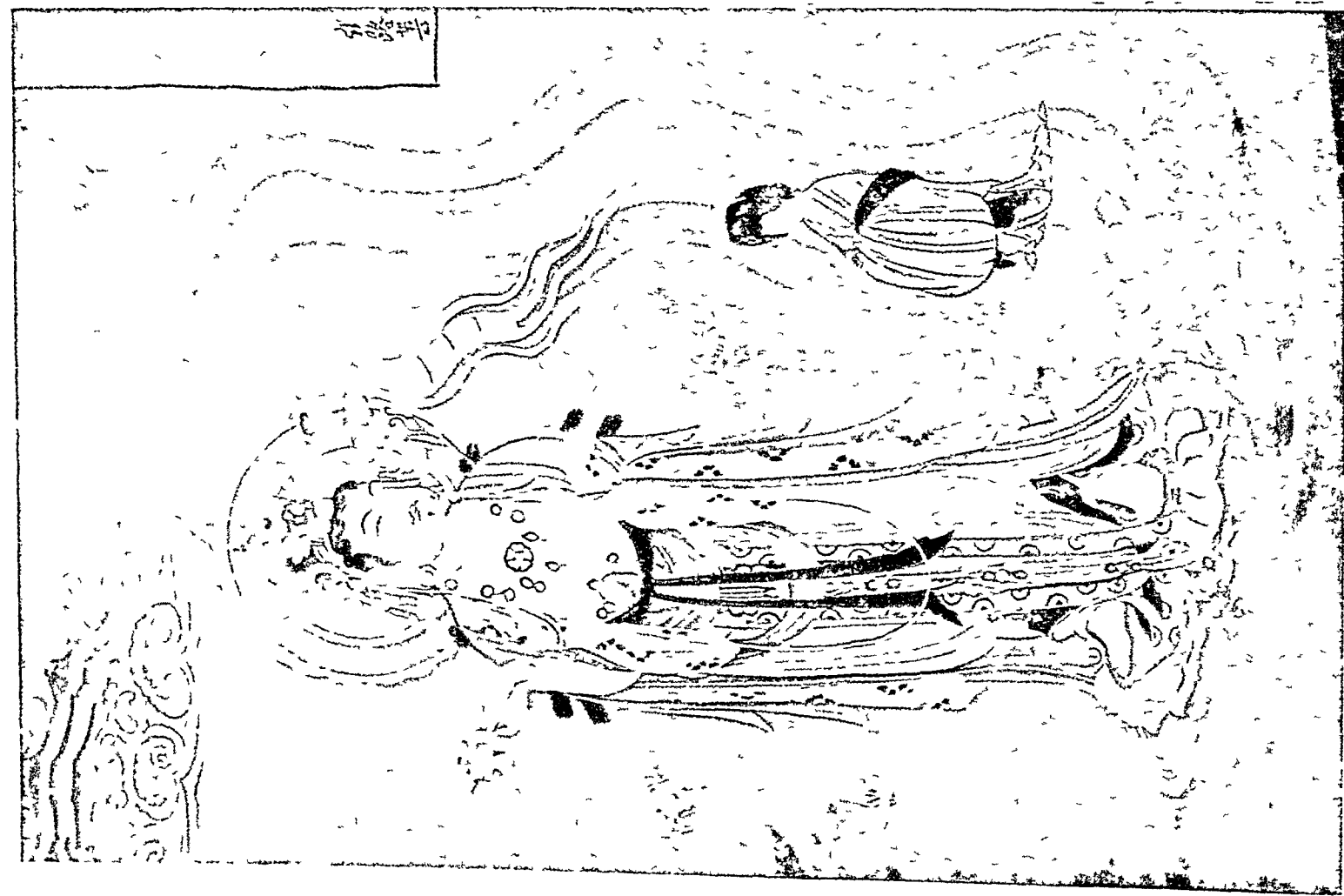
(ऊपर) हान वंश कालीन (२०६ ई० पू० से २२० ई० का) एक उत्कीर्ण पाषाण-चित्र।
(बाईं ओर) आत्मा के पथ-प्रदर्शक अवलोकितेश्वर का एक १० वीं शती का चित्र।
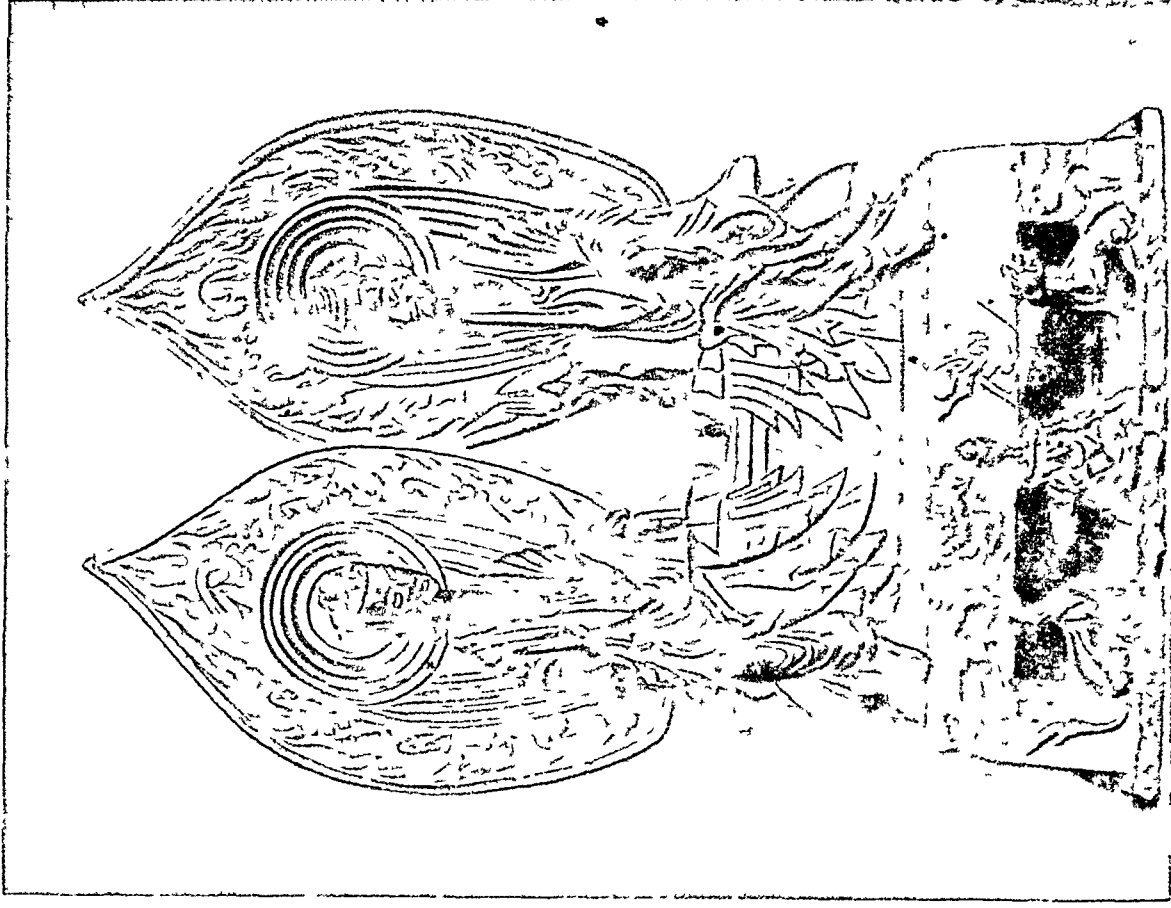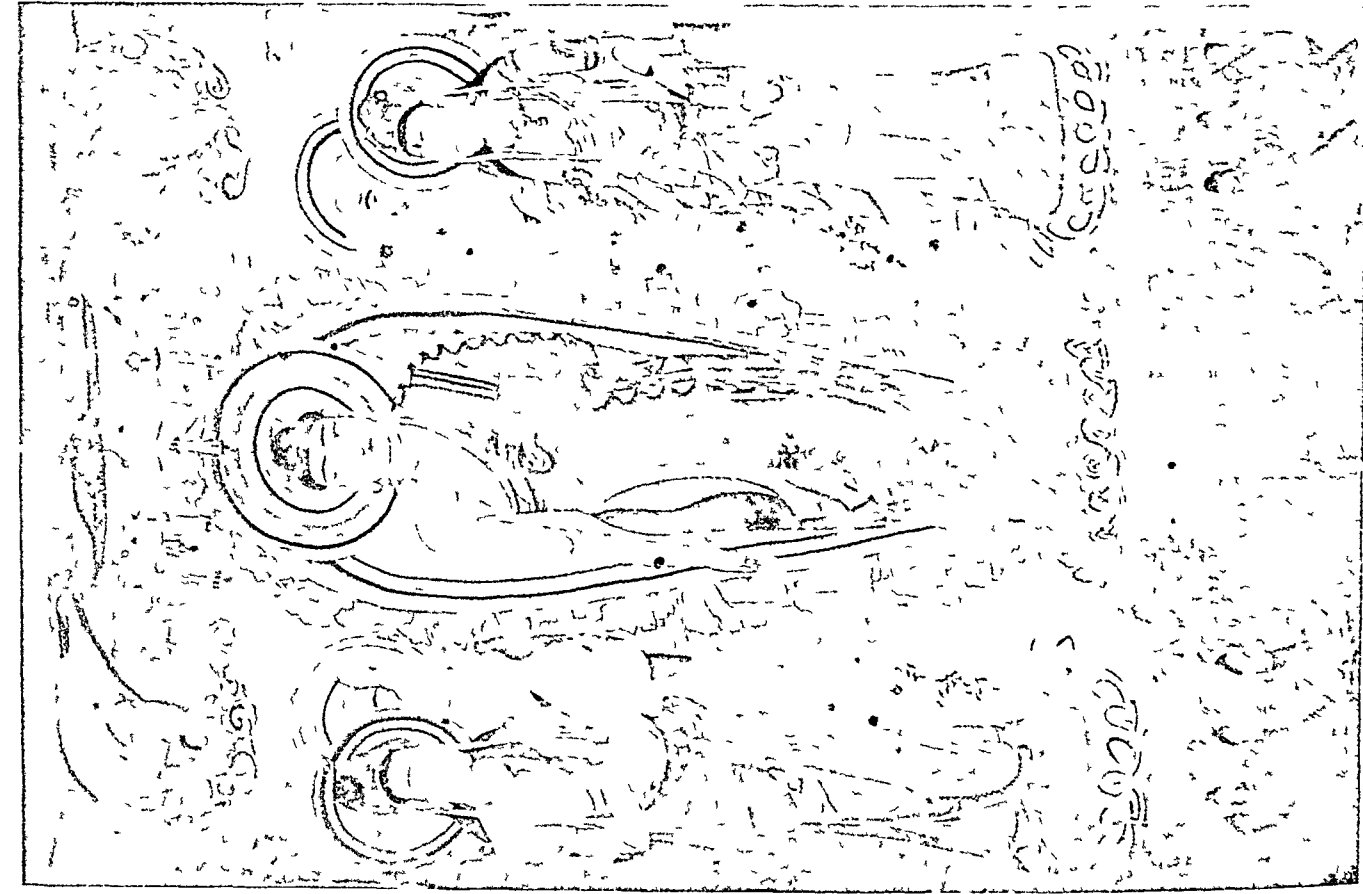
(ऊपर) वेई तारतार वश के युग की ५१८ ई० के लगभग की प्रभुतरत्न और शाक्य मुनि (बुद्ध) की कॉसे की एक सुन्दर प्रतिमा । (बाईं ओर) टैंग वश कालीन ८ वी या ९ वीं शती ई० के एक रेशमी छादपट्ट पर अंकित शाक्यमुनि का चित्र ।

जैसा चित्रण वे न कर सके हों ! बात यह नहीं थी कि वे इस तरह का चित्राङ्कण कर ही नही सकते थे, बल्कि यह कि इन्होंने कभी ऐसा करना ही न चाहा। आज के 'अभिव्यंजनावाद' 'छायावाद', 'सकेतवाद' अथवा 'प्रभाववाद' आदि जब शब्दो की सीमा मे बँध भी न पाए थे उससे बहुत पहले ही पूर्वीय कलाकारों ने यह भली-भाँति समझ लिया था कि इद्रियाँ जिसकी अनुभूति करती हैं वह इतना महत्त्वपूर्ण नही हैं जितना कि वह जिसकी कि अनुभूति हृदय द्वारा होती है। हृदय की भावनाओं का सवेदन ही वास्तव मे कलाकार के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है बनिस्बत इद्रियों के द्वार मे से छनकर ग्रहण किए गए प्रभाव के !

कला के प्रति चीन का दृष्टिकोण 'हशिये-हो' के छः सिद्धान्तों मे स्पष्टतया प्रकट कर दिया गया है; और उन सिद्धान्तों का कुछ विस्तारपूर्वक अध्ययन एकदम निरर्थक न होगा। यह कुछ विचित्र सी बात है कि 'हशिये हो' के इन सिद्धान्तों में से कुछ भारतीय चित्रकला के उन छः सिद्धान्तों से बहुत मिलते-जुलते हुए हैं जो वात्स्यायन के कामसूत्र पर यशोधर की टिप्पणी में उल्लिखित हैं (अध्याय ३ भाग १)।

'हशिये-हो' द्वारा प्रतिपादित चीनी कला के छः नियम निम्न प्रकार हैं—

(१) एक लययुक्त प्राण-शक्ति एव एक निजी जीवन-गति।

(२) विविध प्रकार के रेखाङ्कण मे तूलिका की साधना।

(३) रेखांकित रूप और यथार्थ वस्तुओ के साथ उसका सादृश्य।

(४) विविध वस्तुओं के अनुरूप रगों का चयन।

(५) रचना एव उपयुक्त वर्गीकरण।

(६) प्राचीन महान् कलाकारो की परंपरा का अनुसरण।

इन्ही की जोड़ के भारतीय कला के छः सिद्धान्त, जो षड्ङ्ग अथवा भारतीय कला के छः अङ्ग के नाम से जाने जाते हैं, निम्न श्लोक में व्यक्त है—

'रूपभेदाः प्रमाणाणि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्रं षडंगकम्॥'

अर्थात् (१) प्रकृति में देखी जानेवाली वस्तुओं की बाह्याकृति और कलाकार द्वारा चित्रित आकृतियों का रूप-भेद।

(२) नाप या प्रमाण।

(३) रसों अथवा भावों का चित्रण।

(४) प्रकृति की न्यूनता या अभाव की पूर्ति के हेतु चित्रण मे विशेष लावण्य का समावेश।

(५) सादृश्य—विशेषकर प्रसिद्ध कवियों या नाटककारों द्वारा प्रतिष्ठापित स्थायी संकेतों के अनुरूप चित्रण।

(६) रँगने की उपयुक्त शैली।

भारतीय एवं चीनी कला के विविध अंगों की गहरी चीर फाड विशेषकर इस समय अनुपयुक्त होगी। परन्तु यह तो हमें समझ ही लेना चाहिए कि चीनी कला के प्रथम सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ क्या है। क्योंकि निश्चय ही यही छः सिद्धान्तों मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है—शेष पाँच तो केवल कला के 'टेकनीक' से संबंध रखते हैं। कुछ अनुवादकों ने प्रथम सिद्धान्त का अर्थ 'जीवन-गति की अतरात्मा का संचरण' बताया है, दूसरों ने उसका अर्थ 'लययुक्त प्राण-शक्ति अथवा जीवन मे अभिव्यक्त लययुक्त आध्यात्मिक गति' के माने में किया है और कुछ अन्य 'वस्तुओं मे निहित लययुक्त गति के माध्यम द्वारा आत्म-तत्त्व की जीवन गति की अभिव्यजना' कहकर उसे अभिहित करते हैं।

"एक विशेष प्रकार की गति, लययुक्त जीवनी-शक्ति, और आध्यात्मिकता पर जो यह ज़ोर दिया गया है, उसमे और अभी हाल मे चित्रपट (canvas) में जीवन-गति, आकार-सम्बन्धी अभिव्यञ्जना और आत्मा की मूकवाणी के रूप में एक अमूर्त तत्त्व के होने की जो बात कही और लिखी जाने लगी है, उसमे बडी ही समानता है। किंतु प्रौढ़ विचारवालों के दृष्टिबिन्दु से जो बात सबसे अधिक मार्के की है, वह है चित्र मे जीवन का एक भाव होने पर ज़ोर दिया जाना। कला-सम्बन्धी विधारधारा मे हमें दो बृहत् समूहों में विभिन्न प्रकार के दो उद्देश्यों की धाराएँ प्रवाहित होती दिखाई देती है। एक मे केवल अपने आस-पास के जीवन का प्रतिबिम्ब उतारने की प्रवृत्ति है तो दूसरे में एक बिलकुल नई वस्तु के सृजन की, जिसमें अपनी ही एक निजी चेतना हो।

"चीनी कलाकार प्राकृतिक दृश्यों के प्रतिबिम्बमात्र के चित्रण अथवा अनुकरण को गौण मानते हैं। उनके मतानुसार तो कला का मुख्य लक्ष्य दृश्यों को प्रतिबिम्बित मात्र कर देने की अपेक्षा कलाकृति को जीवन के कुछ विशिष्ट गुणों से अभिभूत कर देना है—उसे एक गति, एक प्रेरणा और संवेदना की एक शक्ति से युक्त कर देना है। अन्यथा वे पूछते हैं कि 'सृजन' के फिर मानी ही क्या हैं ?

"दूसरे शब्दों मे कलाकार भाव के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर उस महातंत्री की लय के साथ एकतान हो जाता है जिससे समूची चेतन सृष्टि का निर्माण होता है।

सृष्टि के अन्तराल में से वह मानों सजीवनी प्राणवायु खींचकर लाता और उससे अपनी भौतिक कला-रचना को अनुप्राणित कर देता है।

"और जब उस भाव की प्राप्ति हमे हो जाती है तो हमे ऐसा अनुभव होने लगता है मानों हम जीवन के—न केवल अपने ही जीवन के बल्कि विश्व के जीवन के—निकट संपर्क मे आ गए हों"—(लारेन्स बिनयन कृत 'फ्लाइट ऑफ दी ड्रेगन' से)।

इस प्रकार 'हुशिए-हो' सौन्दर्य-क्षेत्र के उस छोर से बिल्कुल ही विपरीत दिशा से आरंभ करता है जो अरस्तू तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक के अन्य प्राचीन रूढिग्रस्त पाश्चात्य सिद्धान्तवादियों के लिए सबसे महत्वपूर्ण रहा है। उसके लिए यह ग्रीक सिद्धान्त समझना कठिन होता कि 'कला अनुकरण मात्र है' तथा कलाकार को इसी का अनुसरण करना चाहिए।

चित्रों में एक लययुक्त जीवनी शक्ति के होने का यह विचार सभवतः चीनी मस्तिष्क में इस कारण भी दृढ रूप से जम चुका था कि चीनी कलाकार एक विशेष प्रकार के माध्यम का ही अपने चित्रो में अनिवार्य रूप से प्रयोग करते थे। चीनी चित्र वास्तव मे तरल जल-मिश्रित रगों द्वारा तूलिका से अकित चित्रों के सिवा और कुछ नहीं हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त रगों की तरलता ने तूलिका के स्वाभाविक लोच के साथ मिलकर चित्र मे एक गतियुक्त चेतनता का गुण लाने की धारणा को और भी दृढ कर दिया था। इसके विपरीत तैल-मिश्रित रगों अथवा दूसरे किसी भी माध्यम द्वारा चित्रकारी करने की विधि मूलतः इस लोच और गतिशीलता के भाव से एकदम प्रतिकूल पड़ती है। तैल-मिश्रित रग स्वभावतः ही चिकट होता है और उसके द्वारा चित्रकारी करने की विधि बहुत अधिक परिश्रम मॉगती है। तैल द्वारा कोई भी कलाकार कभी भी वैसी लहरदार मधुर भाव से युक्त चित्रकारी नही कर सकता जो कि चीनी या जापानी उत्कृष्ट चित्रों में लक्षित होती है। जल-मिश्रित रग तैलीय रगो से कही अधिक सूक्ष्मतर, तरलतर और भावसूचक होते हैं; और चीनी चित्रकला की सारी शक्ति ही भावों के निदर्शन मे है न कि तथ्य-वस्तु के यथार्थ प्रत्याङ्कण या अभिलेखन में। चीनी चित्र चूँकि अधिकाश मे रेशमी पट पर ही बनाए जाते हैं अतएव उनमे बाद मे किसी भी प्रकार के सुधार के लिए गुंजाइश नहीं रहती। वे या तो पूर्ण रूप से सफल चित्र होंगे या फिर एकदम ही असफल। चित्रकार अपना चित्र अंकित करने के पहले चाहे हजारों तरह से निर्धारित विषय का अभ्यास कर ले किंतु जहाँ चित्र को अतिम रूप में अंकित करने का समय आया वहाँ एकदम एक ही धारा-प्रवाह मे बिना किसी तरह के सुधार-बिगाड़ या सशोधन के उसे अपनी कृति को समाप्त कर देना होगा। उसकी यह कृति एक विशुद्ध आनन्द एवं प्रयास-हीन धारा-प्रवाह की ही उपज होनी चाहिए। बजाय इसके कि उसकी यह कलाकृति एक लंबी कालावधि के कठोर परिश्रम का परिणाम हो, वह ऐसी होनी चाहिए मानो चित्रकार की अन्तरात्मा में उदित आध्यात्मिक मनोभाव का ही साररूप प्रतिबिम्ब विस्तृत होकर उसकी आत्मा से सीधे रेशमी पट पर अकित हो गया हो। एक सुप्रसिद्ध चीनी चित्रकार के विषय मे यह कथा प्रसिद्ध है कि इसके पूर्व कि उसने अपने आपको चित्रण-कला का अधिकारी समझा, वह अपनी खिड़की के कागज़ी परदे पर चन्द्रमा की रोशनी से बॉस की पत्तियों की गिरती झिलमिल छाया के चित्रण में ही चौदह वर्ष तक लगा रहा। यह आध्यात्मिक तैयारी, निरतर मनन और चिंतन द्वारा सत्य के अंतिम स्वरूप को छानने का यह कठोर प्रयास, पश्चिम में शायद ही कहीं पाया जा सकता है—यह केवल पूर्व की ही अपनी विशेषता है।

'सरसों का बगीचा' (Mustard Seed Garden) नामक चित्रकला पर लिखे गए एक चीनी प्रबन्ध में चीनी चित्रकार किस प्रकार चित्रकारी किया करते थे, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है—"कलाकार वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करता है और अपने मस्तिष्क मे उस निरीक्षण का फल सचित रखता है। वह एक रूप की कल्पना करता है और उस मनोवाछित विषय की कल्पना को अपने मस्तिष्क मे साकार रूप देने के पश्चात् वह उसे बड़ी फुर्ती के साथ सधी हुई तूलिका से रेशमी पट पर उतार लेता है। तूलिका की इस प्रकार की सबल चेतनायुक्त अनुपम साधना द्वारा इस कला से जिस व्यक्तिगत एव अभूतपूर्व भाव का सदेश प्रेरित किया जाता है वह दर्शक की निगाह में एकदम ही बहुत ऊँचा जॅच जाता है।" उसी प्रबन्ध में यह भी कथन है कि "जहॉ कलाकार की तूलिका का स्पर्श न भी हुआ हो वहॉ भी उसके विचार की छाप तो रहती ही है।"

"साकेतिकता के मूल्य पर दिया जानेवाला यह जोर—यह मौन भाव-प्रदर्शन", चीनी कला के सुप्रसिद्ध विशेषज्ञ बिनयन के अनुसार, "विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि किसी भी अन्य कला ने, चीनी कला की तरह, शून्य को भी चित्र में विशेष अर्थयुक्त बनाने की खूबी को नहीं समझा है।

करवाल

उत्तरी भारत की एक ख़ानाबदोश और जरायम-पेशा जाति

हिन्दुस्तान में जितनी ख़ानाबदोश और जरायमपेशा जातियाँ हैं उतनी सम्भवतः और कहीं नहीं हैं। ऐसी जातिवालों की सख्या हिन्दुस्तान मे दस लाख से ऊपर है। ये भारतवर्ष भर मे फैली हुई हैं और यद्यपि इनमें से अधिकांश कई स्थानों मे स्थायी रूप से बस गई हैं, तो भी एक तादाद ऐसी जातियों की भी है जो परिवारों के समूह बनाकर जीविका की खोज मे घूमती रहती हैं और जब ईमानदारी से जीविकोपार्जन नहीं होता तो छोटी-छोटी चोरियाँ तथा ऐसे गम्भीर अपराध भी करती हैं जिनमे कभी-कभी हिंसा का भी प्रयोग करते वे नही चूकतीं।

ऐसी जातियो मे से अधिकांश, जिनकी ख़ानाबदोशी की आदते अब भी मौजूद हैं, औरतों, बच्चों और अपने छोटे-छोटे सामान को लिये हुए एक गाँव से दूसरे गाँव तथा एक ज़िले से दूसरे ज़िले मे घूमती रहती हैं और प्रायः वे ऐसे केन्द्रों में जाने के लिए, जहाँ उन्हे व्यापार या अन्य कार्य मे अधिक सफलता की आशा हो, लम्बी-लम्बी दूरियाँ तय करते हुए देखी जाती हैं।

इन ख़ानाबदोशों और जरायमपेशा जातियों से गाँव के शान्तिप्रिय कृषकों तथा नगर-केन्द्रों के लिए निरन्तर बढते हुए ख़तरे के कारण इन जातियों को खेती के कारबार मे लगाने या उनके लिए जीविका के अन्य कोई साधन जुटाने के लिए सरकार को भिन्न प्रकार की कार्रवाइयाँ करनी पडी हैं। और यद्यपि मोघिया, बेडिया तथा बौरी सरीखी जातियो ने व्यवस्थित जीवन ग्रहण कर लिया है फिर भी बहुत-सी ऐसी भी जातियाँ हैं जिन्हे व्यवस्थित जीवन की बात अथवा किसी ख़ास पेशे को जीविकोपार्जन का साधन बना लेने की बात ज़रा भी पसन्द नहीं है और उनके चरित्र पर संस्कार से ही पड़ी हुई घुमक्कड़ जीवन की छाया उन्हे एक जगह से दूसरी जगह घूमते-फिरते रहने के लिए निरंतर प्रेरित करती है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि पुलीसवालो की एहतियाती कार्रवाइयों और उनकी कडी निगरानी से इन जातियों की अपराध की प्रवृत्तियों का काफी शमन हुआ है। फिर भी जब-तब वे पुलिस को चकमा देने मे सफल हो जाती हैं और सीधे-सादे लोगों को अपनी कुचेष्टाओं का शिकार बना लेती हैं।

एक करवाल युवक (फोटो—लेखक द्वारा)

सम्भव है कि ये ख़ानाबदोश और जरायमपेशा जातियाँ शुरू-शुरू मे किसी एक नस्ल की ही रही हो, किन्तु आज वे कई नस्लों के मिश्रण-सी जान पड़ती हैं। भाँतू, साँसिया और करवाल लोग कमोवेश एक से

देख पड़ते हैं और यद्यपि वे मुण्डा, सन्थाल तथा उत्तरी भारत की वैसी ही प्राक्द्राविड़ नस्ल की अन्य जातियों से मिश्रित हो गयी हैं फिर भी अपनी शारीरिक रूप-रेखा मे उन्होंने कुछ ऐसी विशेषताएँ क़ायम रखी हैं जिनसे वे आसानी से पहचान ली जा सकती हैं कि वे औरों से भिन्न हैं। नटों और कजड़ों मे ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जिनकी शारीरिक बनावट आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों जैसी होती है। उनका रग सॉवला, नाक चपटी, ओठ मोटा, माथा पीछे की ओर धॅसा हुआ तथा ठुड्डी छोटी होती है, किन्तु साफ रग, नुकीली नाक, ऊँचा माथा और लम्बे शारीरिक बनावट के पुरुष भी आम तौर से उनमें पाये जाते हैं। बहेलिए लोग नटों से सुन्दर देख पड़ते हैं, किन्तु नटों की स्त्रियाँ सामान्यतया सुन्दर होती हैं, जिसकी वजह से नटों को अपनी लड़कियो के व्यभिचार द्वारा जीविकोपार्जन करना सुगम हो जाता है। बहेलिया एक वीर जाति है और साधारणतः इनमे ऐसे पक्के शिकारी निकलते हैं जो कि शिकार की टोह लगाने और शिकार खेलनेवालों के लिए रास्ता दिखाने का काम करते हैं। युरोपियन और भारतीय शिकारियों ने एक मत से बहेलिया जाति को एक बढिया खिलाड़ी, वीर, साहसी और मिलनसार जाति माना है।

सभी ख़ानाबदोश जातियाॅ भारतीय समाज में बदनाम नहीं हैं। क्योंकि बॉसफोर या बॉसोर सरीखी ऐसी बहुत-सी जातियाॅ भी पायी जाती हैं जो बॉस की चीजें तैयार करती हैं, टोकरियाॅ और चटाइयाॅ तथा इसी तरह की और चीज़े बनाती हैं और भंगियों का काम करती हैं। वे ईमानदारी की जिन्दगी बिताती हैं और वे लोग जिनके यहाॅ वे काम करती हैं उन्हे क़तई सदेह की दृष्टि से नहीं देखते। चिड़ियामार बहेलिया लोगों का निकटतम सम्बन्धी होता है। देहात के बाज़ारों अथवा शहरों मे उसे देखकर लोग प्रसन्न होते हैं। वह चिड़ियों को जाल मे फॅसाकर अथवा निशाना मारकर लाता है और लोगों को बेच देता है। डोम लोग भंगी का काम करते हैं, चूहे वग़ैरह भी खा जाते, जल्लाद का पेशा करते, टोकरी बनाते, और अन्य नीच काम करते हैं। वे पेशेवर सेंध मारनेवाले होते हैं। वे अधिकतर भारत की आदिम जातियों के निम्नवर्ग के लोग हैं और इसीलिए इस देश पर आक्रमण करनेवाले भारतीय आर्यों ने इन जातियों को नीच और हीन पेशे अख़्तियार करने के लिए मजबूर कर दिया था। आधुनिक भारत के आर्थिक ढॉचे में अनेक दृष्टियों से डोम अपने को अनुपयुक्त पाते हैं। डोम का पेशा ऐसा होता है कि उसके कारण उसे अपने साथ-साथ गदहे रखने पड़ते हैं और उसका दर्जा उन गदहों से बेहतर नहीं समझा जाता। "कंजड़ उसका कुत्ता चुरा ले जाता है, गूजर उसके मकान को लूट लेता है, किन्तु हज्जाम मुफ्त में ही उसकी हजामत बना देता है" इस कहावत में औसत दर्जे के डोम का बड़ा ही उपयुक्त वर्णन है। हिमालय के इस ओर के प्रदेश में डोम लोग क्रीतदास (Serf) का काम करते हैं। आज भी उनका काम मानों दूसरों के लिए "जंगल से लकड़ी काटकर लाना और कुएँ से पानी खींचकर लाना' ही है। उन्हे कोली या कोल्टा कहते हैं और वे चौबीसों घटे पिसते रहने और हमेशा के लिए दास बने रहने के लिए बाध्य हैं।

करवाल बालकों का एक समूह (फ़ोटो—लेखक द्वारा)

नट एक दिलचस्प ख़ानाबदोश जाति है। इसके रस्सी पर चढकर नाचने के खेलों से गॉवों और क़स्बों के लोगों का मनोरञ्जन होता है। जहाॅ पर ये लोग डेरा डालते हैं वहाॅ वे या तो रस्सी पर नाचनेवालों अथवा नर्तकों के रूप मे सामने आते हैं अथवा दाॅत या पुरानी बीमारियों के वैद्य तथा गाॅव के नामर्द हो जानेवाले लोगों में फिर से मर्दानगी लानेवाली दुष्प्राप्य औषधियों के विक्रेता के रूप में बाहर निकलते हैं। उनकी दवाइयाॅ जड़ी-बूटियों की होती हैं जिनका वे एक अनुभवी दुकानदार के ढग पर आकर्षक प्रदर्शन करते हैं। वे दलाल रखते हैं, जो कि गाॅववालों

में उनकी दवा का बखान करते हैं। ये लोग भाग्य चमकानेवाले तावीज़ भी बेचते हैं। इनमे से कुछ कीड़े लगे हुए दाँतों के कीड़े निकालने मे दक्ष होते हैं। इसके लिए वे सूखी जड़ी का प्रयोग करते हैं, जिसे वे ख़राब मसूढ़े में छुआते हैं। इनमे से कुछ जादूगरों और ओझाई का काम भी बड़ी आसानी से कर लेते हैं और भूत-प्रेत के असर से बचाव के लिए लोगों में उदारतापूर्वक तावीज़ बाँटते हैं, जिससे उन्हें अपने मे लोगों का विश्वास जमाने मे मदद मिलती है। वे अपने साथ ज़िन्दा साँप भी रखते हैं और अपने पास रखी हुई जादू की जड़ी को साँप से धीरे-धीरे छुआकर बड़ी चतुरता के साथ उसका विष मुग्ध दर्शकों की भीड़ के सामने खींचकर बाहर निकालते हैं। जिस गाँव या क़स्बे मे वे ठहरते हैं वहाँवालों का वे काफ़ी मनोरञ्जन करते हैं। लेकिन जिस समय वे वहाँ से चल देते हैं तब बहुत-से परिवारों के लोगों को यह पता चलता है कि उनके ठहराने का उन्हे क्या मूल्य चुकाना पड़ा है!

एक करवाल प्रौढ़ पुरुष (फोटो—लेखक द्वारा)

कंजड़ उन जातियों में हैं जो कि उत्तर भारत में सब से अधिक फैली हुई हैं और जिनकी पुराने ज़माने मे यजमानियाँ थीं, जिससे कि जिन गाँवों मे होकर वे गुज़रती थीं और उनका मनोरञ्जन करती थीं वहाँ के लोग उन्हे एक अवधि के भीतर एक निश्चित बँधी हुई रकम देते थे। कंजड़ परिवारों की यजमानियाँ अलग-अलग बँटी हुई थीं और हरएक परिवार के पास कुछ गाँव होते थे, जिनमें वह समय-समय पर उगाही पाता था। कंजड़ लोग गायक और नर्तक के रूप में इतने लोकप्रिय थे कि गाँववाले उन्हे रुपये-पैसे और कभी-कभी पशु भी भेंट करते थे। आजकल नाचने और मनोरञ्जन करने के पेशे आमदनीवाले पेशे नहीं रह गए हैं और अनेकों कंजड़ परिवार या तो खेतीबारी का धन्धा अपनाकर बस गए हैं या गाँव मे चोरी करके जीविका चलाते हैं। इन जातियों की आम पोशाक पुरुषों के लिए एक कुर्ता और पायजामा तथा स्त्रियों के लिए लहँगा और कुर्ता होती है। ये लोग अनेक प्रकार की चीज़े खाते हैं। बाजरा, फल, जंगल के कन्दमूल और चिड़ियाँ, जिन्हे वे चतुरता से फँसाते हैं, आम तौर पर इनका रोज़ाना का खाना है। किन्तु वे सभी प्रकार के जानवरों को, यहाँ तक कि मेढक, साँप, गोह वग़ैरह तथा बदबूदार सड़ा मास खाते हुए भी सुने गये हैं। वे साँप, छिपकली और गृद्धों के मास को सुरक्षित रखना जानते हैं और यद्यपि वे इन्हे खाते नहीं, परंतु इनकी चर्बी या तेल निकालते हैं जिसे या तो वे लोगों को बेच देते हैं या ख़ुद अपने इस्तेमाल मे लाते हैं। इनमे से अधिकांश बड़े पियक्कड़ होते हैं और अपनी शराब की प्यास बुझाने के लिए भारी कर्ज़ों मे फँस जाते हैं।

यद्यपि मारवारिया अथवा लोखुटा, कंजड़, सतिया, बहेलिया तथा चिड़ियामार सरीखी ख़ानाबदोश और जरायम-पेशा जातियों का अपराधों के कृत्यों से जीविकोपार्जन करना ख़ानदानी पेशा है फिर भी वे ग्रामीणों की कारीगरों के रूप मे सेवा करते हैं और गाँववाले उन्हे और उनके डेरे देखकर प्रसन्न होते हैं। मनोविनोद एवं मनोरञ्जन के अभाव में गाँवों का जीवन बड़ा सूना और नीरस हो जाता है। इसलिए गाँव के पड़ोस मे इन जातियों के आ जाने से पर्याप्त मनोरञ्जन का साधन जुट जाता है। लोहार सरीखी कुछ जातियाँ औज़ार-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए निश्चित अवधि के बाद आती हैं। इसी भाँति घूम-घूमकर नाचनेवाले नर्त्तक, रस्सी पर चढ़नेवाले मदारी, हकीम व जर्राह, दाँत के वैद्य, भाँट, ज्योतिषी आदि भी ग्रामीण जीवन की कई महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। गाँववाले जहाँ इन जातियों से अपने बच्चों की रक्षा करने का तथा माल-असबाब पर उन्हें हाथ न लगाने देने का बड़ा ख़याल रखते हैं, वहाँ वे स्वेच्छा से उनकी परवरिश के लिए चन्दा भी करते हैं और बहुत-से गाँववालों के तो इन ख़ाना-

बदोशों मे परम मित्र और प्रेमिकाएँ आदि भी होती हैं।

नागरिक केन्द्रों—मुख्यतया शहरों और कस्बों—से सम्पर्क होने और साथ ही देहातो मे रेलवे, सड़कों और बाजारों के खुल जाने से ग्रामीण जनता के दृष्टिकोण में क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप आज का ग्रामीण सन्दिग्ध और चालाक हो गया है और अपने अधिकारो और अपनी सुविधाओं की रक्षा का बहुत ध्यान रखने लगा है। इसलिए ख़ानाबदोश और जरायमपेशा जातियाँ केवल ग्रामीणों के शोषण से जीविका चलाने मे अधिकाधिक कठिनाइयाँ अनुभव कर रही हैं। इन जातियों में ऐसे समूहों की सख्या, जो कि पेशेवर जातियों के रूप मे बसती जा रही हैं, बराबर बढ़ती ही जा रही है। चूँकि पेशेवर जातियों के सदस्यों के रूप में जीविकोपार्जन के अवसर सीमित हैं इसलिए इस जाति के अधिकांश परिवारों पर महाजनों का बहुत ज्यादा ऋण लद गया है जो कि इन ख़ानाबदोश जातियों को दिल खोलकर कर्ज़ देते हैं। इनमें से कुछ जातियों के लोग तो अपनी पत्नियों और बहुओं को भी छोटे-छोटे कर्ज़े के लिए इन महाजनों के पास बन्धक रख देते हैं और कर्ज़ चुका देने के बाद फिर उन्हें महाजनों से छुड़ाकर वापस ले लेते हैं। बन्धक रखने की इस अवधि में यदि कोई सन्तान उत्पन्न हो जाय तो उसे महाजन के पास ही छोड़ दिया जाता है जो दास के रूप मे उसका भरण-पोषण करता है अथवा उसे गोद ले लेता है। इन ख़ानाबदोश जातियों के अपराध के कार्यों के प्रोत्साहन और समर्थन के लिए ये महाजन कहाँ तक उत्तरदायी हैं इसकी जाँच निस्सदेह मनोरञ्जक होगी, जबकि संगठित लूट और डाकाज़नी के द्वारा इनमे से कुछ जातियों का जीविका-निर्वाह हो सकता है—जैसा कि उत्तर भारत के भाँतू जाति के लोगों का। इस कार्य में ख़तरे भी बहुत हैं और इन ख़ानाबदोश जातियों में से अधिकाश जातियाँ छोटी-मोटी चोरी-छिछोरी के कामों पर गुजर करती हैं। इनमें से अधिकांश जातियाँ अपने को राजपूतों की सन्तान बतलाती हैं जिनकी कुछ विशेषताएँ इनमें मिलती हैं, यद्यपि इन जातियों के बहुसख्यक समूह विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से बने हुए हैं।

ख़ानाबदोश और जरायमपेशा जातियाँ अध्ययन के लिए एक जटिल क्षेत्र उपस्थित करती हैं। इस अध्ययन में केवल सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक और धार्मिक समस्याएँ ही नहीं बल्कि नस्ल-सम्बन्धी समस्याएँ भी सम्मिलित हैं। ख़ास ख़ास जरायमपेशा जातियों का क्रमबद्ध अध्ययन न केवल उनके जातीय सगठन, लोगों के स्वभाव और उनकी आदतों, उनका सामाजिक सगठन, धार्मिक रीति-रिवाज तथा उनकी मनोवृत्ति—जो कि स्वतः एक मनोरञ्जक सामग्री है—को समझने के लिए ही बल्कि देश के सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन में उनका क्या स्थान है इसे समझने के लिए भी ज़रूरी है। अगले पृष्ठों में मैं सक्षेप में करवाल लोगों का जीवन वर्णन करूँगा। यह युक्तप्रान्त की एक मनोरञ्जक जरायमपेशा जाति है और आबादियों तथा आबादी से बाहर दोनों ही जगहों पर रहती है। अगले लेख में मैं दो और महत्वपूर्ण जरायमपेशा जातियों के सांस्कृतिक जीवन का विवरण दूँगा।

करवाल नवयुवतियों का एक समूह (फो०—लेखक द्वारा)

करवाल अपने को राजपूतों की सतान बताते हैं। करवालों का शारीरिक गठन निस्सन्देह इस बात का द्योतक है कि उनका सम्बन्ध राजपूतों से है, यद्यपि उनमें बड़े पैमाने पर निम्न नस्लों के रक्त का भी सम्मिश्रण पाया जाता हैं। किम्वदन्तियों और प्राचीन काल से चली आनेवाली कथाओं से यह पता चलता है कि के[illegible]दोआब के बेरिया उत्तरी दोआब के गिडिया, हाबुरा और भाँतू, मथुरा और भरतपुर के कंजड़ तथा राजपूताना के धारकुला लोग और करवाल लोग एक ही पूर्वज के वंशज हैं।

यद्यपि इन कपोल-कल्पित कथाओं से राजपूतों के साथ करवाल लोगों का वास्तविक रक्त-सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता, किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऊपर जिन विभिन्न जरायमपेशा जातियों का उल्लेख किया गया है वे नस्ल की दृष्टि से एक ही स्तर की हैं, जिनमे परस्पर थोड़ा-बहुत मिश्रण हुआ है। इनमें से प्रत्येक जाति अपने भीतर ही विवाह करनेवाले दो तीन गोत्रों मे बॅटी हुई है, यद्यपि जरायमपेशा बस्तियों मे विवाह के नियमों का पालन अधिकतर उनके उल्लघन मे ही किया जाता है।

सॉसिया लोगों की तरह करवाल लोग विभिन्न जातियों की नाबालिग़ लड़कियों को भगा ले जाया करते हैं। इसलिए उन्हे विवाह-सम्बन्धी अपने जातीय नियम के बंधन मे पड़ने की ज़रूरत ही नही होती। इस बात का पता चला है कि ये लोग अपनी लड़कियों को ऐसे ग्राहको के हाथ बेच देते हैं जो कि उनकी सुन्दरता के कारण उनसे विवाह कर लेते हैं। किन्तु अधिकांशतः ये लड़कियॉ लोगों को ठगने मे इनकी सहायक होती हैं अथवा छिपे-छिपे व्यभिचार का जीवन व्यतीत करती हैं। अन्ततोगत्वा उनके पति उन्हे निर्लज्जतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करते हैं, जिसके लिए बचपन से ही उन्हे शिक्षा मिली होती है।

दो करवाल स्त्रियाँ (फो०—लेखक द्वारा)

कुछ करवाल भॉट या चारणों का काम करते पाये जाते हैं और ऐसे जाट या राजपूत कबीलो के साथ रहते हैं जिनके पूर्वजों की यशोगाथा वे कठस्थ किये रहते हैं। उनके विवाह साधारणतया पडोस तक ही सीमित होते हैं—साधारणतः जाने-सुने परिवारों के ही भीतर। उनकी बस्तियों मे बहुत-से परिवारों में निकट सम्बन्धियों मे वैवाहिक सम्बन्ध इतना अधिक बढ़ गया है कि वह कई दृष्टियों से अस्वास्थ्यकर मालूम होता है। करवाल समाज मे फूफा को बहुत महत्त्व प्रदान किया जाता है और समाज की ओर से पिता के स्थान पर फूफा ही अपने भतीजे का अभिभावक स्वीकार किया जाता है। जामाता साधारणतः अपने ससुराल के परिवार का सदस्य होकर रहता है और बहुत-से परिवारो मे विवाह अथवा मृत्यु-सस्कार के उपचार उसी के द्वारा सम्पन्न होते हैं। करवाल लोगों मे दूसरी जयरामपेशा जातियों की तरह स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम होती है और यही कारण है कि करवाल लोगो को वधू का बहुत भारी मूल्य चुकाना पड़ता है। जब तक कोई करवाल तीन सौ से लेकर पॉच सौ रुपये तक नही ख़र्च कर सकता तब तक उसके लिए विवाह करना सम्भव नही और बहुतों को तो इसकी दुगनी और तिगुनी रकम तक ख़र्च करनी पड़ती है।

करवाल लोगों में विवाह की रस्म बहुत सीधी-सादी होती है। उनके विवाहो मे ख़ूब डटकर सुरापान किया जाता है। दल का मुखिया वर के मस्तक पर तिलक लगाता है। इसके बाद वह अपनी सास के पास ले जाया जाता है जो कपडे और चॉदी देकर उससे भेट करती है। वर को एक घोडे पर बैठाकर घर-घर ले जाया जाता है। प्रत्येक परिवार को उसे कुछ-न-कुछ रक़म भेट करनी पड़ती है—चाहे वह चॉदी का सिक्का हो या कोई एक कपड़ा हो, और प्रत्येक परिवार से कम-से-कम एक आदमी को इस बारात मे शामिल होना पडता है। इस प्रकार जो धन संगृहीत होता है वह भोज मे ख़र्च किया जाता है, जिसमे मांस और मदिरा का विशेष प्रयोग होता है। पति के कबीले मे पत्नी का नियमित रूप से प्रवेश वैवाहिक उपचार का सबसे महत्वपूर्ण अग माना जाता है और इसके लिए करवाल, सॉसिया और कजड़ लोग साधारणतया एक मनोरञ्जक ढंग से काम लेते हैं। करवाल लोगों का कहना है कि पहले ज़माने में क़बीले मे वधू के प्रवेश के उपलक्ष्य में मनुष्य की बलि दी जाती थी, किन्तु आजकल मनुष्य के स्थान पर पशुबलि से ही काम चलाया जाता है और

बलिपशु के रुधिर में मदिरा मिलाकर वर-वधू के पान करने पर दम्पति का विवाह सम्पन्न समझा जाता है। जैसा कि कञ्जड़ लोगों में प्रचलित है, वर के कबीले मे वधू का मिलन भुने हुए मास के टुकड़े को खिलाकर भी किया जाता है। यह गोश्त साधारणतया बकरे का जिगर होता है। वर अपने गोश्त के टुकड़े का एक कौर काटता है और वधू से दूसरे आधे भाग को इसी प्रकार काटने के लिए कहता है। वधू स्वेच्छा से ऐसा नहीं भी कर सकती है उस समय वर दाँत से काटे हुए गोश्त के टुकड़े को अपने दाँतों मे पकड़ रखता है और उसके दूसरे भाग को वधू के मुख मे रखने का प्रयत्न करता है। इसके परिणाम-स्वरूप दोनों की शक्ति की परीक्षा होती है और एकत्रित भीड़ का पर्याप्त मनोरञ्जन होता है। विवाह-संस्कार का वह अश जो वर-वधू को एक सूत्र मे बाँधता है 'फेरा' कहलाता है। विवाह की निश्चित तिथि को वर अपने मित्रों के एक दल के साथ आ पहुँचता है और यदि वधू शान्तिपूर्वक आत्मसमर्पण नहीं करती तो बलपूर्वक युद्ध मे पकड़ने के उद्देश्य का स्वाँग रचा जाता है। वर पड़ोस में प्रतीक्षा करती हुई वधू को सहसा आकर पकड़ लेता है, भीड़ के सामने घसीटकर ले जाता है और विवाहस्थल के लट्ठे के चारों ओर उसे ७ बार घूमने के लिए विवश करता है और उसके मस्तक पर एक लाल रग की टिकुली लगा देता है। यही क्रिया बाजाप्ता दम्पति को एक दूसरे से संयुक्त करती है।

तलाक़ के मामले एकदम विरले हों या बहुत कम हों ऐसी बात नहीं है। अनमेल विवाह, परित्याग अथवा कर्तव्य-विमुखता की दशा मे पत्नी ही सर्वप्रथम तलाक की कार्रवाई शुरू करती हुई पाई जाती है। किन्तु, यदि अपने वैवाहिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में वह निर्धारित क़बीले के नियमों का उल्लंघन करती है, जैसा कि वह अक्सर करती रहती है, तो दो कारणों से उसकी अधिक आलोचना नहीं की जाती। पहला कारण यह है कि इन जातियों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत कम होती है, इसलिए क़बीले में उनकी बड़ी माँग रहती है। दूसरा कारण यह है कि स्त्री जुर्म के कामों में उनका हाथ बँटाती है और पुरुष अनैतिक उद्देश्यों की पूर्त्ति मे उसका उपयोग करते हैं। लोगों को धोखा देकर जाल में फँसाने तथा गुप्त रूप से लोगों के घर का भेद मालूम करने में तथा संगठित चोरी-डकैती में इनकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। जहाँ ठगी तथा लोगों को बदनामी का भय दिखाकर उनकी धन-सम्पत्ति ऐंठने के लिए स्त्रियों को अन्य पुरुषों से मिलने-जुलने की स्वतन्त्रता रहती है वहाँ ऐसे सौदे के एक अग के रूप में कुछ निश्चित सीमा तक स्वच्छन्दता स्वीकार करनी ही पड़ती है और इस प्रकार करवाल लोगो मे विवाह-बन्धन के बाहर अतिरिक्त सम्बन्ध की स्वच्छन्दता एक स्वीकृत नियम बन जाती है। यदि कोई स्त्री अपने पति को छोड़कर किसी दूसरे पुरुष से विवाह करना चाहती है तो उस पुरुष के शादी के ख़र्च के सम्बन्ध मे पहले पति के सम्बन्धियों को हर्जाना देना पड़ता है। दूसरे पति के लिए यह आसान बात नहीं है, क्योंकि शादी काफी ख़र्चीली होती है और शादी के ख़र्च के हर्जानों मे काफी भारी रक़म देनी पड़ती है। किन्तु दोनों पक्षों द्वारा पावने में कमी करने के लिए अपनी सुसगठित और दृढ पचायत से लाभ उठाया जाता है।

मृत्यु तथा मरणोत्तर क्रिया के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न रीति-रिवाज उनमें कई संस्कृतियों के सम्मिश्रण के द्योतक हैं। जहाँ-कहीं क़बीले के लोगों का मुसलमानों से सीधा सम्पर्क है वहाँ वे अपने मृतकों को गाड़ते हैं और जहाँ हिन्दुओं का प्रभाव प्रधान है वहाँ वे हिन्दुओं मे प्रचलित रिवाजों के अनुसार ही मुर्दों को जलाते हैं। मृतक के मुख मे अथवा ललाट पर सिक्के या पैसे रखने का आस्ट्रोलॉइडों मे पाया जानेवाला रिवाज करवाल लोगों में आम तरीक़े से प्रचलित हैं। मृतक के शरीर का शिरोभाग पश्चिम की ओर और पैर पूर्व की ओर रखा जाता है। जामाता को, जिसे कि गाड़ने अथवा दाहक्रिया सम्बन्धी कार्यों में प्रमुख भाग लेना पड़ता है, चार दिन तक घरवालों से अलग रहना पड़ता है। इस अवधि मे वह स्वय अपने हाथ से अपना भोजन बनाता है और उसका एक भाग मृतात्मा को समर्पित करता है। गाड़ने अथवा दाह-क्रिया के चौथे दिन क़बीले के लोगों को गाँव के चन्दे से एक भोज दिया जाता है। मांस और मदिरा मे सबसे अधिक व्यय किया जाता है। मृतक के मित्रों को अर्थात् उन लोगों को, जो कि शव की टिकठी को श्मशान तक ले जाते हैं, दाह-सस्कार के बाद ३०वें दिन परिवार की ओर से खाना खिलाया जाता है।

सॉसिया और कजड़ लोगों की तरह करवाल भी काली आदि देवियों तथा विभिन्न भूत-प्रेतों में विश्वास करते हैं जो कि उनके विश्वास के अनुसार उनके जीवन और चरित्र को प्रभावित करते हैं। उनके देवी-देवताओं के समूह में मुसलमान पीर अथवा धार्मिक साधु-महात्माओं का भी महत्वपूर्ण स्थान है और 'अदृष्ट का भय' ही उनकी पूजा

का मुख्य सिद्धान्त है। सर्पदेवी की भी पूजा की जाती है और तावीज़े तथा बूटियाँ भुजाओ पर बाँधी जाती है ताकि सर्पदंश से ये लोग सुरक्षित रहे। अमावस्या के बाद प्रथम रात्रि बहुत शुभ समझी जाती है और प्रत्येक ऐसी रात्रि के अवसर पर काली को पूजा और बलि चढाई जाती है। इसके बाद वे चोरी अथवा डकैती के लिए बाहर निकलते हैं। उनमे ओझा और वैद्य भी होते हैं जो कि भूत-प्रेतो को सिद्ध करते और उनके द्वारा पैदा की गई यातनाओं से छुटकारा दिलाते हैं।

करवाल लोगों मे पचायत का दृढ शासन है। जाति अथवा दल के विरुद्ध किये गये अपराध की कड़ी सज़ा दी जाती है और अपराध का निर्णय करने के लिए मनोरञ्जक तरीक़े काम मे लाये जाते हैं। चरित्रभ्रष्ट स्त्री को अपने को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए लोहे के एक गर्म टुकडे को अपनी हथेली पर सात पत्तियों के ऊपर रखना पड़ता है और उसे लेकर सात क़दम आगे चलना होता है। यदि उसकी हथेली जल जाय तो वह अपराधिनी घोषित कर दी जाती है। जब ये लोग डाका डालते हैं तो ख़ज़ाने को गाँव से दूर किसी स्थान पर गाड़ देते हैं और जब तक कई महीने नहीं गुज़र जाते तब तक वे उसे नहीं खोदते ताकि वे इन चीज़ो को रखने के कारण पकड़ न लिये जायँ। उनका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। वह दो तीन प्रान्तो मे फैला हुआ होता है। उनका सगठन इतना पक्का है कि वर्षों तक पुलिस को उन्हे पकड़ने मे असफल होना पडा है और उनके डाकुओ के दल अरसे तक अपना काम करते रहे हैं। इनमें से कुछ दलों का नेतृत्व स्त्रियाँ करती हैं और ऐसा देखा गया है कि उनका प्रभाव दल के सदस्यों पर उनके ही समानवाले पदों के पुरुषों से कहीं अधिक होता है। वे कलवार, सुनार आदि की मार्फत लूट के माल को वेचते हैं। पहचान के किसी चिह्न को उड़ा देने के लिए इनकी सहायता का महत्त्व निर्विवाद है।
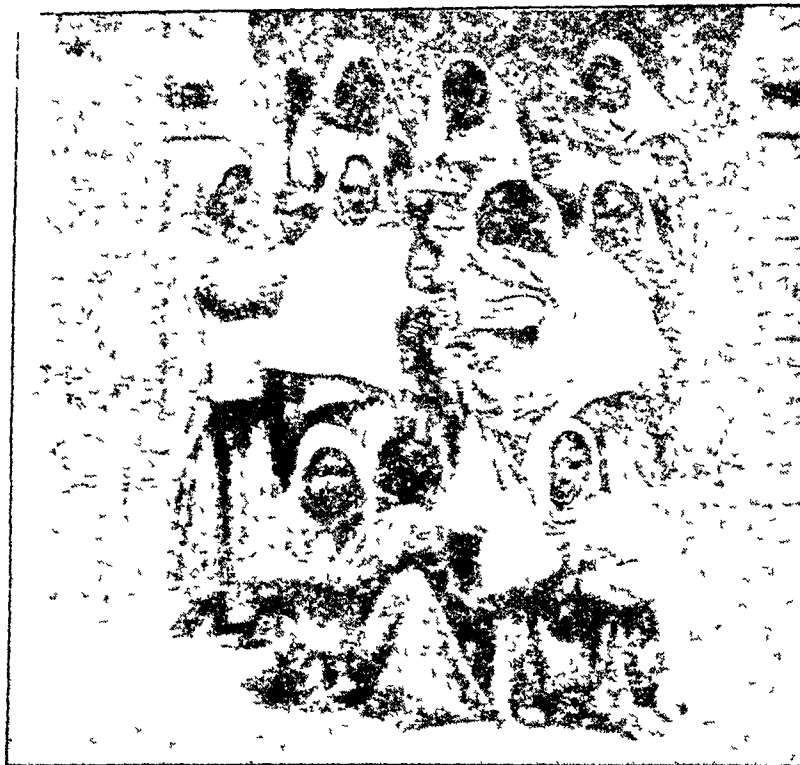
जब दल का कोई सदस्य मर जाता या घायल हो जाता है अथवा अपाहिज हो जाता है तो नेता से उसे पेंशन मिलती है और इसके लिए शरीर के विभिन्न अंगों से लेकर प्राणहानि तक के हर्जाने की एक विस्तृत तालिका होती है। पचायत की यह ज़िम्मेदारी होती है कि वह क़बीले अथवा स्थानीय समूह के भीतर शान्ति क़ायम रक्खे। और सदस्यों से जैसे अनुशासन की माँग की जाती है वह कभी-कभी आदर्श की सीमा पर पहुँच जाता है यद्यपि उसका उद्देश्य अपराधात्मक होता है। ये लोग अनेको स्थानीय बोलियाँ बोलते हैं और पुलिस के सिपाही, साधु और यहाँ तक कि सरकारी अफ़सरों का भी भेष बना लेते हैं और कभी-कभी आश्चर्यजनक ख़ूबी के साथ वे अपना पार्ट अदा करते हैं। करवाल लोगों को बकरे के मांस से विशेष रुचि होती है और जब वे एक साथ मिलते हैं तो अवश्य ही एक बकरे को मारते हैं जो कि कभी-कभी उनके लिए प्राण-घातक प्रमाणित हुआ है, क्योंकि इसके द्वारा पुलिस को उनकी टोह लगाने मे सहूलियत हुई है। जब वे दूसरों की उपस्थिति मे आपस मे बातचीत करते है तो आम तौर से प्रचलित शब्दों मे नये प्रत्यय जोड़कर और अक्षर-समूहो को निकालकर उनका स्वरूप ही बदल देते हैं जिससे कि दूसरो की समझ मे उनकी बोली अबूझ बन जाती है। करवाल बच्चे अपने पेशे की चालाकियाँ, चोरी और सेंध मारना अनुभव से सीख लेते हैं। ऐसा वे अपने बड़ों की नक़ल करके और साधारणतः अपने माता-पिता की ही देख-रेख मे करते हैं, किन्तु माता-पिता बाल्यकाल से ही उन्हे आत्मरक्षा की बातों—जैसे सच-सच न बतलाना, अपने भाई-बहनों को न फँसाना, एक व्यक्ति के अपराध को सामूहिक उत्तरदायित्व का रूप देना आदि—की शिक्षा स्वयं देते हैं। पिता से पुत्र के रक्त मे किस हद तक अपराध की प्रवृत्ति आती है यह खोज का विषय है। किन्तु यदि अपराधात्मक आचरण का उत्तरदायित्व परिस्थिति पर है तो समाज का कर्त्तव्य है कि वह इस तरह के लोगो के उद्धार का उपाय करे।

करवाल स्त्रियों का एक समूह (फो०—लेखक द्वारा)
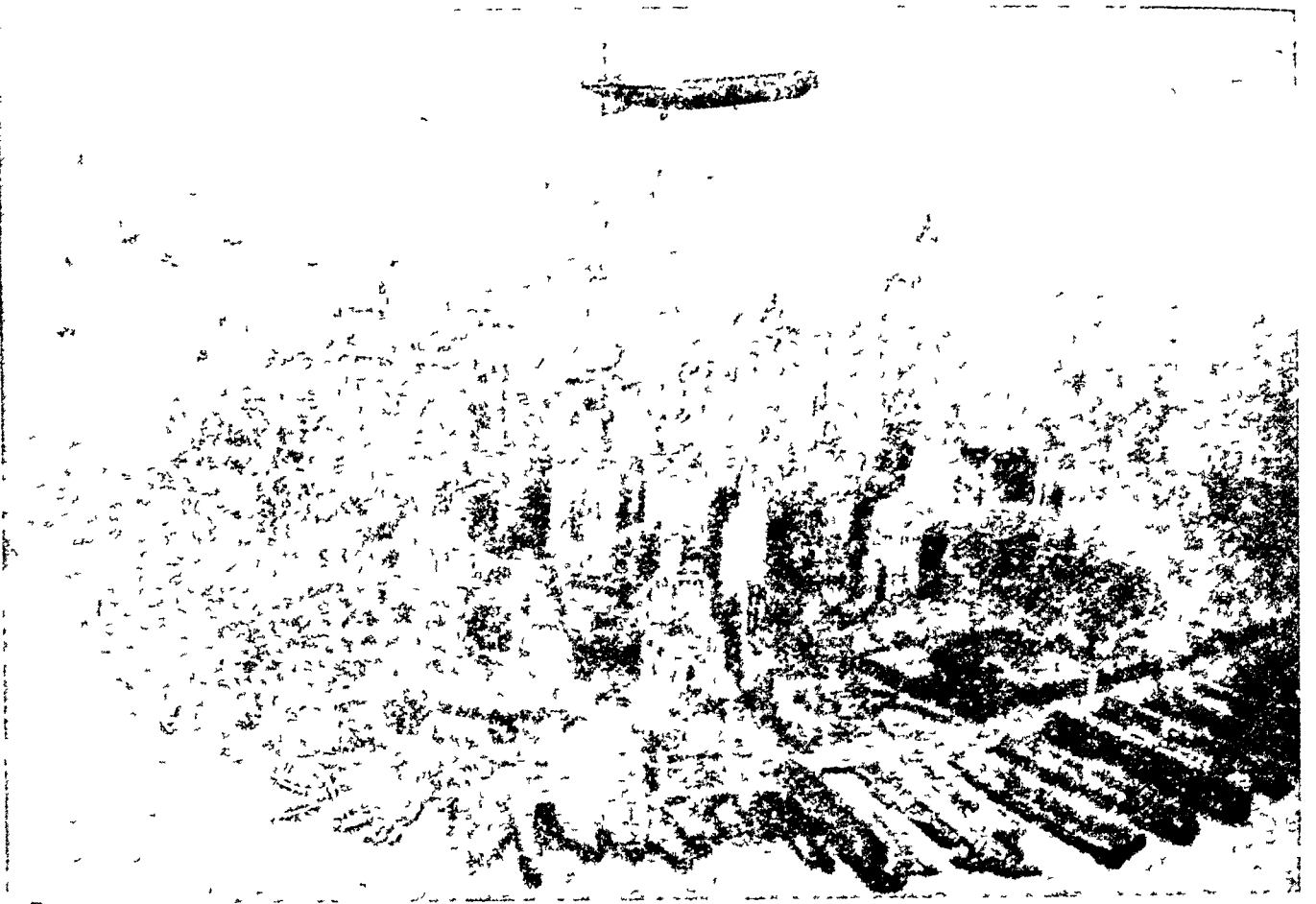
(ऊपर) अपनी ऐतिहासिक यात्रा से वापसी के समय ससार के सबसे बडे नगर न्यूयार्क की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं पर अपनी छाया डालते हुए मॅडरा रहा 'ग्राफ' जैप्लिन। नीचे न्यूयार्क के विशाल बंदरगाह में बडे-बडे जहाज़ ऐसे दिखाई पड़ रहे हैं मानों मामूली किश्तियाँ हों। पृष्ठभूमि मे ससार की सबसे ऊँची इमारत 'एम्पायर स्टेट बिल्डिंग' अपना मस्तक उठाए मानों 'ग्राफ' को छू लेना चाहती है। (बाईं ओर) उड़ान के पूर्व डा० एकनर अपने पुत्र के साथ वायुपोत की तेल की टंकियों की जाँच कर रहे हैं।

वायुपोत द्वारा सर्वप्रथम पृथ्वी-परिक्रमा

केवल इक्कीस दिन में पृथ्वी के चारों ओर घूम आनेवाले साहसिक डाक्टर एकनर और उनके 'ग्रॉफ ज़ैप्लिन' की रोमाञ्चक कथा

अगस्त ८, १९२९, का प्रातःकाल। उत्तरी अमेरिका का लेकहर्स्ट नामक हवाई-स्टेशन। हज़ारों स्त्री-पुरुषों की भीड़। मैदान मे ससार का सबसे बडा वायुपोत 'ग्रॉफ ज़ैप्लिन' अपना दैत्याकार शरीर फैलाए पड़ा है। लोग उत्सुक निगाह से उस विशालकाय तुम्बे की ओर आँखे गड़ाए हुए हैं। बच्चे बूढ़ों के कधों पर चढे उस तुम्बे को देख लेने की अपनी भूख मिटा रहे हैं तो युवक भीड़ को चीरकर उसके नज़दीक ही पहुँच जाने के प्रयत्न मे हैं। वायुपोत के चारों ओर अजीब हलचल मची हुई है। कोई उसमे तेल भरने मे संलग्न है तो कोई पानी। कुछ लोग आवश्यक वस्तुएँ लेकर रख देने ही मे तत्पर हैं। वायुपोत के नज़दीक ही एक शिष्ट समुदाय भी खड़ा है जो एक वृद्ध किंतु मांसल व्यक्ति को घेरे हुए है। यही वृद्ध कैप्टन ह्यूगो एकनर हैं, और इनके साथ ही खडे हैं कुछ तेजस्वी युवक भी एक प्रसन्न मुखमुद्रा लिये। सबकी आँखों मे साहस और निश्चय की सूचना है। प्राणों की बाज़ी लगाकर जिन्होने समय-समय पर प्रकृति के दुर्गम प्रदेशों को आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए सुगम बना दिया, जिन्होंने उसके एकछत्र शासित साम्राज्य पर धावा बोलकर उसमे मानव की भावी यात्रा के लिए नई-नई पगडंडियाँ निकाल लीं, उन्हीं वीर पुरुषों की अनेक टोलियों मे से एक टोली यह भी है। यह टोली वायुपोत द्वारा सर्वप्रथम पृथ्वी की परिक्रमा करने पर उतारू है, और यद्यपि संसार उनकी सफलता के बारे मे अभी सशंकित ही है, परंतु उनके अपने मन मे न तो ख़तरे का ही भय है न असफलता की ही रत्ती भर आशका।

ठीक समय पर एक संकेत हुआ और एकनर अपने दल सहित वायुपोत के अन्दर चले गए। अब वायुपोत के उड़न-खटोलो के झरोखों मे से निकले उनके चेहरे ही दिखाई देते थे। नीचे खडे हुए लोग हर्षित हो उन्हे बिदा दे रहे थे और वे सकृतज्ञ सबके प्रति धन्यवाद प्रकाशित कर रहे थे। दूसरा सकेत होते ही वायुपोत के रस्से खोल दिए गए। अब यह भीमकाय यान धीरे-धीरे ज़मीन से ऊपर उठने लगा और लोगो की आँखें भी उसके साथ ही मानों ऊपर की ओर खिंचती चली गईं। ऊपर उठते ही वायुपोत की रफ़्तार तेज़ हुई और वह आसमान में ज़ोरों से मॅडराने लगा। वह अब बहुत ऊँचा उठ चुका था और एक दिशा विशेष की ओर बढ़ने लगा था। उसका आकार इस समय घटकर एक बड़े लम्बे कद्दू की शक्ल का हो गया था। कुछ समय और बीता और 'ग्रॉफ' लोगों की आँखों से ऐसा ओझल हो गया, मानों क्षितिज ने बादलों की तरह उसे भी अपने उदर मे सदा के लिए निगल लिया हो।

यों अच्छे मौसम मे छोटे-छोटे वायुपोतों मे डा० एकनर इससे पहले न जाने कितनी छोटी-छोटी उड़ाने ले चुके थे, किंतु इतने भारी भरकम वायुपोत मे, जिसमे कि सैकड़ों गैलन केवल तेल ही भरा हो, एक लम्बी—सारी दुनिया की—उड़ान लेना दुस्साहस नही तो और क्या था! किंतु जिसने अपनी जिज्ञासा को महत्व दिया उसने मुसीबतों की कब चिंता की? साहसी व्यक्ति तो घोर आँधी, बवंडर और तूफ़ान मे भी अपनी नाव निश्चिंत होकर छोड़ देता है।

तो फिर आइए, हम लोग भी ग्राफ के साथ ही हो लें। इस समय वह एक मील प्रति मिनट की रफ़्तार से भागा चला जा रहा है। मौसम की अनुकूलता ने उसकी गति को और भी स्वच्छन्द बना दिया है। एक के बाद एक वह सर्राटे से नए-नए मैदान मार रहा है। जिस रफ्तार से वह एक के बाद दूसरे प्रदेशों मे प्रवेश कर रहा है, मौसम भी उसी तरह पलटता जा रहा है। अभी आकाश स्वच्छ है तो

थोड़ी देर मे घना कुहरा और फिर वर्षा भी। इन्ही मुसीबतों को चीरते हुए यह वायुपोत अब अमेरिका से योरप की ओर उड़न लगा। लेकहर्स्ट से जर्मनी के फ्रेड्रिकशेफन तक की ४२०० मील की हवाई उड़ान, बीच मे एटलांटिक की विस्तृत जलराशि और थमने या उतार के लिए कहीं ज़मीन का नाम भी नहीं! किंतु एकनर को अमेरिका से योरप तक की यह कुदान एक मामूली खिलवाड़-सी मालूम हुई। इसके पहले १६२८ में इसी वायुपोत को बिना कहीं रोके जर्मनी से अमेरिका को और वहाँ से पुनः वापिस जर्मनी ले जाकर उन्होंने एटलांटिक पर विजय प्राप्त कर ली थी। अतएव इस बार भी बिना किसी उल्लेखनीय घटना के सही सलामत 'ग्राफ' मातृ प्रदेश जर्मनी पहुँच गया। लेकहर्स्ट से फ्रेड्रिकशेफन तक का ४२०० मील का फासला केवल ५२॥ घंटों के ही अल्प समय मे उसने पार कर लिया। रास्ते भर समुद्र की सतह पर अपनी यात्रा तय करते हुए भिन्न-भिन्न देशों के जहाज इस आकाशगामी सहयोगी को वायरलेस द्वारा स्थान-स्थान पर बधाई का सदेश देते रहे। वे विशालकाय जलपोत 'ग्राफ' के यात्रियों को आसमान मे अपनी उच्च स्थिति से ऐसे छोटे और खिलौनेनुमा दिखाई पड़ते थे मानों पानी की सतह पर कुछ काग़ज़ की किश्तियाँ तैर रही हों!

फ्रेड्रिकशेफन के हवाई बन्दरगाह मे ग्राफ को मज़बूर होकर तीन चार दिन विश्राम करना पड़ा। यहीं उसे फिर से तेल-पानी से लैस होना था। १५ अगस्त को वह फिर आसमान की ओर उठा और मातृ-प्रदेश से बिदा हो अपनी यात्रा के उस अनजान और अज्ञात पथ पर अग्रसर हो गया जो क्रमशः उसे शेष योरप और एशिया के वक्षः-स्थल की पूरी चौड़ाई को नापकर पैसिफिक के दरकिनारे जापान तक ले जाने को था।

एशिया की यह उड़ान—फ्रेड्रिकशेफन से टोकियो तक की यह यात्रा—यदि आसान नही, तो भी कम-से-कम लुभावनी तो अवश्य थी। किंतु एशिया की भौगोलिक स्थिति की जब तक पूरी-पूरी जानकारी सुलभ न हो, तब तक हजारों फीट ऊँचे मीलों लबे पहाड़ों और निर्जन प्रदेशों को किस तरह पार किया जाय? फिर भी उत्तरी साइबेरिया के ही रास्ते से अपनी यात्रा करने का दृढ विचार एकनर ने कर लिया। यूराल के बाद जिन अनूठे दृश्यों ने उनका स्वागत किया उनसे मानों मुसीबतों के बावजूद भी उनकी यात्रा सुखद ही रही।

रूस और उसके बाद साइबेरिया का मैदान! अब ज़ैप्लीन की रफ्तार, देखिए, और भी तेज हो गई। किंतु यह क्या, नीचे पृथ्वी पर तो भयकर आग लगी है! मीलों तक लपटे उठ रही हैं। दावानल से मैदान भभक रहे हैं। धुएँ ने कई वर्ग मील जमीन को ढँक रक्खा है। आँखे फाड़ने पर भी नीचे की ज़मीन का एक कतरा भी नहीं दिखाई पड़ता। चालीस-पचास मील तक बेचारों को धुएँ की हवा खानी पड़ी। यदि इस जगह कहीं वायुपोत फट पड़ता तो क्या होता!

आग के बाद पानी की बारी आई—वर्षा का नहीं, असख्य झीलों मे भरा हुआ पानी। तालाबों की मानों क्तारे लगी हों, मानों किसी ने उन्हें यहाँ परिश्रमपूर्वक खुदवाया हो! और इसके बाद ही आया एक भयानक ऊजड़-सा प्रान्त। किसी प्राणी के कभी वहाँ पैर भी पड़े होंगे, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। साइबेरिया का यह प्रदेश क्या था मानों पृथ्वी से इतर कोई मानवजनरहित नवीन लोक था।

अब वे ओब नदी के ऊपर से चले जा रहे हैं। मौसम यदि प्रतिकूल नहीं तो एकदम साफ भी नहीं है। नदी के दोनों ओर दलदल बिछा हुआ है। आवाज के नाम पर केवल ज़ैप्लीन के इजिनों की घर्र-घर्र ही सुनाई देती है। रात हो चली है, इसलिए बिजली की रोशनी से उसका अन्दर का भाग जगमगा उठा है। दल के सब लोग निश्चिंत होकर खाना खा रहे हैं, हँस-बोल रहे हैं। किंतु नीचे का दलदल तमाम रात और दूसरे दिन के सवेरे ६ बजे तक साथ रहा। ज़रा अन्दाज़ लगाइए, दलदल का यह मैदान कितने मील तक फैला होगा!

साइबेरिया के इन दलदलों को पार कर लेने पर चुपचाप बहती हुई येनिसी नदी के दर्शन हुए। वातावरण में यहाँ की सहज गम्भीरता के अलावा कोई भयानक बात न दिखाई दी। इससे यह आशा तो अवश्य हो चली थी कि अब फिर से बस्तियों और मनुष्य के दर्शन होंगे। किंतु मीलों गहरे घुसने पर भी कहीं मकान, आदमी अथवा इस सुन्दर नदी में चलती हुई एक डोंगी तक का कोई चिह्न उन्हे न मिल सका, जो इनके इन सुन्दर दृश्यों को जीवन से अनुप्राणित कर देता।

तब एकाएक कुछ फूस की झोपड़िया नजर आई। वायुपोत का यह बड़ा-सा थैला ज्योंही उन झोपड़ियो के निवासियो ने देखा, एक अजीब दृश्य प्रस्तुत हो गया। खट-खट दरवाज बन्द हो गए और सब अपनी-अपनी झोपड़ियो मे घुस गए! चार-पाँच गाड़ियाँ भी, जो दिखाई दे रही थीं, वायुपोत की घर्र-घर्र सुनकर डर के

आकाश में अपनी लंबी मंजिल को तय करता हुआ 'ग्राफ जैप्लिन'

(ऊपर) 'ग्रेफ' की सफल यात्रा की समाप्ति का दृश्य। लेकहर्स्ट के हवाई स्टेशन पर एकत्रित उत्सुक जनता डा० एकनर को उनकी सफलता पर बधाई दे रही है। वायुपोत के उड़नखटोले की खिड़की में से नीचे खड़े लोगों से हाथ मिलानेवाले डा० एकनर ही हैं। (दाहिनी ओर) राह में एक हवाई स्टेशन पर ग्राफ तेल-पानी लेने के लिए उतरा है।

मारे इधर-उधर भाग चली। इनके लिए इस दैत्याकार वायुपोत का यह अनोखा आश्चर्य देखने की वस्तु नहीं, भय की वस्तु थी।

एक घंटा और बीता और एक भयंकर तूफान का सामना पड़ा। इसके खतरे से बचने के लिए ये लोग और ऊपर उठ गए। किंतु मुसीबत ने यहाँ भी साथ न छोड़ा। ऊपर चारों ओर बादलों का राज्य था, और सामने घना विस्तृत अन्धकार। हाँ, बहुत दूर सूर्य की कुछ हल्की किरणें मानों आशा की धुँधली रेखा की तरह चमक रही थीं। इस तूफान ने इनके वायुपोत और हृदय दोनों को हिला दिया।

सन्ध्या तक और तमाम रात ये लोग इसी खतरनाक दशा में उड़ते रहे। अंत मे सवेरे सात बजे याकुत्स्क नामक साइबेरियन नगर के ऊपर पहुँचे। लीना नदी, जिसके मुहाने पर सन् १८८१ में अमेरिकन साहसिक डि लांग और उसके दल के लोगो को भूखों मर जाना पड़ा था, अपने गंभीर प्रवाह से बह रही थी। इसके किनारे बसे इस सुन्दर शहर के दृश्य ने इतनी लम्बी यात्रा के इनके श्रम को मानों सफल बना दिया। वायुपोत से देखी गई घनी बस्ती ने उनकी ऊजड़ प्रान्तो से आती हुई थकित आँखों को सुहावने दृश्यों से तृप्त होने का अवसर दिया। घने अंधकार और विजन में भूले मनुष्य को किसी अन्य व्यक्ति को देख जो बल मिलता है, उससे भी बढ़कर खासे लंबे समय के बाद मनुष्यों की चलती-फिरती सूरतें देखकर एकनर और उनके दल के लोगों को इस समय तसल्ली हुई।

अब उन्हें उड़ते-उड़ते एक हफ्ता हो रहा है। तमाम हफ्ते भर अविराम गति से यह वायुपोत सैकड़ों गैलन तेल, मनों पानी और ६० आदमियों का बोझा लेकर उड़ता रहा है। एक मिनिट भी विश्राम के लिए इसे पलक झुका लेने का अवसर नहीं दिया गया और अभी सामने स्टेनोवाई पर्वतों की विस्तृत दुर्गम दीवार उनकी प्रतीक्षा मे है। भूगोल की पुस्तकों ने इन्हें बताया था कि ये पर्वत ३५०० फ़ीट से अधिक ऊँचे नहीं हैं। किन्तु ४००० फीट की ऊँचाई पर उड़ते रहने पर भी मालूम हुआ कि पहाड़ों की दीवाल अभी सामने है। ४५००-४६०० और ५,००० फ़ीट की ऊँचाई से भी पहाड़ों को सहज ही में पार कर लेने की सुविधा नहीं थी। अंत में इन्हें वायुपोत को ६५,०० फ़ीट की ऊँचाई पर उड़ाना पड़ा।

साइबेरिया एशिया के दीर्घ विस्तार का भी अंत आया और [illegible] दिनों के बाद पुनः सागर की हरित-नील जल-राशि के दर्शन हुए। [illegible] का [illegible] समुद्र नीचे हिलोरें ले रहा था। एशिया की तट-रेखा पीछे छूट गई थी। अब ग्रॉफ जापान की ओर मुड़ रहा था। अभी वे टोकियो शहर से काफी दूर थे लेकिन पुतलीघरों की चिमनियों द्वारा उगलते हुए धुएँ को वे बखूबी देख सकते थे। बड़ी-बड़ी इमारतों एवं कल-कारखानों से गिच-पिच यह शहर एकदम आकर्षक था। मोटरों की धड-धड, मशीनों की खट-खट और अतुल जन-समूह का जनरव उन तक पहुँच रहा था। इस खूबसूरत शहर का एक विहगम दृश्य पाकर एकनर आदि निहाल हो उठे।

टोकियो के लोगों को ग्रॉफ के आने की पहले से ही सूचना थी। एक भारी भीड चौराहों पर साँस रोके उसके आगमन की प्रतीक्षा में खडी थी। वायुपोत को देखते ही भीड़ ने ज़ोरों के साथ चिल्लाना शुरू कर दिया। खुशी के मारे सब लोगों का दिल बाँसों उछल रहा था। अपनी सफलता के इस विराट् प्रदर्शन ने एकनर और उसकी टोली पर एक विजय एवं गर्वसूचक मुस्कराहट दौड़ा दी।

अब वायुपोत शहर के ऊपर मॅडरा रहा है। उसकी घर्र-घर्र आवाज़ से चौंककर इमारतों के सिरों पर बैठे कबूतर फर्र-से उड़ गए और अख़बार बेचनेवाले लड़के साइकिल रोककर बीच ही में खडे-खड़े ऊपर की ओर ताकने लगे।

इस बार ७००० मील की लबी छलॉग उसने भरी थी, अतएव ग्राफ की साँसें अब चलते-चलते मानों भर आई थीं। आगे, इसी रफ्तार से, बिना रुके उड़ना खतरे से खाली नहीं था। अतएव उसे रुक जाना पड़ा। टोकियो का जन-समुदाय इस विचित्र जन्तु को देखने के लिए मानो उमड़ पडा।

इसके बाद पैसिफिक महासागर का सामने फैला हुआ अनत विस्तार। एक नया ही दृश्य और बिल्कुल अनजान परिस्थितियों का मुक़ाबला। पर घर्र-घर्र करता हुआ यह आकाशचारी भीमकाय यान पूर्वाभिमुख हो बढता ही चला जा रहा था। अंत में सेन फ्रांसिस्को और पुनः अमेरिका की तट-रेखा। टोकियो से रवाना हुए अभी सत्तर घंटे भी नहीं हो पाए थे कि ग्राफ़ सेन फ्रांसिस्को के स्वर्ण-द्वार के ऊपर मँडराने लगा। उसके साथ छूटे टोकियो के समुद्रपोत बेचारे पैसिफिक महासागर मे न जाने कहाँ चक्कर काट रहे होंगे। एटलांटिक, पैसिफिक आदि दुरूह समुद्रों, महान् दुर्गम पर्वतों और मनोरम दृश्यों को दुनिया में सबसे पहली बार पार करने के इस सौभाग्य से एकनर का हृदय खिल उठा। उनके दल के लोग अपनी इस सफलता पर प्रसन्न ही नहीं, कुछ मन में गर्वित भी थे।

सेन फ्रांसिस्को के ऊपर मँडराते हुए अपने इस नवागत अतिथि का चित्र खींचने के लिए कई हवाई जहाज़ ऊपर उड़े। बड़ी देर तक वे उसके साथ रहे, किन्तु वायुपोत सिनेमा-व्यवसाय के गढ लास-एन्जिल्स की ओर बिना रुके उड़ता चला जा रहा था। लास-एन्जिल्स मे उतरकर ग्राफ और उसके यात्रियों ने आख़िरी बार विश्रान्ति की एक साँस ली और अब वे अपनी यात्रा की अंतिम मंज़िल को पार करने के लिए चल पडे। क्रमशः शिकागो और न्यूयार्क की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं पर अपनी काली छाया डालते हुए ग्राफ वापस लेक्हर्स्ट के हवाई-स्टेशन की ओर बढ़ चला।

इक्कीस दिन के बाद लेकहर्स्ट के हवाई-स्टेशन पर फिर वैसी ही भीड़ जमा है। लोगों की आँखे आसमान की ओर खिंची किसी की प्रतीक्षा में हैं। सब मानों साँस रोके खड़े हैं। दिल ख़ुशी के मारे धड़क रहे हैं। आज 'ग्राफ' के साहसिक अपनी पहली सफल पृथ्वी-परिक्रमा का यश लिये लौट रहे हैं। थोड़ा समय बीता और वायुपोत की इक्कीस दिन पहले सुनी गई घर्र-घर्र फिर उनके कानों मे पड़ी। वह भीमकाय थैला अब लोगों की निगाह में आ चला। जय-सूचक नारों से दिगन्त गूँज उठा। वायुपोत आकर रुका नहीं कि फूलों से उसके यात्रियों को लाद दिया गया! मैदान फूलों से मानों भर गया था।

आज शहर में जिसके मुँह पर देखिए, इसी यात्रा की चर्चा है। वे लोग भी जिन्हें इस परिक्रमा की सफलता में आशंका थी अब पृथ्वी-परिक्रमा की बातें करने लगे। भला वसुन्धरा पर फैले विस्तृत सौन्दर्य-भाण्डार को देखने की लालसा किसे न होगी!

डाक्टर एकनर की इस यात्रा ने विश्व-सभ्यता के विकास के लिए एक नूतन मार्ग का प्रदर्शन किया। भौगोलिक महत्त्व के अतिरिक्त व्यापारिक दृष्टि से भी ऐसी यात्राओं के मार्गों का ढूँढ निकालना बड़े महत्व का कार्य है।

डाक्टर एकनर की इस सफलता पर अमेरिका की राष्ट्रीय भौगोलिक संस्था ने एक विशेष स्वर्ण-पदक प्रदान कर अपने को गौरवान्वित समझा।

अपनी इस ऐतिहासिक यात्रा के पश्चात् ८०० फीट लंबे, १०० फीट चौडे और २६५० हार्स पावर की शक्ति के इंजिनों द्वारा खींचे जानेवाले इसी विजयी वायुपोत ने जर्मनी से अमेरिका के सैकड़ों चक्कर लगाए, और अपने इन चक्करों में उसने कुल मिलाकर लगभग दस लाख मील की यात्रा की, जिसमें बत्तीस हज़ार मनुष्यों, अनेक जंगली जानवरों, पियानों जैसे विशाल वाद्य-यन्त्रों और छोटे-छोटे हवाई जहाज़ों तक को बिना किसी दुर्घटना के एटलांटिक के इस पार से उस पार और वापिस उस पार से इस पार लाकर छोड़ दिया। किंतु इससे भी विशाल वायुपोत हिंडनबर्ग जब दुर्घटनावश जलकर राख हो गया तो जर्मनों ने आशंकावश ग्राफ़ का यह दौड़ना स्थगित कर दिया। आज जर्मनी में इस विशाल वायुपोत के अंदर भिन्न-भिन्न प्रकार के वायुपोतों का एक सुन्दर संग्रहालय या म्यूज़ियम-सा स्थापित कर दिया गया है।

संसार-यात्रा से लौटने के बाद 'ग्राफ' पुनः लेकहर्स्ट के विशद वायुपोतगृह में विश्राम के लिए प्रवेश कर रहा है।
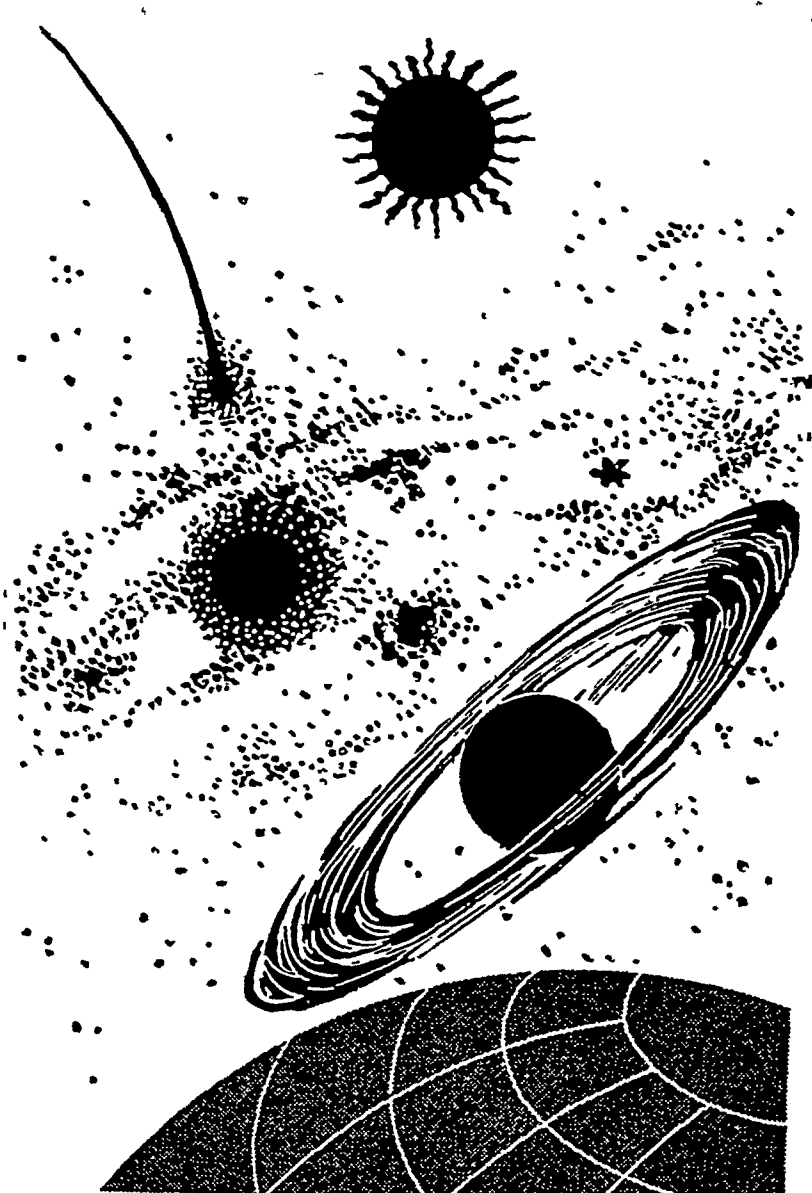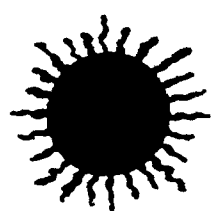
विश्व की कहानी

सुप्रसिद्ध हैली-केतु १३ मई, १९१०, की रात को
यह फोटो भारतवर्ष मे लिया गया था ।[फ़ोटो—'कोदाईकनाल वेधशाला' के सौजन्य से प्राप्त]

पुच्छल तारे या केतु

बुध से लेकर प्लूटो तक सभी ग्रहों से आप परिचित हो चुके, किन्तु अभी एक प्रकार के विचित्र आकाशीय पिण्ड केतुओं का परिचय पाना बाक़ी है, जो ग्रहों से तो निराले हैं, फिर भी सौर परिवार के ही सदस्य हैं। इस लेख में इन्हीं का मनोरंजक हाल सुनाया जा रहा है।

आकाश मे रात्रि के समय कभी-कभी विचित्र पिंड दिखलाई पडते हैं, जो प्रकाशमय धुएँ मे लिपटे हुए तारे-से जान पडते हैं और जिनमे साधारणतः लंबी-सी पूँछ रहती है। इनके स्वरूप के कारण लोग इन्हें पुच्छल तारा, केतु, धूमकेतु, झाडू या बढनी कहते हैं। ये ग्रहों और तारों से बहुत भिन्न होते हैं। ये केवल कुछ सप्ताह या कुछ महीनों तक ही दिखलाई पडते हैं और फिर दूर तथा फीके होकर मिट जाते हैं। अंग्रेज़ी मे इन्हें कॉमेट (comet) कहते हैं। यह शब्द coma अर्थात् केश से निकला है।

बडे केतु वस्तुतः बडे भडकीले और सुंदर होते हैं। कुछ तो शुक्र से भी अधिक चमकीले होते हैं और दिन मे भी दिखलाई पडते हैं। इनकी नाभि इतनी चमकीली हो सकती है कि चकाचौंध लगे। इनका शिर चद्रमा के बराबर तक हो सकता है और पूँछ इतनी लंबी कि वह क्षितिज मे ले लगभग सर के ऊपर तक पहुँच सके। परंतु इतने बडे केतु कभी-ही-कभी दिखलाई पडते हैं। अधिकांश केतु इतने छोटे होते हैं कि वे केवल दूरदर्शक मे ही दिखलाई पड़ते हैं।

पुराने ज़माने मे प्रायः सभी देश के लोग केतुओं से बहुत डरते थे। उनका विश्वास था कि जब कभी आकाश मे केतु दिखलाई पडता है तो कोई राजा मरता है, महा-युद्ध होता है, अकाल पड़ता है या महामारी फैलती है। पिछली बार एक बडा केतु १६१० में देखा गया था। वस्तुतः उस वर्ष दो बडे-बडे केतु दिखलाई पडे थे। इसके कुछ ही समय बाद सम्राट् सप्तम एडवर्ड की मृत्यु हुई थी। इससे भारतवासियों का विश्वास फिर से दृढ हो गया कि केतुओं के दिखलाई पडने पर कोई विशेष उपद्रव होता है। वस्तुतः, संस्कृत में केतु का एक नाम 'उत्पात' भी है।

परतु जब वैज्ञानिक जॉच की जाती है तो कोई भी कारण नहीं दिखलाई पडता कि केतुओं से किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका हो। बात यह जान पडती है कि बडे केतुओं के अचानक दिखलाई पडने के कारण, और उनके तेज तथा विचित्र आकार के कारण लोगों के हृदय मे भय का ही संचार होता है। फिर, प्रतिवर्ष कोई-न-कोई दुर्घटना हुआ ही करती है। इसलिए अपनी भावना के अनुसार केतुओं और दुर्घटनाओं मे सबंध जोड़ लेने मे कोई कठिनाई नहीं पडती।

केतुओ का स्वरूप

साधारणतः केतुओं मे तीन भाग होते हैं—(१) नाभि, जो तारे के समान छोटी और केतु के अन्य भागों से बहुत अधिक चमकीली होती है, (२) शिर, जो बादल के टुकडे या नीहारिका के समान होता है और नाभि को घेरे रहता है, और (३) पूँछ, जो झाडू के समान और सूर्य से विपरीत दिशा में निकली हुई दिखलाई पडती है। परंतु सभी केतुओं मे ये तीनो भाग उपस्थित नहीं रहते। कुछ छोटे केतुओं मे तो पूँछ ही नहीं रहती। बहुत-से केतुओं में नाभि नहीं रहती और किसी-किसी मे एक से अधिक नाभियाँ भी रहती हैं। बहुत-से केतुओ मे पहले नाभि नहीं रहती, परंतु सूर्य के पास पहुँचने पर नाभि बन जाती है। शिर सभी केतुओं में होता है।

केतुओं की पूँछ साधारणतः कुछ टेढी होती है। शिर से दूरवाला भाग पीछे की ओर झुका रहता है—पीछे की ओर से अभिप्राय केतु के चलने की दिशा से उल्टी-वाली दिशा है। पूँछ कोई स्थायी वस्तु नहीं जान पड़ती।

जैसे दिया की लौ कोई स्थायी वस्तु नही है—उसके अणु प्रति क्षण बदलते रहते हैं, पुराने अणु निकलते जाते हैं और नवीन बनते रहते हैं—ठीक इसी प्रकार केतु की पूँछ भी बराबर बदलती रहती होगी। इस सिद्धात का प्रमाण इस बात से मिलता है कि कभी-कभी किसी केतु की पूँछ बहकर अलग होती हुई भी देखी गई है और केतु मे तुरत दूसरी पूँछ निकल आई है। अधिकाश केतुओं मे पहले पूँछ नही रहती। जब केतु सूर्य के समीप आता है तो उसमे पूँछ निकल आती है। जैसे-जैसे केतु सूर्य के समीप आता है उसकी पूँछ बढती जाती है। सूर्य की अर्ध-परिक्रमा करके जब केतु फिर सूर्य से दूर होने लगता है तब पूँछ फिर छोटी होने लगती है और अत मे मिट जाती है। इसी प्रकार केतुओं की चमक भी सूर्य के समीप आने पर बढ जाती है। गणना करने से पता चलता है कि ऐसा केवल इसी कारण नही होता कि सूर्य के समीप आने पर केतु हमारे भी समीप हो जाता है और इसलिए बडा और चमकीला लगता है। सूर्य के समीप आने पर वह वास्तव मे बडा और अधिक चमकीला हो जाता है। केतुओ का शिर भी इसी प्रकार घटता-बढता रहता है। परंतु कई केतुओं मे शिर और पूँछे अनियमित रीति से घटती-बढती हैं।

सूर्य की परिक्रमा करते समय केतु की पूँछ की दिशा बदलती रहती है—वह सदैव सूर्य से उलटी दिशा में रहती है। (दाहिनी ओर ऊपर) केतु के तीन भाग। नाभि शिर मे छिपी हुई है।

केतुओ के फोटो मे तारे बिंदु-सरीखे न उतरकर कुछ लबे हो जाते हैं। कारण यह है कि केतु तारों के हिसाब से बराबर चलता रहता है और इसलिए जितने समय मे केतु का फोटो उतरता है उतने मे तारे कुछ चल लेते हैं।

केतुओ की बनावट

कई बातों का कारण अब भी समझ मे नही आया है, परंतु इतना निश्चय है कि केतु कोई ठोस वस्तु नही है। वस्तुतः यह छोटे-बडे रोड़ो का समूह है। सूर्य की गरमी और प्रकाश लगने से कुछ गैस और अत्यत सूक्ष्म धूल इसमे से निकलती है। यही पूँछ के रूप मे हमे दिखलाई पडती है। यह ज्ञात है कि अत्यत सूक्ष्म कणों को प्रकाश ढकेलकर दूर करने की चेष्टा करता है। भौतिक विज्ञानवाले इसे अपने प्रयोगो से सिद्ध कर चुके हैं। विश्वास किया जाता है कि प्रकाश के इसी गुण के कारण केतुओ से निकली धूल सूर्य से विपरीत दिशा मे बिखर जाती होगी। पूँछ के टेढी होने का सबध यह जान पडता है कि शिर, सूर्य से निकट होने के कारण, अधिक वेग से चलता है। पूँछ का छोर अधिक दूर होने के कारण धीरे-धीरे चलता है, ठीक उसी प्रकार जैसे ग्रहों मे वे जो सूर्य के निकट होते हैं अधिक शीघ्रगामी होते हैं और वे जो दूर रहते हैं धीरे-धीरे चलते हैं।

केतु के शिर और पूँछ के ठोस न रहने का प्रमाण कई बातो से मिलता है। प्रथम तो यह कि बहुत-से केतु सूर्य के इतने निकट चले जाते और अपनी परिक्रमा का आधा भाग इतने कम समय मे समाप्त कर डालते हैं कि यदि शिर या पूँछ ठोस होते तो इनके भिन्न-भिन्न भागो पर सूर्य की न्यूनाधिक आकर्षण-शक्ति के कारण वे चूर-चूर हो जाते, चाहे उनमे इस्पात की-सी ही मजबूती क्यों न होती। फिर पूँछो के आर-पार तारे बिना किसी प्रकार मद हुए ही चमकते देखे जाते हैं, जिससे समझा जाता है कि उनमे की धूलि के कण इतनी दूर-दूर पर हैं कि पूँछ प्रायः पारदर्शक है। इसके अतिरिक्त, पृथ्वी एक-दो बार केतुओं की पूँछ मे पड गई है और ऐसे अवसरों पर हमको कुछ भी पता नही चला है कि हम किसी घने वायुमडल या धूलि मे से होकर निकल रहे हैं। कुछ केतुओ की पूँछो मे कहीं-

कहीं गाँठ-सी पड जाती है, जिससे अनुमान किया जाता है कि वहाँ किसी कारण धूलि-कण साधारण से कुछ अधिक घने हो गए हैं। देखा जाता है कि ये गाँठे धीरे-धीरे शिर से दूर चली जाती हैं और अत मे पूँछ के छोर तक जाकर विलीन हो जाती हैं। इससे स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि दिए की लौ की तरह केतुओ की पूँछ भी केवल कणो और गैसो का समूह है।

शिर भी प्रायः पारदर्शक होते हैं। इनके आरपार भी तारे देखे जा सकते है। रश्मिचित्र से पता चलता है कि शिर पूर्णतया गैस के नहीं बने होते। इसलिए अवश्य केतुओ के शिर रोडो के समूह ही होते होगे। इसके समर्थन मे उल्लेखनीय बात यह है कि जब कभी किसी केतु का शिर हमारे और सूर्य के बीच मे आ जाता है तो वह पूर्णतया अदृश्य हो जाता है। यदि शिर ठोस होता तो अवश्य ऐसे अवसरो पर वह हमें सूर्य-बिंब पर काले धब्बे के समान दिखलाई पडता।

जब केतुओ की तौल की गणना की जाती है तब आश्चर्यजनक परिणाम निकलता है। पता चलता है कि उनकी तौल बहुत कम होती है। अनुमान किया गया है कि बडे-बडे पुच्छल तारो की तौल पृथ्वी की तौल की अपेक्षा दस लाख मे एक भाग भी न होगी। परंतु ठीक-ठीक किसी केतु की तौल क्या है इसका पता लगाना असभव है, क्योकि वे इतने हलके होते हैं कि पृथ्वी या किसी अन्य ग्रह को अपने मार्ग से वे कभी भी इतना विचलित नही कर पाते है कि अंतर नापा जा सके। इतनी कम तौल और इतने अधिक विस्तार से स्पष्ट परिणाम निकलता है कि केतुओ का सापेक्षिक घनत्व बहुत कम होगा। अनुमान किया गया है कि प्रसिद्ध
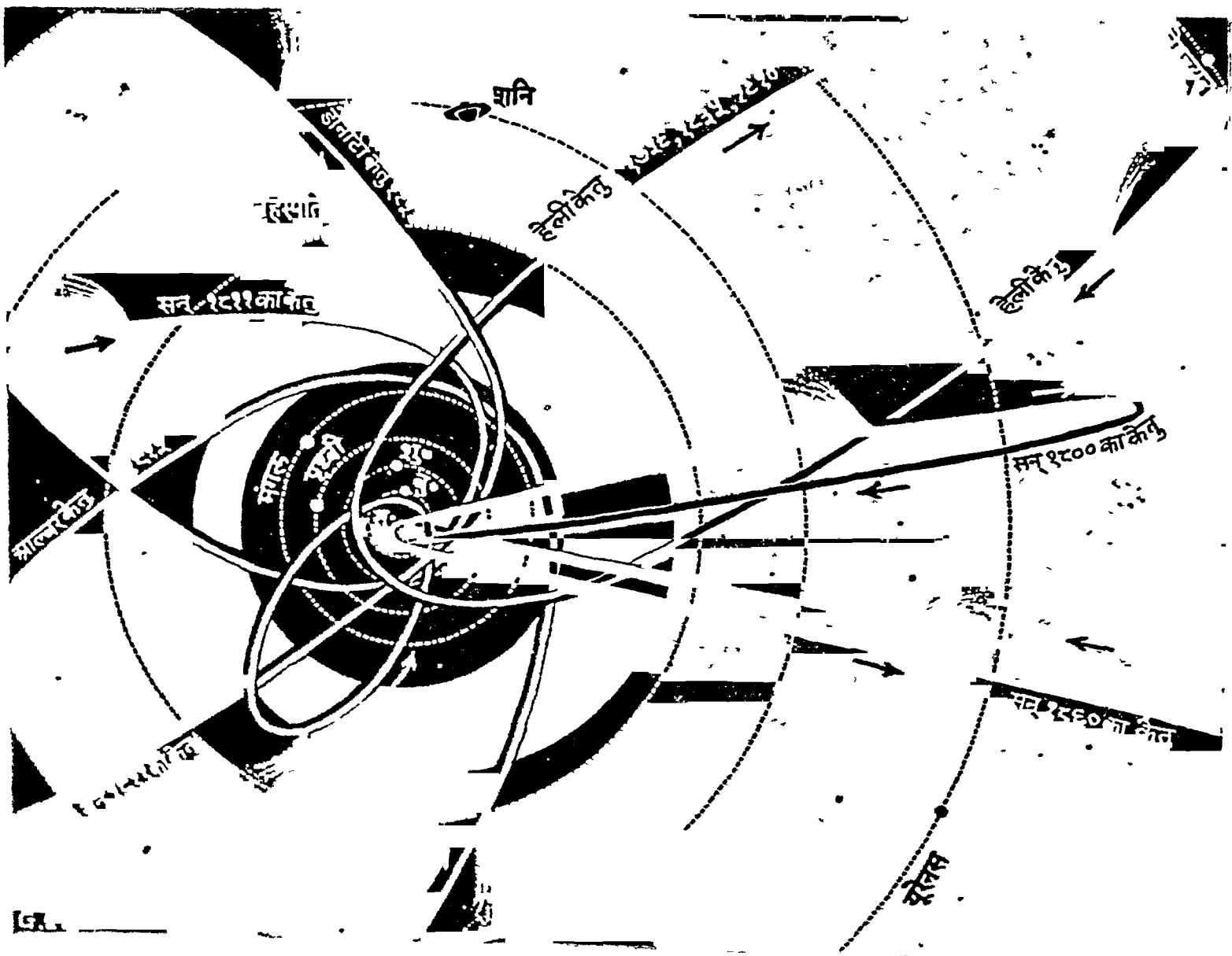
सौर जगत् में केतुओं का स्थान—कुछ मुख्य केतुओं की भ्रमण-कक्षाएँ

जहाँ ग्रह प्राय. गोल दीर्घवृत्त में चलते हैं, वहाँ केतु अत्यंत लंबे दीर्घवृत्त या परवलय में चलते हैं।
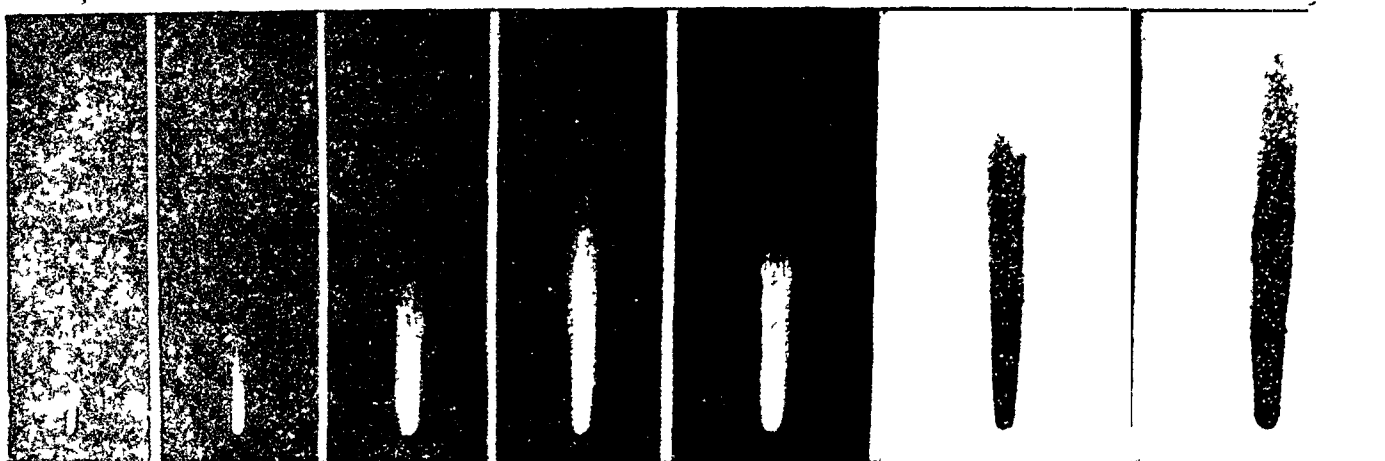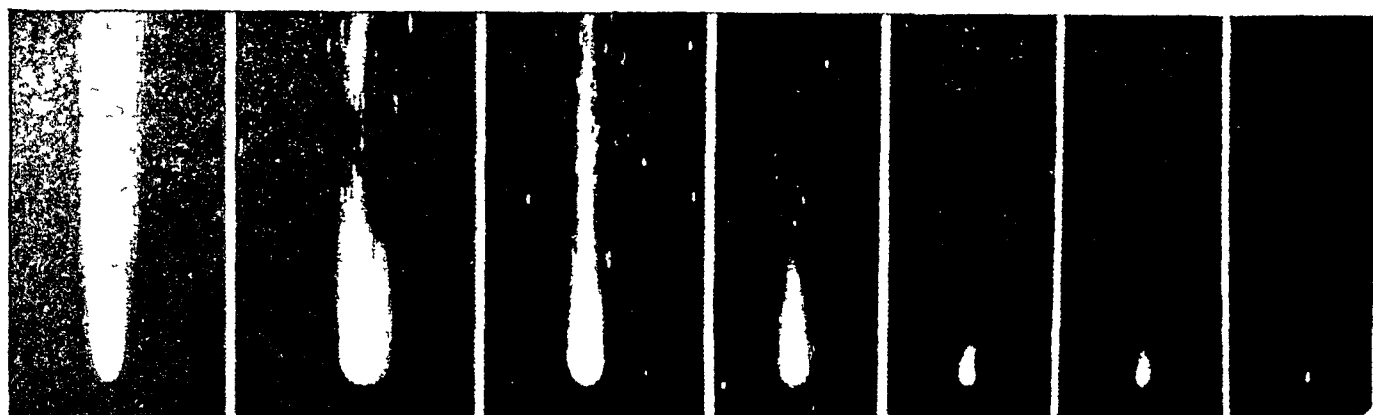
सन् १९१० मे हैली-केतु के उदय से अस्त तक की भिन्न-भिन्न तिथियो की अवस्थाओ के फोटो

देखिए, किस प्रकार पहलेपहल यह केतु एक प्रकाश-बिन्दु-सा दिखाई दिया और ज्यो-ज्यों सूर्य की ओर बढ़ता गया उसकी पूॅछ लंबी होती गई। अत में उसी क्रम से वह पुनः छोटा होते-होते अस्त हो गया। यह केतु पुन. १९८६ मे वापस पृथ्वी और सूर्य के निकट लौटेगा। (फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला')

हेली-केतु, जो हमे बहुत चमकीला दिखलाई पड़ता है, इतना हलका होगा कि इसके २००० घनमील मे उतना भी द्रव्य न होगा जितना हमारे वायुमडल के एक घन-इच मे रहता है। इस सबध मे ध्यान रखने की बात है कि एक घनमील मे लगभग २,५०,००,००,००,००,००० घनइच होते हैं।

केतु रोड़ो के समूह हैं, परतु ये रोडे बहुत छोटे-बडे होते होंगे। जिस मार्ग में केतु चलता है, उसमे इन रोड़ो मे से कुछ बिखरे भी पडे रहते हैं। जब कभी पृथ्वी उनके निकट आ जाती है तो पृथ्वी के आकर्षण के कारण ये रोडे पृथ्वी की ओर खिंच आते हैं। ये ही हमे उल्का के रूप मे दिखलाई पड़ते हैं या उल्का-प्रस्तर के रूप मे पृथ्वी पर गिरते हैं। इस प्रकार हम इन रोड़ों मे से कुछ को समय-समय पर पा भी जाते हैं। इनसे हम केतुओ के सबध मे बहुत-कुछ ठीक अनुमान कर सकते हैं। केतुओं मे ये रोडे कई मन की तौल के पत्थरो से लेकर सूक्ष्मतम धूल से भी सूक्ष्म होंगे। यह भी पता चलता है कि इनका औसत व्यास आध इच से कम न होगा। फिर, यदि सब रोडे इसी औसत नाप के होते तो प्रत्येक घनमील मे कुल दस-बारह रोड़ों का ही परता पड़ता। यदि इन रोड़ो का घनत्व पत्थर के घनत्व के समान मान लिया जाय तो हम देख सकते हैं कि केतुओ के शिर के प्रत्येक घनमील मे कुल डेढ-दो तोला माल होता होगा। अनुमान किया गया है कि सारे हैली-केतु मे कदाचित् उतना द्रव्य भी न होगा, जितना पनामा-नहर के बीसवे भाग के लिए खोदना पड़ा था, यद्यपि हैली-केतु सबसे बड़े केतुओ मे गिना जाता है।

पूॅछें केवल सूर्य से आए प्रकाश के कारण ही नहीं

चमकती, उनमे निजी प्रकाश भी होता है। रश्मिविश्लेषक यत्र से देखने पर पता चलता है कि उनमे नाइट्रोजन, कार्बन मॉनॉक्साइड, सायानोजन और कई एक हाइड्रो-कार्बन गैस भी हैं।

विस्तार

केतुओ का वास्तविक विस्तार क्या होता होगा? स्पष्ट है कि बडे केतु वस्तुतः बहुत बडे होते होगे। तभी तो वे हमे इतने विस्तृत दिखलाई पडते हैं। बडे केतुओ का शिर ही पृथ्वी की अपेक्षा चौगुने से लेकर बीस गुने व्यास का होता है और यदि शिर की यह बात है तो फिर उनकी पूँछ का क्या कहना! कुछ की पूँछे तो इतनी लम्बी होती हैं कि वे सूर्य से पृथ्वी तक पहुँच सकती हैं! नाभियॉ अवश्य छोटी होती हैं। बडे-बडे केतुओ की नाभियॉ भी कुल ५०० से लेकर १००० मील के व्यास की होती हैं।

केतुओ के घटने-बढने की बात पहले बतलाई जा चुकी है। एक उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। हैली-केतु जब १६०६-१० मे दिखलाई पडा था, तब पहले यह बहुत छोटा था। १६०६ के सितबर मे इसके शिर का व्यास पृथ्वी के व्यास का कुल दुगुना था, परतु तीन ही महीने मे यह फूलकर पृथ्वी से कई गुना बडा हो गया। उस समय पृथ्वी के हिसाब से इसका व्यास तीस गुना रहा होगा। अभी यह सूर्य से निकटतम दूरी पर नही पहुँच पाया था। जब यह इस दूरी पर पहुँचा तो पहले की अपेक्षा छोटा हो गया और तब इसका व्यास पृथ्वी के व्यास का लगभग पद्रह गुना था। इसके बाद यह फिर बढने लगा। जून १६१० मे यह पहले से भी बडा हो गया और इस समय इसका व्यास पृथ्वी का ४० गुना हो गया। इस समय इसका आयतन पृथ्वी की अपेक्षा ६४,००० गुना अधिक था! इसके बाद यह केतु एक बार फिर छोटा होने लगा। १६११ के अप्रैल तक इसका व्यास पृथ्वी का कुल चौगुना ही रह गया।

कुछ केतु एकदम अनियमित रूप से घटते-बढते है। वे क्यों ऐसा करते हैं इसका भेद अभी तक नहीं जाना जा सका है।

खोज

बडे केतु आप-से-आप ही दिखलाई पड़ सकते है और पुराने ज़माने मे लोग इतने से ही संतोष कर लेते थे। परंतु अब कुछ लोग केतुओ की खोज जान-बूझकर करते हैं। अक्सर इस काम को शौक़ीन लोग करते हैं, क्योकि वेधशालाओं के बडे-बडे ज्योतिषियो को अन्य कामो से फ़ुरसत नही मिलती। इसके लिए ऐसे दूरदर्शक का प्रयोग किया जाता है, जिसकी प्रवर्द्धन-शक्ति तो विशेष अधिक नहीं होती, परतु जिसमे प्रकाश एकत्रित करने की शक्ति विशेष रूप से अधिक होती है। इसलिए मद प्रकाश के केतु भी आसानी से इन यत्रों से देखे जा सकते हैं। ये दूरदर्शक छोटे होते हैं और इनमे एक विशेषता यह भी होती है कि उनसे आकाश का अपेक्षाकृत अधिक भाग एक साथ दिखलाई पडता है; इससे खोज मे समय कम लगता है। १६२५ तक लगभग ६०० पुच्छल तारे देखे गए थे। इनमे से लगभग ४०० तो दूरदर्शक के आविष्कार के पहले देखे गए थे और इसलिए वे चमकीले थे। शेष सोलहवीं शताब्दी के बाद देखे गए थे। १८८० के बाद प्रति वर्ष लगभग पॉच पुच्छल तारो के देखे जाने का परता पडा है। सौ वर्ष मे वस्तुत पद्रह-बीस चमकीले पुच्छल तारे देखे जाते हे, परतु इनमे से केवल एक ही दो इतने चमकीले होते हैं कि वे दिन मे भी देखे जा सके। १६१० मे दो चमकीले पुच्छल तारे दिखलाई पडे थे, जिनमे एक इतना चमकीला था कि वह दिन मे भी देखा जा सकता था। उस वर्ष का दूसरा पुच्छल तारा प्रसिद्ध हैली-केतु था।

कुछ केतुओ के नाम उनके प्रथम देखनेवालो के नामों पर पड गए हैं, जैसे डोनाटी-केतु, एनके-केतु, इत्यादि। छोटे केतुओं का नामकरण वर्ष के आगे अंग्रेज़ी अक्षर ए, बी, सी, डी आदि लिखने से होता है या वर्ष के आगे रोमन गिनती I, II, III आदि लिखने से। अक्षरों से प्रथम देखे जाने का क्रम सूचित किया जाता है, रोमन गिनती से सूर्य से निकटतम दूरी पर पहुँचने का क्रम। जैसे १६१० बी से पता चलता है कि यह केतु पहले-पहल सन् १६१० मे देखा गया था और उस वर्ष जितने केतु देखे गए थे उनमे यह दूसरा ग्रह था। १६१० II से पता चलता है कि इस नबर का केतु सन् १६१० मे सूर्य से निकटतम दूरी पर पहुँचा और उन सब केतुओं मे जो १६१० मे अपनी-अपनी कक्षा मे चलने पर सूर्य से निकटतम दूरी पर पहुँचे उनमे यह क्रमानुसार दूसरा ग्रह था।

कक्षा

हम देख चुके हैं कि सभी ग्रह प्रायः गोल दीर्घवृत्त म चलते हे। परतु सभी पुच्छल तारे अत्यत लबे दीर्घवृत्त मे चलते हैं। वस्तुतः, अधिकाश पुच्छल तारे तो इतने लबे दीर्घवृत्त मे चलते हैं कि उनके दूसरे छोर के अस्तित्व का हमको पता ही नही है। यदि दीर्घवृत्तो की सूर्य के पास

की चौड़ाई एक रक्खी जाय और उत्तरोत्तर लंबे दीर्घवृत्त बनाये जायँ तो हम अवश्य एक ऐसे दीर्घवृत्त की कल्पना कर सकते हैं जिसका दूसरा छोर अनंत दूरी पर हो, या, दूसरे शब्दों में, जिसका छोर कहीं हो ही नहीं। ऐसी आकृति को परवलय (parabola) कहते हैं। बहुत लंबे दीर्घवृत्त और परवलय में सूर्य के आस-पास इतना कम अंतर रहता है कि यह कहना अक्सर कठिन हो जाता है कि कोई केतु वस्तुतः लंबे दीर्घवृत्त में चल रहा है या परवलय में। परंतु इन दोनों कक्षाओं में एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंतर यह है कि दीर्घवृत्त में चलनेवाला केतु लौटकर सूर्य के पास एक बार फिर अवश्य आएगा, परंतु परवलय में चलनेवाला केतु लौट नहीं पाएगा। वह बराबर अनंत की ओर चलता ही चला जायगा। यदि किसी कक्षा का मार्ग परवलय से भी कुछ अधिक खुले मुँह का हो तो वह संभवतः अतिपरवलय (hyperbola) में चलता होगा और ऐसी कक्षा में चलनेवाला केतु भी कभी फिर लौटकर नहीं आएगा।

थोड़े-से केतुओं को छोड़ अधिकांश केतु परवलय में ही चलते जान पड़ते हैं। पुराने ज्योतिषियों का विश्वास था कि सभी केतु परवलय में चलते हैं और इसलिए वे कभी फिर लौटकर नहीं आते। प्रसिद्ध गणितज्ञ न्यूटन (Newton) ने अपने आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार यह अनुमान किया कि केतुओं को भी सूर्य के चारों ओर दीर्घवृत्त में घूमना चाहिए। परंतु वह स्वयं कोई दृष्टांत नहीं दे सका। उसके मित्र हैली (Halley) ने पहले-पहल गणना करके बतलाया कि १६८२ का चमकीला केतु वस्तुतः दीर्घवृत्त में चल रहा था और उसके एक बार चक्कर लगाने में लगभग ७६ वर्ष लगता है। कुछ ज्योतिषियों को उस समय यह बात ऐसी विचित्र जान पड़ी कि उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि यह हैली की चालाकी है—जान-बूझकर केतु के लौटने का समय ७६ वर्ष बाद बतलाया गया है, जिसमें कोई उसे झूठ न सिद्ध कर सके। परंतु पीछे हैली की बात सच्ची निकली और इस केतु का नाम इसीलिए हैली-केतु रख दिया गया।

लगभग सवा तीन वर्ष में ही चक्कर लगा लेनेवाला भी एक केतु ज्योतिषियों को ज्ञात है, परंतु वह केवल दूरदर्शक से ही दिखलाई पड़ता है।

थोड़े से ही ग्रह निश्चित रूप से ज्ञात दीर्घवृत्त में चलते पाए गए हैं। अधिकांश केतु यदि वस्तुतः दीर्घवृत्त में चलते हैं तो इतने लंबे दीर्घवृत्त में चलते हैं कि वे सैकड़ों या हज़ारों वर्ष में लौटते होंगे। किसी ग्रह के आकर्षण से ऐसे केतुओं का वेग जब कुछ बढ़ जाता होगा तब वे सूर्य की आकर्षण-शक्ति से छूटकर भाग निकलते होंगे। वेग का बढ़ना कोरी कल्पना नहीं है। बृहस्पति के आकर्षण से केतुओं का वेग बढ़ते देखा भी गया है। इसके विपरीत, जब केतु आगे पड़ जाता है और बृहस्पति पीछे, तो बृहस्पति के उल्टे आकर्षण से केतु का वेग घटते भी देखा गया है। ऐसी अवस्था में पहले परवलय में चलते हुए केतु पीछे सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हुए भी देखे गए हैं। इसी को केतु-बंदीकरण कहते हैं। अनंत दूरी से आया केतु इस रीति से "बंदी" हो जाता है और वह फिर अनंत दूरी तक भाग निकलने में असमर्थ रहता है।

मूरहाउज़-केतु (१९०८ III)

पुच्छल तारों की पक्की पहचान केवल उनकी कक्षाओं से होती है, क्योंकि उनका स्वरूप बदला करता है। परंतु कभी कभी एक ही कक्षा में एक से अधिक केतु भी चलते पाए गए हैं। समझा जाता है कि ये केतु किसी एक ही केतु के टुकड़े-टुकड़े हो जाने से उत्पन्न हुए होंगे। उदाहरणतः १६६८, १८४३, १८८० और १८८२ में चार पुच्छल तारे दिखलाई पड़े, जिनकी कक्षाएँ एक-सी थीं। इनका स्वरूप भी एक-सा था। और ये सभी खूब चमक-

दार थे। लोगो को सदेह था कि सभवतः एक ही केतु बार-बार आकर हमे चार बार दर्शन दे गया है, परतु गणना से पता चलता था कि एक बार चक्कर लगाने मे इसको ६०० या८०० वर्ष समय लगना चाहिए था। चौथा केतु तीसरे के कुल दो वर्ष बाद ही आया था, इसी से बहुत से लोगों को ऐसा विश्वास हो रहा था कि सभवतः ये चार एक ही केतु के भिन्न-भिन्न टुकडे हें। सौभाग्यवश इसका उन्हे प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया, क्योंकि १८८२ वाला केतु देखते-देखते चार टुकडो मे विभक्त हो गया जो सब पुरानी ही कक्षा मे चलने लगे।

केतुओं की कक्षाओं से यह भी निश्चित हे कि केतु सौर-परिवार के ही सदस्य हैं। तारो के हिसाब से सूर्य बडे वेग से चल रहा है। जितने केतु सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं, वे भी सूर्य के साथ-साथ चल रहे हैं। जो केतु सूर्य की परिक्रमा नही कर रहे हैं, वे ऐसी कक्षा मे चलते हैं जो दीर्घवृत्त से थोडी-सी ही भिन्न रहती है और इस प्रकार वे भी प्राय. सूर्य की ही परिक्रमा करते हुए माने जा सकते हे। यदि केतु वस्तुतः सौर जगत् के बाहर से आते तो उन सब का, या उनमे से अधिकाश का, वेग अवश्य इतना अधिक होता कि वे निश्चित रूप से अतिपरवलय मे चलते हुए दिखलाई पडते।

पुच्छल तारो की मृत्यु

पुच्छल तारो की पूँछ बनानेवाला पदार्थ अवश्य ही धीरे-धीरे निकल जाता होगा। किसी केतु के सब उडनशील पदार्थ के निकल जाने पर क्या होता होगा? ज्योतिषियों का अनुमान है कि तब केतु अदृश्य हो जाता होगा, उसके रोडे अवश्य पुराने मार्ग मे चलते होंगे, परंतु समय पाकर वे और भी अधिक बिखर जाते होंगे। इस सबध मे बीला-केतु का इतिहास शिक्षाप्रद है। इस केतु को दूरदर्शक से पहले-पहल ऑस्ट्रिया के विलहेल्म फोन बीला ने १८२६ मे देखा। गणना करने से पता चला कि यह छोटा-सा केतु छः-सात वर्ष मे ही सूर्य का एक चक्कर लगा लेता है। पुराने रजिस्टरो को देखने से पता चला कि यह कई बार पहले भी देखा जा चुका था। १८०५ मे यह कोरी आँख से भी देखा गया था। परंतु १८२६ मे यह इतने मद प्रकाश का था कि कोरी आँख से कभी-भी नही देखा जा सका। १८३२ मे यह फिर दिखलाई पड़ा, परतु कोई विशेष बात नही हुई। १८४५ मे जब यह दिखलाई पडा तो पहले यह साधारण आकृति का था, परन्तु बीस दिन मे ही यह तुंबी के आकार का हो गया—बीच मे यह पतला हो गया और दोनों ओर मोटे गोलाकार शिर थे। दस दिन और बीतने पर यह दो भागों मे बँट गया और दोनो भाग स्वतत्र केतु की तरह एक ही कक्षा मे चलने लगे। इन दोनो मे अलग-अलग पूँछें निकल आई। उनमे नाभियाँ भी उत्पन्न हो गई। उनमे से कभी एक अधिक चमकदार हो जाता था, कभी दूसरा। इतना ही नहीं, उन दोनो के बीच कभी-कभी प्रकाश का पुल बँध जाता था।

१८५२ मे दोनो फिर लौटे, परतु अब उनके बीच की दूरी बहुत बढ गई थी। थोडे समय बाद वे सदा के लिए अदृश्य हो गए, यद्यपि उनकी कक्षा अच्छी तरह ज्ञात थी और उनके लिए खूब खोज भी की गई।

परतु यह न समझना चाहिए कि बीला-केतु की तरह सभी पुच्छल तारा की मृत्यु शीघ्र हो जाती है या हो जायगी। हैली-केतु हजारों वर्ष से एकसमान चमकता आ रहा है। एनके-केतु, जो केवल दूरदर्शक मे ही दिखलाई पडता है, लगभग सवा तीन वर्ष मे ही चक्कर लगा लेता है और इसलिए यह कई बार देखा गया है, परतु इसकी चमक मे ज़रा भी कमी होती हुई नहीं देखी गई है।

पुच्छल तारो से मुठभेड़

गत वर्षों मे पृथ्वी और पुच्छल तारो मे मुठभेड हो जाने की पूर्व-सूचना समाचारपत्रो मे छप जाने के कारण कई बार जनता मे सनसनी फैल चुकी है, परतु ये सब सूचनाएँ गलत थी। केवल १९१० मे पृथ्वी हैली-केतु की पूँछ मे पड गई थी। हाँ, यह अवश्य सभव है कि भविष्य मे कभी किसी पुच्छल तारे के शिर से पृथ्वी की मुठभेड हो जाय। इसका परिणाम क्या होगा यह ठीक-ठीक तो नही बतलाया जा सकता, परतु हम अनुमान कर सकते हैं। मुठभेड होने पर पुच्छल तारे के रोडे असख्य उल्का (टूटते हुए तारे) के रूप मे गिरेंगे। इनमे से अधिकाश तो हमारे वायुमडल मे ही भस्म हो जायँगे, परतु बडे-बडे ढोके अवश्य पृथ्वी तक पहुँच जायँगे। जिधर यह काड होगा उधर जान और माल की भारी हानि हो सकती है, परतु इसकी कुछ भी सभावना नहीं जान पडती कि आघात की भीषणता से पृथ्वी चकनाचूर हो जाय। केतुओ की पूँछों मे विषैली गैसे अवश्य रहती हैं, परतु उनमे पड जाने से हमारा कोई नुकसान नही होता। कारण यही जान पड़ता है कि पूँछ मे इन गैसो की मात्रा बहुत कम होती है। शायद हमारे वायुमंडल के ऊपरी भागों मे ऑक्सिजन की अधिकता इन विषैली गैसो को नष्ट भी कर

डालती होगी। १८६१ में और फिर १९१० में पृथ्वी निश्चय रूप से बडे केतुओं की पूँछों में पड गई थी, परतु सिवाय गणना के अन्य किसी भी रीति से हमको इसका ता न चला।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अंतरिक्ष में इतने केतु नी नहीं हैं कि उनसे पृथ्वी के लड जाने का कोई विशेष डर हो। न्यूकॉम्ब का कहना है कि यदि कोई आँख मूँदकर आकाश में गोली चला दे तो उस गोली से किसी उडती चिडिया के मर जाने की सभावना पृथ्वी के केतु से टकराने की सभावना से अधिक है।

कुछ प्रसिद्ध केतु

(१)—सन् १८४३ का केतु—फरवरी १८४३ में एक पुच्छल तारा सूर्य के पास ही छोटी तलवार के समान दिखलाई पडा। यह इतना चमकीला था कि दोपहर में भी सूर्य को ओट में कर देने पर इसकी पूँछ चद्रमा के व्यास की दस गुनी लम्बी दिखलाई पडती थी। थोडे ही दिनों में इसकी पूँछ बहुत बडी हो गई और तब यह क्षितिज से लेकर खस्वस्तिक की ओर आधी दूर तक पहुँच जाती थी। यह केतु सूर्य से बहुत समीप होकर—कुल ९६००० मील की दूरी पर से—निकला। परतु उस समय यह ३६६ मील प्रति सेकड के वेग से चल रहा था। इसी से यह सूर्य में जा गिरने से बच गया। आधी परिक्रमा में इसे कुल सवा दो घंटे लगे, यद्यपि शेष आधी परिक्रमा में निस्सदेह इसे सैकडों वर्ष लगेंगे।

(२)—डोनाटी-केतु—यह बहुत बडा और अत्यत चमकीला केतु है। उन्नीसवीं शताब्दी में यह केतु ११२ दिन तक कोरी आँख से दिखलाई पडता रहा। दूरबीन से तो यह ९ महीने तक दिखलाई पडा। इसका परिक्रमण-काल लगभग २००० वर्ष है।

(३)—हैली-केतु—इसकी कक्षा की गणना का इतिहास पहले लिखा जा चुका है। सन् ८७ ईस्वी पूर्व से लेकर १९१० तक यह केतु २१ बार सूर्य के निकट आया होगा। अधिक चमकीला होने के कारण प्रत्येक बार के संबंध में किसी-न-किसी देश के साहित्य में इसकी चर्चा मिली है। गणना से निकले समयों पर और स्थितियों में इनके दिखलाई पडने से और गणना से निकले मार्गों में ही चलने से सिद्ध है कि यही केतु बार-बार देखा गया था। पुराने वर्णनों से निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन काल में भी यह केतु वैसा ही चमकीला था जैसा अब है। प्राचीन चीनी पुस्तकों में इसका ऐसा सूक्ष्म और सच्चा वर्णन मिलता है कि आश्चर्य होता है। आधुनिक काल में १९१० में यह केतु अच्छी तरह देखा गया। २० मई को यह पृथ्वी से निकटतम दूरी पर पहुँचा, परतु उस समय यह ठीक सूर्य के सामने था। इसके कई दिन पहले और पीछे इसकी पूँछ बहुत लम्बी और चमकीली दिखलाई पडती थी। १८ मई को पृथ्वी इसकी पूँछ में पड गई थी। इस केतु के भिन्न-भिन्न तिथियों के अनेक फोटो पृष्ठ १७४४ पर दिए गए हैं। एक फोटो विश्व-भारती के अंक १ पृष्ठ ४ पर भी छप चुका है।

एडमण्ड हैली (१६५६-१७४२)
जिसने सन् १६८२ के चमकीले पुच्छल तारे को देखकर गणना द्वारा भविष्यद्वाणी की थी कि यह केतु ७६ वर्ष बाद पुन: सूर्य के समीप लौटेगा। उसकी यह भविष्यद्वाणी बिलकुल सही निकली। तभी से उस केतु का नाम 'हैली-केतु' पड गया।

(४)—मूरहाउज़-केतु—यह १९०८ में अमेरिका की यरकीज़ वेधशाला के एक ज्योतिषी डेनियल मूरहाउज़ द्वारा पहले-पहल देखा गया था। इसीलिए इसका नाम मूरहाउज़-केतु पडा। इसका एक फोटो पृष्ठ १७४७ पर दिया गया है।

(५)—ब्रूक केतु—१९११ में यह केतु कोरी आँख से ही आकाश में दिखाई पड़ता रहा। उस समय इसके बडी लबी पूँछ थी। इसका परिक्रमण-काल लगभग ७ वर्ष है। १८८६ में यह केतु बृहस्पति ग्रह की आकर्षण-शक्ति द्वारा प्रभावित होकर अपनी कक्षा या भ्रमण मार्ग से बहुत विचलित हुआ था। इस केतु का भी एक फोटो इसी लेख के साथ पृष्ठ १७४५ पर दिया गया है। यह फोटो प्रसिद्ध ज्योतिषी बरनार्ड द्वारा लिया गया था।
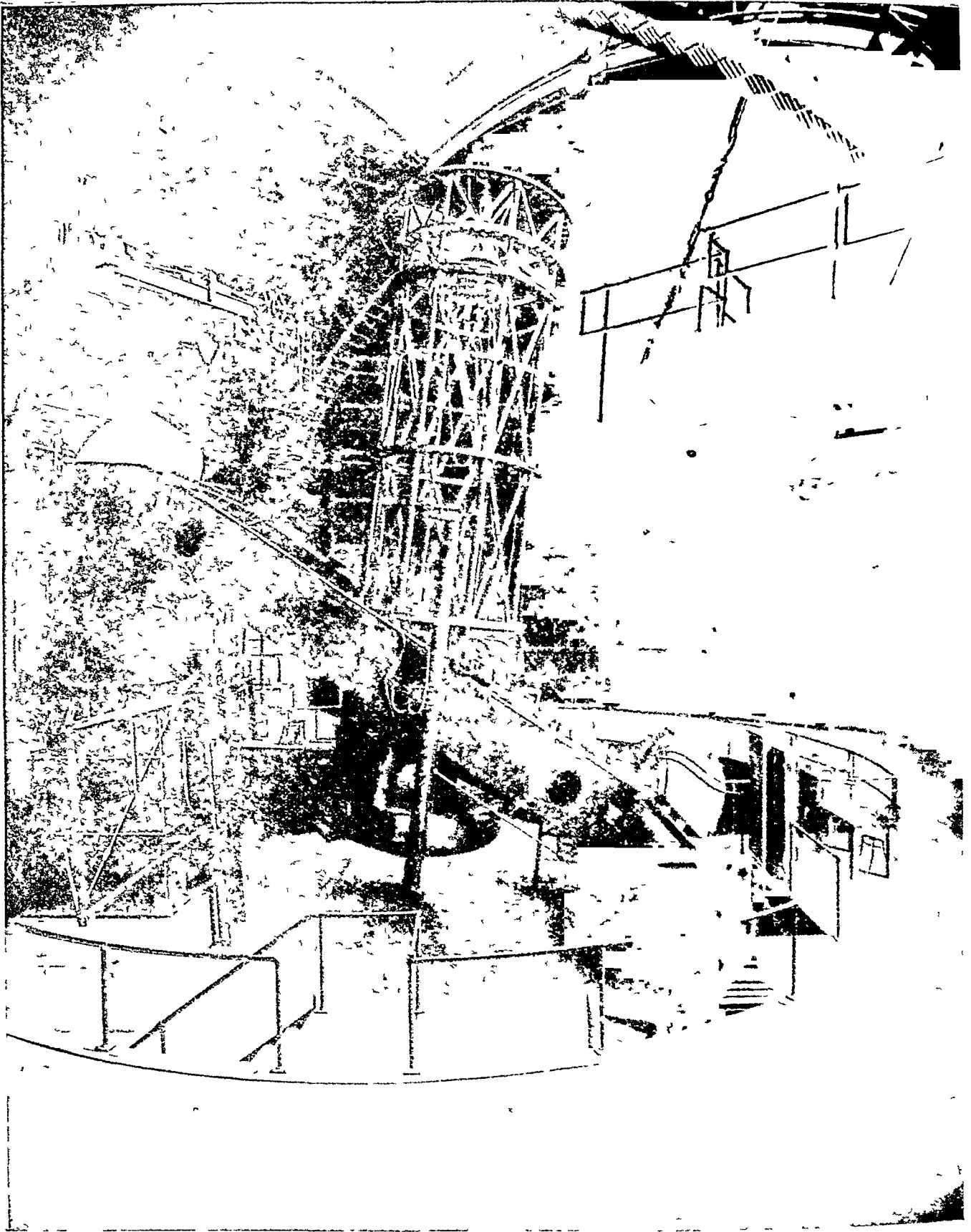
'माउण्ट विल्सन वेधशाला' में प्रस्थापित १०० इंच व्यास के तालवाला महान् दूरदर्शक

जैसा कि आगे के पृष्ठों में बताया गया है, इस प्रकार के गरुडदृष्टिवाले दूरदर्शक उनमे लेन्स या ताल के ही प्रयोग के कारण दूर की वस्तु को हमारी दृष्टि-परिधि में ला देते हैं। इनकी रचना का सिद्धान्त भी लेख मे समझाया गया है। [फ़ोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त]

ताल या लेन्स तथा तालयुक्त यंत्र

पिछले लेखों में हमने आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन और परावर्त्तन संबंधी नियमों की जानकारी प्राप्त की। इस प्रकरण में ताल और त्रिपार्श्व में से होकर गुजरने पर आलोक रश्मियों के आवर्त्तन तथा बिम्ब-निर्माण की क्रिया एवं इस सिद्धान्त का विविध यंत्रों के निर्माण में किस प्रकार प्रयोग हुआ है इस बात पर प्रकाश डाला गया है।

हम सब जानते हैं कि उभड़े हुए काँच, जिन्हें हम ताल या लेन्स कहते हैं, नन्ही-नन्ही वस्तुओं को हमें परिवर्द्धित आकार में दिखा सकते हैं। दृष्टिशक्ति कम हो जाने पर लोग तालयुक्त चश्मों का भी प्रयोग करते हैं। केमरा, सूक्ष्मदर्शक यंत्र और दूरदर्शक ये सभी यंत्र हमें ताल या लेन्स की बदौलत ही लभ्य हो सके हैं।

कुछ लेन्स दोनों ओर से उभरे होते हैं—बीच में ये मोटे होते हैं और किनारे की ओर पतले। ऐसे लेन्स को उन्नतोदर लेन्स कहते हैं। किसी-किसी उन्नतोदर लेन्स का एक ओर का धरातल उभरा हुआ अवश्य रहता है, किन्तु दूसरी ओर का धरातल या तो एकदम समतल सपाट होता है या भीतर की ओर ही पिचका होता है। किन्तु हर हालत में उन्नतोदर ताल का मध्य भाग किनारे के हिस्से से मोटाई में अधिक होता है। इसके विपरीत नतोदर ताल में मध्य भाग किनारे

१. युगलोन्नतोदर; २. समोन्नतोदर; ३. नतोन्नतोदर; ४. युगलनतोदर; ५. समनतोदर; ६. उन्नतनतोदर।

होगा, दूसरी ओर का धरातल या तो सपाट समतल होगा या थोड़ा-सा बाहर की ओर भी उभरा हो सकता है, किन्तु इतना नहीं कि ताल का मध्य भाग शेष भाग की अपेक्षा मोटा हो जाय।

लेन्स द्वारा प्रकाशरश्मियाँ बिम्ब किस प्रकार बनाती हैं, इसे समझने के लिए हमें पहले प्रिज्म या त्रिपार्श्व का अध्ययन करना होगा। किसी पारदर्शी माध्यम के ऐसे टुकड़े को हम लें जो तीन समतल पहलुओं से इस तरह घिरा हो कि एक पहलू दूसरे पहलू के साथ जिस कोर पर मिलता हो वहाँ एक कोण बनता हो। इस तरह प्रत्येक त्रिपार्श्व के तीन पहलू और तीन कोर होते हैं। कल्पना कीजिए कि अ ब स पर शीशे का त्रिपार्श्व लम्बवत् खड़ा है। आलोक-रश्मि क ख पहलू अ ब पर शीशे में प्रवेश करती है (दे० अगले पृष्ठ का ऊपरी चित्र)। आवर्त्तन होने के कारण यह रश्मि अपने पूर्व मार्ग से विचलित होकर ख ग मार्ग का अनुसरण करती है। पार्श्व हटती है। त्रिपार्श्व से बाहर निकलने पर हम देखते हैं कि
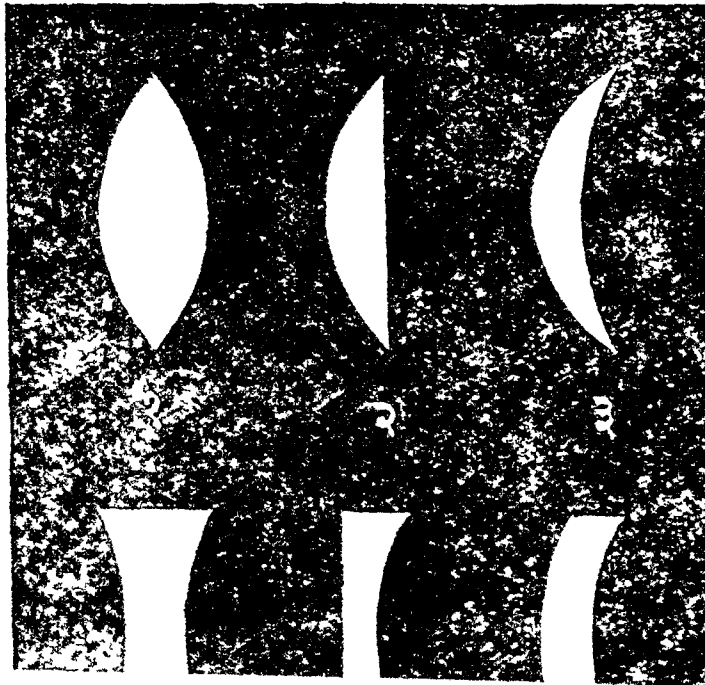
भूल-सुधार

इसी पृष्ठ के सामने दिए गए 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' के १०० इंची दूरदर्शक के चित्र के नोट में पहली पंक्ति में '१०० इंच व्यास के तालवाला महान् दूरदर्शक' के बजाय '१०० इंच व्यास के दर्पण से युक्त महान् दूरदर्शक', तथा दूसरी पंक्ति में 'लेन्स या ताल' के बजाय 'दर्पण तथा ताल' पढ़िए।

आलोकरश्मि अपने पूर्व मार्ग से काफी विचलित हो गई है। विचलन की मात्रा तीन बातों पर निर्भर करती है—त्रिपार्श्व का माध्यम, त्रिपार्श्व के सामनेवाले कोर का कोण और किरण का त्रिपार्श्व के धरातल के साथ झुकाव। आवर्त्तन के उपरान्त आलोकरश्मि सदैव आधार की ओर ही विचलित होती है।

प्रत्येक त्रिपार्श्व के लिए आपतित आलोकरश्मि के और त्रिपार्श्व के पहलू के बीच के कोण का एक मान निश्चित रहता है जबकि आवर्त्तन के उपरान्त आलोकरश्मि में अल्पतम विचलन होता है। यदि आपतित रश्मि का झुकाव इस निश्चित मान से कम या अधिक हुआ तो हर दशा में आवर्त्तित रश्मि का विचलन उपर्युक्त विचलन से अधिक ही होगा। एक बात और है। इस अल्पतम विचलन की मात्रा त्रिपार्श्व के कोर के कोण के अनुपात में ही घटती-बढ़ती है। यदि दो त्रिपार्श्व एक ही पदार्थ के बने हों तो जिन त्रिपार्श्व के कोर का कोण बड़ा होगा उनके अन्दर अल्पतम विचलन भी अधिक होगा।
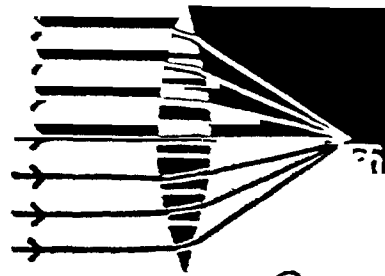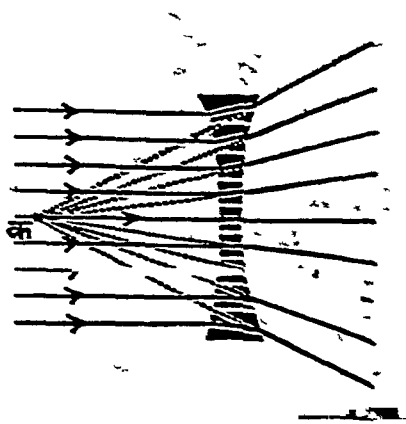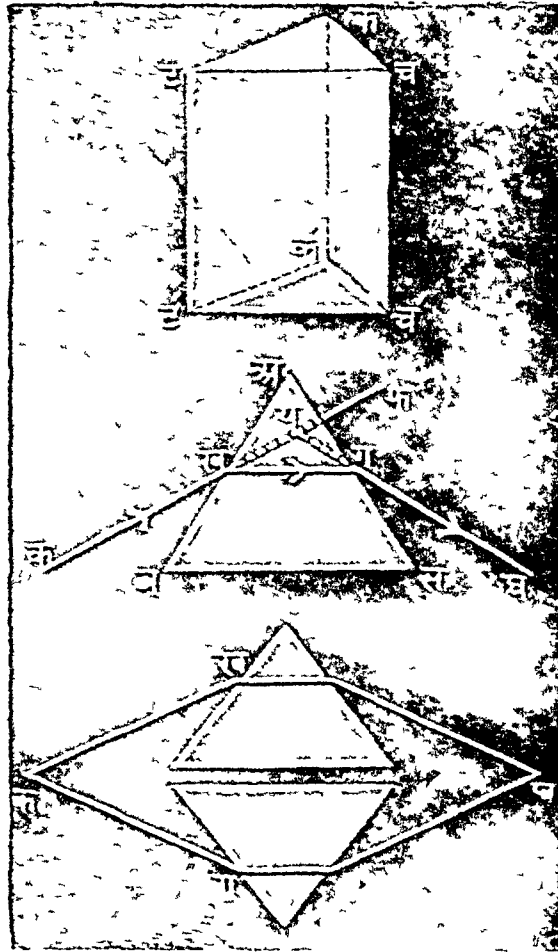
अब दो त्रिपार्श्वों को, जो बिल्कुल एक से हों, लीजिए। दोनों के पेंदे, जैसा बगल के चित्र में दिखाया है, एक-दूसरे से सटा दीजिए। बिन्दु 'क' से दो आलोकरश्मियाँ क ख और क ग इन दोनों त्रिपार्श्वों पर समान झुकाव के साथ आपतित होती हैं, अतः आवर्त्तन के उपरान्त आधार की ओर इन दोनों का झुकाव भी समान होगा—ये दोनों बिन्दु 'घ' पर मिलती हैं। वास्तव में लेन्स को भी हम कई जोड़े त्रिपार्श्वों से बना हुआ समझ सकते हैं—मध्य भाग से ज्यों ज्यों किनारे की ओर बढ़ेंगे, हमें ऐसे त्रिपार्श्व मिलेंगे, जिनके कोर उत्तरोत्तर चौड़े होते जाते हैं। फल यह होता है कि मध्य भाग के त्रिपार्श्वखण्ड से विचलन कम होता है, किनारेवाले त्रिपार्श्वखण्ड से ज्यादा। अत किसी एक बिन्दु से

(ऊपर) प्रथम पंक्ति में, प्रिज़्म या त्रिपार्श्व। क क', च च' और ट ट' इस त्रिपार्श्व के तीन कोर हैं। द्वितीय पंक्ति में, अ ब स पर शीशे का त्रिपार्श्व लम्बवत् खड़ा है। आलोकरश्मि क ख पहलू अ ब पर शीशे में प्रवेश करती है और आवर्त्तित होकर ख ग मार्ग ग्रहण करती है तथा अ स पर पहुँचकर वही पुनः आवर्त्तित होकर ग घ के रूप में वायु के माध्यम में प्रवेश करती है। इसमें अल्पतम विचलन ∠ ग य फ के बराबर है (दे० १७५१-५२ पृष्ठ का मैटर)। तीसरी पंक्ति में, दो समान त्रिपार्श्व एक-दूसरे से पेंदे सटाकर रक्खे गए हैं। क ख और क ग रश्मियाँ समान झुकाव से आपतित होकर समान आवर्त्तन के उपरान्त घ पर मिल जाती हैं। (नीचे) उन्नतोदर और नतोदर लेन्सों को कई जोड़े त्रिपार्श्वों से बना हुआ मानकर यह दिखाया गया है कि भिन्न-भिन्न त्रिपार्श्वखण्डों के कम-ज़्यादा विचलन के फलस्वरूप किस प्रकार तमाम रश्मियाँ उन्नतोदर लैंस में से निकलने पर आवर्त्तित होकर पुनः एक ही ठौर क नाभि बिंदु पर आ मिलती हैं तथा नतोदर में से निकलने पर प्रसारित हो जाती हैं।

चली हुई तमाम रश्मियाँ आवर्त्तन के उपरान्त पुनः एक ही ठौर आ मिलती हैं। मुख्य अक्ष के समानान्तर आनेवाली रश्मियाँ आवर्त्तन के उपरान्त जिस बिन्दु पर मिलती हैं, उसे लेन्स की मुख्य नाभि कहते हैं।

नतोदर लेन्स को भी हम कई जोड़े त्रिपार्श्वों से बना हुआ मान सकते हैं। इस दशा में इन त्रिपार्श्वों के शिर मध्य भाग की ओर रहते हैं और पेंदे बाहर किनारे की ओर। आवर्त्तन के उपरान्त किरणें विचलित होकर बाहर पेंदे की ओर मुड़ जाती हैं। समानान्तर रश्मियों का पुंज ऐसे लेन्स द्वारा आवर्त्तित होने पर बाहर की ओर प्रसारित हो जाता है। दूसरी ओर से देखनेवाले को ऐसा प्रतीत होगा मानों ये रश्मियाँ बिन्दु 'क' से आ रही हैं (देखिए पिछले पृष्ठ का निचला बायाँ चित्र)। क पर उस प्रकाशबिन्दु का काल्पनिक बिम्ब बन जाता है, जहाँ से ये समानान्तर आलोक रश्मियाँ चलकर लेन्स में प्रविष्ट हुई थीं। क इस लेन्स का नाभिबिन्दु कहलाएगा। इन दोनों लेन्सों में एक खास अन्तर ध्यान देने योग्य है। उन्नतोदर लेन्स में से गुजरने पर किरण-रश्मियाँ अनिवार्य रूप से संकुचित हो जाती हैं—इसके प्रतिकूल नतोदर लेन्स में आवर्त्तित होने पर रश्मिपुंज पहले की अपेक्षा अधिक प्रसारित हो जाता है (दे० पिछले पृष्ठ का निचला चित्र)। उन्नतोदर लेन्स द्वारा बिम्ब-निर्माण की क्रिया समझने के लिए हमें निम्नलिखित बातें याद रखनी चाहिए—

१. लेन्स की मुख्य कक्षा के समानान्तर आनेवाली तमाम रश्मियाँ आवर्त्तन के उपरान्त दूसरी ओर के नाभि-बिन्दु से अवश्य गुजरती हैं।

२. नाभि-बिन्दु की दिशा से आनेवाली किरण आवर्त्तन के उपरान्त मुख्य कक्षा के समानान्तर हो जाती हैं।

३. लेन्स के मध्यभाग से गुजरनेवाली आलोकरश्मि आने के पूर्व मार्ग से विचलित नहीं होती। अधिक मोटे लेन्स में कुछ थोड़ा-सा विचलन अवश्य होता है, किन्तु यहाँ पर भी विचलन की मात्रा नगण्य-सी ही होती है।

उन्नतोदर लेन्स द्वारा दूर की वस्तु का बिम्ब नाभि-बिन्दु से तनिक आगे हटकर बनता है। यह बिम्ब मूल वस्तु से आकार में छोटा, उल्टा और वास्तविक होगा, अर्थात् धुँधले काँच के पर्दे पर इस बिम्ब को हम प्राप्त कर सकते हैं। वस्तु यदि लेन्स से नाभि-दूरी के दूने फासले पर रक्खी जाय तो इसका बिम्ब लेन्स की दूसरी ओर उतनी ही दूरी पर बनेगा। यह बिम्ब भी वास्तविक और उल्टा होगा, किन्तु आकार में मूल वस्तु के ठीक बराबर होगा। मूल वस्तु को यदि और भी निकट लाएँ तब उसका बिम्ब लेन्स से दूर हटता जायगा, साथ ही बिम्ब का आकार भी बढ़ता जायगा, यद्यपि यह बिम्ब अब भी उल्टा और वास्तविक होगा। वस्तु जब नाभिबिन्दु पर रख दी जायगी तब हमें इसका बिम्ब नहीं मिलेगा, वरन् लेन्स की ओर समानान्तर आलोकरश्मियों का एक पुञ्ज हमें लभ्य होगा। नाभिबिन्दु और लेन्स के बीच में वस्तु रखने पर उसका बिम्ब काल्पनिक ही बन पाता है—इस बिम्ब को हम काँच के पर्दे पर प्राप्त नहीं कर सकते। किन्तु यह बिम्ब एकदम सीधा और आकार
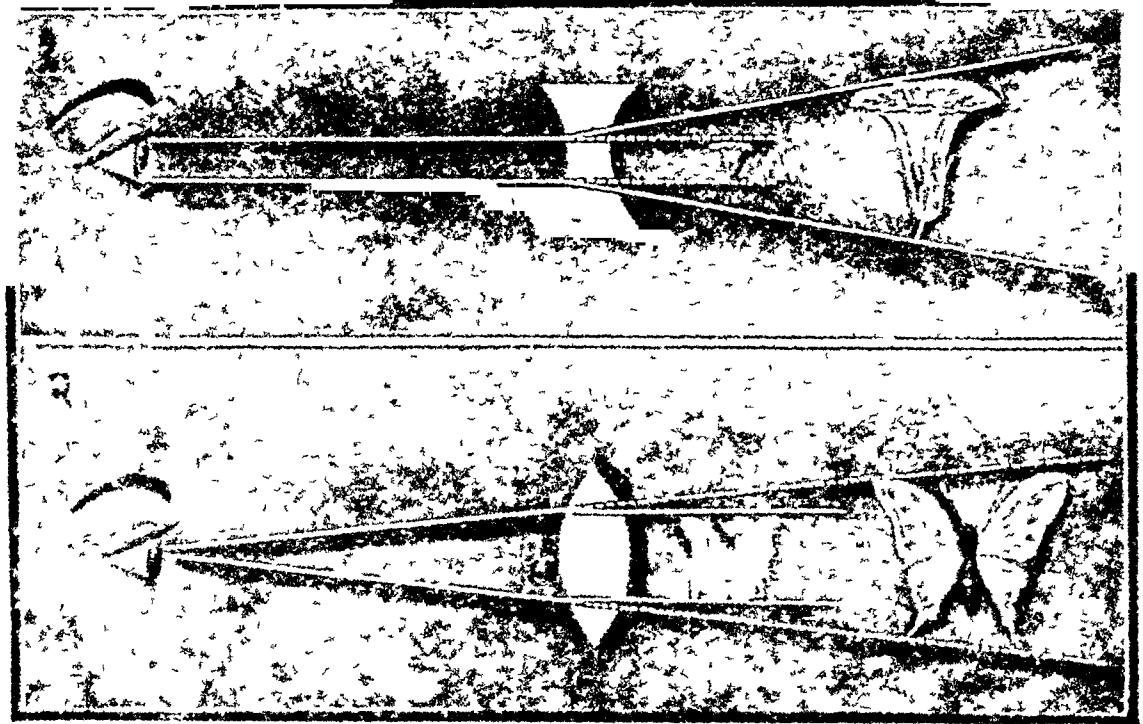
नतोदर और उन्नतोदर ताल द्वारा बिम्ब-निर्माण

१. नतोदर ताल में, वस्तु चाहे जहाँ रक्खी जाय फिर भी हर दशा में बिम्ब काल्पनिक, सीधा और मूल वस्तु से आकार में छोटा बनेगा। २. उन्नतोदर ताल द्वारा निर्मित बिम्ब नाभिदूरी के अनुसार मूल वस्तु से छोटा-बड़ा हो सकता है, किन्तु यह सदैव वास्तविक और उल्टा होगा। (विशेष विवरण के लिए देखिए इसी पृष्ठ का मैटर)।
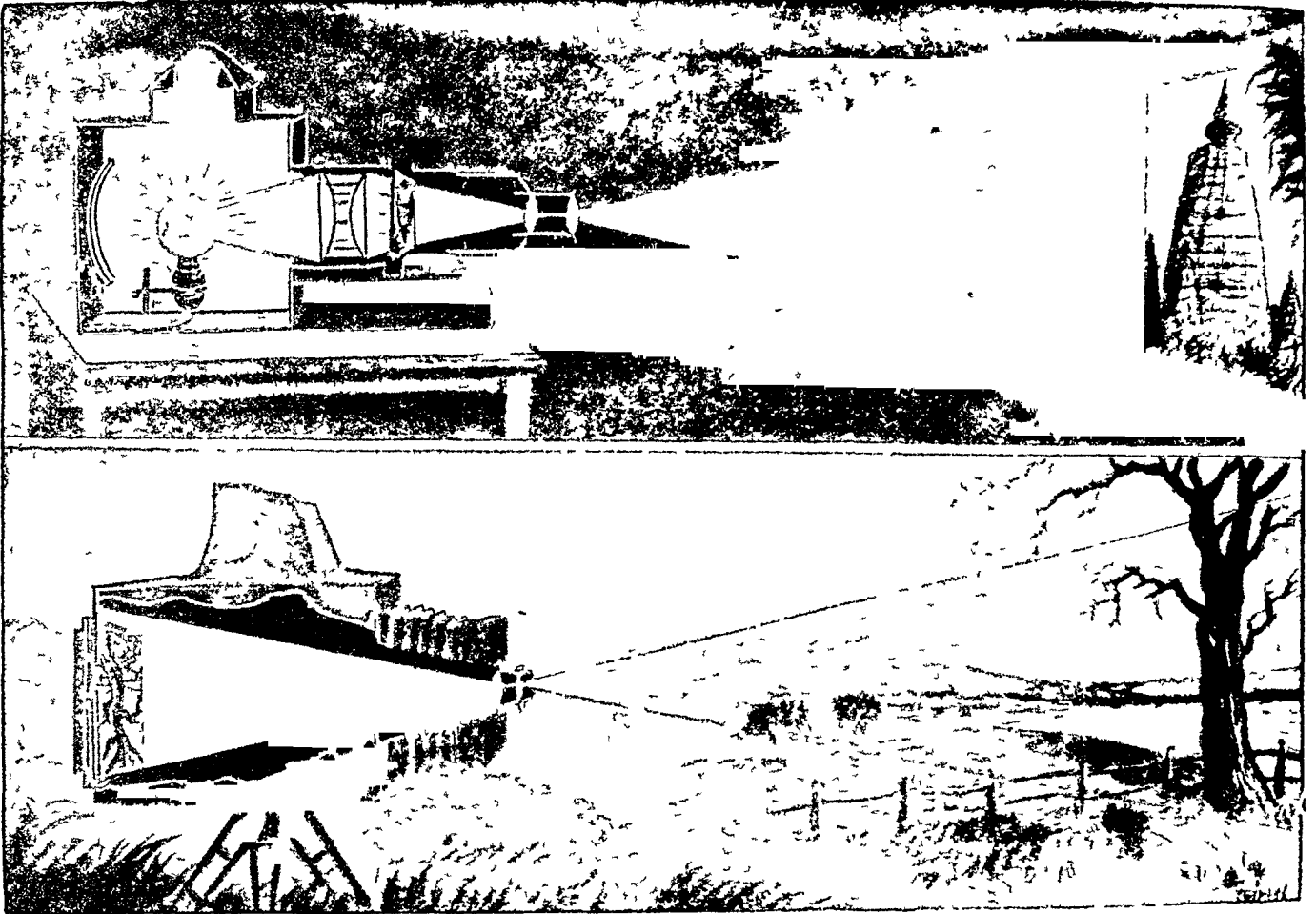
(ऊपर) मैजिक लैन्टर्न का सिद्धान्त, (नीचे) फोटो उतारने के केमरे का सिद्धान्त।
दोनों में लेन्स का प्रयोग किया जाता है। (विशेष विवरण के लिए १७५४-५५ पृष्ठ का मैटर पढ़िए)

मे मूल वस्तु की अपेक्षा सदैव बड़ा होता है। नतोदर लेन्स मे, वस्तु चाहे कही पर भी क्यों न रखी जाय, हर दशा मे बिम्ब काल्पनिक, सीधा और आकार मे मूल वस्तु से छोटा होगा। नतोदर लेन्स द्वारा बने हुए बिम्ब को हम कॉच के पर्दे पर कभी भी प्राप्त नही कर सकते।

आइए देखें, केमरे मे उन्नतोदर लेन्स की सहायता से बाहर की वस्तुओ का फोटो कैसे उतारते हैं। केमरे के 'शटर' को खोलने पर हम लेन्स को आसानी से देख सकते हैं। 'शटर' धातु की काली पत्तियों से बना होता है। शटर खोलने पर ही लेन्स मे से होकर आलोकरश्मियाँ केमरे के अन्दर जा सकती हैं, अन्यथा नही। केमरे के अन्दर लेन्स के पीछे कॉच का एक धुँधला पर्दा लगा रहता है। बाहर की वस्तु का उलटा किन्तु वास्तविक बिम्ब इसी पर्दे पर बनता है। एक अँधेरे कमरे मे एक मोमबत्ती केमरे से लगभग ८ फीट की दूरी पर रखिए—कॉच के पर्दे पर मोमबत्ती का उलटा बिम्ब आपको नज़र आएगा। मोमबत्ती को लेन्स के निकट ले आइए—अब बिम्ब का आकार तो बढ जाएगा, किन्तु बिम्ब पहले जैसा स्पष्ट नही उभरेगा। बिम्ब का 'फोकस' ठीक नही है। स्पष्ट बिम्ब प्राप्त करने के लिए लेन्स और कॉच के पर्दे के बीच की दूरी बढानी होगी। धौकनीदार केमरे मे लेन्स को आगे खिसकाकर इस दूरी को बढा लेते हैं, और इस तरह बिम्ब का फोकस पुनः ठीक हो जाता है। बाक्स-केमरे मे धौकनी नहीं होती, अतः लेन्स आगे-पीछे सरक नही सकता। ऐसे केमरे मे २२ फीट या इससे अधिक दूरी पर स्थित वस्तुओ का बिम्ब समान रूप से स्पष्ट उभरता है। बाक्स-केमरे से निकट की वस्तुओ का फोटो स्पष्ट नही उभरता।

फिल्म या प्लेट पर, जिस पर फोटो उतारना होता है, एक रासायनिक मसाला पुता रहता है। यह मसाला आलोकरश्मियो द्वारा प्रभावित होकर काला पड़ जाता है। फोटो लेते समय कॉच के पर्दे को केमरे के अन्दर से निकालकर ठीक उसी के स्थान पर फिल्म या प्लेट लगा देते हैं। 'सावधान' बोलने पर शटर को एकाध सेकण्ड के

लिए खोलकर पुनः उसे बन्द कर देते है। प्लेट पर इस थोडी-सी देर के लिए बिम्ब पडा था—अतः बिम्ब का प्रतिरूप इस प्लेट के मसाले पर उभर आता है। अन्य रासायनिक द्रवों से धोने पर यह प्रतिरूप खूब उभर आता है। इसे 'निगेटिव फोटो' कहते हैं, क्योंकि मूल वस्तु मे जहाँ प्रकाश अधिक था, उस स्थान पर इस फोटो मे कालिमा अधिक नज़र आएगी, क्योंकि मसाला उस स्थान पर अधिक प्रभावित हुआ है। सही फोटो उतारने के लिए निगेटिव को मसाले से पुते हुए काग़ज़ से सटाकर दोनो को थोड़ी देर के लिए प्रकाश मे रखते हैं। निगेटिव से छन-कर प्रकाश काग़ज़ की सतह तक पहुँचता है। जहाँ निगेटिव ज्यादा काला था, उसके पीछे कम प्रकाश पहुँच पाता है, और जहाँ निगेटिव हलका था, उसके पीछे अधिक प्रकाश पहुँचता है। इस प्रकार इस कागज़ पर मूल वस्तु की ही भाँति फोटो उभर आता है।

हमारी आँखो के अन्दर भी केमरे की भाँति ही बाह्य वस्तुओ का बिम्ब बनता है। निकट और दूर की वस्तुओं को स्पष्ट देख सकने के लिए केमरे के लेन्स को हमे आगे पीछे सरकाना होता है। आँख की पुतलियो को हम आगे-पीछे सरका नहीं सकते हैं, किन्तु इस मुश्किल को हल करने के लिए प्रकृति ने हमे यह शक्ति प्रदान की है कि हम आवश्यकतानुसार अपनी आँख के लेन्स की मुटाई घटा-बढाकर उसकी नाभि-दूरी को इस प्रकार बदल दे कि हर दशा में दृष्टिपटल पर बिम्ब स्पष्ट ही उभरे। हमारी इस शक्ति में जब कभी ह्रास हो जाता है, तब हमें ऐनक के रूप मे काँच के लेन्स की सहायता लेनी पड़ती है (देखो विश्व-भारती, भाग १२ पृ० १४७८)।
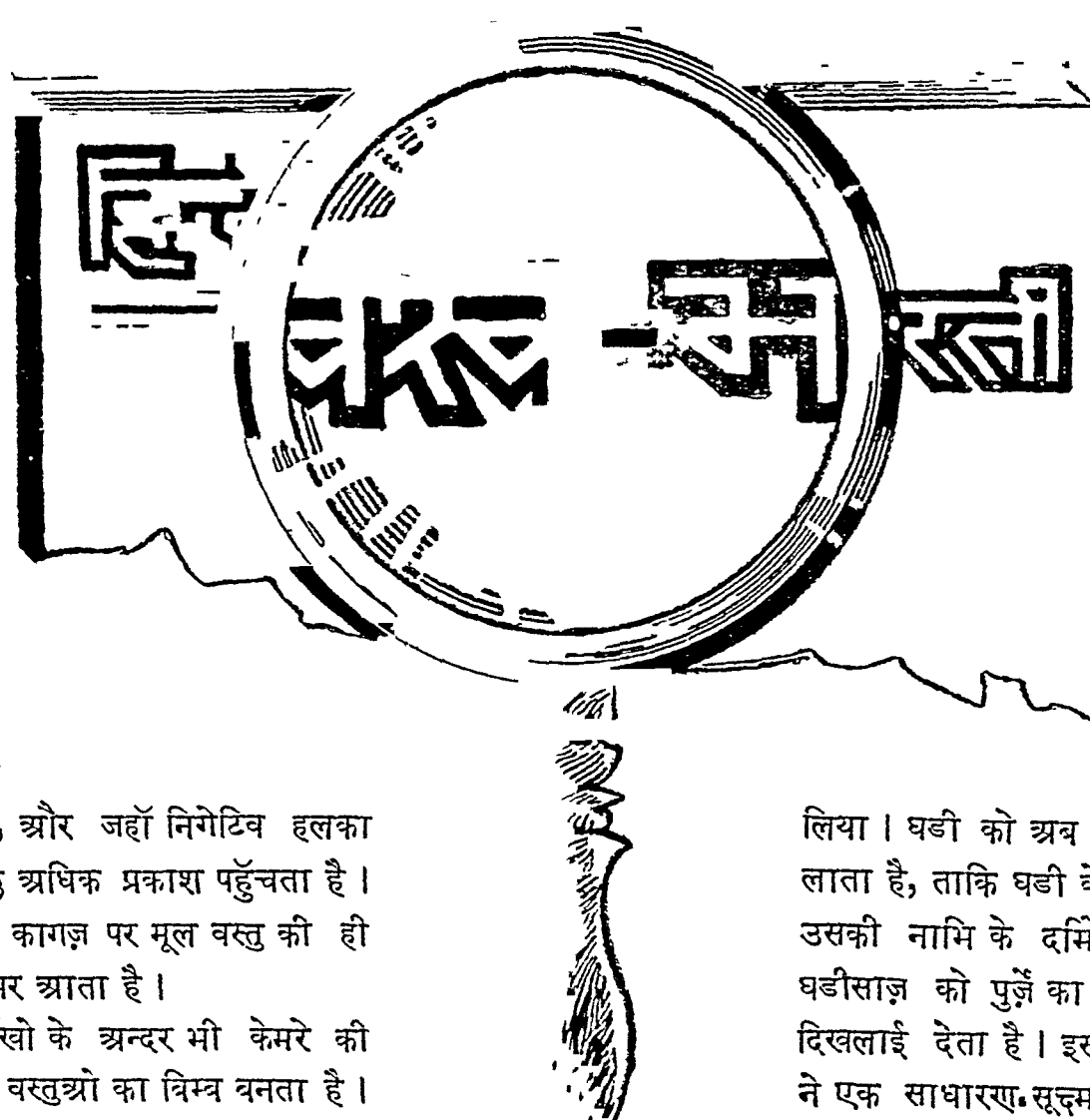
उन्नतोदर लेन्स साधारणतः कैसे चीज़ों का आकार हमें बढ़ाकर दिखाता है।

मैजिक लैन्टर्न मे बिम्ब-निर्माण की क्रिया केमरे की ठीक उलटी होती है। लैन्टर्न का तीव्र प्रकाश दो लैन्सो की सहायता से समानान्तर रश्मिपुञ्ज के रूप मे काँच की 'स्लाइड' को भेदता हुआ उपदृश्य लेन्स मे से होकर निक-लता है। स्लाइड पर उलटा चित्र अकित किया रहता है। अतः बाहर सफेद पर्दे पर स्लाइड मे अकित चित्र का सीधा बिम्ब परिवर्द्धित आकार मे दिखलाई पडता है। उपदृश्य लेन्स को आगे-पीछे खिसकाकर बिम्ब को पर्दे पर फोकस करना होता है।

उन्नतोदर लेन्स की इन विशेष-ताओ का वैज्ञा-निकों ने भरपूर फायदा उठाया है। घडी के बारीक पुर्ज़ों का निरीक्षण करते हुए घडीसाज़ ने झट एक उन्नतोदर लेन्स अपनी आँख के सामने लगा लिया। घडी को अब वह लेन्स के समीप लाता है, ताकि घडी के पुर्ज़े लेन्स और उसकी नाभि के दर्मियान आ जायँ। घडीसाज़ को पुर्ज़े का अभिवर्द्धित बिम्ब दिखलाई देता है। इस प्रकार घडीसाज़ ने एक साधारण सूक्ष्मदर्शक यंत्र अपने लिए बना रखा है। इस ढग के अकेले एक लेन्सवाले सूक्ष्मदर्शक मे नन्हीं वस्तुओं का आकार अधिक-से-अधिक पन्द्रह या बीस गुना परिवर्द्धित हो पाता है।

अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं को देख सकने के लिए उनके आकार को कई सौ गुना अधिक परिवर्द्धित करना आव-श्यक हो जाता है। अकेले एक लेन्स से इतना अधिक परिवर्द्धन नही प्राप्त हो सकता। अतः बढ़िया जाति के सूक्ष्मदर्शक यंत्र में कम से कम दो लेन्स लगे होते हैं—निरीक्षण की जानेवाली वस्तु का परिवर्द्धित किन्तु वास्त-विक बिम्ब पहले एक लेन्स द्वारा बनता है, फिर इस परि-

वर्द्धित बिम्ब को द्वितीय लेन्स द्वारा और भी परिवर्द्धित करते हैं। मानो बिम्ब के आकार का परिवर्द्धन दो क़िस्तों मे होता है। दो या दो से अधिक लेन्स-युक्त सूक्ष्म-दर्शक को यौगिक सूक्ष्म-दर्शक के नाम से पुकारते हैं। यौगिक सूक्ष्मदर्शक मे नीचेवाले लेन्स के नाभिबिन्दु की दूरी बहुत ही कम रहती है—लगभग ¼ इंच, या इससे भी कम। इसे उपदृश्य लेन्स (Objective) के नाम से पुकारते हैं। ऊपरवाले उपनेत्र लेन्स के नाभिबिन्दु की दूरी उपदृश्य लेन्स की अपेक्षा अधिक होती है—लगभग एक इंच। निरीक्षण की जानेवाली वस्तु को उपदृश्य लेन्स के निकट रखते हैं, किन्तु फिर भी यह वस्तु उस लेन्स के नाभिबिन्दु से बाहर ही रहती है। अतः सूक्ष्मदर्शक यंत्र की नली के अन्दर इस वस्तु का उलटा, वास्तविक और परिवर्द्धित बिम्ब बनता है। यह बिम्ब उपनेत्र लेन्स और उसके नाभिबिन्दु के दर्मियान पड़ता है, अतः उपनेत्र लेन्स मे से देखने पर हमे काल्पनिक और परिवर्द्धित बिम्ब दिखलाई पड़ता है। अवश्य ही यह बिम्ब मूल वस्तु के लिहाज़ से उलटा बनता है। यदि प्रथम लेन्स से २० गुना अभिवर्द्धन हुआ और दूसरे से १० गुना, तो उस वस्तु के लिहाज़ से अन्तिम बिम्ब का अभिवर्द्धन २०० गुना उतरेगा। उपनेत्र लेन्स को स्क्रू की सहायता से ऊपर-नीचे सरकाकर ऐसी जगह रखते हैं कि अन्तिम बिम्ब आँख से १२ इंच की दूरी पर बने, क्योंकि स्वस्थ आँखें १२ इंच की दूरी पर रखी हुई वस्तुओं को स्पष्ट और निष्प्रयास देख सकती हैं।
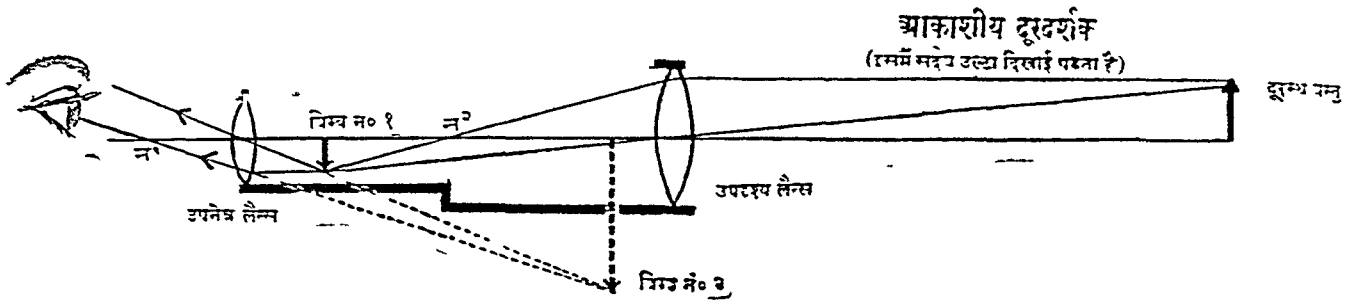
गैलीलियो का दूरदर्शक

(इसमें बिम्ब सीधा दिखाई पड़ता है)

वस्तु

दिखाई पड़नेवाला बिम्ब

नतोदर उपनेत्र लैन्स

गैलीलियो के दूरदर्शक में उपनेत्र लेन्स के कारण बिम्ब 'क' पर न बनकर 'ख' पर बनता हुआ प्रतीत होता है। यह काल्पनिक बिम्ब सीधा होता है। (दे० पृ० १७५७–५९ का मैटर)।

आजकल कुछ शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों में २० हज़ार गुना अभिवर्द्धन प्राप्त किया जा चुका है। किन्तु इन सूक्ष्मदर्शकों मे आलोक-रश्मियों की जगह विद्युत्-कणों की बौछार का प्रयोग करते हैं। लेन्स के स्थान पर शक्तिशाली चुम्बक लगे होते हैं। ये चुम्बक विद्युत्-रश्मियों का केन्द्रीकरण ठीक उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार आलोकरश्मियों का केन्द्रीकरण कॉच के लेन्स द्वारा होता है।

दूर की वस्तुएँ हमें स्पष्ट इसलिए नहीं दिखलाई देतीं कि वे हमसे बहुत दूर हैं। इन वस्तुओं का आकार सचमुच छोटा नही होता, किन्तु दूरी के कारण ये हमें छोटी प्रतीत होती हैं। सूर्य्य कितना विशाल है, किन्तु वह हमसे इतनी अधिक दूरी पर स्थित है कि हमें एक नन्हॉ-सा गोला दिखलाई पड़ता है। ऐसी दूरस्थ वस्तुओं को स्पष्ट देख सकने के लिए केवल इतना आवश्यक है कि या तो हम स्वयं इनके निकट चले जायँ, या किसी विधि से इन वस्तुओं के बिम्ब अपने निकट ले आएँ। दूरदर्शक यंत्र (दूरबीन) मे दूर की वस्तुएँ स्पष्ट इस कारण दीखती हैं कि उसकी सहायता से दूर की वस्तुओं का बिम्ब आँख के सामने एकदम निकट बन जाता है। वास्तविकता तो यह है कि दूरबीन के अन्दर बना हुआ बिम्ब आकार के लिहाज़ से मूल वस्तु से छोटा

ही होता है, किन्तु निकट होने के कारण मूल वस्तु से बडा जॅचता है। अपनी ऑख के सामने हथेली रखकर हम सूर्य्य को ढक लेते हैं—निकट होने के कारण हथेली का आकार सूर्य्य के आकार से बडा प्रतीत होता है।

हर क़िस्म के बडे-छोटे सूक्ष्मदर्शक यत्र एक ही सिद्वान्त पर बने होते है—हॉ, किसी के उपदृश्य लेन्स मे बीसियों लेन्स लगे रहते हैं, किसी मे एक ही दो। किन्तु दूरदर्शक यत्र भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है—किसी मे दूर की वस्तुऍ आपको उलटी दिखलाई देंगी, किसी मे सीधी।

आकाशीय दूरदर्शक एक लिहाज़ से सूक्ष्मदर्शक यत्र से मिलता-जुलता है। इस श्रेणी के साधारण दूरदर्शक मे भी सूक्ष्मदर्शक की ही भॉति दो उन्नतोदर लेन्सो का प्रयोग किया जाता है। हॉ, इतना अन्तर अवश्य है—और यह एक भारी अन्तर है, कि दूरदर्शक के उपदृश्य लेन्स की नाभि-दूरी लम्बी होती है, और उपनेत्र लेन्स की नाभिदूरी कम; सूक्ष्मदर्शक मे इसका ठीक उलटा होता है।

उपदृश्य लेन्स से गुज़रने पर उस दूरस्थ वस्तु से आई हुई आलोकरश्मियॉ
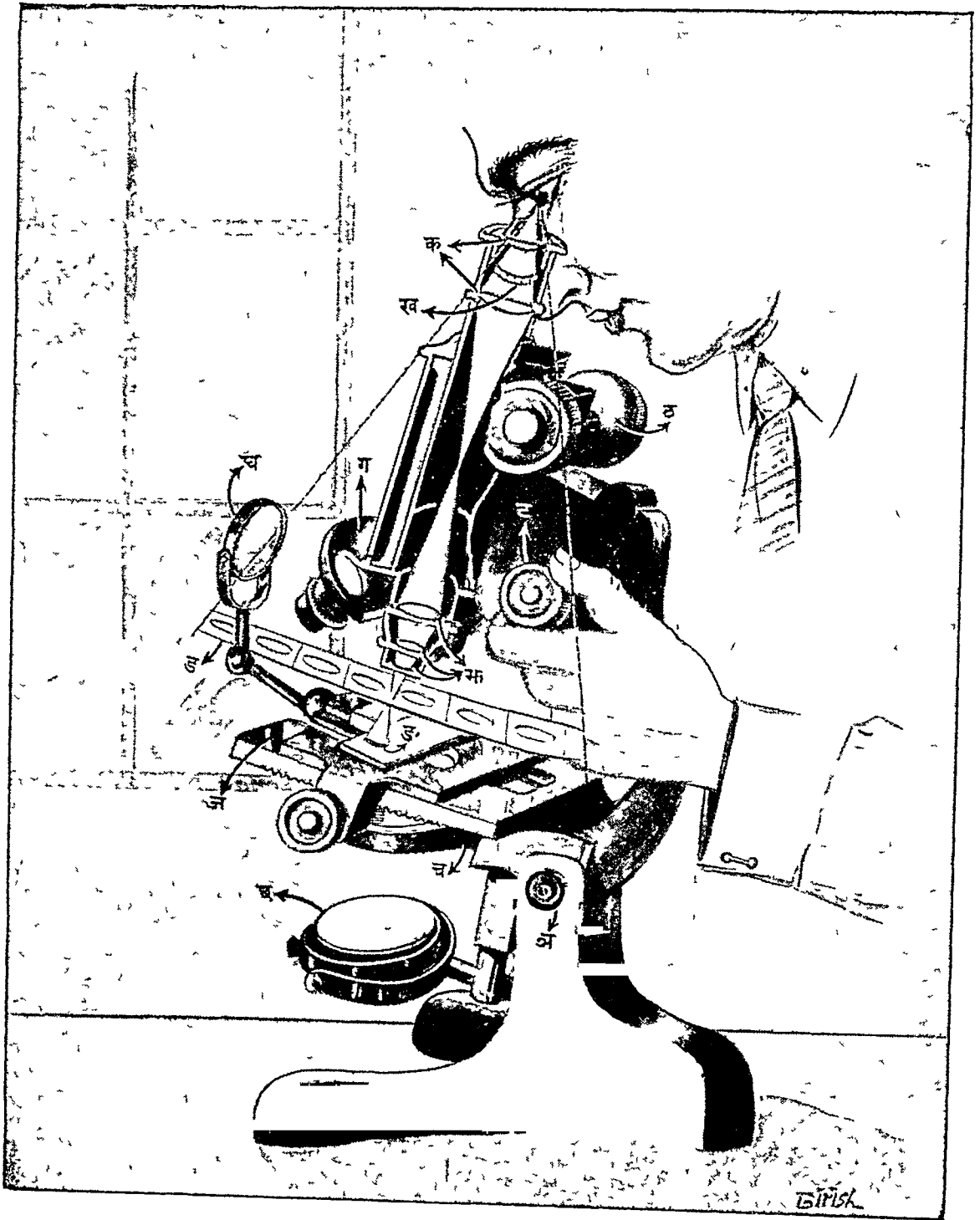
यौगिक सूक्ष्मदर्शक यंत्र की रचना

नली के भीतर की रचना समझाने के लिए उसे बग़ल से काटकर चित्र में भीतरी दृश्य दिखा दिया गया है। क—उपनेत्र लेन्स; ख—उपदृश्य लेन्सों द्वारा परिवर्द्धित बिम्ब; ग—विभिन्न व्यासों के फुटकर उपदृश्य लेन्सों को रखने के लिए एक उपाङ्ग; घ—वस्तु को ऊपर से प्रकाशित करनेवाला दर्पण; ङ—कॉंच की तख़्ती पर रक्खी हुई वस्तु जिसका परिवर्द्धित बिम्ब प्राप्त करना है; च—कन्डेन्सर; छ—वस्तु पर नीचे से प्रकाश डालनेवाला दर्पण; ज—स्टेज, अर्थात् वह आधार जिस पर वस्तु रक्खी जाती है; झ—उपदृश्य लेन्स; ञ—यंत्र की आडी धुरी; ट और ठ—फोकस मिलाने के लिए स्क्रू; ड—लेन्सों द्वारा परिवर्द्धित होने पर दर्शक को दिखाई देनेवाला बिम्ब। निरीक्षण की जानेवाली वस्तु को उपदृश्य लेन्स के निकट रखते हैं, किन्तु फिर भी यह वस्तु उस लेन्स के नाभिविन्दु से बाहर ही रहती है। अतः सूक्ष्मदर्शक यंत्र की नली के अन्दर इस वस्तु का उलटा, वास्तविक और परिवर्द्धित बिम्ब बनता है।

केन्द्रित होकर लेन्स के नाभिबिन्दु से थोड़ा ही आगे बिम्ब बनाती है। यह बिम्ब आकार मे मूल वस्तु की अपेक्षा छोटा होता है—तथा यह बिम्ब वास्तविक और उलटा बनता है। उपनेत्र लेन्स को इस बिम्ब के आगे इस तरह रखते हैं कि लेन्स और उसकी नाभि के बीच मे यह बिम्ब आ जाय। अब उपनेत्र लेन्स द्वारा इस बिम्ब का दूसरा बिम्ब बनता है—यह बिम्ब काल्पनिक और परिवर्द्धित होता है, किन्तु मूल वस्तु के लिहाज़ से यह बिम्ब उलटा ही रहा। परिवर्द्धित होने पर भी इस द्वितीय बिम्ब का आकार मूल वस्तु के आकार से छोटा ही रहता है। अवश्य यह बिम्ब हमारी आँखों के निकट बनता है। अतएव इसका व्यक्त आकार बड़ा दीखता है।

आकाशीय दूरबीन मे सूर्य्य, चन्द्रमा, बृहस्पति तथा अन्य ग्रह-नक्षत्रो के बिम्ब उलटे बनते हैं—किन्तु इसमें कोई हर्ज़ नही। इन आकाशपिण्डों के धरातल का निरीक्षण उलटे बिम्ब मे भी आसानी के साथ किया जा सकता है। पृष्ठ १७५६ पर दिए गए दूरदर्शकों के सिद्धान्त को समझानेवाले चित्र मे आलोकरश्मियों का पूरा मार्ग दिखलाने के लिए हमने मूल वस्तु को लेन्स से उसकी नाभिदूरी के दूने फासले से थोड़ा ही आगे रक्खा है। वास्तव मे दूरबीन से देखी जानेवाली वस्तुएँ इतने अधिक फासले पर स्थित रहती हैं कि वहाँ से चलनेवाली आलोकरश्मियाँ दूरदर्शक तक पहुँचते-पहुँचते एक दूसरे के समानान्तर हो जाती हैं। ऐसी दशा मे प्रथम बिम्ब उपदृश्य लेन्स के नाभिबिन्दु पर ही बनता है। द्वितीय बिम्ब बनाने के लिए उपनेत्र लेन्स को इस बिम्ब से उसकी नाभिदूरी के बराबर फासले पर रखते हैं। इस प्रकार दूरदर्शक की लम्बाई कम से कम दोनो लेन्स की नाभिदूरी के योग के बराबर होती है। भौतिक विज्ञान की सहायता से यह साबित किया जा सकता है कि दूरदर्शक की परिवर्द्धन-शक्ति उसके उपदृश्य लेन्स और उपनेत्र लेन्स की नाभिदूरी के अनुपात पर निर्भर है। अतएव शक्तिशाली दूरदर्शको मे उपनेत्र लेन्स की नाभिदूरी काफी बड़ी रखनी पड़ती है। इस कारण ऐसे दूरदर्शक यन्त्र की लम्बाई पहले कभी-कभी तो ६०० फीट तक पहुँचती थी।

प्रायः लोगों को यह देखकर आश्चर्य्य होता है कि साधारण दूरदर्शक भी हजारों-सैकड़ों ऐसे नक्षत्रों को हमारे दृष्टिक्षेत्र मे ले आता है, जिन्हे अकेली अपनी आँखों से हम कभी भी नही देख सकते। वास्तव मे बात यह है कि हमारी आँख की पुतली का व्यास १/९ इंच के लगभग होता है जबकि एक मामूली दूरबीन का उपदृश्य लेन्स कम-से-कम १ इंच चौड़ा होगा। अर्थात् हमारी आँख की पुतली के धरातल की अपेक्षा दूरदर्शक के उपदृश्य लेन्स का धरातल ९ गुना बड़ा है, अतएव यह दूरदर्शक हमारी आँखों मे पहले की अपेक्षा ९ गुना अधिक प्रकाश पहुँचाएगा। मान लीजिए आकाश मे दो तारे हैं, जिनमे से एक से हमारी आँखो मे केवल इतना प्रकाश पहुँच पा रहा है कि उसे हम मुश्किल से देख भर पाते हैं। यदि इसका प्रकाश रत्ती भर भी और कम हुआ तो फिर हमारी आँखे इसे देखने मे समर्थ न हो सकेंगी। दूसरा नक्षत्र पहले की तुलना मे केवल १/९ प्रकाश देता है। अतएव हमारी आँखों को यह बिल्कुल ही नही दिखलाई देता। दूरदर्शक में से देखने पर यह दूसरा नक्षत्र भी हमें फौरन् दृष्टिगोचर हो जायगा।

स्वयं अपने घर पर आप साधारण दूरदर्शक तैयार कर सकते हैं। किसी पुराने चश्मे मे से उन्नतोदर लेन्स निकाल लीजिए। इसकी नाभिदूरी लगभग १२ इच होनी चाहिए। कमरे के दूसरे कोने पर दीवाल पर एक तीर काले रग से बना लीजिए। इस लेन्स द्वारा बने हुए उलटे बिम्ब को धुँधले कॉच के पर्दे पर फोकस कीजिए। अब पीछे हटकर इस बिम्ब को एक छोटे उन्नतोदर लेन्स मे से देखिए। लेन्स को आगे-पीछे सरकाकर ऐसी जगह रखिए कि कॉच के पर्दे पर बनी हुई तीर की तसवीर का स्पष्ट और परिवर्द्धित बिम्ब लेन्स मे से देखने पर दिखलाई देने लगे। अवश्य इस लेन्स की नाभिदूरी २ इच से अधिक नही होनी चाहिए। किसी पुराने कैमरे मे से ऐसा लेन्स आप निकाल सकते हैं। दोनों लेन्स की दूरी सध जाने पर कॉच का पर्दा हटा लीजिए। आपका दूरदर्शक यन्त्र तैयार हो गया।

इस श्रेणी के दूरदर्शक से धरती पर की वस्तुओ को देखने मे बड़ी असुविधा होती है, क्योंकि इसके अन्दर चीज़े उलटी नजर आती हैं। धरती की वस्तुओं के निरीक्षण के लिए ऐसे दूरदर्शक की आवश्यकता होती है जिसमे चीज़े बिल्कुल सीधी नज़र आएँ। इस ढग के दूरदर्शक के आविष्कार का श्रेय सुप्रसिद्ध इटैलियन वैज्ञानिक गैलीलियो को प्राप्त है।

१६०९ ई० मे गैलीलियो ने जब सुना कि हालैण्ड-निवासी दो व्यक्तियों ने चश्मे के लेन्सों की सहायता से एक ऐसा यन्त्र तैयार किया हैं, जिसके अन्दर से देखने पर दूर की वस्तुएँ निकट दिखलाई पड़ती हैं, तो वह

इसकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। उसने कई बढिया दूरदर्शक यंत्र स्वयं तैयार किए। अपने दूरदर्शक की सहायता से बृहस्पति का निरीक्षण करके उसने पहली बार पता लगाया कि बृहस्पति के चार उपग्रह उसकी परिक्रमा लगाते हैं—इस प्रकार उसने कापर्निकस के मत की पुष्टि की कि चन्द्रमा भी पृथ्वी की परिक्रमा लगाता है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य की परिक्रमा लगाते हैं।

गैलीलियो ने अपने दूरदर्शक मे जिस उपदृश्य लेन्स का प्रयोग किया, वह उन्नतोदर ही था, किन्तु उपनेत्र लेन्स उन्नतोदर के बजाय नतोदर श्रेणी का लगाया। आकाशीय दूरदर्शक मे उपनेत्र लेन्स को प्रथम बिम्ब के आगे रखते हैं। किन्तु गैलीलियो ने अपने दूरदर्शक मे नतोदर लेन्स को उपदृश्य लेन्स और प्रथम बिम्ब के बीच मे रक्खा। ऐसा करने से उपदृश्य लेन्स से आई हुई रश्मियों को इतना मौक़ा नही मिलता कि वे एक दूसरे को काटकर प्रथम बिम्ब 'क' का निर्माण कर सके। इसके पहले वे नतोदर लेन्स द्वारा आवर्त्तित होकर एक बार फिर उलट जाती हैं और हमे मूल वस्तु का परिवर्द्धित किन्तु सीधा बिम्ब नज़र आता है (दे० पृ० १७५६ का चित्र)। युद्धक्षेत्र तथा थियेटरों मे काम मे आनेवाले दूरदर्शक गैलीलियो के सिद्धान्त पर ही बनते है।

हम ऊपर कह आए हैं कि शक्तिशाली दूरदर्शको का लम्बा होना आवश्यक है। किन्तु युद्धक्षेत्र अथवा थियेटर मे लम्बी दूरबीनो का इस्तेमाल करना असुविधाजनक होता है। समकोण त्रिपार्श्व की मदद से दूरदर्शक नली के अन्दर ही आलोकरश्मियों को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर कई बार परावर्त्तित कर लेते है। ऐसा करने से दूरदर्शक की लम्बाई तो कम हो जाती है, किन्तु उसकी परिवर्द्धन-शक्ति पहले-जैसी बनी रहती है।

दूरदर्शक के उपदृश्य लेन्स का व्यास जितना बडा होगा, उतना ही अधिक प्रकाश दूरदर्शक के अन्दर पहुँच सकेगा, अतः बिम्ब भी उतना ही अधिक स्पष्ट दीखेगा। किन्तु बडे आकार के लेन्स ढालने मे अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। ४० इंच चौडे मुँहवाले लेन्स ढाले जा चुके थे, किन्तु जब इससे भी बडे आकार के लेन्स ढालने का प्रयत्न किया गया तो लेन्स मे अनेक दोष आने लगे। कभी लेन्स चटख़ जाता, कभी बीच से टेढा पड जाता, तो कभी उसके भीतर हवा के बबूले आ जाते। इन परेशानियों से बचने के उद्योग मे दर्पणयुक्त दूरदर्शकों का विकास हुआ। उपदृश्य लेन्स के स्थान पर सबसे पहले न्यूटन ने नतोदर दर्पण का प्रयोग किया। न्यूटन के दूरदर्शक मे दूरस्थ वस्तु से आई हुई आलोकरश्मियाँ नतोदर दर्पण से परावर्त्तित होकर उसके नाभिबिन्दु पर मिलने के पहले ही एक समकोण काँच के त्रिपार्श्व द्वारा दूरदर्शक की नली की दीवाल की ओर मोड दी जाती है—इन रश्मियो द्वारा बने हुए वास्तविक बिम्ब को उपनेत्र लेन्स की मदद से देखने पर हमे परिवर्द्धित बिम्ब दिखलाई पडता है। आधुनिक युग के सभी शक्तिशाली दूरदर्शक यंत्रो मे नतोदर दर्पणो का प्रयोग होता है। माउण्ट विल्सन वेधशाला, अमेरिका, की दूरबीन के दर्पण का मुँह १०० इंच चौडा है। अनन्त अन्तरिक्ष मे और दूर तक प्रवेश करने के निमित्त अमेरिका के वैज्ञानिक आजकल एक ऐसे दूरदर्शक यंत्र की तैयारी में जुटे हुए है, जिसका मुँह २०० इंच चौडा होगा। इस दूरदर्शक के दर्पण की ढलाई का काम सकुशल पूरा हो चुका है। यह दर्पण काँच के एक विशाल शिलाखण्ड से तैयार किया गया है, जिसका वज़न २५ टन से ऊपर है। यह दूरदर्शक १० हज़ार मील पर रक्खी हुई मोमबत्ती के प्रकाश से भी प्रभावित हो सकेगा!

पानी के अन्दर से सबमैरीन-संचालक पेरिस्कोप की सहायता से बाहर की वस्तुओ को भली भाँति देख सकता है। वास्तव मे पेरिस्कोप दो दूरदर्शक यत्रो के संयोग से बना है। पेरिस्कोप धातु की एक मज़बूत नली के अन्दर बन्द रहता है। इस नली मे पानी प्रवेश नही कर सकता। पेरिस्कोप के सिरे पर एक समकोण त्रिपार्श्व इस प्रकार फिट किया हुआ है कि आलोकरश्मियाँ परावर्त्तित होकर एकदम लम्बवत् नीचे को पेरिस्कोप की नली मे प्रवेश करती हैं—नीचे मुडने पर पहले वे प्रथम दूरदर्शक से गुज़रती हैं। इस दूरदर्शक के अन्दर दो अत्यन्त बारीक स्केल काँच के पर्दे पर खुदे हुए लगे होते है। इस प्रकार बाह्य दृश्य के बिम्ब पर इस स्केल का बिम्ब भी आरूढ करा दिया जाता है। प्रथम दूरदर्शक से बाहर निकलने पर आलोकरश्मियाँ एक दूसरे के समानान्तर होती हैं। अब ये पुनः द्वितीय दूरदर्शक मे प्रवेश करती है। किन्तु इस दूरदर्शक मे उपनेत्र लेन्स तक पहुँचने के पूर्व ये आलोकरश्मियो एक समकोण त्रिपार्श्व द्वारा बग़ल मे मोड दी जाती हैं। सबमैरीन-निर्देशक इसी उपनेत्र लेन्स पर आँख लगाये बाह्य ससार की गति-विधि का अन्दाज़ लगाता रहता है। बिम्ब मे स्केल भी दिखलाई पडता है, अतः उपनेत्र लेन्स मे दिखलाई देनेवाली वस्तुओं के आकार का भी पता लग जाता है।

विषाक्त गैसों से रक्षा करनेवाला गैस-मास्क

(मध्य में) गैस के आक्रमण के समय युद्ध-भूमि में डटा हुआ एक योद्धा । गैस-मास्क उसे विषाक्त गैस से रक्षित किए हुए है । (ऊपर) ख़तरे के समय में गैस से बचने के लिए नागरिकों को गैस-मास्क पहन लेना आवश्यक होता है । इस चित्र में माता अपने बच्चे को गैस-मास्क पहनाए हुए लिये जा रही है, और वह स्वयं भी अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए गैस-मास्क पहने हुए हैं । (नीचे) संकट के समय न केवल सैनिकों अथवा नागरिकों को, वरन् घोड़ों आदि पशुओं की भी गैस से रक्षा करना आवश्यक होता है । इस चित्र में सैनिक अपने घोड़े को भी गैस-मास्क पहिनाए हुए अपने कार्य के लिए तैयार है ।
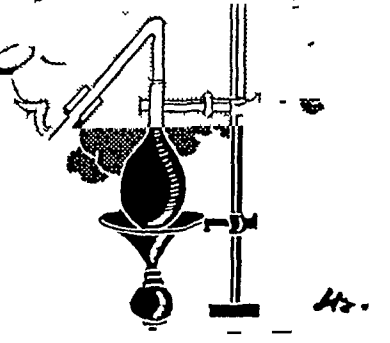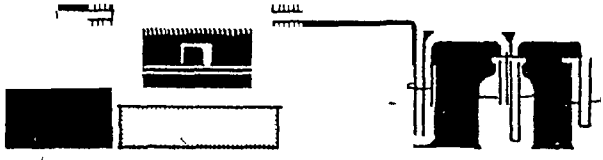
प्राणघातक क्लोरीन

रण-क्षेत्रों में काम में लाई जानेवाली भयंकर विषाक्त गैसों की कथा

एप्रिल, सन् १९१५। योरप मे वसंत ऋतु यौवन पर था। किंतु इस बार वहाँ के युद्धव्यग्र देशों की वासंती आह्लाद-किलकारियाँ ईप्रेस के समर-क्षेत्र मे रक्खी हुई तोपो के भीषण गर्जन मे बदली हुई थी। २२ तारीख की संध्या को एकाएक जर्मन तोपो का भयानक निर्घोष बद हो गया। मित्र-राष्ट्रो के सिपाही, जिनमे ब्रिटिश, फ्रेञ्च और कनाडियन सभी थे, इस मौन के रहस्य को न समझ सके। उन्होने कुतूहलवश पैरापटो के ऊपर से उत्तर की ओर झाँककर देखा। जर्मन खाइयो के सामने-सामने बहुत दूर तक पृथ्वीतल एक विचित्र प्रकार के कोहरे से ढका हुआ था। नीचे वह हरा-सा और ऊपर, जहाँ से अस्त होते हुए सूर्य की रश्मियाँ परावर्त्तित हो रही थी, पीला दिखाई दे रहा था। इस अद्भुत बादल को देखकर मित्र-राष्ट्रो के दल विस्मित हो गए। किंतु इसे ही आग्नेय अस्त्रों के मौन का कारण समझकर उनकी निश्चितता और भी अधिक बढ़ गई। उत्तर-पवन द्वारा यह भूमिशायी बादल शीघ्रता से आगे बढता चला आ रहा था। मित्र-राष्ट्रीय सैनिक टकटकी लगाए हुए इस विलक्षण बादल की ओर देख रहे थे, मानो कोई तमाशा हो। एकाएक वे छटपटाते हुए अपने हाथो को उपर झटकने, गलो को चुंगल मे दबाने, और बहुत-से तो दम घुटने के कारण तड़प-तडपकर भूमि पर गिरने भी लगे। अन्य सैनिक, इस पैशाची कोहरे से नितांत असहाय होने के कारण, पीछे खाइयो की कतारो को पार करते हुए बावलो की भाँति भागे। बहुतो ने ईप्रेस पहुँचने पर दम ली। वे इस विकराल वायव्य अस्त्र से घबड़ाकर इतने आचार-भ्रष्ट हो गए कि दूसरे दिन तक उन्हे एकत्र कर लेना संभव न हो सका। अफ्रीका के जादू मे विश्वास करने-वाले सिपाहियो के भय का तो ठिकाना न रहा था।
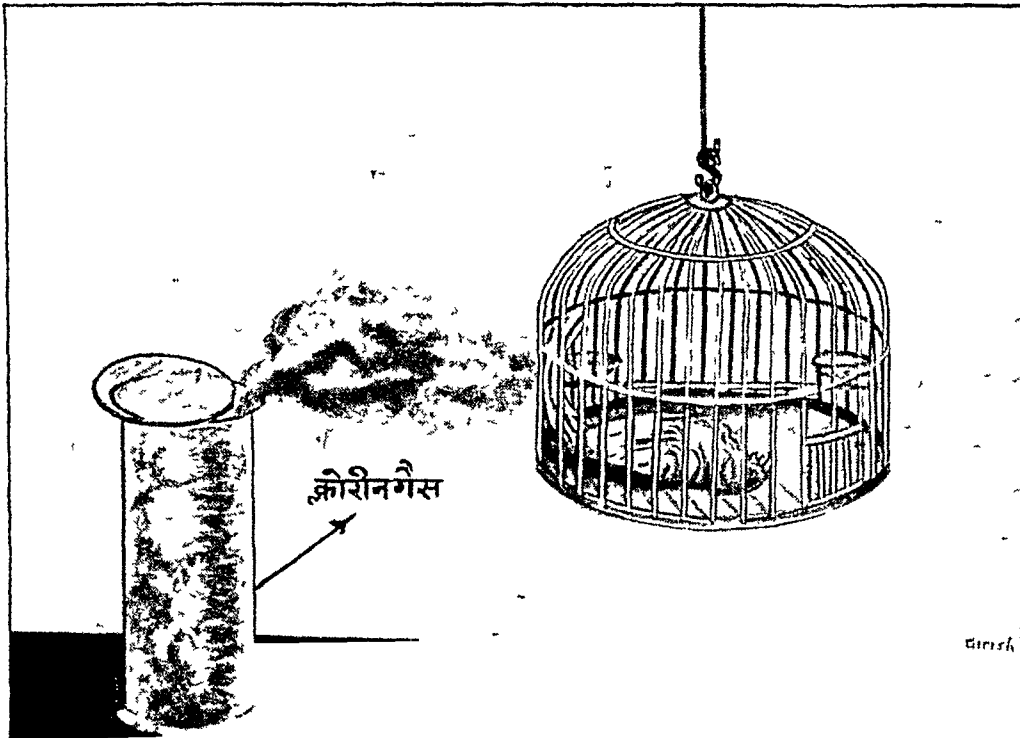
क्लोरीन गैस की विषाक्तता

कहीं आप धोखे से किसी पक्षी के समीप क्लोरीन से भरा कोई पात्र न खोल दें। नहीं तो — चिड़िया की-सी जान! — उसे ढुलकते देर न लगेगी। क्लोरीन की इसी विषाक्तता द्वारा मनुष्य वर्तमान महायुद्धों में मानव प्राणियों को नष्ट करने पर उतारू हुआ है।

* * *

लगभग एक

सप्ताह पहले ही जर्मनों ने आगे की खाइयो मे क्लोरीन के सिलिण्डर लगभग एक-एक गज की दूरी पर लगाकर रख दिए थे। इन सिलिण्डरों की टोंटियो से सीसे की नलियाँ जोड दी गई थी, और इन नलियो के सिरे पैरापटों के ऊपर रख दिए गए थे। एक भागे हुए जर्मन सैनिक ने इस भावी गैसीय आक्रमण के संबध मे मित्र-राष्ट्रो को सूचना दी, किंतु किसी ने इसमे विश्वास न किया, कारण हेग के अतर्राष्ट्रीय शाति-सम्मेलनों मे दो बार, अर्थात् १८९९ और १९०७ मे, विषैली गैसों के निषेध का निर्णय हो चुका था। जर्मनों ने इस निर्णय की ज़रा भी परवा न की। २२ तारीख़ को संध्या समय, जब हवा ठीक दक्षिण अर्थात् मित्र-राष्ट्रो की सेना की ओर बह रही थी, एक साथ सब सिलिण्डरों के वाल्व खोल दिए गए। सीसे की नलियो के सिरों से क्लोरीन गैस सुरसुराती हुई तेज़ी से निकलने लगी। चक्कर काटती हुई वह आगे बढती, और हवा से ढाई गुनी भारी होने के कारण, धरातल पर बादल के रूप मे एकत्र होकर उत्तर-पवन द्वारा आगे चल पडती। अभी थोडे ही समय पहले तोपो के कराल मुँह से प्रचड शब्द के साथ डेढ-डेढ फीट व्यास के इस्पाती गोले छूट रहे थे, लेकिन जर्मनों को इनमे कुछ अधिक विश्वास न रहा था। यदि गोला निशाने पर बैठा भी, तब भी केवल स्थानीय संहार! और यदि चूका तो इधर-उधर छितरे हुए केवल कुछ इस्पात के टुकडे! अतएव, जर्मनों ने बृहत्व को स्थगित करके लघुत्व की परीक्षा करनी चाही थी। एक इच के दस करोडवे भाग व्यास के क्लोरीन के अणु को अब उन्होंने अपना अस्त्र बनाया था। इसी अस्त्र के झुड के झुंड कल्पनातीत सख्याओं मे हवा मे डोलते हुए चुपचाप आगे बढे चले जा रहे थे—सहसा चारो ओर से घेरकर सैनिको के फेफडों पर आक्रमण करने और दम घोटकर उनके प्राणो को हर लेने के लिए! कितना विचित्र विपर्यय था!

गैस छोड चुकने पर जर्मन सैनिक अपने नवीन प्रयोग के परिणाम को देखने के लिए उत्सुकतापूर्वक आगे बढे। एक-एक करके वे मित्र-राष्ट्रों की खाइयों पर क़ब्जा करते गए—उनका विरोध करनेवाला वहाँ कोई न था। हजारो मरे हुए सैनिक इधर-उधर बिखरे हुए अवश्य पडे थे। उनके ऐंठे हुए शरीरो, काले पड गए चेहरों, और फटे हुए फेफडों के रक्त और फेन से सने हुए होठों से अब भी यह प्रकट हो रहा था कि कितनी घोर यातना मे उनके प्राण निकले होंगे! मित्र-राष्ट्रीय सैनिको द्वारा छोडी हुई बहुत-सी फ्रेञ्च और ब्रिटिश तोपे भी जर्मनों के हाथ लगीं।* अपने दुर्भाग्यवश जर्मन और आगे आक्रमण करने के लिए पहले से ही तैयार न थे। कदाचित् उन्हे विश्वास ही न था कि क्लोरीन इतना गज़ब ढा देनेवाली गैस सिद्ध होगी। यदि वे पहले से ही तैयार होकर आगे बढते जाते तो अमेरिकन लेखक डॉ० स्लॉसन की राय मे जर्मनी '१९१८ के अत मे पराजित होने के स्थान मे १९१५ के वसत मे ही लडाई जीत लेता'।

गैस के इस प्रथम आक्रमण मे १७० टन क्लोरीन लगभग चार मील की दूरी तक छोडी गई थी। आहतों की सख्या लगभग २०,००० थी, जिनमे लगभग ५००० की मृत्यु हो गई थी।

गैसों की होड़

हेग के गैस-निषेधक निर्णय के भग होते ही मित्र-राष्ट्र भी गैस के व्यवहार का प्रबध जोरों से करने लगे। सेप्टेम्बर, १९१५, मे ब्रिटिश लोगों ने पहले-पहल क्लोरीन गैस का प्रयोग किया। किंतु जर्मन अपने गैस-सबधी वैज्ञानिक अनुसधानों में आगे ही बढे रहे, और विषाक्ततर गैसों की खोज और उनका उपयोग करते गए। जैसे ही मित्र-राष्ट्र भी किसी नवाविष्कृत गैस का निर्माण और उपयोग कर पाते, वैसे ही जर्मनी कोई अधिक भयानक नवीन विष मित्र-राष्ट्रों के क्षेत्र मे छोड़ देता। इसीलिए युद्धक्षेत्रों मे अधिकतर विषाक्त गैसों का प्रवेश जर्मनो द्वारा ही हुआ। इनमे प्राणनाशक गैसों का वर्गीकरण उनके विषाक्त प्रभाव के आधार पर निम्न तीन प्रकारों मे किया गया है—(१) फुफ्फुस-प्रदाहक गैसे (Acute Lung Irritants), (२) फफोला गैसे (Vesicants), और (३) स्नायुघातक गैसे (Paralysants)। एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह थी कि प्रायः यह सभी विषाक्त पदार्थ क्लोरीन के ही यौगिक थे। जिस प्रकार नाइट्रोजन विस्फोटक पदार्थों का वीर-तत्त्व समझा जा सकता है, उसी प्रकार हम क्लोरीन को विषाक्त गैसों का वीर-तत्त्व कह सकते हैं। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह थी कि प्रायः ये सभी विषाक्त पदार्थ कार्बनिक (Organic) ही थे, अकार्बनिक (Inorganic) नही। साधारण दशाओं मे इनमे से अधिकतर पदार्थ द्रव और एक-आध ठोस भी होते हैं, तथापि आक्रमण के समय इन पदार्थो के वाष्प-

* यहाँ गैस के प्रथम आक्रमण की घटनाओं का वर्णन मुख्यतः सर आर्थर कॉनन-डॉयल कृत "हिस्ट्री आफ़ दि ग्रेट वार" के आधार पर किया गया है।

रूप अथवा छोटे-छोटे बिंदुओ या धूलिकणो के रूप मे उडने के कारण ये सब 'विषाक्त गैसें' (Poison gases) के नाम से ही विख्यात हैं। उनके द्रव या ठोस होने से एक सबसे बडी सुविधा यह रहती है कि बोतलो मे भरकर वे गोलों और बमो में विस्फोटको मे गाडकर रख दिए जा सकते हैं, और ये गोले और बम तोपो और वायुयानो द्वारा शत्रुओं पर फेंके जा सकते हैं। कुछ तरल विष वायुयानो अथवा टैंको से शत्रु-क्षेत्रो पर छिडक भी दिए जाते हैं।

फुफ्फुस-प्रदाहक गैसें

इस प्रकार की गैसो के प्रभाव से श्वासेन्द्रियो मे अतीव जलन पैदा हो जाती है और फेफडे खराब हो जाते है। इसीलिए इन्हे 'फुफ्फुस-प्रदाहक' कहते हैं। फुफ्फुस-प्रदाहको से आक्रांत व्यक्ति की मृत्यु सीधे गैस के ही कारण नही होती, वरन्, जलन होने के कारण फेफडे और श्वासमार्ग सूज जाते हैं जिससे, इनके बंद हो जाने के कारण, दम घुट जाता है। ऑक्सिजन गैस देने से रोगी को इसीलिए लाभ होता है। क्लोरीन की गणना इसी प्रकार की गैसो मे है। हवा के दस हज़ार आयतनिक भागो मे क्लोरीन का यदि एक भाग भी मिला हो तो इस मिश्रण मे एक-दो मिनट से अधिक साँस लेने से फेफडे खराब हो जाते हैं।

क्लोरीन के प्रथम आक्रमण के बाद ही दो सप्ताहो के भीतर प्रत्येक ब्रिटिश सिपाही को गैस-मास्क अथवा रेस्पिरेटर (आगे देखिए) से युक्त कर दिया गया था। इन रेस्पिरेटरो द्वारा उनकी क्लोरीन गैस से पूर्णतः रक्षा हो सकी। जब जर्मनो ने देखा कि उनके क्लोरीन के आक्रमण अपना प्रभाव खो बैठे है तो उनका ध्यान अन्य विषाक्त गैसो की ओर आकर्षित हुआ। अतएव उन्होने दिसंबर १९१५ से क्लोरीन गैस के साथ एक अन्य अत्यधिक विषैली गैस को अधिकाधिक परिमाणो मे मिलाकर छोडना शुरू कर दिया। इस गैस का नाम फॉस्जीन था। जैसा कि उसके अणु-सूत्र $COCl_2$ से प्रकट है, यह गैस दो विषाक्त गैसो अर्थात् कार्बन मोनॉक्साइड (CO) और क्लोरीन (Cl_2) के रासायनिक संयोग से बनती है। इन दोनो गैसों को सूर्यप्रकाश मे रखने पर वे तुरत सयुक्त होकर फास्जीन मे परिणत हो जाती हैं। इसीलिए जॉन डेवी ने, जिसने सन् १८११ मे इस पदार्थ का आविष्कार किया था, इसका नाम फास्जीन रक्खा (फास=प्रकाश, जीन=उत्पन्न, अर्थात् प्रकाश द्वारा उत्पन्न)। तथापि इसके निर्माण की आधुनिक विधि मे सूर्य-प्रकाश नही, किंतु छिद्रमय कोयला काम मे लाया जाता है। कोक को अपर्याप्त ऑक्सिजन मे जलाकर पहले कार्बन मोनॉक्साइड गैस बना लेते हैं; फिर इस कार्बन मोनॉक्साइड मे क्लोरीन गैस का उतना ही आयतन मिलाकर मिश्रण को आठ-आठ फीट लोहे के बक्सो मे भरे हुए छिद्रमय कार्बन (कोयले) से होकर प्रवा-

पिछले महायुद्ध में जर्मन रूसी सेनाओं की ओर विषाक्त गैसें छोड़ रहे हैं आगे रक्खे हुए सिलिण्डरों से गैस चक्कर काटती हुई निकल रही है और बादल के रूप में एकत्र होकर आगे बढ रही है। पीछे तीन पंक्तियों में जर्मन सैनिक गैसाक्रमण के बाद धावा बोल देने की प्रतीक्षा में हैं। यह फोटोग्राफ़ वायुयान से एक रूसी उड़ाकू ने लिया था।

हित करते हैं। कार्बन अपने उत्प्रेरक प्रभाव से दोनों गैसों को सयुक्त कर देता है।

फॉस्जीन को रासायनिक भाषा मे कार्बोनिल क्लोराइड कहते हैं। यह एक रग-हीन, तीक्ष्ण गधवाली और क्लोरीन से दसगुनी अधिक विषाक्त गैस होती है। तीन चौथाई क्लोरीन और एक चौथाई फॉस्जीन का मिश्रण युद्ध के लिए सबसे अधिक कार्यसाधक प्रमाणित हुआ है। सामान्य दबाव मे क्लोरीन केवल-३४°C तक ही, किन्तु फॉस्जीन ८°C तक द्रवरूप मे रह सकती है। इसीलिए क्लोरीन और फॉस्जीन का मिश्रण क्लोरीन की अपेक्षा कम दबाव मे ही सकुचित करके द्रवीभूत किया जा सकता है। अतएव, यह मिश्रण न केवल सिलिण्डरों मे ही, किंतु गोलों और बमो मे भी बोतलों मे भर कर रक्खा जा सकता है। सिलिण्डरो से गैस छोडने पर सफलता हवा की दशा पर निर्भर रहती है। गोलों और बमों द्वारा दूर ही से वहीं की वहीं ख़बर ली जा सकी। एक-एक गोले मे तीस-तीस पौण्ड तक फॉस्जीन भरी रहती थी।

जो रेस्पिरेटर मित्र-राष्ट्रों की सेना में क्लोरीन के आक्रमण के बाद उपयुक्त हुए थे, उनमे फॉस्जीन सरलतापूर्वक घुस सकती थी, अतएव फॉस्जीन छोडने के पहले जर्मनों ने यह आशा बॉध रक्खी थी कि यह गैस मित्रराष्ट्रीय सेना का सर्वनाश कर देगी। किंतु भाग्यवश ब्रिटिश लोगों को खुफिया तौर से जर्मनी के भावी फॉस्जीन के आक्रमण का पता लग गया था। उन्होने यह सूचना युद्ध के रासायनिक विभाग को भेज दी। १६ दिसबर १६१५ को प्रातःकाल के समय जर्मनों ने ब्रिटिश क्षेत्रों पर पहले पहल १०० टन फॉस्जीन छोड दी। तथापि उनकी आकांक्षाऍ पूरी न हुई, और आक्रमण असफल रहा। ब्रिटिश सैनिकों ने पहले से ही ऐसे नए ढंग के मास्क पहन रक्खे थे, जिनमे फॉस्जीन का शोषक 'हेक्सामेथिलीन टेट्रामाइन' भरा हुआ था। कुल आहतों की सख्या केवल १०१७ थी, जिनमे केवल १२० ही मरे थे।

१६१६ में जर्मनों और फ्रेञ्चों द्वारा एक अन्य विषाक्त द्रव का उपयोग हुआ। अणु के संगठन ($Cl\ COOCCl_3$) के आधार पर इसका रासायनिक नाम 'ट्राइक्लोरमेथिलक्लोरोफार्मेट' लिया जाता है। फार्मिक ऐसिड ($H\ COOH$) के अणु मे पहले हाइड्रोजन परमाणु के स्थान पर क्लोरीन का परमाणु, और दूसरे के स्थान पर 'ट्राइक्लोरमेथिल' (CCl_3) नामक परमाणु-समूह को रासायनिक विधियों द्वारा बिठा देने से यह पदार्थ बनता है। इसीलिए इसका नाम यह पडा। कार्बनिक रसायन मे इतने बडे नाम असाधारण नहीं होते। यह पदार्थ १२८°C पर उबलनेवाला एक द्रव होता है, अतएव इन गोलो और बमों में सरलतापूर्वक भरा जा सकता है। विषाक्तता मे फॉस्जीन से यह कुछ अधिक ही होता है।

इसी वर्ष से क्लोरीन के एक अन्य कार्बनिक यौगिक 'क्लोरो-पिक्रिन' (CCl_3NO_2) का भी उपयोग, जर्मनो और मित्रराष्ट्रों दोनों की ओर से, प्रारंभ हुआ। क्लोरोपिक्रिन ११२°C पर उबलनेवाला एक द्रव होता है। यह पिक्रिक ऐसिड (दे० पृ० ११६४) पर क्लोरीन की रासायनिक क्रिया द्वारा बनता है, इसीलिए इसे क्लोरो-पिक्रिन कहते हैं। इसे बनाने के लिए क्लोरीन ब्लीचिंग पाउडर (दे० पृ० १६५२) के रूप मे और पिक्रिक ऐसिड कैल्शियम पिक्रेट के रूप मे ली जाती हैं। ब्लीचिंग पाउडर को पानी के साथ मिलाकर एक पतला लेप बना लेते हैं, और यह लगभग १८ फीट ऊँची और ८ फ़ीट व्यास की एक डेग मे भर लिया जाता है। इसमे पप द्वारा कैल्शियम पिक्रेट के घोल को ले जाकर मिला दिया जाता है। प्रतिक्रिया के आरभ होते ही मिश्रण गर्म होने लगता है, और फिर इतना गर्म हो जाता है कि बाहर निकलती हुई भाप के साथ क्लोरो-पिक्रिन भी स्रवित होने लगता है। द्रवीभूत होने पर क्लोरो-पिक्रिन पानी से भारी होने के कारण नीचे की तह मे इकट्ठा हो जाता है और यहॉ से उसे निकालकर गोलों मे भर लिया जाता है। विषाक्तता मे क्लोरो-पिक्रिन ट्राइक्लोरमेथिलक्लोरोफार्मेट के ही बराबर होता है। गोलों अथवा बमों मे क्लोरोपिक्रिन के साथ बहुधा २० प्रतिशत टिनक्लोराइड (स्टैनिक क्लोराइड $SnCl_4$) भी भर दिया जाता है, जिसके कारण हवा मे एक घना सफेद धुआं फैल जाता है। यह धुऑ गैस-मास्क के भीतर भी पैठ जाता है। हवा मे रहनेवाली जलवाष्प की प्रतिक्रिया द्वारा टिनक्लोराइड से स्टैनिक ऐसिड और हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस का उत्पादन होता है, और यह अम्लीय गैस नाक, गले और फेफडों मे एक तीव्र जलन पैदा कर देती है। इसके अलावा क्लोरो-पिक्रिन के व्यवहार मे विशेष बात यह होती है कि इसके प्रभाव से आक्रात व्यक्ति का जी मतलाने लगता है और उसे कै होने लगती हैं। इससे उसे गैस-मास्क उतार देना पडता है, और उसे उतारते ही वह बाहर फैली हुई घोर विषाक्त गैसो का शिकार हो जाता है।

फफोला-गैसें

सन् १९१७ में जर्मनों ने युद्ध-क्षेत्र में एक बिलकुल नए विषाक्त पदार्थ का प्रवर्त्तन किया। इसका लोकप्रिय नाम मस्टर्ड गैस है, क्योंकि उसमें कुछ-कुछ सरसों (Mustard) की-सी गंध आती है। इसका दूसरा नाम ईपराइट (Yperite) भी है, क्योंकि यह सबसे पहले ईप्रेस के क्षेत्र पर छोड़ा गया था। उसके अणु की रासायनिक रचना [$(CH_2ClCH_2)_2S$] के आधार पर उसे 'डाइ-क्लोरो-डाइ-एथिल सल्फाइड' भी कहते हैं। किन्तु स्वयं रसायनशास्त्री भी इस बड़े-से नाम से घबड़ाकर उसे अधिकतर 'मस्टर्ड गैस' ही कहा करते हैं। कहा जाता है कि गत महायुद्ध में सबसे अधिक मौतें इसी पदार्थ द्वारा हुई थीं। यह विषाक्त 'गैस' भी वस्तुतः गैस नहीं होती, वरन् २१७°C पर उबलनेवाला और १४°C के नीचे जमकर ठोस हो जानेवाला एक द्रव होता है। या तो वह गोलों और बमों में भरकर रख दिया जाता है, अथवा वायुयानों और टैंकों से फव्वारे के रूप में शत्रु-क्षेत्र पर छिड़क दिया जाता है। यह बड़ा ही विश्वास-घातक विष होता है। मिट्टी में मिला हुआ वह कई दिनों या हफ्तों तक पड़ा रहता है। अधिक सर्दी में उसका वाष्पीभवन नहीं होता, किंतु तापक्रम बढ़ते ही वह वाष्प में परिणत होकर हवा में मिलने लगता है। पानी की क्रिया से भी वह बहुत दिनों तक नष्ट नहीं होता। उसमें इतनी हल्की गंध होती है कि मनुष्य मृत्यु के मुख में जाते हुए भी उसका पता नहीं पा सकता। केवल गैस-मास्क के ही द्वारा इस विष से पूर्णतः रक्षा नहीं हो सकती; कारण, त्वचा पर भी इसके लग जाने से फफोले पड़ आते हैं जिनमें बड़ी ही तीव्र पीड़ा होती है। अतएव, इससे बचने के लिए गैस-मास्क के अलावा रबर, मोम-जामा आदि अभेद्य कपड़ों के बने हुए वस्त्र भी पहनने
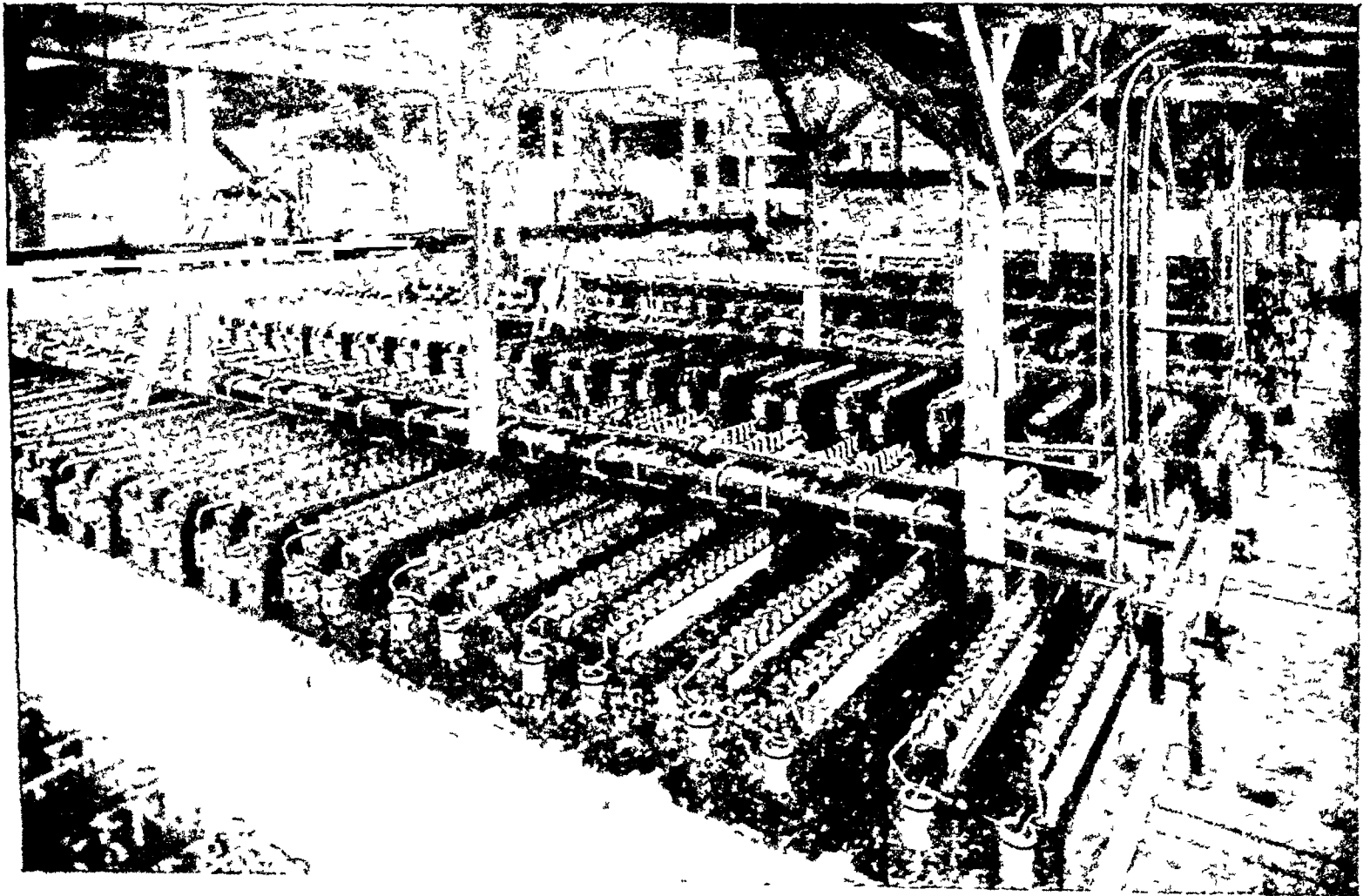
युद्ध के लिए क्लोरीन का वृहत् परिमाणों में निर्माण

पिछले अंक में हम नमक के घोल से क्लोरीन, हाइड्रोजन और कॉस्टिक सोडा का निर्माण करनेवाले नेल्सन के कोष्ट का वर्णन कर चुके हैं। इस चित्र में प्रदर्शित एक अमेरिकन फैक्टरी में इसी प्रकार के सहस्रों कोष्ट पंक्ति-बद्ध रक्खे हुए हैं। गत महायुद्ध के समय इस कार्यालय में इसी प्रकार के आठ कमरे थे और उसमें प्रतिदिन २,००,००० पौंड क्लोरीन तैयार की जा सकती थी। इस क्लोरीन से विभिन्न विषाक्त गैसों का निर्माण होता था।

पडते हैं। गैस-मास्क भी कब तक पहने रहना आवश्यक है, इसका भी अनुमान कर लेना कठिन रहता है। ऐसा भी हुआ है कि लगातार बारह घंटे तक गैस-मास्क पहनने के बाद भी जब सैनिकों ने उन्हे उतारा तब भी वह हवा मे मौजूद थी और उन्हे उसका शिकार होना पडा। एक धोखे की बात यह भी होती है कि मस्टर्ड गैस का प्रभाव तुरत ही प्रकट नहीं होता, जिससे मनुष्य इसमें अनजान मे ही बहुत देर तक साँस लेते चले जाते हैं, अथवा इसका स्पर्श करते रहते हैं। यदि हवा के एक लाख आयतनिक भागों मे मस्टर्ड गैस का एक भाग रहे, तो इसमें एक घंटे तक साँस लेने के बाद ही इसका प्रभाव प्रकट होता है, अर्थात् आँखों, नाक, गले और फेफडों में जलन पैदा हो जाती है, और श्वासमार्ग और फेफडों के सूज जाने के कारण या तो आक्रांत की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है अथवा फेफडों के घायल और निर्बल हो जाने के कारण वह बाद में न्युमोनिया, ब्रांकाइटिस आदि रोगों से ग्रस्त होकर बहुधा समाप्त हो जाता है। इसके अलावा, मस्टर्ड गैस का वाष्प चुपचाप सैनिकों के वस्त्रों में भी भिदता रहता है, और जैसे ही कार्यव्यस्त होने के कारण उनके शरीर गर्म हो जाते हैं; वह त्वचा पर विशेषतः बगलों मे आक्रमण करके फफोले डाल देता है। इस पदार्थ के लग जाने पर उसे तुरंत ही साबुन से धो डालना और यदि आँखों पर भी असर पहुँचा है तो गुनगुने पानी से धोकर उनमें रेडी का तेल डाल देना आवश्यक होता है।

'मस्टर्ड गैस' को सबसे पहले गुथ्री नामक एक अंग्रेज़ ने १८६० ई० मे बनाया था। १८८६ में जर्मन रासायनिक विक्टर मेयर ने उसका आविष्कार फिर से किया, किन्तु इस पदार्थ के साथ प्रयोग करना इतना संकटमय प्रमाणित हुआ कि उसे अपने इस अन्वेषण-संबधी कार्य को त्याग ही देना पडा। इसके लगभग तीस वर्ष बाद, १२ जुलाई, १९१७, के दिन, जर्मनों ने एकाएक इसे ईप्रेस के रण-क्षेत्र मे ब्रिटिश सेना के ऊपर छोडकर इसे विख्यात कर दिया। सब मिलाकर ५०,००० गोले ब्रिटिश खाइयों में फेके गए थे, और इन सबमे कुल मिलाकर १३० टन मस्टर्ड गैस भरी हुई थी। इसके बाद मित्र-राष्ट्रों ने भी इसका उपयोग किया।

बडे परिमाणों में यह विष क्लोरीन, अल्कोहोल और गंधक (सल्फ़र) से बनाया जाता है। एक लोहे का खडा हुआ नल चीनी मिट्टी के टुकडों से भरकर गर्म किया जाता है, और उसमें भापमिश्रित अल्कोहोल-वाष्प प्रवाहित किया जाता है। अल्कोहोल (C_2H_5OH) इस प्रकार इथिलीन गैस (C_2H_4) और भाप (H_2O) में विच्छिन्न हो जाता है। इसके साथ-ही-साथ गंधक को पिघलाकर उसमे क्लोरीन गैस बुलबुलाई जाती है, जिससे दोनों तत्त्व संयुक्त होकर सल्फर मोनोक्लोराइड (S_2Cl_2) का उत्पादन करते हैं। यह सल्फर क्लोराइड एक तरल पदार्थ होता है और टैङ्कों की एक श्रेणी मे इकट्ठा कर लिया जाता है। इस द्रव में इथिलीन गैस महीन छिद्रों द्वारा बुलबुलाई जाती है और 'मस्टर्ड गैस' नामक द्रव बनकर इकट्ठा हो जाता है। जैसा कि सूत्र से प्रकट है, इसके एक अणु मे इथिलीन गैस के दो अणु, गंधक का एक परमाणु और क्लोरीन के दो परमाणु सबद्ध रहते हैं।

गत महायुद्ध के अतिम वर्ष मे अमेरिका के प्रोफ़ेसर लीविस ने मस्टर्ड गैस से भी अधिक प्राणनाशक पदार्थ 'लीविसाइट' ($C_4H_2AsCl_3$) बहुत बडे परिमाणों में ऐसेटिलीन गैस (C_2H_2) और आर्सेनिक ट्राइक्लोराइड ($AsCl_3$) की प्रक्रिया से बनाया था। इसका रासायनिक नाम मस्टर्ड गैस के नाम से भी अधिक बडा अर्थात् 'डाइ-क्लोरो-बीटा-क्लोरो-विनिल आर्सीन' है। वर्तमान महायुद्ध मे, संभव है, यह पदार्थ काम मे लाया जाय।

स्नायुघातक गैस—हाइड्रोसायनिक ऐसिड

हाइड्रोसायनिक ऐसिड (HCN) का दूसरा नाम 'प्रूसिक ऐसिड' है। सबसे पहले इसका उपयोग मित्रराष्ट्रों ने गत महायुद्ध में १९१६ में किया था। नीचे तापक्रमों पर यह एक रंगहीन द्रव होती है, जो २६·५°C पर उबलकर गैस मे परिणत हो जाती है। प्राणनाश के लिए २००० वायु-भागों में इसके एक भाग का रहना आवश्यक है। इससे यह प्रकट है कि अन्य विषाक्त गैसों की अपेक्षा इसका हवा मे अत्यधिक मात्रा मे मिश्रित रहना आवश्यक होता है। बहुधा इसका समाहरण इस सीमा तक नहीं पहुँच पाता, और आक्रमण बेकार हो जाता है। जर्मनों ने इसीलिए इसका उपयोग व्यर्थ समझा। किंतु, इस सीमा के पहुँचते ही आक्रांत कुछ ही क्षणों मे मृत्यु का शिकार हो जाता है। इसका प्रभाव मस्तिष्क के स्नायुमंडल पर पडता है, जिससे फेफडों और हृदय की गति एकाएक रुक जाती है। इस विष मे कडवी बादाम की-सी गंध होती है, किंतु हवा मे प्राणघातक परिमाणों मे भी मिली होने पर कुछ देर बाद, नाक के परदों के प्रभावित हो जाने के कारण, उसकी गध मालूम नहीं होती। इसीलिए मनुष्य उससे बचने के लिए ऐसे स्थान मे हटकर जा सकता है

जहाँ वह और भी अधिक अंशो मे मौजूद हो और इस प्रकार मृत्यु का शिकार बन सकता है। इस विष के प्रति कुत्तों की घ्राण-शक्ति मनुष्य से कहीं अधिक प्रबल होती है, अतएव उसकी उपस्थिति को मालूम करने के लिए वे काम मे लाये जा सकते हैं।

'गैसमास्क' या 'रेस्पिरेटर'

विषाक्त गैसो के उपयोग की संभावना होते ही उनसे प्राणों की रक्षा करने के लिए शीघ्र ही आवश्यक साधनो की खोज होने लगी। इसी के फलस्वरूप गैसमास्कों अथवा रेस्पिरटरो का विकास हुआ। ये गैसमास्क एक ही सिद्धांत पर किंतु भिन्न-भिन्न ढगों के बने होते हैं। यहाँ उनके निर्माण के सिद्धांतों के समझाने के लिए एक बहुप्रचलित ढंग के रेस्पिरेटर का रेखा-चित्र (दे० पृ० १७६६) दिया हुआ है। इसमे साँस लेने के लिए हवा एक ऐसे कनिस्टर से होकर पहुँचती है जिसमें विषाक्त धुओं को अलग कर देने के लिए यांत्रिक छन्नो और विषाक्त गैसो के रासायनिक शोषको की तहे लगी रहती हैं। गैसो का एक बड़ा ही अच्छा और सस्ता शोषक कडे काठ, यथा नारियल या अन्य फलों के खपटो अथवा बेत की लकडी, का कोयला होता है। यह कोयला बहुत ही छिद्रमय होता है। कडे काठ को अपर्याप्त हवा मे सुलगाकर इसे बनाते हैं, और कनिस्टरों में भरने के पहले अपर्याप्त हवा अथवा भाप मे ६००°C पर गर्म कर लेते हैं। ऐसा करने से उसके रंध्रो मे अटके हुए हवा और अन्य पदार्थ निकल जाते है और उसकी शोषकता बढ जाती है। बहुधा, कोयला बनाने से पहले, काठ में ज़िङ्क क्लोराइड या मैग्नेशियम क्लोराइड लवण शोषित कर लेते हैं। इस प्रकार बने हुए कोयले को नमक या गंधक के अम्ल के घोल और पानी से धोते हैं, जिससे यह लवण घुलकर छिद्रो से अलग हो जाते हैं। इस प्रकार बने हुए कोयले की शोषकता साधारण रीति
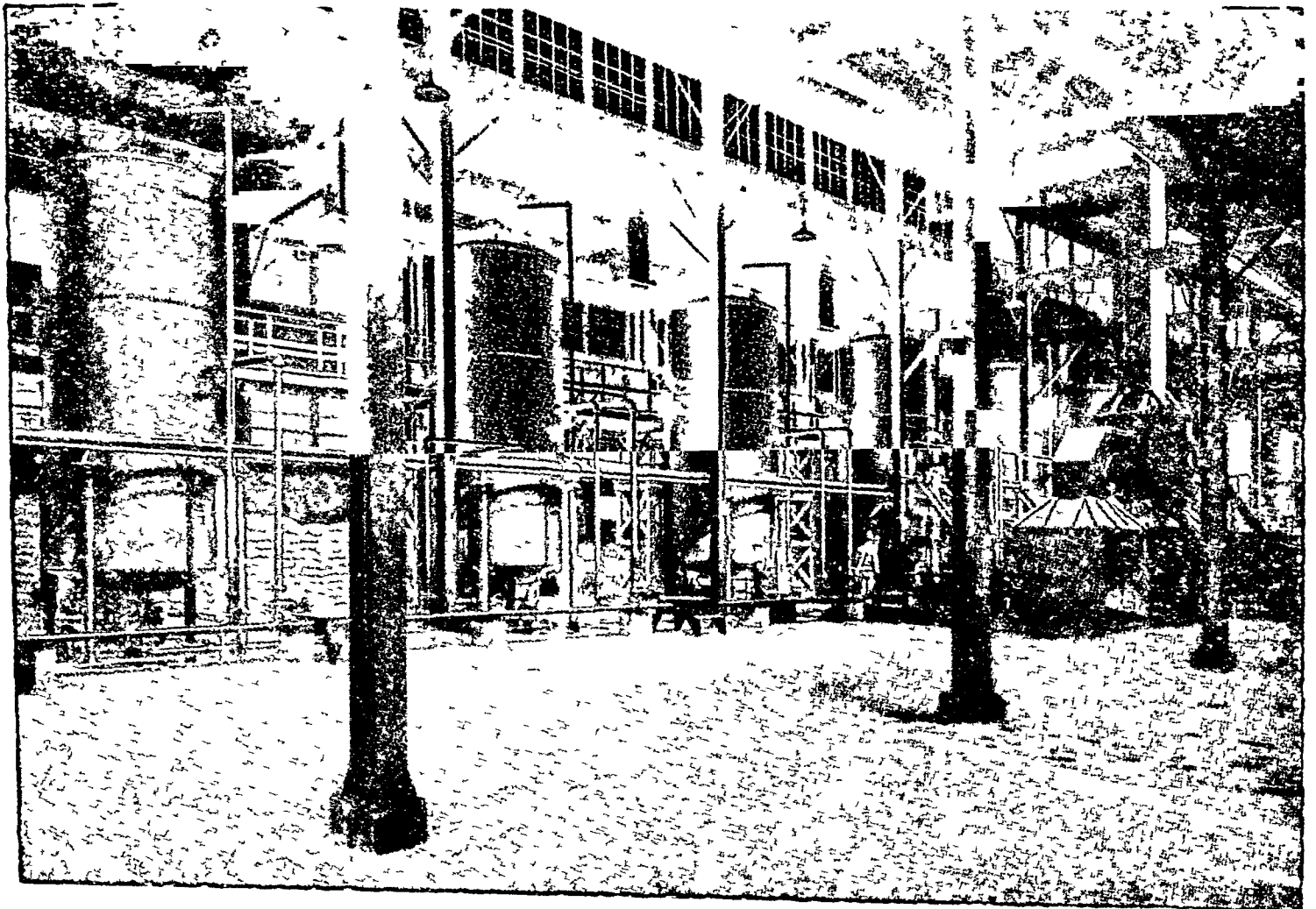
अमेरिका की क्लोरोपिक्रिन निर्माण करनेवाली एक फैक्टरी

विशाल बेलनाकार डेगो में पानी के साथ ब्लीचिंग पाउडर, चूना और पिक्रिक ऐसिड का मिश्रण भरा रहता है। इन पदार्थों की परस्पर प्रक्रिया द्वारा इतनी गर्मी का उद्भवन होता है कि पानी और क्लोरोपिक्रिन स्रवित होकर बाहर एकत्र होने लगते हैं। महायुद्ध के समय में इस कारखाने में प्रतिदिन ३१ टन क्लोरोपिक्रिन बनता था।

से बने हुए कोयले की अपेक्षा कही अधिक होती है। कोयले मे गैसो का शोषण किसी रासायनिक क्रिया द्वारा नही होता, उसके पृष्ठ मे ही गैसाणुओ को सलग्न कर लेने का अद्भुत गुण रहता है। अत्यत रंध्रमय होने के कारण थोडे-से ही कोयले मे बहुत-सा पृष्ठ उपलब्ध रहता है, अतएव कोयले का एक आयतन गैसो के सैकडो आयतनों तक को शोषित कर लेता है। इस प्रकार के शोषण को अग्रेजी मे ऐडसॉर्प्शन (Adsorption) और हिन्दी मे अधिशोषण अथवा अपशोषण कहते हैं। अपेक्षतः, ऑक्सिजन और नाइट्रोजन गैसे कोयले मे बहुत कम अधिशोषित होती हैं। देखा तो यह गया है कि जो गैस जितनी ही सरलता से द्रवीभूत होती है, उतनी ही अधिक कोयले मे शोषित होती है। सभी विषाक्त गैसे सरलतापूर्वक द्रवीभूत हो जानेवाली होती हैं, अतएव कोयला इन्ही गैसो को शोषित करता है, हवा की ऑक्सिजन और नाइट्रोजन को नही। इस प्रकार हवा रुकती नही। वरन् सॉस लेने के लिए निरतर पहुॅचती रहती है। धुएॅ के कण गैसो के अणुओ से अत्यधिक बडे होते हैं, और इसीलिए वे गैसाणुओं की भॉति सवेग चलायमान नहीं होते। अतएव, विषाक्त पदार्थों के बहुत-से धूम्रकणों को कोयले के पृष्ठ को छूने का अवसर ही नही मिलता, और वे कोयले के टुकडो के बीच से होकर निकल जाते हैं। धुएॅ को अलग कर देने के लिए यान्त्रिक छन्ने की आवश्यकता इसीलिए पडती है। गैसों को शोषित करने के लिए कोयले के अलावा छः रासायनिक शोषकों की भी आवश्यकता रहती है। बची हुई गैस को ये पदार्थ अपनी रासायनिक क्रिया द्वारा परिवर्त्तित करके शोषित कर लेते हैं। इन रासायनिक शोषकों के कुछ उदाहरण सोडालाइम, पोटैशियम परमैङ्गनेट, निकेल के लवण, हेक्सामेथिलीन-टेट्रामाइन, आदि पदार्थ हैं।

इस प्रकार प्रायः शुद्ध हवा गैसप्रूफ कपडे के नल (हौज़) मे होती हुई ऊपर पहुॅचती है। चेहरा गैसप्रूफ कपडे अथवा रबड की एक टोपी से ढका रहता है। इसमे ऑखो के सामने, देखने के लिए, दो पारदर्शक चश्मे लगे रहते हैं। ऊपर चढती हुई हवा इन्ही टुकडों से टकराकर नीचे की ओर मुड जाती है और सॉस के लिए पहुॅचती रहती है। बाहर आती हुई सॉस एक दूसरे रास्ते से निकलती जाती है। गैसमास्क पहने हुए सैनिक मे उतनी कार्यक्षमता नही रहती। न वह खा-पी सकता है और न भली प्रकार देख या बोल ही सकता है, अतएव उसे पहने-पहने वह शीघ्र ही थक जाता है। तथापि समय पड़ने पर उसे पहने रहना ही प्राणों की रक्षा के लिए एक-मात्र साधन है।

रेस्पिरेटर के विकास के साथ-ही-साथ उसे पराजित करनेवाले पदार्थों की भी आवश्यकता पडी। अतएव ऐसे विषाक्त द्रव और ठोस ढूॅढ निकाले गए जिनके धुऍं कोयले अथवा रासायनिक शोषकों द्वारा पूर्णतः शोषित नही होते, और जिनके प्रभाव से मनुष्य विवश होकर मास्क को उतार डालता है। इस प्रकार रेस्पिरेटरों के उतरते ही सैनिको को हवा मे मिली हुई विषाक्ततर गैसों का शिकार हो जाना पडता है। ये विषाक्त पदार्थ भी प्रायः या तो क्लोरीन के अथवा क्लोरीन के ही कुटुम्ब के अन्य तत्त्व ब्रोमीन और आयोडीन के कार्बनिक यौगिक होते हैं। अपने प्रभाव के अनुसार इनका विभाजन दो प्रकारों मे हुआ है।

अश्रुगैस और छींक-गैस

अश्रु-गैस को अंग्रेज़ी में 'टियर गैस' (Tear gas) या 'लैक्रिमेटर' (Lachrymator) कहते हैं। ये नाम इसलिए पडे कि इस प्रकार की गैसों के प्रभाव से ऑखों मे जलन होकर उनसे पानी की धारा बहने लगती है। इस कष्ट के कारण आक्रात व्यक्ति को गैस-मास्क उतार देना पडता है। जर्मनो ने सबसे पहले १९१५ में ज़ाइलिल ब्रोमाइड ($CH_3\ C_6H_4\ CH_2Br$) और बेञ्जिल ब्रोमाइड ($C_6H_5CH_2Br$) नामक पदार्थों का 'अश्रु-गैसों' के रूप मे प्रयोग किया। ये दोनो विषाक्त 'गैसे' शुद्ध दशा मे रगहीन और साधारणतया पीली सी द्रव होती हैं, और क्रमशः उबलते हुए जाइलीन ($CH_3\ C_6H_4.CH_3$) और टाल्वीन ($C_6H_5CH_3$) नामक कार्बनिक द्रवो पर ब्रोमीन की क्रिया द्वारा तैयार की जाती हैं। ये दोनों कार्बनिक द्रव (ज़ाइलीन और टाल्वीन) कोलतार से आशिक स्रवण द्वारा निकाले जाते हैं।

हवा के बीस लाख आयतनिक भागों मे यदि इन विषाक्त पदार्थों का एक भाग भी मिला रहे, तब भी जलन और ऑसुओ के मारे आक्रात व्यक्ति बेकार हो जाता है और देख तक भी नही सकता। अत्यधिक प्रभाव से वह अधा भी हो सकता है। अश्रुगैस से आक्रात व्यक्ति की ऑखों को गुनगुने या नमकीन पानी से शीघ्र ही धो देना लाभप्रद होता है।

'फेनिल कार्बिलमाइन क्लोराइड' और 'एथिल आयडो-ऐसेटेट' नामक पदार्थों का भी उपयोग 'अश्रु-गैस' के रूप मे हुआ है। एथिल आयडो-ऐसेटेट ($CH_2ICOOC_2H_5$)

द्रव का उपयोग सबसे पहले ब्रिटिश लोगो ने १६१६ मे किया था। हवा के पचास लाख आयतनिक भागो मे यदि इस द्रव की वाष्प का एक भाग भी मिला हो तो यह अश्रुगैस का काम देती है, और यदि उसकी मात्रा इससे सौगुनी हो तो एक ही दो मिनट साँस लेने से फेफडे ख़राब हो जाते हैं।

युद्ध के बाद अश्रुगैसे दंगो को दबाने के लिए बहुधा काम मे लाई गई। इनसे भरे हुए हलके बमो को बलवाइयो के बीच में फेकने से वे इसके कष्टप्रद प्रभाव से बचने के लिए तितर-बितर हो जाते हैं। भारतवर्ष मे भी इन गैसों का कुछ उपयोग सफलतापूर्वक हुआ था, और कुछ समय हुआ इस बात का आंदोलन भी हुआ था कि गोली चलाने के स्थान पर अश्रुगैसो को ही काम मे लाया जाय।

छींक-गैस को अंग्रेज़ी मे 'स्नीज़-गैस' (Sneeze Gas) अथवा 'स्टर्नुटेटर' (Sternutator) कहते हैं। हवा मे अत्यत न्यूनांशों मे भी मिले रहने से इस प्रकार के पदार्थ आँखों, नाक, श्वास-मार्ग, तथा फेफडो को प्रभावित करते हैं, और एक विशेष बात यह होती है कि उनके प्रभाव से ज़ोरों से छींके आने लगती हैं। इसके अलावा आँख, नाक, और गले में बडी ही तीव्र पीडा होने लगती है, और जी मतलाने लगता है। जर्मनो ने सबसे पहले १६१७ मे डाइफेनिल-क्लोर-आर्सीन [$(C_6H_5)_2AsCl$)] नामक 'छींक-गैस' का उपयोग महायुद्ध मे किया था। जैसा कि अणु-सूत्र से स्पष्ट है, यह पदार्थ कार्बनिक अणु-भाग 'फेनिल' (Phenyl, C_6H_5), सखिया के धातव तत्त्व आर्सेनिक (As), और क्लोरीन के सयोग से बना है। यह एक श्वेत, ठोस, लहसुन के समान गधवाला पदार्थ होता है और ४३°C पर पिघलता और ३३३°C पर उबलता है। इसके प्रभाव के लक्षणों के प्रकट होने मे थोडी-सी देर लगती है। डाइफेनिलसायनार्सीन [$(C_6H_5)_2$ AsCN] इसी प्रकार का एक अन्य छींक-जनक ठोस पदार्थ है, जिसे जर्मनो ने सबसे पहले १६१८ मे काम मे लिया था। इसके और पहले पदार्थ के अणु मे अतर केवल यही है कि इसमे क्लोरीन के स्थान मे सायनाइड (CN) नामक अणु-भाग रहता है। हवा के एक करोड आयतनिक भागों मे इन दोनो पदार्थों मे से किसी के एक भाग से भी कम अंश मिला रहने पर मनुष्य इसके प्रभाव द्वारा बेकार हो जाता है, और यदि हवा के पचास हज़ार भागो मे ही एक भाग मिल गया हो तो
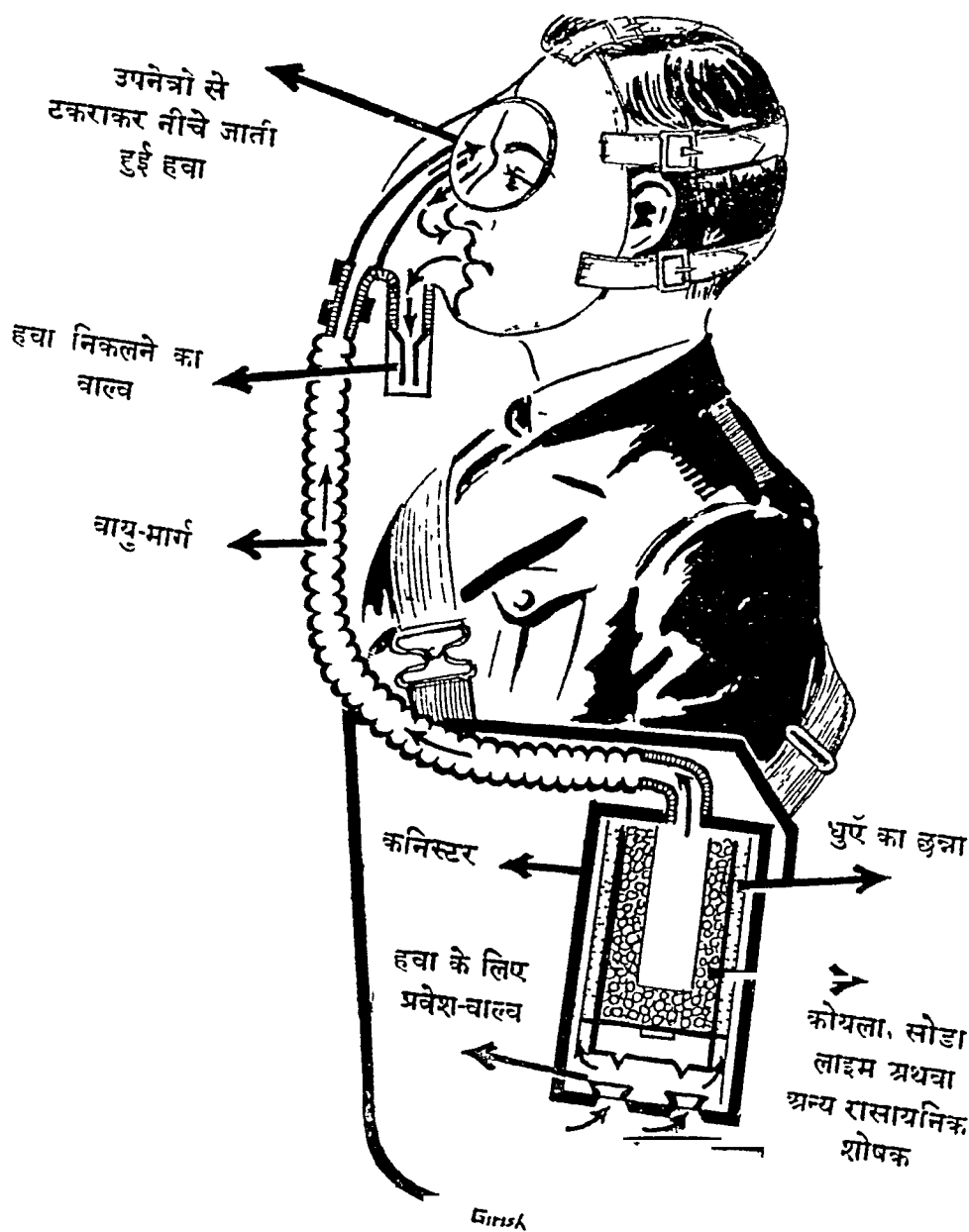
गैस-मास्क की बनावट

साँस अंदर लेने पर कनिस्टर के प्रवेश-वाल्व खुल जाते हैं और हवा भीतर चली जाती है। कनिस्टर में वह छन्नों और शोषकों द्वारा शुद्ध होकर साँस के लिए ऊपर पहुँचती रहती है। साँस छोड़ने पर प्रवेश-वाल्व बंद हो जाते हैं, और निकलने के मार्ग का वाल्व खुल जाता है। इस प्रकार दूषित वायु कनिस्टर की ओर नहीं पहुँचती वरन् दूसरे ही मार्ग से बाहर निकलती रहती है।

एक ही दो मिनट साँस लेने से फेफड़े भी विक्षत हो जाते हैं। १९१८ में जर्मनों द्वारा एथिल डाइक्लोर-आर्सीन ($C_2H_5As Cl_2$) और मेथिल डाइक्लोर-आर्सीन (CH_3AsCl_2) नामक छींक गैसों का भी उपयोग पहले-पहल हुआ। साधारण अवस्थाओं में ये दोनों क्रमशः १५६°C और १३१°C पर उबलनेवाले द्रव होते हैं। ये उतने तीव्र स्टर्नुटेटर नहीं होते, और मनुष्य को अपने प्रभाव द्वारा बेकार कर देने के लिए ५०,००० वायुभागों में ही इनका एक भाग रहना आवश्यक होता है। इससे ढाई गुने परिमाण में होने पर ये फेफड़ों को भी खराब कर देते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि छींकजनक पदार्थों में संखिया का तत्त्व 'आर्सनिक' अवश्य ही रहता है। छींक-गैस द्वारा प्रभावित व्यक्ति को सोडियम बाइकार्बोनेट के घोल को सुड़कने और उसीसे गरारा करने से आराम मिलता है।

बृहद् परिमाणों में उपयोग

गत महायुद्ध में किन परिमाणों में विषाक्त गैसों का उपयोग हुआ था, इसका अनुमान निम्नांकों से लगाया जा सकता है। जितनी मस्टर्ड गैस का उपयोग हुआ था उसका बोझ १२,००० टन था। लड़ाई के समाप्त होने के पहले केवल अमेरिका युद्ध के लिए प्रतिमास लगभग १००० टन क्लोरीन, ८०० टन क्लोरोपिक्रिन, १००० टन फॉस्जीन, और ५५० टन मस्टर्ड गैस तैयार कर रहा था। कहते हैं कि ११ मार्च, १९१८, को जर्मनों ने मित्र-राष्ट्रों की खाइयों में एक ही दिन में विषाक्त गैसों के एक लाख पचास हज़ार गोले फेंके थे, जिनमें ४०० टन विषाक्त गैसें भरी हुई थीं।

अनावश्यक भय

साधारण लोग गैस को बड़ा ही भयंकर और संहारक अस्त्र समझते हैं। कुछ कारणों से उनका भय ठीक भी है। वह अचानक धोखे से लोगों का शिकार कर सकती है, उसके लिए निशाना लगाने की भी आवश्यकता नहीं। गड्ढों, कोठों, खाइयों, आदि में, जहाँ गोली-गोलों की पहुँच नहीं हो सकती, वह बेरोक घुसती चली जा सकती है। हमारे ऐसे देश में, जहाँ जनता ने अभी तक गैस-मास्क आदि रक्षा के साधन देखे तक नहीं हैं, वह विकराल संहारक प्रमाणित हो सकती है। तथापि, महायुद्ध में गैस द्वारा मृत और आहत सैनिकों की संख्याओं को देखते हुए यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि अन्य अस्त्रों की अपेक्षा उसकी संहार-शक्ति अधिक है। गैस की संहारकता के संबंध में अनावश्यक भय बहुधा समाचार-पत्रों द्वारा सर्वसाधारण में फैलता है। जुलाई १९२७ में न्यूयार्क के एक अखबार में यह शीर्षक मोटे-मोटे अक्षरों में निकला था—

एक टन मस्टर्ड गैस ४,५०,००,००० मनुष्यों को मार डालने के लिए

लेकिन युद्ध में मस्टर्ड गैस द्वारा केवल ८००० मनुष्यों की मृत्यु हुई थी, अर्थात् १॥ टन मस्टर्ड गैस केवल एक मृत्यु का कारण बन सकी थी। इससे आप हिसाब लगा सकते हैं कि समाचार-पत्रों के संवादों में बहुधा किस अनुपात में अतिशयोक्ति रहा करती है। हेग के प्रथम शांति-सम्मेलन में गैस-निषेधक प्रस्ताव का विरोध करके कैप्टेन महन ने, वास्तव में, दूरदर्शिता दिखाई थी, कारण, युद्ध में गैस द्वारा मृत व्यक्तियों की संख्याओं से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि अन्य अस्त्रों की अपेक्षा विषाक्त गैस कहीं कम प्राणनाशक है। अमेरिका के जनरल एमॉस ए० फ्राइज़ की रिपोर्ट के अनुसार १०० गैसाक्रांत व्यक्तियों में केवल ३ या ४ की ही मृत्यु हुई, किंतु विस्फोटकों द्वारा आहत सौ मनुष्यों में २० से २५ तक समाप्त हो गए। महायुद्ध के अंत में तो रक्षा के साधनों के विकास के कारण, गैसीय आक्रमणों का महत्त्व बहुत कुछ क्षीण हो चुका था। अक्टोबर और नवंबर के महीनों में पीछे हटते हुए जर्मनों ने आगे बढ़ते हुए ब्रिटिश दलों पर उन्हें रोकने के लिए ४००० टन विषाक्त गैसों को छोड़ा था, लेकिन केवल ५०० मनुष्य ही मरे थे। दूसरे शब्दों में, एक सैनिक को मारने के लिए आठ टन विषाक्त गैस का व्यय हुआ था। हाँ, गैस द्वारा मृत्यु अधिक छाम्रिक और क्लेशप्रद होती है। इस दृष्टि से इसका उपयोग अधिक अमानुषिक अवश्य है, मृत्यु-संख्या की दृष्टि से नहीं।

कहाँ से कहाँ!

मैंने किसी वृद्ध से सुना था कि ग़दर के समय में कुछ लोगों ने आग में लाल मिर्च झोंककर अपनी और अपने घरों की रक्षा की थी। प्राचीन योरप में गंधक जलाकर शत्रुओं को रोकना प्रचलित था। इन आद्य विधियों से चलकर मनुष्य विज्ञान द्वारा कितने भयंकर पदार्थों तक आ पहुँचा है! सर्वसाधारण को उपर्युक्त विषाक्त पदार्थों का रहस्य युद्ध के बाद ही खुल सका था। आजकल हम दूसरे संसारव्यापी युद्ध के मध्य में हैं। संभवतः कई नए पदार्थ—अब तक की 'गैसों' से कहीं अधिक विषाक्त और भयंकर—आविष्कृत कर लिये गए होंगे। यदि इनका उपयोग हुआ तो इनका भी भेद युद्ध समाप्त होने पर खुलेगा।

पृथ्वी की कहानी

सागर द्वारा स्थल की रचना के कार्य मे अनेक समुद्री जीवो का भी हाथ है। इनमे मूँगा या प्रवाल-जतु प्रमुख हैं। इन नन्हे-नन्हे जीवो की टापूनुमा रचनाएँ कुल मिलाकर लगभग ५० लाख वर्गमील के क्षेत्रफल मे फैली हुई हैं, जिनमे सबसे महत्त्वपूर्ण ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी-पूर्वी तट के समानान्तर १२०० मील तक फैली हुई वह प्रवाल-श्रेणी है जो 'ग्रेट बैरियर रीफ' कहलाती है। इस पृष्ठ के चित्रो मे नीचे के चित्र मे इसी अनोखी प्रवाल-श्रेणी के एक भाग का दृश्य है। प्रवाल-समूहों के बीच-बीच मे सागर का पानी भी घिरा हुआ दिखाई दे रहा है। ऊपर के चित्र मे इसी प्रवाल-श्रेणी मे पाए जानेवाले मूँगे के कुछ विशाल द्वीपों मे से एक का दृश्य है, जिस पर बड़े-बड़े वृक्ष भी उग आए हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि ये टापू मूलतः मूँगे के जतुओ द्वारा ही निर्मित किए गए थे।

सागर का रचनात्मक कार्य

सागर की तह में जमा होनेवाला पदार्थ

सागर की तरगो और ज्वार-भाटा के वेग से सागर-तटवर्त्ती चट्टानो का विखण्डन और क्षय होने के कारण जो चूरचार बनती है वह तो सागर की तली मे पहुँचती ही है, साथ ही स्थल की चट्टानो की छीलन की भी अपार राशि नदियो द्वारा सागर मे प्रति दिन पहुँचती रहती है। इसका भी कुछ अंश तो जल के साथ बहता हुआ आता है और हमे बालू, बजरी-मिट्टी और कीचड के रूप मे दिखाई पडता है, और कुछ अश अदृश्य रूप मे जल मे घुला हुआ बहता रहता है। जल मे घुले हुए पदार्थों मे विशेषत. चूने की चट्टानो के अंश रहते हैं। इनमे कैल्शियम कार्बोनेट व कैल्शियम सल्फेट प्रधान हैं।

नदी के मुहाने पर पहुँचते ही बालू-मिट्टी, कंकड और बजरी आदि चट्टानो की छीलन और चूरचार को सागर का जल अपनी तरगो के वेग से बहाकर अधिक गहराई मे ले जाने की चेष्टा मे सलग्न हो जाता है। धरातल पर दौडनेवाला शीघ्रगामी जल मोटे और महीन सभी कणो को एक साथ बहाकर सागर मे ला पटकता है, परन्तु सागर का असीम जल गम्भीरता के साथ इस आनेवाली राशि को परखता है और फिर छोटे-बडे, मोटे और महीन, व हलके और भारी कणो को उनके गुणों के अनुसार पृथक्-पृथक कर देने की भरसक चेष्टा करता है। जिस प्रकार सूप द्वारा अनाज के छोटे-बडे
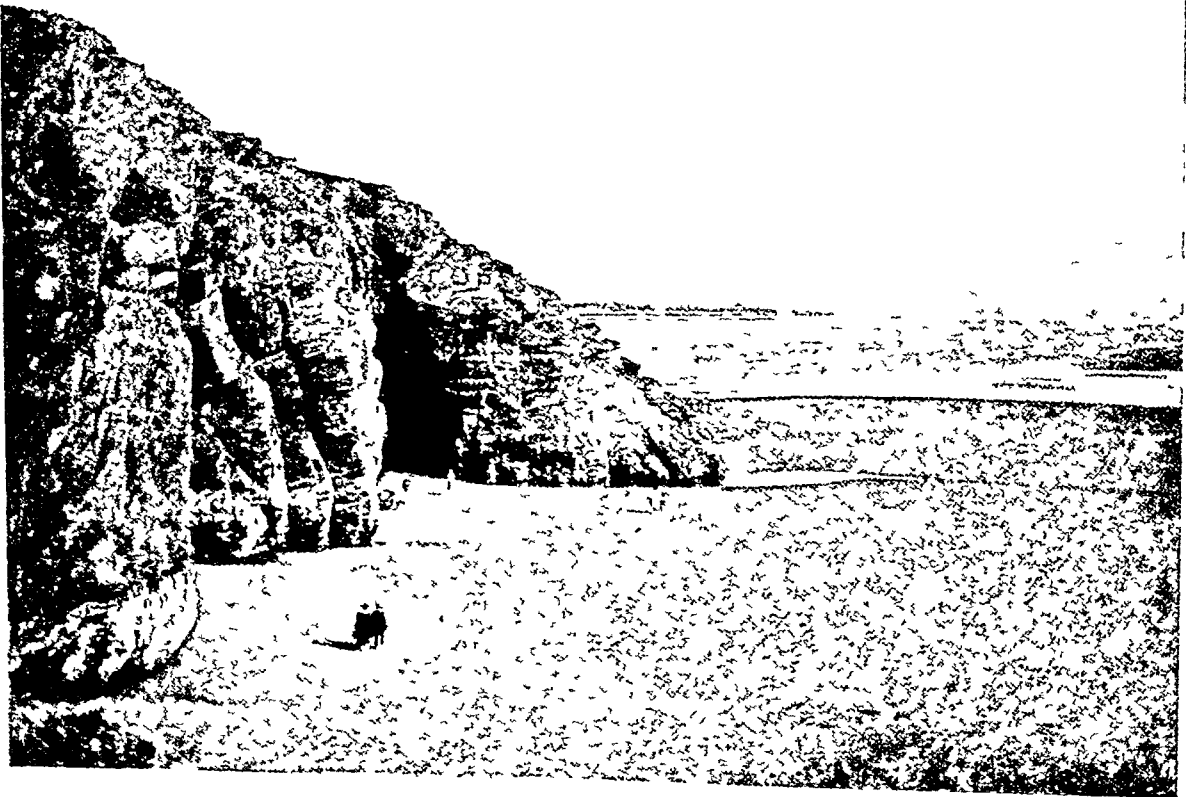
तटवर्त्ती चट्टानों का क्षय कर सागर की लहरे जो चूरचार बहा ले जाती हैं, वह बालू, बजरी, मिट्टी और कीचड के रूप में सागर-तल में, विशेषकर किनारे के छिछले भाग में, जमा होता रहता है, जिससे सागर की तट-रेखा दूर हटती जाती है। इस चित्र में भाटे के बाद दिखाई पड़नेवाली तटवर्त्ती बालू की एक पट्टी आप देख सकते हैं, जो सागर के रचनात्मक कार्य का एक नमूना है। ज्वार के समय इस पट्टी पर ८ फ़ीट गहरा पानी फैल जाता है।

दाने विभक्त हो जाते है, उसी प्रकार सागर की लहरे जल द्वारा बहाए गए पदार्थ के कणों का विभाजन करती रहती है। सागर मे प्रति क्षण अनवरत रूप से स्थल का पदार्थ पहुँचता रहता है और लहरे भी निरन्तर ही अपना कार्य करती रहती हैं तथा आनेवाले पदार्थ को तली मे जमा करती जाती हें। ज्वार-भाटा के आने से जल मे उथल-पुथल मच जाती है, जिससे तली मे बैठते हुए कण अशान्त हो जाते है और बैठ नही पाते। परन्तु इस काल मे नीचे बैठे हुए कणों की तली पर परत लग जाती है। जब जल फिर शान्त होता है, तब तली मे दूसरी परत का पदार्थ एकत्रित होता है। इस प्रकार परत पर परत जमती जाती हैं। कालान्तर मे यही परतें एक दूसरे पर सटकर ठोस रूप धारण कर लेती हैं और परतीली चट्टान कहलाती हैं।

स्थल से आए हुए पदार्थ को जमा करने के लिए सागर की तह मे तीन कोषागार पृथक्-पृथक् हैं। इनमे से प्रत्येक की सीमा जल की गहराई के अनुसार निश्चित-सी है और प्रत्येक मे जमा होनेवाले पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। सर्वप्रथम कोषागार सागर का वह भाग है जो स्थल को छूता है और 'समुद्र-तट' कहलाता है। यह भाग ज्वार-जल के सर्वोच्च और भाटा के निम्नतम जल-चिह्नों के बीच का प्रदेश है। दिन मे दो बार यह जल के बाहर धूप और वायु में झाँकने लगता है और दो बार ज्वार के जल के नीचे डुबकी लगा जाता है। समुद्र-तट के नीचा-ऊँचा होने तथा आगे-पीछे हटने से इसका क्षेत्रफल घटता-बढता रहता है। दूसरा कोषागार तट के समीपवाले इस प्रदेश के बाद का 'छिछले जलवाला प्रदेश' है। इसकी सीमा निम्नतम जल-चिह्न से लेकर १०० पौरस गहरे जल तक होती है। इसके अनन्तर 'गहरे जलवाला प्रदेश' है, जो महाद्वीपीय ढाल से आरम्भ होकर सागर की महत्तम गहराई तक फैला है।

समुद्र मे बहकर आनेवाली राशि में विभिन्न प्रकार के पदार्थ रहते है। लहरो की क्रिया यह है कि इनमे से भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों को अलग-अलग करके भिन्न-भिन्न स्थलो मे जमा करे। कौन-सा पदार्थ किस स्थान विशेष पर जमा होगा, यह कई बातो पर निर्भर है। स्थल की दूरी, तट के पास ही नदी के मुहाने का होना, तट के समीप सागर की तली की बनावट, तटवर्त्तीय चट्टानो की अवस्था तथा जल की गहराई आदि विशेष प्रभाव डालती हैं। यही कारण है कि भूमध्य तथा कैरीबियन सागर और मेक्सिको की खाड़ी सरीखे स्थल-आबद्ध गहरे समुद्रो की तली मे जमा होनेवाले पदार्थ का स्थायी रूप खुले हुए समुद्रों की तली मे जमा होनेवाले पदार्थों से सर्वथा भिन्न पाया जाता है। क्षीण अथवा नगण्य ज्वार-भाटा तथा लहरो की हीन शक्ति ही इसका कारण है। योरपीय उत्तरी सागर तथा हडसन की खाडी सरीखे छिछले सागरों मे, जो एक प्रकार से महाद्वीपीय निमग्न तट (Continental Shelf) के अन्तर्गत हैं, दूसरे ही प्रकार की परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं और फलस्वरूप उनकी तली मे जमा होनेवाले पदार्थ का रूप भी दूसरा ही होता है।

तली में जमा होनेवाले पदार्थ पर जल के खारीपन की न्यूनता अथवा अधिकता का भी प्रभाव पडता है। बाल्टिक और काले सागर सरीखे जलखण्डों की तली मे जमा होनेवाले पदार्थ की रचना अधिक खारी जलवाले जलखण्डों की तली में पाए जानेवाले पदार्थ से भिन्न है। स्थल से बहकर आनेवाले पदार्थ को जल की लहरे मोटे और महीन कणों के आकार के अनुसार विभक्त करती हैं। फलस्वरूप कणों की रासायनिक रचना के अनुसार उनका विभाजन हो जाता है। कारण यह है कि खनिज कणों का (जिससे यह पदार्थ बना होता है) मोटा और महीन होना उनकी बनावट पर निर्भर है, जो उनकी कठोरता तथा सापेक्षित घनत्व पर प्रभाव डालता है। बहुधा लहरों द्वारा कणों का विभाजन सर्वथा निर्दोष नही हो पाता। एक प्रकार के खनिज कणो मे अन्य खनिज कण थोडे-बहुत मिल ही जाते हैं। कहीं-कहीं विभिन्न कण सर्वथा अलग-अलग भी एकत्रित हो जाते हैं। ज्वार-भाटा के कारण कभी-कभी सर्वथा निर्दोष मोटे कणों की परत पर विभिन्न प्रकार के महीन कणों की परत जम जाती है। जब जल मे अधिक काल तक उथल-पुथल नही होती तब पदार्थ तहों अथवा परतों के रूप मे नही जमता वरन् उसकी चौडी दीवाल-सी बनती रहती है। परन्तु ऐसा सागर के तल के उसी प्रदेश मे होता है, जहाँ किसी प्रकार की बाधा नही पडती और पदार्थ तेजी से सागर की तली मे बैठता रहता है।

तट के समीप जमा होनेवाला पदार्थ

तट की बनावट के अनुसार ही किसी प्रदेश मे जमा होनेवाले पदार्थ के कणो का आकार होता है। पथरीले तट के किनारे बहुधा पत्थरो के बडे-बडे ढोको से लेकर बडे-बडे

रोड़े, कंकड़, मोटी बजरी, और बालू आदि बिछी रहती है। जहाँ पर तट अधिक ढालू होता है, वहाँ बहुधा बालू का अभाव होता है, क्योंकि सागर की ओर लौटती लहरो के साथ महीन कणोवाला पदार्थ अधिक गहराई के तल मे चला जाता है। परन्तु कहीं-कहीं पथरीले तट के किनारो पर भी बालू ही बिछी पाई जाती है और निचले सपाट तट पर तो सदैव ही बालू के ढेर देखने को मिलते हैं। इस प्रकार समुद्र-तट का किनारेवाला भाग अधिकतर बालू के कणो से ही ढका पाया जाता है। वहाँ भूमि खोदने पर बालू की तहे ही देखने को मिलती है। इस प्रदेश मे पाई जानेवाली बजरी और ककड की राशि बहुधा महाकठोर स्फटिक-कणो की बनी होती है। कोमल खनिज कण शीघ्र ही चूर-चूर होकर लहरो के साथ बह जाते हैं। कहीं-कहीं विशेष परिस्थितियो मे तट के पास महीन मिट्टी भी जमा हो जाती है, परन्तु ऐसा यदा-कदा ही होता है।

सागर-तट का यह भाग अधिकतर स्थल और जल की सीमा को जोडनेवाली एक सॅकडी पट्टी के रूप मे होता है। समस्त धरातल पर इस प्रकार की भूमि का क्षेत्रफल कुल ६२००० वर्गमील है। कहीं-कहीं पर इस पट्टी की चौड़ाई अधिक भी पाई जाती है। जहाँ तट का ढाल बहुत ही कम होता है, वहाँ बहुधा भाटा के समय बजरी से ढकी हुई दो या तीन मील चौडी भूमि जल के बाहर दिखाई पडती है।

इस प्रदेश से महीन बालूकण तथा बजरी और मिट्टी लहरो द्वारा छिछले जल-तल मे पहुँचा दी जाती है। वहाँ पर यह तहो के रूप मे तली मे जमा होती रहती है। तट की रचना, जल-वायु तथा ज्वार-भाटा की लहरो का वेग छिछले जल की तली मे जमा होनेवाले पदार्थ पर अपना प्रभाव डालते हैं। स्थल से आए हुए तथा तटवर्ती चट्टानो के विखण्डित कणो के अतिरिक्त छिछले जल की तली मे कहीं-कहीं जीवो तथा जलोद्भिजो के अवशेष भी पाये जाते है। अनुकूल परिस्थितियो मे जल-जीवो और शैवालादि जलोद्भिजो का जमाव बहुत
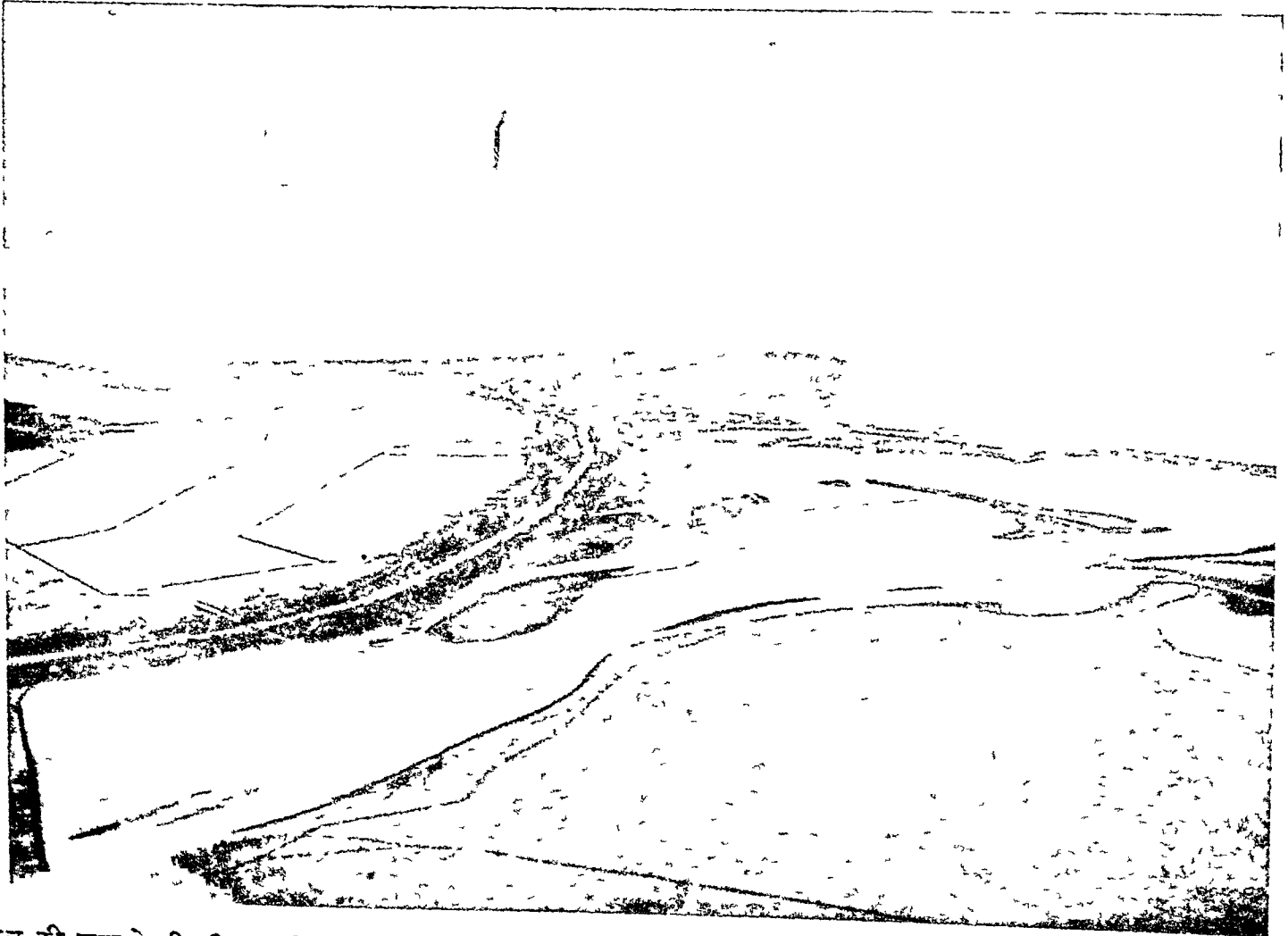
स्थल की चट्टानो की छीलन की अपार राशि नदियों द्वारा सागर में प्रति दिन पहुँचती रहती है। नदियों द्वारा बहाकर लाया गया बालू, मिट्टी, कंकड़-पत्थर आदि का ढेर उनके मुहानों पर जमा होता रहता है, और ज्वार-भाटे की क्रिया से वह सागर-तल में पहुँचता रहता है। इसप्रकार नदियाँभी समुद्र को पाटने में मदद देती हैं। ऊपर एक ऐसे ही मुहाने का दृश्य है।

धिक भी हो जाता है। इन जीवो के द्वारा सागर की ी मे चूने के पदार्थ का क्षरण होता है। कालान्तर यही चूने का पत्थर (Limestone) बन जाता है। मे जल-स्थित जीव-जन्तुओ के बाह्य अवशेष और वे समूचे के समूचे दब जाते हैं और चूने के ाण का रूप धारण कर लेते हैं। चूने के पाषाण पदार्थ अधिकतर उन प्रदेशो मे पाया जाता है जहाँ ा मे जीवो और वनस्पतियों के योग्य भोजन प्रचुर ा मे मिल सकता है तथा जल इतना उष्ण रहता है उसमे ये जीव पनप सके। उष्ण और शीतोष्ण कटि- ो मे छिछले जल की तली पर इस प्रकार के जीवों ा एकत्रित चूने के पाषाण के पदार्थ की तहे विशेष- लगती पाई जाती हैं। सुदूर उत्तरीय शीतल जल- शों मे भी इस प्रकार का पदार्थ छिछले जल की तह मा होता देखा गया है, परन्तु अधिक नहीं।

महाद्वीपीय निमग्न तट के छिछले जल की तह पर स्थानो मे जहाँ जल उष्ण, स्वच्छ और स्थल की न से अभिमुक्त रहता है, चूने के पाषाण के स्तर ा होते हैं। चूने के पाषाण का पदार्थ, कुछ तो स्थल बहकर आनेवाले जल मे घुले हुए कैल्शियम सल्फेट र कैल्शियम कार्बोनेट नामक लवणों के अवक्षेपण से ाता है, और कुछ जलोद्भिजो और जल-जन्तुओ के शेषो से।

छिछले सागर की तली तथा गहरे जल की तली, ो ही स्थानो मे असख्य जीव पाए जाते हैं। इनमे से ऐसे हैं, जो विशेषकर छिछले जल की तली ही मे सकते हैं और कुछ अत्यन्त गहरे जल की तली मे। साधारणतः छिछले जल की तली के निवासी होते भी गहरे जल की तली मे भी पाए जाते हैं। कुछ व-जन्तु केवल गरम छिछले जल की तली मे ही रह ते हैं। स्वच्छ गरम छिछले जल-तल मे पनपनेवाले वो मे मूँगा या प्रवाल प्रमुख है। इसके द्वारा छिछले -तल मे असख्य द्वीपो की रचना होती है। इन द्वीपो प्रवाल-द्वीप कहते हैं। *प्रवाल-द्वीपों की रचना* की ानी अत्यन्त रोचक है। प्रवाल-शैल-श्रेणियाँ उष्ण र शीतोष्ण कटिबन्धो के सागर-जल मे अनेकों द्वीपो घेरे हुए पाई जाती है। समस्त प्रवाल-श्रेणियों का स्तार लगभग ५०००००० वर्गमील है। लहरो द्वारा ुंचाई गई क्षति के परिणामस्वरूप इन श्रेणियो के शैल- डो की जो चूरचार एकत्रित होती है वह सागर की तली मे इससे भी अधिक विस्तृत क्षेत्र मे फैली हुई है।

प्रवाल एक प्रकार का सूक्ष्मशरीरी, अनेकजातीय जल-जन्तु विशेष होता है। अपने शरीर के निचले भाग मे यह चूने के पदार्थ का एक बाह्य आवरण अपने उद्भिज रस के निस्सरण से बनाता है। शीघ्र ही यह आव- रण कठोर हो जाता है और प्रवाल-जन्तु इसके भीतर सुरक्षित रूप मे रहता है। जिस प्रकार पौधों मे नये-नये अंकुर निकलते रहते हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे पौधा बडा हो जाता है उसी प्रकार प्रवाल-जन्तु के बाह्य आव- रण मे भी नये-नये अकुर निकलते हैं और उनके भीतर नवीन जन्तु अपने शरीरो को सुरक्षित रूप से बन्द किए रहते हैं। इस प्रकार एक प्रवाल-जन्तु के शरीर मे अनेक जन्तुओं का विकास होता है और ये नए जन्तु भी नित्य नए जन्तुओ को जन्म देते रहते हैं। इस कारण प्रवाल का बाह्य आवरण छत्तो के रूप मे बहुत बडे आकार का हो जाता है, जिसमें असख्य शाखाएँ निकलती रहती हैं। जैसे-जैसे प्रवाल का ढाँचा बढता जाता है उसके पुराने जन्तु मरते जाते हैं। मरे हुए जीवों के ढाँचे नवीन प्रवाल-जन्तुओं के नीचे दबे रहते हैं तथा जल के बाहर निकले हुए प्रवाल-शरीरों के विखण्डन और क्षय से उत्पन्न चूरचार के तली मे गिरने से वे ढकते जाते हैं। तली मे सचित यह पदार्थ कालान्तर मे श्वेत रवजयुक्त चूना-पाषाण का रूप धारण कर लेता है, जिसके ऊपर प्रवाल-जन्तु अपने नये-नये ढाँचे बनाते जाते हैं। प्रवाल का यह वृक्ष-सरीखा छत्ता बराबर बढता ही रहता है। जब यह जल के बाहर झाँकने लगता है तब इसका ऊपर बढना बन्द हो जाता है। प्रवाल-जन्तु जल के बाहर अधिक काल तक जीवित नही रह पाता है। इस- लिए जब इसकी चोटी इतनी ऊँची हो जाती है कि मन्द-से-मन्द भाटे की लहरे इसको जल के बाहर कर दे तभी इसका बढना बन्द हो जाता है। तब जल के नीचे- नीचे यह फैलने लगता है। ६८° फ० से कम तापक्रम- वाले जल मे प्रवाल-जन्तु जीवित नही रह पाता। अधिक- तर प्रवाल उन्ही स्थानो मे पाये जाते हैं जहाँ जल की गहराई १५० फीट से अधिक नही है और जल का ताप ६८° फ० से ऊपर है तथा पानी स्वच्छ है। नदियों के मुहाने के पास प्रवाल-श्रेणियाँ नही पाई जातीं, क्योंकि प्रवाल-जन्तु मीठे और गँदले जल मे जीवित नहीं रह पाता।

जब प्रवाल-श्रेणियो की चोटी निम्नतम जल तल से

थोडी ऊँची हो जाती है तब इस पर जलतरगे चूने के महीन कण और पक इकट्ठा करना आरम्भ कर देती है और श्रेणी-शिखर शीघ्र ही समतल चबूतरा या प्लेटफार्म-सा बन जाता है, जिस पर निरन्तर बालूकण और महीन पक-सरीखा पदार्थ जमा होने लगता है। इस प्रकार जल मे स्थल का आरम्भ होने लगता है। लहरो के साथ बहकर जानेवाले नारियल आदि फलो के बीज यहाँ जमा हो जाते है और इन प्रवाल-श्रेणियो पर वृक्षो का जन्म हो जाता है, जिन पर पक्षी अपने घोसले बना लेते हैं। कही-कही यह प्रवाल-श्रेणी स्थल से जुड़ जाती है और कही स्वतत्र द्वीप के रूप मे रहती है।

स्थिति और बनावट के अनुसार तीन प्रकार की प्रवाल-श्रेणियाँ देखने मे आती है। एक तो वे है, जो तट से जुडी-सी रहती है। ये सीमान्तक प्रवाल-श्रेणियाँ (Fringing Coral Reefs) कहलाती है। बहुत-से प्रदेशो मे इनका ऊपरी भाग तट से थोडी दूरी पर अलग दिखाई देता है और उनके बीच मे छिछले पानी की खाई रहती है, जिसकी तली मूँगे की चट्टान की बनी होती है। दूसरी प्रवाल-श्रेणियाँ बाधक श्रेणियो (Barrier Reefs) के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये तट के समानान्तर कुछ दूरी पर, गहरी और कही-कही विशेष चौडी खाई द्वारा तट से विभक्त होती हैं और तट की रक्षा करती प्रतीत होती है। कही-कही सीमान्तक श्रेणियाँ बाधक श्रेणियों का रूप धारण कर लेती हैं और कही बाधक श्रेणियाँ सीमान्तक श्रेणियो का।

उपरोक्त प्रकार की प्रवाल-श्रेणियों की लम्बाई कही-कही सैकडो मील तक पाई जाती है। क्यूबा के उत्तरी तट के समानान्तर तट की पूरी लम्बाई तक एक बडी प्रवाल-श्रेणी बनी है। हिन्द महासागर मे न्यू कैलिडोनिया की प्रवाल-श्रेणी भी ४०० मील लम्बी है। ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी-पूर्वी तट के समानान्तर बनी प्रवाल-श्रेणी सबसे अधिक महत्व की है। यह तट से कही २० और कही ८० मील की दूरी पर है। इसकी लम्बाई १२०० मील है। बीच मे इसकी शृंखला कही-कही भग हो गई है। इस श्रेणी की चौडाई १० से ६० मील तक है। कही-कही इसका सर्वोच्च भाग सागर की तली से १८०० फीट ऊँचा तक पाया जाता है। इसका अधिकांश जलमग्न है, केवल कुछ अंश इधर-उधर जल के बाहर झाँकता प्रतीत होता है।

तीसरे प्रकार की वलयाकार प्रवाल-श्रेणियाँ (Atoll) होती है। इनके बीच मे छिछले जल की झील होती है। प्रवाल-श्रेणी-आबद्ध जल का श्रेणियो के बीच पाये जानेवाले खुले अंशो द्वारा सागर के जल से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार की वलयाकार श्रेणियो की रचना बडी रहस्यमय प्रतीत होती है। दक्षिणी पैसिफिक महासागर के द्वीप-समूह मे इनकी बहुतायत है। इनकी रचना की रहस्यमयी उलझन को सुलझाने के लिए वैज्ञानिको ने बहुत अध्ययन किया है। कुछ अटकल और कुछ वास्तविक अनुसन्धानो के बल पर भूतत्त्वविशारदो ने इनकी रचना के
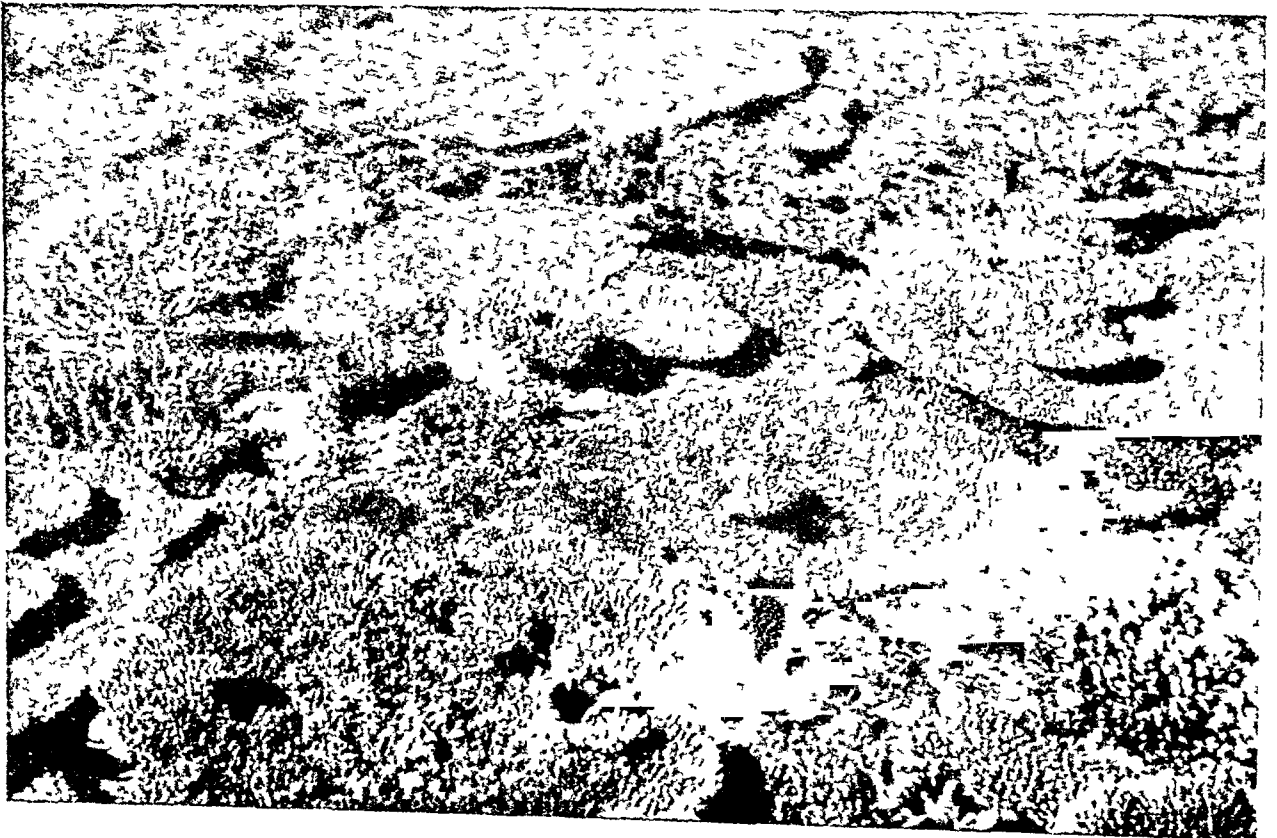
ऑस्ट्रेलिया की तटवर्त्ती बाधक प्रवाल-श्रेणी में पाए जानेवाले कुछ प्रवाल-समूहों का निकटवर्त्ती दृश्य। इसी प्रवाल-श्रेणी के अन्य चित्र पृ० १७७२ पर देखिए।

विषय मे जो मत निर्धारित किए हैं वे हम नीचे देते हैं। यद्यपि ये सर्वमान्य नहीं हैं, तथापि अधिकाश लोग इनकी सत्यता पर विश्वास करते हैं। इनमे से कुछ सिद्धान्त अभी विवाद-ग्रस्त ही हैं।

सीमान्तक, बाधक और वलयाकार तीनों ही प्रकार की प्रवाल-श्रेणियों की बनावट एक ही प्रकार की है, केवल उनके आकार विभिन्न हैं। सीमान्तक और बाधक श्रेणियों के आकार भी मिलते-जुलते हैं, परन्तु वलयाकार श्रेणियों के घेरे को देखने से प्रतीत होता है कि यह किसी द्वीप के चारो ओर श्रेणी के रूप में रहा होगा और किसी समय द्वीप के जलमग्न हो जाने से श्रेणी के भीतर झील के समान सागर का जल बन्द हो गया है। सुप्रसिद्ध प्रकृतिवादी चार्ल्स डार्विन, डाना, और आधुनिक काल के डेविस नामक विद्वानों का यही सिद्धान्त है कि वलयाकार श्रेणियाँ एक समय अवश्य ही किसी ज्वालामुखी पर्वत की चोटी (जो जल मे द्वीप के समान बनी होगी) के चारों ओर सीमान्तक और बाधक श्रेणियों के रूप मे रही होंगी। सागर-जल-तल के ऊपर उठने अथवा द्वीप के नीचे धँसने से सीमान्तक श्रेणी का सम्बन्ध द्वीप-तट से भंग हो गया होगा और उसका रूप बाधक बन गया होगा। कालान्तर मे जब जल-तल इतना ऊँचा हो गया कि उसने द्वीप-शिखर को अपने भीतर ढाँप लिया (द्वीप के नीचे धँस जाने से भी यही हुआ होगा) तो उसके चारों ओर बनी बाधक श्रेणियाँ तो जल-तल के साथ-साथ ऊँची होती गईं, परन्तु स्थल के नीचे हो जाने से उसके स्थान पर जलकुण्ड बन गया। वही श्रेणी जो द्वीप-तट पर बाधा के रूप मे स्थित थी, अब इस जलकुण्ड को घेरे हुए वलय के रूप मे दिखाई पड़ने लगती है। इस सिद्धान्त को मानने का अर्थ यह होता है कि जहाँ-जहाँ आजकल वलयाकार प्रवाल-श्रेणियाँ हैं, उन प्रदेशों की सागर की तली सैकड़ों फीट नीचे धँस गई है और सम्भवतः आज भी धँस रही हो, क्योंकि प्रवाल-श्रेणियाँ जल के उपरी तल के साथ-साथ ऊँची होती जाती हैं।

डेली नामक विद्वान ने वलयाकार श्रेणियों की रचना के सम्बन्ध मे दूसरा ही सिद्धान्त उपस्थित किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार सागरस्थित द्वीप नीचे नहीं धँसे हैं। पृथ्वी के इतिहास मे महान् हिमयुग के पूर्व केवल सीमान्तक श्रेणियों की ही रचना हुई थी, जो द्वीपों के तटों पर झालर के समान दिखाई पड़ती थी। हिमयुग के समय महाद्वीपों पर हिमावरण के कारण समस्त धरा-तल के सागर का जलतल लगभग २०० फीट नीचा हो गया था (देखिए पृष्ठ १४४३)। इसके प्रभाव से असख्य मूँगे के कीड़े जल के बाहर हो जाने से नष्ट हो गए तथा जल की शीतलता ने भी असंख्यो का नाश कर दिया। जिन द्वीपों के चारो ओर बाधक प्रवाल-श्रेणियाँ बनी हुई थीं वे पहले लहरो के क्षयात्मक प्रभाव से सुरक्षित थी, क्योंकि बाधक श्रेणियाँ लहरो के वेग को रोक लेती थीं। प्रवाल-जन्तुओं के नष्ट हो जाने से तथा शीत के कारण इन श्रेणियों मे नई वृद्धि के अभाव से लहरो की चोट सीधी अब द्वीप-तट पर पड़ने लगी। इन लहरों की चोट से द्वीप-तट की कठोर चट्टानो मे गहरी-गहरी खाइयाँ बन गई। कोमल और छोटी चट्टानें तो लहरों के भीषण प्रहार को सहन करने मे अशक्त होने के कारण एकदम नष्ट हो गईं। जब हिमयुग का अन्त हो गया और सागरजल का ताप बढ गया तथा हिमावरण का जल बहकर सागर मे पहुँचा तब फिर सागर का जल ऊँचा हो गया। खाइयों मे जल भरने से प्रवाल-जन्तु उसमे आ गए और उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसानी आरम्भ कर दीं तथा जलमग्न द्वीपों के चारो ओर अपनी पुरानी श्रेणियों को फिर ऊँचा कर लिया, जो वलयाकार रूप मे आज भी दिखाई पड़ती हैं। इस मत के अनुसार हिमावरण के प्रभाव से नष्ट हो गए द्वीपो के चारों ओर पूर्वकालीन सीमान्तक श्रेणियाँ ही वलयाकार हो गई हैं।

इस प्रकार उपरोक्त दोनों ही सिद्धान्तों का तात्पर्य एक ही है कि वलयाकार श्रेणियों की रचना आरम्भ मे सीमान्तक और बाधक श्रेणियों के रूप में हुई थी। कालान्तर मे द्वीपों के अदृश्य हो जाने से (चाहे वे सागर-तल के धँस जाने से जलमग्न हो गए हों अथवा हिमयुग के प्रभाव से लहरो द्वारा विनष्ट होकर जलमग्न हो गए हों) इनका रूप वलयाकार हो गया। इस सिद्धान्त की सत्यता इस बात से और भी पुष्ट हो जाती है कि जिन द्वीपों को बाधक श्रेणियाँ घेरे हुए हैं, उनकी तट-रेखा धँसते हुए स्थल की सूचक है।

यद्यपि प्रवाल-जन्तुओं के खोल कठोर होते हैं तथापि लहरों की चोटों के आगे इनका भी भुरकुस निकल जाता है और इनका चूरा समुद्र की तह मे बैठता जाता है, जिसके स्तर-के-स्तर समुद्र की तह मे जमते जाते हैं। प्रवाल की चट्टानों के कण छोटे-छोटे बालूकणों से लेकर बड़े कंकड़ तक के बने होते हैं। इन छोटे-बड़े कणों को

आपस मे बॉधने के लिए प्रवाल का महीन चूरा, जो पंक-सरीखा होता है, काम आता है। यह कोमल पंक इन कणो को आपस मे उसी प्रकार बॉध देता है, जैसे 'सीमेंट' बालू और कंकडों को। अन्य असंख्य लघु जन्तु तथा जलोद्भिज भी इस बॉधने की क्रिया मे तथा चूरचार उत्पन्न करने मे सहायक होते हैं। जल मे घुला कैल्शियम कार्बोनेट भी इस चूरचार के छिद्रो मे भरकर उनको बॉधने मे सहायक होता है। छिछले पानी के किनारे की ओर कही-कही एक विचित्र प्रकार के पत्थर की रचना होती है जो दानेदार चूना (Oolite) कहलाता है। यह देखने मे मछली के असंख्य अडसमूह-सा लगता है।

प्रवाल के अतिरिक्त अन्य जलजन्तुओ की ठठरियो के कणो से भी चूना-पाषाण की रचना होती है। इनमे फोरैमिनीफेरा, ब्रायोज़ोआ, ऐकिनोडर्मस, नलीपोर और क्रस्टीशिया नामक जन्तु और जलोद्भिज प्रधान हैं। इन जन्तुओं के असंख्य बाह्य आवरण चिकनी मिट्टी और पंक तथा महीन बालूकणो मे दबे पाए जाते हैं। कही-कही छिछले जल की तह इन्ही के मृत अवशेषों से भरी रहती है। लहरो के वेग से वे चूरचार हो जाते हैं और इनकी महीन बालू बन जाती है जो शान्त तली मे पतले स्तर के रूप मे जम जाती है।

गहरे जलतल में जमा होनेवाला पदार्थ

मरे और केनार्ड नामक विद्वानों के मतानुसार गहरा जल १०० पोरस या फादम की गहराई के अनन्तर आरम्भ होता है। महाद्वीपीय निमग्न तट तो छिछले पानी के प्रदेश में आता है, परन्तु इसके आगे जहॉ महाद्वीपीय ढाल (Continental Slope) आरम्भ होता है, वही से गहरे जल का प्रदेश आरम्भ होता है। गहरे जल की तह मे गहराई के कारण लहरो का तनिक भी प्रभाव नही पडता। इस कारण स्थल से बहकर आए हुए पदार्थ का केवल वही अंश जो अति सूक्ष्म कणोवाला है, यहॉ पर आ पाता है। यह पदार्थ कोमल पंक (Oozes) के रूप मे जमा होता है। पक बहुधा अधिक गहराई की तह मे जमा पाया जाता है और धरातलीय पदार्थ (वह पदार्थ जो स्थल से बहकर आया है) ज्वालामुखी धूल तथा सागर के जलतल पर रहनेवाले असख्य आदिजीवो की ठठरियो के कणो से मिलकर बना होता है। जिस पक में जीवो की ठठरियो के कणो की बहुतायत होती है वह चूने का पक (Calcarious Mud) कहलाता है और जिसमे ज्वालामुखी धूल की अधिकता होती है वह ज्वालामुखीय पक (Volcanic Mud) कहलाता है। धरातल से बहकर आया हुआ पदार्थ स्थलीय कहलाता है। विभिन्न गहराइयो मे इन पंको के रंगो मे विभिन्नता पाई जाती है। नील पंक, हरित पक और लाल पंक इनमे विशेष उल्लेखनीय हैं।

नील पंक समुद्र की तह मे पाए जानेवाले सूक्ष्म-कणीय पदार्थो मे सबसे अधिक विस्तृत है। इसका विस्तार लगभग १४५०००,०० वर्गमील के क्षेत्रफल मे है। लगभग सभी समुद्र-तटों के आगे की गहराई की तह की एक सॅकडी पट्टी नील पक से ढकी पाई जाती है। आर्कटिक और भूमध्य सागर सरीखे बन्द सागरो की तह मे यही पक बिछा है। यह १२५ पोरसो की गहराई की तह से लेकर २८०० पोरस की गहराई की तह तक पाया जाता है। अधिक गहराई की तह में यह नही मिलता।
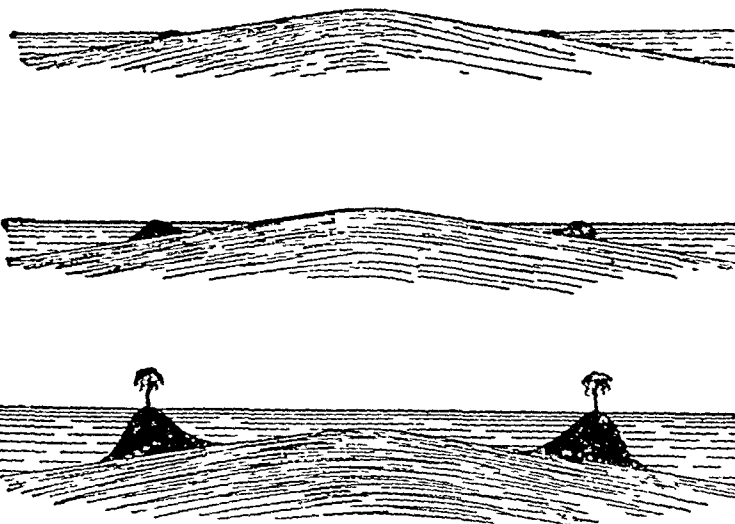
प्रवाल-द्वीपो की रचना किस प्रकार होती है

चार्ल्स डार्विन के अनुसार प्रवाल-द्वीपों की रचना निम्न प्रकार हुई होगी। पहले ज्वालामुखीय चट्टानों का कोई अंश समुद्र-जल में से ऊपर उठ आया होगा। तदनंतर इस नवनिर्मित द्वीप पर प्रवाल-जंतुओ ने वलयाकार प्रवाल-श्रेणी बनाना शुरू किया होगा। द्वीप के अधिकांश भूभाग के पुनः धॅसकर जलमग्न हो जाने से प्रवाल-श्रेणी तथा द्वीप के बचे हुए भाग के बीच छिछला सागर का जल बद्ध हो गया होगा। इस प्रकार बाधक श्रेणी बनी होगी। इस बीच प्रवाल-श्रेणी का क्रमशः ऊपर उठने का क्रम जारी रहा होगा। तब पुन. धॅसाव के कारण द्वीप का लोप हो गया होगा और केवल प्रवाल की वलयाकार झालर के अंश अटॉल (Atoll) के रूप मे यहाँ-वहॉ बच रहे होंगे। ऊपर के तीन चित्रों में मूँगे के द्वीप का क्रमिक विकास प्रदर्शित है। कालान्तर में महासागर से घिरे हुए इन एकाकी मूँगे के टापुओं पर वृक्ष आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे अद्भुत दृश्य प्रस्तुत हो जाता है।

इसके नीले रग का प्रधान कारण इसमे पाए जानेवाले लोहे के गधकीय खनिज कणो की प्रचुरता है।

लाल पक विशेषकर ब्रेज़िल के अटलाटिक तट पर तथा चीन के पीले सागर मे पाया जाता है। यह बहुधा गरम प्रदेशो मे अधिक होता है। इसका लाल रग गेरू के कारण होता है, जिसके कण इसमे बहुत अधिक रहते हैं। इस पक मे 'फौरैमिनीफेरा' नामक आदिजीव की ठठरियाँ विशेष पाई जाती है।

चूने के पदार्थ का पक अधिकतर प्रवाल एव अन्य जन्तुओ तथा वनस्पतियो के कठोर खोलो के घिसने, टूटने और पिसने से बनता है। इनके सूक्ष्म कण गहरे जल की तह की ओर बह जाते हैं। परन्तु यह बहुधा उन्ही प्रदेशो मे पाया जाता है, जहाँ इस प्रकार के जीव प्रचुर होते हैं।

ज्वालामुखी पक बहुधा उन गहरे समुद्रो की तली मे जमा होता पाया गया है, जिनके आसपास ज्वालामुखी पर्वत तथा द्वीप हैं। ज्वालामुखी की राख समुद्र के जल मे गिरती है और धीरे-धीरे बैठती हुई उन स्थानो पर जमा हो जाती है, जहाँ तह मे लहरो का प्रभाव नही होता।

फौरैमिनीफेरा नामक आदि-जीव के अतिरिक्त रेडियोलेरिया (Radiolaria) नामक जीव तथा डायटम (Diatom) नामक उद्भिज आदि भी सागर की तह मे चूने का पक जमा करते रहते हैं। ये जीव जलतल पर सहस्रो की सख्या मे हर घडी मरते रहते है और मृत शरीरो की कडे चूने-पत्थर की ठठरियाँ सागरों की तह मे गिरती रहती हैं। ये जीव इतने शीघ्र जन्मते और मरते हैं कि इनके मृत शरीरो के गिरने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे ठडे प्रदेशो मे तुषारपात होता है। सागरों की गहरी तहो मे दब और गलकर इनकी ठठरियाँ खडिया मिट्टी मे परिणत हो जाती हैं।

खड़िया पाषाण की चट्टाने

इस फोटो मे दिखाई दे रही चट्टाने खडिया मिट्टी (Chalk) की चट्टानें हैं। ये चट्टानें किसी सुदूर अतीतकाल में जलाशय की तलहटी में जल के द्वारा लाई हुई बालू, मिट्टी, पत्थर आदि के कणो की तलछट तथा अति सूक्ष्म क्षारीय जलचरों के अवशेषो के मिश्रण से बनी है। समुद्र के जल की सतह के ऊँचे-नीचे हो जाने के कारण ही ये चट्टाने पर्वतरूप में ऊपर उठी हुई दिखाई दे रही हैं।

लाल मिट्टी-सरीखा असीम गहराई के जल की तह मे पाया जानेवाला पदार्थ अनन्त काल पूर्व स्थल से आया हुआ है। इसका कुछ अश तो ज्वालामुखी की राख के ही विश्लेषण से उत्पन्न हुआ है और कुछ जल मे घुले पदार्थों के जीवों और जन्तुओ द्वारा परिवर्त्तित किये गए पदार्थ से। असीम गहराई के जल की तह मे सीधा स्थल से आया हुआ पदार्थ बहुत ही कम पाया जाता है। केवल अफ्रीका के पश्चिमी तट पर सहारा के मरुस्थल से वायु के द्वारा उडाकर लाई गई रेत जल की तह मे गिरकर जमा हो गई है, परन्तु यहाँ पर गहरा समुद्र स्थल के एकदम पास ही आरम्भ हो जाता है। अधिकाश प्रदेशों मे अधिक गहरे जल की तह मे मिट्टी ही जमा होती पायी जाती है। लाल मिट्टी से ढकी तली का क्षेत्रफल लगभग ५१५०००० वर्ग मील है। इसका ⅘ भाग प्रशान्त महासागर मे है।

असीम गहराई की तह मे जमा होनेवाले पक (Oozes) यह सिद्ध करते है कि हमारी पृथ्वी पर समुद्र के ये भाग अनन्त काल से स्थिर हैं। हम देखते हैं कि तट पर जमा होनेवाले पदार्थ तथा छिछले जल की तह मे जमा होनेवाले पदार्थ कालान्तर मे कडी चट्टानो मे परिणत हो जाते हैं, जो धरातल पर पाई जानेवाली परतीली चट्टानो से एकदम मिलती-जुलती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि स्थल की इन परतीली चट्टानो का जन्म सागर के छिछले जल की तह मे हुआ होगा और छिछले जल की तह के ऊपर उठ आने से ये चट्टाने स्थल की चट्टाने बन गई होगी। परन्तु हम कही भी गहरे जल की तह मे पाए जानेवाले पक की भाँति पदार्थ की बनी चट्टाने नही पाते। इसका अर्थ तो यही होता है कि अनन्त काल से गहरे जल की तली मे कोई परिवर्त्तन नही हुआ है।

मौसम और जलवायु

२—धरातल पर चलनेवाली हवाएँ कहाँ से आती हैं और क्यों?

तिजारती हवा, पछुआ, मानसून और चक्रवात आदि की कहानी

पिछले प्रकरण मे 'मौसम और जलवायु' के अध्ययन के सिलसिले में हमने धरातल के विभिन्न प्रदेशों के तापक्रम का निदर्शन किया था और उसी क्रम में समवायु-भार के भिन्न-भिन्न कटिबंधों की भी जानकारी प्राप्त की थी। हम देख चुके हैं कि वायुमण्डल परिवर्त्तनशील तथा अस्थिर है एवं धरातल के मौसम और जलवायु के निर्माण में उसका गहरा हाथ है। भूमण्डल पर सदैव वायु की अनेक धाराएँ स्थायी या अस्थायी रूप से बहती रहती हैं और इस प्रकार विविध महत्त्वपूर्ण उलटफेर किया करती हैं। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में वर्षा का सारा दारमदार 'मानसून' नामक मौसमी हवाओं पर है। अतएव इन वायु-धाराओं का न केवल भूतत्त्विक महत्त्व ही है, प्रत्युत् मानव जीवन से एकदम सीधा संबंध है। तो फिर आइए, इन महत्त्वपूर्ण हवाओं के रूप और प्रवाह-मार्ग के संबंध में कुछ विस्तृत जानकारी प्राप्त करें।

वायुमण्डल का वह अंश जो धरातल के सन्निकट है चंचल और अस्थिर है। वह धरातल के साथ-साथ गरम होता है और धरातल के ठण्डा होने से ठण्डा। धरातल का जो प्रदेश अधिक गरम हो जाता है उसके पास की वायु भी अधिक गरम हो जाती है। वायु अधिक गरम होने से फैलती है और फैलने से उसका भार कम हो जाता है। हल्की हो जाने से वायु ऊपर उठने लगती है और उसके स्थान पर आस-पास की ठण्डी और अधिक भारवाली वायु आ जाती है। इसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब वायु गरम होकर फैलने लगती है तो उसके हल्केपन के कारण आस-पास की ठण्डी और भारी वायु अधिक दबाव डालकर उसे ऊपर उठाकर स्वयं उसके स्थान पर पहुँच जाती है। उसके वहाँ पहुँचते-ही धरातल की गरमी उसको भी शीघ्र ही गरम कर देती है और उसको भी ऊपर उठ जाना पड़ता है। ठण्डे प्रदेशों से और भारी वायु उसके स्थान पर आती है। इस प्रकार वायु के आने और ऊपर उठने का चक्र बराबर चलता रहता है। गरम प्रदेश की ओर ठण्डी वायु की धारा आती रहती है और गरम होकर ऊपर उठती रहती है। [illegible] वायु विलुप्त नहीं हो जाती वरन् अधिक ऊँचाई पर पहुँचते-पहुँचते यह फिर ठण्डी हो जाती है और ठण्डी होकर संकुचित होने से भारी हो जाती है जिससे उसको धरातल पर लौटना पड़ता है। परन्तु लौटकर यह उसी स्थान पर नहीं पहुँचती जहाँ से ऊपर उठी थी वरन् उसके आस-पास के प्रदेश पर उतरती है और नीचे की धरातलीय वायु को दबाती हुई लघु-भार प्रदेश की ओर बहा देती है।

समुद्र-तट के निकट वायु के चलने की दिशा दिन और रात में भिन्न रहती है। समुद्र-तट के निकट १०-१५ मील तक वायु की दिशा में दिन और रात में परिवर्त्तन होता रहता है। दिन में पवन के झोंके समुद्र की ओर से आते हैं परन्तु रात में स्थल की ओर से समुद्र की ओर हवा चलती है। इन हवाओं का नाम उस दिशा के अनुसार पड़ गया है, जिस ओर वे चलती हैं। समुद्र-तट पर दिन में चलनेवाली हवा समुद्री हवा कहलाती है और रात में चलनेवाली स्थल पवन।

स्थल और समुद्री पवन के चलने का कारण यह है कि स्थल जल की अपेक्षा शीघ्र गरम होता है। दिन में सूर्य की किरणें स्थल को समुद्र की अपेक्षा अधिक गरम कर देती हैं। इससे स्थल के ऊपर वायु का भार

समुद्र की अपेक्षा कम हो जाता है और जल की ओर से समुद्री हवा स्थल की ओर चलने लगती है। रात मे शीत पडने के कारण स्थल की अपेक्षा जल देर मे ठण्डा हो पाता है। फलस्वरूप समुद्री वायु की अपेक्षा स्थल की वायु अधिक ठण्डी होती है और इसी कारण रात मे हवा का प्रवाह स्थल से समुद्र की ओर होता है।

धरातल पर भी हवाओ का चक्र लगभग इसी प्रकार उच्चभार प्रदेशों से लघुभार प्रदेशो की ओर चलता रहता है। परन्तु धरातल के विभिन्न प्रदेशो मे बहनेवाली हवाओ की दिशा मे समुद्री पवन की भॉति रात और दिन मे भिन्नता नही होती। ये हवाऍ स्थायी होती हैं। केवल ऋतु-परिवर्त्तन के साथ-साथ इनके प्रवाहक्षेत्र मे थोडा-बहुत अन्तर पड जाता है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नही है कि धरातल पर ऐसी हवाऍ हैं ही नही जिनकी स्थिति और दिशा बिल्कुल अनिश्चित है। परन्तु धरातल के अधिकाश भागो मे स्थाई हवाऍ ही चलती हैं।

धरातल पर भूमध्य रेखा के आसपास सूर्य की गर्मी उत्तरीय और दक्षिणीय अक्षाशो की अपेक्षा अधिक पडती है। इस कारण भूमध्यरेखा के ऊपर की वायु अधिक गरम होकर ऊपर उठती है और ऊपर की वायु का प्रवाह ध्रुवो की दिशा मे होता है, क्योकि ध्रुवो पर अधिक ठण्डा होने से वहॉ की वायु सकुचित होती है। ऊपर की वायु का प्रवाह ध्रुव प्रदेशों की ओर होने से भूमध्य रेखा तथा अत्युष्ण कटिबन्ध के अक्षाशो पर वायुभार कम हो जाता है। इस प्रकार अत्युष्ण कटिबन्ध मे लघुभार-प्रदेश के उत्पन्न होने से उसके उत्तरीय और दक्षिणीय अक्षाशो की ओर से ठण्डी और अधिक भारवाली वायु चलने लगती हैं। इस प्रकार साधारण अवस्था में वायु का प्रवाह शीतोष्ण कटिबन्धो की ओर से भूमध्य प्रदेश की ओर हुआ करता है।

भूमध्य प्रदेश के ऊपर उठी हुई वायु अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर ठण्डी हो जाती है और सिकुडने लगती है। इस कारण उसका भार बढ जाता है। भार बढ जाने से उसको फिर नीचे उतरना पडता है। परन्तु नीचे उतरते समय यह वायु लौटकर उसी स्थान पर नही पहुँचती जहॉ से ऊपर उठी थी, वरन् उसके उत्तर और दक्षिण मे कर्क और मकर रेखाओ के समीप यह वायु धरातलीय वायु बन जाती है।

भूमध्य रेखा के उत्तर और दक्षिण मे जिन प्रदेशो पर वायु ऊपर से नीचे आती है, वहॉ उच्चभार-प्रदेशों की रचना होती है, क्योंकि ऊपर से आनेवाली वायु का भार धरातलीय वायु से कही अधिक होता है। इन उच्चभार-प्रदेशो से वायु का प्रवाह इनके उत्तर और दक्षिण अर्थात् ध्रुव तथा भूमध्य रेखा दोनो ही ओर होता है, क्योकि इन प्रदेशो के दोनों ओर ही लघुभार-प्रदेश हो जाते हैं। इस प्रकार शीतोष्ण कटिबन्ध से भूमध्य की ओर आनेवाली वायु भूमध्य रेखा पर ऊपर उठकर फिर कर्क और मकर रेखाओं के पास धरातल पर पहुँच जाती है और इसी चक्र मे चलती रहती है।

कर्क और मकर रेखाओ के पास उत्पन्न उच्चभार-प्रदेशो से वायु का प्रवाह ध्रुव-प्रदेशो की दिशा मे होता है। शीतोष्ण कटिबन्धा मे ये ही हवाऍ चला करती हैं। शीतोष्ण कटिबन्धो के आगे ध्रुवो के पास शीत कटिबन्धा मे उच्चभार रहता है। इस कारण शीतोष्ण कटिबन्धो की वायु ध्रुवों तक नही पहुँचती वरन् ध्रुवों की ओर से ठण्डी वायु शीतोष्ण कटिबन्धों की ओर चलती है। जिस प्रदेश पर ये ठण्डी हवाऍ शीतोष्ण कटिबन्ध की वायु से मिलती हैं वहॉ दोनो ऊपर की ओर उठने लगती हें और ऊपर जाकर एक अंश शीतोष्ण कटिबन्ध की ओर और दूसरा ध्रुव की ओर बह जाता है। ध्रुव की ओर जानेवाला अश ध्रुव पर पहुँचकर गतिहीन होकर फिर धरातल पर आ जाता है और शीतोष्ण कटिबन्धो की ओर जानेवाला अश अयन रेखाओ पर धरातलीय वायु बन जाता है।

इस प्रकार धरातल पर लघुभार और उच्चभार के कई कटिबन्ध बन जाते हे। ये 'लघुवायुभार' और 'उच्चवायु-भार' धरातल के चारों ओर फैले हैं। भूमध्य रेखा और उष्ण कटिबन्ध को लघुभार का स्थायी कटिबन्ध घेरे है। इसके उत्तर और दक्षिण मे प्रत्येक ओर उच्चभार कटिबन्ध है और इस उच्चभार के आगे, ध्रुवो की ओर चलने पर, शीतोष्ण कटिबन्धो के लघुभार-प्रदेश हैं। ध्रुवो पर फिर उच्चभार रहता है।

भूमध्य रेखा पर, जहॉ वायु अधिक गरम होकर ऊपर उठती है, वायु का प्रवाह धरातल की ओर न होकर आकाश की ओर होता है। इस प्रदेश पर धरातलीय वायु का सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार कर्क और मकर रेखाओ के निकट, जहॉ ऊपर की वायु धरातल पर उतरती है, धरातलीय वायु नही चलती। इन प्रदेशो को, जहॉ धरातलीय वायु का अभाव है, 'शान्तप्रदेश' (Calms) कहते हैं। उपरोक्त भूमध्य और अयन रेखाओवाले
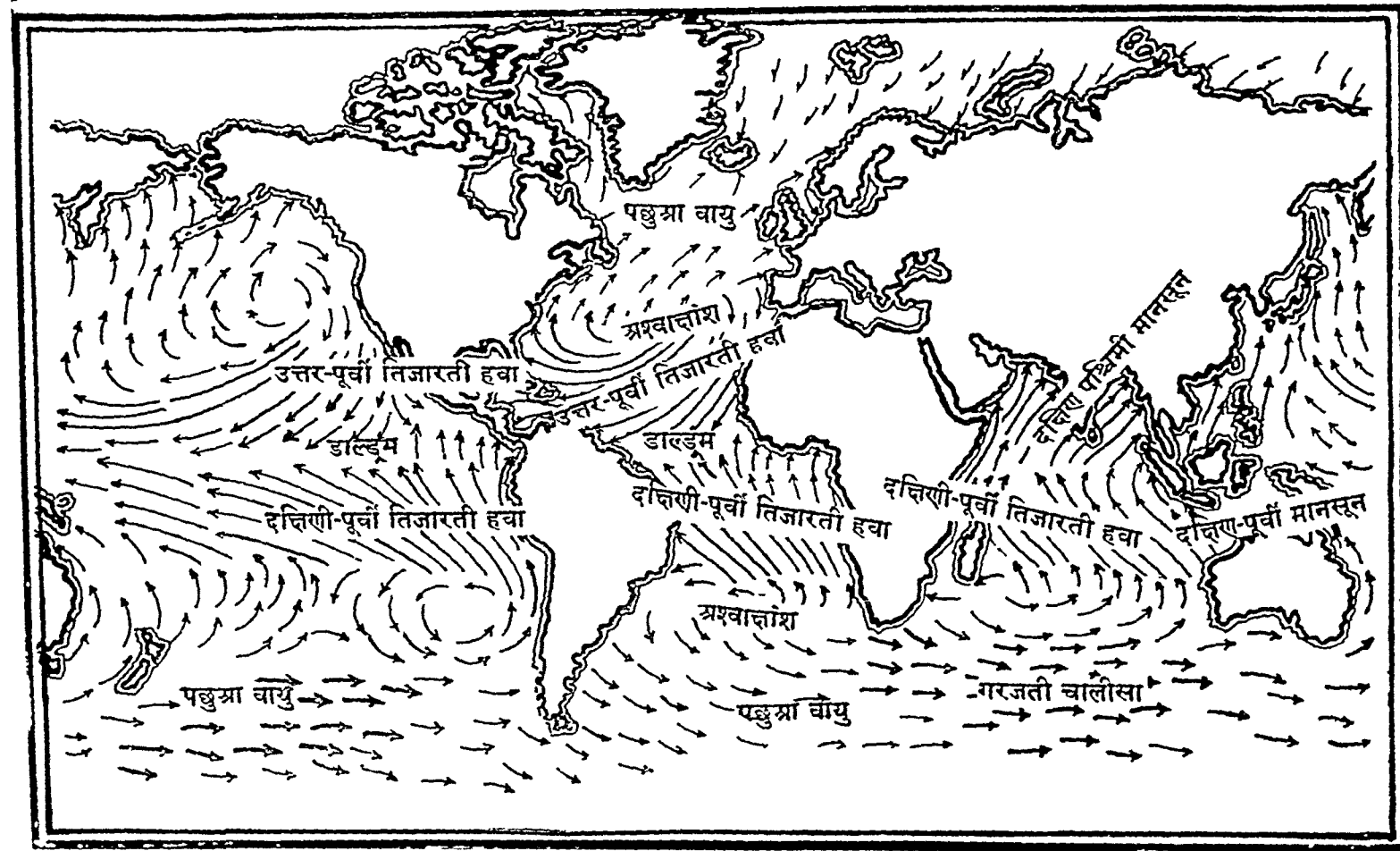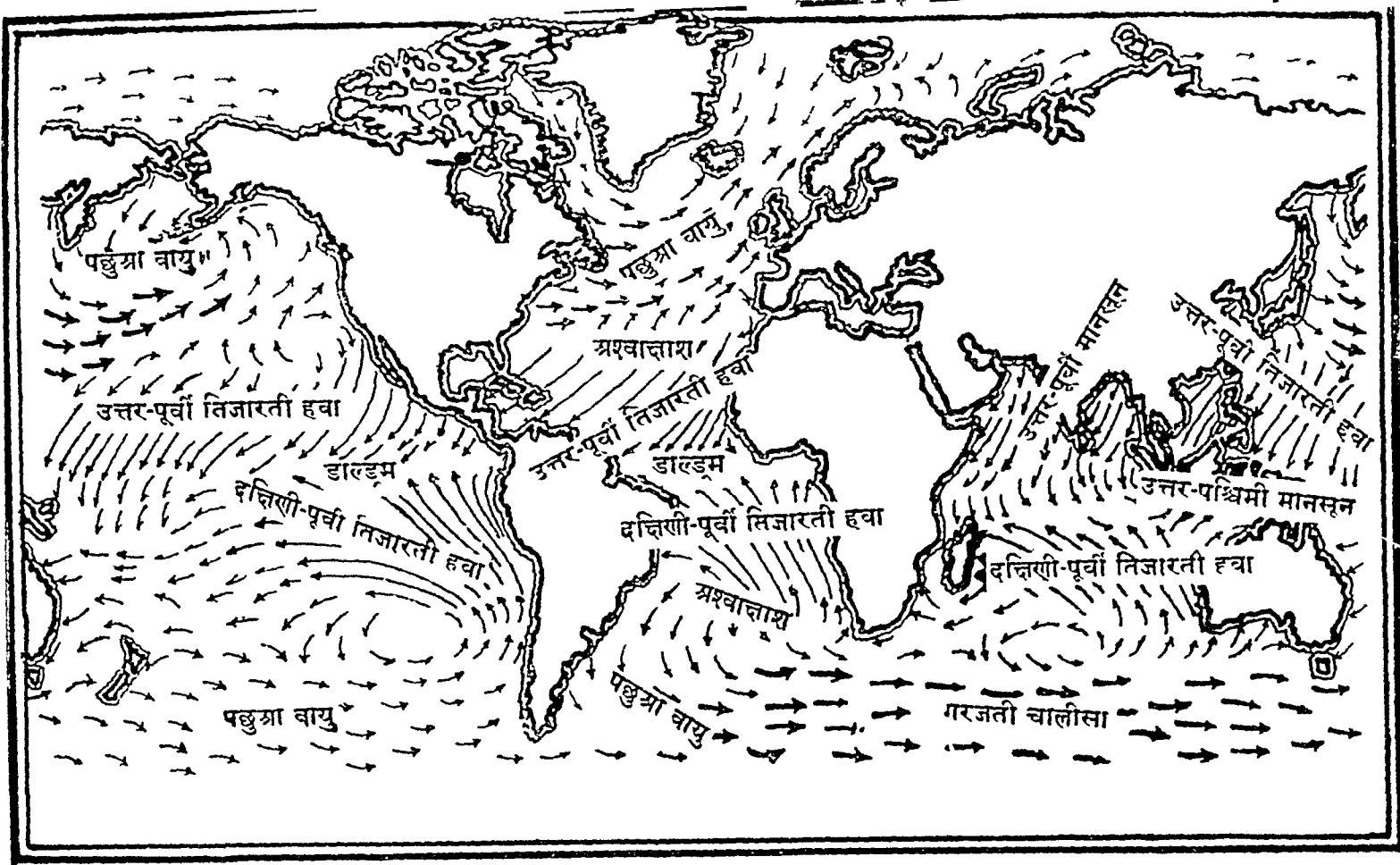
धरातल पर चलनेवाली मुख्य-मुख्य हवाएँ और उनके मार्ग

ऊपर के मानचित्र में जनवरी में (अर्थात् शीतकाल में) हवाओं की गति का निर्देश किया गया है, नीचे जुलाई के महीने में (अर्थात् ग्रीष्म काल में) हवाओं का रुख़ दिखाया गया है। हमारे देश में जून-जुलाई में समुद्र की ओर से स्थल की ओर बहनेवाली दक्षिणी-पश्चिमी मानसून नामक हवा से ही अधिकतर वर्षा होती है। नक्शे में दिखाई गई हवाओं का विशेष परिचय पाने के लिए लेख पढ़िए।

'शान्तप्रदेशों' के अतिरिक्त ध्रुवों के निकट भी ऐसे शान्त-प्रदेश हैं। ये शान्तप्रदेश धरातल पर स्थायी रूप से पाए जाते हैं। परन्तु सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने से इनके क्षेत्र उत्तर और दक्षिण की ओर हट जाते हैं अर्थात् ताप सम्बन्धी भूमध्य रेखा धरातलीय (भौगोलिक) भूमध्य रेखा से सम्बन्धित न होकर सूर्य की स्थिति से सम्बन्धित है। भूमध्यीय शान्तप्रदेश (Equatorial Calms) का केन्द्र सदैव ही ताप सम्बन्धी भूमध्य रेखा के समीप रहता है।

वायुभार के भेद के अनुसार शीतोष्ण कटिबन्धों की ओर से वायु का प्रवाह भूमध्य की ओर होता है। अब यदि पृथ्वी स्थिर होती और एक ही अक्षांश के स्थल और जल प्रदेशों के गरम होने में असमानता न होती तो वायु का प्रवाह सदैव देशान्तर रेखाओं के समानान्तर उत्तर-दक्षिण दिशा में होता। उत्तरीय गोलार्द्ध में दक्षिण की ओर पवन चलती और दक्षिणीय गोलार्द्ध में उत्तर की ओर। परन्तु पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण इन हवाओं की दिशा मे अन्तर पड जाता है। इस सम्बन्ध मे जो नियम है उसे फेरल का सिद्धान्त (Ferrel's Law) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी की सभी मुक्त चलित वस्तुएँ पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण उत्तर-दक्षिण की ओर चलने मे अपने पथ से एक ओर को झुक जाती हैं। उत्तरीय गोलार्द्ध में यह झुकाव उनके दाहिनी ओर और दक्षिणीय गोलार्द्ध मे बाईं ओर को रहता है। इस सिद्धान्त के अन्वेषक फेरल महोदय एक अमेरिकन अध्यापक थे। इस सिद्धान्त की जॉच पश्चिम से पूर्व की ओर तेज़ी से घूमते हुए ग्लोब पर खड़िया से उत्तरीय ध्रुव से लेकर दक्षिणीय ध्रुव तक एक लकीर खींचकर की जा सकती है। यह लकीर उत्तरीय गोलार्द्ध मे दाहिनी ओर और दक्षिणीय गोलार्द्ध में बाईं ओर को मुड जायगी। घूमते हुए ग्लोब पर पानी छोड़ने से वह भी उत्तरीय गोलार्द्ध में दाहिनी ओर और दक्षिणीय गोलार्द्ध मे बाईं ओर को बहता है।
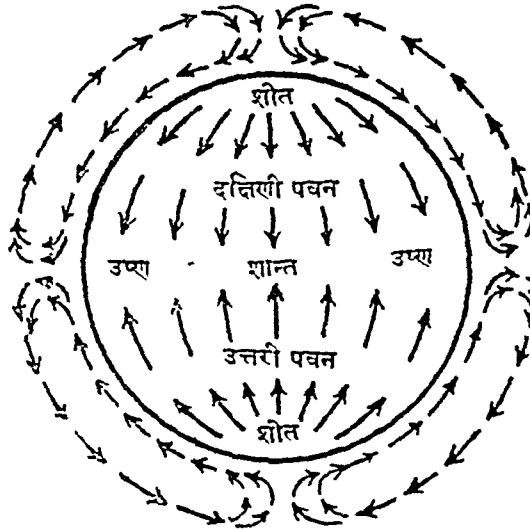
यदि पृथ्वी अपनी धुरी पर न घूमती होती तो हवाएँ किस प्रकार बहती, इसकी कल्पना।

इस प्रकार उत्तरीय गोलार्द्ध में ध्रुव से भूमध्य की ओर अथवा भूमध्य से ध्रुव की ओर चलनेवाली हवाएँ अपने पथ से विचलित होकर दाहिनी ओर को मुड जाती हैं, और दक्षिणीय गोलार्द्ध मे इसी प्रकार हवाओं का झुकाव बाईं ओर को होता है। शीतोष्ण कटिबन्धों के उच्चभार-प्रदेशों से जो हवाएँ भूमध्य के लघुभार-प्रदेश की ओर चलती हैं वे उत्तरीय गोलार्द्ध में 'उत्तरीय-पूर्वीय' हवाएँ और दक्षिणीय गोलार्द्ध मे 'दक्षिणीय-पूर्वीय' हवाएँ कहलाती हैं [जिस दिशा से हवा चलती है उसी के अनुसार उसका नाम पडता है परतु समुद्री धारा जिस ओर को चलती है उसके अनुसार उसका नाम पडता है]। ये उत्तरीय और दक्षिणीय पूर्वीय हवाएँ स्थायी और निरतर चलती रहती हैं। इस कारण पुराने समय मे इनके द्वारा जलयानों को यात्रा करने मे बडा सुभीता रहता था। इसीलिए उन दिनों इनको व्यावसायिक या तिजारती पवन (Trade Winds) कहते थे। इसी नाम से ये हवाएँ आज भी प्रसिद्ध हैं। इन हवाओं का बहुत अधिक महत्व है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि शीतोष्ण कटिबन्धों के आगे ध्रुवों की ओर लघुभार-प्रदेश हैं। उच्च-भार-प्रदेश से लघुभार-प्रदेश की ओर वायु का प्रवाह होना आवश्यक है। इसीलिए शीतोष्ण कटिबन्धो से ध्रुवों की ओर भी वायु का प्रवाह होता है। ये हवाएँ भी फेरल के सिद्धान्त के अनुसार घूम जाने के कारण उत्तरीय गोलार्द्ध मे 'पछुआ' और 'दक्षिणी पछुआ' और दक्षिणीय गोलार्द्ध मे अपनी दिशा के अनुसार 'उत्तरीय पछुआ' और 'पछुआ' कहलाती हैं। इस प्रकार दोनो गोलार्द्धों मे ध्रुवो के समीप पछुआ हवाएँ चला करती हैं। दक्षिणीय गोलार्द्ध मे पछुआ हवाएँ उत्तरीय गोलार्द्ध की अपेक्षा अधिक निश्चित और स्थायी रहती हैं। इसका कारण यह है कि दक्षिणीय गोलार्द्ध मे स्थल की न्यूनता है तथा अधिकाश मे सर्वथा अभाव है। इसलिए उनके वेग को रोकनेवाली कोई अडचन नही मिलती। इनके अति प्रचण्ड वेग के कारण इनको 'वीर पछुआ' कहते हैं। इनका प्रभुत्व ४०° दक्षिणी अक्षांश के आस-पास रहता है, इसलिए इनको 'गरजती चालीसा' भी कहते हैं।

पूर्वकाल मे हवाओ का उपयोग समुद्र मे चलनेवाले जलयानो की यात्रा के लिए होता था। मल्लाह लोग इन्हीं हवाओं के वेग को देखकर अपनी यात्रा का समय निश्चित

करते थे। इसलिए जहाँ-कहीं मल्लाहो को इन हवाओं के सम्बन्ध मे कोई अनोखी और अद्भुत बात ज्ञात होती थी, वे उस स्थान की पहचान बनाने के लिए उसका कोई ऐसा नाम रख देते थे, जो उस स्थान की विचित्रता का द्योतक होता था। 'वीर पछुआ' और 'गरजती चालीसा' हवाओं के नाम मल्लाहों द्वारा ही रक्खे गए थे। इसी प्रकार मल्लाहो ने 'डॉल्ड्रम' व 'हार्स लैटीच्यूड' (Doldrums and Horse-latitude) नामो की रचना की। 'डॉल्ड्रम' भूमध्य का वह प्रदेश कहलाता है जहाँ पर धरातलीय वायु का सर्वथा अभाव है। इसमे भूमध्यीय लघुभार रहता है और इस कारण यहाँ वायु का प्रवाह धरातल पर न होकर धरातल से आकाश की ओर होता है अर्थात् हवा ऊपर उठती है। हवा के अभाव से इस प्रदेश का सागर शान्त रहता है। मल्लाह जब अपने पालवाले जहाज़ लेकर इस प्रदेश मे पहुँचते थे तब उनको सप्ताहो और कभी-कभी दो-एक महीनो तक रुका रहना पडता था, क्योंकि उनके पालो मे भरने के लिए यहाँ हवा ही नही रहती थी। इसीलिए वे इस प्रदेश को 'सोनेवाली जगह' या डॉल्ड्रम कहते थे।

जिस प्रकार भूमध्य प्रदेश के लघुभार के कारण वहाँ डॉल्ड्रम अथवा शान्तप्रदेश बनता है उसी प्रकार के शान्तप्रदेश उत्तरीय और दक्षिणीय अक्षांशों के उच्चभार-प्रदेशो मे हैं। इन शान्तप्रदेशो मे पहुँचने पर भी मल्लाहो को अपनी नावे चलाने मे बडी कठिनाई पडती थी। हवा के अभाव मे अधिक बोझवाली नावों का जब आगे बढना असम्भव हो जाता था तब मल्लाह अपनी नावो को हल्का करने के लिए अपने घोडो को समुद्र मे डाल देते थे। इसी कारण इन प्रदेशों को 'हार्स लैटीच्यूड' या 'अश्वाक्षांश' कहते हैं।

व्यावसायिक और पछुआ हवाएँ यद्यपि निश्चित और स्थायी दिशा की ओर बहती हैं तथापि सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने से इनके प्रवाह-क्षेत्र की स्थिति मे भी थोडा अन्तर पड जाता है। जब हमारे यहाँ सूर्य उत्तरायण होता है तब भूमध्यीय लघुभार-प्रदेश का विस्तार भूमध्यरेखा के थोडा उत्तर की ओर अधिक होता है अर्थात् ताप सम्बन्धी भूमध्य रेखा विषुवत् रेखा से प्रायः ११° उत्तरी अक्षांश तक बढ आती है। फलस्वरूप दक्षिणी-पूर्वीय तिजारती हवाएँ भूमध्य रेखा के थोडा उत्तर तक चलती हैं और उत्तरी-पूर्वीय तिजारती हवाएँ भूमध्य रेखा तक नहीं पहुँचती। पछुआ हवाएँ भी दोनो गोलार्द्धों मे थोडी उत्तर की ओर खिसक चलती हैं, क्योंकि अश्वाक्षांश अथवा अयन रेखा का उच्चभार भी पाँच-छः अंश अधिक उत्तर को चढ आता है, जिससे पछुआ हवाएँ भी इतने ही अंश उत्तरी स्थान से प्रस्थान करती हैं।

दक्षिणायन स्थिति मे सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध मे अधिक सीधी किरणे छोडता है, इसलिए डॉल्ड्रम भूमध्य रेखा के पास दक्षिण की ओर बढ जाता है और फलस्वरूप तिजारती हवाओ के प्रस्थान करने की स्थिति भी इसी प्रकार अधिक दक्षिण की ओर हो जाती है। अश्वाक्षांश अथवा उच्चभार का शान्तप्रदेश भी अधिक दक्षिण की ओर खिसक आता है। ग्रीष्म मे पहले जहाँ अश्वाक्षांश थे, वहाँ पर अब शीतकाल मे पछुआ हवाएँ चलने लगती हैं।

यदि समस्त धरातल पर जल ही जल होता तब ये धरातलीय हवाएँ (पछुआ और तिजारती) निरन्तर एक रूप से वर्ष भर चलती रहती। केवल सूर्य की स्थिति के अनुसार इनका प्रवाह-क्षेत्र थोडा उत्तर-दक्षिण होता रहता। परन्तु धरातल पर एक बडा अंश स्थल का है। जल की अपेक्षा स्थल शीघ्र गरम और ठण्डा होता है, इससे स्थल और जल पर होकर चलनेवाली हवाओ की गति और एकरूपता मे अन्तर पड जाता है। जिस प्रकार समुद्र-तट के निकट, स्थल और जल के असमान रूप से गरम और ठण्डा होने से, स्थल और समुद्री हवाएँ चलती हैं, उसी प्रकार महाद्वीपो और महासागरो के गरम और ठण्डा होने की गति मे असमानता होने से गर्मी और सर्दी की ऋतु मे विशेष हवाएँ चलती हैं। ये हवाएँ मौसम के अनुसार अपनी दिशा बदल देती है, इसलिए इन्हे मौसमी हवाएँ अथवा 'मानसून' कहते हैं।

इन हवाओ का प्रधान क्षेत्र हिन्द महासागर और उसके निकटवर्त्ती स्थलखण्ड हैं। इसका कारण यह है हिन्द महासागर के ठीक उत्तर मे उष्ण कटिबन्ध के निकट ही विशाल स्थल-खण्ड हैं। अटलाण्टिक और पैसिफिक महासागरो मे ऐसा कोई विशाल स्थलखण्ड नही है। अटलाण्टिक महासागर मे गिनी की खाडी के उत्तर मे केवल पश्चिमी अफ्रीका का कुछ भाग उष्ण कटिबन्ध के समीप आता है। इन प्रदेशो मे मानसून का प्रभाव होता है। उसी प्रकार पैसिफिक महासागर मे पनामा की खाडी के उत्तर मे कुछ स्थलखण्ड तथा ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप का उत्तरी भाग, जो पूर्वीय द्वीपसमूह के दक्षिण मे है, मानसून के प्रवाह-क्षेत्र हैं। परन्तु पश्चिमी अफ्रीका तथा मध्य अमेरिका का स्थल-प्रदेश एशिया की अपेक्षा बहुत ही कम है। इसलिए पश्चिमी अफ्रीका और मध्य अमेरिका की

मानसून बहुत क्षीण होती है। आदर्श मानसून तो हिन्द-महासागर के समीप दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे पाई जाती है।

जून और जुलाई के ग्रीष्मकाल मे वायु का अति-लघुभार जैकबाबाद के पास सिन्ध तथा मध्य एशिया मे होता है। इन दिनों मे दक्षिण की ओर सागर मे वायु का उच्चभार होता है। फलस्वरूप सागर की ओर से वायु का प्रवाह महाद्वीप की ओर आरम्भ होता है। इस वायु का प्रवाह यो तो दक्षिण से उत्तर की ओर होना चाहिए परन्तु पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण इसकी दिशा भारत मे दक्षिणी-पश्चिमी हो जाती है। इसी कारण इसका प्रभाव अरब देश मे बहुत कम और बलूचिस्तान मे नही के बराबर रहता है। समुद्र की ओर से आने के कारण यह वायु भाप से लदी होती है और जब इसके मार्ग मे ऊँची भूमि अथवा पहाड आदि की रुकावट पड जाती है तब उसको उल्लघन करने के प्रयत्न मे इसको ऊँचा चढना पड़ता है। ऊपर चढने से यह फैल जाती है और ठण्डी हो जाती है, जिससे उसकी भाप जल मे परिणत हो जाती है और यह वायु जल बरसाने लगती है। भारत, चीन तथा समस्त दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे जून जुलाई-अगस्त मे प्रचुर वर्षा इसी मानसून से होती है।

शीतकाल आरम्भ होते ही वायुभार की स्थिति बदल जाती है। इन दिनों सूर्य की लम्बाकार किरणें भूमध्य रेखा और मकर रेखा के बीच मे पडती हैं। एशिया के जिन स्थल-प्रदेशों मे पहले परम तापक्रम तथा लघुभार था, उनमे शरद् ऋतु के आते ही अल्प तापक्रम तथा उच्चभार उपस्थित हो जाता है। समुद्र के धीरे-धीरे ठण्डा होने से भूमध्य रेखा के निकट स्थल की अपेक्षा कही अधिक तापक्रम तथा लघुवायुभार प्रतीत होता है। फल यह होता है कि ग्रीष्म की मानसूनी हवा स्थल से समुद्र की ओर लौटने लगती है। इसकी दिशा उत्तर से दक्षिण की ओर न होकर उत्तरी-पूर्वी हो जाती है। यह हवा शरद् ऋतु मे चलती है, इसलिए इसे शरत्काल की मानसून कहते हैं।

तापक्रम की असमानता और पृथ्वी के घूमने के कारण किस प्रकार मुख्य वायु-धाराएँ उत्पन्न होती है (दे० १७८२-८४ का मैटर)
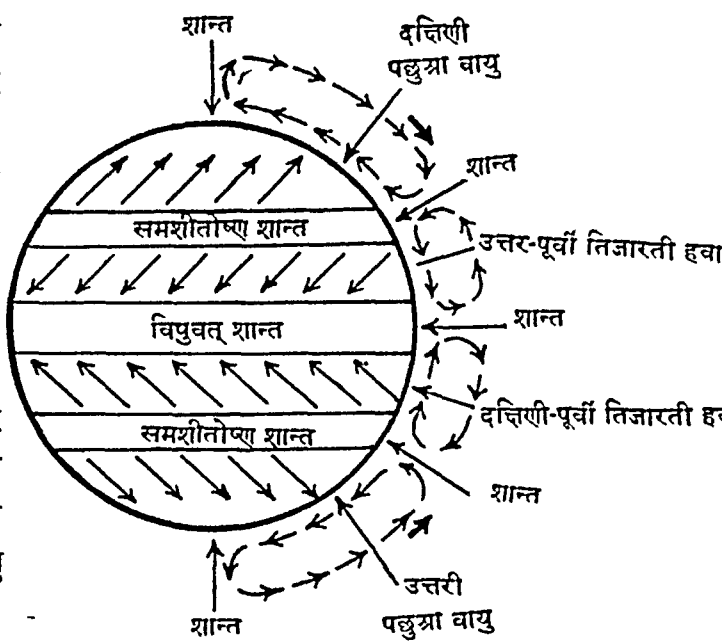
प्रशान्त (पैसिफिक) महासागर मे भी, हमारे यहाँ की ग्रीष्म ऋतु की तरह, एशिया का लघुभार सागर की ओर से वायु को खींचता है और इस कारण इस प्रदेश मे दक्षिणी-पूर्वी मानसून चलती है। इसका प्रवाह एशिया के दक्षिणी-पूर्वी खण्ड मे रहता है। श्याम, कोचीन-चीन, चीन और जापान के द्वीपसमूह इसी के प्रभाव मे रहते हैं। शरद् ऋतु मे जब हमारे यहाँ उत्तरी-पूर्वी मानसून चलती है तब इस प्रदेश मे भी वायु की दिशा बदल जाती है और समुद्र की ओर स्थल-पवन चलने लगती है। इस समय इसकी दिशा उत्तरी-पश्चिमी हो जाती है।

धरातल पर चलनेवाली जिन हवाओं का वर्णन हमने ऊपर किया है, उनमे से तिजारती और पछुआ तथा ध्रुव प्रदेश मे चलनेवाली हवाएँ तो स्थायी हैं अर्थात् सदैव एक ही दिशा मे चला करती हैं। केवल सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने से इन हवाओं का प्रवाह-क्षेत्र उत्तर-दक्षिण होता रहता है। मानसूनी हवाएँ ऋतु-परिवर्त्तन के अनुसार अपनी दिशा बदलती हैं, इसीसे ये हवाएँ स्थायी हवाएँ नही कहलाती। मौसम के अनुसार दिशा बदलने से ही ये मौसमी अथवा मानसूनी हवाएँ कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त धरातल पर कुछ और भी हवाएँ अनियमित रूप से चला करती हैं। इन हवाओं की न दिशा स्थिर होती है और न क्षेत्र। इनके चलने के उपयुक्त कारण उत्पन्न होते ही ये चलने लगती हैं। धरातल के विविध प्रदेशों मे इस प्रकार की अनियमित हवाएँ चलती हैं और विभिन्न प्रदेशों मे विभिन्न नामों से पुकारी जाती हैं। बगाल की खाडी मे साइक्लोन (Cyclone), चीन मे टाईफून (Typhoon) और पश्चिमी द्वीप-समूह मे इन्हे हरीकेन (Hurricane) के नाम से पुकारते हैं। ये हवाएँ वास्तव मे तूफानी आँधियाँ हैं, जो कभी-कभी प्रकट हो जाती हैं और अपने प्रवाह-क्षेत्र मे प्रलयकारी दृश्य उपस्थित कर देती हैं। ये बड़ी वेगवती होती हैं और जिस क्षेत्र मे भी चलती हैं वहाँ महानाश का कारण होती हैं।

मिसीसिपी की घाटी मे भी इसी प्रकार की नाशकारी हवा चलती है, जिसे टार्नेडो (Tornado) कहते हैं। इस आँधी का पथ चौथाई मील चौडा और २५ मील लम्बा होता है, परन्तु क्षण भर के चलने मे ही यह वर्षों का काम मिट्टी मे मिला देती है।

सहारा रेगिस्तान से भी एक भीषण आँधी उत्तर की ओर चलती है जो एकदम सूखी होती है। इसको स्पेन मे 'सोलानो' (Solano), इटली मे 'सिराको' (Sirocco) और उत्तरी आल्प्स मे 'फान' (Fohn) कहते हैं। इसी की एक शाखा पूर्व की ओर चलती है, जिसे मिस्र मे 'खामसिन' (५० दिन चलनेवाली) और अरब मे 'सिमून' कहते हैं। पश्चिम की ओर सूदान मे उसे 'हरमाटन' कहते हैं।

उत्तरी अमेरिका मे राकी पहाड से मैदान मे चलनेवाली गरम हवा को 'चिनूक' कहते हैं। शीतकाल मे सुई के समान छेदनेवाले बरफ-कणो को उडानेवाली आँधी को संयुक्त राष्ट्र मे ब्लिज़ार्ड (Blizzard) कहते हैं। एडीज़ की ठण्डी पर ख़ुश्क आँधियाँ पूना (Puna) कहलाती हैं।

ये आँधियाँ वास्तव मे चक्रवात नामक विचित्र बवण्डरो के ही विभिन्न रूप हैं। हम चक्रवात और प्रतिचक्रवात के विषय मे अक ७ पृष्ठ ८२८ पर आपको कुछ बाते बता चुके है। धरातल पर अनियमित रूप से चलनेवाली हवाओं मे चक्रवात और प्रतिचक्रवात प्रधान हैं। चक्रवात का रूप जल के भँवर की भाँति ही होता है। गरमी के दिनो मे बहुधा इस प्रकार के वायु के भँवर सडको और खेतो मे नाचते हुए दिखाई पडते हैं। चक्रवात भी इसी प्रकार के भँवर हैं, जो वायुमण्डल मे उत्पन्न होते हैं। चक्रवात का व्यास २० मील से लेकर दो-तीन हज़ार मील तक होता है। इसका आकार कभी-कभी गोल परन्तु बहुधा अण्डाकार होता है।

चक्रवात और प्रतिचक्रवात जब चलते है तब ऐसा प्रतीत होता है कि एक केन्द्रिक कीली के चारो ओर हवा चक्र के रूप मे भीषण वेग से नाचती है। चक्रवात मे नाचता हुआ वायुचक्र बाहर की हवा को केन्द्र की ओर खीचता प्रतीत होता है और प्रतिचक्रवात मे घूमता हुआ वायुचक्र केन्द्र की ओर से हवा को बाहर की ओर ठेलता प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि चक्रवात के केन्द्र मे वायुभार सबसे कम (लघुतम) होता है और केन्द्र के चारो ओर वायुभार समान रीति से बढता जाता है, जिससे मध्य लघुभार के चारो ओर समभार रेखाएँ प्रायः सम केन्द्रिक वृत्त बनाती हैं। यही कारण है कि चक्रवात का आकार कभी-कभी गोल परन्तु बहुधा अण्डाकार

चक्रवात या बवण्डर का दृश्य

होता है। प्रतिचक्रवात के मध्य मे उच्चभार होता है और चारो ओर समान रूप से वायुभार घटता जाता है।

चक्रवात और प्रतिचक्रवात के मध्य और बाहर के वायुभार के भेद का ही परिणाम यह है कि चक्रवात मे बाहर की वायु उसके केन्द्र की ओर (उच्चभार से लघुभार की ओर) दौड़ती है और प्रतिचक्रवात मे केन्द्र की वायु बाहर की ओर दौड़ती है। परन्तु जब चक्रवात और प्रतिचक्रवात चलते हैं तब हम देखते हैं कि वायु का प्रवाह उच्चभार से लघुभार की ओर सीधा नही होता वरन् घूमता हुआ होता है। धरातल के उत्तरीय और दक्षिणीय गोलार्द्धो मे वायु की घूमने की दिशा भी भिन्न है। यह फेरल के सिद्धान्त के अनुसार उत्तरी गोलार्द्ध मे दाहिनी ओर और दक्षिणी गोलार्द्ध मे बाई ओर होती है। इस सम्बन्ध मे बायज बैलट नामक एक डच प्रोफेसर का नियम भी याद रखना चाहिए। बायज बैलट के सिद्धान्त से वायुभार के अनुसार हवा के चलने की दिशा ठीक-ठीक ज्ञात हो जाती है।

इस सिद्धान्त के अनुसार "उत्तरी गोलार्द्ध मे अपनी पीठ हवा की ओर करके खड़े हो तो आपके बाएँ हाथ की तरफ लघुभार और दाहिने हाथ की तरफ उच्चभार रहेगा। पर दक्षिणी गोलार्द्ध मे यदि आप हवा की तरफ पीठ करके खड़े हों तो लघुभार आपके दाहिने हाथ की तरफ और उच्चभार बाएँ हाथ की तरफ रहेगा।" इस प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध मे चक्रवात के घूमने की दिशा घड़ी की सुइयो के विपक्ष मे और दक्षिणी गोलार्द्ध मे पक्ष मे रहती है और प्रतिचक्रवात की इसके विपरीत।

शीतोष्ण कटिबन्ध मे चक्रवात अधिकतर शीतकाल मे प्रकट होते हैं, क्योकि इसी ऋतु मे हिमाच्छादित ग्रीनलैण्ड के तापक्रम और उष्ण गल्फस्ट्रीम से प्रवाहित अटलांटिक महासागर के तापक्रम मे अत्यन्त अंतर होता है। इसी प्रकार का तापक्रम-भेद उत्तरी-पूर्वी एशिया के स्थल और उष्ण क्यूरोशिवो के जल मे होता है। परन्तु उष्ण कटिबन्ध मे चक्रवात प्रायः ग्रीष्म ऋतु मे उत्पन्न होते हैं, क्योंकि तभी स्थल के परम तापक्रम और समुद्र के तापक्रम मे महत्तम (सबसे अधिक) अन्तर होता है। शीतोष्ण कटिबन्ध के चक्रवात पछुआ हवाओं के मार्ग मे स्थित होते हैं। इस-लिए वे पश्चिम से पूर्व की ओर चलते रहते है। पर उष्ण-कटिबन्ध के चक्रवात तिजारती हवाओ के मार्ग मे उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ते हैं। चक्रवात दोनों ही गोलार्द्धो मे पाये जाते हैं।

चक्रवात के मध्य मे लघुभार होता है, इसलिए हवा के ऊपर उठने पर भाप बादलो मे बदल जाती है और पानी बरसाती है। इसलिए जहाँ चक्रवात का आगमन होता है वहाँ अचानक बादल घिर आते हैं और वर्षा होती है। चक्रवात के आगमन से और भी बहुत-सी घटनाएँ होती हैं। इनमे से कुछ तो चक्रवात के आगमन की पूर्व-सूचना की द्योतक होती हैं और कुछ चक्रवात के विदा होने की। जब चक्रवात आने को होता है तब हवा चलना बन्द हो जाती है। नालियों मे बदबू आने लगती है। गठिया के रोगियों के जोड़ो मे दर्द बढ़ जाता है। ऊनीले और तहीले बादल आकाश मे छा जाते हैं और बहुधा वायुमण्डल में घना कुहरा छा जाता है। इसके पीछे वर्षा आरम्भ होती है जो बूँदा-बाँदी के रूप मे आरम्भ होकर घनी झड़ी का रूप धारण कर लेती है। साथ ही आँधी के झोंके आरम्भ हो जाते हैं।

इस काल मे बैरोमीटर का पारा बराबर गिरता जाता है। थोड़े काल-पर्यन्त पारा गिरना बन्द हो जाता है और मौसम सुहावना हो जाता है। इस समय चक्रवात का केन्द्र उस स्थान पर पहुँच जाता है। इसके बाद ही वर्षा की झड़ी लग जाती है और कपसीले बादल घने रूप मे छा जाते हैं।

कभी-कभी मुख्य चक्रवात के साथ-साथ छोटे-छोटे अन्य चक्रवात भी चलते हैं, जो सप्ताहों तक प्रमुख चक्र-वात का पीछा करते रहते हैं। इनके कारण मौसम कभी-कभी सप्ताहों अनिश्चित रहता है। बहुधा इनके उपरान्त प्रतिचक्रवात का आगमन होता है। प्रतिचक्रवात के केन्द्र मे महत्तम वायुभार रहता है, परन्तु चक्रवात की भाँति इसके केन्द्र और बाहर के वायुभार का अन्तर बहुत अधिक नही होता। इस कारण प्रतिचक्रवात का केन्द्र शान्त रहता है।

मौसम के निर्माण मे चक्रवातों और प्रतिचक्रवातों का बहुत प्रभाव पड़ता है, विशेषकर चक्रवातों का। इसलिए वैज्ञानिको ने यह जानने की बहुत चेष्टा की है कि चक्रवात और प्रतिचक्रवात क्यो और कैसे उत्पन्न होते हैं? अभी तक प्रतिचक्रवातों की उत्पत्ति का कारण रहस्यमय ही है, परन्तु चक्रवातों की उत्पत्ति के विषय मे वैज्ञानिकों ने कुछ कारण निर्धारित कर लिए हैं।

यह विश्वास किया जाता है कि धरातल पर चक्रवातो की उत्पत्ति सूर्य के धरातल पर उत्पन्न होनेवाले चक्रवातो के कारण होती है। ये चक्रवात सूर्य मे दिखाई देनेवाले धब्बों से सम्बन्धित हैं, जिनका हाल आप पढ़ ही चुके हैं।
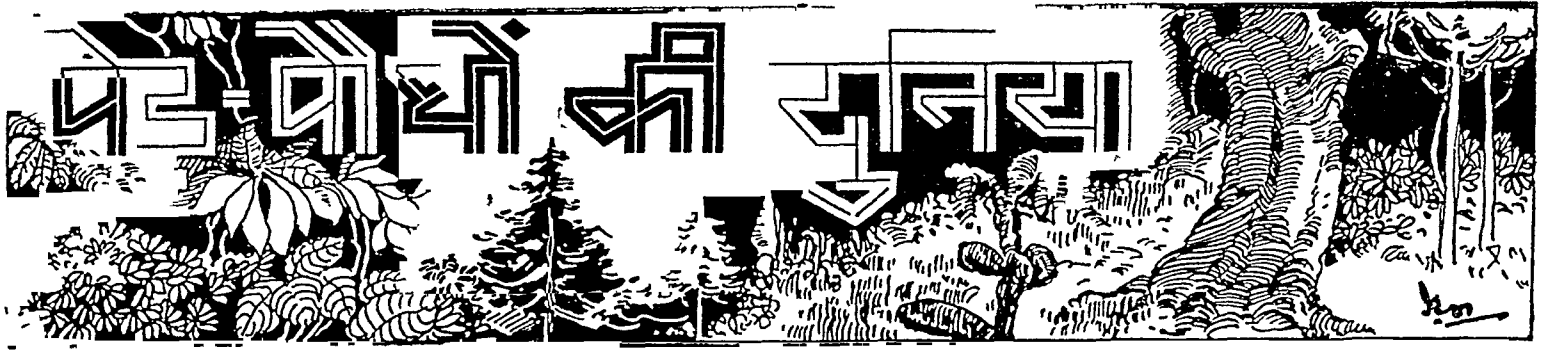
अन्नपूर्णा-भंडार पत्ती की कहानी—(५)

श्वसन

पिछले अध्याय मे हम देख चुके है कि पौधे हवा के कार्बन से निशास्ता या दूसरे कार्बोहाइड्रेट्स की रचना करते है। यह उत्थानात्मक क्रिया है, जिसमे हवा और पानी-जैसी साधारण वस्तुओ के मेल से अमूल्य पेचीदा वस्तुएँ बनकर तैयार होती है। इन परिवर्त्तनो मे शक्ति का काम पड़ता है, जिसे पौधे सूरज की किरणो से प्राप्त करते है। जिस क्रिया की अब हम चर्चा करने जा रहे है वह पतनात्मक क्रिया है, जिसमे उपार्जित पेचदार द्रव्य साधारण वस्तुओ में पलट जाते है और साथ मे शक्ति मुक्त होती है जिसके सहारे पौधों में काम-काज होते है।

आपको सुनकर शायद आश्चर्य होगा कि हमारी आपकी तरह पेड-पौधे भी साँस लेते है। इस क्रिया मे ये भी, दूसरे जीवों की तरह, ऑक्सीजन ग्रहण कर कार्बन-डाइ-ऑक्साइड त्यागते है। यदि इनमें और पशुओ के श्वसन में कुछ भी भेद है तो वह केवल इतना ही है कि बहुधा जानवरो मे साँस लेने के लिए विशेष अंग होते हैं और पौधों मे ऐसा नही होता। इनके सभी अंगो से श्वसन होता है।

पौधे भी दूसरे जीवों की तरह साँस लेते हैं

पौधे भी दूसरे जीवो की तरह साँस लेते है, जिसमें ये ऑक्सीजन ले कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर निकालते हैं, इस बात को हम प्रयोगो से साबित कर सकते हैं।

प्रयोग—पाँच चौडे मुँह की बोतले ले इनमे से चार मे थोडा-थोडा चूने का पानी (Lime-water) और पाँचवी मे कुछ जखई किए चने, मटर या दूसरे बीज भर दीजिए। बोतलो मे दो छेदवाले काग लगा बीज की बोतल बीच मे रख इन्हे शीशे की नलियो से मिला दीजिए (चि० १)। एक सिरे की बोतल रबर की नली द्वारा ऐस्पिरेटर (Aspirator) या वायु बाहर खीचनेवाले यंत्र से लगा दीजिए। जोडो और छेदो पर मोम, वेसलीन या कोई दूसरी ऐसी ही चीज़ लगा दीजिए ताकि हवा का मार्ग न रहे। बाद मे ऐस्पिरेटर को धीरे से चालू कर दीजिए। ज्यो-ज्यो ऐस्पिरेटर से पानी बाहर टपकेगा उसकी जगह बाहर से हवा आएगी। यह हवा यहाँ क्रमशः पाँचो बोतलो मे होकर दाखिल होती है।

आप देखेगे कि जैसे ही बाहरी हवा चूने के पानी की पहली बोतल मे आती है यह गँदला होने लगता है।
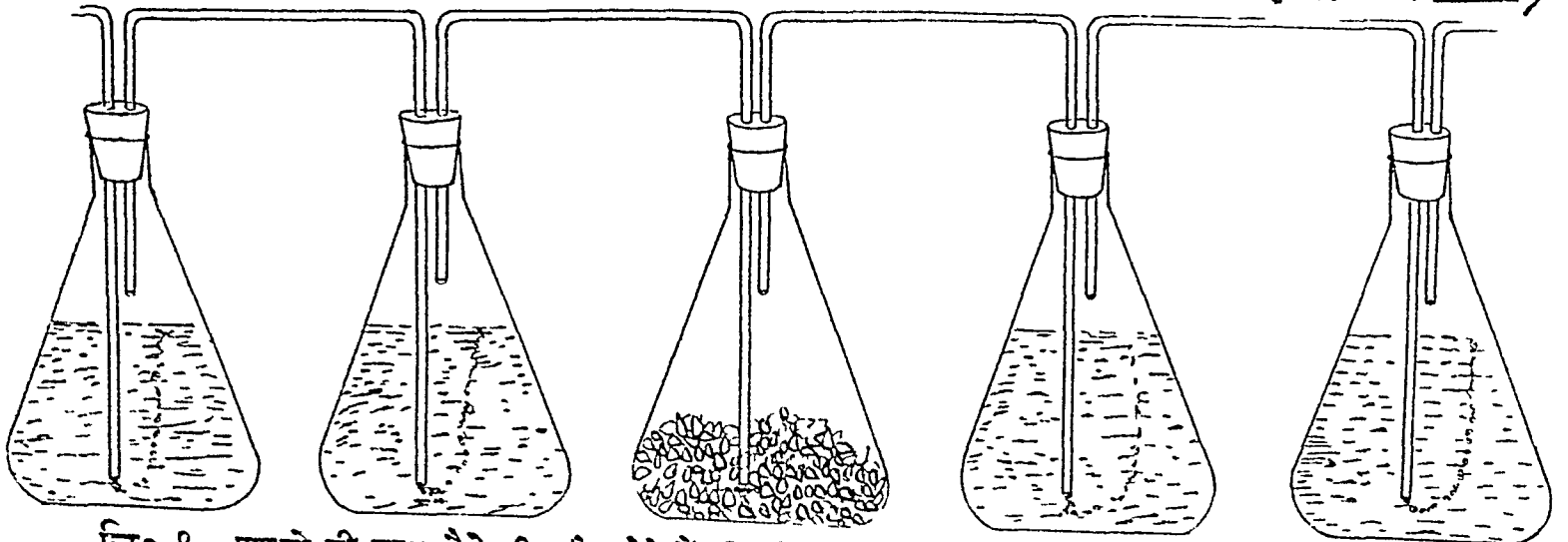
चि० १—पशुओ की तरह पौधे भी साँस लेते हैं, जिसमें वे ऑक्सीजन ग्रहण करते और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड त्यागते हैं। (चित्र—श्री० डी० एस० क्रमठान् द्वारा)

जब यहाँ से गुजरकर हवा दूसरी बोतल मे दाखिल होती है तो उस बोतल का चूने का पानी साफ बना रहता है। यहाँ से निकलकर हवा बीजो की बोतल मे आती है और फिर चूने के पानी की तीसरी बोतल मे। यहाँ हवा के आते ही, पहली बोतल की तरह, चूने का पानी फिर गँदला होने लगता है। अब हवा चूने के पानी की आखिरी बोतल मे दाखिल होती है पर यहां का पानी ज्यो-का-त्यो बना रहता है। अन्त मे हवा ऐस्पिरेटर मे आती है।

व्याख्या और परिणाम—साधारण वायु मे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड होती है। इसलिए जब यह बाहर से पहली बोतल मे दाखिल होती है तो चूने के पानी और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के मेल से कैल्शियम-कार्बोनेट बन जाता है, जो पानी मे घुलनशील नहीं है, इसलिए इसका अवक्षेप होने से पानी गँदला होने लगता है:—

$$Ca(OH)_2 + CO_2 = CaCO_3 + H_2O$$

चूने का पानी + कार्बन-डाइ-ऑक्साइड = कैल्शियम कार्बोनेट + पानी
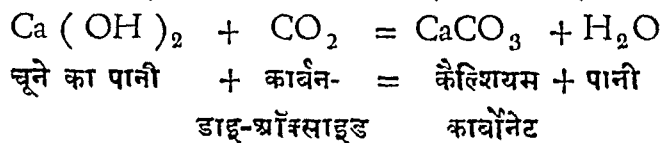
जब पहली बोतल से हवा गुज़रकर दूसरो मे पहुँचती है उसमे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड नही होती, इसलिए यहाँ चूने के पानी पर कोई असर नहीं पडता और वह ज्यो-का-त्यो बना रहता है। दूसरी बोतल से निकली हवा, जिसमे अब कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बिल्कुल ही नही होती, बीजों की बोतल मे होती हुई चूने के पानी की तीसरी बोतल मे पहुँचती है। इस बोतल मे, पहली बोतल की तरह कैल्शियम कार्बोनेट का फिर अवक्षेप होने लगता है। इससे साबित होता है कि हवा मे फिर कार्बन-डाइ-ऑक्साइड शामिल हो गई। बीजों की बोतल मे आने के पहले इस हवा मे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड नही थी और उससे निकलते ही यह गैस उसमे आ गई। इसलिए यह कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बीजों से ही आई। ऐस्पिरेटर की हवा की जाँच करने पर उसमे ऑक्सीजन नही मिलेगी। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचे कि बीजों ने ऑक्सीजन का ग्रहण और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का त्याग किया है। अतः पशु-पक्षियों की भाँति बीज भी ऑक्सीजन लेते और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड छोडते हे।

बीजो के बजाय हम पौधो के फूल, फल, जड, पत्ती कोई भी अग की परीक्षा कर सकते हैं, पर याद रखना चाहिए कि पत्तियों को काम मे लाते समय बोतल को काले कपडे या कागज से लपेट देना चाहिए ताकि रोशनी न मिले, नहीं तो श्वसन के साथ-साथ कार्बन-एसिमिलेशन होने लगता है। इस क्रिया मे, जैसा आप पहले देख चुके हैं, पत्तियाँ हवा की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड ले ऑक्सीजन त्यागती हे। यथार्थ उपकरण मिलने पर फोटोसिन्थिसिस (Photosynthesis) श्वसन से अधिक तेजी से होता है, जिससे हमे श्वसन का ठीक पता नही लग पाता। यही कारण है कि दिन मे पौधो से बहुधा साँस लेने का ठीक अन्दाज़ नहीं हो पाता। फिर भी दोनों क्रियाएँ साथ-साथ होती रहती हे। श्वसन और फोटोसिन्थिसिस के यथार्थ बोध के लिए हमे इनके ठीक-ठीक लक्षण और अन्तर पर विचार करना चाहिए:—

श्वसन

१—श्वसन पतनात्मक क्रिया है जिसके कारण पौधो का वज़न कम पडता है।

२—श्वसन के लिए पर्ण-हरित का काम नही। यह पौधो के सभी अगो मे होता रहता है।

३—श्वसन मे ऑक्सीजन व्यय और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड प्राप्त होता है।

४—श्वसन के लिए रोशनी की ज़रूरत नही, यह पौधो मे रात-दिन हर समय होता रहता है।

५—श्वसन मे कार्बोहाइड्रेट व्यय होते हैं:—

$$6O_2 + C_6H_{12}O_6 = 6CO_2 + 6H_2O + \text{Energy}$$

ऑक्सीजन+कार्बोहाइड्रेट=कार्बन-डाइ-ऑक्साइड+जल+शक्ति

६—श्वसन मे सम्भावित शक्ति (Potential energy) गत्यर्थक शक्ति (Kinetic energy) मे बदल जाती है।

फोटोसिन्थिसिस

१—फोटोसिन्थिसिस उत्थानात्मक क्रिया है, जिसके फलस्वरूप पौधो के वज़न मे बढती होती है।

२—फोटोसिन्थिसिस पर्णहरित पर निर्भर है। यह पौधों की पत्तियो और दूसरे हरे अगों मे ही होता है।

३—फोटोसिन्थिसिस मे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड व्यय और ऑक्सीजन प्राप्त होता है।

४—फोटोसिन्थिसिस प्रकाश पर निर्भर है, इसलिए यह सिर्फ दिन मे ही होता है।

५—फोटोसिन्थिसिस मे कार्बोहाइड्रेट की रचना होती है:—

$$CO_2 + H_2O = CH_2O + O_2$$ (फार्मेल्डीहाइड)

$$6CH_2O = C_6H_{12}O_6$$ (कार्बोहाइड्रेट)

६—फोटोसिन्थिसिस मे सूरज की किरणो की गत्यर्थक शक्ति पौधो मे सम्भावित शक्ति के रूप मे इकट्ठी हो जाती है।
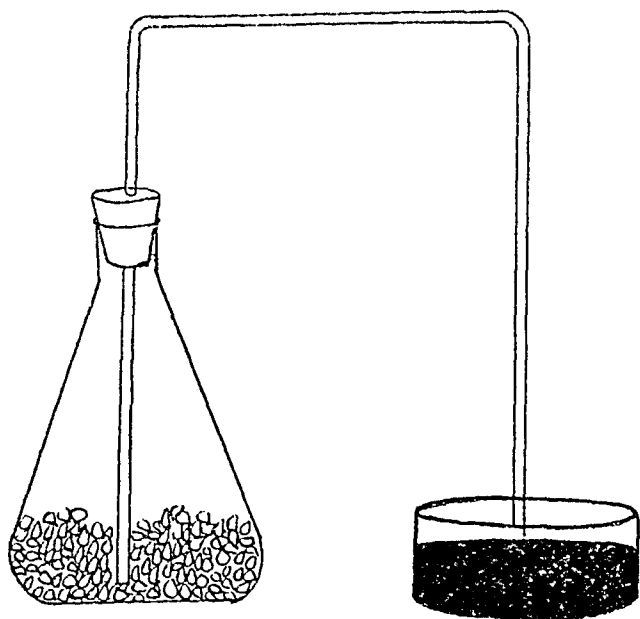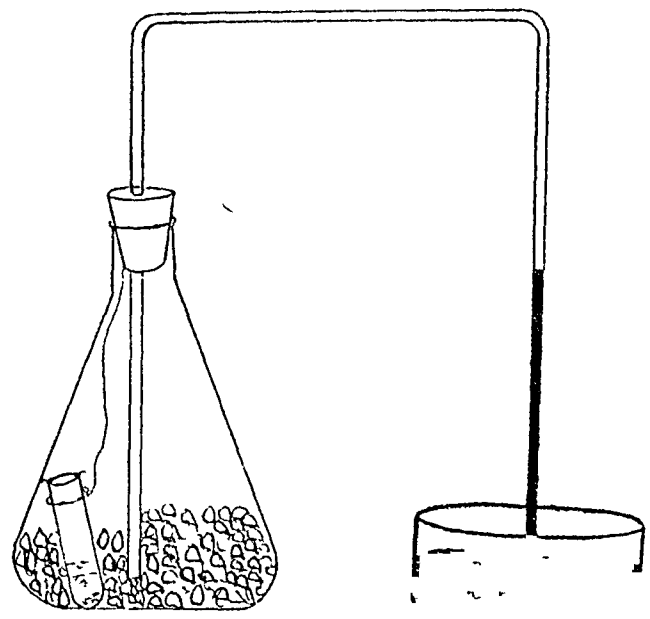
चि० २ (अ) चि० २ (ब)

श्वसन में जितनी ऑक्सीजन व्यय होती है लगभग उतनी ही कार्बन-डाइ-ऑक्साइड प्राप्त होती है।

(चित्र—श्री० डी० एस० कमठान् द्वारा)

श्वसन के परिवर्त्तन-सूत्र से पता चलता है कि इस क्रिया मे जितनी ऑक्सीजन ख़र्च होती है उतनी ही कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर आती है:—

$$C_6H_{12}O_6 + 6O_2 = 6CO_2 + 6H_2O$$
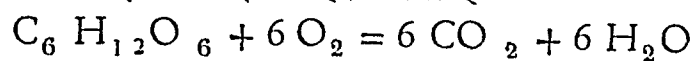
शक्कर + ऑक्सीजन = कार्बन-डाइ-ऑक्साइड + पानी

इस बात को हम प्रयोगो से दिखा सकते हैं।

प्रयोग—दो सपाट पेंदी की बोतलें ले उनमे दो छेद-वाली काग लगा चित्र २ की जैसी शीशे की नली पहना दीजिए। दोनो बोतलो मे भिगोए बीज डाल, इनमे से एक को वैसे ही रख, दूसरी मे एक छोटे ट्यूब मे चूने का पानी रख दीजिए (चि० २ अ, ब)। दोनो बोतलो से बाहर आनेवाली नली को पारे की प्याली मे डुबो दीजिए (चि० २)। हवा को इधर-उधर जाने से रोकने के लिए जोडो पर वेसलीन, मोम, या कोई दूसरी ऐसी ही चीज़ लगा देनी चाहिए। दो-तीन दिन बाद एपैरेटस की जॉच करने पर आप देखेंगे कि जिस बोतल मे चूने का पानी रक्खा था उसकी नली मे पारा ऊपर चढ आया है (चि० २ ब); परन्तु दूसरी मे वह ज्यो-का-त्यो बना है (चि० २ अ)।

व्याख्या— बीजो मे श्वसन होता है, जिसमे बोतलो की हवा की ऑक्सीजन ख़र्च होती है पर उसमे बीजो से बाहर आई कार्बन-डाइ-ऑक्साइड आ मिलती है। बोतल (ब) मे चूने का पानी रक्खा है जो कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को जज्ब कर लेता है, जिससे इस बोतल की हवा कम पड जाती है और उसकी जगह नली मे पारा चढ आता है। साथ मे रक्खी बोतल (अ) मे गैस को सोखनेवाली कोई चीज़ नही है; इसलिए यहॉ जो कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बीजो से निकलकर आती है, वह बोतल की हवा मे ही रहती है। हम देखते है कि इस बोतल की हवा की मात्रा प्रयोग के प्रारम्भ और अन्त मे एक-सी बनी रहती है, क्योकि इसकी नली मे पारा ऊपर नही चढता। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जितनी ऑक्सीजन श्वसन मे व्यय होती है उतनी ही कार्बन-डाइ-ऑक्साइड इस क्रिया मे हासिल भी होती है।

श्वसन-क्रिया मे जो कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर आती है और जो ऑक्सीजन व्यय होती है अर्थात् $\frac{CO}{O_2}$ को श्वसन-भाज्यफल (Respiratory Quotient) या रेस्पिरेटरी कोशंट कहते हैं। यह अनुपात प्रायः एकाई होता है।

बहुधा श्वसन मे कार्बोहाइड्रेट्स ही ख़र्च होते हैं; पर कभी-कभी अन्य वस्तुऍ भी काम मे आती हैं। ऐसी दशा मे श्वसन भाज्यफल १ नही होता।

तेलवाले बीजो मे सॉस लेने की क्रिया में तैलीय पदार्थ काम मे आते हैं। ऐसी दशा मे ऑक्सीजन का अधिक ख़र्च होता है, क्योकि श्वसन मे काम आने के पहले इन तेलवाली वस्तुओ का कार्बोहाइड्रेट्स मे बदल जाना आवश्यक है। इस क्रिया मे भी ऑक्सीजन ख़र्च होती है। इसके बाद कार्बोहाइड्रेट्स का साधारण ढग से श्वसन होता है। नागफनी और कुछ दूसरे ऐसे मांसल पौधो मे सॉस लेने की क्रिया अधूरी रह जाती है और इस दशा

में अन्तिम पदार्थ कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और जल के बजाय कार्बनिक अम्ल होते हैं। इन दोनो ही दशा मे श्वसन अनुपात इकाई से कम होता है।

इन्ट्रामालीक्यूलर (Intramolicular) **श्वसन**—जिस ढग के श्वसन का हमने ऊपर वर्णन किया है वह साँस लेने की साधारण क्रिया है जो ऑक्सीजन मिलने पर होती है, पर किसी-किसी दशा मे बाहरी ऑक्सीजन के अभाव मे भी पौधो से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का त्याग होता रहता है। यह क्रिया साधारण श्वसन से भिन्न है। इसे इन्ट्रामालीक्यूलर—या ऐन-ईरोबिक—श्वसन कहते हैं। इस क्रिया मे अल्कोहोल उत्पन्न होता है।

चि० ३ (मि. शमसुद्दीन अहमद द्वारा)

$$C_6H_{12}O_6 = 2\,C_2H_6O + 2\,CO_2$$

शकर = अल्कोहोल + कार्बन डाइ-ऑक्साइड

इस ढग से इस श्वसन मे शकर का अल्कोहोल मे परिवर्त्तन होता है और शक्ति प्राप्त होती है। इस क्रिया मे साधारण श्वसन की अपेक्षा शक्ति कम निकलती है, इसलिए ऐसे श्वसन से सामर्थ्य प्राप्त करने मे शकर अधिक ख़र्च होती है और यह क्रिया पौधो को महँगी पड़ती है। फिर भी रासायनिक दृष्टि से दोनो भाँति के श्वसन मे विशेष अन्तर नहीं।

बहुधा लोगों का मत है कि श्वसन मे कार्बन-डाइ ऑक्साइड बनने के पूर्व कई रासायनिक क्रियाएँ होती हैं और ये परिवर्त्तन पहले दोनों ही तरह के श्वसन मे एक-जैसे होते हैं। अन्तर केवल अन्त मे जाकर पड़ता है। आख़िरी परिवर्त्तन के पहले बननेवाली वस्तु ऐसी होती है कि ऑक्सीजन मिलने पर इसका आसानी से ऑक्सीकरण हो जाता है, पर इसके अभाव मे वह अल्कोहोल मे बदल जाती है।

वैसे तो इन्ट्रामालीक्यूलर श्वसन न्यून कोटि के पौधों की ही विशेषता है पर कभी-कभी ऊँचे दरजे के पौधों मे भी यह क्रिया होती है। इस तरह यदि उगते समय बीजों को बाहर से ऑक्सीजन न मिले तो इनमे इस ढग से श्वसन होता है।

प्रयोग—एक टेस्ट-ट्यूब में पारा भर उसे पारे के ऊपर प्याली मे उलटकर खड़ा कर दीजिए। ट्यूब के अन्दर सावधानी से कुछ भीगे चने या मटर चढा दीजिए। पारे से हल्के होने के सबब ये बीज पारे के ऊपर आ जायेंगे (चित्र ३)। अपॅरेटस को यों ही दो-तीन दिन रहने दीजिए। इस बीच मे आप देखेंगे कि ट्यूब का कुछ भाग ख़ाली हो गया है और पारा और बीज नीचे खिसक आए हैं (चि० ३)। अब एक सिरे पर मुड़ी शीशे की नली से थोड़ा कास्टिक-पोटाश या सोडा ले होशियारी से ट्यूब के अन्दर फूँक दीजिए। इस घोल के ट्यूब मे आते ही पारा फिर ऊपर चढ आता है और ट्यूब की हालत ठीक वैसी, जैसी प्रयोग के प्रारम्भ मे थी, हो जाती है।

व्याख्या और परिणाम—बीजों मे, पारे के ऊपर जहाँ इनका बाहरी हवा से कोई संसर्ग नहीं था, श्वसन होता रहा है। इस क्रिया मे गैस का त्याग हुआ है, जिससे पारा और बीज नीचे खिसक आए हैं (चि० ३)। ट्यूब मे कास्टिक-पोटाश या कास्टिक-सोडा पहुँचने पर गैस जज्ब हो जाती है, इसलिए यह गैस कार्बन-डाइ-ऑक्साइड है। अतः बीजों मे ऑक्सीजन के अभाव मे श्वसन होता रहा है, जिसमे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का त्याग हुआ है।

साधारण हरे पौधो मे इन्ट्रामालीक्यूलर श्वसन बहुत कम होता है। ऐसे पौधे ऑक्सीजन न मिलने पर जीवित नहीं रह सकते। बैक्टिरिया और छत्राक समूह के पौधो मे इस ढग से श्वसन अधिक होता है।

वास्तव मे श्वसन ऑक्सीकरण क्रिया है, जिसमे साधारण रूप से शकर का ऑक्सीकरण होता है, पर अपने आप पेडों के बाहर शकर का ऑक्सीकरण नहीं होता। इसलिए हमे मानना पड़ता है कि पौधों के अन्दर इस क्रिया के होने मे कुछ वस्तुओ का अवश्य सहयोग है। ये वस्तुएँ जीवनमूलीन-रस है, जिन्हे हम प्रवर्त्तक कहते हैं। इनमे आक्सीडेज़, आक्सीजनेज़ और ज़ाइमेस मुख्य हैं। इन्ही की सहायता से श्वसन होता है।

कार्बन-डाइ-ऑक्साइड निकलने के साथ-साथ साँस लेने की क्रिया मे ताप भी बढ जाता है। इस बात को भी हम प्रयोगों से दिखा सकते हैं।

प्रयोग—दो थरमस बोतले ले इनमे से एक मे कुछ उगते चने-मटर या अधखिली कलियाँ रख दीजिए और दूसरी को यों ही रहने दीजिए। दोनो बोतलों की काग मे छेद कर उनमे थर्मामीटर लगा कुछ समय के लिए एक

जगह रख दीजिए (चि० ४) । दस-बारह घंटे बीतने पर आप देखेंगे कि ख़ाली बोतल के मुक़ाबिले में दूसरी बोतल का ताप ४-५ डिग्री ऊँचा है । कलियों को प्रयोग में बर्तने पर सम्भव है ताप और भी ऊँचा चढ़ जाय ।

श्वसन के उपकरण—श्वसन किन-किन बातों पर निर्भर है, इस सम्बन्ध में हमारा ध्यान सबसे पहले ऑक्सीजन की ओर जाता है; परन्तु जैसा आप देख चुके हैं, यह सब पौधों के लिए आवश्यक नहीं। कभी-कभी तो साधारण पौधों में भी इसके बिना श्वसन होता रहता है। कुछ छत्राक और बैक्टिरिया में तो सदैव ही ऑक्सीजन के बिना श्वसन होता है ।

मामूली पौधों में एक विशेष सीमा के अन्दर ऑक्सीजन बढ़ने पर श्वसन भी बढ़ता है। इस सीमा के ऊपर मात्रा हो जाने पर ऐसा नहीं होता। ताप का प्रभाव श्वसन-क्रिया पर लगभग वैसा ही पड़ता है जैसा कि कार्बन-एसिमिलेशन पर। एक ख़ास सीमा के अन्दर ताप बढ़ने पर प्रत्येक १०°श० के लिए क्रिया दूनी हो जाती है । पर स्मरण रखना चाहिए कि साँस लेने की क्रिया में प्रवर्त्तकों का अधिक काम पड़ता है और इन पर ताप का असर भी अधिक पड़ता है। इससे अक्सर इस नियम में बड़ा हेरफेर पड़ जाता है ।

किसी-किसी दशा में श्वसन में काम आनेवाले पदार्थों की मात्रा का भी क्रिया पर असर पड़ता है। यदि ये वस्तुएँ ज़रूरत से अधिक हों तब तो इनका श्वसन-क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता पर यदि कहीं ये आवश्यकता से कम हों तो इनकी मात्रा के अनुसार ही श्वसन भी कम अथवा अधिक होता है।

रंध्र और श्वसन—वाष्प-त्याग और फोटोसिन्थिसिस के अध्याय में आप देख चुके हैं कि वायु और वाष्प रंध्रों से ही आती-जाती हैं। इस ढंग से ही श्वसन में आने-जानेवाली हवाएँ भी निस्सरित होती हैं। ज्यों-ज्यों पौधों के अन्दर के कोशों की हवा की ऑक्सीजन श्वसन में ख़र्च होती है उनमें अन्तर-तान्तविक-स्थानों की हवा से ऑक्सीजन पहुँचती है, जिससे यहाँ ऑक्सीजन का दबाव बाहर की हवा की अपेक्षा कम पड़ जाता है। इसलिए बाहर से ऑक्सीजन निस्सरित हो यहाँ आती है। जिस प्रकार ऑक्सीजन व्यय होने के कारण अन्तर-तांतविक-स्थानों में इस गैस का दबाव कम पड़ जाता है, उसी तरह श्वसन में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड प्राप्त होने के कारण इनमें कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का दबाव बढ़ भी जाता है । इसलिए यहाँ से यह गैस निस्सरित हो बाहर वायु में आती है । इस ढंग से इन गैसों का आना-जाना क़ायम रहता है। रंध्रों की तरह गौण नासिका-छिद्र (Lenticels) भी श्वसन में भाग लेते हैं।

चि० ४
श्वसन में ताप ऊँचा हो जाता है । बोतल में कुछ जखई किए गए बीज डाल दिए गए हैं, बीजों के श्वसन के कारण बोतल का ताप बाहर से ४°-५° अधिक हो गया है ।(चित्र श्री० डी० कमठान द्वारा)

श्वसन-जड़ें—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पौधों के प्रत्येक अंग को ऑक्सीजन की आवश्यकता रहती है । अतएव इनकी जड़ों को भी यह गैस मिलनी चाहिए। साधारण पेड़ों में ज़मीन के अन्दर मिट्टी के कणों के बीच की हवा से जड़ों के श्वसन का काम निकल जाता है, पर कुछ पेड़-पौधे दलदलों में उगते हैं। इनकी जड़ों को ऑक्सीजन मिलने में कठिनाई रहती है । ऐसी दशा में कुछ ऐसे पौधों में यह कमी श्वसन-जड़ों से पूरी हो जाती है।

श्वसन-जड़ें (Pneumatothodes) विशेष प्रकार की जड़ें हैं, जो साधारण जड़ों की प्रकृति के विपरीत नीचे को भूमि के अन्दर न जाकर ऊपर को उठती हैं और ज़मीन फोड़ बाहर हवा में निकल आती हैं (चि० ५-६)। इनमें ऊपर की हवा की ऑक्सीजन पहुँचती है, जिससे जड़ों के तन्तुओं को दलदलों में भी यह गैस मिल जाती है ।

पशुओं और पौधों के श्वसन की तुलना—कुछ लोगों का ख़्याल है कि पौधों और पशुओं में श्वसन-क्रिया एक दूसरे के विपरीत होती है। अर्थात् पशुओं में श्वसन में ऑक्सीजन व्यय और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड प्राप्त होती है, और पौधों में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड व्यय और ऑक्सीजन प्राप्त होती है । यह भ्रम है । बात यह है कि पौधों में श्वसन के साथ में फोटोसिन्थिसिस होता रहता है, जिसमें ये कार्बन-डाइ-ऑक्साइड ग्रहण कर ऑक्सीजन त्यागते हैं । लोगों का ऐसा अनुमान इन दोनों क्रियाओं में भ्रम के कारण
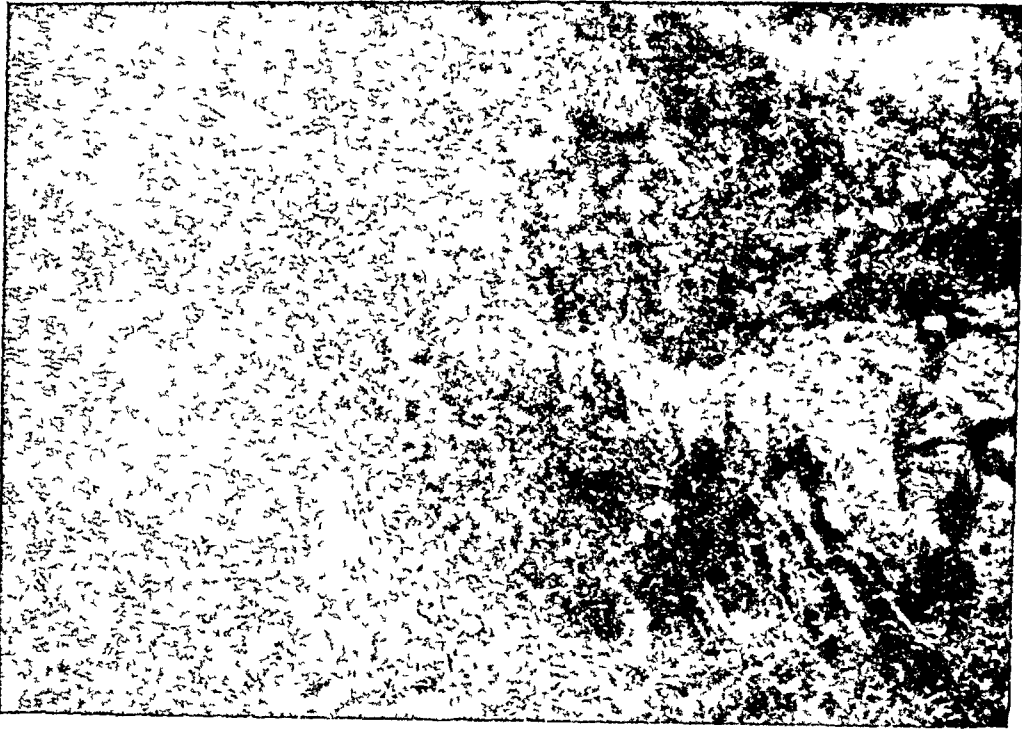
चि० ५—टैक्सोडियम डाइस्टाइक्म (*Taxodium distichum*) नामक एक नग्नबीज पौधों के समूह का वृक्ष जिसमें श्वसन-जड़ें होती हैं। (फोटो—श्री० डाक्टर के० विश्वास के सौजन्य से)

जिनका यह व्यापार ही है, ये सदैव ही इस भाँति साँस लेते हैं। साधारण श्वसन की तरह फरमेंटेशन में भी कार्बनिक पदार्थ खर्च होते हैं और शक्ति मुक्त होती है।

पुराने जमाने में लोग फरमेंटेशन का अर्थ केवल आर्गैनिक वस्तुओं के सड़ने-गलने से ही लेते थे। इस तरह गन्ने के रस से सिरके का उठना, अंगूर या दूसरे मीठे फलों का सड़ना, ताड़ के रस से अल्कोहोल का बनना जैसी क्रियाएँ फरमेंटेशन में गिनी जाती थीं, पर अब सिद्ध हो गया है कि श्वसन की भाँति फरमेंटेशन

ही है। यथार्थ में पौधे भी वैसे ही साँस लेते हैं जैसे कि पशु-पक्षी। दोनों ही में साधारण दशा में ऑक्सीजन का शोषण, कार्बन-डाइ-ऑक्साइड तथा वाष्प का त्याग और ताप की वृद्धि होती है। दोनों ही में सम्भावित शक्ति गत्यर्थक शक्ति में परिणत हो जाती है। दोनों ही में क्रिया प्रवर्त्तकों की सहायता से होती है और इसके फलस्वरूप इनका वजन कम पड़ जाता है।

फरमेंटेशन—फरमेंटेशन श्वसन से मिलती-जुलती एक क्रिया है, जो ऑक्सीजन के अभाव में होती है। यथार्थ में इसे ऐन-इरोबिक श्वसन ही समझना चाहिए।

जैसा ऊपर कह चुके हैं, किसी-किसी दशा में ऑक्सीजन के अभाव में भी पौधों से साँस लेने की क्रिया चालू रहती है। ऐसी दशा में पदार्थ तो अधिक खर्च होते हैं, पर शक्ति कम प्राप्त होती है। ऊँची श्रेणी के पौधों में, जिन्हें प्रायः ऑक्सीजन की कमी भी नहीं रहती, यह क्रिया कम होती है। यदि कहीं सयोगवश ऐसी समस्या उपस्थित हो गई तो इनका काम चलना कठिन हो जाता है। इसके विपरीत कुछ छोटे दरजे के उद्भिज हैं, जिनमें सिर्फ ऐन-इरोबिक ढग से ही श्वसन होता है। इस प्रकृति-वाले जीवों के दो मुख्य समूह हैं। एक वे जो ऑक्सीजन न मिलने पर इस क्रिया की शरण लेते हैं और दूसरे वे

भी एक रासायनिक क्रिया है, जो प्रवर्त्तकों की सहायता से होती है और जिसमें कार्बनिक वस्तुओं का ऑक्सीकरण, कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का त्याग और ताप की वृद्धि होती है। जिन उद्भिजों के जीवन-मूल के प्रभाव से यह क्रिया होती है वे इसके परिणाम में न केवल जीवित रहते हैं वरन् बड़ी तेजी से बढ़ते भी हैं। फरमेंटेशन उत्पन्न करनेवाले जीवों में यीस्ट का दरजा सबसे ऊँचा समझना चाहिए। खमीर, जिसे लोग डबल रोटी, बिस्किट या जलेबी वगैरह बनाने में काम में लाते हैं, सूखा यीस्ट ही है।

यीस्ट, जैसा आप पूर्व ही देख चुके हैं, न्यून श्रेणी के उद्भिजों में है। इस जीव की अनोखी साँस लेने की क्रिया ही के प्रभाव से ताड़ी से अल्कोहोल बनता है। जिस समय ताड़ से रस निकलता है यह स्वच्छ, मधुर और मादकता-रहित होता है। पर कुछ देर तक रखते ही इसमें यीस्ट की करतूत से फरमेंटेशन शुरू हो जाता है और शकर से अल्कोहोल बनने लगता है, जिससे इसमें मिठास की जगह कड़वापन आ जाता है। अब यह रस ताड़ का स्वच्छ गुणकारी रस नहीं, जैसा कि वह पेड़ से निकलते समय था, बल्कि दुर्गंधमय, विषैली, मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट कर पागल बना देनेवाली मदिरा है।

यीस्ट का यथार्थ पता तो हमें थोड़े ही दिनों से है, पर

फरमेंटेशन में इसका प्रयोग लिखित इतिहास के पूर्व से चला आता है।

फरमेंटेशन के उपकरण—फरमेंटेशन के लिए (१) खमीर, (२) वह वस्तु जिसमें फरमेंटेशन हो सके, और (३) यथार्थ ताप, इन तीनों की ज़रूरत रहती है।

प्रयोग—फरमेंटेशन ट्यूब या बोतल में शकर का शरबत भर थोड़ा खमीर डाल गर्म जगह में रख दीजिए (चि० ७)। कुछ समय बाद फरमेंटेशन शुरू हो जायगा और ट्यूब में गैस के बुलबुले उठने लगेंगे। ऐसा जान पड़ेगा कि शरबत उबल रहा है। अगर यह क्रिया कुछ समय तक चालू रक्खी जाय और जो गैस निकलती है उसकी जॉच की जाय तो पता लग जायगा कि यहाँ भी श्वसन की तरह कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का त्याग होता है। ट्यूब के रस की जॉच करने पर उसमें अल्कोहोल मिलेगा। यदि क्रिया बहुत समय तक चालू रहे तो सारा शर्बत अल्कोहोल मे बदल जायगा। ट्यूब के शर्बत के ताप की जॉच करने पर यह भी बाहर के ताप से कुछ ऊँचा मिलेगा। इस प्रकार इस प्रयोग से पता चलता है कि फरमेंटेशन मे भी श्वसन की तरह कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और गर्मी उत्पन्न होती है।

जब यह पता चला कि फरमेंटेशन में यीस्ट की आवश्यकता पड़ती है तो लोगो का ध्यान इस उद्भिज की ओर विशेष प्रकार से आकर्षित हुआ। कुछ दिनों बाद यह पता चला कि खमीर को कुचल-पीस तथा छान कर यीस्ट को निकाल देने के बाद भी छने जल मे फरमेंटेशन उठाने का गुण रहता है। इससे लोगो को विश्वास होने लगा कि फरमेंटेशन पैदा करने का काम यीस्ट का नही, बल्कि यीस्ट से पैदा हुए एक व अधिक रसों का है। ये रस ही असली खमीर या प्रवर्त्तक हैं।

यीस्ट के कोशों से कम से कम तीन भॉति के प्रवर्त्तक निकलते हैं। ये प्रवर्त्तक अल्कोहोलेज़ (Alcoholase), इनवरटेज़ (Invertase) और माल्टेज़ (Maltase) हैं। आप पहले ही देख चुके हैं कि प्रवर्त्तक कई प्रकार के होते हैं। यथार्थ में ये प्रत्येक सजीव कोश में उत्पन्न होते है। इनकी प्रधान विशेषता यह है कि बिना इनमें स्वयं कोई परिवर्त्तन हुए ही ये दूसरी वस्तुओ में महान् परिवर्त्तन उत्पन्न कर सकते हैं।

वानस्पतिक प्रवर्त्तको में साइटेज़ (Cytase) परम उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह कोश-भित्तिकाओं के छिद्रोज को सड़ा-गला देता है। इसी प्रवर्त्तक की सहायता से इतने नाज़ुक कुकुरमुत्ते की जाति के पौधो की सूक्ष्म, सूत से भी महीन हाइफी (Hyphee) बड़े-से-बड़े और कठोर-से कठोर वृक्षो की शाखो के पाषाणवत् तन्तुओं को फोड़ उनके अन्दर घुस अन्त में पेड़ को सुखा देती हैं।

पतझड़ मे गिरनेवाली पत्तियो के अन्तिम संस्कार में भी प्रवर्त्तको का ही हाथ रहता है। जिस जगह पत्ती का डंठल टहनी में लगा होता है, वहाँ के कोशों के पर्त इन्ही प्रवर्त्तक की सहायता से गल जाते हैं, जिससे पत्ती हवा के झोंके के साथ अपने बोझ से दब अलग हो जाती है। बैक्टिरिया और छत्राक के प्रभाव से होनेवाली अनेक अद्भुत और आश्चर्य-जनक घटनाएँ भी इन्हीं रसों की बदौलत हैं।

प्रवर्त्तकों की क्रिया का ढंग—कोई तीन सौ वर्ष हुए होगे कि इस बात का पता चला कि कुछ जीवन-क्रियाएँ

चि० ८—सुन्दरी वृक्ष (*Heritiera Minor*)
इस वृक्ष की खूँटे जैसी श्वसन-जड़ें बहुत क़रीब-क़रीब निकलती हैं, जिससे पेड़ के नीचे चलना कठिन हो जाता है। (फ़ो०—डा० के० विश्वास के सौजन्य से)

रसों की सहायता से होती हैं, पर इसके पहले लोगों की धारणा थी कि हमारे आमाशय मे होनेवाली क्रियाएँ शरीर की गर्मी या पेट के अन्दर उत्पन्न होनेवाले तेज़ाबो के प्रभाव से होती हैं, अथवा भोजन मे ही कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं, जिनकी क्रिया से भोजन पच जाता है।

वैसे तो आज भी हमे प्रवर्त्तको का यथार्थ ज्ञान नही। फिर भी पिछले तीस-चालीस वर्ष मे जो कुछ पता लगा है उससे जान पड़ता है कि इन रसो की क्रियाएँ साधारण रासायनिक क्रियाओं जैसी नही हैं। जब कोई प्रवर्त्तक किसी वस्तु पर असर करता है तो न तो प्रवर्त्तक इस क्रिया मे नष्ट होता है और न इसकी कम अधिक मात्रा से क्रिया की मात्रा का विशेष सम्बन्ध रहता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा मे भी बड़े-बड़े परिवर्त्तन उत्पन्न कर सकता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि अधिक प्रवर्त्तक मिलने से क्रिया का वेग बढ जाता है।

प्रवर्त्तक केवल वस्तुओ के विश्लेषण मे ही भाग नही लेते वरन् इनके प्रभाव से अनेक पदार्थों का सश्लेषण भी होता है। इस तरह लाइपेज़ (Lipase) नाम का प्रवर्त्तक न सिर्फ वसा को मधुरीन और वसा-अम्ल मे अलग-अलग ही करता है, वरन् उचित परिस्थिति मे इन वस्तुओं से वसा का सश्लेषण भी करता है। इसी तरह अमाइलेज़ प्रवर्त्तक, जो स्टार्च को शकर मे बदलता है, अनुकूल अवस्था पर स्टार्च का शकर से सश्लेषण भी करता है। आजकल वैज्ञानिको का मत है कि प्रवर्त्तक अवलम्ब घोल के गुणवाले द्रव्य हैं, जो उत्प्रेरक रूप से क्रियाओं मे भाग लेते हैं।

गैस

शरबत

चि० ७—(श्री० डी० एस० कमठान द्वारा)

फरमेंटेशन इन्ही उत्प्रेरको के द्वारा होनेवाली क्रिया है। इस व्यापार के यथार्थ अभिप्राय के लिए हमे दूसरों के हानि-लाभ की ओर विचार न करके देखना चाहिए कि जिन जीवो के प्रभाव से यह क्रिया होती है, उनको इससे क्या हानि-लाभ है। इस विषय में हमे यह याद रखना चाहिए कि किसी भी जीव की जीवन-क्रियाएँ बिना सामर्थ्य के नही हो सकती। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-पतिंगे तथा पेड़-पौधे सभी जीवो को काम-काज के लिए सामर्थ्य चाहिए। साधारण जीवो को यह शक्ति स्टार्च, शकर या दूसरे कार्बोहाइड्रेट्स के श्वसन से मिलती है, जिसके लिए ऑक्सीजन का मिलना ज़रूरी है। परन्तु कुछ ऐसे भी विचित्र उद्भिज हैं, जो बिना ऑक्सीजन मिले ही कार्बोहाइड्रेट्स, प्रोटीन, वसा आदि के विदारण से आवश्यकतानुसार शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इन जीवों के कोशों में फरमेंटेशन पैदा करने का गुण उनमे ऑक्सीजन के अभाव मे श्वसन करने की विशेषता से है। अल्कोहोल तथा दूसरी ऐसी वस्तुओं की उत्पत्ति इस क्रिया मे इसलिए हो जाती है कि ऑक्सीजन न मिलने से ऑक्सीकरण क्रिया सम्पूर्ण नहीं हो पाती।

फरमेंटेशन का हमारे जीवन और व्यापार से सम्बन्ध—फरमेंटेशन का हमारे जीवन और व्यापार से घनिष्ट सम्बन्ध है। अनेक मादक द्रव्य—अल्कोहोल, शराब, ताड़ी—का बनना इसी पर निर्भर है। सन का सड़ना, सिरके का उठना और तरह-तरह के अचार तैयार होना आदि क्रियाएँ विशेषकर फरमेंटेशन से होती हैं। ये क्रियाएँ प्रवर्त्तकों की सहायता से होती हैं। हमारे उदर की पाचन-क्रियाएँ भी इन्ही प्रवर्त्तकों से होती हैं। यही नहीं, खेती और इससे सबध रखनेवाले अनेक व्यवसायों में शायद ही कोई ऐसी क्रिया हो जिसमे इन प्रवर्त्तकों का हाथ न हो। जिस समय बीज उगते हैं इनमें सचित खाद्य पदार्थ प्रवर्त्तकों की सहायता से ठोस, स्टार्च अथवा प्रोटीन से बदलकर घुलनशील शकर अथवा दूसरी वस्तुएँ बन जाते हैं और इस रूप मे वे बढते पौधों के काम आते हैं। जब आलू बोये जाते हैं तो इनकी आँखो से रस सचरित हो आलू मे एकत्रित स्टार्च पर पहुँचते हैं और इसे घुला अकुरित पौधे के अंगों मे अटाते हैं। बीजो और फलों के पकते समय भी इन रसों द्वारा ही क्रियाएँ होती हैं। इसी भाँति मक्का, जुआर व दूसरे दानो के पोढा होने मे शकर से स्टार्च की रचना इन्हीं रसों के प्रभाव से होती है।
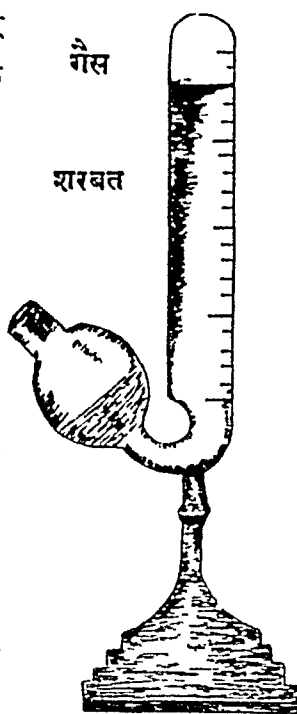
हमारे घी, दूध, मक्खन के व्यापार मे भी इन रसो की ही कार्रवाही का हाथ है। दूध से दही, मक्खन तथा मट्ठे का बनना, पनीर का तैयार होना, इनमे मधुरता और स्वाद का आना आदि-आदि अनेक बाते इन्ही रसों के प्रभाव से हैं।

इन्ही के प्रभाव से मल-मूत्र अथवा मवेशीखाने की खाद-पाँस मे परिवर्त्तन होते हैं, जिससे इन वस्तुओ मे पौधो को लाभ पहुँचाने के गुण आ जाते हैं। भूमि के अन्दर की मुर्दा जड़े और उसके ऊपर की सूखी घास-फूस और पत्तियाँ तथा गदगलीज़ का सड़ना-गलना, अमोनिया,

नाइट्राइट्स तथा नाइट्रेट्स का तैयार होना; वायुमंडल की नाइट्रोजन का भूमि मे आना आदि अनेक क्रियाएँ प्रवर्त्तको के ही प्रभाव से होती हैं।

पेड़-पौधों का हमारे रहने के घरों और स्कूलों की हवा पर असर—प्रायः लोगो का अनुमान है कि यदि हमारे रहने के कमरों और घरो में पौधे हो तो रात मे इनसे बाहर आई कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के कारण वहाँ की हवा दूषित हो जाती है। यह धारणा केवल भ्रम है, जिसके मूल में दो मुख्य बाते प्रतीत होती हैं—एक तो यह कि ऐसे लोगों के विचार से कमरों का हवादार होना केवल इसीलिए है कि जिसमें कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर जा सके और उसकी जगह स्वच्छ हवा आ सके और दूसरी यह कि पौधों से रात्रि में इतनी अधिक कार्बन-डाइ-ऑक्साइड निकलती है कि इसका हमारे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड सकता है। जॉच से पता चलता है कि मकानो का हवादार होना इसलिए इतना ज़रूरी नही कि इनके अन्दर की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बाहर चली जाय और उसकी जगह बाहर की हवा आ जाय जितना कि वहाँ की तरी और गर्मी को कम रखने के लिए। घरो मे गर्मी और सीलन कम होने से हानिकारक कीटाणु भी कम पैदा होते है। तजुर्बे से यह भी पता लगा है कि यदि किसी जगह ताप और नमी अधिक न हो तो हवा में साधारण मात्रा से ५-१५ गुनी अधिक कार्बन-डाइ-ऑक्साइड हो जाने पर भी वह हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक नही हाती। इसलिए हमारे घरो के थोडे-बहुत गमलो व पौधों तथा स्वस्थ अथवा रोगियो के कमरों में ढंग से सजाये फर्न व गुलदस्तो वग़ैरह से स्वास्थ्य के बिगडने का कुछ भी भय नही।
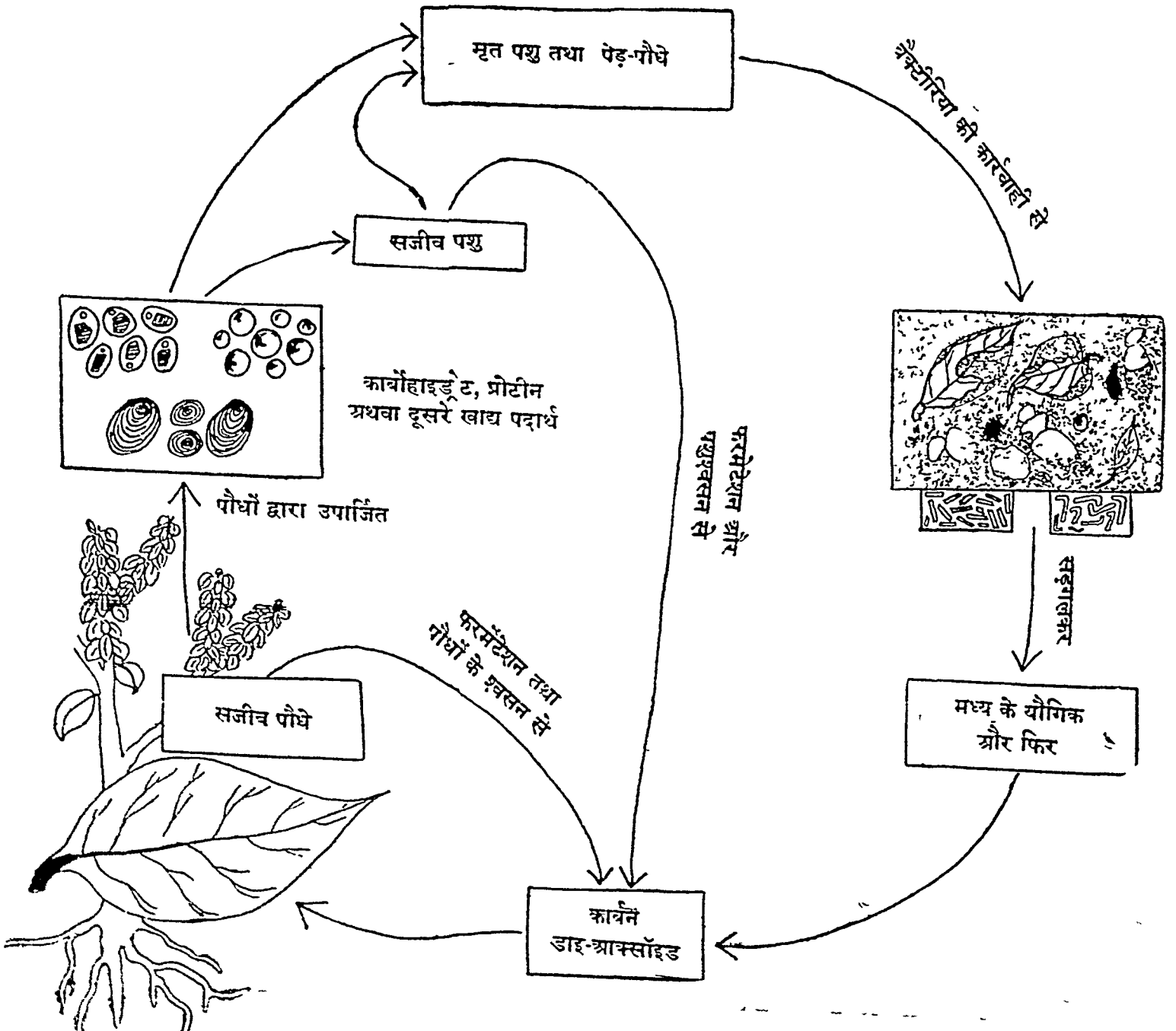
चि० ८—कार्बन-चक्र (मि० शमसुद्दीन द्वारा)
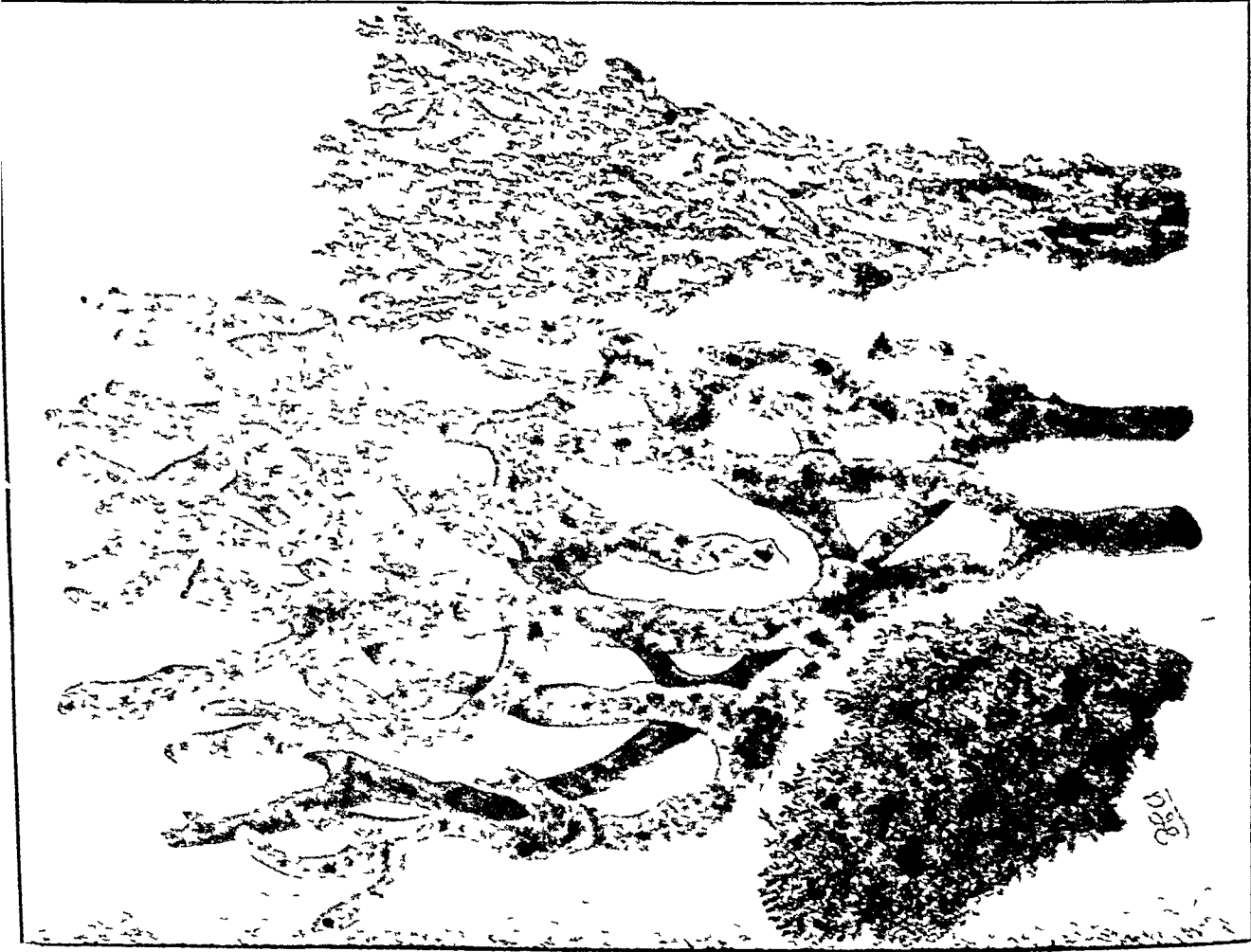
(बाईं ओर) हिन्द महासागर के पेड़-जैसे स्पंजों का एक समूह, जिसे लेखक ने ओखा बन्दरगाह में एकत्र किया था। क्या ये देखने में रेगिस्तान के पत्रविहीन पेड़ जैसे नहीं लगते? (ऊपर) गहरी जल-राशि में मिलने-वाले एक स्पंज—वीनस के फूलों की टोकरी—की मनोहर ठठरियाँ। कांच-से चमकदार, कड़े, लम्बे तथा महीन डोरों से बने ये खोल प्रकृति की कारीगरी के कैसे अद्भुत नमूने हैं! ये बेलनाकार खोखले जीव लगभग 1 फुट लम्बे होते और समुद्रतल में रेशों द्वारा गड़े रहते हैं।

पौधे, फूल और फल के-से कुछ समुद्री जीव

जिस प्रकार स्थल पर सैकड़ो प्रकार की भिन्न-भिन्न रूप-रंगवाली वनस्पतियाँ हैं, उसी प्रकार सागर के अथाह जल मे भाँति-भाँति की सुन्दर वाटिकाएँ, फूल-फल और घास-पात छिपे हुए है; किन्तु स्थलीय और सागरीय वाटिकाओ में एक महान् अन्तर है। सागर के छुँटे हुए पेड़ो मे से बहुतेरे वास्तव मे वृक्ष नही बल्कि जीवधारी हैं। यहाँ हम इन्ही समुद्री खुम्मी, समुद्री देवदार, समुद्री पुष्प, समुद्री रसभरी और समुद्री खीरों का मनोहर वर्णन उपस्थित कर रहे हैं।

पौधों के-से जीव

स्पंज—बाज़ारो मे बिकनेवाला स्पंज तो आपने देखा ही होगा। क्या आप यह भी जानते हैं कि वह एक प्रकार के समुद्री कीड़ो का शरीर है? यह तो केवल एक ही उदाहरण है, इस प्रकार के रग-बिरगे, विविध रूपधारी अनेको बहुछिद्रीय जीव उथले तथा गहरे समुद्रो की तह मे भरे पड़े हैं। प्रायः इनकी शाखाएँ टूटकर, बहुधा लहरो मे बहकर सागर के किनारे पर आ लगती है। यदि आपको सागर-तट पर जाने का सुअवसर कभी प्राप्त हो तो आप स्वयं उन्हे किनारे की बालू पर पड़े हुए देख सकते हैं। विशेषतया गुजरात के ओखा बन्दरगाह के सामने के समुद्र-तट पर ये बहुत दिखलाई पड़ते हैं। इनका एक चित्र इसी पृष्ठ के सामने है। देखिए, वे आपको जानवर ही प्रतीत होते हैं या और कुछ! वे समुद्र की तह मे चिपटे हुए एक ही जगह स्थिर रहते हैं। पेड़ो की ही तरह वे बढ़ते हैं तथा उन्ही की तरह उनमे शाखाएँ फूटती हैं। उनका कोई टुकड़ा यदि अलग होकर गिर जाय तो वह वही जम जाता है और बढ़कर पूर्ण डील को प्राप्त करता है। उनकी पुनरुत्पत्ति की रीति भी वृक्षों-सी ही है। वे भोजन ग्रहण करते हुए भी नही दिखलाई पड़ते। फिर वे जानवर क्योंकर हैं?

यदि पहले के प्रकृतिवादियो ने इन्हे वनस्पति समझा था तो कोई आश्चर्य न था। १८वी शताब्दी में बहुत-से लोग उन्हें कीड़ो का घर समझते थे, क्योंकि उनके भीतर कभी-कभी समुद्री कीड़े घुसे हुए पाए जाते हैं। जिरार्ड ने अपनी प्रसिद्ध 'जड़ी-बूटियों' की पुस्तक मे स्पजो को समुद्री घासो और खुम्मियों के साथ चित्रित किया है, और लिखा है "समुद्र के किनारे की चट्टानो पर झाग-या फेन से बनी हुई एक वस्तु पाई जाती है, जिसे हम 'स्पंज' कहते हैं...इसके विस्तृत वर्णन से पाठको को अधिक लाभ न होगा, क्योंकि उसका प्रयोग अच्छी तरह मालूम है।" पहले-पहल स्काटलैंड के रॉबर्ट ग्रान्ट ने इस बात को देखा कि समुद्र के पानी से छोटे-छोटे कण नन्हे सूराख़ो मे होकर स्पंज की तह मे घुस जाते हैं और बड़े छेदो से फिर बाहर निकल जाते हैं। इस जीवित फव्वारे से पानी की धार को तेज़ी से निकलते हुए और उसके साथ अपारदर्शक टुकड़े इधर-उधर फैलते हुए देखकर ही उन्होंने यह सही अनुमान कर लिया था कि रोंगटो की ही क्रिया से उनमे पानी की धार बहती रहती हैं; लेकिन वे उन रोंगटो का पता न लगा सके थे।

स्पंज पेड़ क्यों नहीं हैं?

आजकल के जन्तु-शास्त्र के विद्यार्थियो से पूछा जाय कि **स्पंज को आप लोग पेड़ क्यों नहीं समझते** तो वे जवाब देंगे कि स्पंज जानवरों की तरह शरीर में बाहर से प्रवेश करनेवाले ठोस कणो को खाते हैं। उनके शरीर के कोषो मे वृक्षो की तरह काष्ठोज की भित्तियाँ नही हैं। वे बचपन की अवस्था मे अन्य समुद्री जीवो के समान स्वच्छन्दतापूर्वक तैरते रहते हैं। जलाए जाने पर स्पंज धीरे-धीरे सुलगते हैं, तेज़ी से नही जलते। जलते समय उनसे ऐसी ही गंध निकलती है, जैसी कि जलते हुए बालों और सींगो से। पेड़-पौधों के जलने मे यह बात कभी नही हो सकती।

इसलिए वे पेड़ों जैसे दिखलाई पडने पर भी जानवर ही हैं। उन्हे हम 'उगनेवाले प्राणी' कहे तो अनुचित न होगा। यदि हम जानवरो के शरीर की तुलना नगरों से करे तो स्पज वेनिस जैसे शहर के समान कहा जायगा जहाँ सब-कुछ नहरों पर निर्भर है। नहरों ही का जाल भोजन और तरावट इनके भीतर पहुँचाता है। इन्ही से होकर कूड़ा-कर्कट और दूषित पदार्थ बाहर चले जाते हैं। उन्ही के द्वारा शरीररूपी नगर के भिन्न-भिन्न भाग एक दूसरे से ससर्ग रखते हैं। साइकन स्पज का जो चित्र बगल मे दिया गया है उसे देखकर आप समझ सकेगे कि यह कैसे होता है। इस साधारण स्पज मे बीच के चौडे स्थान के चारों ओर छोटी-छोटी सुन्दर कोठरियों मे कोडेदार कोप होते हैं, जिनके हिलने से पानी की धार बाहर से भीतर और भीतर से बाहर आती-जाती रहती है। जटिल स्पजों की दीवाले बहुत मुड़ी हुई रहने के कारण पानी के मार्ग भी टेढे-मेढे हो जाते हैं और उनसे इधर-उधर नालियाँ फूट जाती हैं, जो सहायक द्वारों से मिल जाती हे। स्वर्गीय प्रोफेसर हक्सले ने अत्यन्त सुन्दरता से स्पज की रचना का सक्षिप्त वर्णन एक वाक्य मे इस प्रकार किया है "यह एक ऐसा जल-निमग्न नगर है जहाँ की जनता सड़कों-गलियों या नहरो-नालियों मे इस प्रबन्ध से अवस्थित है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पास से होकर बहते हुए पानी से अपना भोजन आसानी से ले लेता है।"

साइकन स्पंज का चित्र, जिसमें उसके शरीर की नहरों का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया गया है। समुद्र का पानी इन्ही नहरो में होकर शरीर के सब भागों को आहार पहुँचाता, और उन्हें साफ़ करता हुआ ऊपर के बडे छेद से बाहर निकल जाता है।

स्पज इतने विविध आकार और रगों के होते हैं कि उनका कोई एक आकार नहीं कहा जा सकता। कोई खुम्मी की तरह गोल और डंडीदार होते तो कोई खोपडी-जैसे गोल होते और अलग इधर-उधर समुद्र मे लुटकते रहते हैं। उनके रेशे ऐसे चीमड और लचीले होते हैं कि लहरों की चोट से टूटते नही। कोई स्पज प्याले की शक्ल के होते हैं तो कोई सुराही की तरह, कोई उँगली के बराबर मोटी डडीवाले पौधों की तरह तो कोई फर्न के समान महीन डडीवाले होते हैं। एक अंग्रेजी कवि ने इनके विषय मे एक कविता लिखी है। उसी के एक अश का अनुवाद यह है—

"इद्र-धनुष के विविध वर्ण,
अरु पौधों के अनन्त आकार।
नीचे स्पज जलधि के तल पर
प्रगटाते यह सब आचार॥"

—'रसाल'

वीनस की फूलो की टोकरी

लेकिन स्पंजो में ही नही वरन् सागर के समस्त जीवधारियो मे सबसे बाँका वह है, जिसे 'वीनस देवी के फूलो की टोकरी' या 'काँच का स्पज' कहते हैं। ये सुन्दर जीव काँच के सदृश चमकीले महीन डोरो की बुनी हुई लम्बी टोकरी के रूप मे गहरे समुद्रो की तह मे लगे रहते हैं। क़द मे वे २ इंच से लेकर २ फीट तक ऊँचे होते हैं (देखिए पृ० १७९८ का दाहिना चित्र)। इस जाति के सबसे पहले मिलनेवाले स्पजों मे से एक की कहानी उल्लेखनीय है। जब सबसे पहला काँच का स्पज जापान से योरप पहुँचा तो लोगों ने उसको जापान की कारीगरी का एक उत्कृष्ट

नमूना समझा। इसलिए महान् प्रकृतिवादी एहरेनवर्ग ने उसको जापान की सौगातों के संग्रह में प्रधान स्थान दिया था। बाद में वह प्रकृति का दोहरा नमूना बतलाया गया अर्थात् मूँगे से जुडा हुआ एक स्वाभाविक कॉच का झाड। तब यह वहॉ से हटाकर प्राकृतिक वस्तुओं के अजायबघर में रख दिया गया। यहॉ भी वह उल्टा रक्खा गया, क्योंकि चतुर जापानी दूकानदार ने झाड के रेशों को मिलाकर एक मूँगे के टुकडे से लगा दिया था। कई वर्षों के पश्चात् स्वीडन के प्रोफेसर लूवॉ ने बतलाया कि इस वस्तु का एक भाग असली स्पंज है, जो उल्टा रक्खा हुआ है और दूसरा भाग मूँगा है! विलायत में इस प्रकार का जो सबसे पहला स्पंज पहुँचा वह ३० पौंड अर्थात् ४५०) रु० को बेचा गया था! इसका वृत्तान्त हमें सबसे पहले १८४१ ई० में मिलता है।
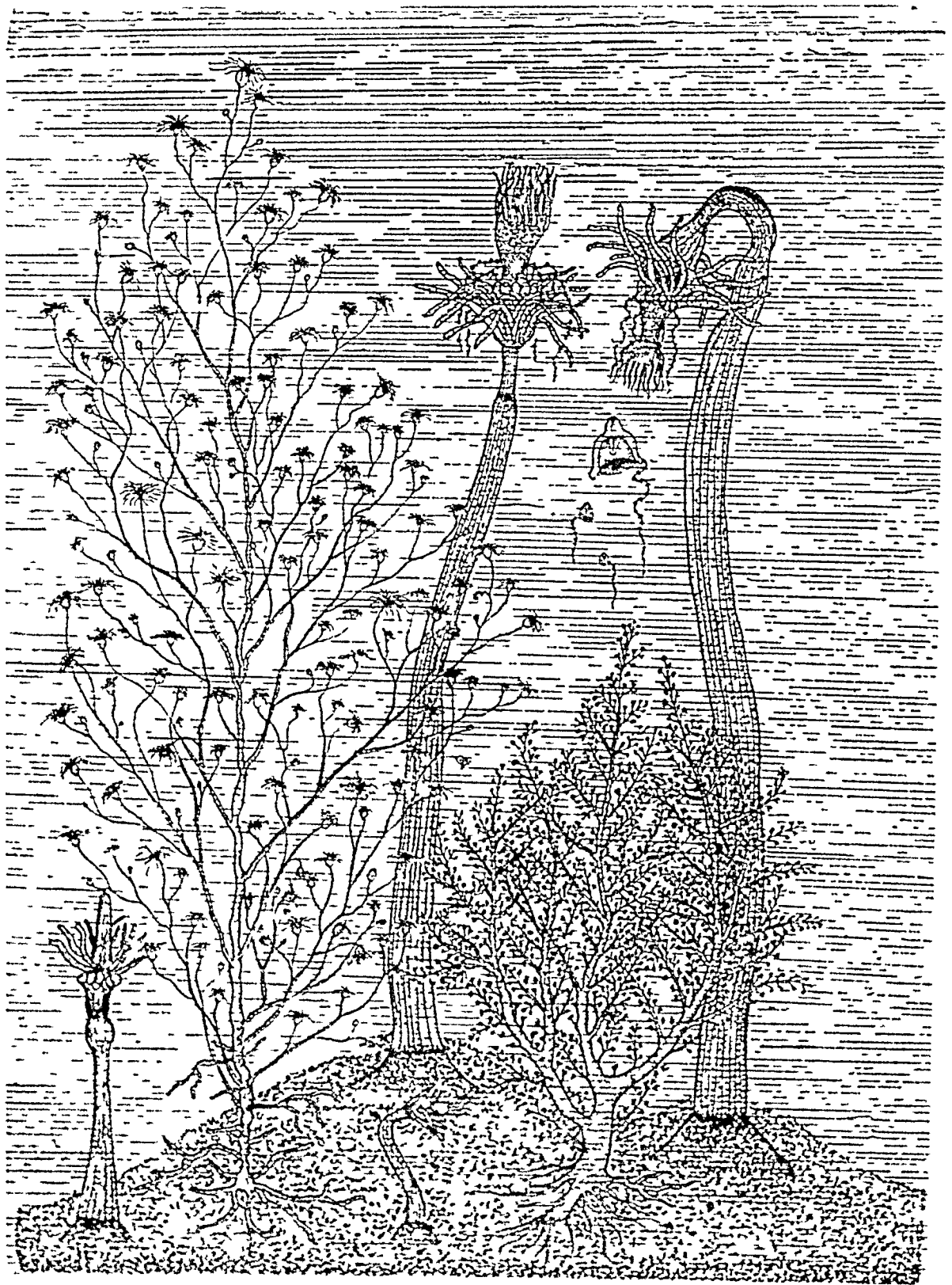
यदि आप किसी कडे स्पंज के एक टुकडे को कास्टिक पोटाश के घोल में उबालकर जो तलछट बचे उसको सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखें तो आपको [illegible] के रूप में बने हुए निश्चित आकार की [illegible] दिखाई [illegible] पडेंगी। [illegible]-

समुद्र में उगे हुए सीलैन्ट्रेट समूह के तीन साधारण वृक्षसम जीव

बाईं ओर यूडेन्ड्रियम नामक जन्तु का झाड है। इसमें जो फूल जान पडते हैं वे वास्तव में एक-एक जीव हैं जो एक-दूसरे से डँगलियों द्वारा जुडे रहते हैं और पेड की तरह अंकुए फोडते और बढते हैं। इन वृक्षतुल्य जीवों की जडें भी दिखलाई पड रही हैं जिनके द्वारा वे समुद्र की तह, चट्टान या अन्य वस्तुओं पर खडे रहते हैं। इनकी ऊँचाई लगभग ६-७ इंच होती है। दाहिनी ओर कम्पैन्लेरिया नामक एक और छोटी जाति का वृक्ष-जैसा दिखाई पडनेवाला जीव है। बीच-बीच में मोटी डंडीवाले कौरी-मार्फा नामवाले प्राणी हैं। ये एक-एक अलग-अलग समुद्र में बालू के अन्दर अपने पेंदे को गाडे हुए उठे रहते हैं। क्या वे आपको डंडीदार सुन्दर कमल के फूल जैसे नहीं जान पडते?

न्दर

भिन्न स्पजो मे यह ठठरी तरह-तरह की कडी, नुकीली, चुभनेवाली शक्ल की होती हैं। कोई सुई की तरह नोकदार, कोई भाले की तरह, कोई त्रिशूल की भॉति, कोई लगर के समान, कोई पहिए जैसी, कोई गोल किरणयुक्त, कोई दोहरे कॉटेदार तथा अन्य बहुतेरे कॅटीले नोकदार आकारों की होती हैं। **यही नोकीली, कॉटेदार चीज़े इन स्पंजो की उनके असंख्य शत्रुओ से रक्षा करती है।** नर्म जानकर जिसने एक बार इन पर मुँह मारा वह कभी इनकी ओर दोबारा आने का साहस नही कर सकता।

समुद्र-तट तथा जहाज़ के पेंदे पर उगनेवाला ओबीलिया नामधारी वृक्षीय जीव तथा उसके बच्चे और डंक मारनेवाले कोष। ये नन्हें-नन्हें पौधों की भाँति झुंड मे उगे रहते हैं और गर्मियों में नन्हें-नन्हें छाते या घंटियों जैसे सुन्दर बच्चे इनसे निकलकर समुद्र मे तैरते फिरते हैं। ये पानी की तरह साफ होते हैं और उनका मुँह बीच मे लटकनेवाली डडी पर होता है। इनके डंक मारनेवाले कोष बग़ल के चित्र मे दिखलाये गये हैं।

जन्तु-जगत् के ये सर्वप्रथम प्राणी हैं, जिन्हे बहुकोषक शरीर धारण करने मे सफलता प्राप्त हुई, किन्तु ये बडे साधारण और निम्न कोटि के जीव हैं। इनमे न तो बहुत-से भाग हैं, न सिर है न पैर और न कोई भीतरी अग ही है। ये चलते-फिरते भी नही हैं। लेकिन जब कोई जिज्ञासु कीडा उनके पानी को बाहर निकालनेवाले सूराख मे अपना सिर घुसेड़ता है तो कभी-कभी वह सूराख तेज़ी से सिकुड जाता है। इससे यह कहा जाता है कि मास-पेशियोवाले तन्तुओ का बनना उनमे आरम्भ हुआ है। उनकी एक और विचित्रता यह है कि स्पजों मे नाडीकोष भी नहीं होते और उनके पेशी-कोष नाडी-कोपों के प्रभाव के बिना ही उत्तेजित हो जाते हैं। इनमे सभी चीज़ों की प्रारम्भिक अवस्थाओं का दृश्य दिखलाई पडता है। भारतीय सागरो मे सैकडो तरह के स्पज मिलते हैं, लेकिन जो नर्म स्पज बाज़ारो मे बिकते हैं वे विशेपकर पूर्वी भूमध्यसागर और वेस्ट इण्डीज़ के द्वीपों मे निकाले जाते हैं। सर्वश्रेष्ठ स्पज टर्की से आते हैं।

डंक मारनेवाले वृक्ष-जैसे जीव— समुद्र के तट पर लहरे कम हो जाने पर पानी से भरे गड्ढों को ध्यान से देखा जाय तो उनमे बडे-बडे सुन्दर और अद्भुत जन्तुओ के समूह नज़र आते हैं। बहुतेरी चट्टाने तथा समुद्री पेड-पौधे छोटे-छोटे लताओ-जैसे कोमल जीवो से आच्छादित दिखलाई देते है। चट्टानों के ऊपर इनकी जडे फैली रहती हैं और इनसे ६″ तक लम्बी पतली शाखाएँ फूटी रहती हैं मानो उन पर पोदीने जैसे पौधों की खेती हो रही हो। हर एक डठल से बहुत-सी डालियॉ निकलती हैं, जिनके छोर पर एक मनोहर पुष्प-सा खिला हुआ जीव मुँह के चारो ओर पंखडियो की तरह अपने सींग फैलाए शिकार की ताक मे डटा रहता है। कुछ शाखाओं मे जडो के पास सुन्दर

एक प्रकार का मूँगा—एलसियोनियम—और एक घुमावदार समुद्री पंखा। एलसियोनियम का निचला भाग बिल्कुल पेड़ के धड़ के सदृश है। उसकी शाखाओं पर नागफनी के-से जो फूल लगे हैं, वे सब एक-एक जीव हैं। दाहिनी ओर के समुद्री पंखे में मुख्य डंडी से जो महीन कोमल डालियाँ पेच की तरह घुमावदार ढंग से निकलती हुई नज़र आ रही हैं, वे घोड़े के बाल की तरह महीन होती हैं और प्रत्येक पर बहुत-से नन्हें-नन्हें जीव लगे होते हैं। जीवित अवस्था में इस पंखे की डंडी से अत्यन्त मनोहर सुनहली चमक निकलती है, जिसमें बहुत-से रंगों की झलक दिखलाई देती है।

की शक्ल के थैले होते हैं, जिनके भीतर प्याले के आकार के नन्हे-नन्हे बच्चे उत्पन्न होकर अथाह सागर में जा पहुँचते हैं। वहाँ वे स्वतन्त्रतापूर्वक तैरते फिरते अपना जीवन व्यतीत करते हैं, तथा अंडे देते हैं, जो बढ़कर बच्चो मे परिवर्तित हो जाते हैं और चट्टानो से जाकर चिपट जाते हैं। इन्हीं से फिर नई शाखाएँ फूटकर सम्पूर्ण पेड़ बन जाता है।

पिछले पृष्ठ पर भारतीय सागरो मे मिलनेवाले इसी प्रकार के दो वृत्तीय जीवो के चित्र बने हुए हैं।

ये सुन्दर कुसुमो के समान जन्तु और उनकी पंखडियाँ ऐसी सीधी-सादी और निर्दोष नहीं होती जैसी कि देखने मे प्रतीत होती हैं। इन पंखडियो पर छोटे-छोटे असंख्य कोष होते हैं (दे० पिछले पृष्ठ का चित्र)। प्रत्येक कोष के अन्दर
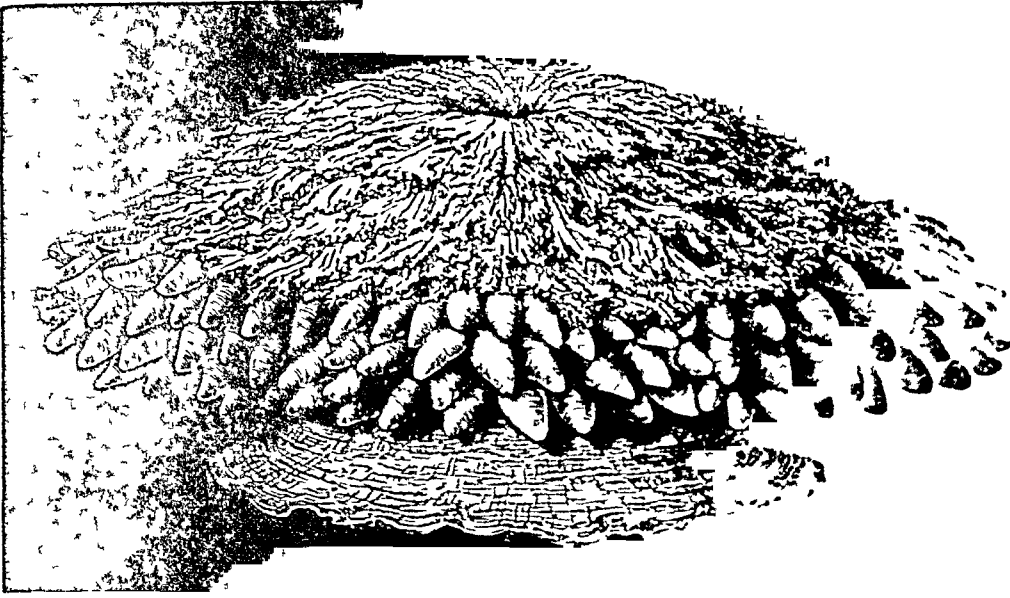
एक बड़ा समुद्री एनीमोन

इसी प्रकार का एनीमोन लेखक को द्वारिका के आसपास के सागर में मिला था। पूर्ण रूप से फैल जाने पर वह बडे-से-बडे सूर्यमुखी के फूल के समान हो जाता था और सिकुडकर मुट्ठी-सा गोल हो जाता था। इस चित्र मे चोटी पर बीच मे इस जीव का मुँह है जिसके चारों ओर झालरदार नर्म पत्तियों जैसे पकडनेवाले सींगों के कई वृत्त होते हैं। उनमें ऐसी आकर्षक लाल, हरे, नीले, सफ़ेद रंगो की धारियाँ और धब्बे होते हैं जिनका वर्णन करना असम्भव है। इनके नीचे गाजरों की शक्ल की मोटी भुजाओं के २-३ घेरे दिखाई दे रहे हैं। उनके भी नीचे नाटा, मोटा कुंडल जैसा जो भाग दिखाई पडता है वही इस जीवधारी की धड है।

एक महीन, लम्बा, खोखला डोरा लपेटा रहता है जिसके पेदे मे कई तेज़ कॉटे होते हैं। कोष की चोटी पर बन्दूक के घोडे की तरह एक छोटा-सा बाल निकला रहता है। यह इतना चैतन्य होता है कि ज़रा-सी ही रगड या हल्के-से स्पर्श से कोष के भीतर का डोरा झटके के साथ खुलकर सीधा बाहर निकल पडता है। इतना ही नही, इन कोषो मे थोडा-सा विष भी होता है। जब कोई दूसरा जीव आकर इनसे टकराता है तो यह कॅटीले भाले तेज़ी से उनके तन्तुओ मे घुस जाते हैं। छोटे जीव तो इनकी चोट खाकर शिथिल हो जाते हैं और मर भी जाते है, लेकिन बडे प्राणियो मे भी इनके कारण तेज जलन और खुजली पैदा हो जाती है। समुद्र मे नहानेवाले मनुष्य कभी-कभी डक मारनेवाले समूह के बडे जीवो से टकरा जाते हैं और उनके महीन भालो की ऐसी चोट खाते है कि तिलमिला उठते हैं। कभी-कभी इन सहस्रो विषैले डको के घुस जाने से शरीर पर छाले पड जाते हैं, जिनमे बडी जलन होती है।

पृष्ठ १८०२ पर ऐसे ही एक वृक्षीय जीव—ओबीलिया—का चित्र बना हुआ है। इसमे एक डंडी के जोडों से निकलते हुए दो प्रकार के जीव दिखलाई दे रहे हैं। एक प्रकार के जीव वह हैं जो डंडीदार गिलास जैसे हैं और जिनके छोर से महीन पखडियॉ-सी निकली हुई हैं। इन पखडियो पर ही इनके डक मारनेवाले कोष रहते हैं और पखडियो के बीच मे इनका मुॅह होता है। इन्हीं पखडियो के द्वारा वे समुद्र से भोजन-सामग्री अपने मुॅह मे हडप कर जाते हैं। दूसरी तरह के प्राणी पुष्प-पात्र की शक्ल के हैं जो डंडी और पंखडियोंवाले जीवों के बीच से निकले हुए हैं। इनके भीतर छोटे-छोटे गोल बच्चे भरे हुए हैं, जो मैड्सा कहे जाते हैं। जब यह बटकर अलग हो जाते हैं तो पुष्प-पात्र के मुॅह से निकलकर समुद्र मे नन्हीं-नन्हीं कटोरियों की तरह तैरते फिरते हैं। बीच मे उनका लटकता हुआ मुॅह होता है। वे बहुत कुछ बगैर डडी के नन्हे-से छाते से मिलते-जुलते होते हैं। वे अपने जन्मदाता स्थिर माता-पिता से कई गुना बडे हो जाते हैं और अडे भी देते हैं, जिनसे छोटे-छोटे बच्चे पैदा होकर फिर समुद्री वस्तुओं एव चट्टानों मे जा चिपटते हैं और पेड की तरह बढते, शाखाऍ फोडते तथा कली देते हैं। कली देकर वे फिर वृक्षीय रूप धारण कर लेते हैं।

इन्हीं डंक मारनेवाले जीवों मे मूँगे अथवा 'कोरल्स' भी सम्मिलित हैं, जिनमे अनेक जीव वृक्षो का तथा बहुतेरे फूलों का रूप धारण किए हुए सागर की शोभा बढाते हैं। इनके कोमल शरीर पत्थर-जैसी कडी ठठरियॉ बनाकर समुद्र की तह मे या चट्टानों पर गडे रहते हैं और वही बढा करते हैं। यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि ये छोटे-छोटे जीव किस प्रकार जल से चूने को सोखकर इतने बडे-बडे ढेर बना लेते हैं कि उन पर मिट्टी आदि जमकर टापू तक बन जाते हैं। इनका भूतत्त्विक महत्त्व आप

इसी अंक के 'पृथ्वी की रचना' नामक स्तंभ के लेख से जान सकते हैं।

सागर के रंग-बिरंगे कुसुम

समुद्र के किनारे के पानी से भरे हुए पथरीले गड्ढो मे मिलनेवाले जीवो मे सबसे सुन्दर एनीमोन नामक प्राणी हैं। ये रग-बिरगे गुलदावदी, डहेलिया, सूर्यमुखी और गेंदे के फूलो की तरह अपनी मनोहर पंखड़ियो को फैलाये किनारे के छिछले जल मे चट्टानो से चिपटे हुए या बालू मे उगे हुए दीख पडते है। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि अनजान मनुष्य उन्हे देखकर असली फूल ही समझेंगे। ये मनोहर पुष्प समस्त संसार के सागरो मे बिखरे पडे हैं, किन्तु समशीतोष्ण कटिबन्ध के किनारो के उथले जल मे अधिकता से मिलते हैं। वहाँ वे बडी आसानी से दिखलाई पडते हैं। समुद्र का पानी उतरने पर ये बन्द हो जाते हैं और चमकदार हरी, लाल या सफेद नर्म अजीर तथा 'जेली' के गोल टुकडो के सदृश दिखलाई पडते हैं। ज्वार आने पर वे फिर खिल जाते हैं और उनकी विविध रग की आकर्षक पखडियाँ चारो ओर लहराती बल खाती हुई इठलाने लगती है। किसी-किसी एनीमोन की पखड़ियाँ लम्बी और छितरी हुई और किसी-किसी की गेंदे के फूल की तरह छोटी, गुथी हुई, झालरदार होती है। कुछ एनीमोनो की डडी छोटी होती है और कुछ ज्वार आने पर अपने कोमल सिरो को ५"-६" तक ऊँचा उठा लेते है। पंखडियो के बीचो-बीच मुँह होता है। छोटी मछलियाँ, झींगे आदि जीव या मास का कोई टुकडा समुद्र मे बहते या तैरते हुए जब एनीमोनो की पखडियो के बीच मे आ जाते हैं तो उन्हे पता लगता है कि ये सुहावने फूल ऐसे सीधे नही जैसे कि वे जान पडते थे। पंखडियाँ अपने डक मारनेवाले कोषों की सहायता से इन फुर्तीले जीवों को भी अस-हाय करके मुँह मे ढकेल देती हैं और वे पेट मे जाकर उनका भोजन बन जाते हैं। कुछ घटो बाद एनीमोन फिर अपना मुँह खोलता है और खाये हुए भोजन का बचा हुआ भाग बाहर फेंक देता है।

एनीमोन का शरीर पानी से भरा रहता है और उसकी पंखडियाँ खोखली होती हैं। जब उसको अपनी पंखडियो को फैलाने की इच्छा होती है तब वह अपनी मास-पेशियो को सिकोडकर शरीर से पानी पंखडियो की नलियो मे भेजने लगता है। ज्यो-ज्यो ये नलियाँ भरती जाती हैं पखडियाँ फूलकर लम्बी हो जाती हैं और समुद्र मे लहराती हुई बेख़बर जीवों को अपने फन्दे मे फँसाने की प्रतीक्षा मे रहती हैं। पखडियो के छोर पर नन्हा-सा सूराख़ होता है, जो शरीर का पानी पिचकारी की तरह बाहर निकालकर सिकुड जाया करता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, एनीमोन के पेंदे चट्टानो से चिपटे रहते है और वे आसानी से उन्हे छोडते नही। लेकिन यदि वे चाहे तो चट्टान पर धीरे-धीरे सरक सकते है। कभी-कभी ये जन्तु छोटी नावे बनकर सागर की सैर करने का भी साहस करते है। चट्टानो से छूटकर वे तैरते हुए पानी के ऊपर आ जाते हैं और उल्टे हो जाते है; तब वे अपने शरीरो को ख़ाली करके छोटी नावो की तरह लहरो पर झकोरे खाते हुए दूर निकल जाते हैं और अन्त मे किसी और नये चट्टानी चश्मे मे जा बसते है।

इनमे कोई ऐसा भाग नही होता जो मस्तिष्क कहा जा सके। पंखडियो से कोई चीज़ छू जाने या टकरा

लिली के फूलों का एक गुच्छा

समुद्री जीवों में इन कुसुमाकारी जीवो से शायद ही कोई और अधिक सुकुमार और सुन्दर हो। ये क्रिनौइड काँच की तरह जल्दी से टूट जाते हैं और छेडने पर अपनी भुजाएँ झाड़ देते हैं। उनमें से कुछ सफ़ेद, कुछ बैंजनी, कुछ पीले और कुछ हरे होते हैं। गहरे समुद्र उनके जंगलों से भरे रहते हैं।
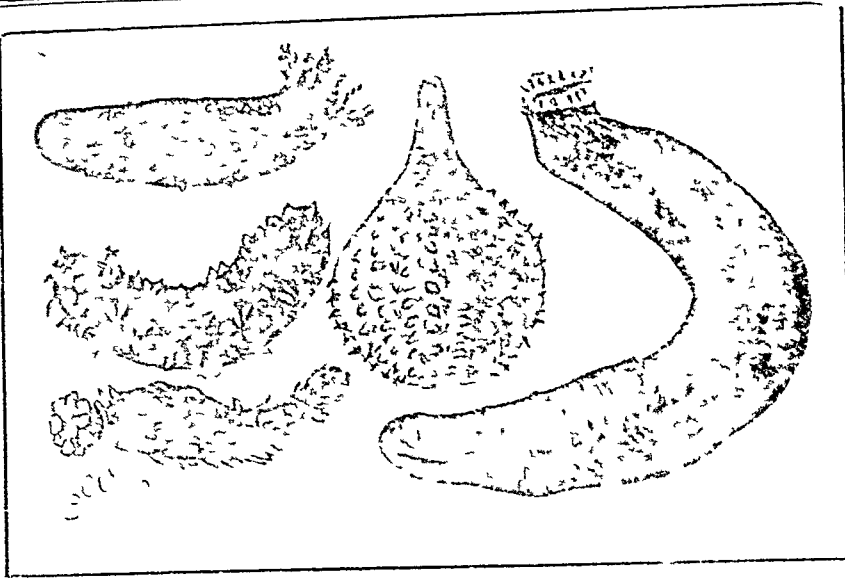
समुद्र के फलो के कुछ नमूने

ये खीरा, ककडी, गोल लौकी जैसी वस्तुएँ खायी भी जाती हैं । किन्तु ये फल नहीं वरन् जीव हैं । यह खीरा-सा जीव भी भारतीय समुद्रों से लाया गया था । ये जीव ५-६ इंच लंबे होते हैं। इसके बगल में जो ककड़ी-सा लम्बा जीव बना है, वह बड़े शौक से खाया जाता है। चीनी लोग इन्हें सुखा-कर बेचते हैं और उनकी शोरवेदार तरकारी बनाते हैं। गोल लौकी समुद्र की दलदली मिट्टी मे दबी रहती है, परन्तु अपना पतला भाग पानी के ऊपर निकाले रहती है । ये तीनो कंटकचर्मी समूह के प्राणी हैं ।

जाने से वे अपने आप सिकुडने लगती हे और उस चीज़ को भोजन समझकर पकड लेती है। उनके पास कोई ककड या लपेटा हुआ कागज ले जाया जाय तो वे उन्हे भी वैसे ही शौक से पकडेगी जैसे किसी भींगे या मछली को। किन्तु यह भी बडी मनोरजक बात है कि किसी एनी-मोन को बहुत देर तक इसी प्रकार धोखा नही दिया जा सकता। इस धोखा-धडी का कुछ बार अनुभव हो जाने के पश्चात् वे इन धोखा देनेवाली वस्तुओ पर ध्यान नही देते। इससे यह पता चलता है कि ये मस्तिष्कहीन साधारण जीव स्वगामी जड-यन्त्र के समान ही नहीं हैं वरन् वे कुछ शिक्षा भी ग्रहण कर सकते हैं और उसको थोडी देर याद भी रखते हैं।

एक और समूह के जीव समुद्रो मे पाये जाते हैं, जिनमे बहुत-कुछ कमल या नरगिस के फूल की तरह लम्बी डडियॉ होती हैं। पिछले पृष्ठ को देखिए, उसमे चित्रित वस्तु फूलो का गुलदस्ता जान पडता है या जीवो का समूह ? जोडदार कडी टंडीवाले ये सागर-निवासी कटकचर्मी समूह के प्राणी ह, जिसमे सितारा मछली भी सम्मिलित हैं। इन्हें समुद्री लिली या पथरीली लिली कहा जाता है। किन्तु इनका वैज्ञानिक नाम क्रिनौ-इड है। कडी पथरीली तहों मे ये अपनी डडियो के सिरे से चिपटे रहते हैं, किन्तु दलदली तहो मे डठल के पेंदे से शाखाएँ फूट निकलती हैं और वृक्ष की जडों की तरह मिट्टी मे घुसकर उन्हे साधे रहती हैं (दे० पृ० १८०१ का चित्र)। अधिकाश क्रिनौ-इडों के डंठलो मे झुकने या लिपटने की विशेष शक्ति नहीं होती। लेकिन किसी-किसी के डठल सीधे खडे नहीं रहते बल्कि टेढे पडकर नीचे को लटक जाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो केवल एक ही ओर झुक पाते हैं। डडीदार क्रिनौइड अत्यन्त प्राचीन जीवधारी हैं और वर्त्तमान काल मे अधिक नहीं मिलते। किन्तु एक समय था जब वे सागरो मे भरे पडे थे। कहा जाता है कि आजकल की सब सितारा मछलियो का विकास इन डडीदार प्राणियो से ही हुआ है। डठल के पश्चात् सर्वविशिष्ट अग उनकी भुजाएँ हैं जो पुष्प की भॉति डडी के छोर पर सजी हुई दृष्टिगोचर होती हैं। ये सदा ५ या ५ से ही कटनेवाली सख्या मे होती हैं और प्रत्येक भुजा से दोनो ओर पर की तरह नन्ही-नन्ही शाखाएँ या पत्तियॉ निकली रहती हैं, जो हमेशा ही मन्द गति से लहराया करती हैं। पानी के हिलने से क्रिनौइड पर सबसे पहला प्रभाव यह होता है कि वह अपनी नन्ही-नन्ही पखडियो से चट्टान या पास की अन्य किसी वस्तु को पकडने की चेष्टा करता है। यदि भुजा के छोर का किसी दुःखदाई पदार्थ से स्पर्श करा दिया जाय तो वह ऊपर को उठ जाती है और उसकी पखडियॉ ऐसे हिलने लगती हैं जैसे मक्खी की टॉगे अपने ही शरीर को साफ करते समय हिलती हैं। यदि इससे भी चैन नहीं मिलता तो दुःखी भुजा झुककर दूसरी ओर की भुजा के निकट पहुँच जाती है। तब इस दूसरी भुजा की भी पंखडियॉ उसको सहलाने लगती हैं।

क्रिनौइड रेंगकर एक जगह से दूसरी जगह जा सकते हैं। उनके भोजन मे विशेष रूप से छोटे-छोटे भींगो जैसे जीव, उनके बच्चे, एककोषीय प्राणी तथा छोटी-छोटी वनस्पतियॉ सम्मिलित हैं, जिन्हे वे भुजाओ के बीच मे ऊपर
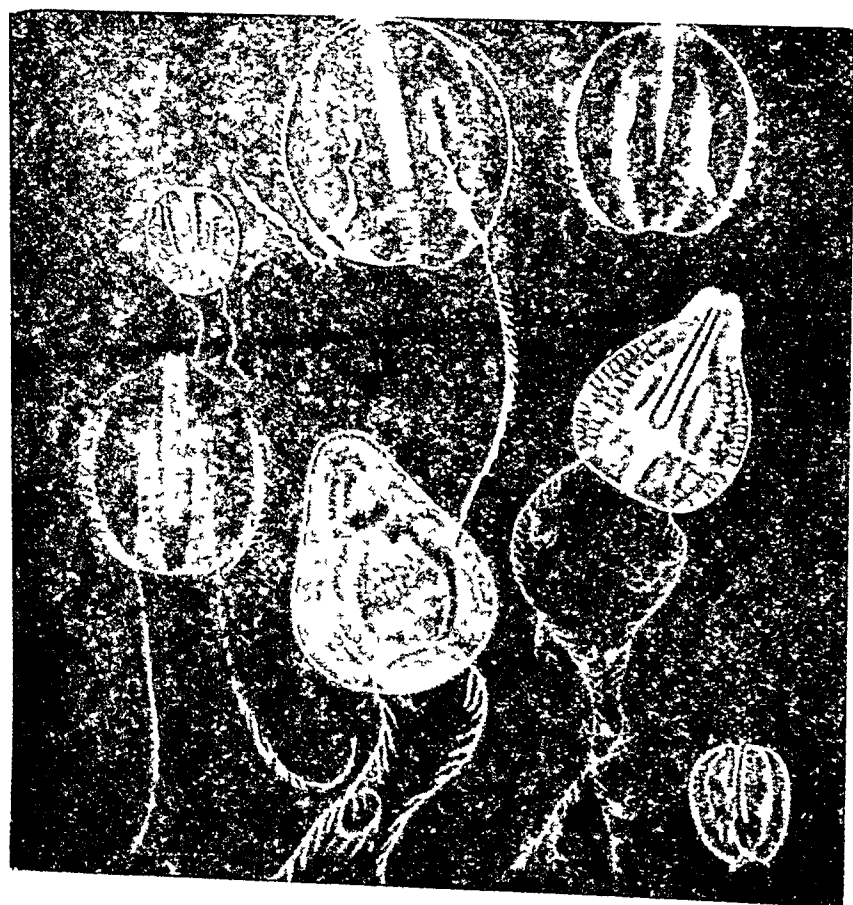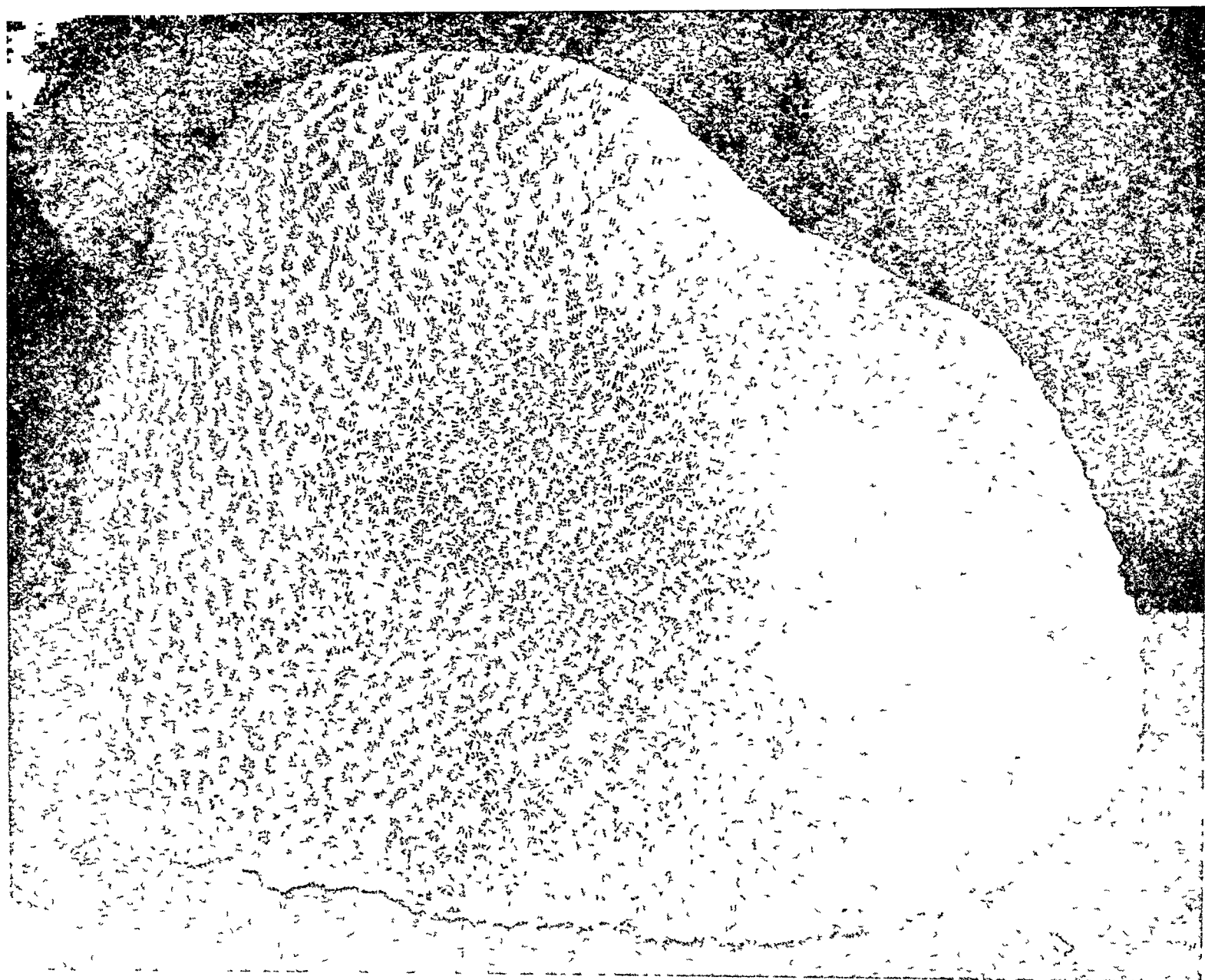
(ऊपर) प्रवाल-द्वीप का निर्माण करनेवाले मूँगे नामक जीवधारियो के कलेवर का एक चित्र। क्या कोई यह अनुमान कर सकता है कि यह किन्ही प्राणियो के त्यागे हुए शरीरों के अवशेष का समूह होगा ?

(बाईं ओर) झरबेरी, रसभरी या करौंदे की तरह दिखाई पड़नेवाले असख्य चमकदार, सफेद और पारदर्शक जीवो मे से कुछ के नमूने जो समुद्र पर तैरते रहते हैं। इनका वर्णन पृष्ठ १८०८ पर पढ़िए।

को उठे हुए मुँह से खा जाते हैं। आजकल क्रिनौइड सभी समुद्रो मे १०० गज़ से लेकर ६४०० गज़ की गहराई मे पाए जाते हैं। उन्हें स्वच्छ और शान्त जल ही अधिक पसन्द है। डडी और बिना डडीवाले क्रिनौइड दोनो ही प्रायः झुंड बनाकर एक साथ रहते हैं। इसका कारण यह नही है कि वे सामाजिक जीवन के आदी हैं, वरन् यह है कि बचपन मे भी उनमे ज्यादा चलने-फिरने की शक्ति नही होती।

सागर के फल

पौधे और फूलो के अलावा कुछ समुद्री जानवर ऐसे हैं, जो फलों के सदृश होने के कारण उन्ही के नाम से पुकारे जाते हैं, जैसे—समुद्री खीरे, समुद्री ख़रबूज़े, समुद्री नीबू, समुद्री रसभरी और समुद्री अगूर। वास्तव मे ऐसे ही बहुत-से हास्योत्पादक नाम जनता ने इनके रख लिये हैं कि जिनको सुनकर बहुत धोखा होता है।

जो जीव समुद्री खीरे-ककडी के नाम से प्रसिद्ध हैं वे वास्तव मे उसी कन्टकचर्मी समूह के प्राणी हैं, जिसमे सितारा मछली और समुद्री नरगिस भी सम्मिलित हैं। अधिकाश समुद्री खीरे कीचड़ या बालू मे घुसे रहते हैं, कुछ समुद्र के पेंदे पर रेंगा करते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो चट्टानो की दरारों मे छिपे रहते हैं। इनकी पानी की सतह पर तैरनेवाली भी एक उपजाति पाई जाती है। इनके मुँह को घेरे हुए दस सीग होते हैं, जो किसी-किसी मे सीधे और छोटे होते हैं तथा किसी मे सुन्दर शाखामय होते हैं। उनकी लम्बाई ३″-४″ से लेकर २′ या इससे भी अधिक होती है। उनके सामने जो कुछ भी आ जाय, चाहे वह जीवित हो अथवा मृत, उसे वे खा लेते हैं; हॉ, वह पदार्थ इतना बडा न हो जो उनके मुँह मे न जा सके।

इनके सम्बन्ध की एक बात ध्यान देने योग्य है। इनके शरीर के पिछले द्वार के पास एक पेड की तरह शाखा-युक्त सॉस लेने का अंग होता है, जिसमे सदा रक्त बहा करता है और उसकी दीवालो मे होकर ओषजन सोखता रहता है। इस ओषजन को जुटाने के लिए थोडी-थोडी देर में सागर का जल अन्दर खीच लिया जाता है और ओषजन खिंच जाने पर वह फिर बाहर निकाल लिया जाता है। कहा जाता है कि फिरैस्फर नामक मछली, जो फीते की तरह चपटी, पतली और लगभग ६″ लबी होती है, पानी की लहर के साथ इस सूराख़ द्वारा इनके शरीर मे घुस जाती है। अन्दर ही अन्दर घूमकर सूराख़ से अपना मुँह बाहर निकाल यह चालाक मछली शिकार की घात मे बैठी रहती है। कुछ लोग इस अनोखी कहानी पर विश्वास नहीं करते।

कुछ समुद्री खीरे अथवा ककड़ियों को लोग बडे शौक़ से खाते हैं और मलाया के द्वीपसमूह, न्यूगिनी और कैलीफोर्निया के किनारे के समुद्रों मे वे काफी सख्या मे जुटाई जाती हैं। चीनी तो उन्हे अत्यन्त स्वादिष्ट भोजनों मे गिनते हैं।

जल के विशाल जगत् मे सहस्रों ही जीव उछलते, कूदते, तैरते, धडकते, चमकते और नाना प्रकार की क्रीडाएँ करते, किन्तु अग्रेजी मे जो जीव आमतौर से 'समुद्री गूज़बेरी' के नाम से पुकारे जाते हैं वे अपनी अनोखी सुशीलता, सुकुमारता और सुन्दरता मे इन सबसे बढे-चढे हैं। इनमें से कुछ का आकार और क़द झरबेरी, रसभरी, करौंदे का सर जैसा होता है। उनके शरीर इतने चमकदार, सफेद और पारदर्शक होते हैं मानों सुन्दर कॉच के बने हो। यदि आप गर्मी के दिनों में, जब समुद्र का जल शान्त और साफ हो, नाव पर बैठकर किनारे से थोड़ी दूर जाएँ और नाव से झुककर पानी को देखें तो ये मनोहर, चमकदार, बिल्लौरी रसभरी-ऐसे समुद्र-फल आपको अवश्य ही इधर-उधर तैरते हुए दीख पडेंगे। हथेली पर उठा लेने से वे खूबानी की तरह गुदगुदे, सफेद नर्म कॉच के बने हुए छोटे गोले-जैसे जान पड़ते हैं। इनके कोमल, मनोहर शरीर पर मांस-पेशियों की आठ महीन धारियॉ होती हैं, जिनमे कघी के दॉतों की तरह महीन-महीन रोएँदार रेशे निकले रहते हैं और बडी ही ख़ूबसूरती से लहराते हुए नज़र आते हैं। इन्ही की गति से ये कॉच के गोले इधर-उधर चलते-फिरते हैं।

इन नाज़ुक जन्तुओ के शरीर मे ६८% पानी होता है। दिन मे प्रकाश की किरणें उन पर टकराकर मुड़ जाती हैं और फटकर नये-नये मनोरम हरे, लाल, नीले, बैंजनी रगों मे बॅट जाती हैं। इससे भी शानदार बात यह है कि इनमे से बहुत-से रात को भी चमकते हैं और हल्की बैंजनी रोशनी फेंकते हैं। यह धारणा हो सकती है कि ऐसे कोमल सुन्दर आकाशी जीवों को, जिनका देखना भी कठिन है, भारी भूख न लगती होगी। किन्तु बात बिल्कुल उल्टी ही है। अन्य अनेक जीवधारियों के समान ये भी मासाहारी हैं और सिन्धु की सतह पर विचरनेवाले प्रत्येक प्रकार के जीवो पर, जिन्हे वे निगल सकते हैं, बड़ी लालच से आक्रमण करते हैं।
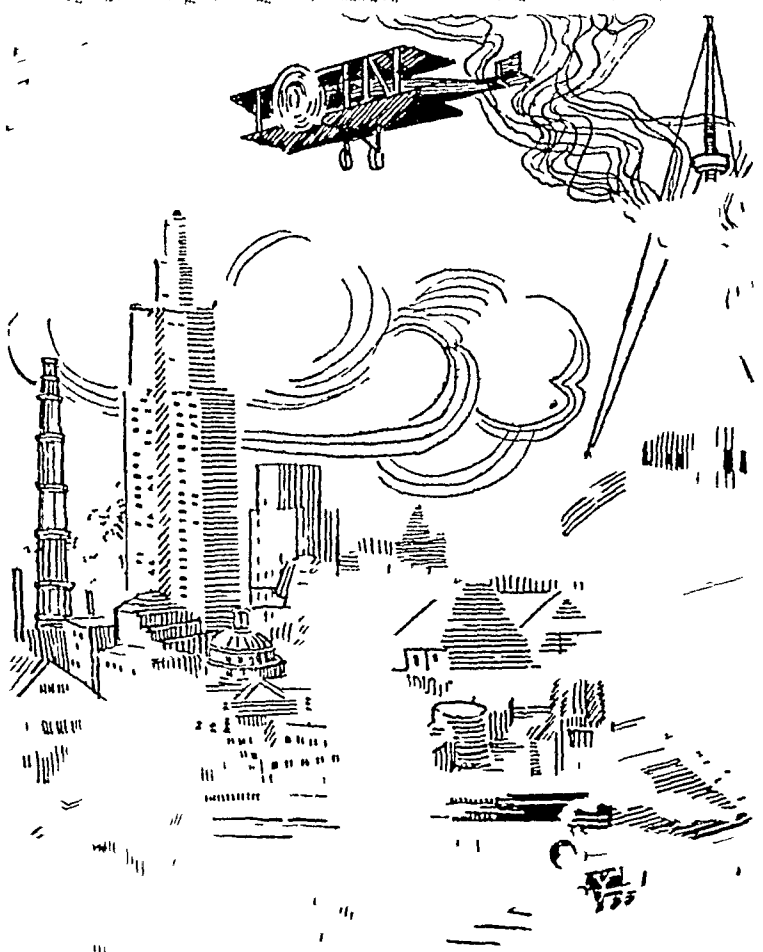
की कहानी
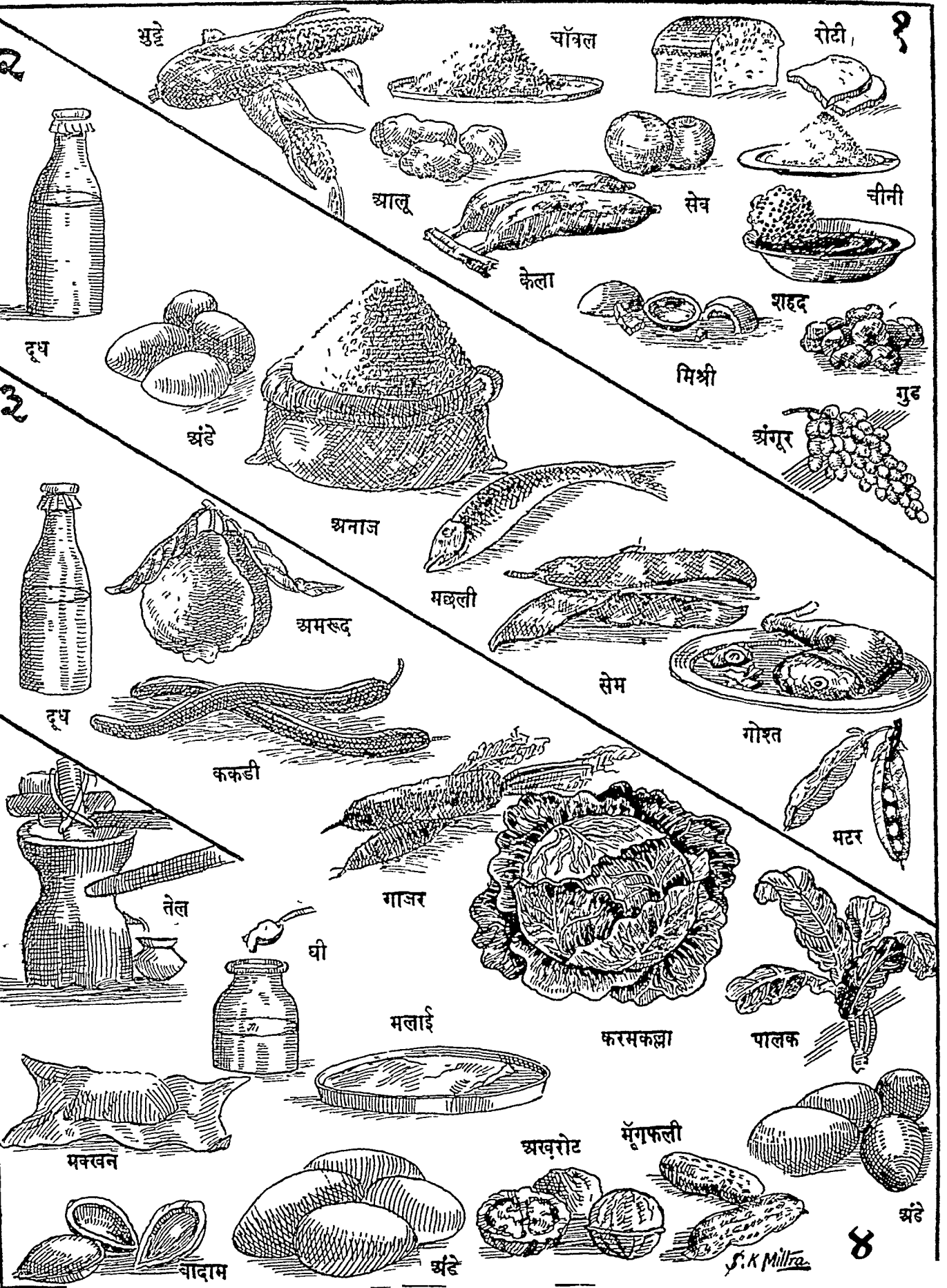
मुख्य खाद्य पदार्थ तथा शरीर के निर्माण में उनका भाग

१—दो प्रकार के अग्निदायक भोजनों के कुछ साधारण नमूने। २—तन्तुवर्द्धक प्रत्यामिनों का समूह। ३—खनिज पदार्थ देनेवाले खाद्य। ४—विटामिन या खाद्योजदायक आहार।
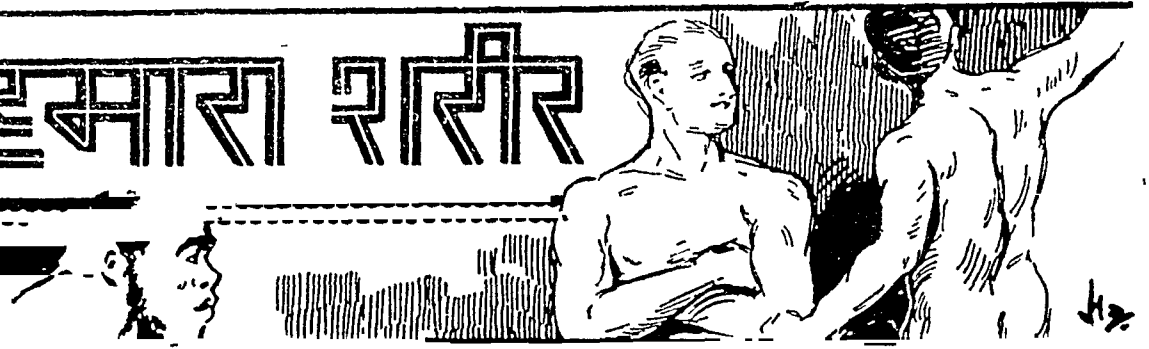
खाद्य पदार्थ और उनका पाचन

पिछले लेख मे पाचन-सस्थान, अन्न-प्रणाली और कुछ ग्रन्थियो का वर्णन कर चुकने के पश्चात् अब हम खाद्य पदार्थों के पाचन और समीकरण का विस्तृत विवरण आपके सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। यह तो हम पहले ही कह आए हैं कि भोजन-सामग्री जिस दशा मे खाई जाती है उसी दशा मे शरीर मे नही पहुँच सकती। भोजन-पदार्थ शरीर के उपयोग मे तभी आ सकते हैं जब वे तन्तु-झिल्ली के अन्दर से निकल जानेवाले घुलनशील रूपों मे परिवर्तित हो जायँ और आमाशय तथा आँतो की दीवालो के भीतर से जाकर रक्त मे मिल जायँ। पाचन-क्रिया का उद्देश्य यही है कि सभी प्रकार के अघुलनशील और ठोस खाद्यों को तोड़-फोड़कर घुलनशील रूप मे बदल दें और उन्हे शोषण के योग्य कर दे, जिससे वे रक्त मे मिलकर शरीर के सब भागों मे पहुँचकर उनके पालन-पोषण मे सहायता दे सकें।

अन्न मार्ग मे जगह-जगह पर कई ऐसे कारख़ाने हैं जिनसे तरह-तरह के पाचक रस निकलकर खाद्य पदार्थ की लम्बी यात्रा मे उससे आ मिलते हैं और उस पर अपना प्रभाव डालते हैं। इस लेख मे हम मुख्य रूप से इन्हीं का हाल बतलायेंगे; किन्तु इसके पहले यह आवश्यक जान पड़ता है कि भाँति-भाँति के आहारों और उनके रसायन का कुछ हाल बतला दिया जाय।

आहार के प्रकार और उनका रसायन

खाद्य पदार्थ तीन मुख्य समूहो मे विभाजित किये जाते हैं—(१) कर्बोदेत, (२) प्रत्यामिन और (३) वसा या चर्बी। इनके अतिरिक्त कुछ खनिज लवण, खाद्योज (Vitamin) और पानी भी खाद्य ही मे शामिल हैं।

कर्बोदेत—खाने की सामग्री में इनका अधिक भाग होता है। कम-से-कम भारतवर्ष तथा अन्य देशों के शाकाहारियो मे तो भोजन-सामग्री का मुख्य भाग कर्बोदेत ही होते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं तथा वनस्पतियों से इनकी अधिक मात्रा प्राप्त होती है। शक्कर, निशास्ता, श्वेतसार, माड़ इत्यादि इनमे मुख्य हैं। आलू, चावल, गेहूँ तथा जौ प्रधानतया स्टार्चयुक्त पदार्थ हैं। स्टार्च पौधो द्वारा एकत्र किये गए आहार हैं जिन्हे वे आगे चलकर या तो अपने काम के लिए या बीज (बच्चों) के लिए इस रूप मे जमा करते हैं। आलू की गाँठ अपने पौधे का भांडार है जिससे फूटे हुए अंकुवे जब तक बढ़कर सूर्य से अपने लिए शक्ति खीचने योग्य नहीं हो जाते तब तक इसी भांडार पर निर्भर रहते हैं। गेहूँ, जौ, जई, मक्का, बाजरा, चावल आदि अनाज पौधों के बीज हैं, जिनमे जमा की हुई भोजन-सामग्री को आटा, रोटी, हलवा, खिचड़ी, चबैना इत्यादि के रूप मे हम ग्रहण करते हैं। यही वे सस्ते भोजन हैं, जिनसे हम अपने पेट को भरकर शारीरिक यत्रो को चलाने के लिए ईंधन प्राप्त करते हैं। मनुष्य इन्हें पकाने के बाद ही आसानी से पचा सकता है, लेकिन अन्य जानवर—गाय, घोड़ा आदि—उनको कच्चा ही पचा लेते हैं।

शक्कर गन्ने और खजूर मे बहुत पाई जाती है, किन्तु चुकन्दर तथा अन्य बहुत-से फलो में भी मिलती है। यह सब पेड़ों और फलों के रसों मे पाई जाती है। यदि यह कहा जाय कि शक्कर पेड़ो मे एक जगह से दूसरी जगह जानेवाला भोजन है तो अनुचित न होगा। श्वेतसार पानी मे नही घुल सकता, परन्तु शक्कर घुल जाती है। इसलिए जब अघुलनशील स्टार्चों को भांडारो से कही ले जाने की आवश्यकता होती है तो पौधे थोड़े-से हेर-फेर से उन्हे शक्कर मे बदलकर जल मे घोल एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं और अपने कोषों को जिस जगह ज़रूरत होती है वही उसे सौंप देते हैं।

मिश्री, गुड़ और चीनी ख़ालिस अग्नि-उत्पादक वस्तुएँ हैं। पानी निकल जाने के कारण इनमे बेकार बच रहनेवाला पदार्थ नही होता। ३-४ चम्मच दानेदार शक्कर

या मिश्री के ३-४ बड़े टुकड़ों में ही हमको इतनी अग्निदायक सामग्री मिल जाती है जितनी कई सेर स्टार्चवाले आहारो के खाने पर मिलती है। फलो मे पानी का भाग अधिक होता है, इसलिए उनका अग्नि-उत्पादक मूल्य कम होता है, किन्तु जब उनका पानी सूख जाता है तो उनकी यह बहुमूल्यता फिर बढ जाती है, जैसे किशमिश, मुनक्के, खूबानी म। शहद मधुमक्खियो का सगृहीत ख़जाना है जिसको वे अपने छत्ते मे इकट्ठा करती हैं, जिस प्रकार हम अपने बचे हुए धन को बैंक मे जमा कर देते हैं और ज़रूरत के समय ख़र्च करते हैं, उसी प्रकार मक्खियॉ जमा किए हुए शहद का प्रयोग करती हैं। कर्बोदेत तीन तत्त्वो—कार्बन, ओषजन और उद्जन—के सयोग से बनते हैं। उद्जन के परमाणुओं की सख्या ओषजन के परमाणुओ से दुगनी होती है। इन यौगिको मे सबसे अधिक प्रयोजनीय वे समझे जाते हैं जिनमे कार्बन के ६ परमाणु हों। ये तीन समूहों मे बॉटे जाते हैं। पहला—इक-शर्करिद; जैसे—फलोज, दुग्धस्योज, द्राक्षोज इत्यादि। दूसरा—द्वि-शर्करिद, जैसे—यवोज और इक्षु-शर्करा। तीसरा—बहु-शर्करिद, जैसे—निशास्ता, दक्षिणिन आदि।

कर्बोदेत के यौगिक चाहे किसी रूप मे भी खाए जायें अन्नमार्ग मे इक-शर्करिद मे परिवर्त्तित होकर ही रक्त-पेशिकाओ मे पहुॅचते हैं। पहले बनाए हुए तीनो प्रकार के इक-शर्करिद सहज ही एक दूसरे मे बदल जाते हैं। किसी एक का घोल कुछ दिन रख छोडा जाय तो उसमे तीनों ही प्रकार के इक-शर्करिद मिलते हैं। जब हम कर्बोदेत खाते हैं तो वे इन्ही यौगिकों के रूप मे ऑतों की श्लैष्मिक कला के कोष्ठों मे शोषित हो रक्त-प्रवाह मे पहुॅचते हैं। रक्त मे अवकीर्ण होनेवाली शर्कराओं की मात्रा सदैव एक ही रहती है। जब रक्त द्वारा यह इक-शर्करिद यकृत मे पहुॅचते हैं तो वहॉ इनका कुछ भाग मधुजन या 'ग्लाइकोजन' बन जाता है और बाकी बचा अश ख़ून के द्वारा शरीर के अन्य-अन्य भागों मे पहुॅचकर ओषदीकरण से शक्ति उत्पन्न करता है। कर्बोदेत के ओषदीकरण के अन्तिम फल कर्बनद्वयोषिद और जल हैं; परन्तु इस क्रिया का अन्त होने के पूर्व कर्बोदेत कई रूपों मे परिणत हो जाते हैं।

प्रत्यामिन— ये ऐसे यौगिक हैं जो प्रकृति की रसोई ही मे पककर हमे बने-बनाए मिलते हैं। ये आहार मे जीवन-मूल के सबसे निकट हैं और जीवन के जादूभरे स्पर्श मात्र से ही जीवनमूल मे बदल जाते हैं। प्रत्यामिनक भोजन हमको गोश्त, मछली, अडे, हरे शाक, बीज, मटर, सेम, दूध और पनीर से प्राप्त होते हैं। सूखे और हरे सेम, चना, मसूर, मूॅगफली, मटर आदि में प्रत्यामिन या जीवन का अश अग्निदायक भोजन की तह में लपटा हुआ भरा रहता है। जब हम इन वस्तुओं को खाते हैं तो इनका फायदा उठाते हैं। पनीर दूध के प्रत्यामिनक भाग से ही बनती है। दूध और अडे हमारी सारी आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले सर्वोत्तम पदार्थ हैं। एक गिलास दूध मे १। तोला और अडे मे १२ फी सदी बहुमूल्य प्रत्यामिन मिलता है।

कार्बन, ओषजन, नोषजन, उद्जन, गधक और स्फुर से मिलकर प्रत्यामिन बनते हैं। इन तत्त्वो की मात्रा यौगिकों मे इस प्रकार होती है:—

कार्बन—५४·५ प्रति सैकडा उद्जन—७·३ प्रति सैकडा
ओषजन—२३·५ प्रति सैकडा गधक—२·२ प्रति सैकडा
नोषजन—१७·६ प्रति सैकडा स्फुर—०·४—०·८ प्रति सैकडा

स्फुर सब प्रत्यामिनों मे तो नहीं मिलता, लेकिन बहुतों मे मिलता है।

प्रत्यामिनों का विश्लेषण किया जाय तो उनके अणु टूटकर कई प्रकार के अमिनोम्ल बन जाते हैं, जिससे विदित होता है कि कई अमिनोम्लों के सयोग से प्रत्यामिन तैयार होते हैं। ऑतों की श्लैष्मिक कला मे पहुॅचने के पूर्व प्रत्यामिन ख़मीरो की क्रियाशीलता से टूटकर भॉति-भॉति के अमिनोम्ल मे बदल जाते हैं और उसी कला के द्वारा सोख लिये जाते हैं। रक्तधारा मे पहुॅचने के पहले प्रत्यामिन अमिनोम्ल का रूप धारण कर लेता है। परन्तु इसमे सन्देह नही कि प्रत्यामिन का शेष भाग अपनी उसी दशा मे रक्त मे प्रवेश करता है। शरीर के किसी अग की लुगदी मे केशिन, मधुजन, ल्यूसिन, टायरोसिन आदि अमिनोम्ल मिलाये जायॅ तो उसमे अमोनिया की उत्पत्ति होती है। इससे ज्ञात होता है कि शरीर के अंगो मे अमिन-विच्छेदक ख़मीर होते हैं जिनके प्रभाव से अमिनोम्ल का विच्छेद होकर अमोनिया उत्पन्न होती है, जो 'मूत्रिया' या 'यूरिया' के रूप मे बदल जाती है। अमोनिया रुधिर मे कर्बोनेत या कर्बोमिद के रूप मे मिलता है। ये दोनों पदार्थ यूरिया बनकर शरीर से बाहर निकाले जाते हैं। अमिनोविच्छेदन की यह क्रिया शरीर के सभी अगों मे हो सकती है, परन्तु ज्यादातर तो यकृत मे होती है। यकृत ही मे अमोनिया यूरिया का रूप ग्रहण करता है। यूरिया में अमिनोम्ल का एक मुख्य भाग नोषजन होता है, जिसका ओषदीकरण कभी नहीं होता। उत्तरोत्तर वृद्धि और क्षतिपूर्ति के लिए हमको

बहुत थोड़े ही से नोषजन की आवश्यकता होती है। इसीलिए प्रत्यामिनक भोजनों मे जो अधिक नोषजन खाया जाता है वह मूत्र द्वारा त्याग दिया जाता है। प्रत्यामिनक भोजन अधिक खाने से ४-५ घंटे मे सब नोषजन का आधा भाग यूरिया बनकर मूत्र में मिल जाता है। परन्तु यह भी मालूम हुआ है कि मांस युक्त आहार को पूरी तौर से पचने मे ८-१० घंटे लगते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भोजन का अधिकांश नोषजन मूत्र मे निकल जाता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्यामिनक भोजन की आवश्यकता शरीर की वृद्धि के लिए या भिन्न-भिन्न कार्यो से उत्पन्न होनेवाली क्षीणता की पूर्त्ति तथा शारीरिक कार्य - संचालन के हेतु आवश्यक शक्ति को ओषदीकरण द्वारा उत्पन्न करने के लिए होती है। प्रत्यामिन भी अन्य खाद्य पदार्थों की तरह एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। जैसे मनुष्य, चिड़िया, बकरी और मछली के मास गुणों में एक-से नहीं होते, उसी तरह हरी पत्तियों, बीज, दूध और अंडों के

भोजन के कारखाने के मुख्य भाग

ऊपर, हमारे अन्नमार्ग का सबसे पहला कारखाना—मुँह—और उसके यंत्र हैं। नीचे शरीर का दूसरा मुख्य भोजन-कार्यालय या रसोईघर है। इसमें आमाशय के अन्दर का रहस्य प्रकट किया गया है। यह भी दिखलाया गया है कि पित्त और क्लोम-रस छोटी आँत के पहले भाग में कैसे आ पहुँचते हैं। १. कृन्तक, २. चर्वणक, ३. भोजन, ४ आमाशय रस, ५. यकृत, ६. क्लोम, ७. पित्त प्रणाली ८. आँत।

प्रत्यामिन अथवा प्रोटीन सब एक-से नहीं होते। इन भिन्न-भिन्न खाद्य-पदार्थों में पाये जानेवाले भिन्न-भिन्न प्रत्यामिन शरीर मे प्रत्येक अपना - अपना ख़ास काम करते हैं। प्रकृति सारी जीवित सृष्टि को एक ही नुसख़े से नही रचती। वह तो प्रोटीनो के भिन्न-भिन्न नुसख़े परिश्रम से तैयार किए हुए ऐसे अणु-रूपी शब्दो से लिखती है जो सैकडो परमाणु-रूपी अक्षरो के समूहों से बने हैं। जीवन के स्पर्श से उनमे और भी व्यक्तित्व और पृथकता आ जाती है, किन्तु अग्निदायक खाद्यो मे ऐसा नहीं होता। एक प्रकार की वसा उतनी ही अग्नि देती है जितनी दूसरी तरह की। निशास्ता सदा निशास्ता ही होता है चाहे कहीं भी मिले। विभिन्न शर्कराओ की क़िस्मों मे भी भेद नही होता बल्कि अग्निदायक मूल्यों मे अन्तर होता है। अग्निदायक आहारों में से अपनी पसंद और सुविधा के अनुसार हम जो चाहते हैं वही खा लेते हैं। प्रत्यामिनों मे यह बात नहीं है। सब प्रकार के उपयोगी प्रत्यामिनों को प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि कई

तरह के गोश्त, बीजवाली तरकारियाँ, दूध और अडे साथ-साथ खाये जावे।

वसा या मज्जा—मज्जा प्रकृति की समाहरण की हुई गर्मी देनेवाली भोजन-सामग्री हैं। इनमें भी शक्कर और स्टार्च मे पाई जानेवाली तीनों सामग्रियाँ होती हैं, लेकिन इनमे ओषजन की मात्रा कम होती है। इसलिए वे अधिक ओषजन ग्रहण कर सकती हैं और शक्कर आदि की अपेक्षा तेजी से जल सकती हैं। उनके अच्छे ईंधन समझे जाने का यही कारण है। एक ही तौल के मक्खन या तेल का अग्निदायक मूल्य उसी वजन की शक्कर या स्टार्च से ढाई गुना ज्यादा होता है। सभी प्रकार की चिकनी वस्तुएँ या चर्बियाँ क़रीब-क़रीब एक ही नुसख़े से तैयार होती हैं। तेल, घी और चर्बी इस बात में एक समान होते हैं। उनमे कोई विशेष रासायनिक अन्तर नहीं होता। सबका अग्निदायक मूल्य भी एक ही होता है। यदि उनमे अन्य वस्तुओं का मेल न हो तो उनकी महक, स्वाद और रूप भी एक-सा ही होता।

चर्बियाँ अधिकतर जन्तु-पाकशालाओं में ही बनती हैं, लेकिन कुछ वनस्पतियों के भांडार मे भी मिलती हैं। अखरोट-बादाम जैसे मेवे चिकनाई के कारण ही ताक़त और गर्मी देनेवाले समझे जाते हैं। बहुत से बीज और गुठलियों से हम तेल निकालते हैं; जैसे, तिल, सरसों, बिनौला, अडी, महुआ और ज़ैतून। जानवरों से भी हमको तेल और चर्बी आदि मिलते हैं। ह्वेल और मछली का तेल खाने और मालिश करने से शरीर की निर्बलता दूर होती है। अडे की जर्दी मे तिहाई भाग मज्जा का होता है। मक्खन, मलाई, रबडी और पनीर गौशाला से मिलनेवाली चिकनाइयाँ हैं। इन भोज्य पदार्थों मे से अधिकतर इतने समाहरण किए हुए होते हैं कि हम उनको अकेला ही नही खा लेते। वे हमारे भोजन को स्वादिष्ट करते हैं और अधिकतर खाद्य थोडी-बहुत चिकनाई घी-तेल आदि मे पकाकर खाए जाते हैं। मज्जा मधुरिन और मज्जिकाम्ल के सम्मेलन से बनती हैं। वनस्पतियों या जानवरो के शरीर मे अधिकतर त्रिमधुरिन ही पाये जाते हैं। चर्बिकाम्ल, खजूरिकाम्ल, अथवा ज़ैतूनिकाम्ल ही तीन मुख्य अम्ल हैं, जिनके मधुरिन सम्मेलन खाद्य पदार्थों मे और जानवरों के शरीरों मे पाये जाते हैं।

ख़मीर के प्रभाव से ऑत मे मज्जा मज्जिकाम्ल और मधुरिन मे रूपान्तरित हो जाती है। साबुन और मज्जिकाम्ल पित्तरस मे घुलकर श्लैष्मिक कला मे पहुँचते हैं। ऑत की श्लैष्मिक कला के कोष्ठों के भीतर ये फिर सश्लेषण द्वारा मज्जा का रूप धारण कर लेते हैं और लसीकावाहिनी मे होकर समस्त शरीर में पहुँच जाते हैं। चर्बियाँ विशेष रूप से ईंधन का काम करने के लिए ही खाई जाती हैं। कर्बोदेत और प्रत्यामिन की भॉति मज्जा भी ओषदीकरण द्वारा शक्ति उत्पन्न कर सकती है। जो अग्निदायक आहार हम ज़रूरत से ज्यादा खा लेते हैं वे शरीर मे वसा के रूप मे कई स्थानों पर जमा हो जाते हैं। सबसे अधिक मज्जा चर्म के नीचे ही मिलती है। पेट के अगों के ऊपर भी इसकी अधिकता रहती है। यकृत मे भी मज्जा रहती है, लेकिन मधुजन और मज्जा साथ-साथ यकृत मे नही रहते। उन जीवधारियों के यकृत में जो अधिकाश प्रत्यामिनक आहार पर रहते हैं और कर्बोदेत कम या बिल्कुल नहीं खाते मज्जा बहुत मिलती है। जो जानवर घास-पात खाकर जीते हैं, उनके यकृत में मधुजन पाया जाता है मज्जा नहीं। यह ज़रूरी है कि हम शरीर मे थोडी-सी चर्बी बचा रक्खें। उसमे होकर गर्मी जल्दी नहीं निकल पाती। इसलिए वह ताप को शरीर के भीतर ही रोककर उसको गर्म रखती है। सर्दी के दिनो मे या किसी बीमारी के कारण या तेज़ व्यायाम करने से जब शरीर रूपी कल मे चर्बी की कमी हो जाती है उस समय यही बचाकर रक्खी हुई चर्बी काम आती है। यह मज्जा आवश्यकतानुसार बचाये हुए भांडारों से निकलकर जिस जगह जरूरत होती है वहीं पहुँचकर ओषदीकरण द्वारा शक्ति और गर्मी उत्पन्न करती है। इसका अर्थ यह नही है कि हम शरीर मे ख़ूब चर्बी जमा करके बहुत मोटे बन जायँ, क्योंकि हद से ज्यादा मोटाई शरीर के लिए भारस्वरूप है।

बहुधा यह देखा गया है कि चिकनाई कम खानेवाले भी मोटे हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि कर्बोदेत भी आवश्यकता से अधिक खाये जाने पर मज्जा बन जाता है। कर्बोदेत से बनी हुई वसा मे खजूरिकाम्ल और चर्बिकाम्ल की अधिकता होती है। प्रत्यामिन के अणुओं के टूटने से जो मज्जिकाम्ल बनते हैं वे नीची श्रेणी के होते हैं और उनसे वसा नही बनती। ये मज्जिकाम्ल ओषदीकरण द्वारा कर्बन द्वयोषिद और पानी मे परिणत हो जाते हैं।

खनिज लवण—यह तो पहले ही बतला चुके हैं कि हड्डियों और दातो के बनने के लिए खटिकम या कैल्शियम और स्फुर की आवश्यकता होती है; लेकिन इनके अतिरिक्त कुछ और भी खनिज पदार्थ हैं जिनका शरीर मे पहुँचना उतना ही ज़रूरी है। इनमें से कुछ शरीर-तनु बनाने की सामग्री के काम आते हैं, कुछ रक्त में काम करते हैं और

कुछ शारीरिक कल को सुचारु रूप से चलाने और उचित रासायनिक क्रियाओं के होने में सहायक होते हैं।

प्रौढ मनुष्य मे १५ मिलिग्राम लौह नामक खनिज की आवश्यकता होती है। ख़ून के प्रत्येक लाल कण मे लोहे का अपना अत्यन्त सूक्ष्म अंश ज़रूर होना चाहिए। बिना उसके वह कण पीला पड जायगा और जितना ओषजन उसको ग्रहण करना चाहिए उतना न कर सकेगा। रुधिर-कणो को लाल करनेवाला पदार्थ लोहा ले जानेवाला एक रंगीन प्रत्यामिन है। यही प्रत्यामिन कण-रजक या 'हीमोग्लोबिन' कहलाता है। लोहा हीमोग्लोबिन का सार-भूत भाग है। उसकी कमी से 'एनीमिया' या रक्त-हीनता का रोग उत्पन्न हो जाता है। लोहा दूध और अंडे मे मिलता है, लेकिन इसके मिलने के सबसे प्रधान ज़रिये फल और तरकारियाँ हैं, जो ख़ासकर बच्चों को ख़ूब खाना चाहिए। साबित गेहूँ और बिना कुटे चावल में भी लोहे का अंश मौजूद रहता है। ताँबा यकृत मे पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। हड्डियों और मांस के बनने के लिए थोडा-सा मैगनीशियम भी ज़रूरी है। उसके अभाव से जानवर सहज मे ही विकारयुक्त हो जाते हैं, लेकिन मनुष्य उसके न होने से कभी भी पीडित नही होता। इनके अलावा और भी खनिज पदार्थ शरीर मे पाए जाते हैं। अम्ल, खार, नमक, कर्बोनेत और स्फुरेन सभी शरीर के तरल पदार्थो को ठीक रखने मे और कार्य करने मे अपना-अपना भाग लेते हैं।

खाद्योज—ऊपर बतलाये हुए खाद्य पदार्थो के अतिरिक्त शरीर को कुछ और विशेष पदार्थों की आवश्यकता होती है। ये पदार्थ प्राकृतिक भोजनो मे ही मिलते हैं, लेकिन बहुत थोडी-सी मात्रा मे। इनको ही 'विटामिन' या खाद्योज कहते हैं; क्योंकि उनके बिना भोज्य पदार्थ निरर्थक से हो जाते हैं और अपना काम नही करते। इस बात का कैसे पता चला इसका हाल भी बडा मनोरंजक है।

कुछ रसायनज्ञों ने यह सोचा कि प्राकृतिक भोजनों के बजाय यदि ऐसे रासायनिक मिश्रण तैयार कर सके जो शरीर मे उन सब कामों को जो भोजनो द्वारा होते हैं कर ले तो बड़ा सुभीता हो जाय। इसके लिए उचित मात्रा मे आवश्यक रसायनों को मिलाकर कई तरह के मिश्रण बनाये गए और उन्हे चूहे, कबूतर, ख़रगोश इत्यादि को तथा उनके बच्चों को खिलाया गया। तब पता चला कि इस खाने से उनकी बाढ़ जैसी होनी चाहिए थी न हुई और न उनका स्वास्थ्य ही अच्छा रहा। वे कमज़ोर और सुस्त दिखलाई पड़ने लगे। इन्ही जानवरों को जब इस बनाये हुए रासायनिक भोजन के साथ थोडा-सा दूध मिलाकर दिया गया या उसके साथ गोभी, सलाद, करमकल्ला, मूली आदि के कुछ ताज़े हरे पत्ते या फ़ौरन् खेत से काटी हुई गेहूँ या जौ की हरी बालें खिलाई गई तो वही सुस्त और रोगी बच्चे फिर चैतन्य होकर इधर-उधर दौडने लगे; उनकी तन्दुरुस्ती और वृद्धि भी ठीक हो गई। वैज्ञानिकों का ध्यान तब इस बात की ओर आकर्षित हुआ कि ताज़ा दूध, हरियाली और हरे नाज मे कौन-सा जादू है जिसने थोडी ही मात्रा मे दिये जाने पर भी बडे सोच-समझकर बनाये हुए रासायनिक भोजनों की कमी को पूरा कर दिया? एक प्रयोगशाला मे फाउनटेनपेन की आधी टोपी भर या ३ घन सेंटीमीटर ही दूध रोज़ देने से चुहियो की रुकी हुई बाढ और तन्दुरुस्ती उन्हे फिर से प्राप्त हो गई। वे फिर तेज़ी से फूलने-फलने लगी और उनकी संख्या भी दिन-प्रतिदिन बढने लगी। दूध की यह विशेषता उसके प्रत्यामिन और नमक निकाल देने पर भी उसमे बाक़ी रहती है। **इस विशेषता बनाए रखनेवाली वस्तु को विटामिन 'ए' कहते हैं**, जिसका ठीक-ठीक पता वैज्ञानिको को अभी तक नही चला है। यह मज्जा मे घुल जाती है और दूध, मक्खन, मलाई, मछली के तेल, अंडे की ज़र्दी और हरी तरकारियो मे भी पाई जाती है।

एक और रसायनज्ञ ने विचारा कि पूर्वी देशो मे चावल खानेवालों मे ही 'बेरी-बेरी' का रोग क्यो होता है? उसने कबूतरों को चावल और पानी ही खाने को दिया। फल-स्वरूप वे भी जल्दी ही बेरी-बेरी के शिकार बन गए। साधारणतः जो चावल खाया जाता है वह कूटा-छाँटा, छिलका निकाला हुआ और सफ़ेद होता है और यही कबूतरो को भी खिलाया गया था। रोगी कबूतरो मे से कुछ को बिना कूटा-छाँटा, छिलकेदार, लाल, कच्चा चावल खिलाया गया तो उनमे पुनः स्फूर्ति का संचार हो गया। इससे स्पष्ट हुआ कि चावल के ऊपरी छिलके मे एक ऐसा खाद्योज या विटामिन है, जिसकी उन कबूतरो को ज़रूरत थी। पानी मे घुलनेवाले **इस खाद्योज का नाम विटामिन 'बी' रक्खा गया है** और यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य और अन्य जानवरों के बढने और स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए यह ज़रूरी है। यह पदार्थ अनाज के दानो के बाहरी छिलकों के अतिरिक्त उनके अंकुरो और कुछ फलो तथा सेम और ख़मीर मे भी पाया जाता है। इसके अभाव से बेरी-बेरी को छोडकर कुछ खाल के रोग भी पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार एक और पानी मे घुलनेवाले विटामिन का

पता चला है, जो नीबू, नारंगी, टमाटर आदि ताज़ा फलो और करमकल्ले, सलाद आदि की-सी सब्ज़ियो मे पाया जाता है। दूध और ताजा मांस मे भी यह थोड़ा-बहुत मिलता है। जिन मल्लाहों को बहुत दिनों तक फल और सब्ज़ी के बिना जहाजों पर रहना पडता था उन्हें इसके अभाव से 'स्कर्वी' नामक भयकर रोग हो जाता था। **विटामिन 'सी' के पता लगने का प्रमुख कारण यही है।** और भी कई 'डी', 'ई' इत्यादि विटामिनों का परिचित भोजनों से पता चला है।

पानी—पानी साधारण वस्तुओं को शरीर मे एक जगह से दूसरी जगह ले जाने का सबसे ज़रूरी साधन है। वह हर एक जीवित कोष का भाग है, जिसके बिना वे जीवित नहीं रह सकते। इसीलिए हमे दिन भर कई गिलास पानी पीने की आवश्यकता पडती है। कुछ पानी हमको हरे फलों और शाक-भाजी से भी मिल जाता है।

अन्नमार्ग के कारख़ाने तथा उनके कर्त्तव्य

मुँह—अन्न-प्रणाली का पहला ग्रहणकारी कारख़ाना— आइए, अब हम अन्नमार्ग के कारख़ानो की ओर चलें। सबसे पहला कारख़ाना मुँह है, जहाँ भोजन चक्की की तरह कुचला और पीसा जाता है। पहले बतलाया जा चुका है कि मुख मे भोजन को चबाने से जो लार उसमे आ मिलती है उसके प्रभाव से आहार के श्वेतसार पदार्थ शक्कर बन जाते हैं। यह परिवर्त्तन लार मे उपस्थित टायलिन नामक ख़मीर से होता है। रोटी, चावल, आलू, केला, अरारोट आदि श्वेतसार इस ख़मीर के मिश्रण से दक्षिखिन और यवोज—शक्करो—का रूप ग्रहण कर लेते हैं। लार का गुण खारीपन है; क्योंकि टायलिन श्वेतसार को शक्कर मे तभी परिणत कर सकता है जब वह खारी तरल पदार्थ मे हो। परन्तु सारा निशास्ता मुँह मे इस दशा को नही प्राप्त होता। उसका एक बड़ा भाग अपनी असली दशा मे अन्नमार्ग के दूसरे कारख़ाने—पाकस्थली—मे एक गोले के रूप मे जा पहुँचता है और वहाँ ३०-४० मिनट तक उस पर लार की प्रक्रिया होती रहती है, क्योंकि इस बीच में पेट की ग्रन्थियो से निकले हुए उद्हरिकाम्ल या हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का प्रवेश नही हो पाता। लेकिन इसके बाद इतना उद्हरिकाम्ल निकलकर उससे मिल जाता है कि उसका खारीपन जाता रहता है और वह आम्लिक हो जाता है, जिससे उसकी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। परन्तु इससे पहले ही लार बहुत-कुछ अपना प्रभाव डाल चुकी होती है।

टायलिन ख़मीर का असर अधिकाश पकाए हुए श्वेतसार पर ही पडता है। बिना पके हुए पर इसका प्रभाव बहुत कम होता है। श्वेतसार या निशास्तों (कर्बोदेत) के अतिरिक्त और जो वस्तुएँ—चिकनाई देनेवाली (मज्जा) और मासवर्द्धक (प्रत्यामिन)—हम खाते हैं, उन पर लार का कोई रासायनिक प्रभाव नही पडता। वे लार से मिलकर मुलायम तो हो जाती हैं परन्तु उनका पाचन आमाशय और आँत के रसों से होता है।

आमाशय—सुविधानुकूल हो जानेवाला दूसरा विचित्र कारख़ाना—अन्नमार्ग का दूसरा सबसे बड़ा कारख़ाना आमाशय है, जिसमे भोजन ३० मिनट से लेकर ३-४ घटे या उससे भी अधिक देर तक ठहरता है। हमने क्या खाया, कितना खाया, तथा पाकस्थली की क्रियाशीलता और शरीर के अन्य भागों मे होनेवाले कर्त्तव्य आदि सभी बातें खाने के आमाशय मे ठहरने के समय से सम्बन्धित हैं। यह ऐसा अजीब कारख़ाना है, जो आवश्यकतानुसार छोटा और बड़ा होता रहता है। कम भोजन रहने पर उसकी दीवालें सट जाती हैं और ज़्यादा भोजन आने पर वे फिर फैल जाती हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि वह कारख़ाना बड़ा हो जाता है। इस कारख़ाने का कार्य विशेषतया सामग्री को तैयार करने का ही है, किन्तु यहाँ सामग्री अपनी पूर्ण अवस्था को नही पहुँचती। यहाँ ज़रूरी पाचन-क्रियाएँ तो होती हैं, लेकिन थोडे-से मद्यों और शर्करा के सिवाय अन्य वस्तुओं का शोषण बहुत कम होता है।

इस कारख़ाने मे जो रस बनता है उसमे खट्टापन होता है, क्योंकि उसमे **उद्हरिकाम्ल** (नमक का तेज़ाब) पाया जाता है। इसके अलावा आमाशय-रस में कई और ख़मीर भी रहते हैं, जिसमें से मुख्य **पेप्सिन** और **रेनिन** हैं। पेप्सिन उद्हरिकाम्ल के सहारे प्रत्यामिन—मांसवर्द्धक पदार्थों—को तोडकर पेप्टोन नामक सरल पदार्थ मे परिवर्तित कर देता है। जो अमिनोअम्ल प्रत्यामिन के अणुओ के टूटने से निकलते हैं, उनके पृथक्-पृथक् समूहो मे एकत्र होने से ही भाँति-भाँति के **प्रत्योज** और **पेप्टोन** बन जाते हैं। ये घुलनशील पदार्थ हैं और सुगमतापूर्वक आगे के कारख़ानो मे पहुँचकर शरीर मे ले लिये जाते हैं। रेनिन ख़मीर दूध को जमा देता है। यही कारण है कि दूध पीने के थोड़ी ही देर बाद भी जब छोटे बच्चे क़ै कर देते हैं तो पेट मे से दूध के क़तरे निकलते हैं। आमाशय-रस का तीसरा ख़मीर **लाइपेज़** है, जो मज्जा या चिकनाई (घी, तेल, मक्खन या दूध की चिकनाई)

का उद्श्लेषण करता है और उन्हे पिघलाकर स्वतन्त्र मज्जिकाम्ल मे बदल देता है। चिकनाइयो का भी पाचन आगे जाकर ही शुरू होता है। वे आमाशय मे बिल्कुल नही पचती।

इस अद्भुत कारख़ाने के २-३ घटे तक चालू रहने पर देखा जाय तो उसमे पचे हुए श्वेतसार से बनी हुई शक्कर, कुछ बिना पचा श्वेतसार, पचे हुए प्रत्यामिन से बने हुए प्रत्योज पदार्थ, कुछ बिना पचे प्रत्यामिन, पिघली हुई चर्बी और कुछ मात्रा में दुग्धिकाम्ल या लैक्टिक ऐसिड मिलेगा, जो कीटाणुओ द्वारा कर्बोदेत के ख़मीर से बनने लगता है। इनके अलावा भोजन का न पचनेवाला अंश—फलो और भाजियो के रेशे या चोकर और कडे छिलके—भी मिलेगे। ये सब पदार्थ आमाशय-रस मे घुले-मिले आहार-रस के रूप मे पक्काशयिक द्वार से होकर धीरे-धीरे आगे के नली के समान लम्बे कारख़ाने में पहुँचाए जाते हैं।

आँत के काटे हुए भाग का एक परिवर्द्धित चित्र, जिसमें रक्त-नलिकाएँ और दुग्ध-स्रोत भी प्रदर्शित हैं। इससे विदित होता है कि आहार-पदार्थ और वसा कैसे उनमें खिच जाते हैं।

क्लोम रस पतला, साफ़ और क्षारीय होता है। यह कैसी महत्वपूर्ण बात है कि क्लोम-रस पक्काशय मे पहुँचने पर आंत्रिक रस के मिलने के बाद ही क्रियाशील होता है। इसका कारण यह है कि जब क्लोम-रस पक्काशय मे पहुँचता है तो अम्लात्मक अधपचे खाद्य से मिलकर उसकी प्रक्रिया शिथिल हो जाती है।

क्लोम-रस मे तीन-चार तरह के ख़मीर पाये जाते है। सबसे प्रभावशाली ख़मीर **एमाइलैप्सिन—केलीलेज** है। इसका असर लार मे मिलनेवाली टायलिनन की तरह होता है। यह श्वेतसारो के बचे-बचाये भाग को, जो पक्काशय तक पहुँचता है, पचनेवाली शक्करो मे बदल देता है। दूसरा ख़मीर **ट्रिप्सिन** है, जिसके प्रभाव से आमाशय-रस के असर से बचे हुए प्रत्यामिन—मांसवर्द्धक पदार्थ—पेप्टोन का रूप धारण कर लेते है। यह भी एक रोचक बात है कि आमाशय का रस तो क्षारीयता के कारण मांसवर्द्धक पदार्थों पर असर करता है, परन्तु

आँत—सबसे बड़ा और आवश्यक कारख़ाना—इस लम्बे पेचदार नली-जैसे कारख़ाने का पहला भाग पक्काशय, दूसरा छोटी आँत और तीसरा बडी आँत है। पक्काशय नामक भाग तो आवश्यक है ही, किन्तु उसके आगेवाला भाग भी कुछ कम ज़रूरी नही। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, तीसरा भाग अथवा बडी आँत कोई ऐसा ज़रूरी नही है। आँत की श्लैष्मिक तह मे बहुत-सी पतली लम्बी-लम्बी बोतले-सी आमाशय की ही तरह सजी रहती हैं, जिनसे पचानेवाले रस निकलते हैं। इनकी क्रिया को समझने से पहले क्लोम और यकृत से आनेवाले रसों पर ध्यान देना उचित है। जब अम्लात्मक आहार-रस पक्काशय में पहुँचता है तो उसमे क्लोम, यकृत और नलिकाकार आन्त्रिक ग्रन्थियो के रस मिल जाते हैं।

यह ख़मीर उसी क्रिया को अपने खारेपन के कारण करता है। ट्रिप्सिन प्रत्यामिन का उद्श्लेषण आँत के पहले भाग मे ही करता है। दूध मे क्लोम-रस डालकर थोडी देर गर्म करने से वह जम जाता है, परन्तु फिर घुल जाता है। इस घटना का कारण ट्रिप्सिन ही बतलाया जाता है। सम्भव है कि कोई और ख़मीर भी इसका जिम्मेदार हो। इसी प्रकार क्लोम-रस दूध को भी पचाता है। क्लोम-रस का तीसरा ख़मीर **लाइपेज या स्टियेप्सिन** है, जो चर्बियों को तोडकर मज्जिकाम्ल और मधुरिन बना देता है। मज्जिकाम्ल क्षार से सयुक्त होकर साबुन बन जाता है। लाइपेज़ पानी मे नही घुलता, परन्तु मधुरिन मे घुल जाता है। यह ख़मीर क्षारीय या शिथिल माध्यम मे ठीक काम करता है। आम्लिक माध्यम मे उसकी क्रियाशीलता भंग हो जाती है। इसके

काम मे यकृत से निकलनेवाला पित्त बहुत सहायक होता है। पित्त के नमक हल्के आम्लिक माध्यम मे मज्जिकाम्ल और साबुन को भी घुला डालते हैं।

पित्त यकृत से बनकर पक्वाशय मे आ गिरता है। पित्त मे भी एक ख़मीर होता है, लेकिन आहार-रस पर पित्त का अपना कोई असर नही पडता। उसकी उपयोगिता उसमे घुले हुए नमको से होती है। ये नमक मज्जा और पानी के बीच के तनाव को कम करते हैं, जिससे ख़मीर का घोल और मज्जा का परस्पर मिलाव अधिक बढ जाता है। पित्त के नमक ख़मीर के घोलने मे भी सहायक होते हैं। पित्त में घुले हुए मज्जिकाम्ल, मधुरिन और साबुन जब आँतों की श्लैष्मिक कला मे पहुँचते हैं तो उनका फिर सश्लेषण हो जाता है और आहार-रस ख़ून मे जल्दी से मिलने योग्य हो जाता है। जब छोटी आँत मे पित्त नहीं पहुँचता तो क्लोम-रस को कठिनाई का सामना करना पडता है। खाद्य पदार्थों के आँत मे पहुँचने पर पित्त और क्लोम-रस के अतिरिक्त छोटी आँत की गिल्टियों में बननेवाला रस भी उनमे आ मिलता है। इस आन्त्रिक रस मे कई ख़मीर होते हैं जिनके कारण वह आहार-रस को भली भाँति पचाकर रक्त मे मिलने योग्य बना देता है। भोजन के पाचन की अन्तिम क्रिया इसी रस के सहारे होती है। श्वेतसारों से बनी हुई शक्कर ग्लूकोज़ के रूप मे बदलकर रुधिर मे जाने योग्य हो जाती है और मासवर्द्धक खाद्यों से बने पेप्टोन आँत के रस के प्रभाव से ख़ून मे मिलने लायक़ अमिनोअम्ल बन जाते हैं। चर्बीदार पदार्थ अम्ल और मधुरिन मे परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार सब खाद्य-सामग्रियाँ आपस मे मिलकर धीरे-धीरे छोटी आँत से बडी आँत की तरफ बढ़ती हैं और इनका सार रक्त मे खिचता जाता है और पाचन हो जाता है। इसलिए यह कारख़ाना सबसे श्रेष्ठ है।

मनुष्य की बृहत् आँत न तो बहुत छोटी ही होती है और न बहुत बडी ही होती है। इस बडी आँत मे पहुँचने पर पाचक रसों के ख़मीर कुछ समय तक बचे हुए अशों पर अपना असर डालते रहते हैं और जो सोखने लायक अंश अब भी बच रहते हैं, उन्हे बडी आँत पानी के साथ सोख लेती हैं और ठोस मल बच रहता है।

अब आपने अपने शरीर की पाचन-कल की रचना, उसके भिन्न-भिन्न पुर्जे और उनके कर्त्तव्यों को तो जान लिया। इससे आपको पता चल सकता है कि हमारा पाचन-सस्थान कैसा अजीब और गुणकारी यंत्र है जो रात-दिन, महीने-महीने और वर्ष-प्रति वर्ष अपना कड़ा काम करता रहता है। प्रायः हम अपनी वेपरवाही और अज्ञान के कारण उस पर अनुचित बोझा डालते रहते हैं। याद रखिए कि यकृत, मैदे और आँत के कारख़ानों के कारीगरों को भी अपने कठिन परिश्रम के पश्चात् कुछ विश्राम मिलना चाहिए। यदि हम दिन मे कई बार थोडा-थोड़ा खाते रहे तो आमाशय के कारीगरो को सुस्ताने का बिल्कुल ही अवसर न मिले। **कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि वे अपने कडे, लम्बे कष्ट से घबड़ाकर कभी-कभी विद्रोह भी कर दें। जिगर को थका मारना अस्वास्थ्य के मूल कारणों में से एक है।** अतः यदि आप अपने पाचन-यत्र को ठीक रखना चाहते हैं तो इन बातों को न कीजियेः—

(१) भोजन बहुत तेज़ी से कभी न कीजिए।
(२) निगलने से पहले अच्छी तरह चबाना न भूलिए।
(३) खाने के पहले बहुत ज्यादा शक्कर कभी न खाइए।
(४) दोनों वक्त के भोजनों के बीच बार-बार न खाइए।
(५) रोज़ समय पर मल-त्याग करने से न चूकिए।

मानव-शरीर के भोजन के पाचन की पूरी कहानी निम्नलिखित सूची मे संक्षेप मे फिर से दर्शाई जा रही है·—

अन्नमार्ग के कारखाने	पाचक रस	पाचक रसों की प्रक्रियाएँ
मुँह	लार (क्षारीय)	कुछ श्वेतसार शर्करा में बदल जाते हैं
आमाशय	आमाशय रस (आम्लिक)	प्रत्यामिन टूटकर पेप्टोन और प्रत्योज बनते हैं, दूध जम जाता है; शर्करा साधारण चीनियो मे बदल जाती है
छोटी आँत	क्लोम-रस (क्षारीय)	प्रत्यामिनों को अधिक साधारण बनाता है, दूध को पचाता है।
	पित्त (क्षारीय)	चिकने आहारों को साबुन मे बदल देता है और श्वेतसार
	आंत्रिक रस (क्षारीय)	को अंगूर की शक्कर मे परिणत कर देता है।
बड़ी आँत	एक क्षरण	मुख्य रूप से तेल देना। पानी सोख लिया जाता है और कीटाणुओं द्वारा रासायनिक परिवर्त्तन होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आर्थिक स्वदेशहित—(१)

इस लेख का आकार बढ़ा होने के कारण हम इस अंक में इसका आधा भाग ही प्रकाशित कर रहे हैं, शेषांश अगले अंक में प्रकाशित होगा।

इतिहास की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म बहुत प्राचीन काल में हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उल्लेख ईसा से पूर्व के युग में भी पाया जाता है। इस समय मे अधिकांश व्यापार पूर्वीय देशों के हाथ मे था, जिनमे भारतवर्ष तथा चीन प्रमुख थे। उस समय का व्यापार आजकल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बहुत अंशो मे भिन्न था। उन दिनों का अतर्राष्ट्रीय व्यापार अधिकांश मे भोग-विलास की सामग्री तक सीमित था। दूसरी विशेषता यह थी कि उत्पादन करनेवाले देश केवल अपने ही देश का कच्चा माल वस्तुओं के उत्पादन के काम मे लाते थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे इन दोनों ही विशेषताओ का बड़ा महत्त्व माना गया है।

प्रत्येक देश मे व्यापार के दो प्रमुख पदार्थ-समूह होते हैं। एक तो जनसाधारण के उपयोग के पदार्थ जिनका व्यय बडी संख्या मे होता है और दूसरे वे पदार्थ, जिनको केवल देश के गिने-चुने धनवान् लोग तथा राजपरिवारवाले अपने भोग तथा मान-प्रदर्शन के लिए खरीदा करते है। जैसा ऊपर बतलाया गया है, प्राचीन काल का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अधिकतर दूसरी श्रेणी के पदार्थों तक सीमित था। इस समय तक मशीनो द्वारा उत्पादन-कार्य नही होता था। यह भी कह सकते हैं कि उस समय तक आज-जैसे उत्पादित पदार्थ केवल गिने-चुने थे। अधिकाश मे व्यापार प्रकृति द्वारा पैदा होनेवाले पदार्थों तक ही बहुत अश मे सीमित था। भारतवर्ष का मसाला (Spices), जैसे मिर्च, धनिया, इलायची, लौंग, काली मिर्च इत्यादि, योरप-जैसे सुदूर प्रदेशो को जाता था। इस प्रकार की व्यापार-सामग्री बहुधा ऐसी होती थी जो दूसरे देशों मे पाई ही नहीं जाती थी। मनुष्य की कला द्वारा उत्पादित पदार्थ भी ऐसे होते थे जिनके बनाने का कच्चा माल उन्हीं देशों मे पैदा होता हो, जैसे भारतवर्ष का बना हुआ कपड़ा। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस समय तक स्वदेशी आर्थिक उत्पादन को कोई हानि नही पहुँचाता था। बल्कि एक दृष्टि से तो वह नवीन पदार्थों को प्रस्तुत करके उस देश के निवासियों की सेवा भी करता था।

आर्थिक प्रतिद्वद्विन्ता का प्रश्न उपरोक्त प्रकार की व्यापारिक व्यवस्था मे उठता ही नही था। देश के कारीगर पूर्ववत् उत्पादन-कार्य मे संलग्न रहते थे और फलतः देशवासियो को बेकारी का सामना नहीं करना पडता था। विदेशी माल के विरोध मे कोई आन्दोलन इसलिए नही उठता था कि उस प्रकार का माल स्वदेश मे बनता ही नही था अथवा बन ही नही सकता था और ऐसी अवस्था मे उसको विदेशों से मोल लेने के अतिरिक्त कोई और उपाय ही नहीं था। केवल अपने देश मे पैदा होनेवाले कच्चे माल द्वारा बने हुए पदार्थों का ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्रयोग होने से प्रत्येक देश के निवासियों को अपने-अपने देश के कच्चे माल का लाभ उठाने की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा सुविधा थी। यह भी कह सकते है कि उस समय का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्राकृतिक सम्पत्ति पर निर्भर था। प्राकृतिक सुविधाएँ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मूलमंत्र थीं। ऐसी दशा मे देश मे बेकारी बढ़ने की सम्भावना कम थी। यदि कोई देश अपनी आवश्यकता से अधिक पदार्थ बना लेता तो बचे हुए पदार्थ अन्य देशो

को भेज देता और इसी प्रकार अन्य देशों का बचा हुआ माल अपने देश को मॅगवा लेता। इस प्रकार माल बेचनेवाले देश को बचे हुए माल के दाम अपने देश की अपेक्षा अधिक मिलते थे, क्योंकि यहाँ उसकी बहुतायत होने से उसका मूल्य गिर जाता, परन्तु अन्य देश मे नवीन पदार्थ होने के कारण उसका मूल्य अच्छा मिलता था।

इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार स्वदेशवासियों के भोग से बचे हुए पदार्थ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के काम में आने तथा अपने ही देश के कच्चे माल से व्यापार-पदार्थ-उत्पादन होने के कारण उस युग मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत कुछ सकुचित तथा सीमित रहा। परन्तु इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वैदेशिक प्रतिद्वन्द्विता, कलह तथा विरोध उत्पन्न होने की सम्भावना नही थी। अर्थशास्त्र का यह मन्तव्य कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा दोनों देश (बेचनेवाला देश तथा मोल लेनेवाला देश) लाभ उठाते हैं" पूर्णतया उन दिनों चरितार्थ था। इस प्रकार का सुखमय तथा शान्तिपूर्ण व्यापार कई शताब्दी तक चलता रहा। तब चौदहवी और पद्रहवी शताब्दी के राजनीतिज्ञो तथा अर्थशास्त्रज्ञो की एक नई धारणा यह हुई कि सोना तथा चॉदी देश के लिए एक लभ्य धातु हैं। यह धारणा इतनी प्रबल हुई कि किसी देश की आर्थिक उन्नति का माप उस देश के सञ्चित सोने तथा चॉदी के ढेर से ही किया जाने लगा। इस धारणा के विद्वानो को अर्थशास्त्र के इतिहासज्ञ 'मर्कन्टाइलिस्टस्' (Mercantilists) के नाम से पुकारते है, क्योकि उनकी विचारधारा तथा धारणा का मुख्य भार वाणिज्य पर था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर इस विचारधारा का बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। देश मे सोने तथा चॉदी को संचित करने के लिए निम्नलिखित नीति का पालन करना आवश्यक प्रतीत हुआ—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्रत्येक देश अपने देश के उत्पादित पदार्थ अधिक-से-अधिक संख्या मे बेचे और दूसरे देश के उत्पादित पदार्थ कम-से-कम सख्या मे मोल ले, जिससे देश के अन्य देशों को बेचे गए पदार्थ और देश द्वारा मोल लिये गए पदार्थों का अन्तर अधिक-से-अधिक हो और उसके परिणामस्वरूप देश को अन्य देशो से बहुमूल्य धातुएँ अधिकाधिक मूल्य की मिल सकें। इस प्रकार के नियम को 'स्वदेशानुकूल-व्यापार-अवशेष' (favourable balance of trade) की नीति के नाम से पुकारते हैं।

(२) कुछ देशों मे लभ्य पदार्थों की कमी से यह सम्भव नही था कि वे देश केवल पदार्थो के बल पर स्वदेशानुकूल-व्यापार-अवशेष की नीति को सफल कर सकें। ऐसे देश पदार्थ-बिक्री की कमी को अन्य सेवाओं द्वारा पूरा करने की चेष्टा करते हैं। सरल शब्दों मे यह भी कह सकते हैं कि ऐसे देश उत्पादित पदार्थो के बदले अपने मजदूरो की सेवा तथा अपने रुपये का व्याज आदि बेचकर पदार्थ-विनिमय की कमी को पूरा करते हैं। इसका एक बडा उदाहरण इङ्गलैंड के इतिहास से मिलता है। इङ्गलैंड-निवासी पदार्थों के अतिरिक्त जहाज़-कम्पनियों की सेवा, बीमा-कम्पनियों की सेवा, एवं बैंकों की सेवा प्रदान कर तथा अपने पूर्व-सञ्चित धन को उधार देकर उसके सूद अथवा मुनाफे द्वारा पदार्थ-विनिमय की कमी को पूरा करते हुए अपने देश से बहुमूल्य धातुओं को बाहर जाने से रोकते हैं। इस प्रकार अनुकूल-व्यापार-अवशेप को सुधारने के लिए इन सेवाओं की बिक्री की जाती है, जिसके फलस्वरूप 'अनुकूल-निस्तार-अवशेष' (favourable balance of payment) की लभ्य अवस्था प्राप्त होती है। वास्तव मे तात्पर्य तो यही है कि देश मे सोना तथा चॉदी अन्य देशो से आकर सचित होता रहे और अपने देश का सोना-चॉदी बाहर देशों को न जाने पाए। इस अवस्था को बनाये रखने के लिए ही अनुकूल-व्यापार-अवशेष की नीति का पालन किया जाता है। इस प्रकार अनुकूल-निस्तार-अवशेष ध्येय है और उसका एक साधन अनुकूल-व्यापार-अवशेष की नीति है।

(३) उपरोक्त नीति का आधार इस धारणा पर है कि व्यापारमंडल के देश निश्चित हैं। अनुकूल-व्यापार-अवशेष को लागू करने के लिए दूसरा उपाय यह था कि वर्त्तमान व्यापार-मण्डल के बाहर के देशों से व्यापारिक संसर्ग स्थापित किया जाय और व्यापार-मण्डल के देशों तक सीमित व्यापार मे प्रतिकूल-व्यापार-अवशेष (unfavourable balance of trade) की पूर्त्ति नये देशों से व्यापार द्वारा की जाय। इस नीति का लक्ष्य भी अनुकूल-निस्तार-अवशेष की स्थापना करना था।

(४) वर्त्तमान पदार्थो के अतिरिक्त अन्य नवीन पदार्थ बनाये जायँ जो मानव समाज के लिए उपयोगी हों। इस प्रकार विज्ञान और कला के सहारे नये पदार्थों का उत्पादन कर उनका व्यापार किया जाय, जिसके द्वारा देश मे सोने तथा चॉदी का सञ्चय हो।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इतिहास मे चौदहवी शताब्दी से आज तक इसी नीति के पालन करने के प्रयत्न दिखाई

देते हैं। इस धनलोलुप नीति को छिपाने के लिए राजनीतिज्ञों ने कहीं-कहीं यह प्रयत्न किया कि इस नीति को किसी अन्य आदरणीय सिद्धान्त की ओट में चलाया जाय अथवा ऐसे सिद्धान्त का प्रचार किया जाय जो बाहरी रूप से तथा तर्कसम्मत दृष्टि से सराहनीय प्रतीत हो, परन्तु उसका परिणाम स्वदेशहित के अनुकूल ही हो।

कहीं-कहीं ऐसे अन्य उपायों का भी प्रयोग किया गया जिनका दिखावटी सम्बन्ध दूसरी बातों से हो, परन्तु उनका अदृश्य फल यह हो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रूप ऐसा परिवर्तित हो जाय कि स्वदेश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिक लाभ हो।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास तथा विस्तार इसी कूटनीति का एक खिलौना है। उपरोक्त नीति का पालन किसी विशेष क्रम से नहीं हो सका। कहीं-कहीं कई नीतियों का पालन एक साथ ही हुआ। भिन्न-भिन्न देशों में नीति का क्रम अपने-अपने देश की अवस्था तथा आवश्यकता के अनुसार होता रहा।

पहले बतलाया जा चुका है कि पूर्वकाल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में केवल बहुमूल्य पदार्थ तथा मसाले के छोटे-छोटे फल, जैसे मिर्च, लौंग, इलायची इत्यादि, विशेष महत्व रखते थे। प्राकृतिक पैदावार ही एक देश से दूसरे देश को भेजी जाती थी। फसल कटने के बाद अवकाश के समय में देश के कुशल कारीगर अपने ही देश में उत्पादित कच्चे माल से सुन्दर-सुन्दर छोटे-छोटे सामान्य उपयोग के तथा राजगृहों के सजावट इत्यादि के पदार्थ बनाते रहते थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्राकृतिक पैदावार के साथ-साथ इनका भी व्यापार होने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल हलके, बहुमूल्य और थोड़े पदार्थों तक सीमित इसलिए रहा कि उत्पादन की कमी के साथ-साथ उनको अन्य सुदूर देशों में ले जाना कष्टमय, भयप्रद तथा बहुत खर्च की बात थी। डाक्टर मार्शल ने लिखा है कि उस समय के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग दुर्गम तथा कष्टप्रद होते हुए भी कामदानी, कारचोब के बढ़िया कपड़े तथा रत्नजटित पदार्थ, फौलाद के सुन्दर शस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ और धातु के बने हुए पदार्थ, जिनमें धातु की अपेक्षा शोभा या सुन्दरता अधिक होती थी, ले जाने के लिए वे खुले रहते थे।

मर्कन्टाइलिस्टों के मत के अनुसार पहली चेष्टा यह हुई कि देश का निर्यात बढ़ाया जाय। देश के निर्यात बढ़ाने की युक्तियों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। कोई देश अपने पदार्थ अधिक संख्या में तभी बेच सकता है जब उनका मूल्य कम हो। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कठिनाइयों द्वारा व्यापारिक पदार्थों के दाम बहुत बढ़ जाते थे और इसलिए उपयोगी होते हुए भी उनकी बिक्री बहुत संकुचित रहती थी। उनका मूल्य घटाने के केवल दो ही उपाय थे—एक तो यह कि उत्पादन का खर्च कम किया जाय और दूसरे यह कि उनके ले जाने का खर्च कम हो। उस समय तक मशीनों का आविष्कार नहीं हुआ था इसलिए कारीगर न तो थोड़े समय में बहुत-से पदार्थ बना सकते थे और न प्रति पदार्थ कारीगरों की संख्या ही घटाई जा सकती थी। कच्चे माल के उत्पादन-खर्च के घटने का कोई प्रश्न ही न था। इस प्रकार व्यापारियों ने पदार्थ को यहाँ से वहाँ ले जाने का खर्च घटाने की बात पर अधिक ध्यान दिया। इसमें हालैण्ड के व्यापारी अग्रसर हुए। हालैण्ड के समुद्री व्यापार के यातायात के क्षेत्र में अगुआ होने के पहले योरप का सारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केन्द्र वेनिस था। हिन्दुस्तान तथा पूर्वी देशों के जहाज़ अपना सामान वेनिस में उतारते और वहाँ से भूमार्ग द्वारा वे पदार्थ समस्त योरप में पहुँचाये जाते और वहाँ का माल वेनिस द्वारा सुदूर देशों को भेजा जाता। हालैण्ड ने अपने खेती तथा उद्योग द्वारा उत्पादित पदार्थों के व्यापार के साथ-साथ वणिज्य का कार्य भी प्रारम्भ किया। इस व्यापार में हालैण्ड के नाविकों ने प्रमुख भाग लिया। वास्तव में इसी युक्ति का अनुसरण २०० वर्ष बाद इङ्गलैण्डवालों ने किया और अपनी वर्त्तमान व्यापारिक उन्नति प्राप्त की। जलमार्ग से व्यापार के पदार्थ ले जाने में खर्च कम पड़ता था। समुद्र के संकटों से बचने और बहुत बड़ी संख्या में पदार्थों को ले जाने के लिए बड़े-बड़े जहाज़ बनाए जाने लगे। इसके लिए बहुत धन की आवश्यकता हुई और उसकी पूर्ति के लिए कई नाविक कम्पनियों ने परस्पर सहयोग से काम लिया। सहयोगिक कम्पनियों (Joint Stock Companies) का जन्म भी इसी प्रकार हुआ। इन नाविक कम्पनियों के उद्योग के दो मुख्य फल हुए। एक तो हालैण्ड का सामान पहले की अपेक्षा सस्ते दाम पर अन्य देशों में बेचा जा सकता था। दूसरे हालैण्ड संसार के बहुत-से देशों के बने हुए माल का विक्रेता हो गया। जहाज़-कम्पनियाँ भिन्न-भिन्न देशों से पदार्थ एकत्रित करतीं और दूसरे देशों में ले जाकर बेचतीं। वाणिज्य-व्यापार का लाभ तथा जहाज़ों का भाड़ा ये दोनों ही हालैण्डवासियों को

मिलते। इस प्रकार अनुकूल-व्यापार-अवशेष प्राप्त करने की उपरोक्त दो नीतियों का हालैण्ड ने साथ-साथ पालन किया।

हालैण्ड की आर्थिक उन्नति ने दूसरे देशों का ध्यान भी इस युक्ति की ओर आकर्षित किया। समुद्रीय मार्ग मे इसका अनुसरण करनेवाला दूसरा देश पुर्त्तगाल था। पुर्त्तगाल के नाविकों ने भी अपूर्व साहस से काम लिया और हालैण्ड के व्यापार में हिस्सा बॅटाने की चेष्टा की। अपरिचित समुद्र-मार्गों पर सुदूर यात्रा करनेवालो और नये देशों से सम्पर्क स्थापित करनेवालों मे पुर्त्तगाल के दो महानाविकों के नाम आज तक सुविख्यात हैं। इनमे से पहला कोलम्बस था, जिसने १४८५ मे अमेरिका भूभाग को ढूॅढा और पुरानी दुनिया से इस बड़े भूभाग का सम्पर्क स्थापित किया। दूसरा नाविक वास्को-डि-गामा था, जो १४९८ मे भारतवर्ष आया था। ये दोनों भारतवर्ष के अथाह सोने के भण्डार को ढूॅढने तथा व्यापार द्वारा उसे अपने देश को ले जाने की चेष्टा से चले थे। यात्रा का मार्ग अनिश्चित होने से भ्रमण करते-करते ये नये देशों में पहॅुच गये थे। इस प्रकार ढूॅढे हुए नए देशो से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया गया और इसके द्वारा तीसरी नीति का पालन हुआ।

हालैण्ड और पुर्त्तगाल के उदाहरण से इॅगलैंड ने भी जहाज़ की कम्पनियाॅ खोलीं और ससार के वाणिज्य-व्यापार मे, माल ढोनेवालो के रूप मे भाग लिया। सोलहवी और सत्रहवीं शताब्दी का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसी नियम पर चलता रहा। इस समय तक व्यापार-सफलता केवल पदार्थ ले जाने के ख़र्च की मात्रा पर निर्भर थी, क्योंकि अभी तक पदार्थ बनाने मे मूल्य की कमी करने के उपाय नही निकल पाए थे। व्यापार प्रतिद्वन्द्विता केवल जहाज़ की कम्पनियो की प्रतिद्वन्द्विता थी, जिनको सफल बनाने के लिए वहाॅ के राष्ट्र भी पूरी सहायता देते थे। बड़ी-बड़ी जहाज़ की कम्पनियाॅ स्थापित हुईं, जिनमे जनसधारण के अतिरिक्त राज्य भी धन से सहायता करता था। इनमे कुछ कम्पनियाॅ तो राष्ट्राधीन ही होती थीं।

वाणिज्य-व्यापार की प्रतिद्वन्द्विता बढने से इन जहाज़-कम्पनियों ने भिन्न-भिन्न देश के व्यापारियों को अपने अधीन रखने के लिए उन्हें धन उधार देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार उपार्जित धन को सूद पर देकर ये अतिरिक्त धन भी कमाती और ऋणी व्यापारियों का सामान भी उनके जहाजों को ढोने के लिए मिलता रहता। कहीं-कहीं पर इन विदेशी जहाज-कम्पनियों ने अपने देशवासियों द्वारा सुदूर देशों में व्यापार-कम्पनियाॅ भी खुलवाईं, जो वहाॅ के देश का बना हुआ अथवा कच्चा माल अपने देश की जहाज-कम्पनियों द्वारा बाहर भेजतीं और इन जहाज-कम्पनियों द्वारा लाया हुआ माल उस देश में बेचतीं। ये नवीन विदेशी कम्पनियाॅ अपने देशवासियों से धन लेकर इन देशों में वाणिज्य-व्यापार करतीं और अपने देश का व्यापार बढाने की चेष्टा करती। इस प्रथा के चलने पर देश के व्यापारियो के लाभ के लिए एक और मार्ग बन गया और मर्कन्टाइलिस्टो की इच्छापूर्ति के लिए इस नई नीति का भी उपयोग किया गया। इस समय की 'साउथ सी कपनी', जो दक्षिणी अमेरिका में व्यापार करती थी, अथवा 'ईस्ट इडिया कपनी', जो भारतवर्ष में व्यापार करती थी, नामक कम्पनियाॅ विशेषकर उल्लेखनीय हैं।

देशी व्यापारियों को धन उधार देने की प्रथा के चलने के बाद विदेशी महाजनों ने इन देशों मे जाकर वाणिज्य-व्यापार के साथ-साथ बैंक का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। इसी व्यापार के द्वारा ससार के लगभग सब देशों मे यहूदी लोग अपना धन लेकर पहॅुच गए और क्रमशः उस देश के व्यापार-व्यवसाय पर अधिकार जमाने लगे। केवल यही नहीं, इन विदेशी महाजनों ने व्यापारियो तथा कारीगरों को धन देकर उत्पादन-क्षेत्र मे भी प्रभुत्व स्थापित किया और इस प्रकार वहाॅ के आर्थिक क्षेत्र में भी बहुत-कुछ इन विदेशियों का प्रभाव पड़ा। कभी-कभी बैंकों द्वारा उस देश के सिक्के का मूल्य अन्य देशों के सिक्कों की मात्रा मे घटा-बढ़ाकर अपने देश का पदार्थ-व्यापार बढाया गया।

सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दी मे लगभग ५० वर्ष तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे जहाज़-कम्पनियों की प्रतिद्वन्द्विता एव देशी व्यापारियों पर प्रभुत्व-स्थापना करने और उन्हें अपना मित्र अथवा अधीन बनाए रखने की नीति द्वारा तथा अपने देश के व्यापार-वाणिज्य तथा जहाजों का भाड़ा, उधार दिए हुए धन का सूद, देश के व्यापार मे लगे हुए धन के लाभ आदि द्वारा ही अनुकूल-व्यापार-अवशेष बनाये रक्खे जाने की चेष्टा होती रही। तब अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल के लगभग इङ्गलैण्डवालों ने पदार्थ-उत्पादन के लिए मशीनो की सहायता लेने की युक्ति निकाली, जिससे सारे आर्थिक क्षेत्र मे क्रान्ति प्रस्तुत हो गई, जिसका प्रभाव अतर्राष्ट्रीय व्यापार पर सबसे अधिक पडा। अगले लेख मे हम इसी की कहानी आपको सुनाएॅगे।
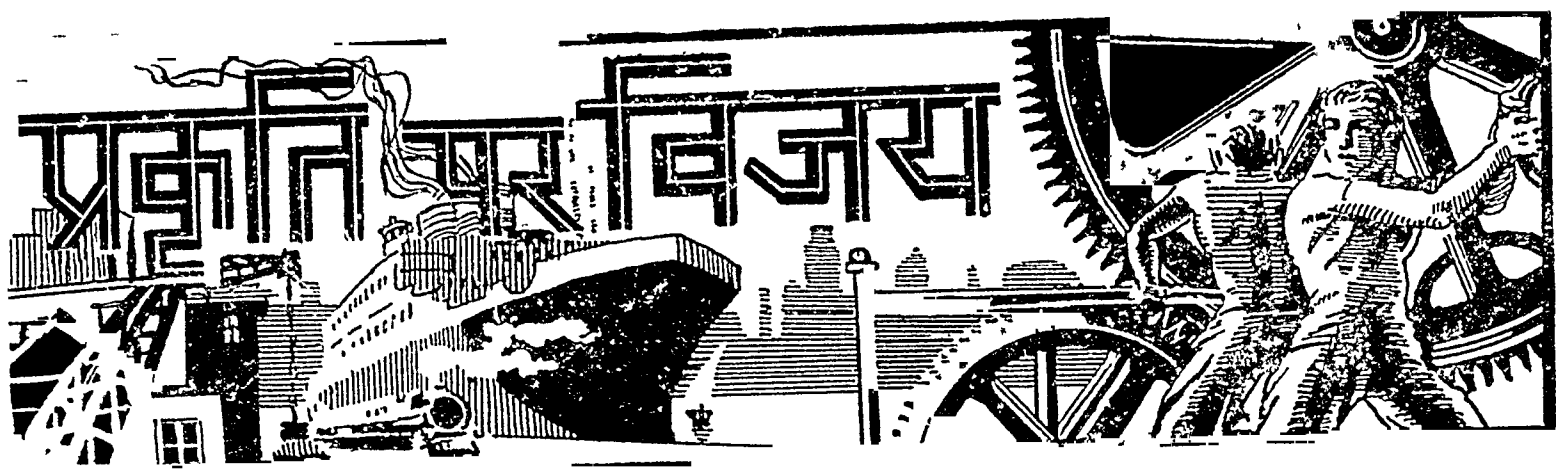
धरती पर विजय—(७) कृत्रिम जलमार्ग या नहरें

स्वेज़ और पनामा नहरों की कहानी

वायु, जल और स्थल पर विजय प्राप्त करनेवाला वैज्ञानिक अपने यातायात के साधनों को उत्तरोत्तर परिष्कृत करता रहा। रास्ते मे मीलो लम्बी नदी आ आ गई तो ऊँचा पुल बनाकर उसे पार किया, सामने पहाड आ गया तो उसे काटकर सुरंग बना ली, और इस प्रकार आगे बढ़ने के लिए रास्ते का निर्माण कर लिया। समुद्र मे यात्रा करते समय यदि किसी स्थान पर स्थलडमरूमध्य आ गया तो उसे भी काटकर अपने लिए इस पार से उस पार जलमार्ग बना लेने की हविस को आधुनिक युग का मानव रोक न सका।

आज से पचास वर्ष पहले भी यदि किसी विचारशील व्यक्ति से पूछा जाता कि भूमण्डल पर जलमार्ग की सहूलियत के लिए वह किन-किन स्थानों पर भूमिखण्ड को काटकर नहर बनाना चाहेगा तो निस्सन्देह सबसे पहले उसकी उँगली स्वेज़ और पनामा के पतले भूमिखण्डो पर पड़ती। स्वेज़ के जलमार्ग के न खुले होने से योरप के जहाज़ों को भारत आने के लिए 'केप आफ गुड होप' का चक्कर लगाना पडता था—इस प्रकार ४००० मील लम्बा रास्ता उन्हे व्यर्थ ही तय करना पड़ता। अटलाण्टिक से पैसिफिक महासागर मे जानेवाले जहाज़ों को भी 'केप आफ हार्न' होकर पूरे दक्षिणी अमेरिका के समुद्र-तट का चक्कर लगाना पडता था। इस प्रकार उन्हें लगभग ८००० मील की दूरी व्यर्थ मे तय करनी पड़ती।

स्वेज़ को काटकर कृत्रिम जलमार्ग तैयार करने की योजना आज से ३२४० वर्ष पहले मिस्र के तत्कालीन बादशाह रामसेज़ के मस्तिष्क मे भी आई थी! उसकी योजना थी कि स्वेज़-स्थलडमरूमध्य में स्थित कड़वी झील तक लालसागर से एक नहर खोदी जाय, फिर इस झील का सम्बन्ध एक नहर द्वारा नील नदी से स्थापित कर दिया जाय। इस बात का उल्लेख मिलता है कि उसने अपनी यह योजना कार्यान्वित भी की, किन्तु कुछ कारणो से वह इसे पूरी न कर सका। इराक़ मे दजला और फरात की घाटियों मे ईसा से १००० वर्ष पूर्व लोगो ने सीधी नहरे बना ली थीं। पहली-दूसरी शताब्दी तक ये नहरे सिंचाई तथा आने-जाने के काम के लिए प्रयोग मे आती रही थीं। इन नहरों के पेंदे और किनारों पर ईंटे जडी हुई थीं—तत्कालीन जलसेना के बेडे इन नहरों के रास्ते एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जाते थे।

मिस्र के बादशाह टालमी द्वितीय (ईसा से २६० वर्ष पूर्व) के समय में एक नहर द्वारा नील नदी का लालसागर से पहली बार सम्बन्ध स्थापित हुआ। यह नहर ३७ मील लम्बी थी—इसकी चौडाई १०० फीट और गहराई ४० फीट थी। यद्यपि टालमी के उपरान्त अन्य बादशाहों ने इस नहर को चौडा भी कराया, किन्तु इस नहर मे से होकर यात्री और माल ढोनेवाले जहाज़ आसानी के साथ आ-जा न सकते थे। फिर दसवी शताब्दी तक नील नदी की बाढ़ की मिट्टी से नहर का बहुत-कुछ हिस्सा एकदम पट गया।

तदुपरान्त सदियों तक इस योजना की ओर किसी का ध्यान नही गया। सन् १७९८ मे नेपोलियन बोनापार्ट ने स्वेज़ नहर के निर्माण के उद्देश्य से अपने इञ्जीनियरों द्वारा इस प्रदेश की पैमायश भी कराई। किन्तु उसके इञ्जीनियरों ने कुछ अधिक आशाजनक रिपोर्ट न दी। साथ ही अंग्रेजों ने स्वेज़-स्थलडमरूमध्य पर अपना अधिकार जमाकर नेपोलियन के इरादे को मिट्टी में मिला दिया। फिर अंग्रेज़ों ने भी उक्त योजना के महत्त्व को आँका। दिन-दूने-रात चौगुने बढते हुए भारत-साम्राज्य और इङ्गलैण्ड का नाता
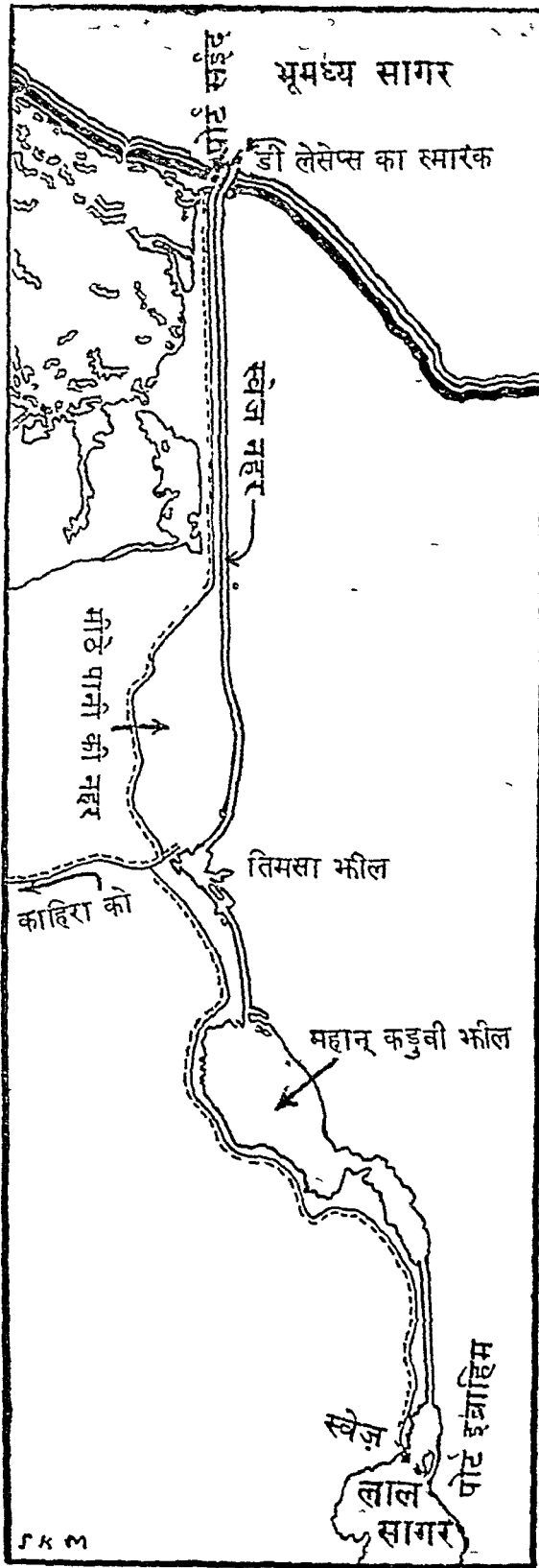
स्वेज़-नहर का मानचित्र

भूमध्यसागर और लालसागर के बीच के इस स्थलडमरूमध्य को, जो अफ्रीका और एशिया महाद्वीपों को जोड़ हुए हैं, काटकर लगभग १०० मील लंबी नहर बना ली गई है, जिससे समुद्री मार्ग से पूर्वी एशिया से योरप का फ़ासला मानों ४००० मील कम हो गया है !

धीरे-धीरे दृढ़ हो रहा था। इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि इङ्गलैण्ड के जहाज़ जल्दी-से-जल्दी बम्बई और सूरत के बन्दरगाहों तक पहुँच जाया करें। इस ज़रूरत को पूरी करने के लिए १८५७ मे काहिरा से स्वेज तक एक रेलवे लाइन का निर्माण किया गया। किन्तु रेलगाडी केवल सवारी और डाक ढोने के काम में आती थी। हज़ारों टन तिजारती माल का ढोना इसके बूते के बाहर ही था।

इसी दर्मियान काहिरास्थित फ्रेञ्च राजदूत फर्डिनेन्ड-डी लेसेप्स ने स्वेज़-नहर की योजना को कार्य्यान्वित करने के उद्देश्य से १८५४ मे मिस्र के वायसराय सईद पाशा से आज्ञापत्र भी प्राप्त कर लिया। सईद पाशा ने डी लेसेप्स को, उस स्थान से जो अब पोर्ट सईद कहलाता है, तिमसा झील और कड़ुवी झीलों से होकर स्वेज़ तक नहर बनाने की इजाज़त दी थी। डी-लेसेप्स ने पैमायश करके यह मालूम कर लिया था कि लालसागर तथा भूमध्यसागर दोनो में पानी की सतह एक-सी ऊँचाई पर है। किन्तु बीच के प्रदेश मे मीठा पानी कहीं लभ्य न था, और कड़वी झील के पानी की सतह समुद्र की सतह से ३७ फीट नीची थी। अतः इस स्कीम के विरोधियों ने यह प्रचार करना आरम्भ किया कि यदि यह नहर खुदी तो मिस्र का सारा भूप्रदेश जलमग्न हो जायगा। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने डी-लेसेप्स की स्कीम पर नाक भौं सिकोड़ा। उनका कहना था कि पूर्व में अपनी स्थिति मज़बूत बनाने के लिए फ्रान्सीसियो ने यह चाल खेली है। अतः ब्रिटन ने इस स्कीम को कार्यान्वित करने मे तनिक भी सहयोग नहीं दिया और न नहर-निर्माण करनेवाली कम्पनी से एक पैसे का शेयर ही ख़रीदा। बेचारे फ्रान्सीसी सौदागर, किसान तथा आम जनता ने यथाशक्ति शेयर ख़रीदे, किन्तु आवश्यक रक़म ये लोग भी जमा न कर पाये। धन की कमी के कारण यह कम्पनी उलटने ही वाली थी कि सईद पाशा ने बहुत-से शेयर ख़रीदकर यह कमी पूरी कर दी।

सईद पाशा द्वारा दिए गए आज्ञापत्र मे एक यह भी शर्त्त थी कि मिस्र की सरकार की ओर से आवश्यकतानुसार संख्या मे कुली जुटाए जायँगे। वहाँ के मूल-निवासियों को सरकार मजबूर कर सकेगी कि वे नहर की खुदाई पर काम करें। १८५६ मे खुदाई का काम आरम्भ होते ही सईद पाशा ने ८००० मज़दूर नहर पर काम करने के लिए भेजे। सबसे पहले नील नदी वाली पुरानी नहर साफ की गई, ताकि इसके द्वारा पीने के लिए मीठा पानी भीतर पहुँचाया

जा सके। ६ फीट गहरी और ४० फीट चौड़ी मीठे पानी की इस नहर के तैयार हो जाने के बाद पत्थर, चूना, गारा, लोहा आदि अन्य सामान ले जाने का काम भी इसी नहर से लिया जाने लगा।

मुख्य नहर खोदने के पहले नहर के मुहाने पर भूमध्यसागर मे दो मज़बूत दीवाले (ब्रेकवाटर) एक ७००० फीट लम्बी और दूसरी ६००० फीट लम्बी तैयार की गई, ताकि समुद्र की लहरो का ज़ोर नहर के मुहाने पर कम हो जाय। समुद्र की ओर इन दोना दीवालो के बीच का फासला कम है। ज्यो-ज्यो किनारे की ओर ये दीवाले बढती हे, इनके बीच का फासला भी अधिक होता जाता है। आस-पास कही पर पत्थर लभ्य न थे, अतः बीस-बीस टन वज़न के कन्क्रीट सीमेन्ट के ढाके समुद्र-तट पर ही तैयार किए गए। फिर इन्हे जहाज़ पर से समुद्र म डाल देते। इस प्रकार २ लाख ५० हज़ार टन के ढोके समुद्र मे डालकर ये दोनों 'ब्रेकवाटर' तैयार किए गए। इनकी लम्बाई सवा मील से ऊपर पहुँचती है। इनका निर्माण ही स्वतः एक भारी ख़र्च का काम था। बावजूद अनेक कठिनाइयों के नहर की खुदाई का काम भर्ती किये गए मज़दूरो की मदद से १८६३ तक चलता रहा। किन्तु उसी वर्ष सईद पाशा की मृत्यु हो गई। नये वाइसराय इस्माइल पाशा नहर की स्कीम के प्रति उतने उत्साही न थे, फलस्वरूप नहर की कम्पनी और पाशा के बीच अनेक झगड़े उठ खडे हुए। झगड़े का निबटारा इस प्रकार हुआ कि पाशा ने अपने तमाम मज़दूरो को नहर के काम से वापस बुला लिये, और इसके बदले मे उन्हे ३० लाख पौण्ड अदा करने पडे।

सस्ती मज़दूरीवाले कुलियों के हट जाने से डी-लेसेप्स के सामने एक भारी कठिनाई आ खडी हुई। अब तक फावडे की मदद मे मिट्टी खोदी जाती थी और हज़ारो की सख्या मे मज़दूर उसे टोकरियो मे भरकर फेकते थे। किन्तु अब सिवाय मशीनों का अवलब लेने के डी-लेसेप्स के पास अन्य कोई चारा न रह गया। निदान दुनिया के कोने-कोने से उसने क्रेन, ड्रेजर और एक्सकेवेटर मँगाए। वही रेगिस्तान पर रेल की हलकी पटरियाँ बिछायी, और लाइट-ट्रेन पर इन विशालकाय मशीनों के पुर्ज़े खुदाई के स्थान पर ले आए गए तथा वही विशेषज्ञ मिस्त्रियों ने उन्हे फिट किया। ये ड्रेजर नहर के पेटे से मिट्टी सुड़ककर दोनों किनारों पर उसे बाँध के रूप में जमा कर देते। लगभग ३००
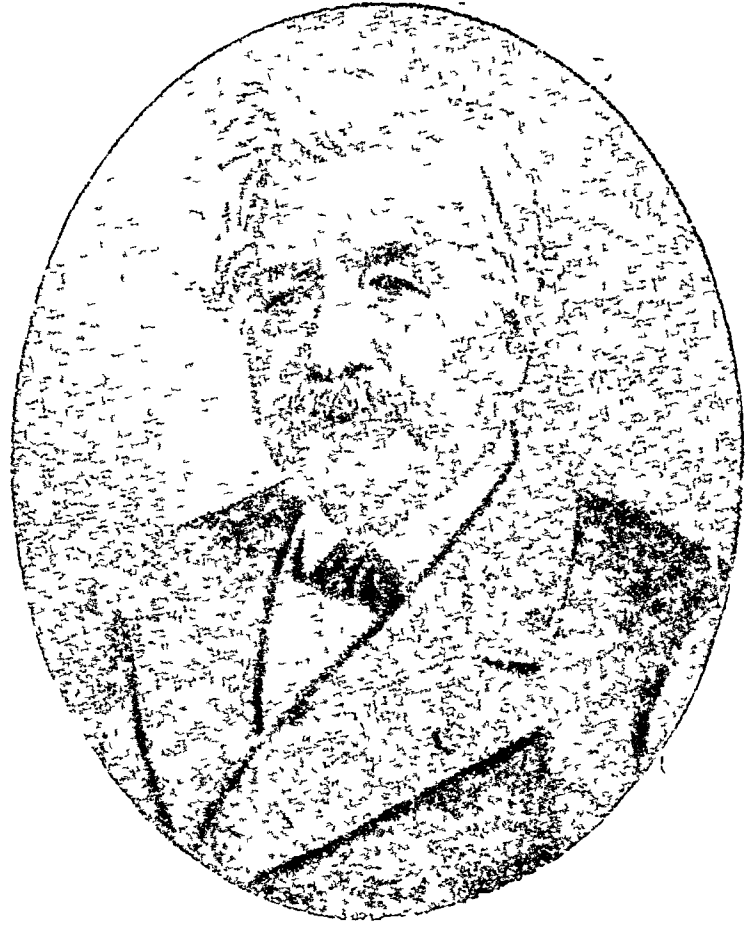
स्वेज़-नहर के पश्चिमी मुहाने पर स्थित पोर्ट सईद बंदरगाह पर इस नहर के निर्माता महान् साहसी डी-लेसेप्स का स्मारक। (ऊपर दाहिनी ओर) डी-लेसेप्स का चित्र।

ड्रेजर खुदाई के लिए काम में लाये जा रहे थे और प्रति मास ३० लाख घन गज़ मिट्टी इन ड्रेजरो की सहायता से नहर के पेटे से निकाली जाती थी।

नहर का प्रवेशद्वार पोर्ट सईद के नाम से पुकारा जाने लगा था, क्योंकि सईद पाशा ही के उद्योग से नहर की स्कीम कार्यान्वित हो सकी थी। आधी दूर तक नहर खुद जाने पर वहाँ एक नया शहर बसने लगा। नये वायसराय इस्माइल पाशा के नाम पर इस शहर का नाम इस्माइलिया पड गया। इस्माइलिया के आगे ही नहर तिमसा झील मे प्रवेश करती है। इस झील से आगे निकलने पर एकदम सूखे प्रदेश से होकर आठ मील तक इस नहर को गुज़रना होता है। तदुपरान्त कड़ुवी झील से होकर स्वेज़ नहर लगभग २५ मील की लम्बाई तक गुजरती है।

काम शुरू करने के लगभग १० वर्ष बाद नवम्बर १८६८ मे बडे समारोह के साथ स्वेज-नहर का उद्घाटन हुआ। यद्यपि स्वेज-नहर की कुल लम्बाई उन दिनों ६१ मील थी, किन्तु झीलों का सिलसिला इतना लम्बा था कि इञ्जीनियरों को वास्तव मे ३० मील से अधिक खुदाई नही करनी पड़ी थी। १६१४ मे स्वेज़-नहर की गहराई, चौड़ाई और लम्बाई भी बढायी गई ताकि बडे-बडे दो जहाज़ एक साथ विपरीत दिशाओ मे आ-जा सकें। इस नहर की वर्त्तमान लम्बाई १०१ मील है। इसकी गहराई कहीं पर भी ३० फीट से कम नहीं है। चौडाई भी २०० फीट से अधिक ही है।

इकहरी लाइनवाली रेलवे पर जिस प्रकार ब्लॉक-सिगनल द्वारा लाइन भिन्न-भिन्न सेक्शन मे बॅटी रहती है, उसी प्रकार स्वेज़-नहर को भी विभिन्न सेक्शनो मे बॉट दिया गया है। ब्लाक-सिगनलों द्वारा जहाज़ों के आने-जाने पर नियन्त्रण रक्खा जाता है। सिगनल-कन्ट्रोल का प्रधान आफिस इस्माइलिया मे है। यहाँ पर केबिन के अन्दर स्वेज़-नहर का एक छोटा-सा मॉडल बना हुआ है। इस मॉडल-नहर मे नन्हे-नन्हे जहाज़ो को एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाते रहते हैं—खिलौने के रूप में प्रत्येक जहाज़ उस जहाज को प्रकट करता है जो वास्तव मे स्वेज़-नहर मे जा रहा हो। यह जहाज़ ज्यों-ज्यों आगे बढता है, केबिन के मॉडल मे उसे प्रकट करनेवाला नन्हा जहाज़ भी उसी के अनुसार आगे बढा दिया जाता है। केबिन का संचालक किसी भी क्षण बता सकता है कि उस समय नहर मे कौन-कौन-से जहाज कहाँ हैं। नहर पार करने में साधारणतः ज़हाज़ को १२-१४ घण्टे लगते हैं।

इस नहर के निर्माण मे अब तक कुल ४ करोड़ पौण्ड ख़र्च हो चुके हैं—जिसमे से २ करोड़ के हिस्से अंग्रेज़ों के हाथ में हैं। अवश्य जिन दिनों नहर-निर्माण का काम शुरू हुआ था, अंग्रेज़ों ने एक पाई का भी शेयर नहीं ख़रीदा। किन्तु १८७५ मे इस्माइल पाशा को अपने कुलियों को खुदाई पर के काम से हटा लेने के कारण ३० लाख पौण्ड का तावान देना पडा था, तथा अन्य कारणो से उसने मजबूर होकर अपने शेयर वेचने चाहे। ब्रिटिश जनता की भूल सुधारने के उद्देश्य से तत्कालीन प्राइम मिनिस्टर डिजराएली ने चुपके-चुपके इस्माइल पाशा से ४० लाख पौण्ड मे १७६६०२ शेयर ख़रीद लिये। इस प्रकार उसने स्वेज़-कम्पनी की प्रबन्धकारिणी समिति मे ब्रिटिश बहुमत प्राप्त कर लिया। नाम के लिए स्वेज़-कम्पनी मिस्री है, किन्तु इसके ३२ डायरेक्टरों मे २० फ्रेञ्च हैं, १० ब्रिटिश हैं और एक डच है। पोर्ट सईद पर डी-लेसेप्स की एक भव्य प्रस्तर-मूर्त्ति बनी हुई है जो प्रत्येक यात्री को स्मरण दिलाती है कि उद्योगी पुरुष के लिए संसार मे कुछ भी असम्भव नही है।

अब हम देखेंगे कि पनामा-नहर का निर्माण किस प्रकार हुआ। आधुनिक इञ्जीनियरिंग की यह सर्वोत्कृष्ट कृति समझी जाती है। कोलम्बस द्वारा जब इस नई दुनिया का पता स्पेन-वालों को लगा तो कुछ दिनों उपरान्त लोगों ने यह महसूस किया कि अटलाण्टिक से पैसिफिक महासागर मे जाने के लिए समूचे दक्षिणी अमेरिका का चक्कर लगाना पडता है। यदि पनामा-स्थलडमरूमध्य को काटकर एक किनारे से दूसरे किनारे तक जलमार्ग बनाया जा सके तो उत्तरी अमेरिका के एक समुद्र-तट से दूसरे समुद्र-तट को जानेवाले जहाज़ों का समय भी बचेगा तथा केपहार्न के निकट के भयावह तूफान और झंझावात की मुसीबतों से भी छुट्टी मिलेगी।

उन्हीं दिनों फिलिप द्वितीय (स्पेन के बादशाह) से स्पेन के एक प्रसिद्ध लेखक ने पनामा-नहर की स्कीम के बारे मे कहा था "यह सही है कि इस स्थलडमरूमध्य मे पहाडी प्रदेश अधिक हैं, किन्तु ईश्वर ने हमे हाथ भी तो दिये हैं, हम उन्हे काटकर अपने लिए नहर बना सकते हैं।" किन्तु नहर खोदने की यह स्कीम धर्म के ठेकेदारों को पसन्द न आयी। मैड्रिड के आर्चबिशप ने इस सम्बन्ध में फतवा दिया—"ईश्वर ने जिन्हें एक दूसरे से जोड़ रखा है, उन्हें अलग करना मनुष्य के लिए उचित नहीं है।" इसी प्रकार फिलिप द्वितीय के ज़माने से ३०० वर्ष बाद तक पनामा-नहर की स्कीम कल्पना-जगत् मे ही पडी रही। जब स्वेज़-नहर बनकर तैय्यार हुई तो पनामा-स्थल-

स्वेज़-नहर के पश्चिमी द्वार पर स्थित पोर्ट सईद बंदरगाह
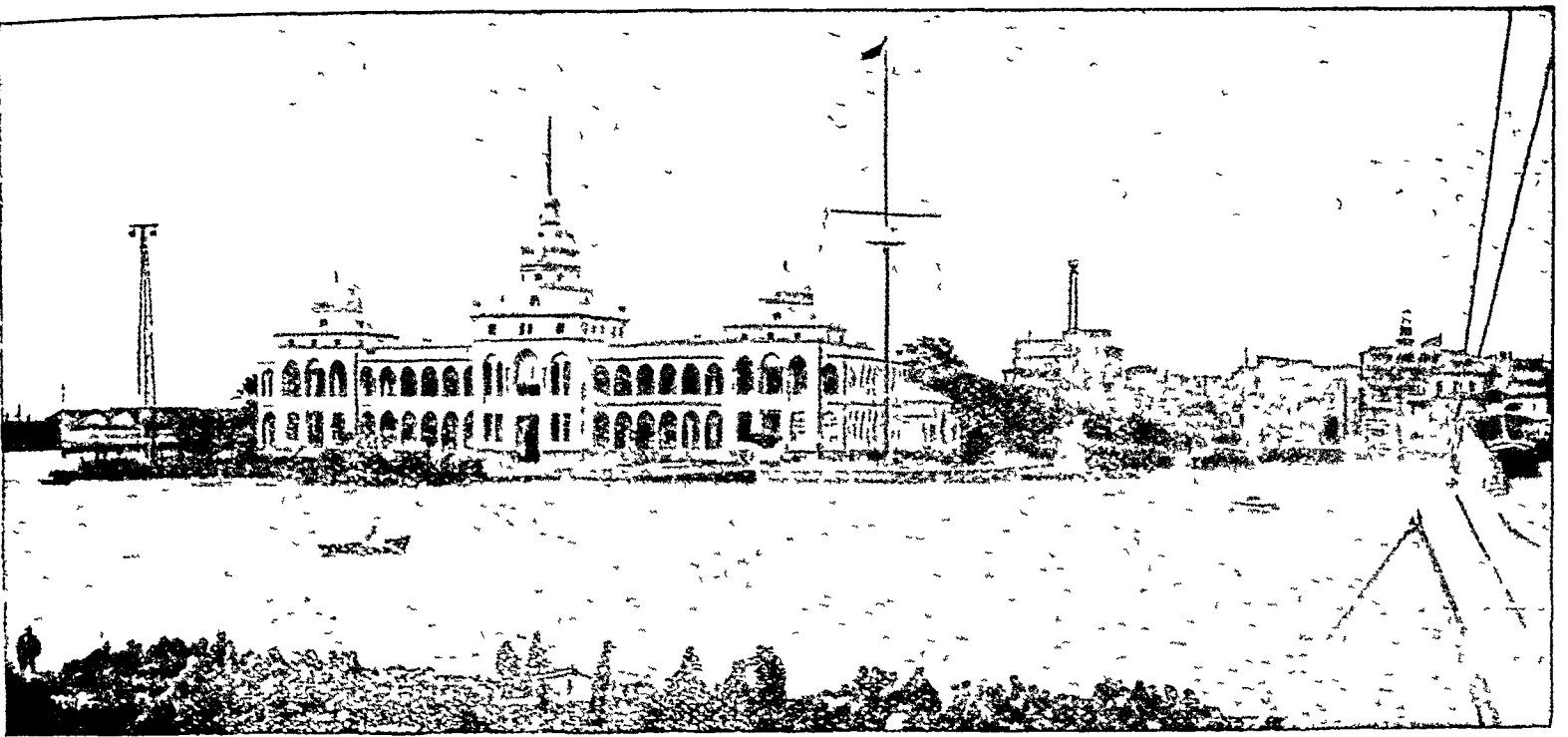
यही से जहाज़ भूमध्यसागर मे से स्वेज़ की इस कृत्रिम जल-प्रणाली मे प्रवेश करते और इस प्रकार आनन-फानन मे लालसागर के रास्ते हिन्द महासागर मे जा पहुँचते हैं।
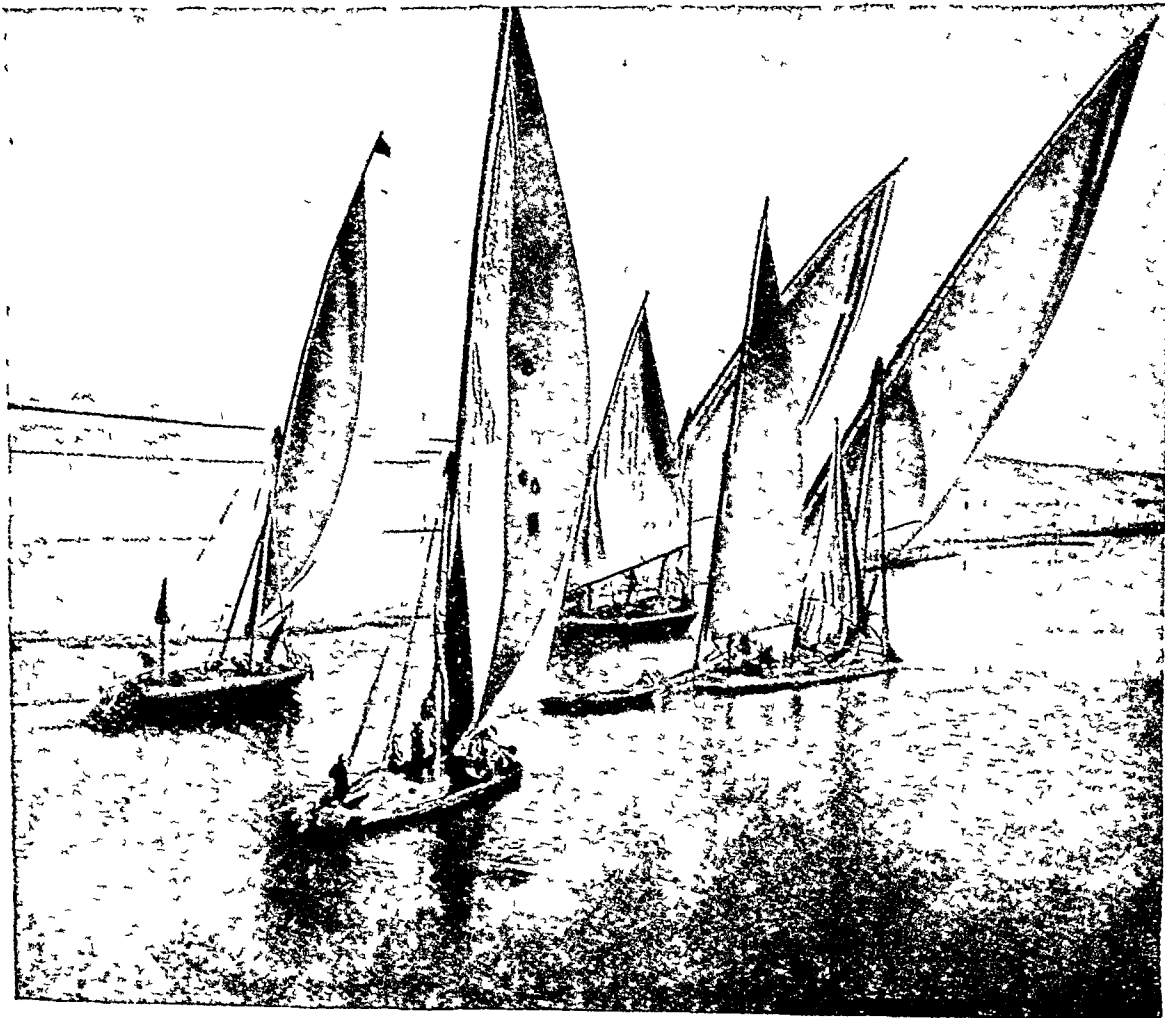
स्वेज़-नहर में से होकर गुज़र रही कुछ छोटी व्यापारिक नौकाएँ

जो इसी से संलग्न मीठे पानी की नहर के रास्ते नील नदी की भी सैर कर आती हैं।
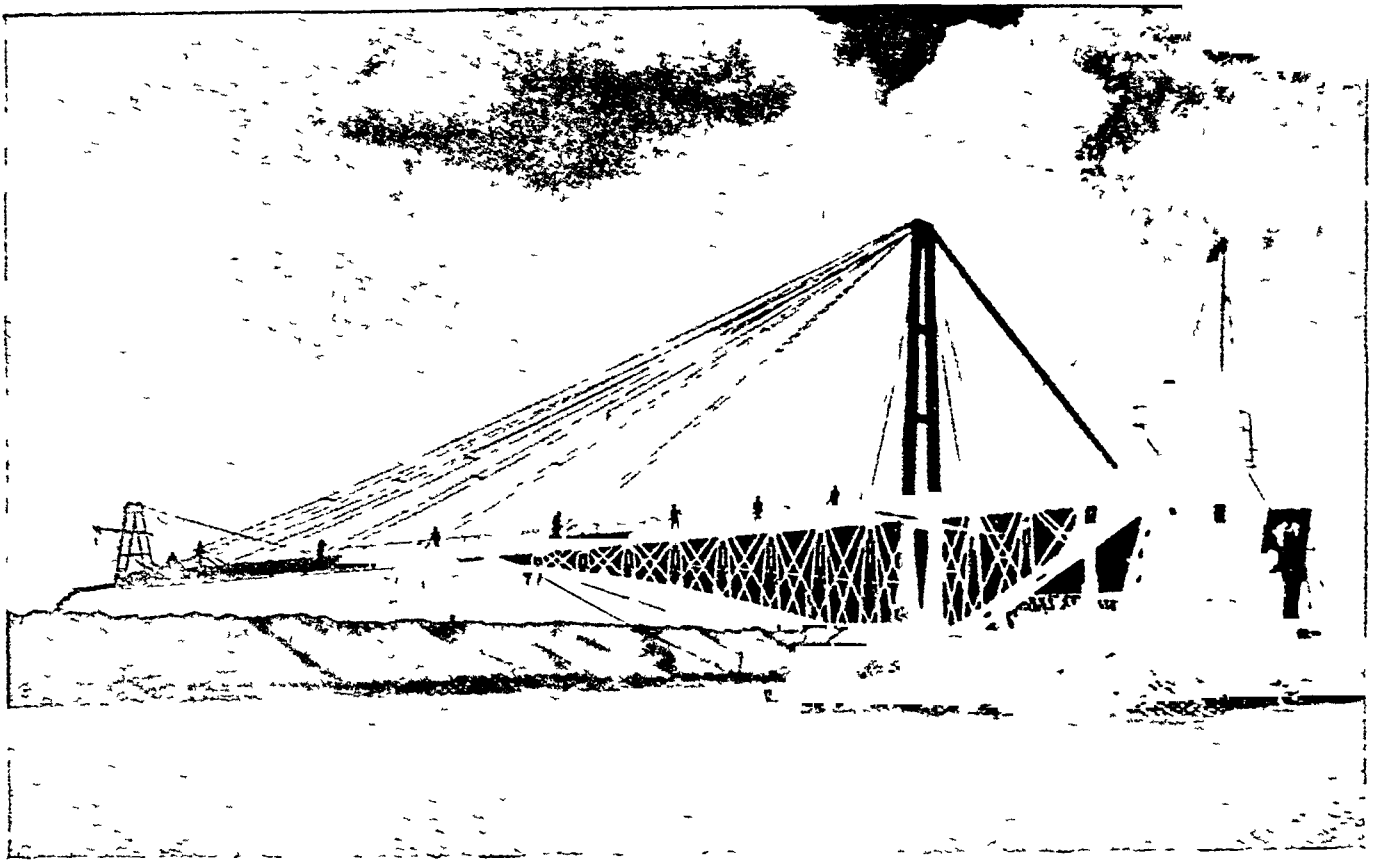
स्वेज़-नहर के पेंदे से सदैव बालू और मिट्टी आदि निकालते रहनेवाले अनेक दैत्याकार ड्रेजरों में से एक

ये यंत्र नहर को छिछली हो जाने से बचाते हैं। पहले नहर २६ फीट गहरी थी। अब उसकी गहराई ४० फीट तक है।
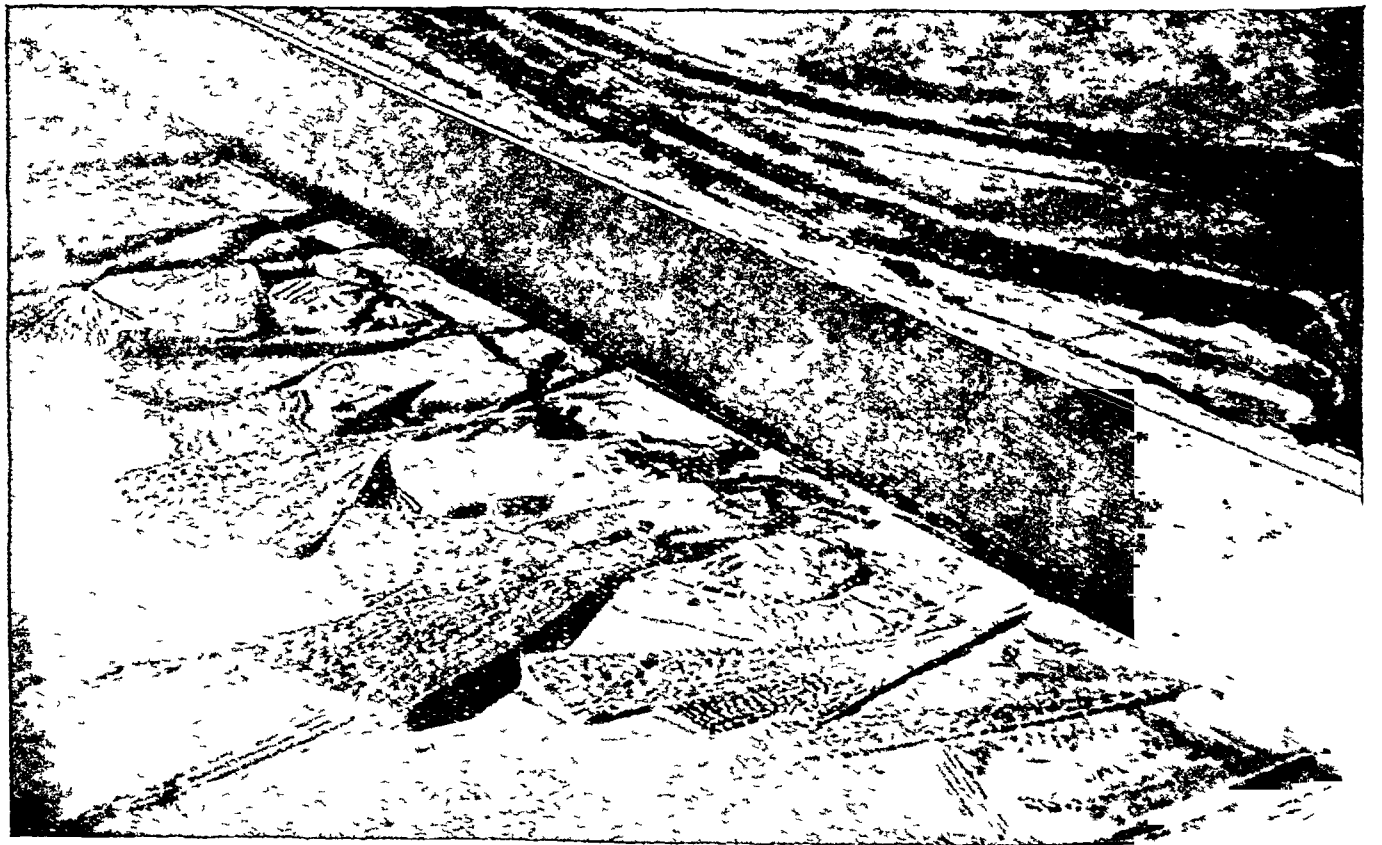
मरुभूमि को चीरकर निकाली गई स्वेज़-नहर का एक विहंगम दृश्य

किनारे पर पखेनुमा जो बालू के ढेर-से लगे हैं वे ड्रेजरों द्वारा नहर के पेंदे से निकाली गई बालुकाराशि से ही बने हैं।

डमरूमध्य की ओर एक बार फिर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने सोचा कि अमेरिका के छोर पर अमेरिकनों द्वारा ही पनामा-नहर का निर्माण होना चाहिए। किन्तु इसी बीच एक फ्रान्सीसी जलसेना के अफसर ने पनामा-स्थलडमरूमध्य की आनन-फानन मे पैमायश की और उसने कोलम्बिया राज्य से इस बात के लिए आज्ञा प्राप्त कर ली कि उसकी ही कम्पनी को पनामा-नहर खोदने का हक़ प्राप्त हो तथा वही कम्पनी उस नहर का प्रबन्ध सँभाले।

पर इस फ्रेञ्च अफसर की स्कीम इस स्थिति से एक इंच भी आगे न बढ़ सकी। आख़िर स्वेज़ के सबध मे ख्यातिप्राप्त इञ्जीनियर डी-लेसेप्स ने उक्त अफसर से नहर खोदने की आज्ञा ४ लाख पौण्ड मे ख़रीद ली। यह घटना १८७६ की है। स्वेज़-नहर की सफलता के नाम पर फ्रेञ्च जनता ने डी-लेसेप्स की कम्पनी को प्रचुर मात्रा मे धन दिया। फरवरी १८८१ मे डी-लेसेप्स ने पनामा की खुदाई का काम बड़े समारोह के साथ आरम्भ किया। डी-लेसेप्स की स्कीम थी कि स्वेज़ की भाँति पनामा-नहर भी एक सिरे से दूसरे सिरे तक समतल धरातल पर खोदी जाय। कुल २ करोड़ ४० लाख पौण्ड का तख़मीना था। डी-लेसेप्स को अपनी इस स्कीम की सफलता में इतना अधिक भरोसा था कि १८८१ मे खुदाई आरम्भ होने के उपलक्ष्य में बुलाई गई सभा में आपने अभ्यागत इञ्जीनियरो को निश्चय रूप से निमन्त्रित भी कर दिया कि १८८८ मे नहर के उद्घाटन के सुअवसर पर वे अवश्य पधारने का कष्ट करेंगे।

किन्तु डी-लेसेप्स की स्कीम शत-प्रति-शत असफल साबित हुई। सन् १८८८ तक पहुँचते-पहुँचते, जब कि डी-लेप्सेस ने नहर के उद्घाटन सबंधी उत्सव के आयोजन की आशा की थी, पनामा-नहर-कम्पनी का दिवाला निकल चुका था। फ्रांस के हज़ारों घर इस कम्पनी की काली करतूतों के कारण मिट्टी मे मिल गए। कम्पनी के ऊपर ७ लाख पौण्ड का ऋण चढ चुका था। नहर की खुदाई का यह हाल था कि १२० वाष्प-इजिन गोदाम मे पड़े-पडे मोर्चा खा रहे थे, उन्हे काम मे लाने की नौबत ही नहीं आई। भाँति-भाँति की मशीने भी इधर-उधर गड्ढों में पडी-पडी नष्ट हो रही थी। अनेक ऊलजलूल चीज़ों पर भी व्यर्थ मे पानी की भाँति धन बहाया गया था। उदाहरण के लिए, उद्घाटन के उत्सव के आयोजन के लिए बडे आकार के कई पियानो और १५,००० फ़ैन्सी टार्च आदि भी पहले ही से ख़रीदकर वहाँ (पनामा) पहुँचा दिये गये थे। नहर की खुदाई में अब तक कुल १० करोड़ पौण्ड डूब चुके थे। जानकारों का कहना है कि इस गहरी रक़म का केवल एक तिहाई भाग नहर की खुदाई मे वास्तव मे लगा, शेष एक तिहाई फ़जूलख़र्ची मे नष्ट हुआ, तथा बाक़ी रक़म कम्पनी के अधिकारियो ने हड़प कर ली। कम्पनी की इन हरकतो के कारण समस्त फ्रेञ्च जाति के माथे कलंक का टीका लगा। मंत्रीगण, समाचारपत्रो के अध्यक्ष, गवर्नमेण्ट के उच्च पदाधिकारीगण आदि सभी ने घूँस की गहरी रक़म खायी थी। फ्रेञ्च गवर्नमेण्ट ने इन तमाम अपराधियों पर मुक़दमे भी चलाए। इस मुक़दमे के दौरान मे अनेक और रहस्य खुले।

इसके पश्चात् क़रीब-क़रीब १५ साल तक पनामा-नहर का काम एक प्रकार रुका-सा रहा—इस दर्मियान कई एक फ्रेञ्च, ब्रिटिश तथा अमेरिकन कम्पनियों ने पनामा की योजना का भार अपने ऊपर लेना चाहा। अमेरिका की एक कम्पनी ने तो पनामा से कुछ दूर हटकर निकारगुआ झील मे से होकर नहर खोदने की भी स्कीम सोची। इस कम्पनी ने लगभग १० लाख पौण्ड लगाकर ६ फर्लांग लम्बी नहर भी खोद ली, तथा ईंट-पत्थर-लोहा-मशीन आदि ले आने के लिए रेलवे लाइन का भी निर्माण कर लिया। किन्तु इस कम्पनी का भी जल्दी ही दिवाला निकल गया।

आख़िर १९०४ में अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र की गवर्नमेण्ट ने डी-लेसेप्स के समूचे कारबार को ८० लाख पौण्ड मे ख़रीद लिया, क्योंकि अमेरिकन गवर्नमेण्ट महसूस कर रही थी कि जलसेना को शीघ्रता के साथ पूर्वी तट से पश्चिमी तट को भेज सकने के लिए पनामा-नहर का बनाना अत्यन्त आवश्यक था। सयुक्त राष्ट्र की गवर्नमेण्ट ने पनामा-नहर के दोनों किनारों पर स्थल की एक पतली पट्टी कोलम्बिया गवर्नमेण्ट से प्राप्त करना चाहा ताकि नहर की खुदाई करने मे आसानी हो सके, किन्तु कोलम्बिया गवर्नमेण्ट ने ज़मीन देना एकदम अस्वीकार कर दिया। इसी बीच दैवयोग से ४ नवम्बर, १९०४, को पनामा प्रदेश के निवासियो ने कोलम्बिया गवर्नमेण्ट से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करके अपनी स्वतंत्र रिपब्लिक अलग से स्थापित कर ली। इस नवीन रिपब्लिक के जन्म के ठीक १४ दिन बाद संयुक्त राष्ट्र और पनामा गवर्नमेण्ट ने एक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किए, जिसके अनुसार पनामा गवर्नमेण्ट ने नहर के दोनों किनारों पर ५ मील की चौड़ाई तक के भूमिखण्ड पर संयुक्त राष्ट्र को पूर्ण अधिकार प्रदान

कर दिया। वहाँ के न्यायालय, पुलिस, सफाई, कर लगाने आदि का पूरा हक़ सयुक्त राष्ट्र के अधिकार मे आ गया। इसके बदले मे सयुक्त राष्ट्र ने पनामा गवर्नमेंएट को २० लाख पौएड तो तत्काल दे दिए और साथ ही यह तय पाया कि उक्त तिथि के ६ वर्ष बाद से सयुक्त राष्ट्र पनामा रिपब्लिक को ५० हजार पौएड वार्षिक कर भी दिया करेगा।

४ मई १६०४ को सयुक्त राष्ट्र की ओर से पनामा-नहर की खुदाई का काम आरम्भ हुआ। शुरू मे ६०० मज़दूर काम पर लगाए गए, किन्तु शीघ्र ही इनकी सख्या बढानी पडी। उन दिनों पनामा-स्थलडमरूमध्य की जलवायु अत्यन्त ही दूषित थी। रोग-कीटाणुओंवाले मच्छरों की वहाँ भरमार थी। डी लेसेप्स की कम्पनी के लगभग ४५,००० मज़दूर पिछले प्रयास मे मौत की भेंट हुए थे—यहाँ तक कि इस भूमिप्रदेश का नाम ही 'श्वेत व्यक्तियों की क़ब्र' पड गया था। अमेरिकन इञ्जीनियरों ने सबसे पहले इस भारी ख़तरे को दूर करना ज़रूरी समझा। पानी के गड्ढो, छोटे-छोटे पोखरों या तथा अन्य ऐसे स्थानों का, जहाँ मच्छर पैदा होते रहते हैं, पानी सुखा दिया गया। जिन गड्ढों से पानी बहाया जा सकता था, वहाँ से पानी निकाला गया, तथा अन्य गड्ढे भर दिए गए। कूडा-कर्कट जला दिया गया, नरकुल तथा लम्बी घास कुल काट डाली गई। मकान की खिडकियों और दरवाज़ों में जालियाँ लगा दी गईं, ताकि घर के अन्दर मच्छर न घुस सके। हज़ारों मन कुनैन बाँटी गई। फल आश्चर्यजनक हुआ। मृत्यु-संख्या प्रतिसहस्र ७० से घटकर केवल ५ रह गई। खाद्य पदार्थ सीधे अमेरिका से मँगाए जाते थे, ताकि उनमे किसी प्रकार का भी दोष न आ सके। पनामा और कोलोन शहरों को छोड अन्यत्र सब कहीं मद्यपान की भी मनाही कर दी गई थी।

पनामा की जलवायु सुधारने के पश्चात् अमेरिकन इञ्जीनियरों को फ्रेञ्च कम्पनी की गल्तियों को दुरुस्त करना पडा। डी-लेसेप्स ने स्वेज़-नहर की भाँति ही पनामा-नहर को भी एक ही धरातल पर खोदना चाहा था। किन्तु पनामा-स्थलडमरूमध्य में भूमि की सतह सब ठौर एक-सी नहीं है। बीच मे क्यूलेब्रा की पहाडियाँ काफी ऊँची हैं। स्वय डी-लेसेप्स ने भी बाद मे अपनी ग़लती महसूस कर ली थी। अतः अमेरिकन इञ्जीनियरों ने प्रारम्भ मे ही यह स्कीम बना ली कि नहर की सतह सब ठौर एक-सी नहीं रक्खी जायगी। इस स्थलखएड के मध्यभाग मे लगभग ३० मील तक पहाडी प्रदेश है। इस प्रदेश में नहर की सतह इधर-उधर की सतह से ८५ फीट ऊँची है। इस प्रकार पहाडी खोदने की बहुत-सी मेहनत बच गई।

पनामा-अभियान की तीसरी कठिनाई यह थी कि ठीक उसी रास्ते पर जहाँ से नहर खोदनी थी, चैग्रेस नदी बहती थी। इस नदी को काबू में लाना ज़रूरी था। आख़िर यह तय पाया कि नदी में मज़बूत बाँध डालकर इसे उस पहाडी प्रदेश मे एक लम्बी-चौड़ी झील मे परिवर्तित कर लेंगे। यह झील स्वयं पनामा-नहर का मध्य भाग बन जायगी।

पनामा-नहर के निर्माण में अमेरिकन कम्पनी ने कुल ५० हज़ार व्यक्ति काम पर लगाए। ३०० इजिन, ५,००० माल-गाडियों के डब्बे, १०० वाष्प द्वारा परिचालित क्रेन-फावडे, २० ड्रेज़र, ५० क्रेन तथा अन्य छोटी-बडी सैकडों मशीनें दानवों की तरह वहाँ काम करती थीं। प्रतिदिन डेढ़ दो सौ रेलगाडियाँ खुदी हुई मिट्टी लादकर इधर-से-उधर दौड़ती
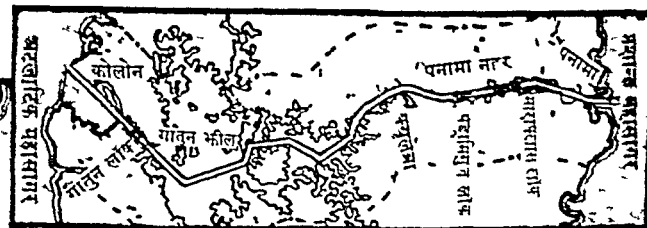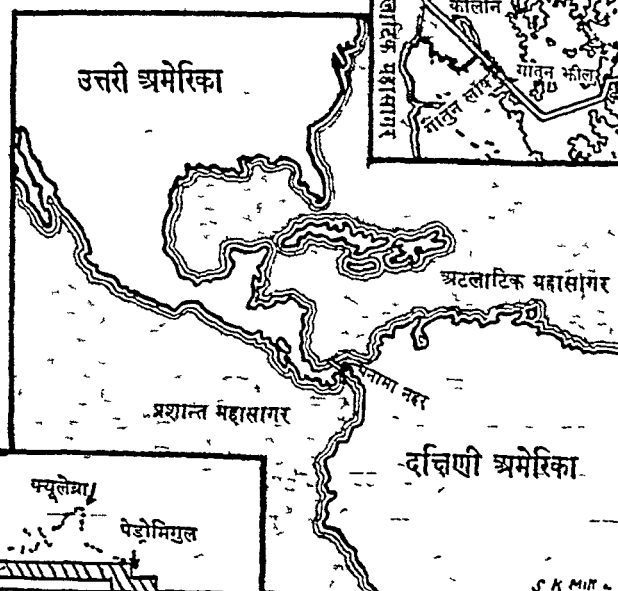
एक बात उल्लेखनीय है। अमेरिका का अटलांटिक-तट पैसिफिक-तट की अपेक्षा पूर्व दिशा में है। किन्तु पनामा स्थलडमरूमध्य मे ऐसे ख़म व पेंच मौजूद हैं कि पनामा नहर में जिस सिरे पर जहाज़ अटलांटिक से प्रवेश करते हैं, पैसिफिक में निकलने पर वे उस सिरे की अपेक्षा २७ मील और पूरब दिशा की ओर हट आते हैं (देखिए बीच का नक़शा)। ऊपर दाहिनी ओर नहर का साधारण नकशा है, नीचे बाईं ओर उसकी सतह की ऊँचाई-नीचाई का मानचित्र है।
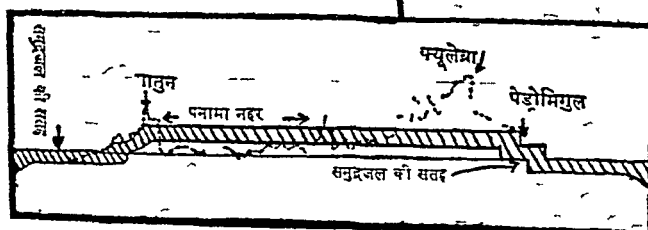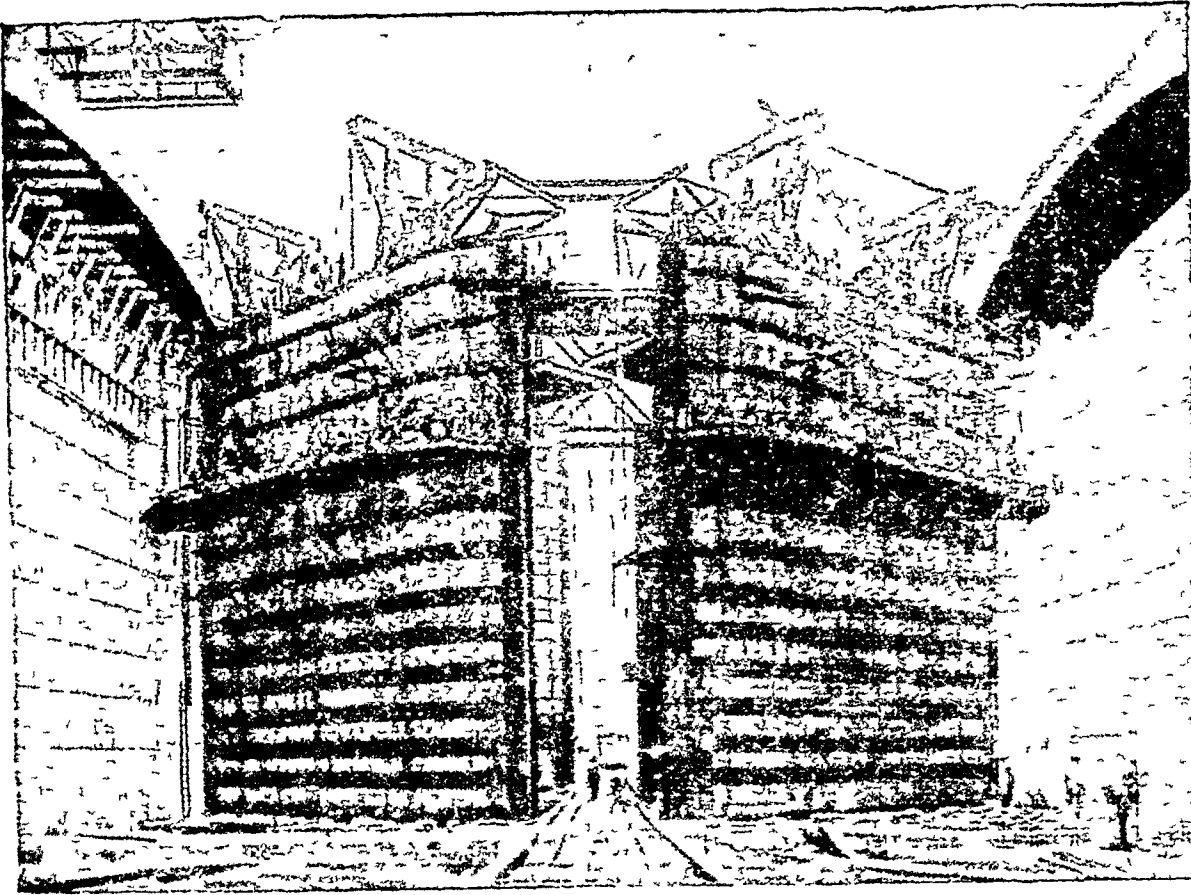
पनामा-नहर के मीराफ्लोर्स नामक लॉक के विशाल फाटकों के निर्माण का दृश्य। यहाँ पर जहाज़ समुद्रतल से ५५ फ़ीट ऊँचे उठा दिए जाते हैं।

सिंहावलोकन करेंगे। अटलांटिक महासागर से पैसिफ़िक में जाने के लिए जहाज़ लिमन खाड़ी के मार्ग से पनामा-नहर में प्रवेश करता है। ५०० फ़ीट चौड़े रास्ते पर ६ मील आगे बढ़ने के उपरान्त जहाज़ गातुन बाँध पर आता है। इस स्थान पर लॉक द्वारा जहाज़ को ८५ फीट ऊँचा उठाकर गातुन झील में पहुँचाना पड़ता है। एक-एक करके तीन लॉक द्वारा जहाज़ को ऊपर चढ़ाना होता है। प्रत्येक लॉक १००० फीट लम्बा, ११० फीट चौड़ा और ४१·३ फीट ऊँचा है। ये लॉक दोहरे हैं—एक में से होकर जहाज़ नीचे से ऊपर चढ़ता है, और दूसरे में से होकर ऊपर से नीचे उतरता है। प्रत्येक लॉक जहाज़ को २८·३ फीट ऊँचा चढ़ाता है। गातुन झील २३½ मील लम्बी है—इस लम्बे क्षेत्र में जहाज़ निधड़क तीव्र वेग से धुँआ फेंकते हुए आ-जा सकते हैं। इस झील के दूसरे सिरे पर जहाज़ 'क्यूलेब्रा-कट' से होकर गुज़रता है। तदुपरान्त पेड्रोमिगुल लॉक्स द्वारा जहाज़ ३० फ़ीट नीचे उतरता है, फिर मिराफ्लोर्स लॉक्स पर ५५ फ़ीट नीचे उतरकर जहाज़ पुनः समुद्र-जल की सतह पर आ जाता है! आठ मील और आगे बढ़ने पर जहाज़ पैसिफ़िक में पहुँच जाता है। पनामा-नहर की लम्बाई ५१ मील है। उसके लॉक संसार में अद्वितीय समझे जाते हैं। लॉक के विशाल फाटक ६५ फ़ीट लम्बे, और ७ फ़ीट मोटे हैं—इनकी ऊँचाई ४७ फ़ीट से ८२ फ़ीट तक की है। लॉक के फाटक के पास पहुँचते ही नहर के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पानी के अन्दर ही एक मज़बूत ज़ंजीर उठ आती है, जो जहाज़ की गति को एकदम रोक देती है ताकि संयोगवश जहाज़ फाटक से टकरा न जायँ। ज़ंजीर उठाने के लिए जलशक्ति का

फिरतीं। खुदाई का काम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता, रेल की नई पटरियाँ भी आगे को बिछा दी जातीं। चैग्रेस नदी को बाँधना भी कम दुस्तर न था। इस नदी को झील में परिवर्तित करने के लिए दो बाँध बनाने पड़े—एक गातुन में, दूसरा गैम्बोआ में। गातुन बाँध १½ मील लम्बा है। पेंदे पर इसकी चौड़ाई आध मील है, ऊपर पतला होते-होते सिरे पर कुल चौड़ाई १०० फीट रह जाती है। यद्यपि बाँध की चोटी समुद्र-सतह से १०५ फ़ीट ऊँची है, किन्तु झील के जल की सतह से बाँध केवल २० फीट ही ऊँचा है। बाँध के बीच में एक द्वार कटा हुआ है। इस द्वार में १७ लोहे के फाटक लगे हुए हैं। वर्षाऋतु में बहुत-सा फालतू पानी इन्हीं फाटकों के रास्ते से निकल जाता है, यह पानी नहर में नहीं जाने पाता।

ऊँची सतह पर इस झील के बन जाने से पहाड़ की खुदाई का काम भी आसान हो गया। फिर भी क्यूलेब्रा पहाड़ में कहीं-कहीं ५०० फ़ीट गहरा रास्ता काटना पड़ा। ढाई हज़ार टन डायनमाइट पहाड़ की इन चट्टानों को उड़ाने के लिए काम में लायी गई थी!

यह जानने के लिए कि पनामा-नहर इञ्जीनियरिङ्ग की सर्वश्रेष्ठ कृति क्यों कहलाती है, हम ख़ास नहर ही का अब

प्रयोग किया जाता है। फिर लॉक के फाटक जलयंत्रों की मदद से खोले जाते हैं—अब जहाज़ लॉक के अन्दर प्रवेश करता है। लॉक के अन्दर जहाज़ स्वयं अपने इंजिनों की शक्ति का प्रयोग नहीं करने पाता, क्योंकि ऐसा करने से जहाज़ के फाटक में टकरा जाने का ख़तरा पैदा हो सकता है। अतः जहाज़ को लॉक के किनारे की लाइन पर चलनेवाले रेलवे-इंजिन खींचते हैं। अक्सर दो और कभी-कभी चार-छः या आठ इंजिन इस काम के लिए काम में लाये जाते हैं। जब लॉक के भीतर जहाज़ आ गया तो पीछे के फाटक बन्द कर दिए जाते हैं। लॉक की कोठरी में अब दीवाल में बने सूराख़ों के रास्ते पानी प्रवेश कराते हैं—धीरे-धीरे जहाज़ ३० फीट ऊँचा उठ जाता है। अब द्वितीय लॉक का फाटक खुलता है, और इन्हीं क्रियाओं की फिर्पुनरावृत्ति होती है, फलस्वरूप जहाज़ ३० फीट और उठ जाता है। तदुपरान्त तीसरे लॉक द्वारा २५ फ़ीट ऊँचा उठकर जहाज़ अपनी पूर्व सतह की अपेक्षा ८५ फीट की ऊँची सतह पर चढ आता है। इस सिद्धान्त को समझने के लिए देखिए अंक ६ पृ० ६६६ का चित्र।

जहाज़ को खींचनेवाले इंजिन विद्युत्शक्ति से चलते हैं। गातुन बाँध के लौह फाटक गिरनेवाले जल से पैदाकर यह विद्युत्शक्ति ली जाती है। १९१८ में नहर पूर्ण रूप से काम लायक़ हो गई। तब से प्रति वर्ष लगभग ७५०० जहाज़ इस नहर से होकर गुज़रते हैं। ५६ लाख पौण्ड महसूल प्रति वर्ष इन जहाज़ों से वसूल किया जाता है। इस नहर के निर्माण में कुल ७ करोड ५० लाख पौण्ड ख़र्च करने पडे थे।
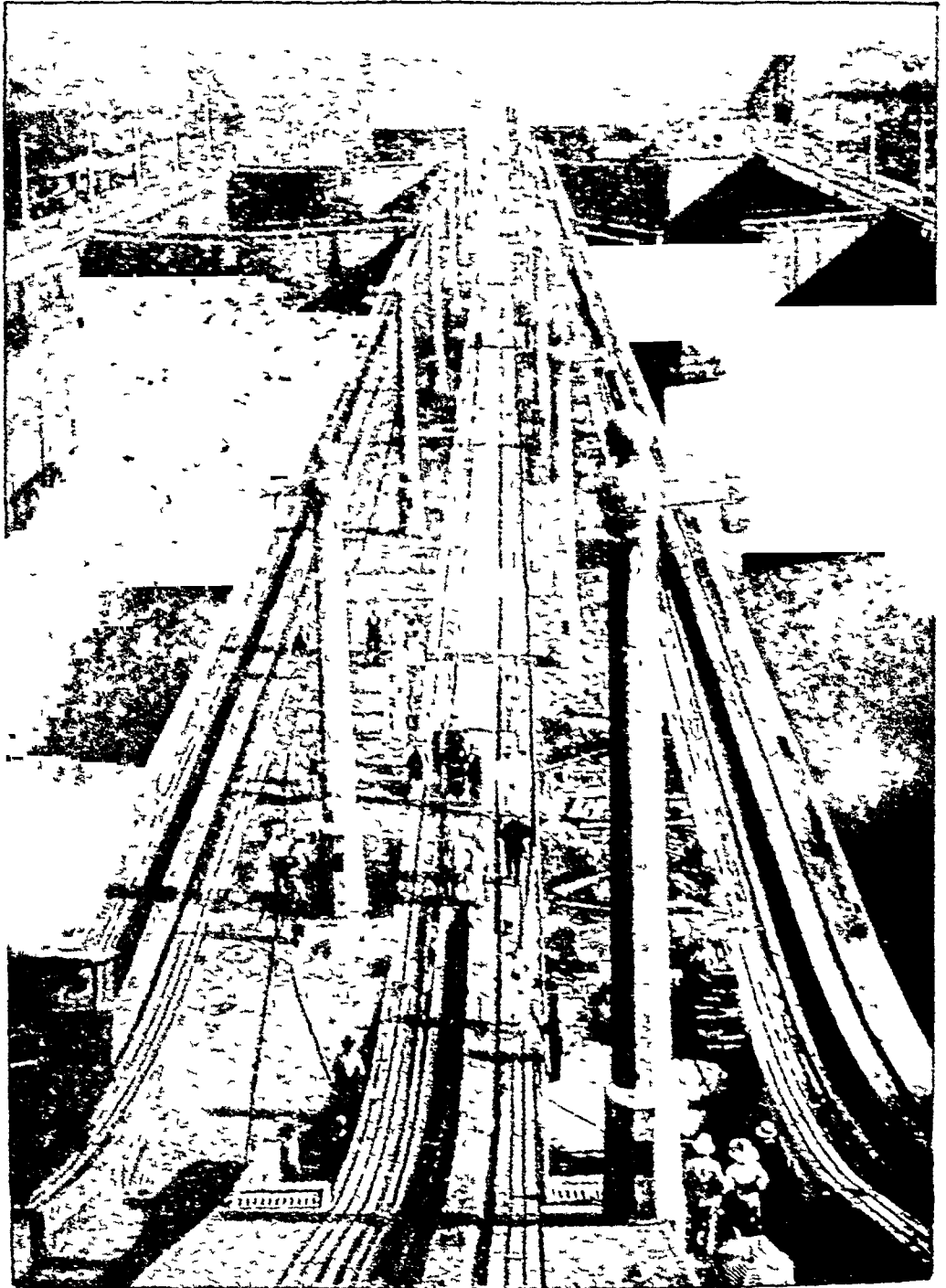
गातुन लॉक का विहंगम दृश्य—यहाँ जहाज़ गातुन झील की सतह पर उठा दिए जाते हैं। अगल-बग़ल जलमार्ग हैं, बीच के बाँध पर रेल की पटरियों पर वे इंजिन दौड़ते हैं जो जहाज़ों को खींचकर लॉक के इस पार से उस पार ले जाते हैं।
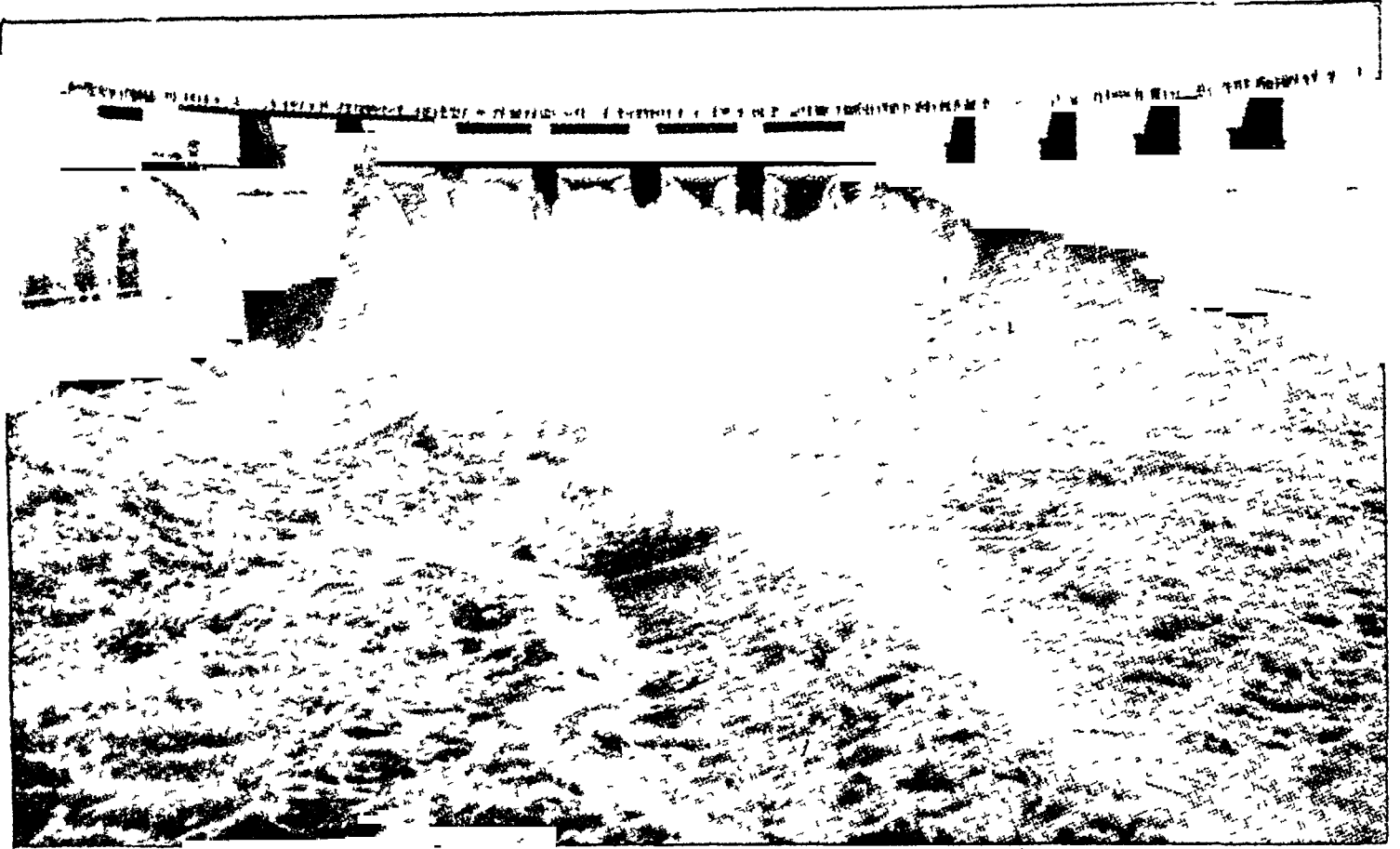
पनामा-नहर के सुप्रसिद्ध गातुन-बाँध के निर्यात-द्वारों में से निकाली जा रही अगाध जलराशि का दृश्य
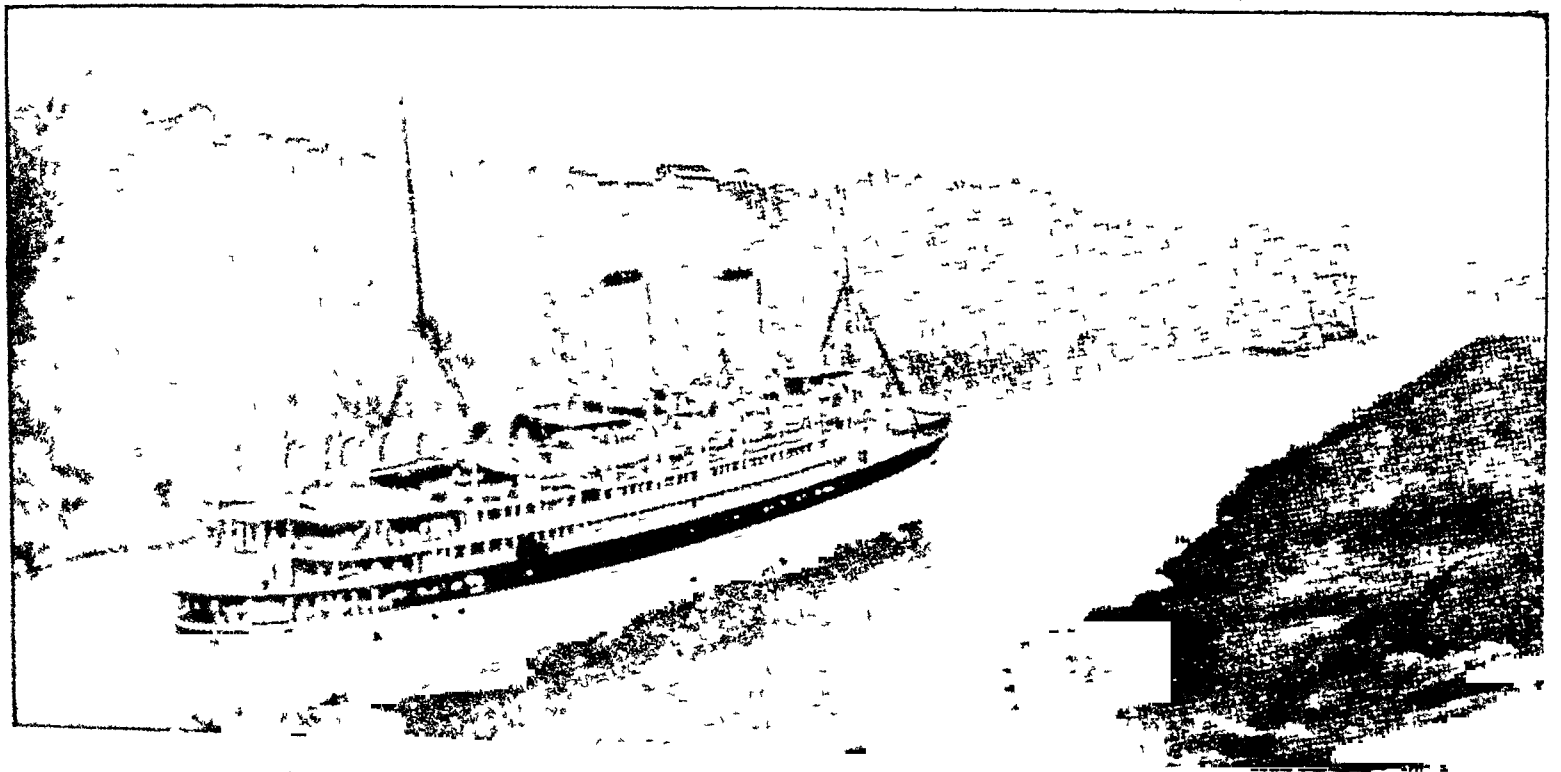
पनामा-नहर के सुप्रसिद्ध 'क्यूलेब्रा-खड्ड' में से होकर गुज़र रहा एक आधुनिक विशाल जहाज़

इस जगह पर नहर का जलतल समुद्रतल से लगभग ८५ फीट की ऊँचाई पर है। नहर के इस भाग को काटने और खोदने में सबसे अधिक कठिनाई हुई थी।
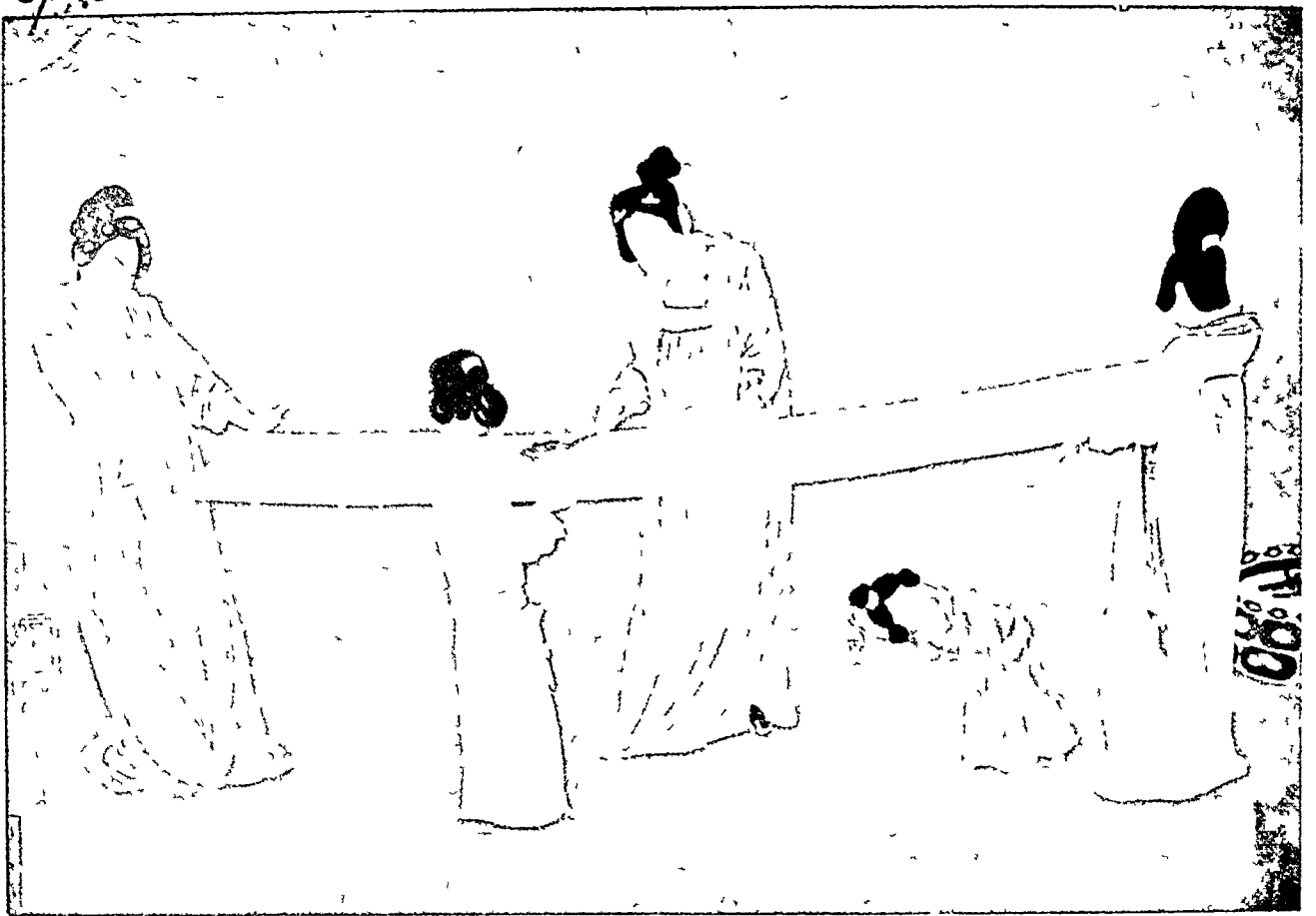
(ऊपर)

टैङ् राजवंश के काल का एक चित्र

इसकी एक प्रति बोस्टन में के 'म्यूजियम आफ फाइन आर्टस्' मे सुरक्षित है। यह मूल रूप मे चैङ् हुआन (७१३-७४२ ई०) नामक चित्रकार द्वारा चित्रित किया गया था। चित्र मे कुछ स्त्रियाँ नया रेशमी वस्त्र तैयार करते दिखाई गई हैं।

(बाईं ओर)

सुङ् राजवंश के युग की एक कलाकृति

यह मा युआन नामक कलाकार की रचना है। प्राकृतिक दृश्य की कमनीयता सराहनीय है। रेखाओं की बारीकी पर ध्यान दीजिए।
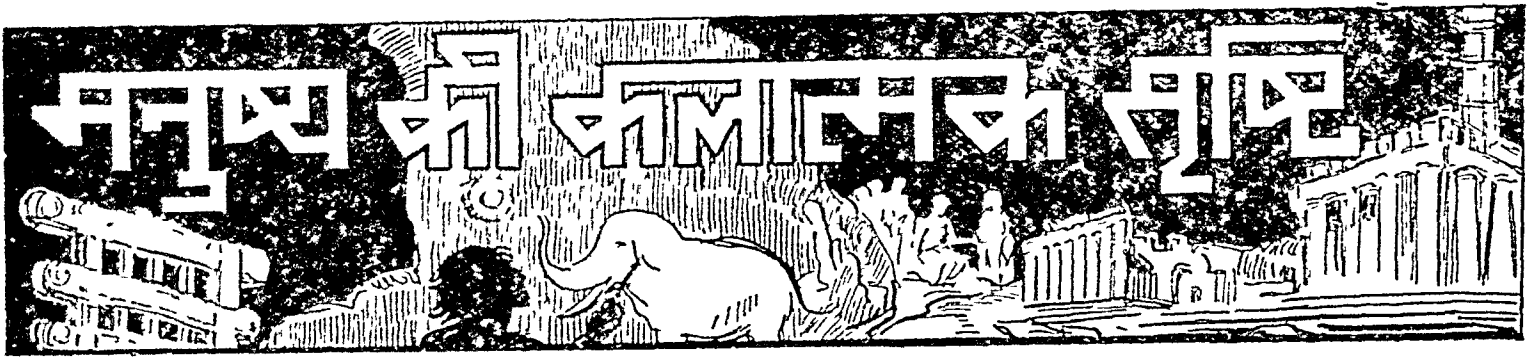
चीनी चित्रकला

प्रायः यह कहा जाता है कि चीनी चित्रकला मूलतः सुलेखन-कला-विशिष्ट (Calligraphic) है। इस कथन का उद्देश्य क्या है, और सुलेखन-कला (Calligraphy) क्या वस्तु है? सुलेखन-कला का अर्थ है 'सुंदर लिखावट या लिपि में आलेखन।' मानव सभ्यता के इतिहास के आरंभिक युग ही में विविध मानवीय कृतियों में सौंदर्य-तत्त्व का भाव प्रविष्ट हो चुका था और यह आम तौर पर माना जाने लगा था कि वर्णमाला के अक्षर भी कतिपय विशिष्ट आकार-प्रकार और लेखन-विधि के अनुसार ही अंकित होने चाहिएँ। इनका इस प्रकार निदर्शन करना स्वतः सुंदरता का एक नमूना माना जाता था। लगभग सभी देशों में सुंदर लिखावट के संबंध में विशद नियम बनाए गए और अच्छी लिखावट लिखना भद्रता अथवा सुशिक्षा का एक आवश्यक अंग और लक्षण माना जाने लगा। ग्रीक और रोमन तथा उनसे भी पहले के मिस्त्रियों या असीरियावालों के सुंदर अभिलेख प्रख्यात हैं, जो चित्राक्षर, कीलाक्षर, अथवा वर्णाक्षरों में अभिलिखित मिलते हैं। सुंदर लिखावट संबंधी यह अभिरुचि प्राचीन काल ही तक सीमित न रही, बल्कि मध्ययुग से होकर वह आधुनिक काल तक आ पहुँची। ईरान या फारस में उत्तम लिपिकार प्रथम श्रेणी का कलाकार माना जाता था और उसके 'खुशख़त' के नमूने कलात्मक चित्रों जैसे ही मूल्यवान् समझे जाते थे। क्रमशः सुलेखन-संबंधी अनेक सूक्ष्म भावयुक्त शैलियों का भी वहाँ विकास हुआ, जिनकी खूबियों की परख, प्रशंसा, अथवा मोल आँकने का काम केवल मार्मिक विशेषज्ञ ही कर सकते थे। सुप्रसिद्ध इतिहासकार अबुल फ़ज़्ल ने निम्न विविध सुलेखन-शैलियों के नाम गिनाए हैं—१. सुल्स, २. नस्ख़, ३. तौक़ी, ४. रिक़ा, ५. मुहक़्क़क़, ६. रैहान, ७. तालीक़, ८. नस्तालीक़। इनमें अंतिम अर्थात् नस्तालीक़ को अकबर और जहाँगीर द्वारा बहुत अधिक मान दिया गया था। सुंदर लिखावट लिखनेवाले लिपिकारों को इन बादशाहों द्वारा बड़ी सम्मान-पूर्ण उपाधियाँ दी जाती थीं, जैसे "ज़र्रीन - क़लम", "अंबरीन - क़लम" "मुश्कीन-क़लम" इत्यादि। कभी-कभी इन लोगों की कलाकृतियों पर शाही मोहर की छाप भी लगा दी जाती थी, जिससे और भी अधिक सम्मान की सूचना मिलती है। आईने-अकबरी में सुलेखन-कला के क्षेत्र में चमकनेवाले उस युग के सुप्रसिद्ध लिपिकारों के नाम उत्कृष्ट चित्रकारों के ही समकक्ष रक्खे गए हैं, जिससे इस बात का प्रचुर आभास मिल जाता है कि मुग़लकाल में सुलेखन-कला को कितना अधिक सम्मान दिया जाता था।

फारसवालों को सुलेखन-कला सम्बन्धी यह अभिरुचि चीनवालों से उपहार के रूप में प्राप्त हुई। यद्यपि यह सच है कि सुलेखन-कला के विकास में 'नेस्टोरियन ईसाइयत' और 'मेनीकेनिज्म' नामक मत का भी कुछ हाथ रहा, किंतु प्रमुख रूप से यह चीन की ही देन थी, जिसकी धारा हुलागू, तैमूर, शाहरुख, आदि विजेताओं के मंगोल जत्थों के साथ चीन से फारस में प्रवाहित हुई थी।

चीन में सुन्दर लिखावट के लिए जो साधन काम में लाया जाता है वह तूलिका है न कि क़लम। क़लम संभवतः रोमन 'स्टाइलस' या शलाका का ही एक परिष्कृत रूप है, जिसका प्रवेश फ़ारस में नेस्टोरियन ईसाइयत के साथ हुआ था। क़लम का प्रयोग चाहे जितनी दक्षता के साथ किया जाय, उसके द्वारा तूलिका-जैसा प्रवाह और सरल प्रयास का भाव नहीं लाया जा सकता। फलस्वरूप क़लम द्वारा आलिखित कोई भी कृति हर हालत में एक प्रकार की नक्काशी जैसी ही रहेगी। हमें यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि रोमन लिखावट यथार्थ में नक्काशीनुमा ही थी और उसके लिखने में जिस शलाका या 'स्टाइलस' नामक यंत्र का प्रयोग किया जाता था वह मोम की तख्ती की

मुलायम सतह पर अक्षर कुरेदने का एक औज़ार मात्र था। इसके विपरीत तूलिका द्वारा आलेखन स्वभावतया लेखनी से अधिक सरल प्रवाहयुक्त होता है, अतएव नक़्क़ाशी के बजाय चित्रकारी से वह अधिक समानता रखता है।

यही कारण है कि चीन मे हम सुलेखन-कला को चित्र-कला ही की एक शाखा के रूप मे देखते हैं। अथवा दूसरे शब्दों मे कहिए तो स्वय चित्रकला को हम वहाँ सुलेखन-कला ही के एक गौरवपूर्ण भव्य विकसित रूप मे प्रतिष्ठित पाते हैं। जीवनभर तूलिका की ही अनवरत साधना के फलस्वरूप चीनी चित्रकार उसे साधने मे जो क्षमता प्राप्त कर लेता है उसकी बराबरी कोई भी योरपीय या चीन से बाहर का कलाकार नहीं कर सकता। वर्ण सबधी गहराई या फीकाई के उतार-चढाव एव द्योतन-शक्ति (power of suggestion) से युक्त तूलिका-साधन मे चीनी कलाकार की इस असाधारण क्षमता ने उस अद्भुत वस्तु 'चीनी स्याही' (Chinese Ink) की सहायता से उसे अपने क्षेत्र मे बेजोड बना दिया है। चीनी चित्र-कला मे सुन्दर लिखावट और चित्रकारी प्रायः एक समिलित रूप मे दिखाई पडते हैं और अधिकाशतः एक उत्कृष्ट चीनी चित्रकार अनिवार्यतः एक उत्कृष्ट कवि भी पाया जाता है। लारेन्स बिनयन के शब्दों म "चीनी चित्रकला वहाँ के साहित्य-ससार मे प्रचलित रूढियों की भावनाओं से ओत-प्रोत है। कतिपय पुष्प और पक्षी सदैव साथ-साथ ही चित्रित किए जायँगे, चूँकि किसी विशेष कविता मे उन दोनों का एक ही साथ वर्णन हुआ है। अनेक चीनी चित्रकार कवि भी थे और वाङ् वी जैसे कुछ व्यक्ति तो दोनों ही क्षेत्रों मे लब्ध-प्रतिष्ठित थे। किंतु कला के क्षेत्र मे वहाँ जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह प्रायः किसी कविता या कहानी के कथानक के एकदम ज्यों-के-त्यों चित्रण की नहीं, बल्कि उक्त कविता या कहानी के भाव के ही अनुरूप अपने मे भी एक भाव जगाने की रही है।"

चीनी चित्रों के किसी भी सग्रह पर केवल एक सरसरी निगाह भर दौडानेवाले सामान्य दर्शक को भी यह पता लगे बिना नही रह सकता कि इनमे से अधिकतर का विषय प्राकृतिक दृश्यो का दिग्दर्शन अथवा अन्य नैसर्गिक अध्ययन ही है। उदाहरणार्थ, उनमे फूल, पौधे, हरियाली, कीडे, पक्षी, जानवर आदि के ही चित्रण की प्रचुरता मिलेगी। इन चित्रों मे मानव का स्थान गौण या नगण्य-सा हो गया है—जहाँ-कही भी मानवाकृतियाँ चित्रित की गई हैं वहाँ गौण रूप ही मे। इसके विपरीत योरप की कलाओं मे मानवाकृति प्रधान है, अन्य वस्तुएँ गौण। मानव ही उनका प्रधान नायक है। वहाँ हर कही हम विश्व की अन्य सभी वस्तुओं की तुलना मे मनुष्य की ही सर्वोपरि महत्ता का भव्य रूप चित्रित करने का प्रयत्न देखते हैं। यदि हमे चीन की कला मे मानव के इस प्रकार अपेक्षतया बिलकुल ही नगण्य स्थान दिए जाने का कारण ढूँढना है तो हमे उस महादेश के सामाजिक ढाचे की तह मे गहरे उतरकर देखना होगा। चीन की जनता मूलतः कृषि-व्यवसायी है और इस कारण वहाँ के लोग प्रकृति की शक्तियों, जैसे आकाश, नक्षत्र, वायु, वर्षा, ऋतुचक्र आदि, मे गहरी दिलचस्पी रखते हैं। मानव-मस्तिष्क पर स्वभावतया उन्हीं वस्तुओं का सबसे अधिक गहरा प्रभाव पडता है जिनके ससर्ग मे वह सबसे अधिक आता है। चीनी कला मे पर्वतों, नदियों, वृक्षो, पुष्पों, पक्षियो एव पशुओं की प्रधानता का यही कारण है कि अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक प्राकृतिक दृश्यों का चीनी मस्तिष्क पर वैसा ही गहरा प्रभाव पडता रहा है जैसा योरपीय कलाकारों के मन पर मानव-आकृति का। यही नहीं, चीनवालों की चित्रण-शैली का रूप भी आज लगभग वही है तथा सौन्दर्य के उन्हीं सिद्धान्तो से प्रेरित है जिनका कि विधान वहाँ के आरभिक कलाकारो ने दो हज़ार वर्ष पूर्व किया था।

चीनवालों की यह कट्टर रूढिवादिता या परपरावाद कतिपय विशिष्ट कारणों से है और यह असगत न होगा यदि हम इन कारणों पर भी एक नज़र दौडा लें। चीनवालों की जीवनधारा मे जिस बात की ओर हमारा ध्यान सबसे पहले आकर्षित होता है वह उनका सामाजिक ढाँचा है, जिसकी इकाई परिवार है न कि व्यक्ति। वहाँ पूर्वजों के रीति-रिवाज़ ने ही सबके लिए मान्य विधान का रूप ग्रहण कर लिया और कुटुम्ब की सत्ता बनाए रखना ही सबसे बड़ी आवश्यकता समझी जाने लगी। इस कौटुम्बिक बलिवेदी पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकारो की आहुति चढा दी गई। इस प्रकार वहाँ व्यक्ति सामाजिक शृखला की एक कडी मात्र बन गया तथा इस अटूट शृखला की ही सत्ता सर्वप्रधान हो गई। इस प्रकार की परिस्थिति ने एक और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति को जन्म दिया। यह थी दिवगत पूर्वजों के प्रति अगाध धर्मभावयुक्त श्रद्धा बनाए रखने, भविष्य के बजाय भूतकाल की ओर ही निरतर पलटकर देखते रहने, और अतीत को ही अन्तिम सत्ता स्वीकार करने की प्रबल रूढिवादी प्रवृत्ति। इस प्रकार की संस्कृति के परिणामस्वरूप स्वभावतः ही वहाँ के जीवन मे एकरूपता और सामञ्जस्य

हेमन्त या जाड़ा

सुङ् राज्यवश के काल का एक सुदर चित्र। इसका समय बारहवी शताब्दी ईस्वी बताया जाता है। चित्रकार का नाम विदित नही है। जनश्रुति इसे हुई त्सुङ् की कृति बताती है। किंतु आधुनिक कलावेत्ता इसे दक्षिणी सुङो के किसी महान अज्ञात कलाकार की कृति मानते हैं।
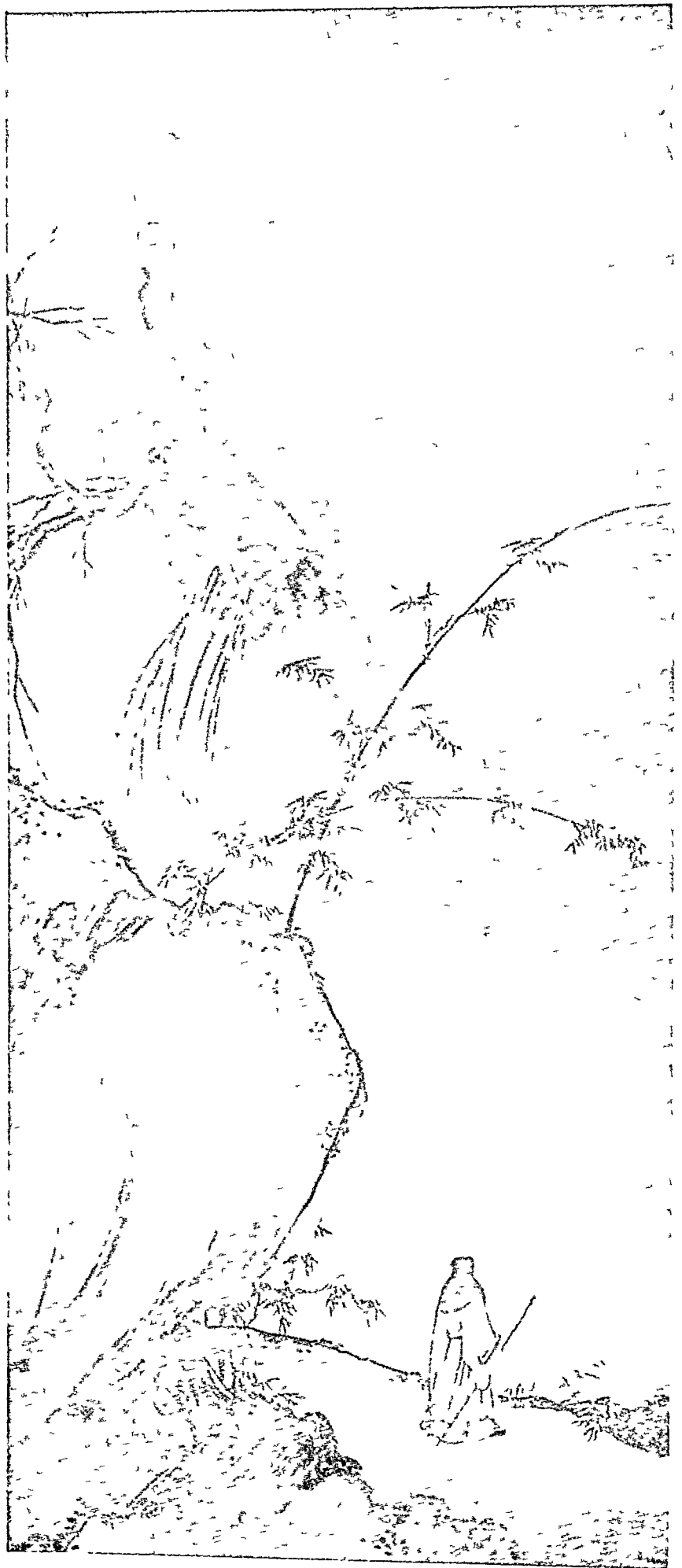
पतझड़

यह भी सुङ् राजवश ही के काल की कृति है और उसी अज्ञात कलाकार की तूलिका का प्रसाद है जिसने पिछले पृष्ठ का चित्र अंकित किया होगा। इन चित्रों से चीनी चित्रकला की लाक्षणिक विशेषता का बहुत-कुछ अनुमान किया जा सकता है।

का एक भाव आ गया, और फलस्वरूप वहाँ की कला में भी व्यक्ति की अपेक्षा जाति की ही प्रमुख रूप से छाप अंकित हो गई।

इस विषय मे यदि कुछ और गहरे उतरना हो तो आवश्यक है कि हम चीन मे कनफ़्यूशियस और लाओत्ज़े (जो दोनों समकालीन थे और छठी शताब्दी ई० पू० मे हुए थे) द्वारा प्रवर्तित उन दो विभिन्न जीवन संबंधी विचार-धाराओं की भी कुछ जानकारी पा लें जिनका कि चीनी जीवन के सभी अंगो पर बहुत ही गहरा प्रभाव पडा है। कनफ्यूशियस के मत को प्रायः एक धर्म कहकर अभिहित किया जाता है, किंतु वह न तो एक धर्म ही है न दार्शनिक विचार-धारा ही। वस्तुतः वह एक नैतिक आदर्शयुक्त सामाजिक व्यवस्था है जिसका लक्ष्य है मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा समाज की स्थिति स्थिर बनाये रखना। उसका आदर्श एक प्रकार का ऐसा कम्यूनिज्म या समाजवाद है जो कि एक कृषिजीवी जाति के लिए उपयुक्त हो। इस व्यवस्था मे नित्यप्रति के जीवन मे उचित व्यवहार सम्बन्धी बाते इस प्रकार विधान और रीति-रिवाज़ द्वारा नियन्त्रित की गई हैं कि उसके परिणामस्वरूप एक ऐसे शान्तिपूर्ण सुसगत समाज का जन्म होना, जिसमे व्यक्ति के लिए कोई स्थान नही होता, अनिवार्य है। और तो और, इस प्रकार की व्यवस्था मे यहाँ तक की बातो की निश्चित योजना पाई जाती है कि किसे किस प्रकार की टोपी पहिनना चाहिए और शयन का सबसे भद्र तरीक़ा कौन-सा है।

ताओ मत अर्थात् लाओत्ज़े द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था मे इसके विपरीत जीवन के सम्बन्ध में एक बिलकुल ही विभिन्न दृष्टिकोण हमे मिलता है। इस मत का जन्म 'याङ्सिक्याङ्' अर्थात् 'नीली नदी' की उपत्यका के निवासी जंगली लोगों मे हुआ था, जो 'ताओ' या प्रकृति के अंतराल मे व्याप्त नैर्व्यक्तिक शक्ति के उपासक थे। नीली नदी के इन निवासियों के मन मे प्रकृति के प्रति, अर्थात् चीन के उस भाग मे बहुत अधिकता से पाए जानेवाले पर्वतो, नदियो, कुहासो और बादलों के प्रति, गहन अनुराग का भाव जमा हुआ था। वे लाओत्ज़े को, जो कि कनफ्यूशियस का ही समकालीन था, अपने धर्म का आदि संस्थापक मानते थे। लाओत्ज़े व्यक्ति को कही अधिक महत्त्व देता था, क्योकि विश्व मे व्याप्त महान् निराकार नैर्व्यक्तिक शक्ति की धारणा के समर्थन के लिए आत्मा के व्यक्तिगत स्वरूप की महत्ता को स्वीकार करना आवश्यक था। इस प्रकार चीनी कला की दो प्रमुख धाराओं अर्थात् रूढ़िवादिता और प्रकृति-पूजा का उद्गम हम चीन के इतिहास के प्रारम्भिक काल मे कनफ़्यूशियस और लाओत्ज़े की शिक्षाओ मे पाते हैं। किन्तु निरे दार्शनिक या धार्मिक विचारों का मज़बूती के साथ जन-मस्तिष्क पर गहरी छाप जमना संभव नही होता, जब तक कि उसे राज्य की शक्ति और समर्थन का बल भी प्राप्त न हो। चीनी राष्ट्र का सर्वप्रथम वास्तविक संगठन 'त्सीन' नामक तातार जाति के लोगो द्वारा हुआ जो कि 'चाओ' राजवश* के राजाओ के अश्वपालों और सारथी का कार्य करते और साम्राज्य के सीमान्त पर रहते थे। इन लोगो ने एक शक्तिशाली केन्द्रीय-राजसत्ता की स्थापना की और मंगोल घुमक्कडों के आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए चीन की सुप्रसिद्ध 'बडी दीवाल' का भी निर्माण किया। इन्ही लोगो के नाम पर इस देश का नाम 'त्सीन' या 'चीन' पडा, जिससे कि आज हम उसे पुकारते हैं। त्सीन लोगो को हान लोगो ने परास्त कर दिया। हान लोग कनफ्यूशियस के आदर्शों के महान् पृष्ठपोषक थे। अतएव इन्होने उन ग्रथो को, जिनमे कनफ्यूशियस के विचारो का प्रतिपादन किया गया था, चीन के अन्यतम प्राचीन साहित्य के रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया। हान राजवंश के युग मे साम्राज्य का विस्तार पश्चिम की ओर हुआ। इसके दो उद्देश्य थे, प्रथम तो मध्य-एशिया की जंगली जातियों से चीन की रक्षा; दूसरे साम्राज्य के उन महान् व्यापारिक मार्गों को खुला रखना, जिनके द्वारा चीन का रेशम तथा अन्य माल

---

* **चीन की सभ्यता के इतिहास की डोर २०० ईस्वी पूर्व पीछे तक जाती है। चीनी इतिहास के प्रमुख महत्त्वपूर्ण युग निम्न प्रकार है—**

१. ह्सिया राजवंश	२२०५-१७६६ ई० पूर्व
२. शाङ् ,,	१७६६-११२२ ,,
३. चाओ ,,	११२२-२५५ ,,
४. त्सीन ,,	२५५-२०६ ,,
५. हान ,,	२०६ ई० पूर्व से २२१ ई०
६. वाई और अन्य छः वंश	२२१-६१८ ई०
७. टैङ् राजवंश	६१८-९०७ ,,
८. सुङ् ,,	९६०-१२८० ,,
९ युआन या मंगोल ,,	१२८०-१३६८ ,,
१० मिङ् ,,	१३६८-१६४४ ,,
११ चिङ् या मंचु ,,	१६४४-१९११ ,,

सुदूर पश्चिम में रोम-साम्राज्य तक जाता था। उस प्राचीन युग मे ही चीन के रेशमी वस्त्र इतने प्रसिद्ध थे कि रोमन लोग चीन को 'सरीकाना' अर्थात् रेशम के देश के ही नाम से पुकारते थे।

चीनी सभ्यता के इतिहास मे इन विशद् राजमार्गों का बड़ा महत्व रहा है। इन्ही मार्गों से होकर व्यापारियो, धर्म-यात्रियो और विशाल सेनाओ के झुड पूर्वी और पश्चिमी एशिया के बीच आते-जाते रहते थे। जब कि खास चीन मे वहाँ की स्थानीय सस्कृति ही पनपकर क्रमशः सर्वमान्य रूढियो का रूप लेती जा रही थी, उन्ही दिनो इन विशद राजमार्गों पर क्रमशः बौद्धधर्म का प्रभाव बढने लगा था। भारत से आए हुए बौद्ध भिक्षुओ और धर्मप्रचारकों का पूर्व की ओर अधिकाधिक विस्तार होता चला जा रहा था, विशेषकर पूर्वी तुर्किस्तान मे, जो कि चीनी साम्राज्य का ही एक आश्रित राज्य था। इसी प्रदेश के विस्तृत मरुभूमि से युक्त पठारो के बीच मे यहाँ-वहाँ बिखरे हुए कुछ इने-गिने नगरो मे भारतीय धर्म और चीनी सस्कृति का महत्वपूर्ण समागम हुआ और इन दोनों के सयोग से ही उस विशद भित्ति की स्थापना हुई, जिस पर चीन की भावी महान् कला की इमारत खड़ी हुई।

इस कालावधि मे शाक्य मुनि द्वारा निरूपित मूल बौद्ध-धर्म मे विशद परिवर्तन हो चुके थे। हिमालय के उस पार से अब जो धर्म आया, वह कठोर 'हीनयान' मत नही रह गया था प्रत्युत् उसका स्वरूप अधिक लोकग्राह्य बन चुका था, जिसमे कि बोधि-सत्वो और उनकी 'शक्तियो' की कल्पना की भरमार हो चली थी। इन बोधि-सत्वो मे प्रधान थे 'अवलोकितेश्वर' अर्थात् सर्वद्रष्टा देव। बौद्ध देवमडली का यह सर्वोपरि देवाधिपति क्रमशः "क्वान्नन' या 'क्वान्निन'—करुणा के देव—के नाम से चीनी और जापानी देवालयो का सर्वप्रधान देव बन गया। भारतीय विचारो के चीन की विशिष्ट अभिव्यक्ति-प्रणाली मे रूपान्तरित होने की इस प्रक्रिया का विकास हम चीनी तुर्किस्तान मे होते देखते है। यहाँ सभव नही कि हम सर ऑरेल स्टाइन, प्रोफेसर फॉन लेकॉक, पॉलपेलिओ, आदि की खोज द्वारा उपलब्ध महान् पुरातत्त्व सबधी ज्ञान-राशि का विवरण दे सके। जिन्हे इस सबध मे जिज्ञासा हो वे ऑरेल स्टाइन कृत 'सरिन्डिया', 'प्राचीन खोतन', 'सहस्र बुद्धो की गुफा', अथवा फान लेकॉक कृत 'चीनी तुर्किस्तान के गड़े हुए खजाने' आदि ग्रन्थो के पृष्ठो को उलट सकते हैं, जिनमे अब तक प्राप्त अत्यधिक मूल्यवान सामग्री की एक झलक मिल सकती है। आम जनता को शायद यह पता नही है कि नई दिल्ली मे भारत-सरकार की ओर से मध्य एशियाई पुरातत्त्वावशेषो का एक सग्रहालय या अजायबघर खुल चुका है, जहाँ भारतीय-चीनी-कला के समाहार के इस विशिष्ट पहलू का सफल अध्ययन किया जा सकता है। इस युग के सुन्दरतम भित्ति-चित्र, जिनकी खोज प्रो० एलबर्ट फॉन लेकॉक ने 'काईजाइल' और 'बेजेक्लिक' से की थी, आजकल बर्लिन के मानव-वैज्ञानिक सग्रहालय मे सुरक्षित हैं।

यह एक दु:ख की बात है कि खास चीन मे इस सांस्कृतिक समाहार की प्रक्रिया का पूरी तरह आत्मीकरण और प्रकाशन टैड् राजवश के काल मे हुआ। यह युग था तो चीन की समस्त कलाओ—चित्रकारी, भास्कर्य, धातुकारी, काव्य और सगीत—का स्वर्णयुग, किन्तु इस युग के अन्तिम दिनों मे बौद्धमत के विरुद्ध चीन मे प्राचीन रूढिवादिता की प्रतिक्रिया की एक लहर उठ खडी हुई थी, जिसने क्रमशः एक विद्रोह का रूप धारण कर लिया। इस विद्रोह ने उस राजवश को उखाड फेंका और फल-स्वरूप कनफ्यूशियस द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था की फिर से स्थापना हो गई। विद्रोहियों ने नवीन मत (अर्थात् बौद्ध विचारों) का अनुसरण करनेवाले हर व्यक्ति को तलवार के घाट उतारना शुरू किया और इस सिलसिले मे अनेक सुन्दर भित्ति-चित्रों से सुसज्जित मठों और देवालयों के विध्वस द्वारा कला सबंधी तमाम अमूल्य कृतियो को एक तरफ से नष्ट कर दिया। यह सच है कि दसवी शताब्दी मे चीन मे फिर बौद्धमत के पुनरुज्जीवन की एक लहर उठी, किन्तु उस समय तक अधिकाश चित्र और भित्ति-चित्र ऐसे नष्ट हो चुके थे कि उनका उद्धार सभव न था। टैड् युग के भित्ति-चित्रो के अवशेषो मे सबसे प्रसिद्ध वसतोत्सव के विख्यात चित्र के वे जीर्ण-शीर्ण अश हैं, जो ऑरेल स्टाइन को १६१४ मे तुरफॉन मे मिले थे। ये सचमुच ही प्रशसा के योग्य हैं। ये इसी युग की कुछ और तस्वीरो से, जो कि अब जापानी सग्रहालयों मे सुरक्षित हैं, बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं और उन्ही जैसी शैली तथा कलात्मक प्रेरणाओ की अभिव्यक्ति का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार के अधिकाश चित्र बौद्ध विषयों के ही हैं—वस्तुतः टैड् युग की भव्यतम रचनाएँ बौद्ध प्रेरणाओ-की ही उपज थी। इन चित्रो मे सर्वश्रेष्ठ वू ताओत्सू की रचनाएँ हे, जो सबसे महान् चीनी चित्रकार माना जाता है। कहते हैं कि इस महान् कलाकार ने तीन सौ

चिङ् युग का एक आकर्षक चित्र

इसका समय अठारहवीं शताब्दी बताया गया है। इसका चित्रकार वैङ् चाओं सियाङ् था। चित्र में एक युवती एक पक्षी को दाना चुगा रही है। रेखाओं के सामंजस्य पर ध्यान दीजिए।
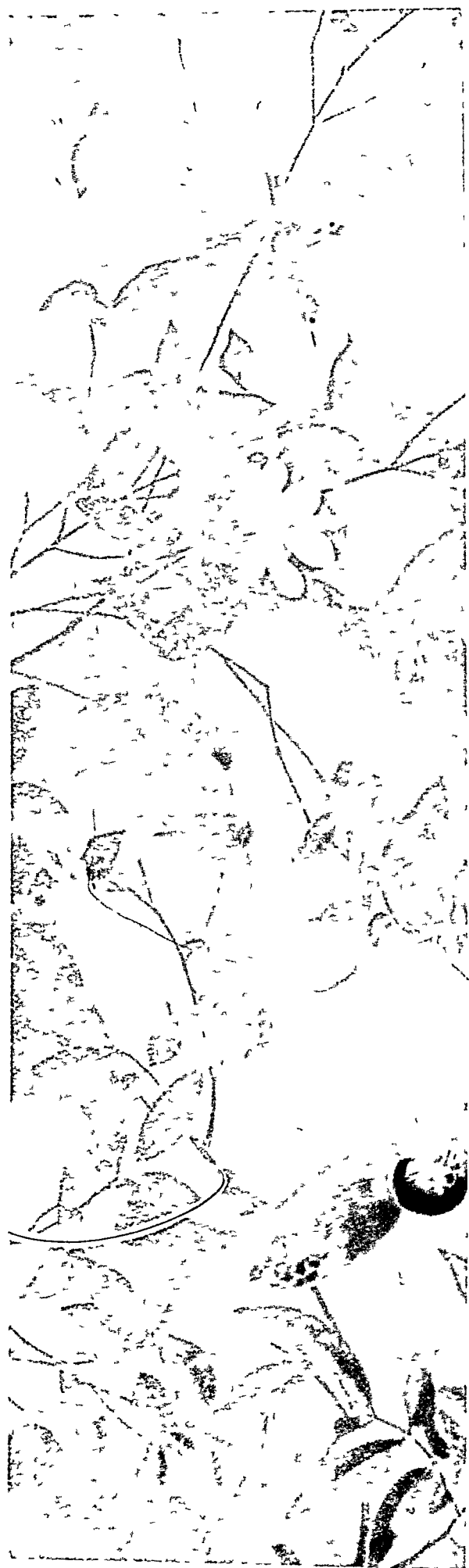
मिङ् राजवंश के काल का एक सुन्दर नमूना

यह सोलहवी शताब्दी की कृति है। चित्रकार का नाम ज्ञात नही है। चित्र को आड़ा घुमा कर देखिए।

च्चिङ् राजवंश के युग की कला के दो और नमूने

(बाईं ओर) सत्रहवीं-अठारहवी शताब्दी के एक रेशमी परदे पर किया गया सुंदर चित्र। (ऊपर) युङ्_चिङ्_(१७२३-१७३५) के राज्यकाल के समय की एक चीनी मिट्टी की तश्तरी पर चित्रित कमनीय दृश्य। वस्तुतः प्राकृतिक चित्रण मे चीनी कला वेजोड है। विशेषकर पुष्प-लताओं, पक्षियो आदि के चीनी चित्राङ्कनों मे तो कला के साथ-साथ मानों काव्य का भी आनंद दर्शकों को मिलता है।

से भी अधिक भित्ति-चित्र रचे थे, किंतु दुर्भाग्यवश आज उनमे से एक भी उसकी अद्वितीय प्रतिभा की झलक दिखाने के लिए शेष नही है। टैङ् काल के बौद्ध चित्रो मे से कुछ, जिन पर कि प्रान्तीयता की छाप है, पॉल पेलिओ और सर ऑरेल स्टाइन द्वाराचीन के पश्चिमी सीमा-प्रदेश पर टून-हुवाङ् नामक स्थान मे खोजे गए हैं और उनमे से कुछ नई दिल्ली के मध्य एशियाई पुरातत्व-संबधी सग्रहालय मे देखे जा सकते है। इनमे से कई पर नवीं और दसवी सदी ई० की तिथि अकित हैं।

टून-हुवाङ्ग से प्राप्त चित्र अधिकांशतः अमिताभ बुद्ध, जो कि पश्चिमी 'स्वर्गभूमि' के अधिष्ठाता माने जाते थे, तथा उनके मानस पुत्र अवलोकितेश्वर 'अथवा करुणा के देव' से संबंधित है, जो कि बाद मे स्त्री आकृति मे चित्रित किए गए है। इस 'स्वर्ग' संबंधी अनेक चित्र मिलते हैं, जिनमे प्रायः एक बुद्ध (अधिकतर अमिताभ, किन्तु सदैव नही) की अधीनता मे अनेक दिव्य आत्माओ की मडली एक पुनीत नृत्योत्सव के चारो ओर एकत्रित चित्रित की गई पाई जाती है। असंख्य मानवाकृतियो से युक्त इन जटिल चित्राङ्कनो मे से कुछ रचना-सबधी एक अद्भुत शांतिसूचक सुसंगति और वर्ण-वैचित्र्य के सौंदर्य से अभिभूत है। उनमे चित्रित आकृतियों की व्यवस्था मे किसी प्रकार की गडबडी या भौडापन नही पाया जाता। अन्य धर्मार्थ उत्सर्ग किए गए चित्रो मे महान् बोधिसत्वो, विशेषतया क्वान्नन (करुणादेव), अथवा बौद्ध गाथाओ के दृश्यो का चित्रण है। बोधिसत्वो के चित्रो मे आकृतियों, वेशभूषा, चेहरे, आभूषण आदि उनकी मूल भारतीय मूर्त्तियो के ही अनुसार हूबहू बनाए गए हैं। दूसरे प्रकार के अर्थात् बौद्ध गाथाओ के चित्रो मे वेशभूषा और इमारतें आदि विशुद्ध चीनी ढंग की ही हैं। प्रायः इन विशाल चित्रो के अगल-बगल अंकित छोटे-छोटे दृश्यो से उस युग के सांसारिक (धर्म से इतर) विषयो के चित्रण की शैली की भी एक झलक हमें मिल जाती है—इन्ही मे चित्रित दाताओ या दापको के चित्रो से हमें उस युग की वेश-भूषा का भी अनुमान हो जाता है। यद्यपि यह कृतियाँ अधिकाशतः कलाकारो के बजाय साधारण कारीगरो की ही रचनाएँ हैं, फिर भी ऐतिहासिक आलेख के रूप मे उनका मूल्य किसी क़दर कम नही है और उनमे से कुछ तो निस्संदेह वास्तविक सौन्दर्य से युक्त हैं।

टैङ् युग की एक और लाक्षणिक विशेपता यह है कि इस युग मे प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण यहाँ-वहाँ की भरती अथवा पृष्ठभूमि तक ही सीमित न रहा, बल्कि स्वतन्त्र रूप से स्वतः उसकी अलग से भी साधना की जाने लगी। प्राकृतिक दृश्यो के चित्रो के लिए चीन मे 'शान्-सुई' शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ है, 'पर्वत और जल' और इस प्रकार के चित्रो के लिए निरंतर बहनेवाली जलधाराओ तथा भव्य पर्वतमालाओ का दृश्य ही चीनी लोगो का सबसे प्रिय विषय पाया जाता है। इस प्रकार का जो चित्रण उनके चित्रो मे पाया जाता है उसमे एक विशेष प्रकार की सूक्ष्मता तथा आध्यात्मिकता का भाव निहित रहता है, जिसके द्वारा दिन और रात्रि के चौबीसो पहर तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओ मे उन पर्वतो के भिन्न-भिन्न सूक्ष्म भावो और चित्तवृत्तियो का अभिलेखन किया रहता है। इनमे कभी भी एक दृश्य विशेष का प्रत्यांकन नही पाया जाता, प्रत्युत् अनेक यहाँ-वहाँ उडते फिरते हुए भावो और चित्तवृत्तियो के सम्मिलन का प्रयास दिखाई देता है जिनसे एक दृश्य विशेष की सृष्टि हो जाती है। ली श्शू-शुन (जन्म ६५१ ई०) पहला विख्यात चित्रकार था, जिसने विशुद्ध प्राकृतिक दृश्यो के चित्रण को ही अपना एकमात्र कार्यक्षेत्र बना लिया। उसके पुत्र ने उसकी आलेखन-विधि को जारी रक्खा तथा उसका विकास किया, और अंत मे वाङ् वी नामक कवि-चित्रकार के हाथो मे पहुँचकर तो प्राकृतिक दृश्य चित्रण की यह कला एकबारगी ही खिल उठी। वाङ् वी ने एक प्रकार की इकरंगी रोशनाई द्वारा चित्रण करने की विधि का विकास किया, जिसमे प्राकृतिक दृश्य एक ऐसे भाव का गौण अगमात्र बन गया जोकि श्शू-शुन और उसके संप्रदाय की कृतियों से कही अधिक आत्मसूचक था। वाङ् वी के सुप्रसिद्ध चित्रपट 'वाङ् चुआन् की दृश्यमाला' की प्रतिलिपियाँ अब भी विद्यमान हैं। उस महान् कलाकार द्वारा स्वतः रेशमी पट पर आलिखित मूल चित्र जब जीर्णशीर्ण हो चला तब उसे चिरस्थायी बनाने के उद्देश से उसकी पत्थर पर खोदकर एक प्रतिलिपि उतार ली गई। उसे डा० बर्थवल्ड लॉउफर ने खोज निकाला है और 'इस्टेशियाटिक साइत्श्रिफ्ट' नामक प्रकाशन मे उसकी प्रतिलिपि प्रकाशित हुई है।

जानवरो के चित्रण की कला भी टैङ् युग मे अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची। इस युग की क़ब्रो या समाधियो मे पाई गई घोडो और ऊँटो की सुंदर आकारवाली अद्भुत मृण्मय मूर्त्तियाँ एक आश्चर्यजनक वेग और

व्यापक दृष्टिकोण की सूचना देती हैं। ये ग्रीक या मिस्री कब्रो मे पाई गई जानवरों की मूर्त्तियो से कही बढ-चढकर हैं। इन रॅगी हुई मिट्टी की मूर्त्तियो के सौदर्य को देखकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि इस युग का जानवरों का चित्रण अत्यधिक उत्कृष्ट रहा होगा। त्साओ पा और उसका शिष्य हान-कान, जो अपने गुरु से भी बढा-चढा था, इस युग के सबसे प्रख्यात घोडों के चित्रकार थे और हान हुआड् भैंसों तथा ग्राम्य दृश्यो के चित्रण मे सबको मात करता था।

इसके अतिरिक्त इस युग मे राज-दरबार तथा अन्य सासारिक विषयो के भी भव्य चित्र बनाए गए, जिनमे चाउ फॅङकृत "सगीत के श्रोता" नामक चित्र उल्लेखनीय है।

टैड् और सुड् युग के बीच के युगान्तर काल मे चित्रकारी का दृष्टिबिंदु जानवरों और प्राकृतिक दृश्यों से हटकर पुष्पो और वनिताओ पर केन्द्रित हो गया। इस सधि-युग का सबसे प्रख्यात चित्रकार हुआन चुआन था, जिसने प्राकृतिक दृश्य, पक्षी और पुष्प आदि का चित्रण किया है और जिसे चित्रकला मे तथाकथित "अस्थिरहित विधि" (Boneless Method) अर्थात् कोई रूपरेखा खींचे बिना ही चित्र बनाने की विधि का आविष्कार करने का श्रेय दिया जाता है।

चीनी कला के द्वितीय स्वर्ण-युग का उदय सुड् काल (९६०-१२८० ई०) के आरभ के साथ हुआ, जिसकी कलात्मक प्रतिभा के प्रस्फुटन की तुलना योरप मे पुनरुज्जीवन काल की कला-सबधी प्रगति से की जा सकती है। योरपीय पुनरुज्जीवन काल की भॉति सुड् युग ने भी अपना आदर्श अतीत में पाया। इस युग के दर्शन, काव्य और चित्रकला ने मिलकर चीनी प्राकृतिक दृश्य-चित्रण के क्षेत्र मे सर्वोत्कृष्ट कृतियॉ निर्मित की। सुड् राजवश के सम्राटों की अधीनता मे सारा चीन एक बार पुनः एकता के सूत्र मे बॅध गया। सम्राट् हिन सुड् स्वय एक चित्रकार और शौक़ीन सग्रहकर्त्ता था। उसके राज्यकाल मे पेकिङ्ग की 'चित्रकला परिषद्' ख्याति के शिखर पर चढ गई और चीन के सभी भागों से प्रतिभावान् कलाकार उसकी ओर आकृष्ट होने लगे। राजकीय संरक्षण पाकर चित्रकला मे कही अधिक यथार्थवादिता के प्रति अग्रसर होने की एक लहर उठने लगी, यद्यपि शैली मे कठोर सादगी का ही ध्येय बना रहा। अब पुष्पों का चित्रण चित्रकारों का एक अति प्रिय विषय बन गया, क्योंकि स्वयं सम्राट् ही एक प्रतिभावान् पुष्प-चित्रकार था। इसके अतिरिक्त अन्य बहुतेरे कलाकार रोशनाई द्वारा बॉस के पौधे के चित्रण का अभ्यास करते रहे और इसमें उन्होंने पूरी दक्षता प्राप्त की। अनेक नई चित्रण-शैलियों का आविष्कार हुआ, उदाहरणार्थ मी फेई की रूपरेखा-रहित प्राकृतिक दृश्य-चित्रण की विधि, जिसमे सघन वर्षा अथवा कुहरे मे से निकलते हुए वनाच्छादित शैल-शिखर प्रायः तूलिका द्वारा मौटे तौर पर चित्रित रहते थे। शाओ ता-निएँ ने शरद् या पतझड और हेमन्त काल के दृश्यों के चित्र बनाए और फान क्वान अपने तुषार-मडित हिम-शिखरों के आलेखन के लिए प्रख्यात हुआ।

सुड् युग की कला के क्षेत्र मे सबसे प्रसिद्ध नाम ली-लुड्-मिएँ का है, जिसको प्राचीन परम्परा के प्रति प्रबल अनुराग था। आरभ मे वह प्राचीन महान् कलाकारों की कृतियों की प्रतिलिपियॉ तैयार करने का काम करता रहा, तदुपरान्त एक अश्व-चित्रकार बन गया, और अत मे सभी विषयों को छोडकर केवल बौद्ध विषयों के ही चित्रण मे जुट गया। उसके चित्रों की एक सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह रंगों का प्रयोग शायद ही कभी करता था—केवल अति सूक्ष्म भावपूर्ण रेखाओं द्वारा ही चित्रांकन किया करता था। उसकी कृतियो की प्रतिलिपियॉ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं और चीनवालों द्वारा उसको चीनी सस्कृति के सर्वांगसपूर्ण आदर्श के रूप मे सम्मान प्रदान किया जाता है।

११२७ ई० मे चगीज ख़ॉ के नेतृत्व मे तातार लोग 'स्वर्ग के पुत्र' (चीनी सम्राट्) के विरुद्ध उठ खडे हुए और उन्होने सारे उत्तरी चीन पर अधिकार कर लिया। सम्राट् हुई सुड् पकड लिया गया और उसके जीवन का अत निर्वासन मे हुआ। राजदरबार तितर-बितर हो गया और तथाकथित 'दक्षिणी सुडों' की हेगचो मे नवीन राजधानी प्रस्थापित हुई। इस युग के वातावरण मे इस प्रकार जो परिवर्त्तन प्रस्तुत हुआ, उसका स्पष्ट प्रतिबिंब हमे तत्कालीन कला मे भी दिखाई पडता है। अब जनता की बाह्य परिस्थिति मे अधिक दिलचस्पी नही रही, क्योंकि उसे पलटने मे वे असमर्थ थे। इसके बदले कोलाहलमय जीवन से भागकर किसी सुंदर शात एकात की शरण लेने की कामना बलवती हो उठी। गगन-चुबी पर्वत-शिखरों और द्रुतगामी जलधाराओं के प्रति आकर्षण का भाव अब उमड़ चला, जो कि कईयों के मस्तिष्क मे पहले ही से घर किए हुए था। इन्ही मे लोग अब राजकीय यत्रवत् जीवन के नीरस और भार-

स्वरूप वातावरण से छुटकारा पाने का प्रयत्न करने लगे। बौद्ध धर्म के ज़ेन (ध्यान) नामक संप्रदाय ने, जिसका प्रवेश चीन मे छठी शताब्दी ईस्वी मे एक भारतीय राजपुरुष के प्रयत्नों से हुआ था, चीनी-मस्तिष्क मे अब गहरी जड जमाना शुरू किया। इसका एक कारण सभवतः यह भी था कि इस मत के विचारो मे प्राचीन ताओ मत के सिद्धान्तों से बहुत घनिष्ट समानता थी। इस नवीन मत मे बाह्य दृश्य जगत् की अवहेलना कर अतर्जगत् की ओर अभिमुख होने पर विशेष ज़ोर दिया जाता था। फलस्वरूप चित्रों मे अब तडकीले-भडकीले, सुनहले और रगीन वस्त्रों से सुसज्जित बुद्ध और बोधिसत्त्वों के बदले गहन ध्यान मे निमग्न अर्हन्तों अथवा त्वरा के साथ रोशनाई द्वारा चित्रित ज़ेन-संतों की ही आकृतियाँ दिखाई पडने लगीं। इस नवीन प्रवृत्ति ने दक्षिणी सुङो की कला को एक विशिष्ट काव्यमय भाव से अभिभूत कर दिया।

इस युग के सबसे प्रतिभावान् कलाकार ली टैङ् और उसके ही जितने मशहूर उसके दो शिष्य शिया कुएई तथा मा युआन हैं। यद्यपि इस शैली की चित्रकारी बहुत शीघ्र ही चीन मे अपनी लोकप्रियता खो बैठी, फिर भी बाहरी दुनिया की निगाह मे वही चीनी चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट रूप की प्रतिनिधि मानी जाती है। एकीकरण की एक भावना और आवेग के भाव से युक्त इस शैली मे हम सरलता और भव्यता का बड़ा ही सुन्दर समन्वय पाते हैं। पर्वत या उच्च स्थल-प्रदेशों के प्रति चीनी लोगों मे सदैव ही श्रद्धा का एक भाव रहा है। वे उन्हें देवात्माओं के निवासस्थान के रूप में देखते रहे हैं और यद्यपि चीनी लोग मूलतः कृषिव्यवसायी हैं फिर भी उनकी लाक्षणिक दृश्य-चित्रण कला के मूल मे जो प्रेरक शक्ति काम करती रही है वह उपजाऊ धरती के साथ परिश्रमशील मानव के संबंध में नही प्रत्युत् एक अधिक व्यापक

चिङ् युग के वाङ् वू नामक कलाकार का एक चित्र

विश्व-जनीन-भाव में निहित है, जिसमे प्रबल झझावात, धूमिल कुहासा, उन्नत शैलशृ ग तथा उमडते हुए स्रोत रूपी प्राकृतिक शक्तियों के साथ मानव आत्मा के निकट सौहार्द्र का भाव अतर्हित है।

युआन या मगोल युग के प्रादुर्भाव के साथ ही चीनी चित्रकला ने एक बार फिर अपना वेग गॅवा दिया। अब घोडों का चित्रण ही प्रधान विषय बन गया, चूॅकि मगोल लोग मूलतः एक घुमक्कड जाति के लोग थे और ऋतु-परिवर्तन के अनुसार यहाॅ से वहाॅ जाने के लिए घोडो और ऊॅटों पर ही निर्भर थे। इस युग का सबसे मशहूर अश्व-चित्रकार चाओ-मैङ्ग-फू था, जो प्राकृतिक दृश्यो और पुष्पो के चित्रण मे भी बडा दक्ष था। अन्य एक समकालीन विख्यात चित्रकार 'जेन जेनफा' था। जिसकी बहुत-सी कलाकृतियाॅ अब भी योरप और जापान के चित्र-सग्रहो मे मौजूद हैं।

मिङ् युग की कला की एक विशेषता यह है कि उसमे शुरू से आखिर तक उस धार्मिक प्रेरणा का क्रमिक विलोप होते हम देखते हैं जिसके लिए चीनी कला बौद्ध और ताओ धर्म के प्रति इतनी अधिक ऋणी रही है। अपने ही मे लवलीन हो जाने के कारण अब चीन का बाहरी दुनिया से कोई प्रेरणाजनक ससर्ग नही रह गया था और फलस्वरूप उसकी कला अन्तर्जगत् के सौन्दर्य की अभि-व्यक्ति करने की अपेक्षा बाह्य पार्थिव वस्तुओ की ही सुन्दरता के चित्रण मे उलझ गई। फिर भी इस युग मे अनेक प्रसिद्ध चित्रकारो की नक्षत्रमडली का उदय हुआ, जिसका अधिकतर श्रेय मिङ् राजवश के सबसे प्रथम सम्राट् द्वारा 'चित्रकला परिषद्' की पुनर्स्थापना को था। इस युग के चित्रों के मुख्य विषय पक्षी, फूल और प्राकृतिक दृश्य थे और उनमे भडकीले रग, विशेषकर नीले और सुनहले रगों की प्रधानता रहती थी जो इस युग की एक मुख्य विशेषता बन गई।

किंतु इस युग का प्रधान गौरव साधारण मिट्टी और चीनी मिट्टी के अति सुन्दर पात्रो का निर्माण था। मिङ् युग के चीनी के पात्र सारे ससार के सभ्य देशों मे प्रसिद्ध हो गए और वे बहुत अधिक सख्या मे ईरान, भारतवर्ष, टर्की, मिस्र और योरप तक भेजे गए। मिङ् युग के ये चीनी के पात्र मध्य और आधुनिक युग मे उसी प्रकार चीन का अन्य देशों मे प्रतिनिधित्व करते रहे जैसे कि उसके रेशमी वस्त्रों ने अति प्राचीन काल मे विदेशों मे उसके गौरव की धाक जमा रखी थी। सत्रहवी और अठारहवीं शताब्दी मे योरप मे ये चीनी मिट्टी के पात्र इतने अधिक लोकप्रिय बन गए कि आधुनिक अग्रेज़ी शब्दकोशो मे 'पोर्सलेन' के लिए चाइना (China) शब्द का ही प्रयोग होने लगा है।

चिङ् (मचू) राजवश (१६४४-१६११) का युग पुरातन परम्परागत शैलियो के क्रमिक ह्रास का युग है, यद्यपि बुझती हुई चिनगारियों मे कई उल्लेखनीय प्रतिभावान् कलाकारों के दर्शन भी होते हैं। इस युग मे चित्रकला ढीली-ढाली, निम्नकोटि की, और सनक से भरी हो चली। इस युग के आरभिक दिनों के शौक़ीन चित्रकारों मे चूटा नामक एक कलाकार के पुष्पों और शिलाखण्डों आदि के रोशनाई से बनाए चित्रों की विशेष सराहना की गई है। दूसरा प्रसिद्ध नाम सत्रहवीं शताब्दी के युन शाउपिङ् का है जो चिङ् युग का सबसे प्रख्यात पुष्प-चित्रकार था।

इसी काल के लगभग चीन के राजदरबार मे पाश्चात्य ईसाई मिशनरियो का प्रवेश हुआ, जैसा कि भारत मे भी सम्राट् अकबर और जहाॅगीर के युग मे हुआ था। इसके फलस्वरूप पहलेपहल चीन की भूमि मे यथार्थ-वादिता का बीज बोया गया। परतु सौभाग्य से चीनी मस्तिष्क मे गहरी जड़ जमाए हुए परम्परावाद की रीढ बहुत मज़बूत थी और उसकी शक्ति के आगे योरपीय चित्र चीनी कला पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल सके। इस अल्पकालिक युग की मिश्रित वर्णसकर कला की उपज के दो दिलचस्प नमूने ज्यूसेप कास्टालिओने नामक जेसुइट पादरी, जिसने लेङ् शिहनिङ् का चीनी उपनाम धारण कर चीनी शैली मे सुंदर चित्रकारी की थी, तथा चिआओ पिङ् चेङ् नामक एक चीनी चित्रकार हैं, जिसने योरपीय दृष्टिबिंदु को अपनाकर उसकी शिक्षा लेङ्मेई आदि को दी।

महान् चीनी कलाकारों मे से अतिम शेनानपिन था, जो जापान मे नागासाकी मे जा बसा था। उसकी कला का जापान की कलासबधी प्रकृतिवादी लहर पर बडा प्राणदायक प्रभाव पडा था। इस प्रकृतिवादिता की लहर को छोडकर चीन की आधुनिक चित्रकारी मे नवीन जीवन के कोई चिह्न नही दिखाई देते।

अगले लेख मे हम भास्कर्य और स्थापत्य के क्षेत्र मे चीन की साधना की एक झलक पाठकों को दिखाने का प्रयत्न करेंगे और तदुपरान्त जापान की कला का दिग्दर्शन करेंगे, जिसका चीन की कला से अति घनिष्ठ सबध है।

संस्कृत वाङ्मय—(१)

प्रवेशक

संस्कृत भाषा का साम्राज्य

संस्कृत वाङ्मय का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। जिस प्रकार आर्य जाति की शाखाएँ-प्रशाखाएँ भूमण्डल के विविध प्रदेशों मे फैली हुई हैं, उसी प्रकार संस्कृत वाङ्मय की शाखाएँ-प्रशाखाएँ भी अनन्त अक्षय-वट की भाँति पृथ्वी के कोने-कोने में फैली हुई हैं। आर्य जाति का विस्तार पश्चिमोत्तर मे आर्कटिक सागर के पश्चिमी किनारे से हिन्द-महासागर के तटवर्त्ती दक्षिण-पूर्व तक, फिर अटलांटिक के दोनों तटों पर है। आर्य भाषा का प्रसार आर्य जाति के विविध निवास-स्थानों में तो है ही, परन्तु वह उनसे बाहर अन्य अनार्य भाषाओं के अन्तर मे भी पैठ चुका है। यथार्थतः तो यह कहना कि आर्य भाषाएँ बोलनेवाली सारी जातियाँ आर्य हैं एक कल्पित धारणा है, जिसकी असत्यता अब सिद्ध हो चुकी है और जिस दृष्टिकोण को अधिकतर अधिकारी विद्वानों ने छोड भी दिया है। वस्तुतः भाषा का प्रभुत्व सांस्कृतिक सम्बन्ध और व्यापारिक आदान-प्रदान से जमता है। उसी से प्रायः एक भाषा मे दूसरी भाषा का शब्द-बाहुल्य होता है। परन्तु किसी अन्य भाषा के शब्दबाहुल्य से कोई भाषा उस अन्य की शाखा नही कही जा सकती। उत्तरी भारत में आज जो सैकडों बोलियाँ बोली जाती हैं वे किसी न किसी प्रकार से संस्कृत से ही प्रादुर्भूत हुई हैं। हाँ, संस्कृत से आज की स्थिति तक पहुँचने में कई मार्ग उनके सहायक रहे हैं, जिनका आगे उल्लेख किया जायगा। परन्तु इनके विपरीत दक्षिण भारत में तामिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नडी कुछ ऐसी भाषाएँ भी हैं, जो संस्कृत से नहीं निकलीं, जिनका अपना स्वतन्त्र साहित्य है और जो संस्कृत के संसर्ग के पूर्व से ही फूल-फल रही थीं। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि उनके साहित्य को संस्कृत साहित्य ने बहुत-कुछ भरा-पूरा है और उनमें संस्कृत भाषा के सैकड़ों शब्द कई रूप से जाने-अनजाने व्यवहृत होते हैं। इस रूप से संस्कृत भाषा का औपनिवेशिक साम्राज्य संसार के सुदूर खण्डों में अनार्य भाषाओं मे फैला हुआ है।

वास्तव मे संस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। उसका प्रसार आर्य जाति का भौगोलिक प्रसार है, उसकी सांस्कृतिक प्रगति है। जिन जातियो को हम आज 'आर्य' कहते हैं वे कभी आर्य थी कि नही अथवा जिन्हे हम 'आर्य' कहते हैं और जिन्हे स्वयं आर्यों ने अपनी प्रथम मानवी पुस्तक ऋग्वेद मे 'आर्य' कहा है वे स्वयं बहुत पूर्व विशुद्ध आर्य थे या नहीं यह कहना कठिन है, विशेषकर इस कारण कि संसार की प्राचीन सारी जातियाँ क़बीलों की अवस्था मे घुमक्कड थी और घुमक्कड़ अवस्था मे एक जाति का दूसरी से वैवाहिक अथवा जनन-सम्बन्ध प्रचुरता से स्थापित होता रहा है। इस अर्थ से तो रक्त-शुद्धि अथवा जाति-पावनता एक भ्रान्ति, मृगतृष्णा-मात्र ही सिद्ध होती है। फिर भी इसमे संदेह नही कि आर्य जाति ने अपनी जातीय पावनता बनाए रखने की असाधारण चेष्टा की है और किसी अंश तक बना भी रखी है। एक बात और। इतिहासकारों ने जाति-समुदायों का अध्ययन करते समय जो अनेकों जातियों की गणना और वर्गीकरण किया है उस पीत, कृष्ण, अरुण और श्वेत रूप वर्णाधार से परे एक सांस्कृतिक विभाजन भी किया है। इस विभाजन मे आर्य और सेमिटिक (इसरायल, यहोवा आदि के वंशज, मिस्री (हिमिटिक), अस्सीरियन, बेबिलोनियन आदि) प्रमुख हैं। है तो यह केवल सांस्कृतिक और

जातीय वर्गीकरण और जातीय सम्बन्ध से यह बहुत प्रामाणिक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन दो जातियो मे बहुत पूर्व प्रागैतिहासिक काल मे वस्तुतः कितना अन्तर था यह नही कहा जा सकता, विशेषकर जब कि दोनो की शारीरिक विशेषताएँ लगभग समान थी। वर्ण मे भेद अवश्य था, परन्तु इसका ही क्या प्रमाण है कि सेमिटिक जातियाँ ही दजला और फरात के तटों पर सदा से बसी थीं, और पूर्वकाल मे अन्यत्र से आकर न बसी, अथवा उनका भी रग आर्यों की ही भाँति श्वेत न था जो मध्य एशिया के जलवायु से गेहुआँ अथवा अधिकतर घना हो गया। हाँ, सास्कृतिक भेद यथार्थ है, जो आसानी से माना जा सकता है और मान लेना पडेगा। आर्य और सेमिटिक जातियों की सस्कृति मे बडा गहरा भेद रहा है, जो अब तक बहुत अशो मे बना हुआ है। इनमे एक की सस्कृति का प्राण उदार और दूसरे का आतकमय रहा है। यह कहना तो अत्युक्ति होगी कि आयो ने अपने प्रसार और भौगोलिक विजयों मे आतक अथवा सघर्ष को स्थान न दिया या सेमिटिक जातियो ने सदा आतक को ही अपनाया, परन्तु लाक्षणिक रूप मे उनकी ये विशेषताएँ वस्तुतः सिद्ध हैं। एक बार घुमक्कड आर्य जाति ने जब किसी भूखण्ड को अपना गृह बनाया, फिर उसमे अपने निवासस्थान की नींव के साथ ही उसने झट अपनी संस्कृति की जडे भी डाली और धीरे-धीरे अपनी मेधा की विभूतियो और कायिक विसर्जन से उसे दृढ की। फिर उनकी अन्य जातियो पर विजय, असि द्वारा नही, धर्म द्वारा हुई, जिसका विशेष व्यक्तीकरण बुद्ध और अशोक ने किया। अन्य विजित जातियों मे उनके आतक से कराह नही पैदा हुई वरन् ब्रह्मघोष का निनाद फैला। अर्जुन का दिग्विजय अवश्य असि का ताण्डव था, परन्तु आर्य सस्कृति का वैभव अर्जुन का गाडीवघोष नही, कृष्ण का गीतानाद है। आर्य सस्कृति ने जब आवश्यकतावश 'शस्त्र' को ग्रहण किया तब उसने उसके ऊपर 'शास्त्र' की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार आर्य सस्कृति का प्रसार उदारतापूर्वक हुआ विचार-स्वातत्र्य की जड बनाए हुए। इसी कारण संस्कृत भाषा ने जिन-जिन भाषाओ मे प्रवेश किया वे दुर्बल न बनीं वरन् उसके सामीप्य से उनका उपवन फला-फूला। यही कारण है कि ससार की अनेक जातियाँ अनार्य होती हुई, इस आर्यभाषा सस्कृत की शब्दावली का व्यवहार करती हुई, भी नहीं जानतीं कि वे विजातीय बोली बोलती हैं। और न स्वयं सस्कृत भाषा ने ही अन्य भाषाओ से आनेवाली शब्दमाला को अग्राह्य किया। उसने उस पर और अपनी मुद्रा लगाकर उसे अपनी घोषित कर दी और आज आर्य भाषा का कट्टर पुजारी भी विजातीय शब्दो का प्रयोग करता हुआ पूर्ण रूप से सतुष्ट रहता है।

सस्कृत भाषा आर्यों की भाषा है—उसी प्रकार जैसे सस्कृत से पहले मातृसंस्कृत अथवा पूर्वप्राकृत आर्यों के पुरखों की थी। इसी पूर्वप्राकृत-सस्कृत से वे अनेक भाषाएँ निकलीं जिनकी आज आर्य अथवा 'इण्डो-ट्यूटोनिक' भाषाओं मे गणना है। इसी मातृसस्कृत का साम्राज्य भूमध्यसागर के तटवर्ती किसी युग के जगत् के मुकुटमणि ग्रीक और रोमन प्रदेशो पर फैला हुआ था और जिसकी सत्ता आज भी उनकी अनेक बोलियो मे विद्यमान है। इस साम्राज्य की परिखा अटलांटिक महासागर ने एक ओर बनाई जिसके ऐंग्लो-सैक्सन, फ्रासीसी, जर्मन (ट्यूटन अथवा द्वायत्शलदीय), लिथुएनियन आदि अन्तपाल हुए। लिथुएनियनो ने तो इस प्रकार इस भाषा का स्तवन किया कि आज भी क्रापाल्किन के शब्दों मे 'लिथुएनिया का कृषक सस्कृत के ही पदों का व्यवहार करता है'। संस्कृत के यहाँ की भाषा से घने सम्बन्ध के कारण कुछ लोगों ने आर्यों का आदिम निवास लिथुएनिया को भी माना। फिर इसका सिक्का मध्य योरप के स्लाव आदि अनेक भाषाओ मे चला और सोलहवीं शती मे जब योरपीय जातियों ने अमेरिका मे अपना निवास बनाया तो वहाँ भी इस भाषा-बोधि की कलमे जा लगी। पर इनके बहुत पूर्व 'मयों' ने वहाँ आर्य सस्कृति की धरोहर रख छोडी थी। इधर एक बहुत बडा प्रांगण सस्कृत भाषा का ईरान देश मे, जो आर्यों का कभी निवासस्थान था, खडा हो गया। यहाँ तक कि प्राचीन फारसी, जिसमे पारसियों की धर्मपुस्तक 'ज़ेन्दावेस्ता' लिखी गई है, सस्कृत की निकटतम भगिनी है। कुछ अक्षरो की ध्वनियो को बदलकर पढने से ऐसा जान पडता है मानो वेद पढ़े जा रहे हो। यह फारसी बाद की प्राकृतो अथवा बोलियो से सस्कृत के कही निकट है। फिर संस्कृत का विशेष आधार सप्तसिन्धु का प्रदेश बना, जहाँ उसकी विशेष वृद्धि हुई और जहाँ वह देवभाषा बनी। यही से उसका प्रसार भारतवर्ष के प्रान्तों से होता हुआ आयो के अनेक उपनिवेशों—सिंहल, जावा, बालि, सुमात्रा, लवंगद्वीप, आदि—मे आर्य सस्कृति के साथ-साथ हुआ। उसका प्रभाव फिर कोरिया, जापान, चीन, तिब्बत, पूर्वी तुर्किस्तान

आदि देशो के साहित्य पर पडा। इस लेखमाला मे इसी भारतीय संस्कृति का इतिहास संकलित होगा जिसने विश्व को वेद-जैसी ज्ञान-निधि प्रदान की और उसके बाद के इतिहास का निर्माण किया।

संस्कृत भाषा और संस्कृत विद्या

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। जहॉ-जहॉ आर्य जाति की संस्कृति और वैभव फैले है वहॉ-वहॉ सस्कृत भाषा का विस्तार हुआ है। इसे उन्होंने आर्य-भाषा, देव-भापा और भारती आदि की सज्ञा प्रदान की है। संस्कृत भाषा का आरम्भ कितना प्राचीन है यह कहना आज कठिन ही नही वरन् असम्भव है, क्योकि उसका अधिकतर अर्थात् प्राग्वैदिक रूप बिल्कुल ही अनजाना है। जाने हुए रूप का अध्ययन और उसके उत्तरकालीन विकास का अनुशीलन सम्भव है। इस जाने हुए रूप का आरम्भ—उपलब्ध ज्ञान—ऋग्वेद सहिता से होता है और उसका अन्त अथर्ववेद संहिता के साथ हो जाता है। यह इस रूप का प्रथम युग है, जिसे हम सहिता-काल कहेगे। दूसरा ब्राह्मण-उपनिषद्-काल है, जिसमे गद्य का प्रारम्भ और पद्य का पोपण हुआ है। ये दोनो काल मिलकर उस युग का निर्माण करते है, जिसे हम वैदिक युग कहेगे। तीसरा युग सूत्रग्रन्थो का था। चौथे युग मे रामायण और महाभारत-से वीरकाव्यो का प्रादुर्भाव हुआ। पॉचवॉ युग प्राक्कालिदास काव्य और नाटको का था, छठा स्वयं कालिदास का, सातवॉ कालिदासोत्तर काव्यो, नाटको आदि का और अन्तिम युग विविध टीकाओं और भाष्यो का था।

ऋग्वेद से पूर्व की संस्कृत भापा का अथवा उसके साहित्य का ज्ञान हमे नही होता, क्योकि उसके अध्ययन की सामग्री हमे उपलब्ध नही। परन्तु न सही साहित्य का, किन्तु भाषा का फिर भी हम कुछ-न-कुछ अटकल लगा सकते हैं। स्वय ऋग्वेद ग्रीको की देवी मिनर्वा की भॉति बिना शैशव-कैशोर आदि शरीर-गठन की आवश्यक अवस्थाओ के हमारे सामने आ उपस्थित होता है। उसे हम ठीक उसी रूप मे स्वतः पूर्ण पाते हैं। लोगो ने उसके भापा-विकास के अनुसार स्तरो को भी जानने की बात कही है। कुछ स्तरों का पता स्वयं ऋग्वेद के एकाध मंत्रो से ही चल जाता है। उदाहरणस्वरूप एक मत्र मे पूर्व, मध्यकालीन और वर्त्तमान ऋपियो की चर्चा की गई है। ऋग्वेद संहिता की भाषा पद्यमयी है। परन्तु इसके पद्यों के छन्द उत्तरकाल के अलंकारशास्त्र की पद्धति का अनुकरण नही करते, जो स्वाभाविक ही है। इससे यह बात प्रकट होती है कि छन्दो के उस रूप का अभी अधिकतर अभाव था जिसका दर्शन हमें बाद के अलंकारशास्त्र के ग्रन्थो मे होता है। समसामयिक साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध में कुछ कहना तो कठिन है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह भाषा साधारण बोलचाल की नही है, क्योकि पद्यमयी भापा साधारण बोलचाल की नही हुआ करती। फिर भी छन्दबद्ध जो भाषा है वही गद्य रूप में जनता की हो सकती है। इस छन्दरहित गद्य-भाषा के दो रूप हो सकते हैं—एक तो शुद्ध वह रूप जो पद्य से वर्जित ऋग्वेद की भाषा का हो सकता है जिसे तत्कालीन शिष्ट लोग बोलते रहे होगे, और दूसरा वह जो ग्रामीण अथवा अशिक्षित जन की भाषा का रहा हो। जो भाषा शिष्ट लोगो की रही होगी वही पाणिनि के 'संस्कृत' का पूर्व रूप है, जिसमे सस्कार का समावेश तो हो चुका है परन्तु जिसके पूर्ण 'सस्कृत' होने मे स्वयं पाणिनि को अभी बहुत-कुछ करना है। किन्तु वह भाषा जो जन-साधारण की रही होगी उसे हम पूर्व-काल की प्राकृत कह सकते है।

कुछ लोगों ने संदेह किया है कि संस्कृत, जिसे हम आज के रूप में जानते हैं, कभी वास्तव मे बोली भी जाती थी या नही। एक महोदय ने तो सन्देह की मात्रा हद दर्जे तक पहुँचा दी है। उनकी राय मे संस्कृत साहित्य तो निस्सन्देह, स्वय सस्कृत भापा भी, एक भारी जाल है जो स्वयं कभी स्थित न थी और "जिसे धूर्त्त ब्राह्मणो ने सिकन्दर के आक्रमणो के बाद ग्रीक भाषा के अनुरूप गढ़ डाला।*"

यह विचारधारा संस्कृत-भाषा के अनुशीलन मे अनोखी है। यहॉ इसका विवेचन श्रेय नहीं। इसकी अप्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है। बाक़ी, संस्कृत कभी बोली जानेवाली जीवित भाषा थी या नही इस पर विचार नीचे करेगे। यहॉ इस बात पर विचार कर लेना अधिक आवश्यक है कि पहले प्राकृत का जन्म हुआ अथवा संस्कृत का। इस विषय

* "Dugald Stewart, the philosopher, wrote an essay in which he endeavoured to prove that not only Sanskrit Literature, but also the Sanskrit language, was a forgery made by the crafty Brahmans on the model of Greek after Alexander's conquest." A. A. Macdonell *Sanskrit Literature*, p. 2.

पर भी विद्वानो का मतैक्य नही। कुछ तो प्राकृत को संस्कृत से प्रादुर्भूत मानते हैं और कुछ सस्कृत को प्राकृत से। सस्कृत से प्राकृत का प्रादुर्भाव युक्तिसङ्गक नही जॅचता क्योंकि स्वय 'सस्कृत' पद मे उसका विरोध है। 'सस्कृत' शब्द स्वय अब सज्ञा होता हुआ भी एक प्रकार का विशेषण है और इसमे एक 'सस्कार की हुई' भाषा का भाव निहित है। फिर सस्कार किसका ? स्वय सस्कृत का ? इसका कुछ अर्थ नही निकलता। अवश्य तब उस भाषा का सस्कार किया गया जो ग्रामीण और जन-साधारण की थी और जो खरादी जाने से निखरकर शिष्टों की सस्कारपूत सस्कृत भाषा बनी। स्वयं 'प्राकृत' शब्द मे भी 'सस्कृत' पद की व्युत्पत्ति के विरोध मे 'स्वाभाविक', 'प्राकृतिक', 'अपरिमार्जित', 'असस्कृत' भाव सिद्ध हैं। इस हेतु यह मानना आवश्यक हो जाता है कि 'प्राकृत' पहले की है और 'सस्कृत' बाद की 'प्राकृत' की ही सस्कारयुक्त भाषा। बाद की प्राकृते बिना संस्कृत के मध्य आधार के पुरातन प्राकृतों से निकलती रही, यद्यपि उनका स्वय समय-समय पर सस्कृत होना और सस्कृत के अनेक शब्दो का फिर से अपभ्रंश अथवा भ्रष्ट होकर प्राकृत बन जाना निवार्य न था। परन्तु यह बात स्मरण रखने की है कि संस्कृत की बुनियाद भी प्राकृत की भॉति ही प्राचीनतम स्तरों में पाई जायगी, क्योंकि उस समय की कल्पना कष्ट-कर होगी जब 'शिष्टों' का अभाव हो अथवा वे प्राकृतों को विशेष रूप से न बोलते रहे हों। सस्कृत का प्रादुर्भाव किसी सनातन सस्कृत से मानना अयुक्तिसगत नही, परन्तु फिर भी प्राकृत की प्राकृतिकता और भी पूर्व जा पहुॅचेगी। सस्कृत का मूल वहॉ खो जायगा, जहॉ से पूर्व 'शिष्टो' की कल्पना न हो सकेगी। और यदि मानव-विकास का सिद्धान्त सही है तो अवश्य एक अवस्था रही होगी जब प्रकृति का सहचर आदि-मानव शिष्ट-वर्ग के अभाव मे उनसे वर्ज्य केवल समान प्राकृत ही बोलता रहा हो। और यदि उस अवस्था की कल्पना करे जब भाषा का जनन हुआ तो निस्सन्देह बालक की भॉति उच्चारण का प्रयास करते हुए मानव का भाषा-सम्बन्धी कोलाहल प्राकृत के अधिक निकट रहा होगा और सस्कृत से अधिक दूर।

ऊपर जो कई स्थलों पर कहा गया है कि सस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है उसका एक विशेष अर्थ है। यह अर्थ और जातियों की भाषाओं के सम्बन्ध में अथवा भारतीय आर्यों से इतर स्वय अन्य आर्यों की भाषाओं के सम्बन्ध में भी सार्थक नही। क्योंकि औरो के प्रतिकूल इस जाति की आदितम (सस्कृत)-भाषा के साथ उसके गहरे अध्यात्म (Philosophy) का भी सम्बन्ध है। बाद मे प्रादुर्भूत अनुकूल अथवा प्रतिकूल सारे भारतीय धर्मो का मूल ऋग्वेद सहिता मे छिपा है। बौद्ध और जैन तथा लोकायत (नास्तिक) धर्मो को छोड अन्य आस्तिक सप्रदाय तो सभी ऋग्वेद को ही अपनी आधार-शिला बनाते हैं और स्वय बौद्ध और जैन धर्मो की आचार-नीतियॉ उसी सहिता के विधान के बहुत-कुछ अनुकूल हैं। सहस्रों वर्षों तक आर्य जाति की विचक्षण मेधा का एकमात्र कलेवर सस्कृत रही है। उस अद्भुत अध्यात्म का एकमात्र यान यही भाषा रही। इसी मे उसने वे रत्न प्रसूत किए जिनकी मर्यादा की ससार ने सराहना की और जिनकी सीमाएँ अन्य जातियॉ अथक परिश्रम करके भी आज तक न छू सकी। क्या आश्चर्य कि उन आर्यो ने इस सर्वतोमुखी भाषा को 'देववाणी', 'भारती' आदि उपाधियों से अलकृत कर पुकारा ?

सस्कृत भाषा, जैसी उसे हम आज पाते हैं, कभी बोली जाती थी या नही, इस पर जैसा पहले कहा जा चुका है, विद्वानों का मतभेद है। पॉचवी शती ई० पू० मे होने-वाले वैयाकरण पाणिनि ने विशेषकर सस्कृत को वह रूप दिया जैसा उसे हम आज पाते हैं। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों ने तो 'सस्कृत' शब्द का प्रयोग भी नही किया है। सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण मे मिलता है। दण्डी ने छठी शती ई० मे अपने काव्या-दर्श मे 'सस्कृत' का व्यवहार जनसाधारण की बोली प्राकृतों के विरोध मे किया है। यास्क और दूसरे प्राचीन भाषाशास्त्रियों और वैयाकरणो ने वैदिक सस्कृत से इतर संस्कृत को 'भाषा' कहा है। उनके और वक्तव्यो से ज्ञात होता है कि इस सस्कृत को भाषा कहकर वे प्रचलित बोली जानेवाली भाषा की ओर सकेत करते हैं। पतञ्जलि ने 'लौकिक' सस्कृत की ओर सकेत किया है। स्वय पाणिनि के अनेकों विधानों का कोई अर्थ नहीं हो सकता यदि वे जीवित बोली जाती हुई सस्कृत के सम्बन्ध मे न कहे गए हो। उनकी कई उक्तियॉ प्रयत्न और उच्चारण आदि के सम्बन्ध मे हैं, कुछ दूर से बुलाने, प्रणाम करने तथा प्रश्नोत्तर मे प्रयुक्त होनेवाली स्वर की ध्वनियों के प्रति कही गई हैं। वास्तव मे सस्कृत केवल साहित्यिक भाषा हो भी नही सकती थी, क्योंकि अति प्राचीन काल से ही बोली-सम्बन्धी बहुतेरी शाखाएँ और भेद हमे उपलब्ध हैं। यास्क और पाणिनि दोनों बोली की 'पूर्वी' और

'उत्तरी' विशेषताओ का उल्लेख करते है। कात्यायन भी बोली सम्बन्धी स्थानविशेष के परिवर्त्तनो की बात कहते है और स्वयं पतञ्जलि ने ऐसे शब्दों की गणना की है जिनका व्यवहार स्थान विशेष मे होता था। मैक्डोनल साहब की राय मे तो "द्वितीय शती ई० पू० मे हिमालय और विन्ध्य पर्वतो के मध्यवर्ती समूचे आर्यावर्त्त प्रदेश मे संस्कृत अवश्य बोली जाती थी।" ब्राह्मण तो इसे बोलते ही थे, परन्तु केवल वे ही नही उनसे इतर वर्णों में भी इसका प्रचार था। महाभाष्य का सूत (सारथि) वैयाकरण से शब्दो की व्युत्पत्ति पर कथोपकथन करता है। इस प्रकार बाद के नाटकों में भी सस्कृत और प्राकृते साथ-साथ व्यवहृत होती है। संस्कृत पतञ्जलि के 'शिष्ट'—राजा, मंत्री, ब्राह्मण, आदि—बोलते हैं, और प्राकृते निम्न पात्रो—सेवक, विदूषक, स्त्रियो—द्वारा व्यवहृत होती हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि ये नाटक तभी खेले जाते होगे जब साधारण जनता कम-से-कम संस्कृत समझती थी—उसमे कही गई विशेषताओं को, श्लेषो और गूढ़ ग्रन्थियो को, वह समझती थी, वैसे ही जैसे नाटको के निम्न पात्र स्वयं प्राकृतभाषी होते हुए भी संस्कृत मे कही हुई वक्तृताओं का उत्तर और प्रत्युत्तर देते थे।

इस प्रकार यह तो सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत किसी सीमा तक बोली जाती थी। पर किस सीमा तक? 'शिष्ट' बोलते थे। पर 'शिष्ट' कौन थे और कहाँ तक बोलते थे? यह बात याद रखने की है कि शिष्टता की सीमा अवश्य करके प्राकृतो की अवधि अथवा हदो को नही लाँघती। संस्कृत-शिष्ट व्यक्ति यदि वह प्राकृतो यानी बोलियो की प्रमुखतावाले प्रान्तो का रहनेवाला हुआ तो सम्भवतः वह भी अपने घर के भीतर प्राकृत ही बोलेगा। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। आधुनिक काल मे खडी बोली का केन्द्र मेरठ माना जाता है। परन्तु खड़ी बोली जिस चुस्ती के साथ मेरठ, दिल्ली अथवा लखनऊ मे बोली जाती है क्या उसकी शतांश सफाई भी और जगहो मे प्राप्य है? और स्वयं मेरठ, दिल्ली और लखनऊ से मील भर दूर बसनेवाले भी क्या शुद्ध खडी बोली बोलते अथवा बोल सकते है? वे सदा एक अथवा दूसरी प्राकृतो का ही आश्रय लेते है। हाँ, जब 'शिष्ट' आपस मे मिलते हैं तब अवश्य खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं अथवा भिन्न प्रान्तो के रहनेवाले भी जब परस्पर मिलते हैं तब भी खड़ी बोली का सहारा लेते हैं। इसी प्रकार प्राचीन समय मे संस्कृत ने खड़ी बोली का पूर्वस्थान लिया था। आपस मे जब 'शिष्ट' मिलते थे, सस्कृत बोलते थे। जब साहित्यिक प्रसग उपस्थित होते थे वे 'शिष्ट' संस्कृत का व्यवहार करते थे। राज-कार्य में भी बहुधा इसी का व्यवहार होता था यद्यपि पालि अथवा अन्य प्राकृते राज-कार्य से अपवार्य न थी। प्रमाण तो इस बात का भी है कि पालि कई अवसरों पर राजकीय कार्यों के लिए व्यवहृत हुई है। संस्कृत का स्थान राष्ट्रभाषा का था। उन साहित्यिक केन्द्रो मे जहाँ का वातावरण पूर्ण 'शिष्टो' का था वहाँ भी सर्वथा व्यवहार संस्कृत का ही था। परन्तु यह बात भी बराबर ध्यान मे रखने की है कि प्राकृतो का भण्डार भी साहित्यिक रूप मे धीरे-धीरे भर रहा था। नाटको मे उनके पदो के उदाहरण भी मिलते हैं।

संस्कृत भाषा का संस्कृत विद्या से शरीर और आत्मा का-सा सम्बन्ध है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, संस्कृत विद्या सर्वप्रथम अध्यात्म के रूप मे संस्कृत भाषा मे अवतीर्ण हुई। आर्यो और मानव-जाति की प्रथम पुस्तक ऋग्वेद सहिता है जो संस्कृत मे है। इस प्रकार जो हमें संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम रूप उपलब्ध है उसमे अध्यात्म और परमात्मचिन्तन सनिहित है। और तब से लेकर जब तक आर्य जाति पूर्णतया पंगु न हो गई तब तक वह बराबर उसी भाषा मे अपने विचार लिखती गई। चार सहस्र-वर्षों तक निरन्तर उस जाति ने अपनी विचक्षण बुद्धि का जादू इस भाषा मे उतारा। इस लम्बी अवधि के बीच आर्यों मे एक-से-एक उत्कट मेधावी हुए, एक-से-एक प्रकाण्ड मनीषी जन्मे, सबने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से संस्कृत को सजाया। अनीश्वरवादी जैनो, बौद्धो और लोकायतो ने भी इसे अपनी सरस्वती से सुरस किया। जैनो के अधिकांश ग्रन्थ तो संस्कृत मे हैं ही, बौद्धों में भी, जब प्राकृत-पालि की नवीनता नीरस हो चली, संस्कृत की कामना जगी। अश्वघोष ने प्रथम शती ई० मे 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' देववाणी में ही गाए। यह सस्कृत का उस उत्कट बौद्ध भिक्षु के प्रति व्यंगपूर्ण प्रहसन था! फिर तो महायान के प्रसार मे अधिक काल तक संस्कृत सहायक हुई। जब महायान से मंत्रयान और वज्रयान का प्रादुर्भाव हुआ और तन्त्रों के प्रभाव से इनकी विद्या गूढ हो चली, मंत्रयान और वज्रयान साहित्य भी संस्कृतभाषा मे ही लिखे गए।

सहिताओ के बाद ब्राह्मण और ब्राह्मणों के बाद आरण्यक और उपनिषद् संस्कृत मे पनपे और बढ़े। फिर सूत्र-ग्रन्थ और वेदाङ्ग आए। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, गणित, ज्यामिति, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्य, नाटक, चम्पू,

व्यवहार आदि पर ग्रन्थ रचे गए। इस सस्कृत भाषा-रत्नाकर से मत्र, छन्द, गाथा, अनुश्रुति, जनश्रुति, धर्म और आचार, गल्प और कहानियाँ, जीवनचरित, इतिहास-पुराण, राजनीति और अर्थशास्त्र जैसे रत्न प्रसूत हुए। फिर वाद्य, गान और नृत्य, नाट्य, इन्द्रजाल, अलंकार, काम और भूत-वनस्पति आदि अन्य वैज्ञानिक शास्त्रो की रचना हुई।

एक विशेष बात सस्कृत ग्रन्थन मे यह रही है कि आर्य-मस्तिष्क ने अपने शास्त्रो की रचना प्रायः पद्यात्मक की है। अध्यात्म और आन्वीक्षिकी से लेकर आयुर्वेद, ज्योतिष और मानसार (वास्तु Architecture) तथा अन्य कलाओं तक के ग्रन्थ काव्य मे रचे गए। व्याकरण और शब्द-कोष तक पद्य मे बने। शब्द-कोष की कला तो अद्‌भुत क्षमता की सीमा तक पहुँच गई। इस क्रमिक साहित्यक्षेत्र मे मनुष्य के जन्म (कुमारभृत्य) से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन मे जिन-जिन विषयों की चर्चा वाछनीय थी उनका विवेचन तत्कालीन वैज्ञानिक कोण से पूर्णतया हुआ। पुस्तक-निर्माण का क्रम वेग से जारी रहा और आश्चर्य-जनक सुविधा के साथ सद्यःजात काव्य अथवा ग्रन्थ अपने अधिकारी आलोचको को उस सुदूर काल मे भी उपलब्ध होते थे जिनकी मुद्रा भवभूति-से प्रखर बुद्धिवाले नाटककार पर भी गहरी अकित होती थी। तब आज की भाँति कागज न था। उत्तर भारत मे भोजपत्र आदि पर और दक्षिण भारत मे ताडपत्र पर ग्रन्थ लिखते थे। उत्तर मे स्याही का व्यवहार होता था, परन्तु दक्षिण मे ताडपत्र घोटकर उस पर शलाका से अक्षर बनाकर उनमे रग भर लेते थे। फिर पत्रो को एकत्र कर उन्हे छेदकर सूत से नथकर जो ग्रन्थि देते थे उससे उनका 'ग्रन्थ' नाम सार्थक होता था। सहस्रो की सख्या मे ग्रन्थ नक़ल करने-वाले लेखक अपने कार्य मे व्यस्त रहते थे। परन्तु लेखन के सम्बन्ध म एक स्वतत्र प्रकरण अनिवार्य है और हम उसका उल्लेख आगे करेंगे।

संस्कृत वर्णमाला और देवनागरी

संस्कृत की वर्णमाला एक अद्‌भुत सृष्टि है। इसकी अभिसृष्टि किसी भी आधुनिक वैज्ञानिक शोध से कम महत्व की नही। इस पूर्ण वर्णमाला का वैज्ञानिक रूप पहले-पहल महावैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी मे मिलता है। यह संस्कृत भाषा की सारी ध्वनियो का प्रतिनिधि तो है ही साथ ही इनका अंकन एक अद्‌भुत वैज्ञानिक शैली मे हुआ है। सर्वप्रथम इसमे लघु और गुरु स्वर आते हैं, फिर सयुक्त स्वर, फिर ध्वनि के अनुसार वर्गो मे व्यञ्जन और संयुक्त व्यजन। उदाहरणार्थ पाणिनि द्वारा सूत्रबद्ध वर्णमाला दी जा सकती है—"अइउण्। ऋलृक्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरट्। लण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। शषसर्। हल्।" इनका प्रयत्न-उच्चारण कितना वैज्ञानिक है, यह वर्गों के उच्चारण-विधान से और स्पष्ट हो जाएगा—"अकुहविसर्जनीयाना कण्ठः, इचुयशानातालुः, ऋटुरषाणा मूर्धा, लृतुलसाना दन्ताः, उपुपध्मानीयाना ओष्ठौ, ञमङणनाना नासिका च।" इनमे वर्ग और कुछ अन्य अक्षरो के उच्चारण समान हैं सो तो है ही, साथ ही मुख के स्थान भी जहाँ से उनका उच्चारण होता है एक विशेष क्रम से प्रयुक्त हुए हैं। जैसे ध्वनि के मुख से बहिर्गत होने के जो द्वार हैं उनमे कण्ठ सर्वप्रथम है, फिर तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ क्रम से आते हैं और बाद मे वे सकर वर्ण जो मुख-नासिका से उच्चरित होते हैं। यह आर्यो के लिए कुछ कम गौरव की बात नही कि उन्होने संसार के उस प्रारम्भिक युग मे भी एक ऐसी वैज्ञानिक वर्ण-माला का व्यवहार किया जो इस विज्ञान के युग में भी योरप को उपलब्ध नही और जिससे बेहतर वर्णमाला की कल्पना जगत् न कर सका। इस वर्णमाला की एक-एक ध्वनि एक-एक विशेष सकेत से सूचित होती है। मैक्डोनेल साहब के शब्दों मे आज का विज्ञानगर्वित योरप सहस्रों वर्ष बाद भी एक नितान्त अवैज्ञानिक सेमिटिक वर्णमाला का उपयोग करता है जिसे ग्रीस ने लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व ले लिया था, जो भाषा की प्रत्येक ध्वनि को प्रकटित नही करती और जिसमे स्वरो और व्यञ्जनो की एक अजीब खिचडी है।*

कुछ आश्चर्य नही कि आर्यो ने इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी' अर्थात् 'ब्रह्मा की बनाई' हुई रखा हो। 'आह्निक-तत्त्व' तथा 'ज्योतिस्तत्त्व' मे बृहस्पति कहते हैं—'षाण्मासिके तु समये भ्रान्तिः सजायते यतः। धात्राक्षराणि सृष्टानि पत्रारूढाण्यतः पुरा॥' 'नारदस्मृति' का भी वक्तव्य है—'नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्। तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यत् शुभागतिः॥' बाद का इसका 'देव-नागरी' नाम भी 'देवभाषा' अनुरूप सार्थक ही है। 'ब्राह्मी' देवनागरी का प्राचीन नाम है जिससे 'देवनागरी' की भाँति ही बगला, गुजराती, मोडी आदि भारतवर्ष की अनेक भाषाएँ निकली। यह ब्राह्मी कब की है इस पर

* A A Macdonell, *Sanskrit Literature*, p 17

विद्वानो के अनेक मत हैं। ब्हूलर साहब तो इसे फोनीशियन लिपि से ८०० ई० पू० मे बनाई हुई समझते हैं। परन्तु वे किसी क़दर १००० ई० पू० भी इसका होना मानने को तत्पर हैं। इस विचार से ब्राह्मण-काल से भी पूर्व इसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। बहुतेरे योरपीय विद्वान् तो इस काल को सहिता-काल भी मानते हैं। महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' मे अनेक युक्तिपूर्ण प्रमाणो से सिद्ध कर दिया है कि भारतीय लेखन-कला उतनी ही प्राचीन है जितना सहिता-काल। सचमुच ही यह ध्यान देने की बात है कि यदि संहिताएँ लिखित रूप मे उपलब्ध न थीं तो उनकी अनुक्रमणिकाएँ क्यों और कैसे लिखी गईं, प्रातिशाख्य कैसे बने ? स्वयं सहिताओ का ही सकलन एक व्यक्ति द्वारा बिना लिखे संभव न था। और इन सहिताओ का विस्तार थोड़ा नहीं है। फिर यदि यह सकलन महाभारतकालीन कृष्णद्वैपायन व्यास का है तो अवश्य लिखने की प्रथा भारतवर्ष मे कम-से-कम १४०० ई० पू० मे विद्यमान थी, क्योकि योरपीय और तत्प्रभावित भारतीय विद्वानो के अनुसार महाभारत का समय १४०० ई० पू० से पीछे नहीं ठहराया जा सकता। (वैसे उसका समय चिन्तामणि विनायक वैद्य और अन्य कई विद्वानो की गणना के अनुसार ३१०२ ई० पू० है, जो युधिष्ठिर और कलियुग सवत् का आदि संवत्सर है)। यहाँ पर कुछ प्राचीन आर्ष ग्रन्थों का हवाला भी ब्राह्मी लिपि के प्रयोग के संबंध मे दे देना उचित होगा। पाँचवी शती ईस्वी पूर्व के पाणिनि ने तो 'लिपि', 'लिबि', 'लिपिकर', 'यवनानी', 'ग्रन्थ', आदि का उल्लेख किया ही है उनसे पूर्व के यास्क ने भी अपने से पहले होनेवाले लगभग अठारह निरुक्तकारों और वैयाकरणो का हवाला दिया है, जिससे उन विद्वानो द्वारा लिखित ग्रन्थो और मतों की सातवी शती ई० पू० मे सिद्धि होती है।

और इनसे भी पूर्व के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों से हमे जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे ब्राह्मी लिपि का स्वतन्त्र आरम्भ तथा उसकी अतीव प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। उनमे आए कुछ प्रमाणो का अवतरण यहाँ दे देना अनुचित न होगा। छादोग्य और तैत्तिरीय उपनिषद् प्रायः साफ़ शब्दों मे 'अक्षर' शब्द का प्रयोग और उसकी ओर इशारा करते है (छा० २-१०)। ऐतरेय ब्राह्मण प्रणव अक्षर 'ओं' को अकार, उकार और मकार के मिश्रण से बनना लिखता है ('त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति'—३,२,६)। छान्दोग्य उपनिषद् ने 'ई', 'ऊ' और 'ए' स्वरो को ईकार, ऊकार और एकार शब्दो से सूचित किया है (अग्निरीकार : आदित्य ऊकारो निह्वएकार :—१-१३)। ऐतरेय और शाखायन आरण्यको मे भी लिपि सम्बन्धी अनेक प्रमाण सुरक्षित हैं। उनमे 'ऊष्मन्', 'स्पर्श', 'स्वर', 'अतस्थ', 'व्यंजन', 'घोष', 'णकार' और 'षकार' से होनेवाले नकार और सकार और उनके 'भेद' तथा 'सधि' का उल्लेख मिलता है (ऐ० आ० ३-२-१, २-२-४, ३-२-६, ३-१-५ आदि)। 'वचन' और 'लिंगो' के भेद भी ब्राह्मणो मे पूर्णतया स्थिर हो गए दीखते हैं। शतपथ ब्राह्मण (१०-५-१-३) मे लिंगो की गणना इस प्रकार है—वाक् ह एवैतत्सर्वं यत्स्त्री पुमान् नपुंसक। इससे पूर्व के मंत्र-वाक्य मे भी तीनो लिंगो का (त्रेधाविहिता...१०-५-१-२) उल्लेख है। उसी ग्रन्थ मे एकवचन और बहुवचन का उल्लेख मिलता है (अथो-नेदेकवचनेन बहुवचनं व्यवायामेति—१३-५-१-१८)। तैत्तिरीय संहिता (६-४-७) मे व्याकरण सम्बन्धी एक कथा वर्णित है जिसमे देवताओ की प्रार्थना पर इन्द्र का अनियमित अव्याकृत वाणी को नियमबद्ध और व्याकरण से युक्त करने की बात कही गई है। इस कथा का एक दूसरा रूप शतपथ ब्राह्मण (४-१-३-१२, १५-१६) मे भी वर्णित है। व्याकरण का प्राचीन निर्देश लिखने की परिपाटी को सिद्ध करता है। व्याकरण का निर्माण साहित्य की उस दशा का द्योतक है जब उसका लेखन प्रचुर रूप से चल पडा हो। अलिखित वाणी या साहित्य के व्याकरण-निर्माण की कल्पना कष्टकारी है। उराँव, मुण्डा आदि प्राचीन अनार्य भारतीय जातियों की भाषा लिपिबद्ध न थी इसलिए उनका व्याकरण भी न था। अभी हाल मे उनकी भाषा और गायन-साहित्य को लिख डालने का जो प्रयास हुआ है उसी के फलस्वरूप उनके व्याकरण-निर्माण का भी प्रयत्न अब हुआ है, जो प्रायः सफल सिद्ध होने लगा है। व्याकरण मे कितने ही पारिभाषिक लक्षणो का रूप स्थिर करना पडता है जिसके लिए यह अनिवार्य है कि व्याकरण के समीप उसके साहित्य का लिखित रूप निश्चित रूप से विद्यमान हो। और गद्यमय ब्राह्मणों का निर्माण तो बिना लेखन-कला के प्रयोग के संभव ही नहीं था।

वेदों मे लेखन-कला के प्रयोग का कुछ इशारा ऊपर किया जा चुका है। यहाँ उनसे सम्बन्ध रखनेवाले एकाध प्रमाणो का फिर भी उल्लेख कर देना श्रेयस्कर होगा।

वाजसनेयि संहिता (यजुर्वेद) मे 'गणक' अर्थात् गिनने-वाले व्यक्ति (ग्रामण्य गणकमभिक्रोशक—३०-२०) का उल्लेख है और उसी मे दस से लेकर शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्ध तक की सख्याओ का निर्देश है (१७-२)। यह याद रखने की बात है कि परार्ध की सख्या अको मे १०००००००००००० यानी दस खरब है जिसका होना न लिखी जाती भाषा मे सभव नही। इसी प्रकार की सख्याओं का हिसाब सामवेद के पचविंश ब्राह्मण मे भी मिलता है (१८-३)। शतपथ ब्राह्मण मे ऋग्वेद के छंदाक्षरों की भी गणना प्रस्तुत है (१०-४-२, २२-२५)। इस प्रकार के अनेकों प्रमाण महामहोपाध्याय प० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि विद्वानों ने प्रस्तुत किए हैं, जिनका उल्लेख पुनरुक्तिमात्र होगा।

ऊपर के प्रमाणों से भारतीय लेखन की अत्यन्त प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार 'ब्राह्मी' अपने पूर्व रूप मे एक अद्भुत क्षमतावाली वर्णमाला का सांकेतिक स्वरूप बन आर्यों की पूतवाणी सस्कृत का अक्षराधार बनी और आज से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व से ही उसके लिखने के साधन प्रस्तुतः करने लगी। तभी से उस अद्भुत तेज और क्षमतावाली आर्य जाति का भावोद्रेक द्रवित हो सस्कृत वाङ्मय की सरस्वती मे बहने लगा। इस सरस्वती का प्रबल प्रवाह लगभग सोलहवी शती ई० मे मुस्लिम मरुस्थली मे खो गया यद्यपि उसकी एकाध क्षीण धारा अब भी कही-कही झलक जाती है।

प्राकृत और अपभ्रंश

प्राचीनतम प्राकृत का रूप जो साहित्य मे व्यवहृत हुआ है वह है बौद्धो की 'पालि' जिसमे बौद्ध धर्म की पुस्तकें और जैनो का प्राचीन साहित्य लिखे गए थे। अशोक के शिलालेखों की भाषा भी यही है। पश्चिम मे सिन्धु की तलेटी मे 'अपभ्रंश' पनपा और 'शौरसेनी' गगा-जमुना द्वाब के मथुरा केन्द्र मे फूली। 'शौरसेनी' की शाखाएँ 'गौर्जरी' (गुजराती), 'अवन्ती' (पश्चिमी राजपुतानी) और महाराष्ट्री (पूर्वी राजपुतानी) हुई। पूर्व मे 'मागधी' मगध अथवा बिहार मे और 'अर्धमागधी' काशी के चतुर्दिक फैली। 'अपभ्रंश' से सिंधी, पश्चिमी पञ्जाबी और काश्मीरी, 'शौरसेनी' से पूर्वी पञ्जाबी और हिन्दी (प्राचीन काल की अवन्ती) और गुजराती और 'मागधी' और 'अर्धमागधी' से मराठी, बगाली, मैथिल और भोजपुरी आदि की सृष्टि हुई। हिन्दी का आरम्भ लगभग आठवी शताब्दी ईस्वी में ही हो गया था।

इतिहास का क्रम

सस्कृत वाङ्मय का इतिहास बड़ा विस्तृत और गम्भीर है। उसका आरभ हजारों वर्ष पूर्व हुआ और मध्य युग तक लगातार उसमे नए-नए रत्न जुटते गए। एक-दो लेखों मे उसका परिचय देना सभव नही। अतएव इसका अध्ययन नीचे दिए निबन्ध-क्रम के अनुसार आगे चलकर 'विश्व-भारती' के कई अकों मे यथासंभव किया जायगाः—

	प्रवेशक।
वैदिक काल ६०० ई० पू० तक	ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद। अथर्ववेद। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।
सूत्र-काल ई० पू० ६००-१०० ई० पू०	वेदाग। सूत्र। दर्शन।
इतिहास-काल ई० पू० ५००	रामायण। महाभारत।
पुराण-काल ४०० ई० तक	बौद्ध जातक आदि। धर्मशास्त्र। पुराण।
कुषाण, गुप्त काल ६०० ई० तक	पूर्व काव्य काल। कालिदास काल। कालिदासोत्तर काल।
	विज्ञान काल।
पूर्व मध्यकाल ई० ६००-९०० उत्तर मध्यकाल ई० ९००-१२००	अलकार शास्त्र, कोष आदि। व्यवहार ग्रन्थ। चरित, इतिहास, आदि। टीका काल।
	उपसंहार।